गीता का पूर्व पक्ष और उत्तर पक्ष

गीता का प्रथम एवं द्वितीय अध्याय

स्वामी संवित् सुबोधगिरि





डॉ. हरवंशलाल ओबराय समग्र—खण्ड : एक
राष्ट्रीय समस्याएं और इतिहास
पृष्ठ 448, ₹ 400



डॉ. हरवंशलाल ओबराय समग्र—खण्ड : दो
महापुरुष : व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व
पृष्ठ 424, ₹ 400



डॉ. हरवंशलाल ओबराय समग्र—खण्ड : तीन
धर्म-दर्शन-संस्कृति-उत्सव-विज्ञान एवं मनोविज्ञान
पृष्ठ 412, ₹ 400



डॉ. हरवंशलाल ओबराय समग्र—खण्ड : चार
वेदान्त दर्शन की वैज्ञानिकता
पृष्ठ 700, ₹ 700



डॉ. हरवंशलाल ओबराय समग्र—खण्ड : पांच
गीता दर्शन की सार्वभौमिकता
पृष्ठ 704, ₹ 700

गीता का पूर्व पक्ष और उत्तर पक्ष
(गीता का प्रथम एवं द्वितीय अध्याय)

स्वामी संवित् सुबोधगिरि

डॉ. हरवंशलाल ओबराय समग्र

खण्ड 1 : राष्ट्रीय समस्याएं और इतिहास
खण्ड 2 : महापुरुष : व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व
खण्ड 3 : धर्म-दर्शन-संस्कृति-उत्सव-विज्ञान एवं मनोविज्ञान
खण्ड 4 : वेदान्त दर्शन की वैज्ञानिकता
खण्ड 5 : गीता दर्शन की सार्वभौमिकता

सम्पादक एवं संकलनकर्ता
स्वामी संवित् सुबोधगिरि

संकलन में सहयोगी
श्री वृजभूषण ओबराय

अंग्रेजी लेखों के हिन्दी अनुवादक
श्री चन्द्रप्रकाश ओबराय

आशीर्वचन
परम पूज्य गुरुदेव श्रीमत् स्वामी संवित् सोमगिरिजी महाराज

प्रकाशक एवं वितरक :

स्वामी संवित् सुबोधगिरि

श्री नृसिंह भवन

संन्यास आश्रम, भक्तानन्द

शिव मन्दिर

भीनासर 334403

बीकानेर (राजस्थान)

मो. : 09413769139

अन्य पुस्तक प्राप्ति स्थान :

श्री सुशील कुमार ताम्बी

प्रज्ञा साधना आध्यात्मिक पुस्तक केन्द्र

A/3 आर्य नगर

एन.के. पब्लिक स्कूल के पास

मुरलीपुरा, जयपुर 302039

फोन : 0141-2233765

मो. : 09829547773

ज्ञान गंगा प्रकाशन

पाथेय भवन,

बी-19, न्यू कॉलोनी, जयपुर

दूरभाष : 0141-2371563

अखिल भारतीय इतिहास संकलन योजना

आप्टे भवन, केशव कुंज, झण्डेवाला

नई दिल्ली 110055

फोन : 011-23675667

जागृति प्रकाशन

श्री कृष्णानन्द सागर

एफ-109, सेक्टर-27, नोएडा 201301

दूरभाष : 0120-2538101

मो. : 09871143768

ISBN 978-93-84133-19-1

प्रथम संस्करण : 2017 ई.

प्रतियां : 1100

मूल्य : पांच सौ रुपये मात्र

आवरण : गौरी शंकर आचार्य

मुद्रक :

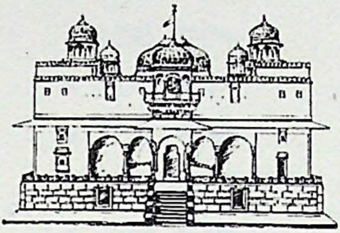
सांखला प्रिंटर्स, विनायक शिखर

शिवबाड़ी रोड, बीकानेर 334003

GEETA KA PURV PAKSH AUR UTTAR PAKSH (Hindi)

Edited by Swami Samvit Subodhgiri ₹ 500

ॐ ईशावास्यं इदं सर्वम्



श्री लालेश्वर महादेव मन्दिर



महन्त
स्वामी संवित् सोमगिरि
श्रीलालेश्वर महादेव मन्दिर
शिवमठ, शिवबाड़ी,
बीकानेर 334003 (राजस्थान)

।।श्री कृष्णं वन्दे जगद्-गुरुम्।।

परब्रह्म ने श्रीकृष्ण रूप में अवतरित होकर लीला की। श्रीकृष्ण ने मानवमात्र के अभ्युदय और निःश्रेयस को सिद्ध करने हेतु श्रुतिसार रूपी गीता का उपदेश दिया। शंकरावतार श्री भाष्यकार आद्य शंकराचार्य भगवान् के गीता भाष्य में अद्वैतामृत वर्षिणी गीता के तात्पर्य को सुस्पष्ट कर दिया गया है। गीता पर अनेक विद्वानों ने टीकाएं लिखी हैं। गीता के प्रथम दो अध्यायों पर लिखी गयी इस पुस्तक के लेखक स्वामी संवित् श्री सुबोधगिरि ने दीर्घकाल तक वरिष्ठ विद्वानों द्वारा उपनिषदों और गीता का श्रवण किया है एवं गीता की अनेक टीकाओं का अध्ययन किया है। दर्शन, संस्कृति, धर्म, इतिहास आदि अनेक विषयों का विस्तृत अध्ययन कर चुके श्री सुबोधगिरि की प्रस्तुत पुस्तक का विषय-प्रतिपाद उनके स्वअभिप्राय से भी रंजित है। आशा है, कि इस पुस्तक के पाठकों को गीता का और अधिक गहराई से अध्ययन करने की प्रेरणा प्राप्त होगी।

प्रभु से प्रार्थना है, कि श्री सुबोधगिरि साधना के पथ पर निरन्तर प्रगति करते हुए गीतानुसारी कृतकृत्यता का अनुभव करें।

शिवकांक्षी

स्वामी संवित् सोमगिरि

अनुक्रम

सम्पादकीय

गीता एक आध्यात्मिक ग्रन्थ के साथ-साथ ऐतिहासिक ग्रन्थ है। यह इस बात से सिद्ध होता है भगवद्गीता का प्रारम्भ भगवद् वाक्य या किसी माङ्गलिक वचन से न होकर पहली बार अर्जुन की जिज्ञासा से, दूसरी बार अंधे धृतराष्ट्र की जिज्ञासा से प्रारम्भ होता है। अर्जुन और धृतराष्ट्र, दोनों ही ऐतिहासिक पात्र हैं। और वक्ता भगवान् श्रीकृष्ण और संजय भी ऐतिहासिक पात्र हैं। गीता इसलिये भी ऐतिहासिक ग्रन्थ है क्योंकि गीता महाभारत का अंशभूत प्रकरण है। अर्जुन धर्म-न्याय एवं राष्ट्र की रक्षा की दृष्टि से ही बड़े उत्साह के साथ युद्ध भूमि में उपस्थित होता है। क्योंकि इसके पूर्व दुष्ट कौरवों के अन्याय के प्रतिकार का अवसर बड़े भ्राता युधिष्ठिर महाराज के कारण मिला नहीं था। अर्जुन की भूमिका निर्णायक भी है। पर वह धर्म-राष्ट्र के शत्रुओं की प्रकृति के विषय में प्रत्यक्ष युद्ध भूमि में आकर संशयग्रस्त हो जाता है। अब चूंकि राष्ट्र और धर्म के शत्रु, और कोई नहीं स्वयं उसके अपने पारिवारिकजन ही हैं, आत्मीयजन, गुरुजन, पूज्यजन होने से अर्जुन को लगा मुझे अपने परिवार को ही जीवितावस्था में श्मशान में परिणत करना होगा। इससे वह घबरा जाता है, पारिवारिकजनों के प्रति स्वाभाविक स्नेह जागृत होने से मोहाविष्ट हो जाता है और पूज्य आचार्य द्रोण और भीष्म पितामह को अजेय जानकर भयभीत भी हो जाता है। इसका परिणाम यह होता है धर्म एवं न्याय के भाव से जो राष्ट्र रक्षा के लिये आया था, अब उसे अधर्म, पाप लगने लगा। समष्टि हित और सत्य के बजाय व्यक्तिगत रूप से राज्य भोग करने के लिये आया है ऐसा लगने लगा। अतः पाप और अन्याय का भागी बनेगा तथा कुल, जाति, गोत्र, देश, मानवता और सारे विश्व का सर्वनाश हो जायेगा। अतः इससे बचने के लिए वह क्षत्रियोचित धर्म से श्रेष्ठ ब्राह्मण धर्म, संन्यास को अपनाना चाहता है।

क्षत्रियोचित कर्तव्य से पलायन करने के भाव से युद्ध न करने के लिये अनेक तर्क गढ़ता है और इस महायुद्ध का क्या व्यापक दुष्परिणाम होगा इसका चित्र प्रस्तुत करता है। तथा धर्म का, न्याय का, उदारता का, ज्ञान का, मानवता का, विश्व रक्षा का एक बड़ा मनमोहक चित्र खींचता है और इस कारण वह

युद्ध नहीं करेगा, कहकर शस्त्र त्याग कर रथ के पीछे बैठ जाता है। और वह भगवान् श्रीकृष्ण से इसका समर्थन चाहता है। अब तक भगवान् श्रीकृष्ण मौन थे। अब जोरदार डांट के साथ ही अपना मुंह खोलते हैं। इससे अर्जुन तिलमिला जाता है और समझ जाता है भगवान् तो अन्तर्यामी हैं, इस महत्ता को समझते हुए ही उसने एक अक्षौहिणी सेना के स्थान पर निहत्था युद्ध न करने वाले भगवान् को स्वीकारा। अतः समझ जाता है भगवान् श्रीकृष्ण के सामने यह दुराव-छिपाव नहीं चलेगा। इसलिये अपने को शिष्य के रूप में समर्पित कर देता है—यह कहकर कि मेरा चित्त अपने क्षत्रियोचित कर्तव्य के विषय में पूर्ण रूप से मूढ़ हो गया है। मैं स्वयं निर्णय लेने में असमर्थ हूं। कृपया आप मुझे एक निश्चित कल्याणकारी मार्ग बतायें। साथ ही वर्तमान में अपने चित्त में जो दोष आ गया है, दुर्बलता आ गयी है वह भी सहजतया बता देता है कि वर्तमान स्थिति में मेरा युद्ध करने का भाव नहीं है। गीता के दूसरे अध्याय के 10वें श्लोक तक गीता की पृष्ठभूमि है, पूर्व पक्ष है। पूर्व पक्ष को समझे बिना उत्तर पक्ष को नहीं समझा जा सकता। गीता के दूसरे अध्याय के 11वें श्लोक से 18वें अध्याय के अन्त तक उत्तर पक्ष चलता है।

गीता के समय भारत एक राष्ट्र के रूप में प्रतिष्ठित था। गीता के दसम अध्याय विभूति योग में जिन ऋषियों, महर्षियों, देवर्षि, राजर्षि, ब्रह्मर्षि, मुनियों, अवतार विग्रह, देव गुरु, असुर गुरु जिस भूगोल यथा सुमेरु पर्वत, हिमालय, गंगा नदी, जिन वनस्पतियों यथा पीपल, ऋतुओं यथा वसन्त ऋतु, पशुओं-पक्षियों व एकादश अध्याय के विराट रूप दर्शन में जिन देव विग्रहों की, शास्त्रों की चर्चा है और समग्र गीता में जिस दर्शन परम्परा, विचार परम्परा, आचार परम्परा, खान-पान (सात्विक भोजन) और समग्र गीता में जो परिवेश है वह सब भारतीय है। फिर अर्जुन को भगवान् कृष्ण ने समग्र गीता में 'भारत' नाम से 21 बार सम्बोधित किया। अगर उस समय भारत एक राष्ट्र के रूप में प्रतिष्ठित नहीं होता तो भारत के स्थान पर पाण्डवों के राज्य यथा इन्द्रप्रस्थ के नाम से सम्बोधित करते।

गीता महाभारत का अंश है। महाभारत के अध्ययन से स्पष्ट है भारत एक राष्ट्र के रूप में प्रतिष्ठित था। दिव्य दृष्टि सम्पन्न संजय धृतराष्ट्र के समक्ष भारतीय देव व महापुरुषों की सूची प्रस्तुत करता है जिन्हें भारत देश प्रिय था। उसमें देवराज इन्द्र से लेकर महाभारत-पूर्व तक के महापुरुषों के नाम हैं।

गीता का अवतरण ही आततायियों से देश की रक्षा के लिये हुआ है। गीता की निष्पत्ति और अवतार का उद्देश्य ही दुष्टों का दलन, सज्जनों का परित्राण, लुप्त ज्ञान की परम्परा एवं धर्म की परम्परा की पुनर्स्थापना है। इसके लिये भगवान् श्रीकृष्ण ने पाण्डवों को और उसमें भी विशेषकर अर्जुन को चुना है। भगवान् श्रीकृष्ण के

प्रयास से सारे भारत में धर्म राज्य प्रतिष्ठा की दृष्टि से—कंस, जरासंध, शिशुपाल, विदेशी आक्रान्ता कालयवन, नरकासुर आदि को समाप्त किया जा चुका है। कंस, जरासंध, शिशुपाल, नरकासुर के स्थान पर योग्य उत्तराधिकारियों को बैठाया जा चुका है। अब इन सब धर्म राज्यों को जोड़ते हुए केन्द्रीय धर्म राज्य की स्थापना होवे, जिसका प्रभाव क्षेत्र सारा भारत हो। इसके लिये दुष्ट दुर्योधनादि का दमन आवश्यक हो गया है। पर अर्जुन धर्माभास का शिकार हो गया है। इसलिये अर्जुन स्वधर्म से पलायन को ही आदर्श का जामा पहनाकर वर्तमान विषम परिस्थिति में धर्म का एक मनःकल्पित रूप प्रस्तुत करता है। वह और कुछ नहीं धृतराष्ट्र संजय द्वारा पाण्डवों को धर्म के नाम से विभ्रान्त करने के लिये एक कूटनीतिक षड्यंत्र रचा था जो भगवान् कृष्ण एवं युधिष्ठिर के कारण सफल नहीं हो पाता है। पर उसका सबसे ज्यादा प्रभाव अर्जुन पर पड़ता है। संजय द्वारा कहलायी गयी धृतराष्ट्र की बातों को अर्जुन उसे ही महान् मानव धर्म, सनातन धर्म, उदार धर्म के रूप में प्रस्तुत कर रहा है। इसके द्वारा ही मानवता की भारत सहित विश्व की रक्षा हो सकेगी। अर्जुन ने जो तर्क का जाल बुना है, धर्म का जो चित्र खींचा है उससे स्वयं अभिभूत है। उसको लगता है इससे बड़ा कोई त्याग, धर्म, मानवता नहीं हो सकती।

अर्जुन ने जो धर्म का चित्र खींचा है उसे पूर्णतया अस्वीकार करते हुए अब भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन ने जो प्रश्न उठाये हैं उन सबका उत्तर देते हुए धर्म का वास्तविक चित्र खींचते हैं। अर्जुन ने जो प्रश्न उठाये हैं प्रायः उन सभी का उत्तर द्वितीय अध्याय में दे दिया है। गीता के सारे मूल सिद्धान्त द्वितीय अध्याय में आ गये हैं, कुछ मनीषी मानते हैं गीता के द्वितीय के साथ तृतीय अध्याय तक गीता के सारे मूल सिद्धान्त आ गये हैं—आगे आने वाले अध्यायों में इसी का विस्तार से खुलासा किया है। अतः मैंने द्वितीय अध्याय तक विस्तार से चर्चा की है एवं तृतीय अध्याय का सार संक्षेप दे दिया है।

भगवान् श्रीकृष्ण का उद्देश्य अर्जुन को निष्काम भाव से स्वधर्म में स्थित करना है। इसलिये चाहे सांख्य योग का प्रतिपादन किया चाहे कर्मयोग का, चाहे राजयोग का, चाहे भक्ति योग का, चाहे ज्ञान योग का, प्रत्येक अध्याय में भगवान् अर्जुन को इस दृष्टि से—तू निष्काम भाव से स्वधर्म में स्थित हो। भगवान् अर्जुन को न द्वेष भाव से युद्ध करने देंगे जैसा कि अर्जुन पहले अध्याय में तनिक द्वेष के साथ ही दोनों सेनाओं के मध्य में अपने रथ को स्थापित करने को कहता है, बाद में राग एवं भय से प्रेरित होकर युद्ध से पलायन करना चाहता है, पर भगवान् न द्वेष से युद्ध करने देंगे और न राग और भय से युद्ध से पलायन करने देंगे वरन् निष्काम भाव से स्वधर्म पालन करते हुए युद्ध की प्रेरणा देते हैं।

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।।8/7।।

'हे अर्जुन! तू सब कालों में मुझे स्मरण करता हुआ युद्ध कर।' यही ब्रह्म-चिन्तन और सांसारिक कर्तव्य का समन्वय है। यही ज्ञान और कर्म का समन्वय है, यही सांख्य और योग का समत्व है।

प्रथम अध्याय में अर्जुन का रुदन है, स्वधर्म से पलायन का भाव है। द्वितीय अध्याय में अर्जुन की शरणागति है। तब भगवान का उपदेश प्रारम्भ—इस अध्याय में आत्मा की अमरता, स्वधर्म की महिमा एवं कर्मयोग का बीज है। और आदर्श पुरुष के लक्षण हैं। तृतीय अध्याय में कर्मयोग का महत्त्व है। चतुर्थ में कर्म और ज्ञान से त्याग का समन्वय है। पांचवें में कर्म और ज्ञान (सांख्य और योग) दोनों की सिद्धावस्था में एकता एवं साधनावस्था में कर्मयोग की अधिक उपादेयता का वर्णन है।

गीता का मुख्य उद्देश्य अर्जुन को निष्काम कर्मयोग में लगाना है। उसके लिये भक्ति और ज्ञान आदर्श कर्मयोग की तैयारी हेतु आवश्यक हैं। अध्याय 6 से 9 तक अव्यक्त (निराकार) की उपासना ध्यान योग द्वारा तथा ज्ञानाश्रयी भक्ति के द्वारा दर्शायी गयी है। दशम अध्याय से द्वादश अध्याय तक व्यक्त की उंपासना अर्थात् सगुण भक्ति का निरूपण है। दशम में सर्वत्र ईश्वर दर्शन, एकादश में एकत्र और द्वादश में भक्ति का पूर्ण परिपाक दर्शाया गया है। जिस निर्गुण की उपासना करते हैं, ध्यान द्वारा अथवा ज्ञान द्वारा उसी को सगुण रूप में सर्वत्र देखते हैं। उसी विश्व रूप (विराट रूप) में एकत्र देखते हैं। दिव्य दृष्टि से निराकार को साकार देखकर भक्त कर्म किस प्रकार से करे यह द्वादश अध्याय में बताया गया। तैयारी कर्मयोग की एवं इसकी मनोभूमिका तैयार करने के लिये भक्तियोग उसे 7 से 12 अध्याय तक। 13 से 17 अध्याय तक ज्ञान योग की चर्चा विस्तार से है। आदर्श कर्मयोगी को तत्त्व से भटकना नहीं चाहिये इसलिये ज्ञान योग। 18वां अध्याय उपसंहार है, निष्कर्ष है। प्रयोजन की सिद्धि है कि अर्जुन का मोह-भय दूर हो गया है, अब वह कर्तव्य कर्म के लिये, स्वधर्म पालन के लिये, भगवान् श्रीकृष्ण का आदेश मानने के लिये तत्पर है, प्रस्तुत है।

भगवान् श्रीकृष्ण को धर्मद्रोह-राष्ट्रद्रोह किसी भी रूप में स्वीकार नहीं है चाहे अर्जुन के पारिवारिकजन दुर्योधनादि ही क्यों न हो, चाहे भीष्म पितामह और आचार्य द्रोण ही क्यों न हो, स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण के अपना मामा कंस क्यों न हो, चाहे जरासंध, नरकासुर या विदेशी कालयवन क्यों न हो, चाहे भगवान् श्रीकृष्ण के अपने पारिवारिकजन हों जिनके सहारे धर्मयुद्ध लड़ा, धर्म-न्याय की पुनः प्रतिष्ठा की, वे भी जब असुरपने को प्राप्त हो गये तो उन्होंने सम्पूर्ण यादववंश का ही नाश करवा दिया।

बौद्धों ने जब राष्ट्रद्रोह कर विदेशी शत्रुओं का साथ दिया, उन बौद्धों को आद्य शंकराचार्यजी ने क्षमा नहीं किया। भगवान् बुद्ध को तो करुणावतार के रूप

में स्वीकारा। पर बौद्धों को पुनः वैदिक धर्म, मातृ धर्म में समाविष्ट कर लिया और जो ज्यादा कट्टर थे, विदेश पलायन कर गये। पश्चिम के विद्वानों को आश्चर्य होता है अहिंसा के लिये विश्व में सबसे अधिक उपयुक्त भूमि भारत से ही बौद्ध धर्म का प्रायः लोप हो गया और विदेशों में वे फलते-फूलते रहे।

भारत में धर्मद्रोह-राष्ट्रद्रोह किसी भी रूप में स्वीकार नहीं है। पर विगत 1000 वर्षों से हम स्वयं धर्माभास के शिकार होकर यथार्थ व्यावहारिकता के अभाव में सद्‌गुण विकृति का शिकार होकर देशी-विदेशी, दोनों प्रकार के धर्मद्रोह-राष्ट्रद्रोह का न केवल सह रहे हैं वरन् प्रश्रय दे रहे हैं। स्थायी शत्रुभावापन्न मुस्लिमों एवं ईसाइयों को न कोई दार्शनिक आधार है, न आध्यात्मिक, न धार्मिक, न ये मत, पंथ, सम्प्रदाय या मजहब हैं, न नैतिक, न बौद्धिक, न ज्ञान-विज्ञान की किसी शाखा से पुष्ट, न मनोवैज्ञानिक, न सामाजिक, न मानव स्वभाव के अनुकूल, न पर्यावरणीय आधार है। ये प्रकृति विरोधी, नारी विरोधी, कपोल-कल्पना पर, पापाचार, बलात्कार-व्यभिचार, व्यापक हिंसा पर आधारित, बर्बर, असभ्य पैशाचिक साम्राज्यवादी धाराएं हैं। ये दोनों धारा जहां-जहां भी गईं पूर्व की सभ्यता-संस्कृति, ज्ञान-विज्ञान की परम्परा का समूल नाश कर अपने बर्बर, पैशाचिक विदेशी मत को थोप दिया। ये दोनों धारा जहां-जहां उत्पन्न हुईं, वहां की अपने से पूर्व धारा को यानी सदियों से चली आयी सभ्यता-संस्कृति को, ज्ञान-विज्ञान की धारा को नष्ट कर दिया तब अन्य देशों को तथा अपने भारत देश को बख्शेंगे क्या? पर दुर्भाग्य से हम धर्माभास के शिकार होकर आदर के साथ न केवल इन्हें प्रवेश दिया, वरन् सब प्रकार की सुविधा-संरक्षण दे दिया। तभी से ये अपनी ताकत भारत देश के विघटन में लगाकर सन् 1947 में विश्व का सबसे बड़ा इसलामिक राष्ट्र पाकिस्तान बनाया और बचे भारत को पुनः-पुनः खंडित करने में लगे हैं और यही हाल ईसाइयों का है। इन दोनों में सह-अस्तित्व का भाव ही नहीं है। कुरान में 70 से अधिक आयतें हैं जो गैर मुस्लिमों को खत्म करने का आह्वान करती हैं। इसलिए अपने जन्म लग्न से ही पाकिस्तान 1948, 1965, 1971 और 1999 में भारत पर आक्रमण थोप चुका है और हम अभी भी 'विनाशाय च दुष्कृताम्' के स्थान पर न केवल इन्हें पाल रहे हैं वरन् अपने से अधिक सुविधा-संरक्षण देकर अराष्ट्रीय कार्यों के लिये खुली छूट दे रखी है। इनके केवल अधिकार ही अधिकार हैं, कर्तव्य कुछ हैं ही नहीं। कर्तव्य तो केवल हिन्दुओं के लिये है।

भारत के महान् संत स्वामी रामतीर्थ अमेरीका में भारत की संस्कृति का प्रचार कर लौटते हुए जापान भी गये। उनकी बात जो भी सुनता, उनसे प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। वे जापान गये तो वहां भी उनकी धूम मच गई। एक दिन उन्हें वहां के एक स्कूल में बुलाया गया। वे विद्यार्थियों से हाथ मिलाते और

उन्हें लाड़ से थपथपाते इधर-उधर घूम रहे थे। इस बीच वे एक विद्यार्थी के पास खड़े हो गये। उसकी आयु दस-बारह वर्ष की होगी। स्वामीजी ने विद्यार्थी से पूछा—तुम किस धर्म को मानते हो? उसने उत्तर दिया—बौद्ध धर्म को। स्वामीजी ने नया प्रश्न किया—तुम बुद्ध को क्या समझते हो? विद्यार्थी ने उत्तर दिया-बुद्ध तो भगवान् हैं। विद्यार्थी ने बुद्ध का ध्यान कर अपने देश की प्रथा के अनुसार उन्हें प्रणाम किया। तब स्वामीजी ने उस विद्यार्थी से पूछा—तुम कन्फ्यूशियस को क्या समझते हो? विद्यार्थी ने उत्तर दिया—कन्फ्यूशियस एक महान् संत हैं। स्वामीजी ने पूछा—अगर किसी दूसरे देश से तुम्हारे देश जापान को जीतने के लिये सेना आये और उसके कमांडर बुद्ध तथा जनरल कन्फ्यूशियस हों, तो तुम क्या करोगे? विद्यार्थी का चेहरा गुस्से से तमतमा उठा। उसने पूरे जोश से कहा—अगर मेरे देश को जीतने के लिये किसी दूसरे देश से कोई सेना आये और उसके कमांडर भगवान् बुद्ध हों तथा जनरल महान् संत कन्फ्यूशियस, तो मैं क्या करूंगा! तब मैं अपनी तलवार से बुद्ध का सिर काट लूंगा और कन्फ्यूशियस को पैरों से रौंद दूंगा। स्वामी रामतीर्थ गद्‌गद हो गये। उन्होंने उस विद्यार्थी को स्नेह से अपनी भुजाओं में समेट लिया। उनके मुंह से निकल पड़ा—जिस देश के विद्यार्थियों में ऐसी देशभक्ति हो, वह कभी किसी का गुलाम नहीं हो सकता और उसकी उन्नति को भी कोई नहीं रोक सकता। अपने को इससे सीख लेने की आवश्यकता है। पर वामपंथी, सेकुलरिस्ट एवं मानवाधिकारवादी, प्रगतिवादी खुले रूप से राष्ट्रद्रोही-धर्मद्रोही बने हुए इन दोनों समुदायों के परम सहायक, संरक्षक बने हुए हैं। और इनके हिसाब से पाठ्य पुस्तकों, इतिहास आदि सभी विषयों को ढाल दिया गया है। ऐसी घोर विडम्बना की स्थिति अपने देश की बनी हुई है।

गीता प्रारम्भ भी 'धर्म' शब्द से और समापन भी 'नीतिर्मतिर्मम' शब्द से हुआ है। पूरी गीता में अनेकों बार धर्म शब्द आया है। प्रत्येक राष्ट्र का एक प्राण बिन्दु, केन्द्र बिन्दु, मूल चेतना होती है। भारत की मूल चेतना, प्राण बिन्दु, केन्द्र बिन्दु धर्म है जिसके आधार पर सारे व्यक्तिगत जीवन, परिवार जीवन, समाज जीवन, राष्ट्र जीवन, विश्व जीवन का ताना-बाना बुना हुआ है। गर्भाधान से अन्त्येष्टि तक, जन्म से मृत्यु तक, सूर्योदय से सूर्यास्त तक, जन्म से जन्मान्तर तक, कल्प से कल्पान्तर तक कोई भी क्षण और कोई भी कण तथा कोई भी व्यवहार धर्म, अध्यात्म और ईश्वर से रहित नहीं है। हमारे जीवन के प्रत्येक व्यवहार में धर्म और अध्यात्म इस प्रकार ओत-प्रोत गुंथा हुआ है कि उसे जीवन से अलग नहीं किया जा सकता। भारत में धर्म का अर्थ वर्ण और आश्रमोचित कर्तव्यपालन से या स्वभाव से है। अतः कोई भी कर्तव्यनिरपेक्ष, मूल्यनिरपेक्ष कैसे हो सकता है। भारत में चार पुरुषार्थों में प्रथम पुरुषार्थ ही धर्म है। जिसकी सभी पुरुषार्थों की

सिद्धि में निर्णायक भूमिका है। अतः भारत में धर्मनिरपेक्ष का कोई अर्थ नहीं है। साम्प्रदायिक सौहार्द की समस्या भारत में कभी नहीं रही। एक ही परिवार के सदस्यों में कोई प्रभु राम को, तो कोई कृष्ण को, तो कोई आर्यसमाजी और कोई नास्तिक पर सभी में सद्भाव एवं समन्वय है। इस आधार पर कभी कोई वैमनस्य नहीं होता। अतः धार्मिक अत्याचार क्या होता है भारत इसलाम और ईसाइयत के आगमन से पूर्व अनजान था। अतः धर्मनिरपेक्षता की कोई भी कल्पना, कोई भी आधार भारत में नहीं है। यह तो पश्चिम की, ईसाइयत की देन है। पश्चिम में चर्च और राज्य में एक-दूसरे को अपने अधीन रखने के लिए खूनी संघर्ष होते थे। एक-दूसरे से खून की होली खेलते थे। ऐसे ईसाइयत के सभी सम्प्रदाय एक-दूसरे से खून की होली खेलते थे। बाइबिल से स्वतन्त्र विचार चाहे जीव जगत् में हो, अन्तरिक्ष (नक्षत्र) जगत् में हो, भूगोल-ज्यामिति जगत में यानी किसी भी जगत में हो उनको खून से नहलाते थे। इसलिये पश्चिम में आज जो भी चिन्तन देखते हैं वह मात्र तीन सौ वर्षों का है, उसके पूर्व शून्य की स्थिति है। क्योंकि बाइबिल से स्वतन्त्र चिन्तन दण्डनीय अपराध था। इन सबसे निजात पाने के लिये सेकुलर शब्द की उत्पत्ति हुई। राज्य सेकुलर रहेगा। वह पंथ, सम्प्रदाय के आधार पर कभी भेदभाव नहीं करेगा। सभी को समान आदर और सुविधा देगा।

भारत में यह स्थिति कभी नहीं रही। सत्य को हमने किसी ग्रन्थ, वेद, उपनिषद्, गीता में आबद्ध नहीं किया, न ही सत्य को किसी परिभाषा में आबद्ध किया। भारत का हर क्षेत्र सत्य की खुली प्रयोगशाला रहा है।

स्पष्ट है धर्मनिरपेक्षता का कोई भी आधार भारत में नहीं है। धर्मनिरपेक्षता का दुष्परिणाम यह हुआ है हिन्दू हर हालत में बहुसंख्यक है और मुसलमान और ईसाई हर हाल में अल्पसंख्यक है। अल्पसंख्यकों में बहुसंख्यकों के कल्पित अत्याचार की भावना भर के इनके थोक वोट बटोरने का जरिया बन गया है। दो-एक पार्टी बाद देकर, सभी इस कार्य में संलग्न हैं।

सम्पूर्ण भारत में षड्यंत्रपूर्वक हिन्दुओं को विभिन्न जातियों—अगड़े-पिछड़े-दलित में बांटकर उन्हें हाशिए पर ढकेला जा रहा है उन्हें असली अल्पसंख्यक बनाया जा रहा है। यह राजनीतिज्ञों तथा उनके पिछलगू बुद्धिजीवियों के जघन्य और घृणास्पद चरित्र का निकृष्टतम उदाहरण है।

धर्मनिरपेक्षता, बौद्धिक समुदाय और राजनीतिज्ञों का जबर्दस्त पाखंड बनकर रह गया है। हमारे बुद्धिजीवी और राजनेता बार-बार धर्म को राजनीति से अलग करने की रट लगाये रहते हैं। धर्म को राजनीति से अलग करने वाले हमारे प्रवक्ता हर मौके पर अपनी सुविधा स्वार्थ के लिए हिन्दू धर्म के हर क्षेत्र में हस्तक्षेप कर सकते हैं। वे हमारी हिन्दू धर्म परम्परा को इतना क्षीण, निस्तेज और निर्जीव कर

देना चाहते हैं कि वह राजनीति पर किसी तरह का कोई नैतिक हस्तक्षेप, अंकुश न लागू कर सके।

धर्मनिरपेक्षता ने मनुष्य के प्रकृति से सहज सम्बन्ध को खण्डित कर, पर्यावरण की समस्या को जन्म दिया है।

धर्मनिरपेक्षता की अवधारणा ने हमारी राजनीति, समाज व्यवस्था, प्रशासन तंत्र, साहित्य और संस्कृति को विकृत किया है। एक भारतीय के लिए धर्मनिरपेक्षता आत्मनिर्वासन की अवस्था बनकर रह गई है। इसके परिणाम से कुछ दशकों में जिस भौतिक, परजीवी, आधुनिक जीवन-शैली का विकास हुआ है, उसी के भीतर साम्प्रदायिक असहिष्णुता और धर्मनिरपेक्षता के विषैले तत्त्व जन्मे और पनपे हैं।

अब हिन्दू शब्द का उच्चारण ही साम्प्रदायिकता का प्रमाण हो गया और मुसलमान और ईसाई शब्द की रट धर्मनिरपेक्षता की कसौटी बन गई है। परिणाम यह हुआ कि हिन्दू जीवन-पद्धति के अनुयायी अपने को हिन्दू कहने में संकोच का अनुभव करने लगे। इसका इतिहास और संस्कृति की दुनिया पर बड़ा घातक प्रभाव पड़ा। वैदिक साहित्य, उपनिषद्, गीता, रामायण, महाभारत का नाम लेना भी साम्प्रदायिकता के घेरे में आ गया है। फलतः प्राचीन संस्कृति पर गर्व करना तो बहुत दूर की बात है। उसका नाम लेने में भी कुछ लोगों को उबकाई आने लगती है। अंग्रेजी राज कायम होने से पहले ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में भारत की कोई भी उपलब्धि हो उसका जिक्र करते ही मार्क्सवादी मित्र कहते हैं कि यह पुनरुत्थानवादी है। इसी बौद्धिक विपन्नता की चर्चा भगवानसिंह ने भी की है—ऋग्वेद में इस बात के अनेक प्रमाण है कि धरती घूमती है। परन्तु यदि किसी ने दावा कर दिया कि ऋग्वैदिक काल में भारतीय चिन्तकों को इस बात का ज्ञान था कि धरती घूमती है तो उसको पुनरुत्थानवादी ही नहीं उससे भी कुछ गर्हित सिद्ध किया जाना निश्चित है। इस नकारात्मक दृष्टि के लिए सबसे अधिक जिम्मेदार हमारे वे इतिहासकार रहे हैं, जिनसे ही हम इस इतिहास के उद्धार की अपेक्षा कर सकते थे।

इस विडम्बनापूर्ण स्थिति का एक दुष्परिणाम यह भी हुआ कि हिन्दू संस्कृति पर आधारित रचनाएं भी साम्प्रदायिकता के घेरे में आ गई—तुलसीदास, भूषण, भारतेन्दु, मैथिलीशरण गुप्त, जयशंकर प्रसाद, निराला आदि हिन्दूवादी और साम्प्रदायिक रचनाकार घोषित कर दिये गए तथा मुस्लिम साम्प्रदायिकता का खुलकर पक्ष लेने वाले, पाकिस्तान के सर्वप्रथम कल्पक इकबाल और ढाली सेकुलर! इतिहास में मीना बाजार लगाने वाला, मेवाड़ की तीस हजार निर्दोष-निरीह जनता का कत्लेआम कराने वाला विदेशी आक्रांता अकबर और अपने पिता को कैद कर सता-सता कर मारने वाला व अपने सभी भाइयों को धोखे से मारने वाला

अकारण हिन्दुओं को त्रास देने वाला यानी अपने-परायों सबसे दंगा करने वाला विदेशी आक्रांता औरंगजेब दोनों सेकुलर और महान् शासक हो गए। और स्वराज्य, स्वधर्म के लिए संघर्ष करने वाले महाराणा प्रताप, गुरु गोविन्दसिंह, शिवाजी आदि साम्प्रदायिक भ्रमित हिन्दू देशभक्त थे। इस प्रकार हिन्दू धर्म, हिन्दू संस्कृति, हिन्दू इतिहास, हिन्दू महापुरुष ही साम्प्रदायिकता में आ गया है जो चराचर को गले लगाने वाला, सबका कल्याण चाहने और करने वाला है और इसलाम-ईसाइयत जो महासंकीर्ण जिनके लिए गैर इसलामी, गैर-ईसाई का वध के अलावा और कोई स्थान नहीं, जिनका पूरा इतिहास रक्तरंजित और जिनके महापुरुष स्वयं God और अल्लाह घोर राग-द्वेषी, असहिष्णु वे ही धर्मनिरपेक्ष की श्रेणी में आ गये।

धर्मनिरपेक्षता की इस विकृत अवधारणा के कारण ही न देश के मूल हिन्दू धर्म को न इस देश की राष्ट्रीयता हिन्दुत्व को ही स्थान मिल पाया। जो यह कहते हैं काफिला आता गया और देश बसता गया। अतः मिली-जुली राष्ट्रीयता और मिश्रित संस्कृति की बात कहते हैं। पर काफिला आने से देश बसा नहीं, उजड़ा है, बर्बाद हुआ है, नष्ट हुआ है, पराधीन हुआ है विभाजित हुआ है। ये शत्रु रूप में आये थे, देश विभाजन के बाद भी यहीं रह गये और आज भी शत्रु के रूप में रह रहे हैं। अतः धर्मनिरपेक्षता की विकृत अवधारणा के कारण न इस देश की राष्ट्र भाषा हिन्दी और देव भाषा संस्कृत को स्थान मिल पाया है, न इस देश के इतिहास, महापुरुषों, देव विग्रह, तीर्थों, मन्दिरों, श्रद्धा बिन्दु, मान बिन्दु, जीवन-मूल्यों, न अपना अर्थ तंत्र, न कृषि तंत्र, न गोमाता, न शिक्षा तंत्र को, न राजतंत्र को, न न्याय तंत्र को, न रक्षा तंत्र को स्थान मिल पाया। और न संविधान की आधार-शिला भारतीय है। देशभक्ति का अर्थ है वह उस देश की भाषा, उसका इतिहास, उसका साहित्य, परम्परा, सभ्यता-संस्कृति सब से प्रेम करे। भारत की भाषा संस्कृत है, हिन्दी है, इसकी लिपि देवनागरी है, इसका इतिहास राजपूतों के बलिदान, मराठों के उत्कर्ष तथा खालसा सूरमाओं की वीरता की यशोगाथा है। इसका साहित्य व्यास, वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति, तुलसी तथा सूरदास की अमृत-वाणी है। इसकी परम्परा गो ब्राह्मण, हिमाचल तथा भागीरथी के उपकारों को मानते हुए उनके प्रति कृतज्ञता प्रगटाने में है, इसकी सभ्यता—जीओ और जीने दो, खाओ और खाने दो, रहो और रहने दो के क्रियात्मक जीवन जीने में है। जो अपने को भारतीय कहे, भारतीय नागरिकता का लाभ उठाये पर भारतीयता के इन आधारों को अस्वीकारे तो वह भारतीय कैसा? वह तो एक छद्म वेषधारी देश-द्रोही है या विधर्मी है, या विदेशी है। अतः इन आधारों के बिना कोई राष्ट्र अपना विकास कैसे कर सकता है और अपने आदर्श और अस्तित्व को कैसे सुरक्षित रख सकता है तथा विश्व में कैसे अपनी प्रभावी भूमिका निभा सकता है।

यह बौद्धिक षड्यंत्र न्यस्त स्वार्थ के कारण स्वतन्त्रता पूर्व रचा गया, जो पंडित नेहरू के कारण स्वतन्त्रता के बाद भी चलता रहा। इसने भारतीय जनमानस में जहां एक और आत्महीनता का संचार किया, वहीं विभ्रम की स्थिति उत्पन्न करके समाज को बांट दिया। इसको यहां स्थापित करने की चेष्टा में अंग्रेजी भाषी अभिजात वर्ग का योगदान है जो अंग्रेजी में सोचता है, अंग्रेजी में बोलता है— अंग्रेजी में लिखता है, पश्चिमी विचार भारत पर लादता है। ऐसे लोगों का जीवन अंग्रेजियत के लिए समर्पित है। नेहरूजी अंग्रेजियत, इसलाम और कम्यूनिज्म के प्रबल समर्थक और पोषक थे। और ये तीनों ही धारा विश्व के मानचित्र से भारत के अस्तित्व को ही मिटा देना चाहती है। और इसके लिए निरन्तर कटिबद्ध है; प्रयासरत है। ये तीनों नेहरूजी के आदर्श थे। और उन्हें हिन्दुत्व से ही घृणा थी। इसलिए आजीवन हिन्दू-धर्म, संस्कृति, संस्कृत भाषा, हिन्दी भाषा, गो माता, हिन्दू मान्यताओं, श्रद्धा बिन्दुओं, हिन्दू महापुरुषों, इतिहास आदि का विरोध किया, कुचलने का प्रयास किया। संविधान में धर्मनिरपेक्ष शब्द डलवाया श्रीमती इन्दिरा गांधी ने आपातकाल के घोर अंधकार में जब सारा विपक्ष जेल में था।

भारत में धर्मनिरपेक्षता भारत में से हिन्दुत्व का समूल लोप करके ईसाइयत, इसलाम और कम्यूनिस्टों की झोली में देश को डालने का एक राजनैतिक षड्यंत्र है जो पण्डित नेहरू, इन्दिरा गांधी एवं तत्सदृश सेकुलर, वामपंथी, मानवाधिकारवादी, प्रगतिवादी नेताओं की देन है। देश-विदेश में कहीं भी हिन्दुओं पर बीभत्स से बीभत्स अत्याचार होने पर भी वामपंथी, सेकुलरवादियों, मानवाधिकारवादियों और प्रगतिवादियों के चेहरे पर थोड़ी भी शिकन तक नहीं आती। वही मुसलमानों और ईसाइयों पर कल्पित अत्याचार पर भी सारे देश में तूफान खड़ा कर देते हैं। दंगा-फसाद सदैव मुसलमानों द्वारा प्रारम्भ होता है, और हिन्दू मार खा लेते हैं। सह लेता है। पर कही.हिन्दुओं में भूले भटके थोरी सी भी प्रतिक्रिया हो जाती है तो ये सेकुलरवादी सारे देश और दुनिया में ढोल पीटने लगते हैं कि मुसलमानों पर भारत में अत्याचार हो रहा है। वही कारण है कि कश्मीर में आतंकवादियों से अधिक मुकदमें पुलिस अफसरों और सैनिकों पर हुए हैं और उन्हें सजा हुई हैं। जब भी सारे देश को एक कानून व्यवस्था के अन्तर्गत, एक राष्ट्रीय धारा के अन्दर एक सांस्कृतिक धारा के अन्दर लाने का प्रयास होता है तब इन्हें भगवाकरण की, हिन्दुत्व की बू आने लगती है और इसके विरोध में खड़े हो जाते हैं। पता नहीं इस देश का भगवाकरण, हिन्दूकरण, भारतीयकरण, राष्ट्रीयकरण नहीं होगा तो क्या होगा?

ईसाई और इसलाम अपने जन्म लग्न से आज तक साम्प्रदायिक सौहार्द में बाधक हैं, उन पर धर्मनिरपेक्षता लागू ही नहीं है। और हिन्दुओं में धर्मनिरपेक्षता की कोई आवश्यकता ही नहीं, उन पर लागू है। आज सारे विश्व के सुलझे हुए

मनीषी जिनको पूरे विश्व की हितचिन्ता है, सारे विश्व का सहअस्तित्व चाहते हैं, सामंजस्य, समन्वय चाहते हैं उन सबकी दृष्टि भारत पर है, हिन्दुत्व पर है, वेदोक्त, गीतोक्त भारत पर है। क्योंकि भारतीय धर्म-दर्शन-चिन्तन में ही वसुधैव कुटुम्बकम् का भाव है, सबमें एक ही ईश्वर, एक ही आत्मा के वास का भाव है अतः कोई पराया, कोई गैर है ही नहीं किसको लूट-ठगे किस पर अत्याचार करे। सब तो अपने है। पर उन पर ही धर्मनिरपेक्षता लागू है। ऐसी घोर विडम्बनापूर्ण सारे विश्व में हास्यास्पद स्थिति है भारत की। इससे मुक्ति पाने के लिए संविधान में छोटे से संशोधन की आवश्यकता है।

संसार भर में वहां के राज्य द्वारा अपने मूल राष्ट्र के राष्ट्रीय बहुसंख्यकों के समाज के रिलिजन या मजहब या मत या धर्म को अधिकृत, वैधानिक संरक्षण मिलता है। भारत विश्व का एकमात्र देश है जिसका संविधान यहां के बहुसंख्यक, मूल निवासी हिन्दुओं के धर्म—हिन्दू धर्म को अधिकृत वैधानिक संरक्षण नहीं देता। इस प्रकार हिन्दू धर्म, हिन्दू संस्कृति के विशेष संरक्षण के राजधर्म का पालन भारत में नहीं किया जा रहा है। इस विषय में प्रबुद्ध जनमत जागृत किया जाना चाहिए और वर्तमान संविधान के भाग 4 अनुच्छेद-38 में एक छोटा-सा संशोधन लाया जाना चाहिए कि 'भारत का राज्य भारतीय संस्कृति का संरक्षण करेगा और समाज में भारतीय सांस्कृतिक चेतना के उत्कर्ष के लिए काम करेगा। इस प्रकार राजधर्म का पालन करता हुआ भारतीय राज्य भारत के गौरवशाली इतिहास को वर्तमान और भविष्य में भी चरितार्थ करना अपना धर्म मानेगा।

इसके दूरगामी परिणाम होंगे। तभी हिन्दू धर्म संस्कृति, इतिहास, महापुरुषों की रक्षा हो सकेगी और विश्व का कल्याण भी साधित हो सकेगा।

फिर इन धर्माभासों से मुक्ति गीता और भगवान् कृष्ण को, आद्य शंकराचार्य को, आचार्य चाणक्य को अपनाने से ही सम्भव है। एक ओर आज के राजनेताओं का जीवन कि वे देश को कहां ले जा रहे हैं? दूसरी ओर कहां आचार्य चाणक्य का जीवन!

मैगस्थनीज यूनान का राजदूत बनकर जब भारत आया तब चन्द्रगुप्त मौर्य के प्रधानमंत्री चाणक्य की प्रशंसा सुनकर उनसे मिलने की इच्छा से जिज्ञासा की कि उनका भवन कहां है। लोगों ने बताया—गंगा के तट पर उनका निवास है। वह गंगा के तट पर पहुंचा, वहां अनेक झोंपड़ियां दिखीं। कोई भवन नहीं दीखा तो उसे लगा लोगों ने गलत बता दिया। वहां लोगों से पुनः जिज्ञासा की, तो लोगों ने बताया आप उनके घर के पास ही खड़े हैं। उसे आश्चर्य हुआ कि भारत का प्रधानमंत्री इतनी सामान्य सी झोंपड़ी में रहता है! वह झोंपड़ी के अन्दर गया तो प्रौढ़ व्यक्ति सामान्य सी चटाई पर बैठे हुए दीपक की रोशनी में कुछ कार्य कर रहे हैं। मैगस्थनीज

ने उसे चाणक्य का नौकर समझकर उनसे निवेदन किया—आप प्रधानमंत्री को अन्दर जाकर सूचना दें, मैं उनसे मिलने आया हूं। उन्होंने पूछा—आप किस काम से आये हैं, मुझे बताइये। मैगस्थनीज ने कहा—मैं उन्हें ही बताऊंगा। कृपया आप उन्हें सूचना देवें। कई बार कहने पर उस व्यक्ति ने कहा—आप बताइये क्या काम है मैं ही प्रधानमंत्री हूं। आश्चर्य हुआ सामान्य-सी चटाई, सामान्य-सी पोशाक! पर तब चाणक्य ने बताया, राजभवन जाता हूं तो पोशाक में थोड़ा परिवर्तन हो जाता है, मैं ऐसे ही रहता हूं। आप बताइये किस काम से आये हैं? तो उन्होंने बताया मैं यूनान से राजदूत के रूप में आया हूं। चाणक्य ने बताया—हां, मेरे को पता है। आपको कैसे पता है—आपने जब से हमारी सीमा में प्रवेश किया है तब से अब तक की सारी सूचना मेरे को है। मेरे आदमी सादा वेश में आप से जिज्ञासा-पूछताछ करते रहे हैं, वे सब प्रशासन के ही व्यक्ति हैं। मैगस्थनीज को आश्चर्य हुआ, गुप्तचरी तंत्र इतना चुस्त और सक्रिय है। तब मैगस्थनीज ने बताया—मैं प्रशासन तंत्र के बारे में बाद में जानना चाहूंगा पहले मैं आपके व्यक्तिगत जीवन के विषय में जानना चाहता हूं। चाणक्य के पास दो दीपक रखे हुए थे। एक जल रहा था। उससे दूसरा दीपक जलाकर पहले वाला दीपक बुझा दिया। मैगस्थनीज को यह बात समझ नहीं आयी। जलते हुए दीपक को तो बुझा दिया और दूसरा जलाया। उसने इस विषय में जिज्ञासा की। तब चाणक्य ने बताया—मैं अभी राजकार्य कर रहा था, तो वह दीपक राजकीय पैसे के तेल से जल रहा था। और यह दीपक व्यक्तिगत कार्य के लिये है। इसके तेल की व्यवस्था मैं अपने व्यक्तिगत खर्च से करता हूं। व्यक्तिगत कार्य के समय में राजकीय दीपक का उपयोग नहीं करता। आपने कहा मुझे आपके व्यक्तिगत जीवन के विषय में जिज्ञासा है। अतः राजकीय दीपक को बुझाकर व्यक्तिगत दीपक को जला लिया।

इससे मैगस्थनीज आश्चर्य में पड़ गया। उनके जीवन की सादगी, सरलता, प्रशासन की सुविधा से निर्लेपता! और इतनी चुस्त-सक्रिय गुप्तचरी व्यवस्था जो कुशल प्रशासन के लिये आवश्यक है। भारत के प्रधानमंत्री पद पर होकर भी उसका कोई अहंकार नहीं, जिस देश में ऐसा प्रधानमंत्री होगा उनको कौन पराजित कर सकता है। उसे भारत की एवं चाणक्य की सफलता का रहस्य समझ में आ गया।

चाणक्य के प्रधानमंत्रित्व काल में प्रसिद्ध चीनी यात्री युआन-च्वांग (ह्वेनत्सांग) आया था। वे अपने संस्मरण में लिखते हैं—उस समय भारत की प्रजा सम्पन्न और सुखी थी। लोग सत्यवादी थे। सदाचार में निरत रहते थे, कोई दुराचारी नहीं था, अपराध नहीं होते थे। सभी एक-दूसरे पर विश्वास करते थे। न्यायालयों में आपराधिक-अभियोग निर्णयाधीन नहीं थे। कारागृह में भी कोई अपराधी नहीं था। लोग घरों में ताले नहीं लगाते थे; क्योंकि चोर-डाकू नहीं थे।

ह्वेनत्सांग ने अपने संस्मरण में यह भी लिखा है कि चाणक्य के कुटिर में एक गाय बंधी थी। आवश्यक हवन सामग्री भी थी। दो उत्तरीय वस्त्र (ऊपर पहना जाने वाला वस्त्र), दो अधो-वस्त्र (नीचे पहना जाने वाला वस्त्र), दो कौपीन (लंगोटी) भी थे। अति सीमित आवश्यक एवं अपेक्षित खाद्य सामग्री भी थी। इस पर मैंने उनसे चकित होकर पूछा कि क्या आपके पास इतनी ही सामग्री एवं सम्पत्ति हैं? चाणक्य ने बड़े इतमीनान (संतोष) के साथ कहा कि बस, इतनी सामग्री मेरे लिये पर्याप्त है, इससे अधिक सामग्री के उपयोग का मैं अभ्यस्त नहीं हूं। शीत-उष्ण, आंधी-तूफान, वर्षादि से बचने के लिये कुटिर पर्याप्त है। गाय से वांछित मात्रा में दूध, दही, घृतादि मिल जाते हैं। उत्तरीय-वस्त्र, अधो वस्त्र तथा कौपीन दो-दो इसलिये रखते हैं कि स्नानोपरान्त भीगे वस्त्र को धोकर सुखा देते हैं, दूसरा सूखा हुआ वस्त्र पहन लेते हैं। हवन-सामग्री की देवताओं के निमित्त से अग्नि में आहुति देते हैं, जिससे देवताओं के प्रसन्न होने से आधिदैविक तापों, जो कि ये हैं—अति गर्मी-सर्दी, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, अतिवायु-अन्धड़, तूफान से जन्य दुःख आधिदैविक है, क्योंकि देवता निमित्त से ये दुःख होते हैं, की निवृत्ति हो जाती है। साथ ही हवन के धुएं से वायुमण्डल भी स्वच्छ हो जाता है। भोजन सामग्री जिससे क्षुधा निवृत्ति हो जाती है उतनी मात्रा में रखनी पर्याप्त है, अधिक संग्रह करने से उसकी सुरक्षा की चिन्ता करनी पड़ती है। ह्वेनत्सांग ने लिखा है कि चाणक्य जैसा आचरण करने से ही राजा तथा प्रजा का सर्वतोभद्र होता है।

हमारे राजा आत्मविद्या, ब्रह्मविद्या में दीक्षित होते थे। क्योंकि बिना ब्रह्मविद्या या आत्मविद्या में दीक्षित हुए कुशल प्रशासक नहीं बन सकता। ब्रह्मविद्या में दीक्षित व्यक्ति ही राग-द्वेष से रहित होकर सबको शोषणमुक्त शासन दे सकता है। इसलिये गीता में ज्ञान की परम्परा कहां से प्रारम्भ होती है, इस विषय में स्वयं भगवान् श्री कृष्ण बता रहे हैं, गीता के चौथे अध्याय के प्रथम श्लोक से तीसरे श्लोक तक—

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्।।1।।

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप।।2।।

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्।।3।।

मैंने गीताज्ञान सबसे पहले सूर्य को (सूर्यवंशी राजा को) कहा था। सूर्य ने अपने पुत्र मनु को, मनु ने अपने पुत्र इक्ष्वाकु को दिया। इस प्रकार से यह ज्ञान राजाओं ने जाना। कालक्रम में लुप्त होने पर पुनः भगवान् एक कुशल प्रशासक (अर्जुन) को दे रहे हैं। एक श्रेष्ठ प्रशासक दूसरे प्रशासक को दे रहे हैं।

इसी प्रकार वृहदारण्यक उपनिषद् में आता है, श्वेतकेतु अपने पिता उद्दालक के साथ राजा अश्वपति के पास ब्रह्मविद्या की जिज्ञासा लेकर पहुँचता है। तब राजा उनको सविधि उपदेश देता हुआ कहता है, इससे पूर्व यह विद्या किसी ब्राह्मण को विदित नहीं थी, अब मैं क्षत्रिय तुमको इसका उपदेश देता हूं।

बिना ब्रह्मविद्या में दीक्षित हुए सबमें एकत्व देख नहीं सकते। बिना एकत्व देखे हम राग-द्वेष से मुक्त नहीं हो सकते और राग-द्वेष से मुक्त हुए बिना हम सबको शोषण मुक्त न्याय व शासन नहीं दे सकते। इसलिये ग्रीक दार्शनिक अरस्तू कहता है राजा को दार्शनिक होना चाहिये। और भारत में हम देखते हैं आत्मविद्या प्रारम्भ होती है राजर्षियों से। और हमारे राजा आत्मविद्या में दीक्षित होते थे।

भारत में विधिवेत्ता राजा या राजनेता नहीं ऋषि-मुनि होते थे, जो राग-द्वेष से रहित होकर मानव मात्र के हित को ध्यान में रखकर विधान रचते थे। अंग्रेजों के पूर्व तक यही स्थिति देखते हैं। जिन्होंने स्वयं का निर्माण किया है और स्वयं शासित हैं, वही दूसरों पर शासन करने के लिये विधान रच सकते हैं।

गीता के 16वें अध्याय में भगवान् श्रीकृष्ण ने दो प्रकार की प्रकृति के लोग बताये हैं—एक दैवी प्रकृति, दूसरी आसुरी प्रकृति। देवासुर संग्राम हमारे जीवन में दो प्रकार से चलता है—एक देवासुर संग्राम बाह्य जगत् में चलता है और दूसरा संग्राम हमारी अन्तःप्रकृति में।

16वें अध्याय में विशेषतः बाह्य जगत् में जो देवासुर संग्राम चलता है उसके सिद्धान्त पक्ष का चित्रण, उनके मनोभाव का चित्रण है। वहां उदाहरण नहीं दिखाया गया है। उदाहरण प्रथम अध्याय में दिखाया गया। अन्य अध्यायों में हमारे अन्दर जो देवासुर संग्राम चलता है उसका मुख्यतः वर्णन प्रायः सभी अध्यायों में आया है। और उसके शमन के लिये भगवान् ने मनुष्य की तीन प्रमुख प्रवृत्तियों के आधार पर चार मार्ग बताये हैं—कर्मयोग, राजयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग तथा नानाविध उपासनाएं एवं नानाविध यज्ञ बताये हैं।

बाह्य जगत् में दुष्टों का दमन करने से देश-समाज में अभय, सौहार्द, मैत्री स्थापित होती है और सुरक्षित देश में ही व्यवसाय, वाणिज्य, उद्योगों, विज्ञान, कला-कौशल, सभ्यता-संस्कृति का विकास सम्भव होता है। और अपने अन्दर के शत्रुओं का दमन कर अपना परम कल्याण मोक्ष लाभ करते हैं। इस प्रकार बाह्य जगत् पर विजय से जगत् का भला और अपनी अन्तःप्रकृति में विजय से अपना मोक्ष लाभ होता है। इस तरह मानव जीवन के दोनों लक्ष्य सध जाते हैं। 'आत्मनो मोक्षार्थ जगतहिताय च' अर्थात् अपनी मुक्ति और जगत् का भला, दोनों लक्ष्य सिद्ध हो जाते हैं। इस प्रकार गीता की महत्ता स्पष्ट है।

जब से मोदी सरकार आयी है भारत भारतीयता के प्रति आस्थान्वित है। उसके लिए सचेष्ट है। स्वाधीन भारत में मोदीजी प्रथम प्रधानमंत्री हैं जो गीता की महत्ता को समझकर विश्व के राजनेताओं को गीता भेंट में दे रहे हैं। अमेरीका के राष्ट्रपति ओबामा को गीता भेंट देते हुए कहा—भारत के पास इससे बड़ा कोई उपहार नहीं है अमेरीका को देने के लिए और अमेरीका के पास भी भारत से लेने के लिए इससे बड़ा कोई उपहार नहीं है। योग को विश्व स्तर पर प्रतिष्ठा दिलवाई। आज विश्व में 21 जून को योग दिवस के रूप में पालन किया जा रहा है। इसके पूर्व में ये सब सेकुलर के घेरे आकर साम्प्रदायिक कचरा बना हुआ था। मोदीजी से आशा है कि वे भारतीयता को पुनः विश्व स्तर पर प्रतिष्ठा दिलायेंगे। इसी दृष्टि से मोदीजी पड़ोसी देशों और सारे विश्व से सांस्कृतिक सम्बन्ध को पुनः सुदृढ़ करने की चेष्टा कर रहे हैं। यह सारे विश्व के लिए एक शुभ संकेत है और भारत पुनः जगद्गुरु के पद पर प्रतिष्ठित होगा। क्योंकि पश्चिम के पास, यूरोपीय देशों के पास, अमेरीका जैसे विकसित देशों के पास साधन तो है पर समाधान नहीं है। समाधान तो भारत के पास ही है। इसलिए समाधान के लिए ये भारत की ओर देख रहे हैं ऐसा स्पष्ट मंतव्य अमेरीकन लेखक डॉ. डेबिड फ्रॉली एवं अनेक सुलझे हुए पश्चिमी मनीषियों का है।

मैं तो पूरी गीता पर टीका श्रीमान्जी (प.पू. डॉ. हरवंशलाल ओबरायजी) से चाहता था। अनेक बार प्रयास करने के बाद भी उनकी व्यस्तता और लिखने-लिखवाने की प्रवृत्ति का अभाव होने से सम्भव नहीं हो सका। इसमें श्रीमान्जी का प्रसाद तो है ही, साथ में श्रद्धेय श्रीपाद दामोदर सातवलेकरजी, स्वामी विवेकानन्द, लाला लाजपत राय, लोकमान्य तिलक, अरविन्द घोष, महात्मा गांधी, विनोबा भावे, स्वामी रामतीर्थ, श्रद्धेय तजोमयानन्दजी (चिन्मय मिशन), परमश्रद्धेय स्वामी देवानन्दजी महाराज (प्रेम मन्दिर आश्रम, रिषड़ा), पूर्वाम्नाय श्री गोवर्द्धन मठ-पुरी पीठाधीश्वर अनन्त श्रीविभूषित श्रीमज्जगद्गुरु शंकराचार्य स्वामी निश्चलानन्द सरस्वतीजी महाराज, श्रद्धेय आचार्य विष्णुकान्त शास्त्रीजी, श्रद्धेय आत्मानन्दजी महाराज (रामकृष्ण मिशन) विवेकानन्द आश्रम, रायपुर), श्रद्धेय स्वामी रंगानाथानन्दजी महाराज, स्वामी अभेदानन्दजी महाराज (रामकृष्ण मठ, नागपुर), परम पूज्य दादा गुरु स्वामी ईश्वरानन्दजी महाराज, परमश्रद्धेय मेरे गुरुदेव स्वामी संवित् सोमगिरिजी महाराज, डॉ. राधाकृष्णन्, माननीय डॉ. गिरधारीलाल चतुर्वेदीजी, स्वातंत्र्य वीर सावरकर, घनश्याम दास बिड़ला, वासुदेव शरण अग्रवाल, आचार्य रजनीश, सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार, ब्रह्मर्षि विश्वात्मा बावरा, प्रो. रामेश्वर प्रसाद मिश्र (पंकजजी), कुसुमलता केडिया, रामस्वरूपजी, स्वामी रामसुखदासजी, सुधांशुजी महाराज, विद्यानन्दगिरिजी महाराज (कैलास आश्रम), आचार्यश्री शिवानन्दजी, गीता मनीषी ज्ञानानन्दजी

महाराज, स्वामी विद्यानन्दजी विदेह, बालकोबा भावे, डॉ. श्रीमन् महानाम व्रत ब्रह्मचारी, स्वामी अखण्डानन्दजी महाराज, श्री पांडुरंगशास्त्रीजी, श्री सांवलिया बिहारी लाल वर्मा, भाई परमानन्द, श्रद्धेय गुरुजी, सुदर्शनजी, दत्तोपंत ठेंगड़ी, स्वामी गोविन्ददेव गिरिजी, काका कालेलकर, दण्डि स्वामी श्रीमद् भागवतानन्द सरस्वती, महामण्डलेश्वर, काशिकानन्द गिरिजी महाराज, महामण्डलेश्वर स्वामी विष्णुपुरीजी महाराज, स्वामी प्रणव चैतन्यजी, स्वामी सत्यमित्रानन्द गिरि, प्रबोध चतुर्वेदीजी, महामहोपाध्याय बाल शास्त्री हरदास, श्री मान्धातासिंह गहमरी, कल्याणमल लोढ़ा, शिवनारायण खन्ना, स्वामी सच्चिदानन्द, स्वदेशकुमार हस्ती, डॉ. नागराज राव, स्वामी श्री हरिहरजी महाराज, प्रो. विष्णुदयाल, महामण्डलेश्वर महेशानन्द गिरिजी महाराज, ज्ञानेश्वरजी, महामहोपाध्याय गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, श्रद्धेय स्वामी चिन्मयानन्दजी महाराज, स्वामी शरणानन्दजी महाराज, श्रद्धेय हनुमानप्रसाद पोद्दार, श्रद्धेय जयदयाल गोयन्दका, महामण्डलेश्वर स्वामी आत्मप्रकाशजी, डॉ. सहस्रबुद्धे, डॉ. कृष्ण गोपाल, शंकर शरण, डॉ. शत्रुघ्न, नरेन्द्र कोहली, आचार्य डॉ. रमेश चन्द्र यादव, (कृष्ण), इतिहासविद् डॉ. सतीश चन्द्र मित्तल, रामफलसिंह, धर्मपाल, आचार्य चतुरसेन, निर्मल वर्मा, आनन्द मिश्र 'अभय', ओम प्रकाश पाण्डेय, देवेन्द्र स्वरूप, भारत भूषण चड्ढा, कन्हैयालाल चतुर्वेदी, भानुप्रताप शुक्ल, आरनाल्ड टायनबी, विल डूरेन्ट, H.G. Wells, डॉ. पितृम ए सोरोकिन, मैक्समूलर, ए बेरीडेल कीथ, पाल डायसन, रोमां रोलां, डॉ. डेबिड फ्राली, सतीश मित्तल, चतुर्भुज मित्तल, हमीद दलवाई, अज्ञेय, डॉ. विद्यानिवास मिश्र, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, टाल्सटाय, भगिनी निवेदिता, डॉ. एनी बीसेंट, श्रीमाँ, नानी पालखीवाला, एस.एन. दासगुप्त, राधा कमल मुकर्जी, राष्ट्र कवि मैथिलीशरण गुप्त, सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला, जयशंकर प्रसाद, शिवकुमार गोयल, चटर्जी एवं दत्त, डॉ. मंगलदेव शास्त्री, रामचन्द्र दत्तात्रेय रानाडे, डॉ. वेदवती वैदिक, इन्द्रेशजी, शैषाद्रिजी, तरुणविजय, यदुवंश सहाय, वचनेश त्रिपाठी, कन्हैयालाल तालरेचा, जुगल किशोर जैथलिया, वासुदेव पोद्दार, सुरेश सोनी, रंगाहरि, ह्रदयनारायण दीक्षित, दयानन्द भार्गव, डॉ. के.वी. पालीवाल, सत्यनारायण मौर्य, लोकेंन्द्रसिंह, रामधारीसिंह दिनकर के साथ अनेक श्रद्धेयों का प्रसाद इसमें मिलेगा। हमेशा की तरह सांखला प्रिंटर्स ने पूर्ण सहयोग करते हुए, श्रेष्ठ सुझाव देते हुए, तत्परता से मुद्रण कार्य को सुन्दरता से सम्पन्न किया है, उनके प्रति विशेष आभार है।

शिवाकांक्षी

—स्वामी संवित् सुबोधगिरि

मो. 09413769139

क्या गीता आज भी प्रासंगिक है, उपादेय है या कालबाह्य हो गई है

जब मैं दर्शनशास्त्र में एम.ए. कर रहा था तब एक मैडम गीता पढ़ाती थी। वह अक्सर कहती रहती थी—गीता तो बैलगाड़ी के युग में कही गई, आज तो रॉकेट का युग है। ज्ञान-विज्ञान का युग है। अतः गीता की कोई प्रासंगिकता नहीं रही आज के सन्दर्भ में। इसमें तो केवल पुनरावृत्ति और पुनरावृत्ति मात्र है। गीता तो विज्ञान से, मनोविज्ञान से, विकासवाद से, मार्क्सवाद से, समाजविज्ञान से खण्डित हो जाती है। मैंने विनम्रता से प्रतिवाद करते हुए मैडम से कहा—गीता महाभारत के युग में कही गई जो ज्ञान-विज्ञान की दृष्टि से परम प्रकाश का युग है। भारतीय शास्त्रीय परम्परा में जड़ से चेतन की उत्पत्ति, अज्ञान से ज्ञान की उत्पत्ति मान्य नहीं है। भारतीय शास्त्रीय परम्परा में ब्रह्माजी ने पहले मानसिक सृष्टि की—**मद्-भावा मानसा जाता, येषां लोक इमाः प्रजाः।। 10/6** पहले चार (सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार), फिर भृगु, मरीचि, अत्रि, पुलस्त्य, पुलः, कृतु और वशिष्ठ—ये सात प्रमुख मानस पुत्रों को प्रकट किया। इसके पश्चात् मैथुनी सृष्टि प्रारम्भ हुई। ये सबके सब परमज्ञानी थे।

गीता साक्षात् पूर्णब्रह्म पुरुषोत्तम के अवतार भगवान् श्रीकृष्ण की वाणी होने से यह एक पूर्ण दर्शन है। क्योंकि पूर्ण से पूर्ण की निष्पत्ति होती है। हम नित्य उपनिषद् का प्रथम शांति मंत्र गाते हैं—

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।।

जो पूर्ण होता है उससे पूर्ण की ही अभिव्यक्ति होती है। गीता स्वयं भगवान् के मुख से निःसृत वाणी होने से पूर्ण है। अतः गीता एक पूर्ण दर्शन है जो न विज्ञान से, न मनोविज्ञान से, न ही मार्क्सवाद से, न विकासवाद से, न ज्ञान-विज्ञान की किसी शाखा से खण्डित होता है। वरन् सभी से मण्डित होती है। हां, आज के विज्ञान-मनोविज्ञान, विकासवाद, मार्क्सवाद में जो अपूर्णताएं हैं उनको पूर्णता प्रदान करने की क्षमता, मार्गदर्शन करने की क्षमता गीता में है। मैंने मैडम से

निवेदन किया, गीता कैसे विज्ञान से, मनोविज्ञान से, विकासवाद से, मार्क्सवाद से खण्डित होती है, इसे कृपया बतायें। मैडम टालमटोल के अलावा कोई उत्तर दे नहीं पायी।

अब प्रश्न उठता है कि क्या गीता वस्तुतः आज भी प्रासंगिक है या कालबाह्य हो गई है या जैसा कि सेमिटिक परम्परा जिसमें यहूदी, ईसाई और इसलाम आता है। सेमिटिक परम्परा के पास न कोई दार्शनिक, न धार्मिक, न आध्यात्मिक, न नैतिक, न बौद्धिक, न समाज मनोवैज्ञानिक, न ज्ञान-विज्ञान की किसी शाखा का आधार है, न उससे पुष्ट है। ये मानवता विरोधी, पर्यावरण विरोधी, इनका सम्पूर्ण इतिहास कलंकित, चरित्र की दृष्टि से अनुदार, नारी विरोधी धारायें हैं। ये कपोल कल्पना, अन्धविश्वास पर आधारित साम्राज्यवादी धारायें हैं। इनका पूरा दर्शन यथा जीव, जगत् व ईश्वर की अवधारणा त्रुटिपूर्ण ही नहीं, विकृतियों को ही लिए हुए ही नहीं वरन् पैशाचिकता को, हिंसा, बलात्कार, पापाचार, व्यभिचार को लिए हुए है, उन पर टिका हुआ है। दैनंदिनी जीवन की समस्याओं का इनके पास कोई समाधान नहीं है। जो दर्शन, धर्म, पंथ, संस्कृति वर्तमान जीवन को स्पन्दित नहीं करता वह दीर्घजीवी और चिरंजीवी नहीं हो सकता। पर वेद, उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र, गीता के साथ ये बातें नहीं हैं। और जैसे-जैसे ज्ञान-विज्ञान का प्रकाश बढ़ता जा रहा है हिन्दू धर्म, दर्शन, संस्कृति, अध्यात्म, योग की सत्यता और अधिक प्रकट होती जा रही है, प्रमाणित होती जा रही है सभी दृष्टियों से। आज नासा के वैज्ञानिक घोष कर रहे हैं कि सूर्य की रश्मियों से निरन्तर ॐ की ध्वनि निःसृत हो रही है। अन्तरिक्ष से सौरमण्डल से भी ॐ की ध्वनि निकल रही है। अब इसे कैसे अस्वीकारें।

पर आज हम स्वयं भ्रमवश, अज्ञानवश, स्व-से च्युत होकर पश्चिम का अन्धानुकरण कर रहे हैं तब ये प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठने लगता है कि गीता भी सेमिटिक परम्परा (यहूदी, ईसाई, इसलाम) की तरह, गीता भी कालबाह्य हो गई क्या? आज इक्कीसवीं शताब्दी है। विज्ञान का युग है। आज प्रतिदिन के जीवन में, जन्म से मृत्युपर्यन्त विज्ञान द्वारा प्रदत्त वस्तुएं एवं उपलब्धियां ही काम आती हैं, गीता नहीं। एक व्यक्ति ने कहा गीता के बिना मैंने विद्यालय-महाविद्यालय-विश्वविद्यालय में प्रवेश पा लिया, विवाह कर लिया, नौकरी पा ली, सन्तान पा ली, समाज में ऊंचा पद पा लिया। गीता की जीवन में क्या आवश्यकता है?

आज मनुष्य कुछ भी निष्प्रयोजन नहीं करता। यहां तक कि एक स्थान पर बैठा व्यक्ति दूसरे स्थान पर तभी बैठता है जब उसको कुछ प्रयोजन या लाभ बोध हो। जब जीवन से मृत्युपर्यन्त जीवन की सभी बातें बिना गीता को जाने-पढ़े ही सम्पन्न हो जाती है तब हम गीता क्यों पढ़ें, क्यों अपनायें? इसके पढ़ने से क्या लाभ है, नहीं पढ़ने से क्या हानि है?

इस विषय को बड़ी सुन्दर रीति से चिन्मय मिशन के पूर्व अध्यक्ष श्रद्धेय स्वामी तेजोमयानन्दजी रखते हैं। यह ठीक है गीता को बिना पढ़े संसार की सब वस्तुएं मिल गईं। परन्तु सब वस्तुएं जिस सुख के लिए प्राप्त की जाती हैं वह मिला क्या? इस प्रश्न का उत्तर है—वह सुख नहीं मिला। इसे श्रद्धेय स्वामी तेजोमयानन्दजी दृष्टान्त से समझाते हैं—एक छात्र से पूछने पर बताया—मैं कॉलेज तो रोज जाता हूं किन्तु कक्षा में रोज नहीं जाता। मुझे पढ़ने में विशेष रुचि नहीं है, मुझे तो मात्र डिग्री चाहिये।

क्या केवल डिग्री फ्रेम में सजाने के लिए चाहिये? उससे नौकरी प्राप्त नहीं होगी। नहीं, मुझे नौकरी चाहिये। क्या केवल नौकरी चाहिये? बिना वेतन के सेवा करोगे? आश्रम में बहुत काम है। नहीं, पैसा चाहिये। क्या बैंक में चेक जमा करा दें, किन्तु पैसा निकालना मना होगा। नहीं, पैसा चाहिये। अच्छा, यदि पैसा हो किन्तु उपभोग मना हो तो क्या स्वीकार है? नहीं, पैसे का उपभोग चाहिये। उससे वस्तुएं टी.वी., गाड़ी, मकान आदि चाहिये। ये वस्तुएं क्यों चाहिये? इनके उपभोग से सुख मिलेगा। सुख क्यों चाहिये? सुख-सुख के लिए। सुख निरपेक्ष वस्तु है।

अतः स्पष्ट हुआ—पढ़ाई, डिग्री के लिए। डिग्री, नौकरी के लिए। नौकरी, पैसे के लिए। पैसा, वस्तुओं के लिए। वस्तुएं, सुख के लिए। और सुख, सुख के लिए चाहिए, क्योंकि सुख निरपेक्ष वस्तु है, वह किसी और वस्तु के लिए नहीं चाहिये। तो क्या आपको इन वस्तुओं से जो सुख चाहते थे वह मिला। नहीं। मन में वैसे ही अशान्ति बनी हुई है जैसे पहले मन में विद्यमान थी।

देश परिवर्तन—व्यक्ति दुःख से बचने के लिए देश बदलता रहता है—यहां दुःख है। व्यक्ति कहता है बीकानेर से मेरी बदली जयपुर हो जाये तो अच्छा है। बीकानेर में बड़ा दुःखी हूं। जयपुर में बदली होने पर पूछा—अब तो आप सुखी हैं। उत्तर नकारात्मक होता है। पूछा, क्यों भाई तुम तो कहते थे कि जयपुर में बदली होने से आराम हो जायेगा। व्यक्ति कहता है सो तो ठीक है। परन्तु बीकानेर में बीकानेर के दुःख हैं और जयपुर में जयपुर के दुःख हैं। फिर यदि जयपुर में आराम मिला तो वह भी एडजस्ट हो जाता है, उससे ऊब पैदा हो जाती है। अतः पुनः परिवर्तन चाहता है। तब उससे पूछा गया कि अब कहां जाना चाहते हो, तो पुनः बीकानेर या अन्य स्थान की सिफारिश की। यानी निष्कर्ष निकला देश बदलने से सुख नहीं मिला। पर हम जीवनभर सुख पाने के लिए देश बदलते रहते हैं।

काल परिवर्तन—व्यक्ति दुःख के लिए काल पर दोषारोपण करता है कि मेरा समय ठीक नहीं चल रहा है। ग्रह मेरे अनुकूल नहीं हैं। शनि की मेरे पर टेढ़ी दृष्टि है और जब तक ऐसी स्थिति रहेगी, सुख नहीं मिलेगा। पर वर्षों गुजर

जाते हैं। पूरी जिन्दगी गुजर जाती है पर सुख नहीं मिलता। इसका अर्थ है **काल परिवर्तन** से सुख नहीं मिलता। व्यक्ति जो सोचता है कल सुखी हो जाऊंगा, वह भ्रम में है। हम कभी भी कल सुखी नहीं हो सकते। हम जब भी सुखी होंगे वह आज ही होगा, कल नहीं।

वस्तु में सुख—देश-काल के समान हम वस्तुओं में सुख ढूंढ़ते हैं। हमारे पास वस्तुओं की सूची होती है कि अमुक-अमुक वस्तु प्राप्त होने पर हम सुखी हो जायेंगे। जीवन पर्यन्त हम वस्तुओं की मांग करते रहते हैं। संग्रह करते रहते हैं। हमें गाड़ी मिल जाए, एयर कंडीशन कक्ष मिल जाए आदि-आदि। कुछ सौभाग्यशाली होते हैं उन्हें सभी मनपसन्द वस्तु मिल भी जाती है। पर पूछने पर पता चला कि आराम से दुःखी हैं, ऊब पैदा हो गई है। सोफासेट, एयर कंडीशन रूम भी कष्टप्रद हो गया है। कोई यूरोपीय होगा तो सोचेगा वाइफ बदलने से सुखी हो जायेगा पर जीवनभर वाइफ बदलकर भी सुखी नहीं हो पाता। वस्तुओं के साथ एक व्यक्ति आरामपूर्वक दुःखी रहता (सोफासेट पर रो रहा है) है। और एक व्यक्ति वस्तुओं के अभाव में फुटपाथ पर रो रहा है। इतना तो दोनों के दुःखों में अन्तर अवश्य है। एक Measrable sorrowful से ग्रस्त है तो दूसरा Comfortable sorrowful से ग्रस्त है। स्पष्ट है **वस्तु में सुख** नहीं है।

फिर व्यक्ति सोचता है परिस्थिति बदल जाये या सरकार बदल जाये तो सुखी हो जायें। सरकार तो ब्रिटिश से कांग्रेस, कांग्रेस से जनता दल, जनता दल से लोकदल, लोकदल से कांग्रेस, कांग्रेस से भारतीय जनता पार्टी फिर कांग्रेस अब पुनः भारतीय जनता पार्टी—फिर भी हम दुःखी के दुःखी हैं।

ऐसे ही हम जीवनभर अपने कर्म, आजीविका, व्यवसाय, अपनी पूजा-पद्धति, उपासना पद्धति बदलते रहते हैं, पर सुखी नहीं हो पाते।

जब तक हम देश-काल, वस्तु-परिस्थिति, व्यक्ति में सुख ढूंढ़ते रहते हैं और दुःख दूर करने के लिए व्यक्ति, देश-काल, वस्तु परिस्थिति बदलते रहते हैं तब तक दुःख बना ही रहता है। जब तक हम देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति में सुख मानते हैं तब तक विषाद की अवस्था है। जब मानव अपने दुःख को दूर करने के सारे साधन (देश-काल, वस्तु-परिस्थिति) करके थक जाता है और वास्तविक सुख-शान्ति को पाने सद्गुरु की शरण में जाता है और सद्गुरु सही मार्गदर्शन करते हुए कहते हैं—दुःख तो मन में है, अशांति तो मन में है, हाहाकार, अंधकार, पीड़ा, व्यथा तो मन में है। तब बाहर प्रकाश करने से बाह्य परिवर्तन करने से कोई अन्तर नहीं पड़ने वाला है। एक बार उत्तर काशी में मेरा पेट दुःख रहा था, सोचा ऋषिकेश जाने से ठीक हो जायेगा, किन्तु पेट दर्द बना रहा। तब दूसरे ब्रह्मचारी ने कहा—तुम उत्तर काशी से ही दुःखते पेट को साथ लेकर आये हो।

वास्तव में समस्या अपने अन्दर है, अशान्ति अपने मन में है, हाहाकार अपने अन्दर है, अन्धकार अपने अन्दर है। पर हम अपने अन्दर की स्थिति न बदलकर परिवर्तन करते हैं देश, काल, वस्तु एवं बाह्य परिस्थिति में।

गीता बाह्य वातावरण में परिवर्तन नहीं करती। भगवान् श्रीकृष्ण ने दुर्योधन को कहकर कुछ दिन के लिए युद्ध स्थगित नहीं किया, न युद्ध स्थल को बदला, न व्यूहरचना बदली। उन्होंने तो अर्जुन के अन्दर जो दुर्बलता पैदा हुई, पारिवारिक मोह व्याप्त हुआ, भीष्म और द्रोण से जो भय व्याप्त हुआ, उस मनःस्थिति में परिवर्तन किया, न कि बाह्य परिस्थिति में। उसके आन्तरिक स्थिति, मनःस्थिति को ठीक किया।

वास्तव में हम जब अन्दर से कमजोर होते हैं तो बाह्य परिस्थिति, जगत् बलवान बनकर डराता है। परन्तु जब हम अन्दर से शक्तिशाली होते हैं तब बाह्य वातावरण तुच्छ, छोटा लगता है और उस बाह्य वातावरण को हंसते हुए झेल लेते हैं।

अर्जुन की मनःस्थिति पारिवारिक मोह के कारण दुर्बल हो गई थी। फिर पितामह भीष्म और आचार्य द्रोण को परमश्रद्धेय और अजेय जानकर उनके प्रति भय भी व्याप्त हो गया। इसलिए बाह्य वातावरण उसको बड़ा लगने लगा। उसको लगने लगा अपने परिवार के पूज्यजनों एवं अन्य रिश्तेदारों से कैसे युद्ध करूंगा। जैसे जब हम अस्वस्थ होते हैं, रोगी होते हैं, कमजोर होते हैं तब नित्य-कर्म करने में कठिनाई होती है। सीढ़ी चढ़कर छत पर जाना कठिन हो जाता है। हमारा उपचार करने वाला डॉक्टर सीढ़ी नीचे नहीं गिराता, वह हमारे रोग को दूर करके शक्ति देता है, जिससे हम सीढ़ी चढ़ सकें।

उसी प्रकार अर्जुन के अन्दर जो अशान्ति, मोहांधकार-ज्ञानांधकार छा गया था तो भगवान् श्रीकृष्ण ने बाहर प्रकाश नहीं किया, उन्होंने जहां अंधकार था वहीं प्रकाश किया। एक बुढ़िया की सूई खो गई, बहुत देर से ढूंढ़ रही है पर मिल नहीं रही। एक सज्जन बूढ़ी मां की परेशानी को देख रहा था। माता से पूछा, क्या ढूंढ़ रही हो, मैं सहयोग कर देता हूं। बेटा सूई खो गई उसे ढूंढ़ रही हूं। माता, कहां खोई थी। बेटा, अन्दर कुटिया में। पर आप तो बाहर ढूंढ़ रही हैं। बेटा भीतर अंधेरा है अतः बाहर प्रकाश में ढूंढ़ रही हूं। मां अन्दर ही प्रकाश करना पड़ेगा। वहां ही मिलेगी। इसलिए भगवान् ने जहां अंधकार था वहीं प्रकाश किया।

गीता पढ़ने से मन की शान्ति, सुख और समाधान मिलता है। गीता हमें बताती है समस्या बाहर नहीं अन्तर में है। सुख बाहर न होकर हमारे अन्तर में निहित है। जब अन्तर में निहित सुख, शान्ति-समाधान पा लेता है तब वैभवपूर्ण-

जीवन हो, राजसी ठाठ हो या दरिद्रता का जीवन, रूखी रोटी, नमक की डली, ठंडे पानी से ही परम तृप्ति हो जाती है। चिथड़ों से, गुदड़ी से ही शरीर की लज्जा का वारण एवं शीत-उष्ण से रक्षा हो जाती है। टूटी-फूटी झोंपड़ी से ही, सिर पर छाया से ही काम चल जाता है। बाहर की बड़ी से बड़ी परिस्थिति भी तुच्छ हो जाती है। वह सब विषम परिस्थितियों में शान्त बना रहता है। संसार में बहुत कांटे बिछे हैं उन सभी को हम हटा नहीं सकते पर अपने पैरों में चप्पल डालकर उनके दुःखपूर्ण प्रभाव से बच सकते हैं, उनसे अपनी रक्षा कर सकते हैं। भारतीय संस्कृति दरिद्रता की नहीं वैभव की, ऐश्वर्य की संस्कृति है। **सादा जीवन उच्च विचार**—ब्राह्मणों, वानप्रस्थियों, ब्रह्मचारी, संन्यासियों, मुनियों, वृद्धों का धर्म है। गृहस्थों, युवाओं, राजा का धर्म—**सात्त्विक वैभव-ऐश्वर्य** का है। इसलिए भारत कृषि प्रधान के साथ उद्योग प्रधान भी है, ग्राम प्रधान के साथ नगर प्रधान भी है। वैभव और ऐश्वर्य की दृष्टि से भारत सोने की चिड़िया था 18वीं शताब्दी तक। धन और वैभव से आकृष्ट होकर ही विदेशी आक्रान्ताओं का तांता लगा रहा।

अब प्रश्न उठता है कि क्या कोई मनुष्य दुःख चाहता है? तो उत्तर नकारात्मक होगा। कोई दुःख तभी तक चाहता है जब तक दुःख उसे अच्छा लगे, सुखदायी लगे। उसे शरीर में स्वाभाविक थोड़ी खुजली आवे तो खुजलाने में आनन्द आता है। उस समय खुजलाना अच्छा लगता है, परन्तु खुजली का रोग लग जाये तो वह अच्छा नहीं लगता। वह उसे जल्द से जल्द दूर करना चाहता है। कुन्ती भगवान् से दुःख-विपत्ति मांगती है। दुःख-विपत्ति के नाते नहीं, वरन् इस निमित्त से भगवान् के दर्शन होते हैं, इस दृष्टि से मांगती है।

तो अब प्रश्न उठता है क्या गीता काल बाह्य हो गई। इसका उत्तर है यदि मनुष्य काल बाह्य हो गया तो गीता भी काल बाह्य हो गई। अब प्रश्न उठता है क्या मनुष्य Out of date हो गया है? तो उत्तर मिलता है, नही, मनुष्य तो Up to date हो गया है। तब गीता भी तो Up to date है। गीता की प्रासंगिकता उस समय जितनी थी, आज के विज्ञान के युग में गीता की उपादेयता और अधिक बढ़ गई है। गीता किसी बाह्य स्थिति का वर्णन नहीं करती। इसमें मानव के अन्तर् का वर्णन है। मानव के अन्तर् की जो समस्या पहले थी, वह आज भी है, पहले की अपेक्षा व्यापक रूप में। पहले मन की समस्या बिल्ली के समान थी तो आज वह हाथी के आकार की हो गई है। अतः आज गीता की प्रासंगिकता, उपादेयता और अधिक बढ़ गई है। और फिर जब तक मनुष्य का अस्तित्व है तब तक अन्तर की समस्या रहने वाली है। अतः गीता की भी आवश्यकता सदा बनी रहने वाली है। अतः गीता चिर प्राचीन होते हुए नित्य नवीन, शाश्वत है, आधुनिक है।

भारतीय चिन्तन की विशेषता

मानव देह की अपूर्वता—मानव शरीर देव दुर्लभ है। मानव शरीर धर्म और मोक्ष का द्वार है। मानव देह से ही विकास की ओर यात्रा, पूर्णता की ओर यात्रा, सत् की ओर यात्रा, चित्त की ओर यात्रा, आनन्द की ओर यात्रा, प्रभु की ओर, आत्मा की ओर यात्रा, नर से नारायण की ओर यात्रा कर पूर्ण-पूर्णता की, कृत-कृत्यता की, धन्य-धन्यता की अनुभूति कर सकते हैं। यह यात्रा न पशु शरीर में सम्भव जो कि पाप योनि है। उसमें हम अपने पापों का क्षय करते हैं। देव योनि पुण्य प्रधान योनि है जिसमें पुण्यों का क्षय करते हैं। अतः ये दोनों योनि भोग योनि जिससे एक में पाप का और दूसरे में पुण्य का क्षय किया जाता है। मानव योनि भोग योनि के साथ कर्म योनि भी है। अतः पूर्णता की यात्रा, विकास की यात्रा इसी में सम्भव है।

भारत देश में जन्म—प्रत्येक देश की अपनी एक मूल चेतना होती है। उसकी अपनी अपूर्वता होती, विशेषता होती है, स्वभाव होता है, उसका अपना एक व्यक्तित्व, एक कर्तृत्व होता है। उसी के आधार पर सारे विश्व में उसकी अपनी एक पहचान बनती है। उसी के आधार पर वह आदर का पात्र या तिरस्कार का पात्र बनता है। भारत की वाणी धर्म और अध्यात्म की, संस्कृति और योग की वाणी है। पश्चिम की वाणी राजनीति और भोग की है। भारत की मूल चेतना धर्म है। धर्म हमारे व्यक्तिगत जीवन, समाज जीवन, राष्ट्र जीवन, विश्व जीवन के ताने-बाने का केन्द्रीय तन्तु है। प्राण बिन्दु। जिसमें हमारा सारा जीवन, सूर्योदय से सूर्यास्त तक, गर्भाधान से अन्त्येष्टि तक, जन्म से मृत्यु तक, गुंथा हुआ है।

हमारे यहां जीवन का कोई भी क्षण, कोई भी कण और कोई भी व्यवहार धर्म से रहित नहीं है। अतः धर्मनिरपेक्षता की कोई भी कल्पना, कोई भी आधार भारतीय परम्परा में नहीं है। यह तो हिन्दुओं को जड़मूल से नष्ट करने का एक राजनैतिक षड्यंत्र है, जो अंग्रेजों, पंडित नेहरू, श्रीमती इन्दिरा गांधी एवं तद्सदृश हिन्दू विरोधी राजनेताओं की देन है।

भारत में सत्पुरुषों की अखण्ड परम्परा

भारत चूंकि धर्म प्रधान, अध्यात्म प्रधान, संस्कृति प्रधान और योग प्रधान होने से यहां सदा से सत्पुरुषों की अखण्ड परम्परा रही है। चाहे वह प्रवृत्ति मार्गी हो या निवृत्ति मार्गी। हमारे देश में कोई भी युग ऐसा नहीं हुआ जिसमें ऐसे आध्यात्मिक दिग्गज न हुए हों जिन्होंने सारे विश्व को प्रभावित न किया हो। हमारे देश में ही नहीं हमारे गांव-मुहल्ले में ऐसे सत्पुरुष मिल जायेंगे जो हमें आगे की यात्रा का मार्गदर्शन कर सकें। पर पश्चिम में एक संत या महापुरुष के बाद विराम चिह्न। और उस एक

हुए संत पर भी इतिहास प्रश्न चिह्न खड़ा कर रहा है। पश्चिमी में संत एक पदवी है जो चर्च द्वारा अपने पंथ का विस्तार करने वाले को दी जाती है। वहां पंथ का विस्तार चाहे वह झूठ, धोखाधड़ी, अत्याचार, पापाचार, बलात्कार और हिंसा से ही क्यों न करता हो। उससे चाहे पूरी मानवता का सर्वनाश क्यों न हो जाये?

भारत भगवान् की लीला भूमि

भारत धर्म भूमि होने से साक्षात् परब्रह्म परमात्मा की लीला भूमि है। इस देश के सद्गृहस्थों को यह सौभाग्य मिला जगत् पिता को, जगत् जननी को, पुत्र-पुत्री, भतीजा-भतीजी, पोता-पोती, नाती-नातिनी के रूप में अपने गोद में खिलाने का। भारत को ही भगवान् ने वचन दिया जब-जब धर्म की हानि होगी तब-तब अवतरित होकर सज्जनों की रक्षा कर धर्म की स्थापना और दुष्टों का विनाश कर अधर्म का नाश करूंगा। यह वचन भारत को ही क्यों दिया? क्योंकि भारत प्रथम से ही विश्व गुरु के स्थान पर है। 'सा प्रथमा संस्कृति विश्ववारा' होने से सारे विश्व को श्रेष्ठ, आर्य बनाने का दायित्व भारत को ही दिया। अतः भारत नष्ट हो गया तो विश्व दिशाहीन होकर असमय में नाश को प्राप्त हो यह भगवान् को मंजूर नहीं। अतः भारत में साक्षात् अवतारी पुरुषों या तद्सदृश्य महापुरुषों की, सत्पुरुषों की अखण्ड परम्परा प्राप्त होती है जिन्होंने युग की चुनौतियों को स्वीकार कर देश-धर्म की रक्षा की और दुष्टों का दमन किया।

चूंकि मनुष्य कर्म योनि है। उसे कर्म की स्वतन्त्रता प्राप्त है और वह कामना से भी युक्त है। अतः वह प्रकृति के लय को, समन्वय को नष्ट कर सकता है। क्योंकि उसके पास विकल्प है। पशु प्रकृति से बंधा हुआ है। उसके पास विकल्प नहीं है। अतः वह लय में रहते हैं। पर मनुष्य को सही दिशा नहीं मिलने पर वह गलत रास्ते पर जा सकता है। अतः भगवान् ने सत्शास्त्रों को प्रकट कर दिया।

मनुष्य को विवेक प्राप्त है। अतः वह अपना भी कल्याण कर सकता है, परिवार, समाज, राष्ट्रं, पूरे चराचर में संतुलन समन्वय रख सकता है। विवेकी का दायित्व अधिक होता है कि वह अपने साथ सबका योगक्षेम वहन करे। इसलिए उसे जन्म से तीन ऋण प्राप्त हैं यथा देव ऋण, ऋषि ऋण और पितृ ऋण। इसकी पूर्ति के लिए भारतीय शास्त्र पंच महायज्ञ का विधान करते हैं—ब्रह्मयज्ञ, ऋषियज्ञ, पितृयज्ञ, नृयज्ञ और भूतयज्ञ। भूतयज्ञ में मनुष्य से इतर अन्य प्राणी जगत्, वनस्पति जगत् और जड़ पंचभूत आदि सब आ जाता है। इसके लिए सत्शास्त्र वेद को प्रकट कर दिया।

भारतीय शास्त्रीय परम्परा के अनुसार हम सब एक ही ईश्वर की संतान हैं। हम सब ईश्वर की संतान होने से हम अनादि काल से हैं और अनन्त पथ के यात्री

हैं। हम करोड़ों बार इन्द्र, कुबेर, चमेली, चमगादड़ बने। क्योंकि_अनन्त में गणित की गणना काम नहीं करती। यह लोक भी परलोक का हिस्सा है अस्थायी है। जीव ईश्वर का अंश है। स्वतंत्र रूप से जीव, जगत् का कोई अस्तित्व नहीं है। संसार एक पुल है, पड़ाव है, जिसे पार किया जाता है उस पर स्थायी घर नहीं बनाया जाता। भगवान् स्वयं गीता के आठवें अध्याय श्लोक 15 में 'दुःखलयमशाश्वतम्' कहते हैं। पुनः 9वें अध्याय के 33वें श्लोक में 'अनित्यमसुखं' कहते हैं। और जीव इसमें यात्री के रूप में है। वह यात्रा पर है, वह सदा एक-सा नहीं रहता यथा जन्मावस्था, शिशु, किशोर, नवयुवक, युवक, प्रौढ़, वृद्ध, रुग्ण एवं मृतक। इस प्रकार संसार एक यात्रा है और सारी जीव सृष्टि उसमें यात्री के रूप में है। मूल से मिलने पर ही यात्रा समाप्त होकर विश्राम पाता है। पत्थर को जितना भी उछालें वह अपने मूल पृथ्वी पर ही वापस लौटकर आता है। वैसे ही जल अपने उदय स्थल समुद्र में पहुंचकर विश्राम पाता है, वैसे अग्नि सूर्यलोक में, वायु वायु में मिलती है। वैसे ही जीव जब तक अपने मूल ईश्वर से नहीं मिलता तब तक यह 84 लाख योनियों का चक्र चलता रहता है। ईश्वर से मिलने पर ही जन्म-मृत्यु के चक्र को पारकर अपने सत्-चिद् आनन्द स्वरूप में स्थिर हो जाता है, चिर विश्राम पाता है। यात्रा समाप्त हो जाती है। मानव सत्-चिद् आनन्द की ओर, प्रभु की ओर, आत्मा की ओर यात्रा कर पूर्णता प्राप्त कर सके इसलिए प्रभु ने वेद, उपनिषद्, गीता को प्रकट कर दिया। ताकि संसार को पारकर पूर्णता लाभ कर सके।

उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और गीता को प्रस्थानत्रयी कहा जाता है। इन तीनों को प्रस्थानत्रयी क्यों कहा जाता है? यह जगत् एक पुल है। पुल में स्थायी घर नहीं बनाया जाता। इसे पार किया जाता है। हम जीव संसार में यात्री के रूप में हैं। हमारा मूल ईश्वर है। जगत् से ऊपर उठकर या उसको पार कर हम ईश्वर तक पहुंचते हैं। यात्री अपने गंतव्य ईश्वर तक पहुंच सके, इसके लिए तीन शास्त्र प्रकट कर दिये। हम शरीर और संसार में स्थायी रूप से नहीं रह सकते। यहां से प्रस्थान करना है तो हम अपने गंतव्य तक, प्रभु तक, आत्मा तक, पूर्णता तक पहुंच जायें, उससे भटककर विपरीत दिशा में न चले जायें, इस पथ प्रदर्शन के लिए, मार्गदर्शन के लिए, जीवन का पूरा नक्शा देकर अन्तिम लक्ष्य बताने के लिए तीनों शास्त्र हैं। अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति में आने वाली बाधाओं को किस प्रकार दूर करते हुए अन्तिम लक्ष्य तक पहुंचना है, किस प्रकार संसार की यात्रा करते हुए पूर्णता को, दिव्यता को उपलब्ध होना है, इसके लिए हैं शास्त्र। उपनिषद् को श्रुति प्रस्थान, ब्रह्मसूत्र को न्याय प्रस्थान और गीता को स्मृति प्रस्थान कहते हैं।

भारतीय धर्म, दर्शन, संस्कृति, सभ्यता, ज्ञान-विज्ञान का आधार वेद हैं। वेद में धर्म तत्त्व और ब्रह्मतत्त्व को बताया गया है। धर्म तत्त्व में जीव-जगत् ईश्वर आ

जाता है और ब्रह्म तत्त्व में मोक्ष। धर्म का विनियोग चारों पुरुषार्थों की सिद्धि में होता है। धर्म से अर्थ और काम की प्राप्ति तथा मोक्ष पाने की पात्रता आती है। मोक्ष के अधिकारी बनते हैं। तथा धर्म से लौकिक अभ्युदय और पारमार्थिक निःश्रेयस सिद्ध होता है। वेद सनातन, अपौरुषेय और अनन्त है। इसका अत्यन्त अल्प अंश ब्रह्माजी को प्राप्त हुआ और उसका अत्यन्त अल्प अंश ऋषियों ने ऋतम्भरा प्रज्ञा के द्वारा वेद मंत्रों का दर्शन कर प्राप्त किया जो हमारे लिए पर्याप्त है।

वेद का चरम तात्पर्य उपनिषदों में है, उपनिषदों का भी सार, मक्खन, नवनीत गीता में है। अतः गीता से जुड़ते ही पूरे वेद, उपनिषद्, अपनी परम्परा, अपने पूर्वजों, अपने देश, महापुरुषों और इतिहास से जुड़ जाते हैं। अतः समग्र हिन्दू धर्म का कोई प्रतिनिधिग्रन्थ है तो वह गीता है जो कोर्ट में भी मान्य है।

गीता की विशेषता

गीता स्वयं भगवान् विष्णु के मुख से निःसृत एवं प्रथम अभिव्यक्ति होने से विशेष महत्त्व है जबकि वेद चतुर्थ अभिव्यक्ति हैं वह भी ब्रह्मा के मुख से। भगवान् विष्णु की नाभि से कमल, कमल से ब्रह्माजी, ब्रह्माजी के मुख से वेद। इस प्रकार वेद चतुर्थ अभिव्यक्ति हैं, फिर ऋषि-मुनियों ने ऋतम्भरा प्रज्ञा द्वारा वेद मंत्रों का दर्शन किया। फिर गुरु-शिष्य की स्मृति परम्परा से वेद हमारे तक पहुंचा है। इस प्रकार पांचवीं-छठी अभिव्यक्ति हो जाती हैं। जबकि गीता स्वयं भगवान् मुख से निःसृत है। स्वयं भगवान् ही इसमें अपने स्वरूप के विषय में, जगत् के विषय में और जीव के विषय में बता रहे हैं। स्वयं जिन्होंने सृष्टि की रचना की, जीवों को बनाया वही उसके स्वरूप का प्रतिपादन कर रहे हैं। इसलिए गीता का विशेष महत्त्व है। अन्य भगवान् के स्वरूप, जगत् एवं जीव के स्वरूप के विषय में प्रतिपादन करेंगे तो त्रुटि हो सकती है। पर भगवान् ही अपने स्वरूप के विषय में जीव और जगत् के विषय में बतायें तो त्रुटि की सम्भावना नहीं। जैसे मैं स्वयं के विषय में बताऊं तो त्रुटि की सम्भावना नहीं पर आप मेरे विषय में बतायें तो त्रुटि की सम्भावना बनी रहती है।

इसलिए वेद व्यासजी कहते हैं—

गीता सुगीता कर्तव्या, किमन्यैः शास्त्र-विस्तरैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य, मुख-पद्माद्-विनिःसृता।।

वेद व्यास कौन है? जिनके विषय में कहा जाता है कि त्रिभुवन में जो ज्ञान है वह तो वेद व्यासजी की जूठन मात्र है। हमारे पास क्या है? वैदिक वाङ्मय है जो भिन्न-भिन्न शाखाओं में फैले हुए थे, जिनकी शिक्षा भिन्न-भिन्न शाखाओं

में चल रही थी। वेद की अनेक शाखाएं हैं। वेद व्यासजी ने देखा आगे घोर कलिकाल आ रहा है। तब तक वेद श्रुति था। श्रुति का अर्थ एक लाख मंत्रों को सुनकर अपने खोपड़ में समा लेने वाले होते थे। इसलिए हजारों वर्षों से वेद श्रुति रहे। सुनकर प्राप्त कर लेने वाला ज्ञान वेद। उसने अगली पीढ़ी को सुनाया। आगे उसने अगली पीढ़ी को सुनाया। इस तरह से वेद ज्ञान बिना लिखित रूप से चलता रहा। वेद व्यासजी ने देखा आगे घोर कलिकाल आ रहा है। कलिकाल में लोगों की बुद्धि छोटी हो जायेगी, उनकी धारणा शक्ति भी कम हो जायेगी। उनकी स्मृति शक्ति भी कुण्ठित हो जायेगी। अतः इतने ज्ञान को एक खोपड़ में समाने की शक्ति कुण्ठित हो जायेगी। इसलिए इसका सम्पादन करो नहीं तो वेद ज्ञान नष्ट हो जायेगा। इसलिए भिन्न-भिन्न शाखाओं में फैले हुए वेद ज्ञान को एकत्र करके सम्पादन किया। जो उनमें ऋचायें थीं अर्थात् काव्यमय स्तुतियां थीं उनका सम्पादन कर नाम दिया ऋग्वेद। जो मंत्र गद्य में और यज्ञ से सम्बन्धित थे उन मंत्रों को नाम दिया यजुर्वेद। जो उसमें गीत थे। गीत को संस्कृत में कहते हैं साम। साम माने गीत। यही साम शब्द यूरोप की सभी भाषाओं में सांग हो गया। जितने भी गाने योग्य मंत्र थे, गीत थे उसको सामवेद के नाम से सम्पादित किया और अन्य जो विषय रह गये उनको बहुत कुछ अथर्वा ऋषि ने सम्पादित किया था, उसमें पृथ्वी के, राष्ट्रीयता के, संगठन के, आयुर्वेद के, धनुर्वेद के यानी अनेक विषय जो बच गये उनको अथर्ववेद नाम देकर सम्पादन किया। चारों वेदों के रूप में वैदिक ज्ञान का सम्पादन करके उसको हमारे राष्ट्र को देने वाले वेद व्यासजी थे। वेदों का सम्पादन करके हमें दिया। इसलिए वेदों का व्यास करने के कारण उन्हें (कृष्ण द्वैपायन को) वेद व्यास की उपाधि मिली। इस प्रकार वेदों का विषयानुसार विभाजन करके उसको लिपिबद्ध कर मानवता की भावी पीढ़ियों के लिए सुलभ बनाने वाले भगवान् वेद व्यास विश्व के प्रथम एवं महानतम ज्ञान सम्पादक हैं।

वेदान्त दर्शन से ऊंचा कोई दर्शन ही नहीं है जिसकी किरणों से स्वामी विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ चमकते हैं दुनिया में। शंकराचार्य चमकते हैं। यह वेदान्त दर्शन दुनिया में अद्भुत है। यह वेदान्त दर्शन वेद व्यासजी की देन है। तो विश्व के सर्वोच्च दर्शन वेदान्त के द्रष्टा होने के कारण वे विश्व के प्रथम कोटि के महानतम दार्शनिक हैं।

महाभारत जैसे ग्रन्थराज के रचयिता होने के कारण वे विश्व के प्रथम विश्व कोश के निर्माता हैं। वह ग्रन्थराज जो भारतीय संस्कृति का सबसे बड़ा विश्व कोश है। भारत में जो है वह सब कुछ महाभारत में मिलेगा। भारतीय संस्कृति का कोई विषय छोड़ा ही नहीं इसमें। महाभारत मानों 18 पंखुड़ियों वाला एक विशाल कमल है, उस अष्टदल कमल के मध्य केन्द्र में, नौवें पर्व में, भीष्म पर्व में, कमल

के बिलकुल बीचोबीच में एक मधुकोश होता है उसमें उसका सबसे सुन्दर मधु प्रतिष्ठित रहता है। सबसे अधिक सुगंधि वहीं रहती है, मधु रहता है। इस तरह से महाभारत रूपी 18 पंखुड़ी वाले महान् कमल के केन्द्र में बीचोबीच भगवद्गीता रूपी अमृत को उन्होंने प्रतिष्ठित कर दिया।

विश्व के सबसे बड़े महाकाव्य महाभारत के सृष्टा कवि के रूप में विश्व के महानतम महाकाव्यकार हैं। इतना बड़ा महाकाव्य दुनिया में किसी के पास नहीं है। महाभारत होमर के ओडिसी से आठ गुणा बड़ा है। पुराण कर्ता के रूप में विश्व के प्राचीनतम एवं महानतम पुराण इतिहासकार हैं। श्रीमद् भगवद् महापुराण के रचयिता के रूप में वे भक्ति के महानतम आचार्य के रूप में प्रतिष्ठित हैं। अध्यात्म रामायण भी उनकी देन है। रामायण की रचना तो महर्षि वाल्मीकि ने की पर अध्यात्म रामायण वेद व्यासजी ने लिखा। इस प्रकार वेद व्यासजी ने क्या नहीं दिया? जितना उन्होंने दिया वह अतुलनीय है। जो कुछ देना था, उन्होंने दे दिया। बाकी लोगों ने तो उनकी जूठन का प्रसाद बांटा है। इसलिए कहा, तीनों जगत् में जितना ज्ञान है वह वेद व्यासजी की जूठन मात्र है। इसलिए वेद व्यासजी को राष्ट्रगुरु के रूप में व्यास पूर्णिमा पर हम पूजते हैं।

वेद व्यासजी गीता के विषय में कह रहे हैं—गीता शास्त्र पढ़ने के पश्चात् अन्य शास्त्र विस्तार की क्या आवश्यकता है। यानी स्वयं इतने ग्रन्थों का सम्पादन कर अपने परिश्रम पर स्वयं ही पानी फेर दिया? क्यों? क्योंकि गीता स्वयं भगवान् के मुख से निःसृत है। सभी ग्रन्थों में वेद व्यासजी ने भगवान् के विषय में, धर्म और ब्रह्म के विषय में प्रतिपादन किया है। वहां गीता में स्वयं भगवान् ने ही अपने स्वरूप के विषय में, जिन्होंने जीव और जगत् की रचना की है, वे ही स्वयं जीव और जगत् के विषय में बता रहे हैं। अतः गीता का विशेष महत्त्व है।

गीता का काल—गीता उतनी ही प्राचीन है जितने स्वयं भगवान् विष्णु। हां, भगवान् विष्णु ने गीता का सर्वप्रथम उपदेश सूर्य को दिया। अतः गीता उतनी प्राचीन है जितना सूर्य। और सूर्य की उत्पत्ति सृष्टि के समय से है। अतः जितनी सृष्टि पुरानी है उतनी ही आयु गीता की है। सूर्य से यम, यम से उसके पुत्र इक्ष्वाकु, इक्ष्वाकु से राजर्षियों को फिर यह परम्परा लुप्त हो गई। तो लुप्त परम्परा के पुनरुद्धार के लिए पुनः अर्जुन को गीतोपदेश। अर्जुन की दृष्टि से गीता पांच हजार वर्ष पुरानी है।

भगवान् ने गीता के चौथे अध्याय के प्रथम तीन श्लोक में बताया—

इमं विवस्वते योगं, प्रोक्तवानह-मव्ययम्।
विवस्वान्-मनवे प्राह, मनु-रिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्।। 4/1

एवं परम्परा-प्राप्त,-मिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता, योगो नष्टः परन्-तपः।।4/2
स एवायं मया तेऽद्य, योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति, रहस्यं ह्येत-दुत्तमम्।।4/3

जो वस्तु सार्वभौमिक महत्त्व की होती है वह चिर प्राचीन होते हुए नित्य नवीन होती है। अतः गीता चिर प्राचीन होते हुए नित्य नवीन है। गीता जो जीवन का विधान है, सृष्टि का विधान है वह सृष्टि के प्रारम्भ से ही है। पर जिनका विधान 2017 वर्ष पहले, तो किसी का 14 शती पूर्व प्रकट होता है। जबकि सृष्टि बने लगभग ढाई अरब वर्ष बीत चुके हैं तथा धरती पर मानव का अस्तित्व भी करोड़ों वर्षों से माना जाता है। तब करोड़ों वर्षों तक विधान न प्रकट करने वाले मानव को अन्धकार में रखने वाले गॉड या खुदा को क्या न्यायकारी माना जा सकता है?

गीता दो अन्तरंग मित्रों का सम्वाद—अन्तरंग मित्रों की यह विशेषता होती है परस्पर के समक्ष अपने हृदय को खोलकर रख देते हैं। जो बात हम अपने माता-पिता, गुरुजनों, पूज्यजनों को नहीं बता सकते हैं वह अपने अन्तरंग मित्र को बता देते हैं। नर और नारायण के अवतार, दोनों अपने हृदय को खोलकर रख देते हैं। अर्जुन ने मानव मन में उठने वाली सभी समस्याओं को उठाया है जिसका स्वयं भगवान् समाधान प्रस्तुत करते हैं। विश्व प्रसिद्ध अमेरीका का दार्शनिक इमर्सन चुनौती के साथ कहते हैं जीव और जगत् की ऐसी कोई समस्या नहीं है जिसका समाधान गीता में न हो। महात्मा गांधी कहते हैं—जब मैं समस्याओं में घिर जाता हूं, आशा की कोई किरण दिखाई नहीं देती, जीवन के अन्दर अंधकार ही अंधकार, अस्पष्टता ही अस्पष्टता नजर आने लगे तब मैं गीता माता के शरण में चला जाता हूं। गीता पढ़ने लगता हूं और कोई-न-कोई श्लोक मेरी समस्या का समाधान कर देता है और मैं मुसकराने लगता हूं। जीवन तो संघर्ष का नाम है। पग-पग जीवन में चुनौतियां, समस्याएं आती हैं। आप-हम सबको आती है। सारे विश्व के मनुष्यों के जीवन में आती है। इसलिए भारतीय मनीषा के साथ-साथ विश्व मनीषा प्रारम्भ से लेकर आज तक गीता से प्रभावित है और आने वाले समय में भी प्रभावित रहेगी चाहे वह किसी जगत् का हो, चाहे वह दार्शनिक जगत् का हो या राजनीतिक, चाहे आर्थिक, चाहे साहित्यिक, चाहे पत्रकारिता जगत् का हो या इतिहास जगत् का या विज्ञान जगत् का हो या शिक्षा जगत् का, चाहे व्यापार, उद्योग प्रबन्धन जगत् का हो या अपराध शमन जगत् का आदि-आदि। ज्ञान-विज्ञान की जितनी शाखाएं हो सकती हैं सबके लिए गीता में पाथेय है, संदेश है और मानव समाज के जितने वर्ग हो सकते हैं उनके

सर्वांगीण विकास के सभी सूत्र गीता में हैं। राजा से प्रजा तक, दरिद्र से धनी, मूर्ख से विद्वान, कर्मचारी से मालिक, विद्यार्थी से शिक्षक, स्त्री-पुरुष, बालक-बालिका, बालक से वृद्ध, गृहस्थ, राजनेता से संन्यासी तक—सबके लिए गीता में पाथेय है। देश विदेश के स्वाधीनता संग्राम में गीता अविस्मरणीय अवदान है। चाहे सहिंस या अहिंस आन्दोलनकारी हों सबके लिए गीता प्रेरणा का स्रोत रही है। स्पष्ट है जो धर्म हमारे जीवन के सभी क्षेत्रों को स्पन्दित नहीं करता, प्रेरित नहीं करता, जो वर्तमान जीवन की समस्याओं का समाधान न देता वह चिरंजीवी कभी नहीं हो सकता है।

एक बार स्वामी रंगानाथानन्दजी सन् 1949 में हैदराबाद में राज्य के सैन्य-प्रशासक जनरल जे.एन. चौधरी से भेंट करने गए। वहां स्वामीजी ने देखा उनकी मेज पर गीता की एक प्रति रखी है। तब स्वामीजी ने जनरल चौधरी से पूछा क्या आप गीता पढ़ते हैं? तब उन्होंने थके स्वर में उत्तर दिया, 'हां', जब कभी मैं थकान महसूस करता हूं और कुछ शान्ति पाना चाहता हूं तब मैं गीता की कुछ पंक्तियां पढ़ लेता हूं। तब स्वामीजी ने कहा, इसका यह उद्देश्य तो नहीं है। इस टिप्पणी पर विस्मित होकर उन्होंने पूछा, 'क्या आपका तात्पर्य यह है कि इस पुस्तक का हमें थोड़ी-सी मानसिक शान्ति देने के अलावा और भी कोई उपयोग है? तब स्वामीजी ने कहा—हां, यह ग्रन्थ मात्र मानसिक शान्ति देने के लिए नहीं है, यह लोगों की सेवा करने हेतु आपमें शक्ति संचार करने के लिए है, आपको एक जिम्मेदार नागरिक बनाने के लिंए है। इसमें जीवन तथा कर्म का एक सर्वांगीण दर्शन है। जनरल चौधरी आश्चर्यचकित रह गए और मुझसे बारम्बार पूछने लगे, तो क्या आपका तात्पर्य यह है कि इस प्रान्त के सैन्य-प्रशासक के रूप में मेरे लिए इसकी कोई प्रासंगिकता है? स्वामीजी ने कहा, ठीक ऐसा ही है। हमें इस बात को समझ लेना होगा कि सभी कर्मठ नर-नारियों, सभी उत्तरदायित्व वहन करने वाले लोगों को जीवन तथा कर्म के एक दर्शन की आवश्यकता होती है। गीता इसे 'योग' रूपी एक सहज शब्द के माध्यम से प्रस्तुत करती है। हमने अब तक इसे समझा नहीं है। गीता के चौथे अध्याय का पहला ही श्लोक लीजिये। श्रीकृष्ण वहां हमें बताते हैं, मैंने यह योग दर्शन उत्तरदायित्व वहन करने वालों को दिया था, ताकि इस दर्शन के द्वारा वे शक्तिमान होकर लोगों की सेवा, सुरक्षा तथा पोषण प्रदान कर सकें। इस ग्रन्थ का यही उद्देश्य है। स्वामीजी ने इसी बात पर बारम्बार बल दिया और उन्होंने भी बारम्बार पूछा, 'क्या मैं इस प्रान्त के प्रशासक के रूप में एक अधिक कुशल व्यक्ति बनने के लिए इस पुस्तक से कुछ सीख सकता हूं? स्वामीजी ने कहा, 'अवश्य, उत्तरदायित्व निभाने वाले सभी नर-नारियों को सर्वजन हिताय कार्य करने की प्रेरणा देना—यही तो इस पुस्तक

का उद्देश्य है। यही तो इस पुस्तक का स्वभाव है, यह आपको सुलाने के लिए नहीं है। यह समाज के सभी लोगों की भलाई करने हेतु आपको वह परम मानवीय भाव तथा संकल्प देने के लिए है। इससे जनरल चौधरी को गीता पर एक सम्यक् यथार्थ दृष्टि मिली, बड़े प्रसन्न हुए।

छान्दोग्य उपनिषद् में श्वेतकेतु का आख्यान आया है। श्वेतकेतु उद्यालक आरुणि के पुत्र थे। वे पिता की आज्ञा से अध्ययन करके लौटे तो अभिमानी होकर आये। पिता ने कहा, हे श्वेतकेतु! ऐसा अभिमानी, अपने को विद्वान् समझने वाला और उद्दण्ड हो रहा है सो क्या तुमने गुरु से उस तत्त्वज्ञानोपदेश को भी पूछा है जिससे अश्रुत श्रुत हो जाता है, अमत मत हो जाता है और अविज्ञात ज्ञात हो जाता है। श्वेतकेतु ने पिता से जिज्ञासा की कि भगवन् वह तत्त्वोपदेश कैसा है, उसे आप ही मुझे बताइये। यह ब्रह्मविद्या परम्परा से राजर्षियों के पास ही थी जिसे बाद में ब्राह्मणों ने सीखा, ग्रहण की। श्वेतकेतु अपने पिता के साथ पांचालराज प्रवाहण जैविल के पास जाकर इस विद्या को प्राप्त करते हैं। ऐसे ही केकय देश के राजा अश्वपति की कथा आती है, जहां ब्राह्मणों ने उनसे यह विद्या प्राप्त की। राजा अश्वपति उनको सविधि उपदेश देता हुआ कहता है, इससे पूर्व यह विद्या किसी ब्राह्मण को विदित नहीं थी। अब मैं क्षत्रिय तुमको इसका उपदेश देता हूं।

गीता का उपदेश एक सर्वश्रेष्ठ राजपुरुष दूसरे श्रेष्ठ राजपुरुष को महायुद्ध की भूमि में दे रहा है। जीवनकाल में न अर्जुन संन्यासी बना न भगवान् श्रीकृष्ण। हां, अर्जुन तो संन्यासी होना चाहता था, पर उससे अर्जुन को निवृत्त कर उसे प्रवृत्ति मार्ग में भगवान् ने लगाया। गीता संन्यास का निषेध नहीं करती पर गीता मुख्यतः गृहस्थों, राजनेताओं, प्रशासकों का ग्रन्थ है।

गीता बुढ़ापे की वस्तु नहीं संसार में प्रवेशार्थी के लिए गीता है। इसलिए युद्ध से पूर्व गीता का उपदेश। खिला हुआ फल-फूल भगवान् को चढ़ाया जाता है मुरझाया हुआ नहीं। सर्वोत्तम वस्तु भगवान् को चढ़ायी जाती है, बचा-खुचा, बासी, मुरझाया हुआ, रद्दी माल नहीं। अतः बाल अवस्था में ही जीवन को सही दिशा, जीवन का पूरा नक्शा, जीवन का लक्ष्य, जीवन को अक्षय प्रेरणास्रोत मिल जाना चाहिए ताकि जीवन की यात्रा ठीक से चले। पर यह भ्रान्ति फैला दी, गीता संन्यासियों का ग्रन्थ है। अंग्रेजों ने हमसे हमारा आधार छीनने के लिए यह दुष्प्रचार किया कि गीता संन्यासियों का ग्रन्थ है। इसे पढ़ने से व्यक्ति संन्यासी बन जाता है और महाभारत घर में रखने से, जिसे हमने पंचम वेद माना है, जिसके विषय में कहा जाता है भारत को जो कुछ कहना था उसे महाभारत में रख दिया है, यही बातें सर्वत्र मिलेगी और इसमें जो बातें नहीं हैं वह अनावश्यक है, अर्थहीन प्रलाप मात्र है। उस महाभारत के विषय में यह प्रचलित करवा दिया कि महाभारत घर

में रखने से घर में कलह होता है। वास्तव में महाभारत घर में नहीं रखने से कलह होता है। महाभारत तो घर के कलह को दूर कर घर में राम राज्य स्थापित करने वाला ग्रन्थ है। अगर हमारा जीवन दुर्योधनादि-कौरवों की तरह चल रहा है तो घर में कलह को कोई रोक नहीं सकता और पाण्डवों की तरह चल रहा है तो घर में राम राज्य हुए बिना रह नहीं सकता है। यह ग्रन्थ हमें सत्पथ दिखाने वाला हमारा पथ प्रदर्शक है। यह बताता है कि हम रावण की तरह, दुर्योधन की तरह चलेंगे तो भले ही पहले लगे दिन दुगुनी रात चौगुनी उन्नति कर रहे हैं। पर कालान्तर में मूल सहित नष्ट हो जाता है, बीज नाश हो जाता है। जिस रावण के विषय में कहा जाता है एक लाख पुत्र सवा लाख नाती, उसके घर न दीया न बाती। तो हमें उस पथ पर चलने से रोकेगा और राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न, युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव की तरह चलने को प्रेरित करेगा।

फिर गीता महाभारत का ही अंश है। महाभारत बाद होते ही, त्यक्त होते ही गीता स्वयं त्यक्त हो जायेगी।

पर हमारे ये आधार ग्रन्थ नष्ट हो जायें। हमारे प्रेरणा के अक्षय स्रोत नष्ट हो जायें ताकि हम कभी अंग्रेजों को राष्ट्रीयता के आधार पर चुनौती न दे सकें। हम उनकी गुलामी में ही संतोष मानें ताकि वे स्थायी रूप से हमें गुलाम बनाकर रख सकें और सदा हमारा शोषण कर सकें। क्योंकि जिस देश के पास ऐसे ग्रन्थ होंगे वह कभी भूल-चूक से गुलाम हो भी जाये तो शरीर से कुछ काल के लिए गुलाम भले ही बन जाये, वह मन से गुलामी कभी नहीं स्वीकारेगा और देर-सबेर वह गुलामी को उखाड़ फेंकेगा।

भारतीय हिन्दू समाज की सर्वाधिक क्षति उस भ्रान्त अन्धविश्वास ने की जिसके अनुसार महाभारत ग्रन्थ को घर में नहीं रखना चाहिए। इस कुत्सित धारणा के कारण महाभारत के प्रेरक और पुरुषार्थद्योतक विचारों का सम्पूर्ण लाभ समाज को नहीं मिल सका, जो इस महान् राष्ट्र को निर्वीर्य होने से बचा सकते थे। विदुर नीति के अनुसार किसी भी राष्ट्र अथवा समाज का समूलोच्छेदन करने के लिए तोप अथवा तलवार उतने कारगर नहीं होते, जितना कारगर वैचारिक भ्रम फैलाना होता है, क्योंकि विष देने अथवा शस्त्राघात से एक-दो व्यक्ति ही मरते हैं, लेकिन मन्त्र-भ्रान्ति तो सम्पूर्ण राष्ट्र को ही विनष्ट कर देती है।

अतः विदेशियों-विधर्मियों द्वारा फैलाये गये भ्रमजाल से मुक्त होकर घर-घर में रामायण, गीता, महाभारत का पाठ होना चाहिए। तब विदेशियों, विधर्मियों की दाल हम पर कभी नहीं गलेगी और घर-घर में पूरे समाज और राष्ट्र में राम राज्य के दर्शन होंगे।

गीता की पुष्पिका में कहा गया है—

ॐ तत्-सदिति, श्रीमद्-भगवद्-गीता-सूपनिषत्सु,
ब्रह्म-विद्यायां, योग-शास्त्रे श्री कृष्णार्जुन-संवादे,
साङ्ख्य-योगो नाम द्वितीयोऽध्यायः।।2।।

इसमें सबसे प्रथम गीता को एक उपनिषद् कहा गया है। किन्तु गीता की यह विलक्षण महिमा है कि यह अन्य उपनिषदों से भिन्न एक विशेष प्रकार का अद्वितीय उपनिषद् है। जहां अन्य उपनिषद् प्रकृति के शांत वातावरण में, अरण्य आश्रमों या सुन्दर पर्वतों पर गुरु-शिष्य सम्वाद के रूप में गाए गए, वहां गीतारूपी उपनिषद् में उन्हीं उपनिषदों के ब्रह्मज्ञान को जीवन की सबसे कठोर परिस्थिति (एक भीषण रणभूमि में, विश्व के महान् संग्राम) में गाकर उस ब्रह्मज्ञान को ज़ीवन में उतारकर ज्ञान का कर्म में प्रतिफलन कर दिखाया गया है।

गीता की पुष्पिका में गीता को ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे कहा गया है। ब्रह्मज्ञान सिद्धान्त है, तत्त्वज्ञान है और योगशास्त्र कर्मयोग मार्ग है, क्रियात्मक प्रयोग है। ब्रह्मज्ञान Theory और कर्मयोग Practical है। गीता की यही विलक्षण विशेषता है।

भगवान् गीता में ही अर्जुन को उपदेश देते हैं—

तस्मात् सर्वेषु कालेषु, मामनुस्मर युध्य च। 8/7

'हे अर्जुन! तू सब कालों में मुझे स्मरण करता हुआ युद्ध कर।' यही ब्रह्म चिन्तन और सांसारिक कर्तव्य का समन्वय है। यही ज्ञान और कर्म का समन्वय है, यही सांख्य और योग का समत्व है।

अतः गीता केवल दार्शनिक व आध्यात्मिक दृष्टि से ही नहीं वरन् व्यावहारिक दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है। गीता के आध्यात्मिक सूत्र मनुष्य को सदसद् तथा कर्तव्याकर्तव्य का बोध कराकर सन्मार्ग पर अग्रसर होने की प्रेरणा देते हैं। गीता विशेष रूप से सांसारिक कर्तव्यों का निर्वाह करते हुए ही मनुष्य को आत्मज्ञान प्राप्त कर लेने की प्रेरणा देती है। गीता पराविद्या व अपराविद्या के सम्बन्ध को उजागर करते हुए यह स्पष्टरूपेण बताती है कि ब्रह्मविद्या के आधार, आलोक, प्रेरणा व निर्देशन के अभाव में अपराविद्या मानव के लिए बन्धनकारी व अनर्थकारी ही सिद्ध होती है। वह इसे आसुरी प्रकृति का बना देगी। गीता में प्रतिपादित ब्रह्मविद्या अर्थात् वेदान्तविद्या समस्त जीवन को अनुप्राणित करती है ब्रह्मविद्या गर्भाधान से अन्त्येष्टि तक के सभी संस्कारों को सार्थक बनाती है। यह क्रीड़ांगन से रणांगण तक मानव की सशक्त निर्देशिका बनती है—भोजन, भोग-भजन को यह सुस्वाद, सुखद और दिव्य-आत्मीयता से भरती है। मानव

की प्रत्येक अनुभूति व प्रत्येक अभिव्यक्ति को यह ब्रह्मविद्या ब्रह्मोन्मुख करती है। ब्रह्मविद्या प्रत्येक व्यवहार को परमार्थ बना देती है। हर क्षण और हर कण को ब्रह्मविद्या परमार्थ बना देती है।

गीता में आत्मज्ञान और स्वधर्म पालन का समन्वय है। ब्रह्मज्ञान मोक्ष शास्त्र है। कर्तव्य पालन धर्मशास्त्र है। अतः मोक्ष शास्त्र के साथ धर्मशास्त्र भी है। गीता ज्ञान-कर्म समन्वय होने से गीता को न ज्ञानी का आलस्य सहन होता है और न अज्ञानी का कर्म। इसलिए गीता की दृष्टि से अनैतिक कर्मी तत्त्वज्ञान की ओट से चालाकी से छूट नहीं सकता। मिथ्याचारी और दम्भी व्यक्ति की भगवान् ने स्वयं भर्त्सना की है। सच्चा ज्ञान पवित्र कर्म में प्रतिफलित होना चाहिए। अन्यथा वह केवल ज्ञान का मिथ्या दम्भ मात्र ही है।

श्रीमद्भगवद्गीता

नामकरण–श्री=शुभ, लक्ष्मी, विभूति, तेज, वैभव, दिव्यता।

भगवत् = भगवान्, भग = तेज, भगवान् = तेजवान।

गीता = गीतिका—गीत स्त्रीलिंग रूप में।

श्रीमद्भगवद्गीता = भगवान् का दिव्य गीत।

The Song Divine

The Song Celestial

The Song of God.

जीव का रोना? तथा भगवान् का गाना

गीता का प्रथम अध्याय अर्जुन का विषाद योग है। विषाद का अर्थ है दुःख। दुःख में जीव रोता है। प्रत्येक जीव रोते हुए जन्म लेता है। शैशव में भोजन के लिए रोता है, जवानी में कामनापूर्ति के लिए रोता है, प्रौढ़ावस्था में रोजी-रोटी के लिए रोता है, दरिद्रता में अभाव के कारण रोता है, सम्पन्नता में क्षति, चिन्ता, ईर्ष्या, वैर, वैमनस्य के कारण रोता है, वृद्धावस्था में चिन्ता से रोता है, रुग्णावस्था में मृत्यु के भय से रोता है, रोते हुए मरता है और समाज को रुला कर जाता है।

जीव के दुःख के कारण

(1) तीन ताप=आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक।

(2) पंच क्लेश=अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश (मृत्यु का भय)

अर्जुन का विषाद जीव के रोने का प्रतीक है। इसके उपचार के लिए भगवान् गीता सुनाते हैं। अतः गीता का प्रथम संदेश है—हे जीव! अपना रोना छोड़कर भगवान् का गाना गाओ।

गीता—आनन्द का प्रस्फुटन

गीत आनन्द में गाया जाता है। हृदय में आनन्द की तरंग ही गीत के रूप में प्रस्फुटित होती है। आनन्द से जब हृदय की वीणा झंकृत होने लगती है तभी गीत का अवतार होता है। स्नानघर में हम सब बाथरूम सिंगर होते हैं। स्नान से मल की निवृत्ति होती है। शरीर-मन हलका होता है। आनन्द का प्रकटन उससे गीत प्रस्फुटित होता है। घर में जब शुभ कार्य मंगल कार्य होता है तब आनन्द में गीत गाये जाते हैं। उत्सव मनाते हैं तब आनन्द में गीत गाते हैं होली उत्सव में विशेषकर।

गीत का जन्म कहां से

(1) स्थूल दृष्टि से रेडियो का बक्सा।

(2) उससे सूक्ष्म—बिजली के तार से, रेडियो स्टेशन भवन, रेडियो स्टेशन का स्टूडियो (कमरा), ध्वनि रिसीवर (यंत्र)।

गायक के मुख से।

गायक के कण्ठ से।

गायक के हृदय से।

आत्मा की झंकार=गीत।

गीता

सच्चिदानन्दघन भगवान् श्रीकृष्ण की आत्मा की झंकार।

भगवान् का हृदय

भगवान् स्वयं कहते हैं—

गीता मे हृदयं पार्थ गीता मे शास्त्रमुत्तमम्।

(हे अर्जुन! गीता मेरा हृदय है, यही मेरा उत्तम शास्त्र है)

सत्+चित्+आनन्द=सच्चिदानन्द—आनन्दों के घन—आनन्द के स्रोत, आनन्दों के आनन्द—परम आनन्द। अतः उनके द्वारा गाया हुआ गीत आनन्द का गीत, परमानन्द का गीत है।

आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
आनन्देन जातानि जीवन्ति।
आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति।। तैत्तिरीय उपनिषद्, 3.6

The eternal spiritual music of India—गीता भारत का शाश्वत अध्यात्म संगीत है। कहीं भी विश्वभर में अध्यात्म को गीत में समझाकर नहीं

बताया। वेद, उपनिषद्, गीता, षड्दर्शन, रामायण, महाभारत, पुराण सबको गीत के माधुर्य के साथ प्रस्तुत किया।

पश्चिम ने Armed chair philosophy को जन्म दिया है जिनके लिए Philosophy बुद्धि की कुतूहल निवृत्ति है। बुद्धि का विलास है। दर्शन अन्य विषयों की तरह एक विषय मात्र है, उसका जीवन के आचरण के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। जूते का फीता टूटते ही, थोड़ी सी विपत्ति आते ही सारा दर्शन भूल जाते हैं। चूंकि दर्शन उनके यहां बुद्धि का विलास है। अतः दुरूह भाषा में, गद्य में प्रस्तुत किया। भारत में फिलोसफी साक्षात् अनुभूति है, परम सत्य का दर्शन है, जीवन में आचरण का विषय है, राजा से रंक सबके हृदय को प्रकाशित करने वाला, जीवन को नियंत्रित एवं मर्यादित करने वाला है। अतः जन-जन के जीवन में (राजा से रंक, मालिक से नौकर) हृदय में बैठ जाये, बुद्धि में पैठ जाये और जीवन के प्रत्येक व्यवहार में फलित हो जाये। इसलिए भारत में सर्वोच्च अध्यात्म ज्ञान को गीत के माधुर्य के साथ गाकर प्रस्तुत किया गया। गीत सहज में ही हृदय में प्रवेश कर जाता है, बुद्धि में बैठ जाता है एवं गद्य की तुलना में बहुत जल्द ही कण्ठस्थ हो जाता है। पश्चिम के सबसे बड़े दार्शनिक हैं बर्ट्रेड रसेल जो 80 वर्ष की अवस्था में 16 वर्ष की लड़की से 16वां विवाह करते हैं। दार्शनिक चिन्तन के समय उनके टेबुल पर मुर्गे का मांस प्लेट में सजा होता था एवं दोनों तरफ दो सुन्दरियां शराब थामे होती थी। उस अवस्था में दार्शनिक चिन्तन-मनन करते थे। भारत के दार्शनिक हैं रामकृष्ण परमहंस, जो अपनी पत्नी में भी मातृबुद्धि रखने वाले हैं।

भारत में अध्यात्म का जन-जन में संचार करने के लिए इस सर्वोच्च अध्यात्म ज्ञान को गीत के माधुर्य के साथ गाकर प्रस्तुत किया। दर्शन को पश्चिम में बहुत दुरूह भाषा एवं गद्य में प्रस्तुत किया है चाहे वह मार्क्सवाद हो या अन्य। भारत ने अपने दर्शन को एक संगीत के माध्यम से व्यक्त किया है। संसार का एकमात्र दार्शनिक गीत है भगवद् गीता, जो भारत में जन-जन में व्याप्त हो गया। लोकगीतों, इतिहास, पुराण के माध्यम से लोकचित्त में समा गया है।

गीता चार बार गायी गयी

प्रथम बार युद्धारम्भ के पूर्व अर्जुन के मोहाविष्ट और भय से आक्रान्त होने पर उसके निवारणार्थ अर्जुन-कृष्ण संवाद के रूप में गीता गायी गयी।

दूसरी बार जब युद्ध के दसवें दिन युद्ध में भीष्म पितामह शरशय्या पर पड़ गये तो दोनों पक्ष युद्धविराम कर भीष्म पितामह की सेवा में उपस्थित हुए। दुर्योधन शल्य चिकित्सक के साथ भीष्म पितामह के पास गये जिसे भीष्म ने अस्वीकार कर दिया। भीष्म पितामह को इतने बाण लगे थे कि बाणों की शय्या बन गयी थी, पर

सिर लटक रहा था, तब उन्होंने दुर्योधन को पास बुलाकर कहा, मेरे सिर के लिए उपयुक्त उपादान उपस्थित करे। पर भीष्म पितामह के भावों को ठीक से हृदयंगम नहीं कर पाने के कारण वह बहुत नरम-नरम तकिये ले आया, उसे भीष्म पितामह ने अस्वीकृत कर उसे अपनी नजरों के सामने से दूर हट जाने को कहा। फिर अर्जुन को उपयुक्त उपादान की व्यवस्था के लिए कहा, दुर्योधन की तरह मूर्खता करने पर शाप देने की धमकी भी दी। क्योंकि महापुरुषों की दृष्टि में विवेकी का दायित्व अधिक होता है। विवेकी अपने उत्तरदायित्व का पालन नहीं करते तो महापुरुषों के कोप का भाजन बनते हैं। युद्ध की पद्धति—गुरु के चरणों में बाण मारकर शिष्य प्रणाम करे और गुरु सिर में मारकर आशीर्वाद दे, पर यह तो युद्ध का समय नहीं है अतः अर्जुन के बाण संधान द्वारा कपाल को भेदते हुए तीर धरती पर जा लगा जिससे सिर भी स्थिर हो गया। इससे भीष्म पितामह बहुत प्रसन्न हुए।

दूसरे दिन प्रातः युद्धारम्भ के पूर्व दोनों पक्ष भीष्म पितामह की सेवा में उपस्थित हुए तब भीष्म पितामह ने तृषा के निवारणार्थ दुर्योधन को उपयुक्त उपादान प्रस्तुत करने को कहा। दुर्योधन ने सोने के पात्र में सुगन्धित जल उपस्थित किया जिसे भीष्म पितामह ने अस्वीकृत कर उसे अपने सामने से हट जाने को कहा। पुनः हाथ जोड़कर नतमस्तक हुए अर्जुन आये। उसे तृषा निवारण के लिए योग्य उपाय करने को कहा अन्यथा शाप देने की धमकी पुनः दी। अर्जुन के मन में आया—वरदान के समय कौरव पक्ष है और शाप के समय पाण्डव पक्ष। पर अर्जुन ने मन ही मन में कहा, दादाजी! उपयुक्त उपादान प्रस्तुत करूंगा कि शाप देने का अवसर ही उपस्थित न होगा। अर्जुन ने विचार किया कि गंगा पुत्र को गंगा के बिना तृप्ति नहीं हो सकती साथ ही गंगा भी मर्त्यलोक की होनी चाहिये जिस गंगा का पान अभी तक किसी ने न किया हो। अतः अर्जुन ने बाण निक्षेप कर बाण गंगा या पाताल गंगा को प्रकट किया, जिससे भीष्म पितामह को परम तृप्ति हो गयी।

इस तरह तृषा निवारण कर योग समाधि में चले गये ताकि उत्तरायण में शरीर छोड़ा जा सके और दुष्ट दुर्योधन के आश्रय का प्रायश्चित्त भी हो जाये। फिर दोनों पक्ष 11वें दिन युद्ध में आ डटे। तब यह समाचार लेकर संजय हस्तिनापुर में शोक निमग्न धृतराष्ट्र के पास आये। वह चिल्लाने लगे अनर्थ हो गया। पाण्डवों ने भीष्म पितामह को मार गिराया। वे कुरुक्षेत्र में शरशय्या पर आसीन हैं। हम अनाथ हो गये हैं। भीष्म जो वसु के अवतार, परशुराम के शिष्य, किसी से भी पराजित न होने वाले गिर गये! अतः अब हार निश्चित है, ऐसा धृतराष्ट्र को लगने लगा।

कहीं मेरे बेटों ने भीष्म की रक्षा में प्रमाद तो नहीं किया और कहीं पाण्डवों ने छल से भीष्म को धराशायी तो नहीं कर दिया इस प्रश्न के उत्तर में संजय ने गीता सुनायी।

इसी गीता की चर्चा हम करते हैं, जो धृतराष्ट्र की जिज्ञासा पर संजय ने धृतराष्ट्र को सुनायी।

गीता भीष्मपर्व के 25वें से 42वें अध्याय के अन्तर्गत संग्रहित है। इसमें 700 श्लोक हैं, 18 अध्याय हैं। प्रारम्भ का एक श्लोक धृतराष्ट्र का। 41 श्लोक संजय के। 84 श्लोक अर्जुन के। 574 श्लोक भगवान् श्रीकृष्ण के।

तृतीय बार—जब राजा परीक्षितनन्दन जनमेजय को बड़े होने पर यह जानकारी हुई कि उसके पिता की मृत्यु एक ब्राह्मण पुत्र के अभिशाप के कारण तक्षक नाग के डसने से हुई तो उसे सर्पों पर क्षत्रियोचित रोष आया। उसने चाहा सृष्टि से सम्पूर्ण सर्पों का नाश हो जाये। इसके लिए सर्प यज्ञ का आयोजन किया। उस समय के ब्राह्मणों में मंत्र शक्ति का बहुत बड़ा तेज था जिसके कारण मंत्र शक्ति के प्रभाव से सभी सर्प यज्ञ कुण्ड में आ-आ कर पड़ते थे। दोपहर को यज्ञावकाश होता था जिसमें कथा प्रवचन होता था। उस अवकाश में जनमेजय ने चाहा अपने पूज्य पूर्वजों की कीर्तिगाथा सुनना स्वयं वेद व्यास से। तब वेद व्यास की आज्ञा से, उनकी उपस्थिति में वैशम्पायन से जनमेजय ने अपने पूर्व पुरुषों की कीर्तिगाथा के रूप में गीता श्रवण की।

चतुर्थ बार—नैमिषारण्यक में सूतजी ने शोनक आदि ऋषियों को गीता सुनाई।

श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे। अध्याय के अन्त में सन्निहित इस पुष्पिका के माध्यम से यह तथ्य सिद्ध है कि भगवद्गीता ब्रह्मविद्या और योग शास्त्र है।

भगवद्गीता में प्रत्येक अध्याय का नाम योगान्त हुआ है। इसका प्रथम अध्याय अर्जुन विषाद योग है। द्वितीय अध्याय सांख्य योग है। तृतीय अध्याय कर्मयोग है। चतुर्थ अध्याय ज्ञान-कर्म संन्यास योग है। पांचवां अध्याय कर्म संन्यास योग है। छठा अध्याय आत्म संयम योग है। सातवां अध्याय ज्ञान विज्ञान योग है। आठवां अध्याय अक्षर ब्रह्म योग है। नौवां अध्याय राजविद्या राजगुह्य योग है। दसवां अध्याय विभूति योग है। ग्यारहवां अध्याय विश्वरूप दर्शन योग है। बारहवां अध्याय भक्ति योग है। तेरहवां अध्याय क्षेत्र क्षेत्रज्ञ विभाग योग है। चौदहवां अध्याय गुणत्रयविभाग योग है। पन्द्रहवां अध्याय पुरुषोत्तम योग है। सोलहवां अध्याय दैवासुर संपद्विभाग योग है। सत्तरहवां अध्याय श्रद्धात्रय विभाग योग है। अठारहवां अध्याय मोक्ष संन्यास योग है। इस प्रकार सम्पूर्ण गीता योग-शास्त्र है।

भगवद्गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने तीन स्थलों पर स्वयं ही योग को परिभाषित किया है—(1) **समत्वं योग उच्यते** 2/48 (2) **योगः कर्मसु कौशलम्** 2/50 (3) **तं विद्याद् दुःख-संयोग,-वियोगं योग-सञ्ज्ञितम्।** 6/23

परन्तु उक्त अठारह प्रकार के योगों का जिसमें समावेश सम्भव हो ऐसी योग की परिभाषा विवक्षित है। विवक्षावशात् परमात्म प्राप्ति में साक्षात् अथवा परम्परा से जिसका उपयोग हो वह योग है।

गीता के प्रथम अध्याय का नाम अर्जुन विषाद योग है। यद्यपि गीता में चार जनों के विषाद का वर्णन है। गीता में नाटकीय रोचकता है। जिसमें तीन बार पट खुलता है उसमें चार जनों के विषाद का प्रसंग आता है, पर अर्जुन के ही विषाद को योग कहा गया है अन्यों का नहीं। क्योंकि अर्जुन का विषाद भगवत् प्राप्ति में सहायक सिद्ध हुआ है। गीता में योग की परिभाषा है परमात्मा प्राप्ति में साक्षात् अथवा परम्परा से जिसका उपयोग हो वह योग है। अतः चूंकि अर्जुन के विषाद ने ही उसे भगवान् के प्रति शरणापन्न किया, भगवान् के साथ युक्त किया। उक्त रीति से अर्जुन का विषाद ही योग कहने योग्य है और इसके विपरीत अन्यों के विषाद ने भगवान् के प्रति प्रपन्न तो किया ही नहीं भगवान् के विरुद्ध ही युद्ध ठाना है। भगवान् से वियुक्त हुए हैं।

ऐसे तो हम सब अक्सर विषाद को प्राप्त होते रहते हैं, पर हम योग को प्राप्त नहीं होते। हम-आपको विषाद संसार या सांसारिक वस्तुओं के निमित्त होता है उसकी आपूर्ति तक बना रहता है। पूर्ति होने पर विनष्ट हो जाता है। हमारा विषाद वैराग्य में परिणत नहीं हो पाता। पर अर्जुन का विषाद न तो स्वर्ग राज्य, भूराज्य, अक्षय कीर्ति के प्रलोभन से और न ही अक्षय दुःख, अपकीर्ति और नरकयातना के भय से ही टूटा। फलतः उसकी निवृत्ति के लिए गीता शास्त्र की अभिव्यक्ति हुई जबकि धृतराष्ट्र एवं दुर्योधन का विषाद राज्य प्राप्ति के लिए था पर जिसकी प्राप्ति में परम्परा और योग्यता, दोनों दृष्टि से अयोग्य थे। अतः असम्भव कामना के कारण उनकी जीवनलीला विषाद के साथ ही समाप्त होती है। आचार्य द्रोण, भीष्म पितामह, कृपाचार्य आदि आचार्य एवं सेनापति जानते थे उनका उपयोग अधर्म के पोषण में हो रहा है। इस कारण वे दुःखी थे जिससे वे अपने आपको अलग नहीं कर पाये और बहुतों का प्रसाद भी अन्तर्योग्यता के अभाव में विषाद में परिणत हो जाता है। जैसे रावण, हिरण्यकशिपु, भस्मासुर आदि वर के रूप में अमरता के स्थान पर प्रकारान्तर से अपनी-अपनी मृत्यु को ही निश्चित कर भगवान् के कार्य को सहज कर देते हैं। ये शरीर और संसार को सत्य मानकर, विषय भोग ही एकमात्र सुख है, वे शरीर से अमर होना चाहते थे ताकि सदा विषय भोग भोगते रहे और भगवान् उनके लिए दुधारू गाय हैं जो भोग की आपूर्ति करें और उनके धन, मान, विषय भोग की सुरक्षा पहरेदार की तरह करते रहें। इसके लिए कितना कठोर तप हजारों वर्षों तक भूखे-प्यासे रहकर, एक पैर पर खड़ा होकर किया। पर शरीर और विषय भोग सदा रह नहीं सकते और

आत्मा कभी नष्ट नहीं हो सकती। पर वे सदा शरीर को कैसे टिकाये रख सकें उसका ही वर मांगते हैं। प्रकारान्तर से शरीर नाश का ही वर मांग लेते हैं और ये वर पाकर अहंकारी, उत्पाती, दुराचारी, पापाचारी हो गये। उनका वर ही विष बन गया। ऐसे तो विषाद कोई उच्च भाव नहीं है गर्हित भाव है। जैसे पंक कोई अच्छी वस्तु नहीं है, पर उससे उत्पन्न पंकज अनुपम है जिसका उपयोग भगवान् के पूजन में होता है। वैसे ही अर्जुन के विषाद ने ही उसे भगवान् के प्रति प्रपन्न किया। अर्जुन का विषाद ही गीताशास्त्र की अभिव्यक्ति में माध्यम बनने से उसकी अनुपम महिमा है। उसके कारण ही सारे संसार के मानवों को जीवन सार्थक करने वाला ग्रन्थ प्राप्त हुआ।

गीता में भगवान् कहते हैं—तुम अपना रोना छोड़कर मेरा गीत गाओ तो सदा रोने से मुक्त हो जाओगे। तीनों ताप और पंचक्लेश के पार चले जाओगे।

गीता रोने से, विषाद से सदा के लिए मुक्त कर देती है। गीता का प्रारम्भ विषाद से होता है और समाप्त मोक्ष संन्यास योग यानी मुक्ति में, पूर्णता में, आनन्द में, प्रसाद में होता है। विषाद कोई अच्छा भाव नहीं है, गर्हित भाव है इसमें व्यक्ति टूट जाता है उत्साहहीन हो जाता है, जीने की इच्छा ही समाप्त हो जाती है। क्योंकि जिनको जीवन का आधार सुख को, पूर्णता का आधार माना वह हाथ से निकल गया, तब जीवन असार लगने लगता है, जीवन ही व्यर्थ लगने लगता है। या जीवन में भोग की अतिशयता से ऊब पैदा हो जाती है। उसमें आकर्षण नहीं रह जाता है, उससे बड़े सुख से उसका परिचय नहीं तब जीवन व्यर्थ एवं भार लगने लगता है!

हमारे जीवन का एक ढर्रा बन जाता है। एक ही प्रकार का रोज खाना-पीना, विहार करना आदि। इससे जीवन में ऊब पैदा हो जाती है। जैसा भगवान् राम जीवन में पाते हैं। भगवान् राम दुःखी हैं। दशरथ को लगता है क्या कमी है हमारे राज्य में। सब प्रकार के भोग एवं सुख के साधन उपलब्ध हैं, फिर भी राम दुःखी हैं। राजा दशरथ अपने पुत्र की व्यथा अपने कुलगुरु वशिष्ठ को बताते हैं। कुलगुरु इससे प्रसन्न होते हैं। ऐसी स्थिति जब जीवन में आती है तब उच्चतर सत्य पाने की पात्रता जीवन में आती है और योगवाशिष्ठ नाम का महान् उपदेश राम को निमित बनाकर सारी दुनिया को दिया।

महात्मा बुद्ध के विषय में भविष्यवक्ता ने, जन्मपत्री बनाने वाले ने भविष्यवाणी की या तो यह चक्रवर्ती सम्राट बनेगा या परिव्राजक संन्यासी बनेगा। पिता को लगा संन्यासी का तो भिखारी जीवन है, यह भी कोई जीवन है? अतः मेरा पुत्र चक्रवर्ती सम्राट बनना चाहिए। जिस जीवन से वे परिचित थे, उसके अनुकूल सारी सुविधा, सब प्रकार की भोग सामग्री और प्रत्येक ऋतु के अनुकूल

अलग भवन बना दिये ताकि वहां दुःख-दैन्य से उसका परिचय ही न हो कि जिससे उसकी संन्यास की ओर प्रवृत्ति ही न हो? वह तो चक्रवर्ती सम्राट बने। पर हम जानते हैं अतिशय भोग से भी ऊब पैदा होती है और नगर परिभ्रमण की इच्छा होती है और वहां अप्रिय से परिचय होता है और उन्हें बोध हुआ संसार तो दुःखमय है। क्या इससे मुक्त हुआ जा सकता है। इन सबसे उच्चतर सत्य क्या है जहां दुःख की पहुंच नहीं और क्या उसे पाया जा सकता है। इस दृष्टि से खोज, आत्ममंथन व तप, स्वाध्याय और सत्पुरुषों का संग प्रारम्भ हुआ और आखिरकार सत्य की उपलब्धि हुई और उसे सबको वितरित करने में अपने जीवन को लगा दिया।

सूरदासजी की आंखें चली गयीं। घर में उनकी उपेक्षा प्रारम्भ हुई। तब उनमें भी आत्ममंथन की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई। यहीं तक सत्य है या इससे भी आगे कोई सत्य है यह जानने की। और वे हम सबके त्राता बने।

तुलसीदासजी को भी जब पत्नी से प्रताड़ना के साथ प्रबोधन मिला तभी उच्चतर सत्य की प्राप्ति के लिए उनकी प्रवृत्ति हुई।

शरणानन्दजी महाराज की आंखें चली गयी तो जीवन में विषाद आया। क्या यही सत्य है या इससे भी उच्चतर कोई सत्य है। केवल यहीं तक सत्य है तो जीवन असार है। क्या इससे भी उच्चतर सत्य है तभी जीवन जीने में सार है। आत्ममंथन की, सत्य को खोजने की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई और उच्चतर सत्य को उपलब्ध होकर मानव सेवा संघ के संस्थापक बने, केवल स्वयं नहीं जीया, अनेकों को (वास्तविक) जिलाने के आधार बने।

गांधीजी कहते—जब मैं समस्याओं से घिर जाता हूं आशा की कोई किरण नहीं दिखाई देती तब मैं गीता माता की शरण में जाता हूं तो चमकता हुआ कोई न कोई श्लोक मेरे चित्त में उभरता है और मेरा समाधान कर जाता है। और मैं मुसकराने लगता हूं। वह पुनः कहते हैं मेरा जीवन अन्तर्-बाह्य संकटों से घिरा हुआ है उसका कोई स्थायी प्रभाव मेरे जीवन पर नहीं पड़ा। इसका सारा श्रेय गीता की शिक्षाओं को है। इसलिए गांधीजी कहते हैं मेरा वश चले तो सभी विद्यालयों में, प्रशिक्षण संस्थानों में गीता अनिवार्य कर दूं।

अतः जब जीवन में आघात लगता है तभी उच्चतर सत्य की खोज की प्रवृत्ति प्रारम्भ होती है, तब विषाद ही प्रसाद का, विकास का आधार, विकास की सीढ़ी बन जाता है। उसको समझ में आ जाता वास्तविक जीवन का सत्य, सार यही है। और जो संसार के भोग, संसार के पद को ही सबकुछ समझ लेता है, उसको ही सार समझ लेता है और उसकी प्राप्ति में बाधा आती है तो उसे वह सह नहीं पाता है और

आत्महत्या कर लेता है। पर जो परम्परा से जानता है—संसार ही सबकुछ नहीं है, उसके परे भी सत्य है और वही वास्तविक सत्य है, और सांसारिक सत्य तो उस पर आधारित और उसका ही एक पलकारा मात्र है। अतः हमारे यहां संसार के पीछे एक आत्मिक आधार, आध्यात्मिक आधार होने से हम पागल होने से, विक्षिप्त होने या निराशा होने या आत्महत्या जैसे गर्हित कार्यों से बचे रहते हैं। पश्चिम के पास ऐसा आधार नहीं होने से मानसिक रोग, पागलपन और आत्महत्या का दौर वहां सबसे अधिक पाया जाता है।

मार्गशीर्ष शुक्ला एकादशी के दिन कुरुक्षेत्र में श्रीकृष्णार्जुन संवाद रूप भगवद्गीता की अभिव्यक्ति हुई है।

युद्धारम्भ के कुछ घण्टे पूर्व वेद व्यासजी धृतराष्ट्र के समक्ष प्रकट हुए और अन्तिम बार समझाने का असफल प्रयास किया कि पाण्डवों से सन्धि कर लेवें। धृतराष्ट्र ने अपनी असमर्थता प्रकट की। तब वेद व्यास ने कहा, तुम राजा हो। सन्धि-विग्रह का अधिकार तुम्हारा है। जब तुम्हें लगे अब युद्धविराम कर सन्धि कर लेना चाहिये। युद्ध की सब स्थिति जान सको इसके लिए तुझे दिव्य दृष्टि दे देता हूं ताकि तुम समयानुसार योग्य निर्णय ले सको। धृतराष्ट्र ने स्वयं दिव्य दृष्टि लेने से इनकार कर दिया। जब मैंने आज तक कोई अच्छा-बुरा दृश्य देखा ही नहीं तो मृत्यु के बुरे दृश्य क्यों देखूं। चाहे कोई भी मरे, हैं तो मेरे परिवार के ही। अतः मुझे दिव्य दृष्टि नहीं चाहिये। पर युद्ध के समाचार मिलते रहें इस उपाय की दृष्टि से संजय को दिव्य दृष्टि के साथ दिव्य शक्ति दी जिससे उसे थल-जल-नभ में समान गति प्राप्त हो गई और युद्धकाल में युद्ध में भाग लेते हुए भी वह मारा नहीं जायेगा, ऐसा वर प्राप्त हो गया संजय को। कुरुक्षेत्र में दुर्योधन के जीवित रहने तक यानी युद्ध के अठारह दिन और तीन दिन अवकाश के कुल 21 दिन तक संजय दिव्य दृष्टि और दिव्य शक्ति से सम्पन्न रहे। साथ ही सबके मनोभाव जानने में समर्थ हो गये।

दिव्य दृष्टि और शक्ति के अमोघ प्रभाव से संजय युद्धादिकृत्यों में भाग लेते हुए, दुर्योधन का सहयोग करते हुए भी युद्धभूमि में निष्पन्न तथा युद्ध से सम्बद्ध सभी घटनाओं और गतिविधियों का प्रत्यक्ष दर्शन करते। दुर्योधन के सेनापति के धराशायी होने या मारे जाने पर कुरुक्षेत्र से रथ द्वारा हस्तिनापुर पहुंचकर धृतराष्ट्र को सभी घटना कह सुनाते।

दसवें दिन के युद्ध में इच्छामृत्यु भीष्म पितामह के शरशय्या पर समासीन होने और रात्रि बीतने पर द्रोणाचार्य के सेनापति पद पर अभिषिक्त होने के पूर्व संजय ने हस्तिनापुर जाकर राजा धृतराष्ट्र को भीष्म के मरणासन्न होने की बात

कही। संवाद सुनकर धृतराष्ट्र अचेत हो जाते हैं। चेतन होने पर धृतराष्ट्र संजय से जिज्ञासा करते हैं—धर्म भूमि कुरुक्षेत्र में युद्ध की इच्छा से समवेत मेरे और पाण्डु पुत्रों ने क्या किया?

इसके उत्तर में संजय ने धृतराष्ट्र को कृष्णार्जुन सम्वाद रूप भगवद्गीता को पुनः सुनाया।

इस प्रकार दसवें दिन युद्ध की समाप्ति के पश्चात् और 11वें दिन के युद्धारम्भ के पूर्व हस्तिनापुर में संजय-धृतराष्ट्र सम्वाद के माध्यम से श्रीकृष्णार्जुन सम्वाद रूप भगवद्गीता की अभिव्यक्ति हुई।

गीता के वक्ता और श्रोता

भगवान् श्रीकृष्ण गीता के वक्ता और श्रोता हैं—अर्जुन, हनुमानजी, बर्बरिक, नारायण के अंशावतार वेद व्यास और वेद व्यासजी की कृपा से दिव्य दृष्टि प्राप्त संजय।

वनवास काल में द्रौपदी को जलप्रवाह में बहता हुआ एक दिव्य सुनहरा कमल प्राप्त हुआ तो उसने ऐसे ही और कमल की मांग प्रस्तुत की भीम से। जिस दिशा से कमल बहता हुआ आया था उस दिशा की ओर भीम चल पड़े। रास्ते में हनुमानजी से भेंट हुई। युद्ध की अनिवार्यता जानकर हनुमानजी ने आशीर्वाद स्वरूप कहा, मैं अर्जुन के नन्दीघोष रथ की ध्वजा पर विराजमान रहूंगा और तू जब-जब युद्धभूमि में हुंकार भरेगा उस समय तेरी हुंकार में अपनी हुंकार मिलाकर कौरव पक्ष को दहलाता रहूंगा। उनमें दहशत भरता रहूंगा। गीतोपदेश के उपरान्त अर्जुन कृतज्ञता व्यक्त करता है वैसे ही हनुमानजी ने भी कृतज्ञता व्यक्त की। पर बिना गुरु की अनुमति के और गुरु से ऊंचे स्थान में विराजने के कारण भगवान् ने दण्डस्वरूप गीता पर पैशाचिक भाष्य लिखने को कहा। बर्बरिक—घटोत्कच का पुत्र, भीम का पौत्र भी युद्ध में भाग लेने आया था। उसे भी भगवान् की कृपा से दिव्य दृष्टि प्राप्त हुई। उसके कटे मस्तक को पहाड़ की चोटी पर रख दिया गया। वहीं से उसने गीता श्रवण की। वेद व्यास ने श्रीकृष्ण-अर्जुन सम्वाद को श्लोकबद्ध कर महाभारत के भीष्मपर्व में रख दिया।

श्रीमद्भगवद्गीता

प्रथम अध्याय

अर्जुनविषादयोग

पहला पट

गीता में नाटकीय रोचकता है जिसमें तीन बार पर्दा उठता है। उसमें चार प्रकार के पात्रों का विषाद प्रकट होता है। पहला विषाद धृतराष्ट्र से प्रारम्भ होता है।

धृतराष्ट्र उवाच—

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे, समवेता युयुत्सवः।
मामकाः पाण्डवाश्-चैव, किमकुर्वत सञ्जय।। 1/1

धृतराष्ट्र ने कहा—हे संजय! धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र में एकत्रित होकर युद्ध की कामना वाले मेरे पुत्रों और पाण्डवों ने क्या किया?

धर्मक्षेत्रे—जहां दोनों पक्ष इकट्ठे हुए हैं उसे धर्म क्षेत्र कहा है। इसे धर्म क्षेत्र क्यों कहा गया है? प्रथम तो भूलोक कर्मभूमि होने से धर्मभूमि है। स्वर्ग और नरक भोगभूमियां है। भूलोक में कर्मों के आधार पर पाप-पुण्य उपार्जन करते हैं।

भूलोक में भारत की विशेष स्थिति है। यहां देवता भी जन्म लेने के लिए तरसते हैं। भारत भूमि को ही यह सौभाग्य प्राप्त है जिसने स्वयं परात्पर परब्रह्म परमात्मा को भी बार-बार लीलाभूमि बनाने के लिए आकृष्ट किया है और इसी भूमि को भगवान् ने बार-बार लीला भूमि बनाने का वचन दिया है। सारे विश्व में जितने महापुरुष नहीं हुए उससे अधिक महापुरुष भारत ने पैदा किये हैं। क्योंकि भारत भूमि धर्म की, अध्यात्म की भूमि है। भारत की वाणी धर्म की वाणी है जबकि पश्चिम की वाणी राजनीति की वाणी है। भारत में राम, श्रीकृष्ण, अशोक और बुद्ध को पूज्य माना गया, आदर्श माना गया तो पश्चिम में सिकन्दर, नेपोलियन आदि को महान् कहा गया। यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि प्राचीन काल से लेकर अर्वाचीन काल तक भारत के ऋषि-महर्षियों को ही नहीं वरन् विश्व के साधकों को, ज्ञान-पिपासुओं को इस भूमि ने आकृष्ट किया है। स्वयं मुहम्मद पैगम्बर का चाचा अब्दुल हिक्म भगवान् शंकर से प्रार्थना करता है—

'हे अल्लाहों के अल्लाह महादेव! कोई पतित से पतित व्यक्ति भी यदि आपकी शरण में आवे तो मुक्त हो जाये।'

हे मेरे प्रभु! मेरा समस्त जीवन एवं सर्वस्व लेकर मुझे मात्र एक दिन के लिए भारत का वास दे दो क्योंकि वहां पहुंचकर मनुष्य जीवन्-मुक्त हो जाता है।

स्वयं पैगम्बर मुहम्मद को भारत से दिव्य सुगन्धि प्राप्त होती है।

ईसा मसीह साधना एवं अध्ययन के लिए भारत की शरण में आकर भारत का शिष्यत्व स्वीकारते हैं और पुनः अन्तिम निर्वासित जीवन सुरक्षित व्यतीत करने के लिए भारत ही शरण, आश्रय देता है। महान् दार्शनिक हरवर्ट स्पेन्सर ने ईश्वर को सम्बोधित करके अपने जीवन की एकमात्र अभिलाषा व्यक्त की थी कि 'O God! When you are to give me birth, give in India, not for the proverty and slavery of India, but the high mindness of Hindu race.'

कैसा सुखद आश्चर्य! जब संसार की सभी स्वतंत्र जातियां हिन्दोस्तान से, हिन्दू जाति से हिकारत करती थी कि ये लोग अंग्रेजों के गुलाम हैं। इस कारण कई जगह विश्व कवि रवीन्द्रनाथ टैगोर को विश्व यात्रा के समय अपमानित होना पड़ा। जापान के स्कूल के बच्चों ने गुलाम देश के दर्शन को सुनने से इनकार कर दिया। वे यह स्वीकार करने को तैयार नहीं कि गुलाम देश का भी कोई दर्शन होता है। ऐसे ही स्वामी विवेकानन्द को कई जगह अपमानित होना पड़ा। फिर एक जगह इंग्लैण्ड में तो स्वामी विवेकानन्द ने कहा—जो स्वयं गुलाम होता है, स्वयं बद्ध होता है वही दूसरे को बांधता है। जो अपनी वासनाओं का गुलाम है, अपनी इच्छा का गुलाम। वासनाएं, इच्छाएं उसको सारे जीवन नचाती रहती है। वही स्वयं भी बद्ध है और दूसरे को भी बांधता है। पर जो स्वयं मुक्त है, वह दूसरों को भी मुक्त करता है। जैसे मैं स्वयं मुक्त हूं और दूसरे को भी मुक्ति पाने का उपाय बताता हूं। अंग्रेज स्वयं भी गुलाम है अतएव दूसरे को भी गुलामी में जकड़े हुए हैं। उस स्थिति में भी इतना बड़ा विचारक हरवर्ट स्पेन्सर भगवान् से कहता है कि हे प्रभु! अगर तुम हमें दोबारा इस धरती पर जन्म देना मनुष्य का तो भारत में ही देना। क्योंकि वहां गरीबी होगी, गुलामी भी होगी, लेकिन वह चीज जिसे मैं जीवन में आत्मसात् करके कृत-कृत्य होना चाहूंगा वह आत्मिक ज्ञान वहां की हिन्दू जाति में मुझे मिलेगा। इस तरह जो डंके की चोट पर हिन्दू धर्म-दर्शन व उसकी श्रेष्ठता, अलौकिकता को लेकर विश्व में उद्घोषणा कर सका, वह क्या पागल था? प्रतिक्रियावादी था?

भारत के पराधीनता के काल में भी लन्दन के ट्रेफल्गार स्क्वेयर में खड़े होकर दोनों भुजा उठाकर मैक्समूलर कहा करता था—'भारत तो सारे संसार का

आध्यात्मिक पूर्वज है। जिस जाति में राम और श्रीकृष्ण पैदा हुए हैं उसे गुलाम बनाना सारी मानव जाति के साथ घोर अन्याय करना है।

यदि मुझसे पूछा जाये कि किस गगन के नीचे मानव मन ने ऊंची से ऊंची प्रतिभाओं का विकास किया है, जीवन की बड़ी से बड़ी समस्याओं पर विचार करके ऐसे ऊंचे हल ढूंढ़े हैं कि जो प्लेटो तथा काण्ट का अध्ययन करने वाले विद्वानों के ध्यान को भी आकर्षित करने का अधिकार रखते हैं तो वह महान् देश है भारत!

बीसवीं शताब्दी के संस्कृत के सबसे बड़े विद्वान् महात्मा पण्डित मैक्समूलर की भारत को यह श्रद्धांजलि कितनी हृदयहारी और मनोमुग्धकारी है। इस भाव को राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त ने अपने भारत भारती में गाया है—

भू लोक का गौरव प्रकृति का, पुण्य लीला स्थल कहां?
फैला मनोहर गिरि, हिमालय और गंगाजल कहां?
सम्पूर्ण देशों से अधिक किस देश का उत्कर्ष है?
उसका कि जो ऋषि भूमि है वह कौन? भारत वर्ष है।

London Times—No country but India and no religion but Hinduism could have given birth to a Gandhi.

इस भारत भूमि की महिमा सभी मुक्तकंठ से स्वीकारते हैं। और जो बात गांधीजी के विषय में कही गयी वही बात भारत में उत्पन्न सभी ऋषि-मुनियों, महापुरुषों के विषय में कह सकते हैं। हिन्दू धर्म ही, हिन्दू जाति ही सम्पूर्ण मानवता की, जीव मात्र, सृष्टि मात्र की बात करता है, सारे विश्व को अभय देता है, सारे विश्व को आलिंगनबद्ध करके वसुधैव कुटुम्बकम् की बात करता है जबकि अन्य इसलाम, इसलाम के विषय में ही वह भी अपने सेक्ट यानी शिया या सुन्नी की बात करते हैं। ईसाई भी केवल ईसाइयों की वह भी अपने कैथोलिक या प्रोटेस्टेन्ट की चिन्ता करता है। उससे आगे उनका चिन्तन नहीं जाता।

विवेकानन्द के शब्दों में भारत भूमि मोक्ष भूमि है अन्य भूमि तो अधिक से अधिक स्वर्ग तक ले जा सकती है। मोक्ष पाना है तो उन्हें भारत भूमि के शरण में आना पड़ेगा। भारत मोक्ष प्रदान करने वाला आध्यात्मिक देश है।

भारत भूमि में कुरुक्षेत्र की विशेष स्थिति। देवों की, ऋषियों की तपोस्थली होने से तीर्थस्थली है।

इसे एक तो महाराजा कुरु ने बसाया था। यहां पर अग्नि, इन्द्र, ब्रह्मा आदि देवताओं ने तप किया था। महाराजा कुरु ने बदरीनारायण के ऋषियों, मुनियों को वहां बर्फानी जलवायु से रक्षा की दृष्टि से बुलवा कर बसाया था। यहां अनेक ज्ञान

सत्र एवं महायज्ञ हो चुके थे। स्वयं महाराजा कुरु ने लगातार अनेक वर्ष तपकर इन्द्र से वरदान पाया था जो मनुष्य और पशु-पक्षी यहां तपस्या करते हुए और निराहार रहकर देह त्याग करेंगे अथवा युद्ध में मारे जायेंगे वे स्वर्गलोक के भागी होंगे। इसी से कुरुक्षेत्र को युद्ध भूमि के रूप में चुना गया। क्योंकि हम केवल अपना ही नहीं सभी के कल्याण की कामना करते हैं। और इसी दृष्टि से भी कुरुक्षेत्र को धर्मभूमि कहा गया है।

आज भी जापान का प्रधानमंत्री भारत की भूमि को मस्तक नवाता है और उसकी धूल मस्तक पर लगाता है। तिब्बत का दलाईलामा अपना राज्य धन खोकर भी भारत के बौद्ध तीर्थों में शान्ति पाता है। संसार के 85 देशों के हिन्दू आज भी कुम्भ मेले पर गंगा स्नान के लिए तरसते हैं तो यह सब भारत भूमि की धार्मिक, आध्यात्मिक, सांस्कृतिक महिमा ही है।

मानव के शरीर को भी धर्म क्षेत्र कुरुक्षेत्र कहा गया है क्योंकि मानव शरीर कर्मयोनि है अन्य शरीर यथा देव शरीर एवं पशु शरीर भोग योनियां हैं। मनुष्य अपने कर्मों के आधार पाप-पुण्य अर्जित करता है या दोनों के पार जाकर मुक्त हो सकता है।

फिर भारत में मानव शरीर का मिलना जहां के रक्त के बिन्दु-बिन्दु में धर्म का संस्कार समाया हुआ है चाहे वह कितना ही उसका तिरस्कार करे जैसे जवाहरलाल नेहरू। क्योंकि इस भूमि की यह विशेषता है। वैसे ही वर्तमान नेताओं का हाल है। व्यक्तिगत जीवन में पारिवारिक जीवन में वह धर्मपरायण है, पर सार्वजनिक जीवन, राजनीतिक जीवन में वे हिन्दू धर्म को न मानने का दिखावा करते हैं या हिन्दू धर्म को महत्त्व न देते हुए तिरस्कार करते-से दीखते हैं। पर वे अपने अन्दर के देवत्व को, धर्मत्व को कितना ही अस्वीकार क्यों न करें उसकी चिनगारी किसी-न-किसी रूप में विद्यमान रहती है उसको नष्ट नहीं कर पाता है। और वह चिनगारी जब किसी ऋषि-महर्षि के सम्पर्क में आने से प्रज्वलित हो जाती है तो वह धर्मात्मा ही बन जाता है। इसके अनेक उदाहरण हैं—अंगुलीमाल, रत्नाकर डाकू, अम्बपाली, तुलसीदास, नरेन्द्र, महात्मा गांधी आदि। अतः धर्म के संस्कार होना यह इस भूमि की विशेषता है। जो भी मानव भारत भूमि में जन्म ग्रहण करता है उसे अनायास ही संस्कार रूप से प्राप्त हो जाता है।

मानव शरीर में देवासुर संग्राम चलता रहता है। यहां पाण्डव पक्ष देवपक्ष है, धर्म वृक्ष है। युधिष्ठिर रूपी धर्म का भव्य महावृक्ष था। अर्जुन उसका तना था और भीमसेन उसकी शाखायें थीं। माद्रीपुत्र नकुल-सहदेव उसके फल-फूल थे। उसको रस से सींचने वाली जड़ का नाम श्रीकृष्ण था, वही ब्रह्म है। और ब्राह्मण

उस धर्म वृक्ष के मूल हैं। कौरव पक्ष असुर पक्ष अधर्म वृक्ष है। दुर्योधन अभिमान का महावृक्ष है। कर्ण उसका तना है। शकुनि उसकी शाखायें हैं। दुःशासनादि उसके फल-फूल हैं और बेसमझ राजा धृतराष्ट्र उसका मूल है। इन दोनों पक्षों में निरन्तर संघर्ष चलता रहता है। अंत में सत् की, धर्म की जय होती है। पर आज दुर्भाग्य से कर्म और धर्म अलग-अलग हो गये हैं। जो धर्म कर रहे हैं उन्हें कर्म से कोई मतलब नहीं है। और जो कर्म कर रहे उन्हें धर्म से कोई मतलब नहीं है। इसी आधार पर जीवन के दो विभाग हो गये हैं। मन्दिर जाते समय, पूजा-पाठ करते समय, तीर्थ यात्रा करते समय हम धार्मिक होते हैं पर अपने कर्म क्षेत्र में, व्यापार क्षेत्र में, व्यवहार क्षेत्र में धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं होता। अब यह स्थिति बदलनी चाहिए। हमारे जीवन का हर कर्म, हर व्यवहार—धर्म-ईश्वर-अध्यात्म से युक्त होना चाहिए। हमारा हर कर्म धर्म बनना चाहिए। अतः अपने-अपने कर्म क्षेत्र को धर्म क्षेत्र बनायें।

जो अहिंसा मार्ग के प्रबल पक्षधर हैं वे महाभारत को ऐतिहासिक ग्रन्थ न मानकर रूपक ग्रन्थ मानते हैं। वे मानव शरीर में घटित होने वाली सत्-असत् वृत्तियों में संघर्ष रूपी देवासुर संग्राम के रूप में गीता, रामायण, महाभारत की व्याख्या करते हैं। वे मनुष्य शरीर को धर्म क्षेत्र (यानी धर्म भूमि) कुरु क्षेत्र (यानी कर्म करने की भूमि) के रूप में वर्णित करते हैं। उनके अनुसार मानव शरीर ही समर भूमि है जिसमें सुर-असुर, सत्-असत् वृत्तियों का निरन्तर संघर्ष चलता रहता है जिसमें अन्ततोगत्वा सुर वृत्ति की जय होती है।

पर एतिह-पक्ष, ऐतिहासिक पक्ष की आध्यात्मिक व्याख्या करने से हमारे इतिहास की हानि होती है और विदेशियों के षड्यंत्र को सफल करने में हम सहायक होते हैं। विदेशी रामायण, महाभारत, गीता आदि को ऐतिहासिक ग्रन्थ न मानकर मन कल्पित ग्रन्थ कहकर हमारे इतिहास को अस्वीकारते हैं। अतः ऐतिहासिक पात्रों को अध्यात्म पक्ष में ढालकर इतिहास को नष्ट न करें। अपने गौरव, अपने स्वाभिमान बिन्दु, अपने पुरुषार्थों की प्रेरणा पर पानी न फेरें। इतिहास पर कुठाराघात से हिन्दू समाज की हानि हुई है। अध्यात्म पक्ष को रखने के लिए हमारे यहां शास्त्रों की कमी नहीं है। हमारे यहां तत्त्व ज्ञान के इतने शास्त्र हैं कि एक ही सम्प्रदाय के सारे ग्रन्थों के अध्ययन के लिए कोई विद्वान् समय लगाये तो भी उसका अध्ययन सम्भव नहीं है। अतः तत्त्व ज्ञान के इतने ग्रन्थ होने के बाद अपने इतिहास ग्रन्थ को रूपक बनाकर नष्ट करने की क्या आवश्यकता है? अतः हम अपने ही इतिहास को नष्ट करने, विकृत करने में पश्चिम के सहायक न बनें। हम जानते हैं जीजाबाई ने शिवाजी का निर्माण रामायण-महाभारत की कथा सुना-सुनाकर किया। उनमें स्वाधीनता की ललक पैदा की थी। गीता का स्वाधीनता

आन्दोलन में क्या अविस्मरणीय अवदान रहा यह भी हम जानते हैं। रामायण गीता को आधार बनाकर मारिशस, फिजी, गुयाना, सूरीनाम के हिन्दू जो बंधुआ मजदूर बनाकर ले जाये गये थे अपने धर्म की रक्षा कर सके। हम जानते हैं छोटे-छोटे आघातों से रोम, बेबीलोन मिस्र सदा के लिए समाप्त हो गये। वहीं भारत सब प्रकार से दुर्भाग्य की ठोकरें खाकर 1000 वर्षों की गुलामी को सहकर भी अपने अस्तित्व को सुरक्षित रख सका तो रामायण, महाभारत, गीता के शाश्वत संदेश के आधार पर ही। आज रोम, बेबीलोन, मिस्र, यूनान को जानने के लिए इतिहास के पन्नों में ज़ाना पड़ेगा। अतः रामायण, महाभारत की ऐतिहासिकता अस्वीकार कर न पश्चिम के षड्यंत्र को सफल बनावें और न अपने ही पैरों पर कुल्हाड़ी मारें। इन्हें काल्पनिक मानकर इनसे अक्षय प्रेरणा प्राप्त नहीं की जा सकती है।

फिर यहां धृतराष्ट्र स्पष्ट रूप से संजय से जिज्ञासा करता है—मेरे और पाण्डुपुत्रों ने धर्मक्षेत्र में कुरुक्षेत्र में क्या किया। यहां धर्मक्षेत्र, कुरुक्षेत्र का तात्पर्य मानव शरीर की वृत्तियां नहीं हो सकता।

महाराजा धृतराष्ट्र जब महाभारत युद्ध के दसवें दिन भीष्म पितामह के आहत होने का समाचार सुन कर स्तब्ध एवं कुछ समय के लिए बेसुध हो जाते हैं। उन्हें भीष्म पितामह के आहत होने की संभावना नहीं थी। जब होश आता है तब युद्ध के सम्बन्ध में विस्तार से जानने की इच्छा करते हुए अपने प्रिय और विश्वासपात्र मंत्री संजय से पूछते हैं—

हे संजय! कुरुक्षेत्र के धर्मक्षेत्र में युद्ध करने की इच्छा से इकट्ठा होकर मेरे पुत्रों और पाण्डु पुत्रों ने क्या किया?

धृतराष्ट्र के इस प्रश्न से ऐसा लगता है युद्ध प्रारम्भ होने, भीष्म पितामह के शरशय्या पर जाने का उन्हें पता नहीं जबकि वे भीष्म पितामह के आहत का समाचार सुनकर ही यह प्रश्न करते हैं। वास्तव में धृतराष्ट्र का यह प्रश्न यहां सङ्गत नहीं बैठता। वास्तव में धृतराष्ट्र सदैव दुविधाग्रस्त, अपने मनोभाव को प्रकट न करने वाले व्यक्ति रहे हैं। जबकि दुर्योधन बड़ा स्पष्टवादी था। चाहे दुर्योधन अन्यांय का पक्षधर रहा हो, पर स्पष्टवादी था। उसने भगवान् श्रीकृष्ण से स्पष्ट कहा है—

जानामि धर्म न च मे प्रवृत्ति
जानामि अधर्म न च मे निवृत्ति।

धृतराष्ट्र ने सदैव अपने मनोभाव को छिपाने का प्रयास किया और पाण्डवों के साथ प्रेम, न्याय का दिखावा करता रहा एवं अन्यायी कार्यों के लिए पुत्र की आड़ लेता रहा है। जबकि दुर्योधन के प्रायः सभी षड्यंत्रों में उसकी सहमति रहती थी जो कई बार धृतराष्ट्र के छिपाने पर भी स्पष्ट हो गई। जब पाण्डवों को वारणावत भेजने

का कुचक्र दुर्योधन ने धृतराष्ट्र के सामने रखा, पहले तो कुछ पैंतरा बदला फिर स्पष्ट स्वीकार किया, 'बात तो कुछ ऐसी ही मेरे मन में है, पर खुलकर कह नहीं सकता।' ऐसे ही अर्जुन और सुभद्रा के विवाह का समाचार सुनकर पहले उन्होंने प्रसन्नता प्रकट की, पर दुर्योधन और कर्ण के चापने पर कहा, 'जैसा तुम कहते हो, सोचता तो मैं भी वही हूं, पर विदुर के सामने खुलकर अपनी बात कह नहीं सकता।' जब युधिष्ठिर द्यूत में हारने लगे, तो धृतराष्ट्र प्रसन्न होकर बार-बार पूछते हैं—'क्या सचमुच जीत लिया और वह अपनी मुद्रा छिपा न सके।' पाण्डवों को दूसरी बार द्यूत क्रीड़ा में लगाने का प्रस्ताव जब दुर्योधन ने किया तब भी उसको बरजने के स्थान में धृतराष्ट्र से यही कहते बना, 'हां-हां, अभी पाण्डव रास्ते में होंगे, उन्हें जल्दी लौटा लाओ। इस प्रकार धृतराष्ट्र सदैव दुविधाग्रस्त द्विवादी रहा है। महाभारत युद्ध के पश्चात् वह भीम को आलिंगन के बहाने मार डालना चाहता है। वह हमेशा पाण्डवों के साथ छल-कपट करता रहा है पर दिखावा करता रहा कि पाण्डवों के साथ प्रेम है। अन्तिम समय जंगल में आग लगने से पूर्व धृतराष्ट्र ने विदुर के सामने स्वीकार किया कि मैंने जीवनभर अनीति, अन्याय, अत्याचार, अपराध किये और करवाये और जगत् को धोखा देने के लिए उस पर आंख मींचे रहा।

संजय से जिज्ञासा में भी दुविधाग्रस्त हो अपने मनोभाव को छिपाने वाला ही चित्र उपस्थित होता है। अन्यथा धृतराष्ट्र के जिज्ञासा की कोई संगति नहीं बैठती। भीष्म पितामह के आहत हो जाने पर 11वें दिन यह प्रश्न करना कि युद्ध की इच्छा रखने वाले मेरे और पाण्डु पुत्रों ने क्या किया। अरे, क्या किया, युद्ध कर रहे हैं! यहां वास्तव में धृतराष्ट्र चिन्तित, विषादग्रस्त है कहीं कौरवों की हार न हो जावे पर सीधे यह भाव व्यक्त न करते हुए संजय से जिज्ञासा करता है।

धृतराष्ट्र ने, पाण्डु का राज्य पाण्डु के बेटों को न सौंपकर स्वयं अपने परिवार पोषण के लिए दबा लिया, इसलिए प्रथम श्लोक में धृतराष्ट्र भयभीत होकर संजय से पूछता है।

जब कोई शासक सत्ता के मद में अंधा होकर राष्ट्र को अपनी निजी जागीर समझकर अपने स्वार्थ के पंजे के नीचे दबाकर धर बैठा हो तो वह धृतराष्ट्र का स्वरूप बन जाता है। यह 'धृत-राष्ट्र' है। यह 'राष्ट्र' को 'धृत' अर्थात् हड़प कर बैठा है।

राज्य पाण्डु का था। धर्मानुसार अंधा राजा नहीं बन सकता था। पाण्डु की अकस्मात् मृत्यु होने पर उसने अपने भाई धृतराष्ट्र को अल्पकाल के लिए राज्य अमानत के रूप में दिया था ताकि युधिष्ठिर महाराज के युवा होने पर उनका राज तिलक कर उन्हें राज्य सौंप दिया जाये। किन्तु एक बार सत्ता का लोभ, ऐश्वर्य की चाट या प्रभुता का मद चढ़ जाने पर उसे छोड़ना सहज नहीं। अतः धृतराष्ट्र नैतिक

दृष्टि से अंधा होकर भाई की धरोहर को हड़प जाना चाहता है। अतः सदा ही उसे भय लगा रहता था कि कहीं यह साम्राज्य धर्मात्मा एवं बलवान पाण्डव वापस न ले ले अथवा युद्ध में कहीं पाण्डवों की विजय होकर राज्य सत्ता हमारे हाथों से निकल न जाये।

धृतराष्ट्र की जिज्ञासा में ही युद्ध के बीज सन्निहित हैं। जहां वह अपने और पाण्डु पुत्रों में भेद करता है। धृतराष्ट्र जब कहता है मेरे और पाण्डु के पुत्रो! तो उसकी शब्दावली में भी वह पाण्डु के बेटों को (अपने स्वर्गवासी भाई के सौंपे हुए बेटों को) 'मामका' मेरे बेटे से भिन्न गिन रहा है। अपने पुत्रों के लिए 'मामका' और पाण्डु पुत्रों के लिए पाण्डवा शब्द का प्रयोग किया है क्योंकि जो भाव भीतर होता है वही प्रायः वाणी से बाहर निकल आता है। यहां पाण्डु पुत्रों को अपने पुत्रों से भिन्न गिन रहा है। यहां भी अपने पुत्रों के प्रति राग और पाण्डु पुत्रों के प्रति द्वेष का भाव व्यक्त होता है जो नैतिक दृष्टि से पाप है। फिर एक राजा के रूप में भी उसे अपने और परायों के बेटों में कोई भेदभाव नहीं रखना चाहिये। राजा के लिए सब प्रजा उसकी संतान के तुल्य है। प्रजा का शाब्दिक अर्थ ही संतान है। (प्रजायते इति प्रजा) राजा समस्त प्रजाओं का धर्म पिता माना जाता है। अपने घर में जन्मे हुए बेटों और प्रजाजनों में भेदभाव रखना अन्याय है। धृतराष्ट्र अपने पापी बेटों के प्रति राग रखता है और अपने दिवंगत भाई पाण्डु के आज्ञाकारी धर्मात्मा पुत्रों से द्वेष रखता है। भले ही कौरवों ने उनकी अवज्ञा की हो, अवमानना की हो, पाण्डवों ने कभी नहीं की। द्यूत क्रीड़ा में सम्मिलित भी धृतराष्ट्र की आज्ञा से हुए। फिर पाण्डु के गत हो जाने पर पाण्डु पुत्रों का भी स्वाभाविक पिता तो धृतराष्ट्र ही था। फिर वह राजा होने के साथ कुरु कुल का भी अधिपति होने से भी अपने और पाण्डु पुत्रों में भेद नहीं करना चाहिये। पर जो भाव अन्दर होते हैं वही वाणी में व्यक्त हो जाते हैं। इसी कारण दोनों को अलग-अलग गिनता है। इसलिए वह भयभीत है कि कहीं राज्य सत्ता, अन्याय से बटोरा हुआ ऐश्वर्य छिन न जाये।

धृतराष्ट्र ने युद्ध को अनिवार्य जानकर युद्ध से पूर्व एक अन्तिम कूटनीतिक चाल चली थी। यह धर्मवचनों की आड़ में पाण्डवों को विभ्रान्त कर युद्ध से निवृत्त करने के लिए किया था। कहते हैं शैतान भी धर्म पुस्तकों का वचन अपने पक्ष के लिए उद्धृत करता है। इसी प्रकार विजेता लोग धर्म वचनों को अपने अनुकूल बताते हुए बड़े-बड़े तत्त्वज्ञान, शान्तिवचन बोलते हैं। जगत्-उद्धार के लिए हम प्रयत्न करते हैं, ऐसा दावा करते हैं। इन सबका तात्पर्य है कि ये लोग इन वचनों से मोहित होकर स्वराज्य प्राप्ति के लिए कोई प्रयत्न न करें और सदा पराधीनता में ही संतोष मानें। धृतराष्ट्र ने ऐसा धर्म प्रयोग संजय के माध्यम से पाण्डवों पर किया था।

उसने पाण्डवों को पथ-भ्रमित करने के लिए यह संदेश भेजा था आप पाण्डव धर्मात्मा लोग तेरह वर्ष तपस्या की है। आप विवेकी, धर्मशील एवं दयालु, आज्ञाकारी भी हैं। मेरे बेटे दुर्योधनादि दुष्ट और हठी हैं। वे हमारी अच्छी सीख को नहीं मानते हैं। यह संसार तो धोखे की टट्टी है, एक भ्रमजाल है। आप धर्मात्मा पाण्डव इस भाइयों के रक्तपात के इस पाप के पंक में क्यों उतरते हैं, आप तपस्या द्वारा शीघ्र ही भगवान् को पा लें व्यर्थ में राज्य के लिए रक्तपात कर तपस्या का मार्ग छोड़कर इस विषय-भोग के गड्ढ़े में मत उतरिये। इस प्रकार संजय ने युद्ध के पूर्व धर्म का और संन्यास उपदेश किया था। संजय पाण्डवों को शान्ति का उपदेश इस प्रकार से दे रहा है जैसे कि पाण्डव ही अशान्ति का कारण हों। अन्याय धृतराष्ट्र के पक्ष का है और वे ही इस युद्ध के समय शान्ति की स्थापना के यत्न में अग्रसर दीखते हैं। वे ही कह रहे हैं युद्ध में हिंसा है, क्रूरता है। वैराग्य श्रेष्ठ है। हिंसा से राज्य पाने की अपेक्षा भीख मांग कर जीवनयापन करना ठीक है।

देखें—विजेता लोग कैसे निर्लज्ज बनते हैं और अपनी साम्राज्य रक्षा के लिए धर्मवचनों का भी कपट युक्ति से कैसा दुरुपयोग करते हैं। ऐसे धर्मवचनों का प्रयोग धृतराष्ट्र ने पाण्डवों पर किया पर वह श्रीकृष्ण और युधिष्ठिर के कारण असफल हो जाने से दुःखी हैं। युधिष्ठिर महाराज ने कहा–आपातकाल में आपातकालीन धर्म पालन किया जाता है। सामान्य काल में आपातकालीन धर्म पालन करना पाप है। अधर्म है।

साधारण चोर लुटरे भी धर्मक्षेत्र में जायें तो कुछ-न-कुछ धर्म प्रवृत्ति करते हैं, तीर्थ क्षेत्रों में अन्य स्थानों की अपेक्षा अधिक धर्म प्रवृत्ति होती ही है। इसलिए धृतराष्ट्र समझता था कि अपनी प्रेरणा से संजय द्वारा किया गया उपदेश धर्मक्षेत्र-कुरुक्षेत्र में जाने के पश्चात् पाण्डवों के मन पर अधिक असर करेगा और कुलक्षय करने वाले युद्ध से विमुख हो जायेंगे। पर यह भी कारगर न होने के कारण धृतराष्ट्र चिन्तित है।

वास्तव में पाण्डवों को सताने के जितने षड्यंत्र रचे गये उन सबके पीछे धृतराष्ट्र की कुबुद्धि प्रत्यक्ष या छिपी हुई सहमति रहती थी, ऊपर से दुर्योधन, दुःशासन अन्याय, अत्याचार करते थे किन्तु भीतर से अंधे धृतराष्ट्र की कुटिल नीति काम करती रहती थी। महाभारत युद्ध के अन्त में सब कौरवों के नाश हो जाने पर जब धृतराष्ट्र पाण्डवों के प्रति पितृ स्नेह दर्शाने के लिए उनसे गले मिलकर वन में जाने को तैयार होता है तब भी दुर्योधन, दुःशासन को मारने वाले भीमसेन के प्रति उसके मन में द्वेष का विष भरा हुआ था। भगवान् श्रीकृष्ण ने भीमसेन के स्थान पर एक कांसे की मूर्ति आगे बढ़ा दी और द्वेष से जले हृदय वाले धृतराष्ट्र ने उसे भी अपने आलिंगन में बांध कर खण्ड-खण्ड कर दिया। इस प्रकार अंधा

धृतराष्ट्र शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, नैतिक और आध्यात्मिक सभी दृष्टि से ही अंधा ही था। अन्तिम समय में जंगल में आग में जल जाने से पूर्व धृतराष्ट्र ने विदुर के सामने स्वीकार किया कि मैंने जीवनभर अनीति, अन्याय, अत्याचार, अपराध किये और करवाये और जगत् को धोखा देने के लिए उस ओर से आंख मींचे रहा।

वास्तव में धृतराष्ट्र की जिज्ञासा का आशय यह है कि भीष्म पितामह की सुरक्षा में मेरे पुत्रों ने प्रमाद तो नहीं किया और पाण्डु पुत्रों ने उन्हें मारने में छल का आश्रय तो नहीं लिया। बिना प्रमाद एवं छल के आश्रय के अपराजेय इच्छामृत्यु सम्पन्न भीष्म पितामह का पतन कैसे सम्भव है?

तब संजय आगे बतायेगा आपके पुत्रों ने भीष्म पितामह की रक्षा में कोई प्रमाद नहीं किया। भीष्म पितामह का पतन कौरवों के अधर्माचरण के कारण हुआ क्योंकि सैन्य शक्ति में सबल एवं अपराजेय होने के बावजूद भी उनका पतन कौरवों के अधर्म का आश्रय लेने के कारण हुआ है और यह तथ्य स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण भी अपने विराट रूप दर्शन में दर्शायेंगे कि कौरव सेनापति अधर्म का आश्रय लेने के कारण स्वयं मृत्यु मुख में समाते जा रहे हैं। संजय ने बार-बार धृतराष्ट्र को सावधान किया था आपकी टक्कर दर-दर भटकने वाले पाण्डवों से नहीं है वरन् साक्षात् धर्म से, स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण से है। और भगवान् श्रीकृष्ण पर आप कभी भी किसी भी प्रकार (साम, दाम, दण्ड और भेद) से विजय नहीं प्राप्त कर सकते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण अनेकों बार यह स्पष्ट घोषणा कर चुके हैं जो पाण्डवों के मित्र हैं वे मेरे मित्र हैं और जो पाण्डवों के शत्रु हैं वह मेरे शत्रु हैं। पर 'विनाश काले विपरीत बुद्धि'! विनाश काल में बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है। अतः विवेक का उदय नहीं हुआ।

धृतराष्ट्र और दुर्योधन, दोनों भयभीत हैं फिर भी सत्य से समझौता करने को तैयार नहीं है। पाण्डव भयभीत नहीं हैं। वे अपना वैध उत्तराधिकार त्याग कर केवल जीवन निर्वाह के लिए पांच भाई पांच गांव पर भी समझौता करने को तैयार हैं। ब्राह्मण न होने से भिक्षाटन कर नहीं सकते, वैश्य न होने से कृषि, व्यापार-वाणिज्य नहीं कर सकते। शूद्र न होने से सेवा नहीं कर सकते। इसलिए जीविका के लिए मात्र पांच गांव चाहे। आपातकाल में आपात धर्म की स्थिति होती है। पर अब सामान्य काल है जिसमें सामान्य धर्म वर्ण एवं आश्रमोचित धर्म पालन ही कर्तव्य है।

धृतराष्ट्र प्रारम्भ में भी विषाद ग्रस्त, मध्य में भी विषाद ग्रस्त और अन्त में भी विषाद ग्रस्त। धृतराष्ट्र तमोगुणी विषादी है। जो असम्भव कामना को लेकर चलते हैं अपनी अन्तर्योग्यता को न देखते हुए, उनकी यही दशा होती है।

धृतराष्ट्र की जिज्ञासा पर कि मेरे पुत्रों ने क्या किया? इस प्रथम प्रश्न की दृष्टि से संजय ने पहले अध्याय के दूसरे श्लोक से लेकर 13 श्लोक तक उत्तर

दिया। और द्वितीय प्रश्न पाण्डवों ने क्या किया? इस प्रश्न के उत्तर में पहले अध्याय के 14वें श्लोक से लेकर सम्पूर्ण गीता समाप्ति पर्यन्त उत्तर दिया।

पुत्र मोह में आसक्त धृतराष्ट्र की जिज्ञासा को सामने रखते हुए गीता, परिवार मोह की एक ऐसी समस्या के साथ आरम्भ होती है जो अनादिकाल से, सम्राटों से लेकर सामान्यजन तक, नैतिक दुर्बलता का सामान्य हेतु रही है। गीता का प्रारम्भ बिन्दु है कौरव सम्राट धृतराष्ट्र के भीतर बैठे एक आदमी की समस्या, बाल-बच्चों की फिक्र, उनके कुशलक्षेम की चिन्ता और उससे जुड़े नैतिकता के सवाल। धृतराष्ट्र की समस्या आज के हर व्यक्ति की समस्या है, जो अपने बच्चों को स्कूल में दाखिला दिलाने से लेकर पास करवाने तक, फिर नौकरी या कोई धंधा करवाने, शादी करवाने तक कोई कसर बाकी नहीं छोड़ता। सारे मानदंडों को ताक पर रखकर राजनीति से अपने परिवार की बेल सींचता हर नेता, हर घूसखोर अफसर, हर कालाबाजारी करने वाला व्यापारी यही कहता मिलेगा—'क्या करें, बाल बच्चों के लिए सब करना पड़ता है।' मानो बच्चा पैदा करके समाज, राष्ट्र और भगवान् पर एहसान किया हो और बदले में मनमानी करने का लाइसेंस पा लिये हों! बड़े से बड़ा राजनेता हो या संत-महात्मा परिवार की बात आती है तो नैतिक रूप से बहुत असहाय व बहुत दुर्बल हो जाते हैं। धृतराष्ट्र इस दुर्बलता का मूर्तिमान रूप है।

धृतराष्ट्र के व्यक्तित्व के दो बिन्दु हैं वह कुरुक्षेत्र के राजा ही नहीं अपितु कुरु कुल के अधिपति भी हैं। अतः कुल रक्षा करना उनका स्वधर्म है। इसलिए कभी-कभी पाण्डवों के प्रति प्रेम जागृत भी होता है पर वह क्षणिक आवेग ही सिद्ध होता है क्योंकि उनका प्रबल पुत्र मोह उसको कार्यकारी होने के बजाय तत्काल दबा देता है। यह स्व-पर का अनुचित विभेद ही महाभारत युद्ध और गीतोपदेश, दोनों का ही निमित्त बनता है। धृतराष्ट्र में एक अच्छी बात थी। उन्होंने संजय और विदुर को अपने से अलग नहीं किया। उनकी बात अच्छी लगे-न-लगे सुनते रहे। और वेद व्यासजी ने भी विदुर और संजय को धृतराष्ट्र के साथ लगाये रखा। कभी-न-कभी तो उनके सदुपदेश से वैराग्य जागेगा? और सतपथ पर चलकर अपना कल्याण साधित कर लेगा। और हुआ भी यही।

बहुत से साधक बचपन में भगवद् भजन के लिए घर-बार त्याग कर निकल पड़ते हैं। पर उनमें से बहुत फिसल जाते हैं, चूक जाते हैं। बहुत से साधक युवावस्था में साधना-भजन के लिए निकलते हैं पर उनमें भी बहुत से अन्त में चूक जाते हैं। राजा भरत अपना चक्रवर्ती साम्राज्य छोड़कर तप के लिए गया पर हिरणशावक के मोह में फंस कर तप से भ्रष्ट हो गया।

पर बहुत से साधक जीवनभर तो कुछ नहीं करते पर अन्त समय के पूर्व, महापुरुषों के अनुग्रह से मानव जीवन के लक्ष्य को प्राप्त कर लेते हैं। वेद व्यास

ने संजय एवं विदुर को धृतराष्ट्र के पीछे लगाकर रखा इसे सतपथ का उपदेश देते रहो ताकि कभी तो वैराग्य जागेगा एवं साधना पथ पर चलेगा। इसका परिणाम हुआ राजा युधिष्ठिर के राज्याभिषेक के 15 वर्ष के पश्चात् धृतराष्ट्र में भी वैराग्य जागा। कुछ भीम के ताने से कुछ विदुर के उपदेश से। और वन का रास्ता लिया साधना-भजन के लिए। तब साथ में कुन्ती भी चली सेवा के लिए। कुन्ती का कितना उदात्त चरित्र! जिनके कारण जीवनभर कष्ट उन्हीं की सेवा में कुन्ती भी गयी। युधिष्ठिर के मनाने एवं उलाहना देने पर कि तब हमें युद्ध का आदेश क्यों दिया। तब कुन्ती ने बड़े शान्त चित्त से कहा, उस समय मेरा वही कर्तव्य था और आज मेरा अंधे जेठ-जेठानी की सेवा करना कर्तव्य है और यह सेवा दास-दासियां यथोचित रीति से नहीं कर सकती। और अंत में धृतराष्ट्र जीवन की बाजी में सफल हो गये। यह सूचना नारद ने युधिष्ठिर महाराज को दी। तो युधिष्ठिर महाराज को आगे कर सारा हस्तिनापुर धृतराष्ट्र के दर्शन के लिए चल पड़ा।

उस समय वेद व्यासजी ने धृतराष्ट्र से पूछा कि तुम्हारा मन भगवत् भजन में लगता तो है न? तब धृतराष्ट्र ने अपने मन की व्यथा कही जिसके सौ के सौ पुत्र ही मारे गये हों, पुत्रवधुएं बिलखती हैं उसका मन कैसे भगवत् चिन्तन में स्थिर हो सकता है?

गांधारी से पूछने पर उसने भी अपने मन का यही कष्ट बताया। धृतराष्ट्र की पुत्रवधुओं ने भी अपनी युवावस्था में असमय ही पतिदेवों की मृत्यु का दुखड़ा रोया।

द्रौपदी के अपने पुत्र भी युद्ध में अजेय सिद्ध हुए पर धोखे से सोयी हुई अवस्था में मारे जाने का दुःख बताया।

वैसे ही सुभद्रा की पुत्रवधू उत्तरा को भी मात्र सात मास ही अभिमन्यु का साथ प्राप्त हुआ और वे छलपूर्वक अनीति से मारे गये।

तब वेद व्यासजी ने अनुग्रह करके सभी का शोक दूर करने के लिए सभी सगे-सम्बन्धियों को रात्रि को अवगाहन किया ताकि परस्पर का कुशल समाचार जानकर मन के संताप को दूर कर सकें। वेद व्यासजी ने मंत्र शक्ति के प्रभाव से सभी को अपने-अपने धाम से बुलाया। दुर्योधन सबसे प्रथम प्रसन्नवदन भीम से आलिङ्गन करना चाहा पर भीम उससे नहीं मिलना चाहता था क्योंकि सारे कुल के नाश, महाभारत के मूल में वही था। तब बार-बार दुर्योधन के बताने पर कि मैंने युद्ध में कभी पीठ नहीं दिखायी, वीर गति को प्राप्त हुआ और मैं कलि का अवतार था, जो मुझे भूमिका दी गयी उसे ही तो पूरा करूंगा? तब भीम का क्रोध शान्त हुआ और सभी रातभर प्रेम से मिलते रहे। सभी कुशल एवं उत्तम-उत्तम धामों में हैं जानकर सभी का शोक निवारण हो गया। गांधारी को भी वेद व्यास ने दिव्य दृष्टि

प्रदान की ताकि वह पतिव्रत भङ्ग न करते हुए भी अपने पुत्रों को देख सके। फिर सुबह होते ही वेद व्यासजी की आज्ञा से सभी अपने-अपने धाम लौट गये। वेद व्यासजी ने सभी कुलवधुओं को कहा जो भी अपने पति के धाम में जाना चाहे वो गंगा में डुबकी लगावे तो उनका यह पार्थिव शरीर सहज ही छूट जायेगा और दिव्य शरीर प्राप्त कर अपने-अपने पति के धाम में चली जायेंगी।

तीन वर्ष वन में धृतराष्ट्र रहे। ज्योतिषियों से धृतराष्ट्र का अन्तिम समय जानकर अग्निहोत्री ब्राह्मणों को युधिष्ठिर महाराज ने भेजा, वहां धृतराष्ट्र ने मानस संन्यास ले लिया और अग्निहोत्र की अग्नि से वन में आग लगने से कुन्ती, गांधारी सहित धृतराष्ट्र उसमें समाप्त हो गये।

कहने का तात्पर्य यह है कि हमें किसी-न-किसी जीवित महापुरुष की शरण लेनी चाहिये। उनके अनुग्रह से अन्त समय में भी हमारा कल्याण हो जायेगा।

पर बहुत से साधक मृत गुरुओं, महापुरुषों को अपना गुरु मान लेते हैं और बहुत से किसी गुरु का आश्रय नहीं लेते। परिणाम यह होता है कि यदि वे भूल पथ पर चलें या अटक जायें, फिसल जायें तो उसे सावधान करने वाला कोई नहीं रहता। यही कारण है कि राजा भरत की साधना दो जन्मों के लिए पिछड़ गयी। यदि उन्होंने किसी गुरु का आश्रय लिया होता तो जब उन्होंने हिरण शावक के प्रति कर्तव्य के स्थान पर मोह पाल लिया तो कोई उन्हें भूल बताने वाला या उसे दूर करने वाला भी होता।

और बहुत से साधक जो गत हो गये उनको अपना गुरु मान लेते हैं जैसे कोई तुलसीदास को, कोई रामकृष्ण-परमहंसजी को। पर ये भी उतने ही दुर्लभ हैं जितना कि भगवान्। गुरु के जीवन्त स्पर्श व प्रेरणा से वंचित रह जाते हैं। वास्तव में ऐसे साधकों का अहम् इतना प्रबल रहता है कि वे किसी जीवित गुरु के चरणों में अपना सिर नवा नहीं पाते।

अतः हमें अपने लक्ष्य पर पहुंचना है तो किसी योग्य गुरु का आश्रय लेना चाहिये। धृतराष्ट्र को विदुर एवं संजय का उपदेश अक्सर अच्छा नहीं लगता था, फिर भी इन दोनों का कभी त्याग नहीं किया परिणामस्वरूप अन्त समय में अपना जीवन सुधार लिया। और मोक्ष को प्राप्त हुए। वैसे ही हमें भी गुरु के वचन अच्छे नहीं लगें तब भी उसकी शरण नहीं त्यागनी चाहिये। तब हमारा भी कभी-न-कभी महापुरुषों के अनुग्रह से कल्याण हो जायेगा।

धृतराष्ट्र की पत्नी गांधारी है। गन्धार देश की रहने वाली है। इसलिए गांधारी है। वहां गन्धर्व लोग रहते थे इसलिए उसका नाम गन्धार हुआ, जिसे आज अफगानिस्तान कहते हैं। गांधारी आंखों वाली थी। सती नारी थी पर धर्माभास का

शिकार होकर आंखों पर पट्टी बांधकर अंधी हो जाती है। पति-पत्नी एक-दूसरे के पूरक, एक-दूसरे के सहयोगी होते हैं। पति के शरीर में कोई न्यूनता है तो वह अपने ऊपर ओढ़ लेवे यह कहां की बुद्धिमानी है? पति लंगड़ा है तो पत्नी भी लंगड़ी हो जाये, पति बहरा हो तो पत्नी भी बहरी हो जाये। गांधारी को धृतराष्ट्र की आंख बनना चाहिये था। गांधारी भी धृतराष्ट्र की तरह कुण्ठा से ग्रस्त है। गांधारी गर्भवती थी। पर जब उसे युधिष्ठिर के जन्म का समाचार मिला, युधिष्ठिर भी कुरु वंश के थे। युधिष्ठिर की जन्म की बात सुनकर गांधारी क्रोध और ईर्ष्या की आग से तिलमिला उठी और गुस्से में अपने पेट पर मुक्के से इतने प्रहार किये कि गर्भपात हो गया। गर्भ में शिशु न होकर केवल मांस पिण्ड था। उसी समय वेद व्यासजी का आना हुआ और उन्होंने मांस पिण्ड को उठाकर 101 भागों में विभक्त करके औषधियों के साथ अलग-अलग घड़े में डाल दिया क्योंकि उन्होंने पूर्व में गांधारी को 100 पुत्रों की मां होने का वरदान दिया था। निर्धारित प्रक्रिया के बाद 100 कौरव भाइयों तथा उनकी एक बहिन का जन्म उन्हीं मिट्टी के घड़ों से हुआ था। कौरवों की उत्पत्ति के मूल में गांधारी एवं धृतराष्ट्र की ईर्ष्या और क्रोध था। अतः वे वैसे ही स्वभाव के हुए। जब माता-पिता दोनों ही अंधे हों (सब दृष्टि से) तो बच्चों को कौन सम्हाले, कौन निर्माण करे उनको भी अंधे होने से, गलत करने से कौन रोके। तभी महाभारत जैसा युद्ध होता है।

वस्तुतः, अन्धे का साथी भी अन्धा होने के लिए विवश हो जाता है। गांधारी पतिव्रता होने के कारण पतिदेव धृतराष्ट्र की सम्मति के बहुत प्रतिकूल जाना नहीं चाहती थी और पुत्र मोह के कारण पुत्रों के विरुद्ध भी नहीं जा पाती। पुत्रों के मोह और पति के अनुकूल रहने के यत्न से स्त्रियों के अन्दर इस प्रकार की कमजोरी आती ही है। वे सहसा अपनी इच्छा को प्रबल करना नहीं चाहती इसलिए आंखें होते हुए भी उसे अन्धा बनना ही पड़ता है। गांधारी की भी यही स्थिति है वह अपने पुत्रों की काली करतूतों को देखना नहीं चाहती। जब द्रौपदी का चीरहरण हो रहा है भरी सभा में, चीत्कार कर रही है। वहां की चीत्कार, उसकी आवाज द्वारिका के श्रीकृष्ण सुन रहे हैं। और उसकी सभा में एक किनारे में उसकी आवाज गांधारी नहीं सुनती? सारी की सारी सभा में शोर मच गया। सारे हस्तिनापुर में शोर मच गया। दुनिया रो उठी है। गांधारी वहां है। वह कड़क कर आ जाती राज्यसभा में। खबरदार! मेरी आंख के सामने मेरे जीते-जी, अपनी पुत्रवधू का अपमान कभी नहीं होने दूंगी। मैं आत्महत्या कर लूंगी यदि ऐसा कुछ हुआ। मैं सब पुत्रों को पुत्र नहीं मानूंगी। मेरा राज कार्य से कोई सम्बन्ध नहीं है। मैं बीच में खड़ी हो जाऊंगी, मैं उसको बचाऊंगी। गांधारी भी पुत्र के मोह में अंधी थी। वह बीच में तब आती है जब भगवान् श्रीकृष्ण के द्वारा उसके लाज की रक्षा होती है। अब कहीं द्रौपदी

उनके पुत्रों को अभिशाप न दे देवें, उस समय बीच-बचाव के लिए आती है धृतराष्ट्र के पास। उसके पूर्व नहीं।

दुर्योधन को विजयश्री का आशीर्वाद न देकर 'जहां धर्म वहीं विजय' की बात कहती है पर इस पर दृढ़ नहीं रह पाती और युद्ध के मूल कारण दुर्योधन के शरीर को अपनी तप शक्ति का दुरुपयोग कर वज्र का बना देती है। गांधारी मोहांध माता है। वह अपने घोर पापकर्मी बेटों को मोहांध होने के कारण कोई शाप नहीं देती किन्तु धर्मात्मा पांडुओं का मार्गदर्शन करने वाले भगवान् श्रीकृष्ण को शाप दे बैठती है।

भगवान् गांधारी के पुत्रमोह का नग्न चित्र प्रस्तुत करने हेतु एक अनोखी लीला रचते हैं। गांधारी अपने सौ बेटों के मृत शव को लेकर विलाप कर रही है। एक-एक रुंड एवं मुण्ड को लेकर विलाप कर रही है। एक-एक रुंड एवं मुण्ड को हृदय से लगाकर करुणाजनक विलाप करती हुई कहती है—हे बेटे! मैं तुम पर सौ-सौ प्राण निछावर कर दूं। अचानक श्मशान भूमि में चारों ओर भयानक मरुभूमि का दृश्य बन जाता है। दूर-दूर तक कोई वृक्ष अथवा जलाशय नहीं है। गांधारी भूख-प्यास से तड़पने लगती है। बहुत दूर एक बेर का वृक्ष दिखाई देता है। वह बेर तोड़ने के लिए हाथ बढ़ाती है तो डाली कुछ अंगुल ऊपर रह जाती है। जंगल में ऊपर उठने के लिए और कोई दूसरा साधन न होने पर वह अपने एक बेटे की लाश खींच कर लाती है और उस पर चढ़कर बेर लेने का प्रयास करती है किन्तु टहनी पुनः कुछ अंगुल ऊपर रह जाती है। गांधारी दूसरे बेटे के शव को ऊपर रखती है। फिर भी टहनी कुछ ऊपर ही रह जाती है। इस प्रकार सौ बेटों के शव को रखकर जब वह बेर की टहनी पकड़ने लगती है तब भगवान् श्रीकृष्ण उसका हाथ पकड़ लेते हैं और पूछते हैं क्या यही बेटे तुम्हें प्राणों से अधिक प्यारे थे! तुम्हारा पेट का मोह बेटों के मोह से कहीं अधिक बढ़कर है। इस पर गांधारी बहुत लज्जित हुई।

माता-पिता के भाव, संकल्प, आचार-विचार, व्यवहार, कुण्ठा का प्रभाव पुत्र-पुत्रियों पर पड़ता है जो दुर्योधनादि के जीवन से स्पष्ट है।

दूसरा पट

सञ्जय उवाच

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं, व्यूढं दुर्योधनस्-तदा।
आचार्य-मुप-सङ्गम्य, राजा वचनमब्रवीत्।। 1/2

संजय बोले—और पाण्डवों की व्यूह बनाकर खड़ी हुई सेना को देखकर तब राजा दुर्योधन आचार्य (द्रोण) के पास जाकर (यह) वचन बोला।

(सम्बन्ध—दुर्योधन ने द्रोणाचार्य को जो बोला, उसे संजय धृतराष्ट्र को सुनाता है।)

पश्यैतां पाण्डु-पुत्राणा,-माचार्य महतीं चमूम्।
व्यूढां द्रुपद-पुत्रेण, तव शिष्येण धीमता।। 1/3

हे आचार्य! पाण्डु के पुत्रों की इस विशाल सेना को आप देखिये, जो कि आपके बुद्धिमान् शिष्य द्रुपद–पुत्र (धृष्टद्युम्न) द्वारा व्यूह बनाकर खड़ी की गयी है।

अत्र शूरा महेष्वासा, भीमार्जुन-समा युधि।
युयुधानो विराटश्-च, द्रुपदश्-च महारथः।।
धृष्टकेतुश्-चेकितानः काशिराजश्-च वीर्यवान्।
पुरुजित्-कुन्तिभोजश्-च, शैब्यश्-च नरपुङ्गवः।।
युधामन्युश्-च विक्रान्त, उत्तमौजाश्-च वीर्यवान्।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्-च, सर्व एव महारथाः।। 1/4-6

इस सेना में विशाल धनुष धारण करने वाले शूरवीर युयुधान, विराट और महारथी द्रुपद हैं, जो युद्ध करने में भीम-अर्जुन के समान हैं। धृष्टकेतु, चेकितान, अतिपराक्रमी काशी-नरेश, पुरुजित्, कुन्तिभोज, मनुष्यों में श्रेष्ठ शैब्य, पराक्रमी युधामन्यु, बलशाली उत्तमौजा, सुभद्रा–पुत्र (अभिमन्यु) और द्रौपदी के (पांचों) पुत्र, ये सभी महारथी हैं।

अस्माकं तु विशिष्टा ये, तान्-निबोध द्विजोत्तम।
नायका मम सैन्यस्य, सञ्ज्ञार्थं तान् ब्रवीमि ते।। 1/7

हे ब्राह्मणों में श्रेष्ठ (द्रोणाचार्य)! अब हमारी सेना के जो विशिष्ट (योद्धा) हैं, उनको आप जानिए। अपनी सेना के नायकों के नाम मात्र मैं आपको कहता हूं।

भवान्-भीष्मश्-च कर्णश्-च, कृपश्-च समितिञ्जयः।
अश्वत्थामा विकर्णश्-च, सौमदत्तिस्-तथैव च।।
अन्ये च बहवः शूरा, मदर्थे त्यक्त-जीविताः।
नाना-शस्त्र-प्रहरणाः, सर्वे युद्ध-विशारदाः।। 1/8-9

आप स्वयं, भीष्म, कर्ण, युद्ध-विजयी कृपाचार्य, अश्वत्थामा, विकर्ण और वैसे ही सौमदत्ति हैं। (इनके अलावा) और भी बहुत से शूरवीर हैं जो मेरे लिए जीवन को समर्पित किये हुए हैं, नाना प्रकार के शस्त्रों को चलाने वाले हैं और सब के सब युद्ध में प्रवीण हैं।

अपर्याप्तं तदस्माकं, बलं भीष्माभि-रक्षितम्।
पर्याप्तं त्विद-मेतेषां, बलं भीमाभि-रक्षितम्।। 1/10

पहला अन्वयार्थ—भीष्म द्वारा रक्षित हमारी वह सेना अपरिमित है, किन्तु भीम द्वारा रक्षित इनकी यह सेना परिमित है।

दूसरा अन्वयार्थ—भीष्म द्वारा रक्षित हमारी वह सेना अपर्याप्त है, किन्तु भीम द्वारा रक्षित इनकी यह सेना पर्याप्त है।

अयनेषु च सर्वेषु, यथा-भाग-मवस्थिताः।
भीष्म-मेवाभि-रक्षन्तु, भवन्तः सर्व एव हि।। 1/11

(अतः) आप सब ओर से जिस-जिस स्थान पर स्थित हैं, (वैसे स्थित रहते हुए) सब के सब ही निश्चय करके भीष्म की ही अच्छी तरह से रक्षा करें।

तस्य सञ्जनयन् हर्षं, कुरु-वृद्धः पितामहः।
सिंहनादं विनद्योच्चैः, शङ्खं दध्मौ प्रतापवान्।। 1/12

उसके (दुर्योधन के) हर्ष को उत्पन्न करने के लिए कुरुओं के वृद्ध पितामह (भीष्म) ने सिंह की गर्जना के समान ऊँचा, गरज कर शंख बजाया।

ततः शङ्खाश्-च भेर्यश्-च, पणवानक-गोमुखाः।
सहसैवाभ्य-हन्यन्त, स शब्दस्-तुमुलोऽभवत्।। 1/13

इसके बाद शंख, नगाड़े, ढोल, मृदंग और नरसिंहे (रणसिंहे आदि बाजे) एक साथ ही बज उठे और वह ध्वनि बहुत प्रचण्ड हुई।

ततः श्वेतैर्-हयैर्-युक्ते, महति स्यन्दने स्थितौ।
माधवः पाण्डवश्-चैव, दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः।। 1/14

फिर श्वेत घोड़ों से युक्त विशाल रथ में विराजमान श्रीकृष्ण (माधव) और पाण्डव (अर्जुन) ने भी (अपने-अपने) दिव्य शंख बजाये।

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो, देवदत्तं धनञ्जयः।
पौण्ड्रं दध्मौ महा-शङ्खं, भीमकर्मा वृकोदरः।। 1/15

हृषीकेश (श्रीकृष्ण) ने 'पाञ्चजन्य' और धनञ्जय (अर्जुन) ने 'देवदत्त' और बड़े-बड़े अति कठिन कर्म करने वाले वृकोदर (भीम) ने पौण्ड्र नामक महान् शंख बजाया।

अनन्त-विजयं राजा, कुन्ती-पुत्रो युधिष्ठिरः।
नकुलः सहदेवश्-च, सुघोष-मणिपुष्पकौ।। 1/16

कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिर ने 'अनन्तविजय', नकुल ने 'सुघोष' तथा सहदेव ने 'मणिपुष्पक' नामक शंख (बजाये)।

काश्यश्-च परमेष्वासः, शिखण्डी च महारथः।
धृष्टद्युम्नो विराटश्-च, सात्यकिश्-चापराजितः।।

द्रुपदो द्रौपदेयाश्-च, सर्वशः पृथिवी-पते।
सौभद्रश्-च महाबाहुः, शङ्खान्-दध्मुः पृथक्-पृथक्।। 1/17,18

हे पृथ्वी-पति (धृतराष्ट्र)! उत्तम-धनुषधारी (काशिराज), महारथी शिखण्डी, धृष्टद्युम्न, विराट, अजेय सात्यकि, द्रुपद, द्रौपदी के (पांच) पुत्र और दीर्घ भुजाओं वाला सुभद्रा का पुत्र; इन सभी ने अलग-अलग (अपने-अपने) शंख बजाये।

स घोषो धार्तराष्ट्राणां, हृदयानि व्यदारयत्।
नभश्-च पृथिवीं चैव, तुमुलो व्यनु-नादयन्।। 1/19

(शंखों के बजने से उत्पन्न हुई) उस अतितीव्र घोर ध्वनि ने आकाश और पृथ्वी को भी निनादित करते हुए धार्तराष्ट्रों (यानी धृतराष्ट्र के पुत्रों) के हृदयों को विदीर्ण कर दिया।

अब गीता का दूसरा पट खुलता है। इसमें दो प्रकार के विषादों का चित्रण है। चूंकि धृतराष्ट्र ने जिज्ञासा की है कि मेरे पुत्रों ने क्या किया? इसके उत्तर में संजय ने दूसरे श्लोक से 13वें श्लोक पर्यन्त उत्तर दिया है। धृतराष्ट्र पक्ष का नेता दुर्योधन है जो कि 'राजावचनमब्रवीत' इस कथन से भी स्पष्ट है। अतः संजय दुर्योधन एवं उनके सेनापतियों की गतिविधि का चित्रण करता है। यहां हम स्वयं दुर्योधन को विषादग्रस्त पाते हैं तथा उसके अन्न पर पलने वाले सेनापतियों एवं सेना की दुर्दशा का चित्रण है। दुर्योधन के विषादग्रस्त होने का कारण निम्न है—

(1) दुर्योधन जानता है कि मेरा पक्ष अधर्म का है। जानामि धर्म... क्योंकि उसका जन्म भारत में हुआ है। अतः धर्म के संस्कार गुप्त, सुप्त, अचेतन रूप से उसमें विद्यमान है। तभी तो जानामि धर्म...कहता है।

(2) वह अपने सेनापतियों के वैमनस्य को भी जानता है। दुर्योधन को जिस कर्ण पर सर्वाधिक भरोसा है वह भीष्म पितामह के सेनापति पद पर रहने तक युद्ध नहीं करेगा।

(3) वह यह भी जानता है कि भीष्म पितामह शिखण्डी पर वार नहीं करेंगे। इसका लाभ शिखण्डी न उठा ले, इस विषय में दुर्योधन सावधान है।

वह यह भी जानता है कि भीष्म पितामह, आचार्य द्रोण, कृपाचार्य, शल्य आदि सेनापति हृदय से पाण्डवों के पक्ष में है, उन्हें ही विजयश्री का आशीर्वाद भी देते हैं। फिर ये सेनापति व्यक्तिगत प्रतिज्ञा से बंधे हैं। भीष्म पितामह की प्रतिज्ञा है पांचों पाण्डव कौरवों के समान प्रिय हैं उन्हें नहीं मारूंगा। उसके 10 हजार सेना का प्रतिदिन वध करूंगा। शिखण्डी पर भी प्रहार नहीं करेंगे।

द्रोणाचार्य की प्रतिज्ञा है अश्वत्थामा की मृत्यु पर वे शस्त्र धारण नहीं करेंगे।

कर्ण की प्रतिज्ञा है अर्जुन के सिवा किसी पाण्डव को नहीं मारेगा।

शल्य की प्रतिज्ञा है वे नकुल-सहदेव को नहीं मारेगा।

ये सब व्यक्तिगत प्रतिज्ञा में बंधे हैं। उसे किसी भी स्थिति में छोड़ नहीं सकते।

पाण्डव भी व्यक्तिगत प्रतिज्ञाओं में बंधे हैं। पर वे देशहित-धर्म और भगवान् के आदेश पर अपनी प्रतिज्ञाओं को भूलकर मान-अपमान जीवनभर के त्रास को भूलकर संधि के लिए प्रस्तुत हैं।

फिर पाण्डवों की विशाल एवं अद्भुत व्यूहरचना देखकर विस्मित एवं भयभीत हो घबरा जाता है। और घबराकर आचार्य द्रोण के पास उपस्थित होता है। दोनों सेनाओं के बलाबल का चित्र खींचते हुए कहता है भीम द्वारा रक्षित पाण्डवों की सेना उसे पर्याप्त मालूम पड़ती है, पूर्ण मालूम पड़ती है ज़बकि भीष्म पितामह द्वारा रक्षित अपनी सेना अपर्याप्त यानी अपूर्ण मालूम पड़ती है।

वैसे तो दुर्योधन सदैव मानता है अपने पक्ष में कुशल, प्रशिक्षित 11 अक्षौहिणी सेना एवं श्रेष्ठ सेनापति होने से विजय उसी की होगी। अतः थोड़े से स्वराज्य प्राप्ति के लिए हलचल करने वाले पाण्डवों से घबराने की कोई आवश्यकता नहीं। इसके बावजूद भी उपरोक्त कारणों से भयभीत है।

फिर अनीति से भय होता है और भय में अटल पर्वत भी डगमगाते प्रतीत होते हैं। क्योंकि बलवान एवं स्वस्थ होते हुए भी अनीति के कारण मानसिक रूप से भयभीत होने लगता है। उदाहरणार्थ दारासिंह। पहले चोरी का धंधा करता था, अतः थोड़ी सी आवाज से डर कर भाग खड़ा होता था जो कुश्ती के मैदान में 10 पहलवानों को पटकनी देता था। इसके बावजूद भी वह अपनी झूठी महत्त्वाकांक्षा को छोड़कर सत्य के साथ सन्धि करने को तैयार नहीं है, वह अपनी महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए सारी पृथ्वी की सेनाओं को दावं पर लगा सकता है। महत्त्वाकांक्षी का भाव होता है कि सारा संसार उसका उपभोग्य है, सारा संसार केवल उसी की सेवा के लिए है। भगवान् भी हैं तो वे भी उसकी सेवा सुरक्षा के लिए हैं। उसकी आकांक्षा पूर्ति के लिए है। इसलिए वह कहता है जो सेना इकट्ठी हुई है वह सब मेरे लिए प्राण देने को प्रस्तुत है—'मदर्थे त्यक्तजीविताः' (1/9)

इसके विपरीत अर्जुन का भाव है जिनके लिए राज्यसुख की कामना करते हैं उन सबको मारकर मुझे विजय, विजय सम्भव राज्य और राज्य सम्भव सुख नहीं चाहिये। भले ही भिक्षाटन के द्वारा हमें जीवनयापन करना पड़े या मुझे राज्यसुख में सदैव के लिए कंटक जानकर मुझे मार भी डालें तो वह भी मेरे लिए श्रेयस्कर है।

गीता के सोलहवें अध्याय में जो दैवी सम्पदा एवं आसुरी सम्पदा का वर्णन किया गया है वह पूर्णतया दोनों पक्षों में चरितार्थ है। वहां उदाहरण नहीं दिया गया

है। उदाहरण पहले अध्याय में दिया गया है। दुर्योधन भयभीत होने के बाद भी झूठी महत्त्वाकांक्षा छोड़कर सत्य के साथ समझौता करने को तैयार नहीं है।

अतः दुर्योधन भयभीत होने के बावजूद भी अपनी महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए आचार्य द्रोण के पास पहुंचकर उनको उत्तेजित करने का प्रयास करता है। अपने प्रति कृपा का भाव एवं पाण्डवों के प्रति रोष जागृत करना चाहता है। आपके कुशल शिष्य द्रुपद पुत्र (धृष्टद्युम्न) ने कैसी कुशल व्यूह रचना की है। यहां दुर्योधन द्रुपद पुत्र कहकर द्रुपद के प्रति पुराने वैरभाव को जागृत करना चाहता है न कि धृष्टद्युम्न कहकर भयभीत करना क्योंकि वह उनकी मृत्यु का निमित्त बनेगा, वर के परिणामस्वरूप। वह यह उलाहना भी देना चाहता है कि आप कितने भोले हैं कि यह जानकर कि वह मेरी साक्षात् मौत है, शत्रु है। आपने उसे युद्ध विद्या में प्रवीण किया है उसी ने ऐसी कुशल व्यूह की रचना की है।

पर दुर्योधन अपने उद्देश्य में असफल रहता है क्योंकि आचार्य द्रोण मौन एवं उदासीन बने रहते हैं क्योंकि वे भी दुःखी हैं। इसके कई कारण हैं—द्रुपद और द्रोण एक ही गुरुकुल में पढ़ते थे। दोनों में घनिष्ठ मित्रता थी। मित्र मित्र को कहता ही है जो मेरा है वह तेरा ही है। द्रुपद राजपुत्र था। द्रुपद कहा करता था मैं जब राजा बनूंगा तब आधा राज्य तेरा रहेगा। द्रोणाचार्य घोर दरिद्रावस्था में थे। अपने पुत्र अश्वत्थामा के लिए दूध की भी व्यवस्था नहीं कर पाये। पति-पत्नी विवाह के पूर्वजीवन के संगी-साथियों के विषय में एक-दूसरे को बताते ही हैं। अक्सर द्रोणाचार्य अपने मित्र द्रुपद के विषय में अपनी पत्नी कृपी को बताते रहते थे। अब वह राजा भी बन गया यह दोनों को अवगत है। अतः कृपी उससे सहायता के लिए उसके पास जाने के लिए प्रेरित करती है। तब वे उससे मिलने जाते हैं, पर द्रुपद पहचानने और बात करने को भी तैयार नहीं है। फिर अपमानित कर दिया भरे दरबार में। अपमानित होकर वापस लौट आये। द्रोण अपमानित होकर ही हस्तिनापुर आते हैं। कौरव-पाण्डवों की गेंद कुएं में गिर गयी थी उसे कुशा से निकाल देते हैं। भीष्म पितामह को यह समाचार मिलता है। आचार्य द्रोण आये हैं, तो भीष्म पितामह ने पाण्डु और धृतराष्ट्र के पुत्रों को शिक्षा देने और शिष्य रूप में स्वीकारने का निवेदन किया। आचार्य द्रोण ने भगवान् परशुराम से अस्त्र-शस्त्र की शिक्षा पायी है। वे प्रथम ब्राह्मण थे जिन्होंने नौकरी स्वीकार की। अश्वत्थामा के दूध की व्यवस्था के लिए यह स्वीकार कर लिया और कौरवों और पाण्डवों को शिक्षा देने लगे। उनकी शिक्षा की समाप्ति पर गुरु दक्षिणा देने की परम्परा है। तब उन्होंने द्रुपद को बंदी बना कर लाने का आदेश दिया। अर्जुन द्रुपद को बंदी बना कर ले आता है। तब द्रोणाचार्य ने कहा अब तो राज्य मेरा है। तुमने मित्रता निभायी नहीं, पर मैं मित्रता निभाते हुए आधा राज्य तुम्हें दे रहा हूं। अब दोनों बराबर हो गये। अब तो मित्रता

पक्की! द्रुपद ऊपरी मन से कहता है मुझे और लज्जित मत करें, मुझे क्षमा करें। पर अन्दर वैर की गांठ बांध लेता है। उनको परास्त कर सके ऐसा पुत्र और अर्जुन को जामाता बना सके ऐसी पुत्री प्राप्त कर सके ऐसा यज्ञ करता है। धृष्टद्युम्न और द्रौपदी को प्राप्त करता है और इसकी जानकारी आचार्य द्रोण को है। द्रोण धृष्टद्युम्न को भी शिष्य रूप में अस्त्र-शस्त्र विद्या में पारंगत करते हैं। यह जानते हुए भी यह मेरी मृत्यु का निमित्त है। क्योंकि हमारे यहां पुत्र एवं शिष्य से पराजित होना गौरव माना गया है जिससे हमारी आने वाली पीढ़ी श्रेष्ठ सिद्ध हो और द्रुपद को भी भय नहीं हुआ उसके पुत्र को मृत्यु का निमित्त जानकर उसका गला दबा दें। आचार्य द्रोण स्वयं धृष्टद्युम्न को शिक्षा-दीक्षा के लिए बुला लेते हैं और द्रुपद भी निश्चिंत मन से आचार्य द्रोण को सौंप देता है।

एक बात यहां कहना अप्रासंगिक नहीं होगा कि कंस को अपने मृत्यु के निमित्त की जानकारी है और आचार्य द्रोण को भी। कंस उससे विचलित है और उससे बचने के लिए कितने निर्दोष शिशुओं का वध करवा दिया। और आचार्य द्रोण निश्चिंत ही नहीं अपने मृत्यु के निमित्त को स्वयं दीक्षित और शिक्षित करते हैं और वे निश्चिंत हैं क्योंकि वे जानते हैं जब मृत्यु को आना होगा वह आयेगी और उसमें निमित्त कौन बनेगा वह प्रभु की कृपा से मुझे पता है।

वे जानते हैं कि पाण्डवों का पक्ष धर्म एवं न्याय का है। इसलिए युधिष्ठिर महाराज को युद्ध के ठीक पूर्व विजयश्री का आशीर्वाद दिया और कहा अर्थ किसी का दास नहीं होता, मनुष्य अर्थ का दास होता है। हम जानते हैं जिसकी करे चाकरी उसकी बजानी पड़े हाजरी। जिसका अन्न खाते हैं उसके प्रति मन कृतज्ञ हो जाता है। कहावत भी है राजस्थान में जिसकी खावें बाजरी उसकी बजावें हाजरी। अन्न दोष के कारण कौरवों का साथ देना,पड़ रहा है। वस्तुतः पाण्डवों का पक्ष धर्म का है इसलिए सदैव वे कौरवों को पाण्डवों से सन्धि करने का परामर्श देते रहे और पाण्डवों को विजयश्री का आशीर्वाद भी। अब जब युद्ध आवश्यक हो गया है तब उन्हें भी चाहिये था श्रीकृष्ण एवं युयुत्सु के समान पाण्डवों का साथ देवें या विदुर एवं बलराम के समान युद्ध से विरत रहें। पर वे कौरवों का साथ देने के लिए विवश अनुभव करते हैं।

फिर आचार्य द्रोण वर्ण से ब्राह्मण हैं। अतः युद्ध की शिक्षा देना तो उनका कर्तव्य है पर युद्ध करना कर्तव्य नहीं। और वह भी अधर्म के पक्ष में।

एक तो होता है ज्ञानी जिनके ज्ञान और आचरण में, कथनी और करनी में कोई अन्तर नहीं होता। और एक होता है ज्ञान बंधु—जिनको जानकारी तो बहुत है पर आचरण में नहीं उतारता। केवल Ideal brain। केवल कथनी, करनी में शून्य है। ऐसे को शास्त्र ने ज्ञानबंधु कहा है। और एक होता है ज्ञान पापी—

जिनको ज्ञान तो बहुत है पर करते हैं उसके विपरीत। विश्लेषण करने पर भीष्म पितामह एवं आचार्य द्रोण की स्थिति यही ठहरती है। इसलिए आचार्य द्रोण दुःखी हैं। फिर भीष्म एवं द्रोण जैसों का यह कहना अर्थ का मनुष्य दास होता है शोभा नहीं देता। फिर आचार्य द्रोण ने तो सेवा बहुत दी है उसकी तुलना में पाया बहुत कम है और भीष्म पिता तो स्वयं ही राज्य के वैध उत्तराधिकारी थे। उन्हीं के संरक्षण में धृतराष्ट्र शासन कर रहा है। जिसने उन्हें प्रतिज्ञा में आबद्ध किया था। उन्होंने ही कालान्तर में मुक्त कर दिया पर जब वे एक बार प्रतिज्ञा कर चुके तो किसी भी स्थिति में उससे मुख नहीं मोड़ सकते। भीष्म पितामह ने केवल निःस्वार्थ सेवा ही सेवा दी है। पाया कुछ भी नहीं क्योंकि उनका तो अपना व्यक्तिगत परिवार तक नहीं है। अतः मनुष्य अर्थ का दास होता है, यह आचार्य द्रोण एवं भीष्म के साथ ठीक नहीं बैठता। व्यक्तिगत प्रतिज्ञाओं में तो पाण्डव भी बंधे हैं पर वे धर्म को, युधिष्ठिर महाराज को, माता कुन्ती को एवं भगवान् श्रीकृष्ण को, उससे अधिक महत्त्व देते हैं।

फिर अविवेकी-वफादारी, स्वामीभक्ति पशुओं में होती है यथा कुत्ता, घोड़ा आदि में। जो भी अन्न डालेगा उसी के पीछे दुम हिलायेंगे। सज्जन का कुत्ता सज्जन के प्रति, दुर्जन का कुत्ता दुर्जन के प्रति वफादार होता है। क्योंकि उनका विवेक का स्तर, नैतिकता का स्तर विकसित नहीं होता है। पर मानव के साथ तो यह बात नहीं है। उसके पास तो बौद्धिक चेतना, नैतिक चेतना दोनों है। और चाहे तो आध्यात्मिक चेतना को भी जागृत कर सकता है। बिल्ली रसोईघर में घुस दूध पी जायेगी तो उसे कोई दोष नहीं देगा पर यह बात मानव के साथ लागू नहीं है।

इन सब कारणों से, आचार्य द्रोण दुःखी हैं। इन बातों को दुर्योधन भी जानता है। उन्हें उदासीन एवं मौन देखकर और अधिक दुःखी न करने की भावना से कहता है कि भीष्म पितामह द्वारा रक्षित हमारी सेना आपके द्वारा रक्षित नहीं हुई तो पाण्डवों पर विजय प्राप्त करने में अपर्याप्त (असमर्थ) है और भीम के द्वारा रक्षित पाण्डव सेना हम पर विजय प्राप्त करने में पर्याप्त (समर्थ) है। कदाचित आपके द्वारा भीष्म की रक्षा में पूर्ण सावधानी बरती गयी तो निस्सन्देह हमारा बल भीम द्वारा रक्षित पाण्डव सैन्य पर विजय प्राप्त करने में पर्याप्त है। अब तो कृपाचार्य, अश्वत्थामा आदि अपने-अपने अनुयायियों सहित अपने-अपने स्थान पर स्थित रहते हुए आप कृपा करके भीष्म की रक्षा करने का भरसक प्रयत्न करें। दुर्योधन के इस कथन के बाद भी आचार्य द्रोण ने कोई उत्साह नहीं दिखांया, मौन बने रहे।

ध्यान रहे राजा धृतराष्ट्र को संजय ने दुर्योधन की गतिविधि का परिचय देकर आश्वस्त किया कि दुर्योधन ने अपनी ओर से भीष्म की रक्षा में कोई कोर-

कसर नहीं रखी। उन्होंने लोकनीति, राजनीति, शास्त्रनीति और साधुनीति चारों का आपाततः पालन किया। द्रोण के समीप स्वयं समुपस्थित होकर शिष्टाचार का पालन कर उसने लोकमत, शास्त्रमत और साधुमत का पालन किया। उभय पक्ष के बलाबल का चित्रण कर और शत्रु छोटा होने पर भी छोटा नहीं समझना इस प्रकार राजनीति का निर्वाह किया। द्रुपद और धृष्टद्युम्न आदि के प्रति कोप और अपने प्रति कृपा का भाव उद्दीप्त करने का प्रयास कर कूटनीति का एवं राजनीति का निर्वाह किया। परन्तु भगवान् श्रीकृष्ण और उनके भक्त स्वजन पाण्डवों से द्रोह कर तथा सती साध्वी द्रौपदी के शील का अपहरण कर दुर्योधन ने जिस अनर्थ को अभिमन्त्रित किया उसके फलस्वरूप वसुरूप भीष्म को उन्होंने अपने हाथ से खो दिया।

दुर्योधन आचार्य द्रोण से सांत्वना और प्रेरणा प्राप्त करने के लिए आया था, पर आचार्य द्रोण के मौन एवं उदासीन बने रहने के कारण वह निराश-सा हो रहा था। भीष्म पितामह इस स्थिति को भांपकर दुर्योधन और अधिक हताश निराश न होवे, उसके प्रति अपना नमक अदा करने के लिए, उसमें उत्साह संचार करने के लिए सिंह के समान गरजकर शंख वादन करते हैं। जब स्वयं दुर्योधन ही हताश-निराश है, उसमें उत्साह भरना पड़ रहा है तब उसके सेनापतियों एवं सेनाओं में कहां से उत्साह होगा। यह आगे शंख वादन की प्रक्रिया से भी स्पष्ट होगा।

भीष्म दुर्योधन में उत्साह भरने के लिए शंखवादन करते हैं। यह युद्ध का संकेत नहीं है। मात्र दुर्योधन में उत्साह भरने के लिए है। स्वयं भीष्म पितामह के प्रथम शंखवादन से लग सकता है मानो भीष्म पितामह भी युद्ध के समर्थक हैं, दुर्योधन से सहमति रखने वाले हैं, जबकि वे इस युद्ध के अन्त तक विरोधी रहे हैं।

क्योंकि भीष्म पितामह भी पाण्डवों में ही धर्म एवं न्याय को मानते हैं। इस दृष्टि से सदैव दुर्योधन को सन्धि का परामर्श देते रहे हैं। यही कारण है कि ठीक युद्ध के पूर्व युधिष्ठिर को विजयश्री का आशीर्वाद देते हैं और कालान्तर में स्वयं ही अपनी मृत्यु का रहस्य भी बतायेंगे।

इसके पश्चात् भी भीष्म पितामह व्यक्तिगत प्रतिज्ञा में बंधे हैं कि हस्तिनापुर के राजसिंहासन पर बैठे राजा की रक्षा करते रहेंगे। वे विवश हैं। वह राजा चाहे अधर्म पर क्यों न चल रहा हो। वे देश, धर्म की बलि देकर भी अपनी प्रतिज्ञा से दूर नहीं जाना चाहते। इस कारण वह दुःखी हैं, कुण्ठा से ग्रस्त हैं और इस प्रतिज्ञा का लाभ दुर्योधन उठाता रहा है और अब भी उठा रहा है। यद्यपि पाण्डव भी व्यक्तिगत प्रतिज्ञाओं में बंधे हैं, पर वे देश, धर्म एवं भगवान् श्रीकृष्ण को ज्यादा महत्त्व देते हैं। वे अपनी प्रतिज्ञाओं को भूलकर भी सन्धि करने को प्रस्तुत थे।

आचार्य द्रोण एवं भीष्म पितामह की तरह कृपाचार्य की स्थिति है। शल्य तो नकुल सहदेव के मामा हैं। वे पाण्डवों के पक्ष में युद्ध के लिए आ रहे थे। रास्ते में दुर्योधन की कपट नीति का शिकार हो गये फलतः दुर्योधन के पक्ष की ओर लड़ना पड़ रहा है।

कर्ण पाण्डवों का ज्येष्ठ भ्राता है, यह वह जानता है। वह यह भी जानता एवं मानता है पाण्डवों का पक्ष धर्म एवं न्याय का है और दुर्योधन की उसके प्रति मित्रता एवं प्रेम कोई उच्च भावना से प्रेरित न होकर पाण्डवों के विरुद्ध दुर्धर्ष योद्धा प्राप्त करने की भावना से है। पर वह भी आचार्य द्रोण आदि की तरह विवश है। वह दुर्योधन के प्रति कृतज्ञता के भाव से दबा हुआ है।

कर्ण श्रीकृष्ण भगवान् के सामने स्पष्ट स्वीकार करता है पाण्डवों का पक्ष धर्म और न्याय का है। मैं दुर्योधन की कृतज्ञता से बंधा हुआ हूं अतः मैं किसी भी परिस्थिति में छोड़ नहीं सकता। मैं विवश हूं। मुझे राज्य मिलेगा तो मैं कृतज्ञतावश दुर्योधन को ही सौंप दूंगा। तब आपका भू-भारहरण और धर्म राज्य की स्थापना का कार्य अधूरा रह जायेगा। अतः युद्ध को होने दें, रोकें नहीं। विजय पाण्डवों की ही होगी। आप जिधर हैं विजय उसी की होगी। क्षत्रिय वीर खाट पर पड़े-पड़े मरें यह उचित नहीं है। वे लड़ते हुए युद्ध मैदान में ही मरें। तभी भू-भारहरण और धर्म राज्य की स्थापना का कार्य जो आप चाहते हैं सम्पन्न होगा। मैं अर्जुन के अलावा किसी पाण्डव का वध नहीं करूंगा। इण्डोनेशिया के राष्ट्रपति सुकर्ण के पिता को महाभारत में सबसे अच्छा पात्र उन्हें कर्ण लगा। सबसे अच्छा चरित्र कर्ण का लगा। पर उसने अधर्म का साथ दिया यह ठीक नहीं लगा इसलिए उन्होंने अपने पुत्र का नाम सुकर्ण रखा।

शंखवादन की प्रक्रिया से भी स्पष्ट है कौरवों का पक्ष अन्याय का है, एवं पाण्डवों का पक्ष न्याय का ऐसा अभिमत स्वयं संजय का है। क्योंकि संजय उवाच के द्वारा यह स्पष्ट है। पाण्डवों ने शंखवादन का प्रत्युत्तर देकर चुनौती को स्वीकारा मात्र है। पाण्डवों के शंखवादन का एकक वर्णन है जबकि कौरवों के शंखवादन का एकक वर्णन नहीं है। फिर कौरवों के शंखवादन का पाण्डवों की सेना पर कोई प्रभाव नहीं पर पाण्डवों के शंखवादन से कौरवों का हृदय दहल जाता है क्योंकि वे जानते हैं हमारा पक्ष गलत है। और उनमें उत्साह नहीं था, इसका विश्लेषण इस प्रकार हो सकता है। कौरव पक्ष यह जानते हैं उनकी विजय होने पर भी उन्हें और अधिक कुछ प्राप्त होने वाला नहीं है। जो राज्य हड़पा है वह कुछ समय के लिए स्थायी मात्र होगा। नया कुछ प्राप्त होने का नहीं। और हारते हैं तो वह भी चला जायेगा और दोनों ही स्थिति में जगत् की निंदा ही माथे आयेगी। जीतेंगे तो जगत् कहेगा असत् रूप से राज्य हड़पा है और हारेंगे तो कहेंगे असत्वादी होने से हारना

तो था ही। पर पाण्डवों के पक्ष में उत्साह है क्योंकि जीतने पर राज्य, हारेंगे तो और अधिक कुछ खोना नहीं है, जो खोना था वह पहले ही छीन लिया गया है और दोनों ही स्थिति में यश के भागी होंगे। हारने का कर्तव्य पालन किया है। जीतने पर राज्य के साथ धवल यश भी विश्व में फैल जायेगा। अतः पाण्डवों के शंखवादन में जो उत्साह वह कौरवों में कहां से आ सकता है। क्योंकि जब दुर्योधन का ही उत्साह ठण्डा पड़ गया है, भयभीत है तब उसके अन्न पर पलने वाली सेना एवं सेनापतियों में कहां से उत्साह आयेगा। शंखवादन की प्रक्रिया से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि आक्रामक पक्ष पाण्डव न होकर कौरव हैं। जबकि आक्रामक पक्ष पाण्डवों को होना चाहिए था।

अन्धे के अनुयायी भी अन्धे होने के लिए बाध्य हैं। गांधारी की आंखें होते हुए भी अन्धी बनी। वह पतिव्रता होने के कारण पति की सम्मति के विरुद्ध जाना नहीं चाहती और पुत्र मोह के कारण दृढ़ता से पुत्रों का विरोध भी नहीं कर पाती।

धृतराष्ट्र तो स्वयं अन्धा है ही। इसके पुत्र भी एक-से-एक अन्धे के अनुगामी होने योग्य हैं। दुर्योधन, दुःशासन, दःसह, दःशल, दुर्धर्ष, दुर्मर्षण, दुर्मुख, दुष्कर्ण, दुर्मद, दुर्विगाह, दुर्विमोचन, दुष्पराजय, दुराधर आदि पुत्र और इनकी भगिनी दुःशला इनके नाम का प्रारम्भ 'दु' अर्थात् दुःख-दुष्टता आदि भावों से हो रहा है।

यद्यपि शौर्य की दृष्टि से इनके अर्थ में कोई दोष नहीं है तथापि दुष्ट बुद्धि के लिए इनके शौर्य का उपयोग होने के कारण इनके शौर्य का दुरुपयोग ही हुआ है। जो शक्ति देव कार्य धर्म कार्य में लगती है वही आदरणीय है पर जो शौर्य आसुरी कार्यों में लगता है वह शौर्य वीर्य में कितना भी बढ़कर क्यों न हो तो भी वह दुःख बढ़ाने वाला ही होता है। इसकी सूचना इन नामों से भी हो जाती है।

पाण्डवों का पक्ष धर्म का है। इनके मुखिया राजा का नाम भी धर्म है। धर्मराज युधिष्ठिर है। जिस भूमिका को लेकर युद्ध में उपस्थित होता है उससे पीछे नहीं हटता है। युद्ध की भूमिका में स्थिर रहता है।

यह धर्मराज 'अजात-शत्रु' भी है। उनका किसी के प्रति द्वेष, वैर या हिंसा का भाव नहीं है। दुर्योधन को भी सुयोधन ही कहते हैं क्योंकि दुर्योधन का प्रयोग अच्छे-बुरे दोनों ही अर्थ में हो सकता है। ताकि बुरे की शंका की गुंजाइश ही न रहे। दुर्योधन और युधिष्ठिर की स्वभाव की परीक्षा के लिए आचार्य द्रोण ने युधिष्ठिर को एक दुष्ट एवं दुर्योधन को एक सन्त लाने को कहा, दोनों ही अपने-अपने प्रयास में असफल ही रहे। आचार्य द्रोण ने युधिष्ठिर से कहा—तेरे घर में ही दुरात्मा दुर्योधन है। बाहर कहां खोजने गये थे। युधिष्ठिरजी कहते हैं वह सर्वाङ्ग दुष्ट नहीं है। उसमें भी अंच्छाई है। आचार्य द्रोण ने दुर्योधन से भी कहा—तुम्हारे

घर में ही धर्मात्मा युधिष्ठिर विद्यमान थे, बाहर क्यों खोजने गये। उत्तर में दुर्योधन कहता है—युधिष्ठिर से बड़ा कोई पाखण्डी नहीं है। वास्तव में जिसकी दृष्टि में दोष है, उसमें विष ही विष भरा है उसे संसार में कोई अच्छा व्यक्ति या धर्मात्मा नहीं मिल सकता। यह बात दुर्योधन के साथ है। जिसकी दृष्टि सही, गुणग्राही और जिसमें अमृत ही अमृत भरा है उसको संसार में भला ही भला दिखता है सर्वांग दोषपूर्ण कोई नहीं दीखता। यह स्थिति युधिष्ठिर की है। नारदजी का भी एक प्रसंग जुड़ा हुआ इस संदर्भ में दुर्योधन के यहां अधम का सिंहासन खाली है, युधिष्ठिर के यहां श्रेष्ठ का। नारदजी ने युधिष्ठिर से पूछा, तेरे दरबार में सबसे अधम कौन है? युधिष्ठिरजी ने कहा, मैं! मध्यम श्रेणी के कौन हैं? ये सारे दरबारी। सबसे श्रेष्ठ कौन है? द्वारकाधीश भगवान् श्रीकृष्ण जो अभी द्वारका में हैं। अतः उनका सिंहासन खाली पड़ा है। नारदजी ने यही बात दुर्योधन के दरबार में दुर्योधन से पूछी, तुम्हारे दरबार में सर्वश्रेष्ठ कौन है? स्वयं, मैं! मध्यम कौन है? तो भीष्म पितामह व आचार्य द्रोण आदि की ओर संकेत करता है। अधम कौन है—तो मेरी सेवा में नियुक्त ये सभी कर्मचारी। तब कर्मचारियों ने विरोध करते हुए कहा—हम परिवार पालन के लिए आपकी सेवा में अवश्य हैं पर हम अधम नहीं। ये दोनों प्रसंग दो प्रकार के स्वभाव को स्पष्ट इंगित कर रहे हैं।

हिन्दुओं का Collective mind बुराई में भी अच्छाई, शत्रु में मित्रता, विभेद में समन्वय व एकता को ढूंढ़ना पर पश्चिम का Collective mind अच्छाई में बुराई, मित्रता में शत्रु, सत् में असत् को देखना है।

यह अजात शत्रु ही पाण्डवों का धुरीण है, केन्द्र है। सब पाण्डव इस 'अजात शत्रु धर्म की आज्ञा शिरोधार्य मानकर उसकी आज्ञा के अनुसार चलने में कृत-कृत्यता मानते हैं। अर्जुन जैसा श्रेष्ठ धनुर्धर, भीम जैसा बलवान योद्धा, नकुल-सहदेव जैसे अद्वितीय शूर पुरुष अपने मतभेद रखते हुए भी अनत्याचारी शान्ततावादी, अजातशत्रु 'धर्म राज' की आज्ञा अपने मत के विरुद्ध होने पर भी प्रतिकूलता का भाव न बताते हुए मानते हैं और उसके अनुसार आचरण करते हैं। यही उनका बल है।

भीम तो अपने स्वभाव के कारण धर्मराज पर क्रोध भी करता था, उनके हाथ जलाने के लिए भी तैयार होता था। भीम को ऊपर से युधिष्ठिर और नीचे अर्जुन नियंत्रित, शांत रखते थे। अर्जुन भीम जैसा क्रोधी नहीं था। पर धर्मराज जैसा शमवादी भी नहीं। नकुल-सहदेव तो अर्जुन के पीछे चलने वाले थे। उनकी धर्मपत्नी इस दृष्टि से अकेले भीम को पसन्द करती थी। कभी-कभी भीम से भी ज्यादा उग्र। वनवास के काल में चारों भाई सहित द्रौपदी एक-एक घण्टा करके युधिष्ठिर महाराज को अब क्रोध करने का उपदेश देते थे तब भी युधिष्ठिर कहते थे ठीक है

विचारूंगा अभी क्रोध करना चाहिये या नहीं। द्रौपदी सहित चारों भाई युधिष्ठिर की शमवादी नीति से त्रस्त थे। पाण्डवों का क्षत्रियोचित स्वभाव वनवास काल में दब न जाये इसके लिए द्रौपदी विशेष सचेष्ट है। अपने अपमान की, याद दिलाती रहती है। वन में रहते कहीं अपना क्षत्रिय स्वभाव बदल न जाये जैसा कि हम इतिहास में पाते हैं बौद्ध धर्म और जैन धर्म से प्रभावित अनेक क्षत्रिय वीर वैश्य बन गये, देश का क्षात्र तेज दुर्बल होते ही देश में विदेशी आक्रान्ताओं का तांता लग गया।

जब भगवान् श्रीकृष्ण सन्धि वार्त्ता के लिए जाते हैं। तब श्रीकृष्ण पांचों भाइयों से परामर्श करते हैं। पांचों की यहां तक कि भीम-अर्जुन की शान्ति वार्त्ता सुनकर द्रौपदी निराश होकर श्रीकृष्ण से कहती हैं—पतिगण-पत्नी के अपमान एवं अपनी प्रतिज्ञाओं को भूल सकते हैं पर पुत्र माता के अपमान को नहीं भूल सकते। मैं भी अपने अपमान को नहीं भूल सकती। पुत्रों पर मेरा अधिकार है। उनकी सेना सजाकर स्वयं अपमान का बदला लूंगी। माता कुंती भी शान्तिकामी है। शान्तिवार्त्ता के सारे प्रयास विफल हो जाने के बाद ही युद्ध की अनुमति देती है।

कुन्ती कर्तव्यपरायण माता है। गांधारी की तरह मोहांध नहीं। माता के चार रूप हैं। माता का एक रूप है जननी का, सृजन का, दूसरा रूप दीक्षाता का, तीसरा रूप है निर्माता का और चौथा अन्तिम रूप है त्राता का। जन्म देने के बाद प्रथम दीक्षा माता देती है। बच्चा पेट में आते ही संस्कार देना प्रारम्भ करती है, जन्म के बाद मां की गोद में संस्कार। मातृभाषा मां की गोद में ही सीखता है। जो-जो लोरियां मां गाती है उसकी अमिट छाप उसके मन पर पड़ती है। इसलिए वह बच्चे की दीक्षाता होती है, निर्माता भी होती है। जीजाबाई ने शिवाजी को जन्म दिया। बचपन में लोरियां गाकर दीक्षा दी, उसका निर्माण किया। माता बच्चे का उद्धार भी करती है, परित्राण भी करती है। जैसे मदालसा ने अपने पुत्रों का किया। कुन्ती मां ने भी कोई कर्तव्यच्युति नहीं की। कुन्ती माता किसी भी कर्तव्य से पीछे नहीं रही। जब भगवान् श्रीकृष्ण के द्वारा सन्धिवार्त्ता का अन्तिम प्रयास भी असफल हो गया। दुर्योधन सूई की नोक के बराबर बिना युद्ध के धरती देने को तैयार नहीं है। तब भगवान् श्रीकृष्ण को अपने पुत्रों के लिए संदेश दिया कि जिस काल के लिए क्षत्राणियां पुत्र पैदा करती हैं वह काल आ गया है। अपने पुत्रों को माता विदुला और संजय की कथा को स्मरण कराने को कहती है। इस प्रकार माता कुन्ती भी शान्तिकामी है। शान्तिवार्त्ता के सारे प्रयास विफल होने पर ही युद्ध की आज्ञा देती है।

और अब जब महाभारत युद्ध समाप्त हो गया, पाण्डव विजयी हो गये। भगवान् श्रीकृष्ण पूछते हैं—मां मेरे लिए कुछ और आज्ञा हो तो बताओ। तब कुन्ती माता आंखों में अश्रुभर करके और आंचल फैलाकर कहती हैं—माता

कुन्ती श्रीकृष्ण भगवान् की बूआ होते हुए भी भगवान् श्रीकृष्ण को जगद्गुरु मानकर कहती हैं—हे जगद्गुरु! हमें पग-पग पर मुसीबतें आती रहे। विपत्ति कब तक आती रहे? शाश्वतकाल तक विपत्तियां आती रहे। पग-पग पर मुसीबतें आती रहे। लोग हैरान हैं। पर कुन्ती कहती है एक मुसीबत बायें हों तो एक दायें, एक आगे तो एक पीछे हो, एक मुसीबत ऊपर हो जो सिर पर पड़ने को ही हो। यानी कदम-कदम पर मुसीबतें आये। लोग हैरान हैं कि देवताओं जैसे पुत्रों की मां होकर, (धर्मात्मा पुत्र, स्वयं धर्मपरायण, कर्तव्यपरायण है) भी इतना दुःख पाया कि हाथ से (सत्ता) राज्य छिन गया! जुए के झूठे पासे फेंक-फेंक कर राज्य छीन लिया, लाक्षागृह में मां सहित पांचों पुत्रों को जलाने का दुष्कर्म किया गया, भीम को विष का लड्डू खिलाकर नदी में फेंक दिया गया। 12 वर्ष का वनवास, 13वें वर्ष का अज्ञातवास। उसमें भी, वनवास में भी जान से मारने के दुष्प्रयास किए गए। भरी राज्यसभा में पुत्रवधू की साड़ी खींची गई। अरे मां! तुमने क्या थोड़ा दुःख भोगा है। कदम-कदम पर दुःख भोग लिया है। दुःख भोगते-भोगते बूढ़ी हो गई हो मां। फिर कहती हो कदम-कदम पर दुःख ही आयें। कदम-कदम पर मुसीबतें ही आए। मां! तू कैसी मां है? मां क्यों विपत्ति मांगती है? भक्तों पर जब भी विपदा आएगी, हे भगवान्! आप तुरन्त दौड़े चले आओगे। जिससे आपका पुन-पुनः दर्शन हो सके भगवान्। मुसीबतें मुबारक हैं। मुसीबतें धन्य हैं। कम से कम मुसीबतों में आपका दर्शन तो हो जाता है। इसलिए मैं मुसीबत मांगती हूं जिससे आपका पुनः-पुनः दर्शन होता रहे। आपका दर्शन होने के बाद संसार का दर्शन नहीं करना पड़ता। मोक्ष अपने आप ही हो जाता है। मोक्ष हमसे कौन छीन सकता है। भगवान् के दर्शन के बाद मोक्ष तो अपने आप ही हो जाता है। मोक्ष तो मुट्ठी में आ जाएगा यदि भगवान् का दर्शन हो जाए।

आदर्श माता कैसी है? पाण्डवों का राजतिलक हो गया जिसने तनिक भी इच्छा नहीं की। इतने दुःख पाने के बाद, जीवन में भटकने के बाद, 13 वर्ष के दुःखदाई वनवास एवं अज्ञातवास के बाद अब मेरे पाण्डवों को राज्य मिला है। बुढ़ापे में अब मुझे भी राजमाता का गौरव मिला है। राजमाता के रूप में गौरव के यश को भोगूंगी?—नहीं। युधिष्ठिर महाराज का राजतिलक हुआ है और कुन्ती ने थोड़े वर्षों बाद वानप्रस्थ ले लिया। मेरा कर्तव्य पूरा हो गया। मैं धन्य हूं। बच्चों की दीक्षाता, बच्चों की निर्माता, बच्चों की परित्राता। उनको लक्ष्य तक पहुंचा दिया है। अब मुझे कुछ मोह नहीं है। अब बिल्कुल यश-वैभव के मोह को त्यागकर, बिल्कुल शान्तभाव से वन को निकल गई। साथ में गांधारी एवं धृतराष्ट्र को लेकर। साथ में विदुरजी छोड़ने गए। यह है महान् माता। यह माता धन्य है।

ऐसी धन्य माता। यह है निर्मोही माता, कर्तव्यपरायण माता, निर्मात्री माता। यह है परित्राता माता। ऐसी धन्य माता की आवश्यकता इस देश को है।

ऐसी ही माता से युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव जैसे फूल खिलते हैं।

पाण्डवों के संचालक, नियामक भगवान् श्रीकृष्ण भी शमवादी, शस्त्र न उठाने वाले हैं। इस तरह पाण्डवों के दोनों मुखिया शमवादी हैं।

शमवादी होने पर भी उन्हें युद्ध करना पड़ा। इन शमवादियों के अनुकूलता में रहने से ही पाण्डवों को अन्त में विजय प्राप्त हुई। कौरवों के पाशविक अत्याचार चुपचाप सहते रहने से सम्पूर्ण जनता की सहानुभूति एवं कौरव सेनापतियों की अनुकूल बुद्धि पाण्डवों के लिए सहायक हो गयी। फलतः स्वराज्य प्राप्ति के अन्तिम युद्ध में विजय होने योग्य शक्ति और सहानुभूति प्राप्त होने से विजय प्राप्त हुई। विजय धर्म का भाई और परमेश्वर का सखा हुआ करता है।

ये सब नाम एक ऐतिहासिक कुटुम्ब के होने के साथ-साथ सनातन तत्त्व को भी अभिव्यक्त करते हैं। धर्म पक्ष वालों के नाम देखें और धृतराष्ट्र के पक्ष वालों के नाम देखें। दोनों के नामों की तुलना करने से एक पक्ष साम्राज्यवादी पाशविक बल का प्रदर्शक और दूसरा पक्ष धर्मानुयायी स्वराज्यवादियों के आध्यात्मिक बल का प्रदर्शक, स्पष्ट प्रतीत होगा। यह भारतीय युद्ध इन दोनों पक्षों में हुआ था। सारे जगत् में ऐसा ही होता आया है।

धृतराष्ट्र एवं दुर्योधन नित्य देखता था हम साम्राज्यवादियों के द्वारा अनेकानेक कपट प्रयोग होने पर भी स्वराज्य के प्रयत्न करने वाले न केवल बच जाते थे वरन् उनकी लोकप्रियता एवं शक्ति में वर्द्धन ही होता जाता था। जब भीम को विष युक्त भोजन कराने के पश्चात् गंगा में बहा दिया तो भीमसेन नागलोक में अपने नाना के यहां पहुंच गये। स्वर्ग में अमृत होता है। नागलोक में सुधा। नाना ने उसे सुधा पान करने को दी। भीम एक ही सांस में आठ कुंड सुधा पी गये और उसको पचाने के लिए आठ दिन सोते रहे। और पहले से बहुत ज्यादा शक्तिशाली होकर लौटे। वारणावत में जलाने का प्रयास हुआ तो द्रुपद की कन्या द्रौपदी से विवाह कर लौटे जहां से उन्हें तीन सेनापति प्राप्त हुए। वनवास दिया तो अर्जुन को दिव्यास्त्र प्राप्त करने का अवसर मिला एवं पांच वर्ष स्वर्ग में रहकर अनेकानेक विद्यायें एवं दिव्यास्त्र प्राप्त किये। अज्ञातवास काल में विराट राजा से सम्बन्ध बना और उत्तरा रूपी पुत्रवधू प्राप्त हुई। हस्तिनापुर का बंटवारा करके इन्द्रप्रस्थ के नाम पर जंगल दिया तो वहां अर्जुन ने श्रीकृष्ण और बलराम को समधी बना लिया और सुभद्रा को पत्नी के रूप में प्राप्त किया। और राजसूय यज्ञ के द्वारा भी राज्य

का विस्तार किया। कितने भी उन पर अन्याय-अत्याचार, अतिचार हुए फिर भी वे सदैव शान्ति, धर्म एवं न्याय के पथ पर चलते रहे। इससे उनकी लोकप्रियता और भी बढ़ गयी यहां तक कि कौरव वीरों एवं सेनापतियों की सहानुभूति भी प्राप्त हो गयी।

साम्राज्यवादियों का व्यवहार कपट से प्रारम्भ होता है। मध्य काल में चिन्तित और अन्त सर्वनाश से होता है। और स्वराज्यवादियों के धर्म पक्ष का प्रारम्भ सत्य, धर्म, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, ईशभक्ति, त्याग, पवित्रता, समता आदि दैवी गुणों से होता है। उनको बीच में बहुत कष्ट भोगना पड़ता है पर अन्त में विजय उन्हीं की होती है और उनका धवल यश दिग्दिगन्त में फैल जाता है।

फिर कौरव वीर युयुत्सु का, युधिष्ठिर महाराज की घोषणा—'कि हमारा पक्ष धर्म का है अतः जो शामिल होना चाहे उसका स्वागत है।' घोष के पश्चात् पाण्डव पक्ष में शामिल होना भी पाण्डव पक्ष को धर्म का सिद्ध करता है।

फिर संजय अपना व्यक्तिगत अभिमत गीता के अन्त में रखेंगे जहां भगवान् श्रीकृष्ण और धनुर्धर अर्जुन हैं वहीं विजय सुनिश्चित है। क्योंकि जिधर धर्म है वहीं श्रीकृष्ण, जहां श्रीकृष्ण वहीं श्रीकृष्ण का सखा धनुर्धर अर्जुन। अतः विजय सुनिश्चित है।

यहां धृतराष्ट्र तमोगुणी विषादी है क्योंकि जन्मान्ध होने से स्वयं कुछ कर सकता नहीं अपने पुत्रों से करवाता है। वहीं दुर्योधन रजोगुणी विषादी है जो स्वयं सारे षड्यंत्र रचता है पाण्डवों के विरुद्ध एवं क्रियान्वित भी करता है। अर्जुन सतोगुणी विषादी है जिसे हमें आगे पढ़ेंगे।

तीसरा पट

अब तीसरा पट खुलता है तब हम अर्जुन को विषादग्रस्त होता हुआ पाते हैं। धृतराष्ट्र ने अपने पुत्रों के साथ पाण्डव पुत्रों के विषय में जिज्ञासा की थी। अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः (1/16) के अनुसार पाण्डु पक्ष के नेता युधिष्ठिर सिद्ध होते हैं। तथापि स्वयं युधिष्ठिर ने सेनानायक पद पर धृष्टद्युम्न का, सेनापति पद पर भीम का सेनापति के भी अधिपति पद पर अर्जुन का और अर्जुन के भी नियामक पद पर भगवान् श्रीकृष्ण का अभिषेक कर युद्ध भूमि में सर्वोपरि अधिकार श्रीकृष्णार्जुन को प्रदान किया। इसी अभिप्राय से संजय ने श्रीकृष्णार्जुन की गतिविधि बताकर पाण्डवों ने क्या किया, इस द्वितीय प्रश्न का उत्तर राजा धृतराष्ट्र को दिया।

अथ व्यवस्थितान् दृष्ट्वा, धार्तराष्ट्रान् कपिध्वजः।
प्रवृत्ते शस्त्र-सम्पाते, धनुरुद्यम्य पाण्डवः।।
हृषीकेशं तदा वाक्य,-मिदमाह महीपते। 1/20

हे राजा (धृतराष्ट्र)! इसके पश्चात् वानरांकित ध्वजा से युक्त रथ वाले अर्जुन ने धृतराष्ट्र के पुत्रों को (युद्ध करने के लिए) सुसज्जित/सन्नद्ध देख, शस्त्र-प्रयोग प्रारम्भ होने पर धनुष हाथ में लेकर श्रीकृष्ण से यह वचन कहा।

दुर्योधन की तरह अर्जुन की भी भावना बनी, दोनों सेना का निरीक्षण करूं। अतः शंखवादन के अनन्तर कपिध्वज अर्जुन ने धार्तराष्ट्रों को व्यवस्थित देखकर तथा शस्त्र संपात की तैयारी सम्पूर्ण देखकर हाथ में गाण्डीव धनुष को थामते हुए अन्तर्यामी श्रीकृष्णचन्द्र से यह वचन कहा, 'हे अच्युत! दोनों सेनाओं के मध्य में मेरा रथ स्थापित करो। ताकि मैं भलीभांति यह देख लूं कि इस युद्ध भूमि में मेरे साथ युद्ध करने वाले कितने और कौन-कौन हैं। साथ ही उन्हें भी अच्छी प्रकार परख लूं जो दुर्बुद्धि दुर्योधन का युद्ध में प्रिय चाहने वाले हैं और हमसे युद्ध करने के लिए उद्यत हैं।'

यहां अर्जुन में थोड़ा अहम् झलकता है। उसे अपने ऊपर जरूरत से ज्यादा भरोसा था। क्यों न हो। उसे अनेकों से विजयश्री का वरदान जो प्राप्त था। यथा वेद व्यास, इन्द्र, धर्मराज, नारद, भगवती दुर्गा और भगवान् श्रीकृष्ण तो अनेकों बार विजयश्री का आश्वासन दे चुके थे। अतः वह देखना चाहता कौन-कौन माई के लाल उससे टकराने आये हैं।

यहां ध्यान देने की बात है सम्पूर्ण गीता में अर्जुन ने तीन बार अच्युतपद से भगवान् को सम्बोधित किया है। प्रथम बार स्व-चक्षु सम्पन्न, द्वितीय बार दिव्य-चक्षु सम्पन्न और तृतीय बार ज्ञान-चक्षु सम्पन्न होकर अच्युतपद का प्रयोग किया है।

सेनयो-रुभयोर्-मध्ये, रथं स्थापय मेऽच्युत।। 1/21

यह स्व-चक्षु सम्पन्न अर्जुन का वचन है जिसमें उन्होंने सर्वप्रथम भगवान् को अच्युत कहा है।

एकोऽथवाप्य-च्युत तत्-समक्षं-तत्-क्षामये त्वा-मह-मप्रमेयम् 11/42

यह दिव्य-चक्षु सम्पन्न अर्जुन का कथन है जिसमें मध्य में भगवान् को अच्युत कहा है।

नष्टो मोहः स्मृतिर् लब्धा, त्वत्-प्रसादान्-मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गत-सन्देहः, करिष्ये वचनं तव।। 18/73

यह ज्ञान, चक्षु सम्पन्न अर्जुन का वचन है जिसमें अर्जुन ने भगवान् को अच्युत कहा है। ध्यान रहे 'सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत' यह भगवद्गीता में अर्जुन का प्रथम वचन है। और नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत' यह अन्तिम वचन है। इस प्रकार अच्युत कहकर ही अर्जुन ने अपना वचन समारम्भ और समापन किया है। भगवान् श्रीकृष्ण के बोलचाल का नाम अच्युत नहीं था। अच्युत पद का प्रयोग कर अर्जुन ने भगवान् श्रीकृष्ण के लोकोत्तर माहात्म्य को व्यक्त करते हुए कहा कि आप ब्रह्म भाव से कभी च्युत नहीं होते। अविद्या काम कर्म के वशीभूत होकर हम जीवों के समान आपका जन्म नहीं होता। अच्युत वह होता है जो अपने आत्मस्वरूप से कभी च्युत नहीं होता। जीव भाव से उठकर सदा ब्रह्म भाव में स्थित है। ब्रह्म ही निर्दोष है, ब्रह्म ही इन्द्रियों से परे है, राग-द्वेष अभिनिवेश से परे है। जीवों में तो कामना है, वासना है, विकार है, विकृतियां हैं। अतः नहीं चाहने पर भी पापमय विचारों में मन-बुद्धि चले जाते हैं। जब तक व्यक्तिगत अहम् है, कामना-वासना का वेग है तब तक राग-द्वेष अभिनिवेश से हम प्रेरित होते रहते हैं। अपने आत्मस्वरूप से च्युत होते रहते हैं। ब्रह्म भाव में स्थिर नहीं रह पाते।

भगवान् श्रीकृष्ण ने सोचा, सखा अर्जुन ने सर्वप्रथम मुझे अच्युत कहकर सम्बोधित किया है। मैं इसके जीवत्व[1] का अपहरण कर इसे अच्युतभाव अवश्य प्रदान करूंगा। मेरी प्रतिज्ञा है—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते, तांस्-तथैव भजाम्यहम्। 4/11

जो मेरे प्रति जिस भाव से प्रपन्न होते हैं, अर्थात् जो मुझे जिस भाव से भजता है मैं उसका उसी भाव से भजन करता हूं। यही कारण है कि भगवान् अर्जुन के गुप्त और सुप्त विषाद को उद्बुद्ध कर उसे निर्मूल करने एवं अहम् तथा द्वेष भाव का निरसन कर उसे अच्युतभाव सम्पन्न करने की भावना से दोनों सेनाओं के मध्य भीष्म और द्रोण के मध्य अर्जुन के रथ को स्थापित करते हैं। अन्तर्यामी श्रीकृष्ण ने पृथानन्दन अर्जुन से कहा—

उवाच पार्थ पश्यैतान्, समवेतान् कुरूनिति।। 1/25

अर्थात् पार्थ! युद्ध के लिए सन्नद्ध इन उभयपक्षीय कुरुओं को देख। भगवान् अन्तर्यामी होने से जानते हैं वह द्वेषभाव के साथ युद्ध में आया है फिर राग और भय के वशीभूत होकर भागना चाहेगा। ये राग, द्वेष, भय, अहम् (जीवत्व भाव) अच्युतभाव में बाधक हैं जिनसे अर्जुन का निरसन कर अच्युतभाव में स्थित करना है।

---

1. जीवत्व—जीवत्व का अर्थ काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग-द्वेष, भय आदि रिपुओं से युक्त जीव।

भगवान् श्रीकृष्ण ने दुर्योधन के सम्मुख रथ को स्थापित न करके भीष्म-द्रोण के सम्मुख किया। क्योंकि भगवान् अन्तर्यामी हैं। वे जानते थे. दुर्योधन के सम्मुख रथ स्थापित होने से निश्चय ही अर्जुन के हृदय में और अधिक शौर्य और युद्धोत्साह पैदा हो जाएगा। उसको दुर्योधन के सारे अत्याचार यथा भीम को विष देना, द्रौपदी को अपमानित करना, लाक्षागृह में जलाकर मारना आदि सभी दृश्य याद आ जायेंगे फलतः अर्जुन में पहले से भी ज्यादा रोष आ जाएगा। भगवान् ने ऐसे क्रूर अत्याचारियों के सम्मुख रथ न खड़ा करके दोनों पूजनीयों के सामने रथ खड़ा कर दिया ताकि उसके अन्दर और अधिक रोष, अहंकार जागृत न होकर उसके अन्दर का गुप्त-सुप्त विषाद भी उभर कर प्रकट हो। इसके जीवत्व को निर्मूल कर अच्युतभाव में स्थित कर सकूं। भगवान् श्रीकृष्ण तो अन्तर्यामी होने से जानते हैं कि अर्जुन क्षत्रियोचित्त रोष में भरकर किंचित् द्वेष भाव से युद्ध करने आया है कि कौन माई का लाल हमसे टकराने आया है! इस अहंकार एवं द्वेष से उबारने के लिए (जीवत्व भाव को निर्मूल करने के लिए) और उसके अन्दर गुप्त-सुप्त विषाद को उद्दीप्त करने के लिए भीष्म एवं द्रोण के सम्मुख रथ को स्थापित करते हैं।

अब अर्जुन जब अपने पूजनीय जनों सहित अपने ही पारिवारिक जनों को देखता है। पार्थ ने दोनों सेनाओं में स्थित सगे-सम्बन्धियों को देखा। भूरिश्रवा पितृवर्ग को, भीष्म-सोमादि पितामहों को, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य आदि गुरुओं को, पुरुजित् कुन्तीभोज, शल्य, शकुनि आदि मामाओं को, भीम, दुर्योधनादि भाइयों को, अभिमन्यु, लक्ष्मणादि पुत्रों को, लक्ष्मणादि पुत्रों के पौत्रों को, अश्वत्थामा-कृतवर्मादि सखाओं को, द्रुपद, शल्यादि श्वसुरों को तथा सात्यकि आदि सुहृदों को देखा। अर्जुन ने समझ लिया कि कुरुवंशी और उनके सगे-सम्बन्धियों का यह युद्ध है। अपने ही परिवार को श्मशान भूमि में परिणत करने वाला यह युद्ध है जिसका आयोजन हमने बड़े चावपूर्वक धर्म समझकर किया है। फिर क्या था कोप और कठोरता जैसे वीरोचित भाव दबने लगे और परम करुणा अर्जुन के हृदय में उमड़ने लगे। प्रतिपक्ष में शत्रु बुद्धि न होकर उनके प्रति ये दुर्बुद्धि सम्पन्न होते हुए भी ये स्वजन हैं। ऐसे भाव बनते ही विषाद का बीज अंकुरित होना स्वाभाविक है।

खेल के मैदान में खिलाड़ी एक-दूसरे के दल में खिलाड़ी को न देखकर अपने स्वजनों को देखता है, तो वह कभी भी ठीक ढंग से खेल खेल नहीं पायेगा। खेल के मैदान में खिलाड़ी को देखो, सगे-सम्बन्धियों को नहीं। अदालत में न्यायाधीश अपराधी को देखे अपने किसी सम्बन्धी को नहीं। यदि न्यायाधीश कठघरे में खड़े अपराधी को अपराधी के रूप में न देखकर अपने रिश्तेदार के रूप में देखता है तो वह कभी भी अपना कर्तव्य ठीक ढंग से नहीं निभा पायेगा। यहां श्रीकृष्ण का चरित्र दर्शनीय है। वे अपराधियों में मामा, काका, अपने परिवारजनों

को नहीं देखते। उद्दण्डी होने पर अपने पूरे यादव कुल का भी नाश करवा दिया। पर अर्जुन योद्धाओं में अपने सगे-सम्बन्धी देखने लगे। कुछ क्षण पहले वह अपराधियों को देखना चाहता था, जो दुर्योधन के अधर्म के साथी थे, अब उसकी आंखों में मोह की पट्टी चढ़ गयी और वह अपराधियों में सगे-सम्बन्धी एवं मित्र सुहृद देख रहा है। वह तटस्थ न रह कर मोहस्थ हो गया। वह तो तटस्थ रहकर निरीक्षण करना चाह रहा था पर वह अपने को तटस्थ नहीं रख पाया। मोहस्थ होने के कारण क्षत्रियोचित रोष के स्थान पर करुणा का भाव उभरने लगा। क्योंकि वह असत्, अधर्म, शत्रु पक्ष न देखकर उसमें अपने पारिवारिक जनों को देखने लगा, सम्बन्धियों, आत्मीयजनों, स्वजन बंधुओं को देखने लगा।

जब समाज में कोई आपराधिक घटना घटती है या गलत घटना घटती है तब हम उसकी कड़ी आलोचना करते हैं। पर बाद में पता चलता है इसमें मेरा भाई शामिल है तब हम मोहस्थ होकर उसके प्रति मौन हो जाते हैं और उसकी सुरक्षा के उपाय में लग जाते हैं। यही स्थिति अर्जुन की हो रही है।

और मुसलमानों में तो गैर मुस्लिमों यानी काफिरों के प्रति किया गया कैसा भी आपराधिक कृत्य चाहे उनकी बहन-बेटी का अपहरण हो या उसके साथ दुराचार हो, या उसको बहकावे में लेकर उसके साथ वैवाहिक कृत्य हो या जघन्य से जघन्य अपराध हो उसको अपना भाई-बन्धु मानकर सब प्रकार से उसको सहयोग और संरक्षण देते हैं, यह उनकी आसुरी-पैशाचिक मनोवृत्ति है। उसके किसी अपराध को स्वीकारते ही नहीं और उसके कृत्य को बहुत हलका कर देते हैं और उसे जायज सिद्ध करते हैं चाहे वह स्वामी श्रद्धानन्दजी का हत्यारा अब्दुल रशीद हो, चाहे सारी मानवता का हत्यारा हो जैसे अफजल हो या कसाब हो, या बांग्लादेशी घुसपैठियों द्वारा मूल असमवासियों पर ही अत्याचार हो, चाहे गोधरा काण्ड हो, चाहे मोपला काण्ड हो, या Direct action day हो सबमें उनके रक्षक बनकर खड़े होते हैं। जघन्य से जघन्य आपराधिक कृत्य कर मारे जाने वाले को शहीद का दर्जा देते हैं और उन्हें कयामत तक कब्र में पड़े रहना नहीं पड़ता तुरन्त जन्नत मिलती है जहां 72 हूरें मिलेगी नीची दृष्टि किए हुए आदि-आदि। यही भाव गैर ईसाइयों के प्रति ईसाइयों का है।

फिर जीवन में एक दुर्बलता प्रवेश कर जाती है तो उसके साथ अन्य दुर्बलतायें भी प्रवेश कर जाती हैं। अब अर्जुन भीष्म और द्रोण को देखकर भयग्रस्त भी हो जाता है।

अर्जुन को भीष्म पितामह और आचार्य द्रोण को देखकर लगने लगा कि ये दोनों तो अपराजेय योद्धा हैं, उनसे टकराना पहाड़ से सिर टकराने के समान है क्योंकि दोनों ही अपराजेय एवं वर प्राप्त महापुरुष हैं। एक तो इच्छामृत्यु सम्पन्न

है जिन्हें स्वयं भगवान् परशुराम परास्त नहीं कर सके। दूसरे आचार्य द्रोण को शस्त्र धारण किये हुए स्थिति में उन्हें कोई परास्त नहीं कर सकता। पुत्र की मृत्यु के पूर्व शस्त्र त्यागेंगे नहीं और उनका पुत्र अश्वत्थामा चिरंजीवी है। न उनका पुत्र मरेगा और न वे शस्त्र त्यागेंगे और न वे पराजित ही होंगे। द्रोणाचार्य ने शंकर भगवान् से शस्त्र विद्या पाई। उन्होंने कहा जब तक आप शस्त्र धारण किये रहोगे तो कोई मार ही नहीं सकेगा। और उसके बेटे ने तपस्या की तो चिरंजीवी बन गया। द्रोणाचार्य से भगवान् शंकर ने पूछा, आप क्या चाहते हैं? तो द्रोणाचार्य ने कहा कि हम अपने बेटे से पहले न मरें। बेटा चिरंजीवी। और बेटे से पहले मरें नहीं। अपने कान से सुन लेंगे कि बेटा मर गया तब प्राण छोड़ेंगे। तो चिरंजीवी मरे कैसे? चिरंजीवी को मरना नहीं। और बेटे से पहले न मरने का वरदान है। बेटे से पहले मर नहीं सकते इसलिए ये भी एक प्रकार से चिरंजीवी हैं। और शस्त्र धारण किये हुए को कोई परास्त कर नहीं सकता। इसलिए भीष्म और द्रोण ये महाभारत रूपी रण नदी के अति दुर्लंघ्य तट थे जिनसे पार पाना अर्जुन के लिए कठिन ही नहीं असम्भव ही था। अतः अर्जुन के मन में भय भी व्याप्त हो गया। वह आगे चलकर द्वितीय अध्याय के छठे श्लोक में स्पष्ट अभिव्यक्त होगा—

न चैतद्-विद्मः कतरन्नो गरीयो, यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः

अर्थात् हम यह भी तो नहीं जानते कि हम जीतेंगे या वे हमें जीत लेंगे।

अतः अर्जुन स्वजनों के प्रति मोह से भी आविष्ट है। भीष्म द्रोण मेरे गुरुजनों पर वाक् प्रहार भी उचित नहीं उस पर शस्त्र कैसे चलाऊंगा। जिनसे कठोर शब्द भी मुंह ऊंचा कर बोल नहीं सकते उन पर प्रहार कैसे सम्भव है? आज तो बड़ों के सामने बोल देते हैं, जवाब दे देते हैं। सौ साल पूर्व की स्थिति फिर उस समय की स्थिति हमारे भी हाथ-पैर फूल नहीं जायेंगे क्या? फिर ये दोनों अजेय भी हैं। इन पर विजय प्राप्त करना मेरे वश की बात नहीं है। मोह और भय से आविष्ट होने से अर्जुन विषादग्रस्त हो गया। वीर भाव सुप्त हो गया। विषाद उभरने लगा। उसका प्रभाव अर्जुन के शरीर पर पड़ने लगा। उसे श्रीकृष्ण के समक्ष व्यक्त करते हुए कृपया से आविष्ट होकर प्रथम अध्याय में अर्जुन कह रहे हैं—

अर्जुन उवाच—

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण, युयुत्सुं समुपस्थितम्।।1/28
सीदन्ति मम गात्राणि, मुखं च परिशुष्यति।
वेपथुश्-च शरीरे मे, रोमहर्षश्-च जायते।।1/29
गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्, त्वक्-चैव परिदह्यते।
न च शक्नो-म्यवस्थातुं, भ्रमतीव च मे मनः।।1/30

विषाद से आविष्ट होकर अर्जुन भगवान् श्रीकृष्ण से कहने लगा—हे नाथ! उभय पक्ष में स्थित स्वजनों को देखकर शरीर के अङ्ग-प्रत्यंग शिथिल हो रहे हैं, ढीले पड़ रहे हैं। मुख सूख रहा है। शरीर कांप रहा है। रोंगटे खड़े हो रहे हैं। मैं खड़े रहने में भी असमर्थ हो रहा हूं। मेरा मन भ्रमित हो रहा है।

अब प्रश्न उठता है जो अर्जुन क्षत्रियोचित रोष के साथ युद्ध में शामिल हुआ। युधिष्ठिर महाराज कौरवों की विशाल सेना को देखकर चिंतित होते हैं तो उन्हें ढाढ़स बंधाते विजय सेना के आकार-प्रकार पर निर्भर नहीं है धर्म के आधार पर होगी। उत्साह के साथ शंखवादन करता है क्योंकि उन पर अत्याचार बहुत पहले से ही होता रहा है, पर प्रतिकार का अवसर युधिष्ठिर महाराज और माता कुंती के कारण नहीं मिला। फिर जीवनभर युद्ध का अभ्यासी रहा है, उसकी प्रतिज्ञा है न दैन्यं न पलायनं। जिसके विषय में प्रसिद्धि थी कि अर्जुन के दस नामों को लेकर जो युद्ध भूमि में जाता है वह विजयश्री लाभ करता है, उस अर्जुन की ऐसी दयनीय स्थिति कैसे हो गई। एक-डेढ़ किलो का गाण्डीव धारण करके खड़े रहने तक में असमर्थ सिद्ध हो रहा है। अर्जुन के शारीरिक लक्षणों को देखकर चिकित्सक कह सकते हैं कि उसे फालिज (लकवा) या ऊधरंग का आकस्मिक आघात पहुंचा है।

किन्तु अर्जुन को कोई शारीरिक रोग नहीं लग गया था। इसलिए उसे चिकित्सालय में ले जाकर लम्बे उपचार की आवश्यकता नहीं पड़ी। उसकी मुख्य समस्या मानसिक ही थी। अतः एक-दो घण्टे के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण एवं समाधान के उपरान्त वह पुनः उसी शरीर के साथ, उसी रणभूमि में, उसी रथ में स्थित हुए, उसी छूटे हुए गाण्डीव को पुनः उठाकर अपने क्षत्रिय धर्म पालन को उद्यत हो जाता है और विश्व के महानतम महायुद्ध का सर्वोपरि श्रेष्ठ विजेता सिद्ध हो जाता है।

अर्जुन मनोरोग से ग्रस्त कोई पुराना मानसिक रोगी भी नहीं था जिसके लिए उसे किसी मानसिक आरोग्यशाला में भर्ती करके इलाज की आवश्यकता पड़ती। न वह शारीरिक रोग से ग्रस्त था। तब फिर मन में अचानक एक ऐसा आकस्मिक अन्तर आ जाने का विश्लेषण इस प्रकार हो सकता है—

(1) वह महारथी के अभिमान के साथ बड़े गर्व से युद्ध भूमि में प्रवेश किया था। पर अपने सम्मुख गुरुजनों एवं सम्पूर्ण कुल कुटुम्ब को देखकर स्वजन स्नेह में आविष्ट एवं मोह में निमग्न हो जाता है।

(2) फिर अपने सम्मुख अजेय योद्धा भीष्म और द्रोण को देखकर, अपने से बली को देखकर भयभीत हो गया।

अर्जुन का मन युद्धभूमि में प्रवेश करते समय कौरवों को शत्रु मानकर उनके प्रति द्वेष भाव से ग्रस्त था। किन्तु अब स्वजनों, गुरुजनों को देखकर उसके मन में उनके प्रति राग उत्पन्न हो गया। भीष्म एवं द्रोण के जैसे पूज्य जनों को देखकर पहले मोह फिर अजेय योद्धा के रूप में देखकर मन में भय उत्पन्न हो गया। वह राग और भय के वशीभूत अपने कर्तव्य कर्म से च्युत हो रहा है। क्योंकि राग और भय कर्तव्यपालन में सबसे बड़ी बाधा है। इन दोनों कारणों से वह कर्तव्य कर्म से च्युत हो रहा है। राग और भय निष्पक्ष न्यांय के मार्ग में सबसे बड़े बाधक हैं। इसी से समाज में भ्रष्टाचार, परिवार पोषण, अपनों को रियायत और परायों के प्रति वैरभाव को प्रश्रय मिलता है। अपने जनों के प्रति राग के कारण उन्हें गलत कार्यों से रोक नहीं पाते और बली जनों के प्रति भय के कारण उन्हें गलत कर्म से विरत नहीं कर पाते हैं। इससे ही समाज में भ्रष्टाचार, अनाचार, अन्याय फैलता है। इस प्रकार मोह (राग) और भय के वशीभूत जीव अपने कर्तव्य कर्म से च्युत होता है और समाज में भ्रष्टता फैलती है। मोह (राग) के कारण, अन्याय का विरोध नहीं कर पाते, तो भय के कारण भी अन्याय का विरोध नहीं कर पाते।

युद्ध भूमि में तो द्वेष औरं अहम् बुद्धि से आया था। पर अब राग और भय के वशीभूत होकर अर्जुन कर्तव्य से च्युत हो रहा है। कर्तव्यच्युति से भय उत्पन्न होता है।

फिर अर्जुन कर्तव्यच्युत उस समय हो रहा है जब उसने सारी दुनिया के राजाओं और योद्धाओं को आमंत्रित करके रो-रोकर कहा था हमारे साथ अन्याय हुआ और उन्हें धर्मादे की सात अक्षौहिणी सेना प्राप्त हुई। अब युद्ध के समय स्वयं ही कर्तव्य से च्युत हो रहा है, स्वयं ही संशय की स्थिति में, द्वंद्व की स्थिति में, व्यामोह की स्थिति (व्यामोह, भय एवं मोहं से आविष्ट चित्त की अवस्था) में पड़ गया है। ऐसी स्थिति में अब वह उनके सामने, दुनिया के सामने क्या मुंह दिखायेगा जो उनकी सहायता के लिए निःस्वार्थ भाव से, धर्म की भावना से आये हैं, वे भी दुर्दशा में पड़ जायेंगे।

नैतिक दृष्टि से भय का कारण कर्तव्यच्युति है। जब मनुष्य अपने नियत कर्तव्य का पालन नहीं करता तो भीतर से अन्तरात्मा उसे दुत्कारने लगती है, जिससे वह अन्यथा स्वस्थ एवं बलवान होते हुए भी मानसिक दुर्बलता से भयभीत रहने लगता है। उदाहरणार्थ दारासिंह नामक पहलवान प्रारम्भ में चोरी-डकैती का धंधा करता था। जो व्यक्ति कुश्ती के मैदान में दस पहलवानों को धूल चटा सकता है वही चोरी जैसा अनैतिक कार्य करने जाता है तो भीतर से इतना भयभीत रहता है कि तनिक रोशनी से या चूहे के खटके से भयभीत होकर भाग खड़ा होता है। पुरी शंकराचार्य मठ में एक ब्राह्मण बालक आया। देखने में भी बहुत सुन्दर, गोरा-

चिट्टा। सेवा और अपने मीठे व्यवहार के द्वारा सबका मन जीत लिया पर पुलिस को देखकर छिप जाता था। वहां तो शंकराचार्यजी से मिलने कभी राज्यपाल आते हैं, न्यायाधीश, बड़े-बड़े अफसर उनके साथ पुलिस भी। वह अपने ही चाचा की हत्या करके आया था। सबने उसे आश्वस्त किया जो भूल हुई है उसको भूलकर प्रायश्चित्त स्वरूप आश्रम की सेवा करते रहो। यहां कोई नहीं आयेगा। पर उसके मन में भय बैठा होने से वहां नहीं रह पाया। क्योंकि पुलिस अधिकारी भी महाराज के पास आते रहते थे आशीर्वाद पाने के लिए। तब वह पुरी में ही तांत्रिक की सेवा में चला गया। उसकी वेशभूषा अपनाकर वहीं रहने लगा, अपराधबोध के भय से।

एक राजा के भण्डार से किसी मूल्यवान रत्नाभूषण की चोरी हो गई। चोर का पता नहीं लगने पर मंत्री ने मनोवैज्ञानिक युक्ति चोर की दाढ़ी में तिनका और चोर पकड़ा गया क्योंकि चोरी जैसे अनैतिक कार्य के कारण मन से भयभीत था। अतः दाढ़ी मलने लगा। उसका हाथ दाढ़ी पर स्वतः चला गया। यही कारण है कि टिकट न कटाने वाला टिकट चेकर से, अपराध करने वाला पुलिस से, पाठ न पढ़ने वाला मास्टर व परीक्षा से, कालाबाजारी करने वाला राजदण्ड से डरता रहता है।

एक जापानी युवक युद्धकाल में सेना में भरती होने के लिए गया। भरती अधिकारी ने जब यह जाना कि पीछे केवल इसकी बूढ़ी माता है, जिसके पालन-पोषण का दूसरा साधन नहीं है तो उसे वापस घर भेज दिया।

शेक्सपियर के नाटक 'हेमलेट' में हेमलेट का चाचा उसके पिता की हत्या करके उसकी मां से विवाह कर लेता है। बड़े होने पर जब हेमलेट को ज्ञात हो जाता है कि यही मेरे पिता का हत्यारा है, तो वह संकल्प करता है कि मैं पिता के हत्यारे को अवश्य दण्ड दूंगा। पर जब चाचा की हत्या करने जाता है तब उसकी मां अपील करती है कि मुझे विधवा मत बनाओ। मृत पिता के प्रति वफादारी और जीवित माता के दाम्पत्य जीवन की रक्षा, दोनों कर्तव्यों के परस्पर समान आग्रह के कारण हेमलेट मानसिक अन्तर्द्वन्द्व से पीड़ित हो जाता है और भगवान् श्रीकृष्ण जैसा मार्गदर्शक न मिलने के कारण पागल हो जाता है।

एक मजिस्ट्रेट जो हत्या के आरोप में अनेक हत्यारों को फांसी का दण्ड दे चुका था, अपने बेटे को हत्या के अपराध में बंदी देखता है और उस केस में उचित दण्ड का निर्णय भी उसे ही करना है। तब न्यायनिष्ठा और पुत्रवत्सलता दोनों कर्तव्यों के बीच मजिस्ट्रेट का विवेक लुप्त होने लगता है, सिर चक्कर खाने लगता है। उसका शरीर कांपने लगता है। उसे सब ओर अंधेरा ही अंधेरा दीखता है। एक ओर कुआं, दूसरी ओर खाई। उसके हाथ से लेखनी गिरने लगती है और वह चेतना शून्य होने लगता है।

राजा दशरथ को प्रण-पालन और राम के प्रति प्रेम और न्याय दोनों कर्तव्यों के बीच भीषण टक्कर होने के कारण चेतना शून्य होकर विलाप करते हुए प्राण तजना पड़ा।

हमने विचार कर देख लिया कि अर्जुन न शारीरिक रोगी है और न मानसिक रोगी और न पलायनवादी है क्योंकि धर्मयुद्ध उसके जीवनभर का अभ्यास है। उसका मन तो सामयिक रूप से स्वजनों के प्रति मोह एवं भीष्म-द्रोण को अजेय जानकर भय से ग्रसित है। उसे शोक इस बात का है कि हमारे स्वजन गोतिया न मारे जाएं और भय इस बात का है कहीं द्रोण और भीष्म से हम ही न मारे जायें। वह भय से रोने लगता है और शोक में गांडीव हाथ से छूट जाता है। स्वयं को रथारूढ़ रखने में भी अपने को असमर्थ पाता है।

यहां दो बातों को और समझ लेना चाहिए जिसे समझ लेने से अर्जुन का आगे जो वक्तव्य है, युक्तियां हैं उसकी संगति और अर्थ स्वतः खुलता जाएगा, स्पष्ट होता जाएगा। शरीर और मन परस्पर सम्बन्धित हैं। शिशु अवस्था से मन खिलना प्रारम्भ होता है। जैसे मन खुलता जाता है, फैलता जाता है वैसे शरीर विस्तृत और पुष्ट होता जाता है। युवावस्था तक मन खुलता जाता है। वृद्धावस्था में मन संकुचित होने लगता है, सिकुड़ने लगता है, मन बीज बनने लगता है। मन के सिमटने के साथ-साथ शरीर भी थकता जाता है, सुस्त, ढीला पड़ता जाता है। शरीर का प्रभाव मन पर पड़ता है और मन का प्रभाव शरीर पर पड़ता है। शरीर स्वस्थ रहने पर मन भी चुस्त रहता है। शरीर भूख-प्यास, बीमारी से पीड़ित होने पर मन भी खिन्न, दुर्बल पड़ जाता है। स्थायी बीमारी से मन चिड़चिड़ा हो जाता है। लम्बे समय तक भूखे रहने पर मन काम करना बंद कर देता है। मन स्वस्थ-सबल है तो शरीर भी चुस्त, फुर्तीला रहता है। इस प्रकार दोनों एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं। पर मन शरीर से सूक्ष्म अधिक बलशाली है तथा वह शरीर का नियामक भी है। मन में दुर्बलता आने पर शरीर में भी दुर्बलता आ जाती है। तो यह शरीर केवल हमारे चित्त का प्रतिफलन है। गहरे में मन में जो घटित होता है वह शरीर के रोएं-रोएं तक फलित हो जाता है। इस प्रकार मन ही निर्णायक है। यहां जैम्स लेगे का सिद्धान्त गलत सिद्ध हो जाता है।

जो अर्जुन महारथी के अहम् के साथ युद्धभूमि में बड़े उत्साह के साथ प्रवेश करता है वही जब अपने स्वजनों और श्रद्धेयजनों को देखता है मन राग और भय के वशीभूत हो दुर्बल पड़ जाता है। तब वह स्वयं को खड़ा रखने में भी अपने को असमर्थ पाता है। स्पष्ट है मन का प्रभाव शरीर पर पड़ता है, शरीर का प्रभाव मन पर। पर जिसका मन सबल है तो उसे चाहे कैसी भी परिस्थिति आ जाए, शरीर की जैसी भी स्थिति हो जाए वह डिगता नहीं। सिख गुरुओं के, विप्लवी बंधुओं

के बलिदान को याद कर लेवें। जिसका मन दुर्बल है तो थोड़ी-सी भी प्रतिकूल परिस्थिति होते ही डिग जाता है, भय-प्रलोभन के आगे बिक जाता है। मुखबिर बन जाता है। इसी कारण कई विप्लवी आन्दोलन विफल हुए। इसीलिए मन के जीते जीत है मन के हारे हार। रामकृष्ण परमहंस-रमण महर्षि, दोनों को कैंसर पर चेहरा कभी क्लान्त नहीं पड़ा।

अतः मन में जो घटना घटती है वही शरीर में व्याप जाती है। भौतिकवादी कहते हैं शरीर में रासायनिक परिवर्तन होते हैं उसके आधार पर मन में भाव उठते हैं। इनके यहां मन, चेतना, प्राण, आत्मा, ईश्वर आदि गौण हैं। मुख्य शरीर है। शरीर व संसार ही सत्य है, चेतना, मन, प्राण, आत्मा आदि उसी का बाई प्रॉडक्ट हैं। चार या पांच भूत विशेष प्रकार से मिलने पर उससे प्राण, जीव पैदा हो जाते हैं। जैसे पान से लाल रंग जैसे गोबर के सड़ने से कीड़े, कीचड़ से मच्छर, जीव-जन्तु आदि प्रकट हो जाते हैं। बरसात में मच्छर आदि गंदगी से उत्पन्न हो जाते हैं। अतः मन, प्राण, चेतना, आत्मा की स्वतंत्र सत्ता नहीं है। शरीर में तंत्रिका तंत्र है, उसमें रासायनिक प्रक्रिया होती है उसी से मनोभाव प्रकट होते हैं। हम दौड़ते हैं इसलिए भय उत्पन्न होता है। रसगुल्ला देखकर मुंह से लार टपकती है तब खाने की इच्छा होती है। मनुष्य का अच्छा-बुरा होना शरीर रचना का, तंत्रिका तंत्र का परिणाम है। इन बातों को मानने में कई कठिनाइयां हैं। तब मनुष्य अपने अच्छे-बुरे कर्म के लिए उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता। भला आदमी, सज्जन बनने की प्रेरणा शेष नहीं बचती है। दूसरा हम रसगुल्ला खा रहे हैं। खाते-खाते कोई अच्छा शुभ समाचार मिलता है तो हम एक के स्थान पर दस खा लेते हैं और कोई जब अशुभ समाचार मिलता है, मुंह में डाला हुआ अंश भी खाया नहीं जाता। शारीरिक स्थिति एक ही है पर मन के भाव में परिवर्तन होते ही हम खा नहीं पाते। मुझे एक सप्ताह बाद विद्वानों के बीच भाषण देना है। पर घबराहट अभी से हैं जबकि भाषण देने की स्थिति सात दिन बाद में आयेगी उस समय शरीर के अन्दर तंत्रिका तंत्र में रासायनिक परिवर्तन होगा पर मुझे घबराहट तो अभी से है। स्पष्ट है मन का प्रभाव शरीर पर पड़ता है। ऐसे ही मां, पत्नी, पुत्री, बहन सबसे गले मिलते हैं, पर प्रत्येक के पीछे भाव अलग-अलग होता है जबकि सबका समान रूप से नारी शरीर ही है। स्पष्ट है शरीर मुख्य नहीं है भाव या मन मुख्य है। उसके अनुसार शरीर में उत्तेजना होती है। नहीं तो सभी नारी शरीर होने से एक सी उत्तेजना होनी चाहिए। सारा संसार एक ही चेतन सत्ता का आत्मा का पसारा है। एकोऽहम् बहुस्याम, एकाकी न रमते—इसलिए अपने आप को ही जीवं, जगत्, ईश्वर के रूप प्रसार किया, फैलाव किया। यह सब एक ही चेतन तत्त्व, आत्म तत्त्व का खेल है, लीला है, एक ही चेतन तत्त्व के संकल्प का प्रसार है। हम आप भी स्वप्न में सृष्टि रचते

हैं या नहीं? हमारे सुप्त, गुप्त, अतृप्त संकल्प से ही तो स्वप्न का संसार खड़ा होता है। स्पष्ट मन की मुख्य सत्ता है, जड़ उसी की तमोगुणी लीला है। शुद्ध सत्त्व गुण से ईश्वर, मलीन सतोगुण से जीव एवं तमोगुण से जड़-जगत् उत्पन्न हो जाता है। स्पष्ट मुख्य सत्ता मन, चेतना या आत्मा की है और आज का विज्ञान भी निरन्तर इस ओर ही बढ़ रहा है। इसलिए मन के राग के कारण मोहग्रस्त, भय के कारण डर बैठ जाने से अर्जुन के शरीर को यह दुरवस्था प्राप्त हुई। भय और लोभ यही कर्तव्य पालन में सबसे बड़ी बाधा है। राग या मोह एवं भय के कारण हम कर्तव्य से च्युत होते हैं। राग के कारण स्वार्थ उत्पन्न होता है। भय से डर के कारण अर्जुन क्षत्रियोचित कर्तव्य से डिग रहा है। राग और भय के कारण ही हम अन्याय का, दुष्टों की दुष्टता का विरोध नहीं कर पाते।

यदि शरीर मुख्य होता तब तो अर्जुन कहता चूंकि मेरा कंठ सूख रहा है, रोम कूप खड़े हो रहे हैं, शरीर कांप रहा है, धनुष-बाण गिर रहा है इसलिए मुझे शोक-मोह-भय हो रहा है। पर ऐसा नहीं होकर वह शोक, मोह, भय से ग्रस्त होने के कारण उसके शरीर की यह अवस्था हो गयी है। शरीर जवाब दे रहा है। स्पष्ट है जब मन में दुर्बलता आ जाती है बुद्धि उसका समर्थन करने लगती है, अहम् उसको स्वीकृत कर देता है तब शरीर भी साथ देना छोड़ देता है। स्पष्ट है मन के अनुसार शरीर में प्रतिक्रिया या प्रतिफलन होता है।

यह स्थिति और भी विकट हो गई तब जब स्वयं उसने विश्व के राजाओं को धर्मयुद्ध के लिए आमंत्रित किया। फलतः 7 अक्षौहिणी सेना आ डटी। अर्जुन न पहले वाली स्थिति में स्थित रह सका और न अब युद्ध में स्थित रह पा रहा है।

अर्जुन स्वजन स्नेह के कारण मोह से एवं भीष्म-द्रोण जैसे अजेय योद्धा के कारण भय आदि मनोविकारों से ग्रस्त है। पर मनुष्य का स्वभाव है कि वह मन की अपनी दुर्बलताओं, त्रुटियों को स्वीकार नहीं करता वरन् उनके समर्थन में तार्किक आधार खोज लेता है ताकि वह लोकनिन्दा से बच सके। आप बुरे से बुरे कार्य करने वाले व्यक्ति के पास चले जायें या भले से भले व्यक्ति के पास चले जायें वह अपने गलत कार्यों, गलत विचारों के समर्थन में युक्तियों का जाल बिछा देगा। वह अपनी गलती नहीं स्वीकारेगा। वह अपनी त्रुटियों के लिए समाज को, परिवेश को, आज की समाज व्यवस्था को दोषी ठहरायेगा। अपनी विवशता, लाचारी को बतायेगा। यह स्थिति हमारी-आपकी सभी की है। जब-जब हमने कोई गलत कार्य किया है तब-तब उस कार्य को सही सिद्ध करने के लिए सौ-सौ तर्क दिये हैं कि नहीं? हां, दिये हैं। अपनी गलती को गलती नहीं माना उसे सही साबित करने का प्रयास किया। सारा अपराध यहीं होता है। गलती करना कोई अपराध नहीं। आज तक दुनिया में कोई नहीं हुआ है जिससे गलती न हुई हो?

और न कभी ऐसा कोई आदमी होगा। भूल तो सभी से होती है। अच्छा आदमी वह जो अपनी भूल स्वीकार कर ले। बुरा आदमी वह जो अपनी भूल को सही साबित करे। मूल कठिनाई यह है कि 'करो ऐब-हुनर दिखलाओ।' सारा दोष यह है कि गलती करके उसे सही साबित करने का प्रयत्न कर रहे हैं। दुनिया में जितने हैं सबसे गलतियां होती हैं। दूसरों के सरसों के दाने बराबर भी दोष हमें दिखाई पड़ जाते हैं किन्तु अपना दोष बेल के बराबर भी हो तो दिखाई नहीं पड़ता। अतः भगवान् से प्रार्थना करनी चाहिए हे भगवन! हमें वो दृष्टि दो जो हम स्वयं के दोष देख सकें। अपना दोष तो छोड़ें अपनों का भी दोष दिखाई नहीं देता। मां को अपने बेटे का भी दोष दिखाई नहीं देता। अतः जब हम अपनी त्रुटियों को न स्वीकार कर उसके समर्थन में तर्कसम्मत आधार प्रस्तुत करते हैं उसे मनोविज्ञान और समाजशास्त्र में बौद्धिकीकरण या तर्काभास या आत्मरक्षा तंत्र कहा जाता है। वह अपनी दुर्बलताओं को आदर्श का जामा पहना देता है उनके समर्थन में अनेक युक्तियां ढूंढ़ लेता है।

यूरोप-अमेरीका के गोरे लोग वहां के नीग्रो लोगों को जातिविद्वेष के कारण युगों से सताते चले आए हैं। ऊंची शिक्षा एवं ऊंचे पदों पर पहुंचकर भी उनका हब्शी लोगों के प्रति अत्याचार का पूर्वाग्रह बना हुआ है। लोकनिंदा से बचने के लिए उन्होंने नीग्रो लोगों के प्रति अपने अत्याचार के लिए Rationalise करके कुछ तर्क खोज लिए हैं, जैसे नीग्रो लोगों के शरीर से एक बदबू निकलती रहती है, जो बदबू गोरे लोगों के स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है। इनका रक्त गोरों के रक्त से भिन्न है। इनकी टांगें गोरे लोगों के पांवों से अधिक लम्बी हैं इसलिए दौड़ एवं अन्य खेलों में ये टांगों के कारण आगे निकल जाते हैं। इसलिए खेलों में न्याय नहीं हो सकता है। गोरे लोग ऐसे ही मनगढ़न्त तर्क खोजकर नीग्रो लोगों पर अत्याचार का Rationalisation करते रहते हैं।

अंग्रेज भारतवासियों के प्रति कहा करते थे 'White men burdon' असभ्य देशों को सभ्य करने, प्रशिक्षित करने का नैसर्गिक दायित्व निभाना पड़ रहा है, जब हिन्दू-मुस्लिम सभ्य और एक हो जाएंगे तो ये स्वाधीनता देकर वापस लौट जायेंगे।

पर भगवान् श्रीकृष्ण तो अन्तर्यामी हैं। हमारे अन्तर के भाव को सीधे उसके मूल उत्स से (जहां से उठते हैं) जान लेते हैं जिनका पता स्वयं को और जगत् को बहुत बाद में चलता है। पहले अन्तःकरण में भाव उठता है, फिर मन में संकल्प की तरंग उत्पन्न होती है, चित्त उस पर चिन्तन करता है, बुद्धि विचार कर निर्णय लेती है अहम् उसको स्वीकृत करता है, इतनी लम्बी प्रक्रिया चलने के बाद उसे स्वयं को और हमारे व्यवहार से संसार जान पाता है।

भगवान् अर्जुन की चालाकी समझकर मौन हैं। समझ जाते हैं शिष्य ज्यादा सयाना हो गया है। देखें तर्क का कितना भण्डार उसके पास है। अतः भगवान् एकदम मौन रहकर अर्जुन की बात सुनते जाते हैं जैसे बच्चा गलती करता है पर उसे स्वीकार न कर उसके लिए तर्क प्रस्तुत करता है तो मां चुपचाप सुनती जाती है। बच्चा तर्क करता जाता है पर जब समझ जाता है उसकी मां उसकी पोलपट्टी समझ रही है तब वह आत्मसमर्पण कर देता है। ऐसी ही स्थिति अर्जुन की जब होगी तब भगवान् अपना मुंह खोलेंगे। अब अर्जुन युद्ध से विरत होने के पक्ष में क्रमशः अनेक युक्तियां पेश करेगा, जो विवेक प्रसूत न होकर मोह प्रसूत है उस मजिस्ट्रेट की तरह। अगर यहां जरासंध की सेना खड़ी होती तो ये तर्क पेश नहीं करता और सीधे बड़े जोश के साथ युद्ध करता। अब चूंकि युद्ध में कौरव वंश यानी अपना परिवार खड़ा है इसलिए ये सारे तर्क उसके मस्तिष्क में उपजते हैं जो विवेक प्रसूत न होकर मोह प्रसूत हैं। अब अर्जुन प्रथम युक्ति प्रस्तुत कर रहा है—

निमित्तानि च पश्यामि, विपरीतानि केशव।
न च श्रेयोऽनु-पश्यामि, हत्वा स्वजन-माहवे।। 1/31

अब अर्जुन को सब विपरीत लक्षण दिख रहे हैं तथा अपने सम्बन्धियों को मारकर कुछ कल्याण होगा ऐसा प्रतीत नहीं होता।

अन्तर्मन का प्रकाश बहिर्जगत् है। युद्ध के पूर्व युधिष्ठिर महाराज कौरवों की विशाल सेना देखकर हताश हो रहे थे तब अर्जुन ने ही सांत्वना देकर उत्साहित किया था कि विजय सेना के छोटे-बड़े आकार के आधार पर नहीं वरन् धर्म-अधर्म, सत्य-असत्य के आधार पर होती है। शंखवादन भी बड़े उत्साह के साथ किया। पर जब स्वजनों के मोह ने जब मन को अभिभूत कर लिया, मन में दुर्बलता प्रवेश कर गई तब बहिर्जगत् में भी विपरीत लक्षण दिखने लगते हैं। जिसके मन के अन्दर भूत बैठ जाता है तब बहिर्जगत् में भूत नहीं रहने पर भी उसे भूत दिखने लगते हैं। जब मन दुर्बल हो जाता है तो बहिर्जगत् बलवान बनकर उसे डराने लगता है। यही बात यहां अर्जुन के साथ है, स्वजनों के प्रति ममता और भय ने उसके मन को दुर्बल कर दिया है। क्षत्रियोचित कर्तव्यपालन करने में अपने को असमर्थ पाने से बहिर्जगत् में भी उसे विपरीत लक्षण दिखने लगे उसके पूर्व नहीं। मनुष्य जिस भाव को लेकर जगत् के पास जाता है ठीक वैसा ही उसको जगत् दिखने लगता है। पीलिया रोगी को सारा जगत् पीला ही दिखता है, उदास मनुष्य को सारा जगत् उदास ही दिखता है। उत्साही पुरुष के लिए सारा जगत् उत्साहपूर्ण हो जाता है।

अगर हमारे अन्दर भूत बैठा है तो बहिर्जगत् में उसे भूत कैसे पकड़ लेते हैं इसका दृष्टान्त देखें—इस संदर्भ में स्वामी आत्मानन्द बचपन की एक घटना

प्रस्तुत करते हैं। एक समय कुछ नवयुवकों में भूत-प्रेत के अस्तित्व पर बहस चल रही थी। कुछ समर्थक थे और कुछ विरोधी। समर्थकों ने कहा, अमुक स्थान पर मुर्देघाट में भूत रहते हैं, वहां कोई रात्रि को बारह बजे कील गाड़ आवे तब जानें कि वह भूत पर काबू पा गया। दो फर्लांग दूर सब इकट्ठे हो गए और एक साहसी नवयुवक कील और हथौड़ी लेकर उत्साह से चला और निश्चित स्थान पर पहुंचकर उसने कील गाड़ दी। लेकिन जब वह कील गाड़कर उठा तो उसका कुरता किसी ने पकड़ लिया। उसके अन्तर्मन में साक्षात् भूत आ गया और तत्काल हार्ट फेल होकर वह मर गया। जब बहुत देर तक वह वापस न आया तो समस्त नवयुवक धीरे-धीरे इकट्ठे होकर श्मशान की तरफ लालटेन लेकर चले। वहां पहुंचकर सबने उसे मरा पाया। उसने अपने कुरते में कील ठोक दी थी। उठते समय जब कुरता कील से अटक गया तो उसने उसे भूत द्वारा पकड़ा गया समझ डर कर प्राण त्याग दिये।

भूत होते हैं। भूत नहीं होते हैं ऐसी बात नहीं है। वास्तविक भूत तो कम होते हैं मन के भूत ज्यादा होते हैं। और वास्तविक भूत तो कम होते हैं पर भूत के भय की व्याप्ति ज्यादा होती है। और भूत का भय जब मन में समा जाता है, व्याप जाता है तब जहां भूत नहीं है वहां भी भूत दिखने लगते हैं, तब वहां मन के काल्पनिक भूत खड़े होकर हमें त्रस्त करते रहते हैं।

न काङ्क्षे विजयं कृष्ण, न च राज्यं सुखानि च।
किं नो राज्येन गोविन्द, किं भोगैर्-जीवितेन वा।। 1/32

येषामर्थे काङ्क्षितं नो, राज्यं भोगाः सुखानि च।
त इमेऽवस्थिता युद्धे, प्राणांस्-त्यक्त्वा धनानि च।। 1/33

आचार्याः पितरः पुत्रास्,-तथैव च पितामहाः।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः, श्यालाः सम्बन्धिनस्-तथा।। 1/34

अब जिन हेतुओं से युद्ध में प्रीति प्रवृत्ति हो सकती है उन सबको अर्जुन अस्वीकारते हुए कह रहा है, हे श्रीकृष्ण! नहीं चाहिए मुझे विजय, विजय सम्भव जीवन और राज्य, राज्य सम्भव विविध भोग और भोग सम्भव विविध सुख। जिनके लिए हमें विजय, जीवन, राज्य, भोग और सुख चाहिए वे ही बन्धु-बान्धव जीवन और धन की आशा को छोड़कर युद्ध के लिए उद्यत हैं। ऐसी स्थिति में स्वजन संहार का हमारे लिए क्या औचित्य सिद्ध होता है?

युद्ध भी किनसे? स्वजनों से। विजय भी किस पर? स्वजनों पर। राज्य भी किनका? स्वजनों का। सुख भी कैसा? स्वजनों को मारकर उनके समाश्रितों को रुलाकर मिलने वाला। भला ऐसे स्वजनों के रक्त से रंजित विजय, राज्य और सुख में हम आर्यों की कैसी प्रीति और प्रवृत्ति। विजय जीवन को सूचित करती

है, विजय राज्य को देने वाली है। राज्य विविध प्रकार के सुखोपभोग को देने वाला है। न मुझे विजय चाहिए, न जीवन, न राज्य और न सुखोपभोग। माना कि विषयोपलब्धि प्रियप्रद है, राज्योपभोग मोदप्रद है और सुखोपलब्धि प्रमोद है। परन्तु स्वजन संहार से प्राप्त वेदना की ज्वाला जिस हृदय में धधक रही है उसमें प्रिय, मोद-प्रमोद के पनपने की आशा व्यर्थ ही है।

हम परिवार के लिए, पत्नी, बच्चों, माता-पिता, भाई-बहन के लिए ही तो कमाते हैं, जीते हैं, खाते हैं। वे नहीं रहने से खाने-पीने व जीने की विशेष प्रवृत्ति नहीं प्रतीत होती। पूरा परिवार जुटता है तब आनन्द-मंगल, मौज की प्रवृत्ति होती है। अतः आर्यगण या आरूढ़ महानुभाव को राज्य भोग और सुख किसके लिए चाहिए, स्वजनों के लिए। केवल अपने लिए इन्हें चाहने वाला तो पाप ही चाहने वाला है। जिसके स्व का जितना विस्तार होता है—किसी का परिवार तक, किसी का समाज, किसी का जाति, राष्ट्र पर्यन्त, तो किसी का मानव मात्र के प्रति, तो किसी का सम्पूर्ण जीव सृष्टि के प्रति तो किसी का सम्पूर्ण सृष्टि के प्रति। अब जिसकी स्व की परिधि जितनी बड़ी होती है जितना बड़ा लक्ष्य होता है उतनी बड़ी ही अपनों की परिधि होती है। मनुष्य जब बच्चा होता है तब केवल अपने लिए जीता है। जैसे-जैसे बड़ा और संस्कारी होता है वह अपने स्वार्थ को लांघकर परिवार के लिए जीने का प्रयास करता है। जैसे-जैसे उसका मानस विकसित होता जाता है वैसे-वैसे वह परिवार से अपने समाज, फिर अपनी जाति, फिर अपने प्रान्त, फिर अपने देश, फिर विश्व, फिर मानव मात्र, फिर जीव मात्र, फिर सृष्टि मात्र उसकी स्व की परिधि में आ जाता है (जैसे रामकृष्ण परमहंस का)। अर्जुन की स्व की परिधि के अन्तर्गत सारा कौरव पक्ष आता है। अब सारा कौरव पक्ष, सारे स्वजन ही चाहे स्वपक्ष में हो या परपक्ष में हो, युद्ध के लिए तत्पर हैं जीवन और धन की आशा छोड़कर। हमें केवल अपने लिए तो धन और राज्य चाहिए नहीं, और जिन सबों के लिए चाहिए वे ही तो सब युद्ध में प्राण त्यागने को प्रस्तुत हैं। ऐसी स्थिति में युद्ध में प्रीति, प्रवृत्ति कैसे हो सकती है। और यह युद्ध एक विश्व युद्ध था जिसमें प्रायः सभी संसार के राजा सम्मिलित हुए। इसमें सर्वसंहार प्रायः निश्चित था। महाभारत युद्ध में 1 अरब 66 करोड़ 20 हजार योद्धा मारे गए। 24 हजार 165 सैनिक लापता हो गए। युद्ध में केवल 12 जीवित रहे। पाण्डव पक्ष से आठ जिसमें पांच पांडव, श्रीकृष्ण, सात्यकि, युयुत्सु और कौरव पक्ष के मात्र चार (कृपाचार्य, कृतवर्मा, अश्वत्थामा एवं संजय) जीवित बचे। इस प्रकार युद्ध में कुल 1 अरब 66 करोड़ 44 हजार 177 योद्धाओं ने भाग लिया।

अर्जुन विषाद में यह भूल गया कि यह व्यक्तिगत राज्य प्राप्ति के लिए युद्ध न होकर धर्म राज्य की पुनर्स्थापना के लिए युद्ध है। इसलिए भगवान् श्रीकृष्ण

उनके साथ हैं। यह मात्र दो परिवारों की आपसी लड़ाई नहीं है। राज्य जैसी लोक-कल्याणकारी संस्था धर्मात्मा पाण्डवों के हाथ में रहनी चाहिए या पापी, दुरात्मा दुर्योधन के हाथ में रहनी चाहिए। राज्य जैसी लोक-कल्याणकारी संस्था कोई व्यक्तिगत संस्था नहीं अपने या अपने परिवार के उपभोग के लिए। वह तो सारी जनता के हित के लिए है। वह तो सर्वजन सुखाय, सर्वजन हिताय के लिए है। अतः ऐसी संस्था पर धर्मराज युधिष्ठिर जैसों का शासन होना चाहिए जिससे व्यापक लोकहित हो। यह देश का केन्द्रीय शासन भी है। जिसका प्रभाव केवल भारत में स्थित राज्यों तक ही सीमित नहीं रहने वाला वह पूरे विश्वस्तर पर रहा है। इसलिए विश्वस्तर के राजा-महाराजा इसमें शामिल हुए हैं। अतः यह दो परिवारों की लड़ाई होती तो सारे विश्व के राजा दो परिवारों की सम्पत्ति निपटारे के लिए अपने-अपने प्राण, धन, सब कुछ त्यागकर नहीं आते। आज भी दो भाइयों की सम्पत्ति बंटवारे के लिए संघर्ष होता है, तो उन्हें सम्पत्ति दिलवाने के लिए कोई भी अपने प्राण देने को जाते हैं क्या? यह तो दो जीवनमूल्यों, दो जीवनादर्शों का संघर्ष था। राज्य जैसी लोक-कल्याणकारी संस्था पर शासन किसका होवे धर्मात्मा पाण्डवों का या व्यक्तिगत जागीर की तरह उपभोग करने वाले दुरात्मा पापी कौरवों का। भगवान् श्रीकृष्ण की इस युद्ध में प्रवृत्ति क्यों हुई? धर्मराज्य की स्थापना के लिए जिसमें धर्मात्मा पाण्डवों को निमित्त बनाते हैं। पर अर्जुन विषाद में इस तथ्य को भूल गया है। और स्वजन मोह ने उसे लक्ष्यच्युत कर दिया, उत्साह समाप्त कर दिया। फलतः उसे अब युद्ध अनावश्यक लगने लगा। लक्ष्य खो जाने से युद्ध व्यर्थ लगने लगा।

जीवन को उत्साही बनाये रखने के लिए अपने जीवन में कोई-न-कोई लक्ष्य अवश्य कायम रखना चाहिए। जीवन का लक्ष्य खो जाने से जीवन भार-स्वरूप हो जाता है। जिस दिन से हम सपने संजोना बंद कर देते हैं, अरमान देखना बंद कर देते हैं उसी दिन से जीवन ढीला पड़ने लगता है और धीरे-धीरे हम मृत्यु की ओर अग्रसर होने लगते हैं।

अर्जुन स्वजन मोह के वशीभूत अपने उद्देश्य को, आदर्श को, जीवन लक्ष्य को भूल गया है। फलतः युद्ध करना ही व्यर्थ नहीं अपना जीवन भी थोड़ी देर बाद भार-स्वरूप लगने लगेगा। अतः जीवन को गतिशील बनाये रखने के लिए, उत्साही बनाये रखने के लिए सदैव जीवन के सामने एक आदर्श, एक लक्ष्य होना चाहिए। लक्ष्य के अभाव में जीवन भार-स्वरूप हो जाता है जैसा क्रिस्टोफर ईशरवुड के साथ हो गया।

अमेरीका के महान् लेखक क्रिस्टोफर ईशरहुड को आत्महत्या से बचाने वाली भगवद्गीता है। उसने बाइबिल में जब यह पढ़ा कि ईश्वर दूर सातवें आसमान में बैठा हुआ है और उसका न्यायालय करोड़ों वर्षों के बाद कयामत के

दिन खुलेगा तो उसने ईश्वर पर विश्वास करना ही छोड़ दिया। उसने कहा कि ऐसे ईश्वर से कोई धरती का मजिस्ट्रेट ही अच्छा है। जो हमें कुछ मास या कुछ वर्ष में न्याय तो देता है। यदि किसी आदमी ने आज मुझे चोट मारी है और उसे दण्ड लाखों वर्षों के बाद मिलेगा तो यह घोर अन्याय है। अतः ईशरवुड गीता और हिन्दू धर्म के प्रभाव से पुनः अपनी आस्था एवं जीवन बचा सका।

यही आज पाश्चात्य देशों के साथ हो रहा है। भौतिकता जीवन को कोई महत्त लक्ष्य नहीं दे सकती और अर्थ और काम की अधिकता से ऊब पैदा हो जाती है। यही कारण है कि आज धन—स्त्री, पुत्र आदि उन्हें सुख नहीं दे पा रहे हैं। भोगों की अधिकता से ऊब पैदा हो रही है और जीवन के किसी महत्त लक्ष्य के प्रति न तो जानकारी है, न आस्था है और न ही उनकी जीवन व्यवस्था में उसका कोई स्थान ही और न ही कोई आधार ही है। फलतः वे पागल हो रहे हैं, नशे में डूब रहे हैं, हिप्पी हो रहे हैं, आत्महत्या कर रहे हैं। क्योंकि भौतिक भोग उन्हें सुख दे नहीं पा रहे हैं, नींद दे नहीं पा रहे हैं और आध्यात्मिक लक्ष्य के प्रति न आस्था है और न ही आधार। अतः जीवन का भार ढो रहे हैं या पागल हो रहे हैं या नशे में डूबकर जीवन नष्ट कर रहे हैं।

भारत में किसी को भौतिक आघात लगता है तो उसे आध्यात्मिक आधार मिल जाता यथा तुलसीदास, रत्नाकर डाकू, सूरदास, मानव सेवासंघ के प्रतिष्ठाता शरणानन्दजी को। इस देश में जन्म मात्र से कुछ-न-कुछ आध्यात्मिक आधार एवं संस्कार यहां के अन्न-जल के सेवन से ही मिल जाते हैं। इसलिए वह बड़ी से बड़ी विपत्ति को झेल लेता है। वह पूर्व जन्म के आधार पर, प्रारब्ध के आधार पर, कर्म फल के आधार पर, नीचे प्रारब्ध और ऊपर ईश्वर के नाम पर हिन्दू बड़ी से बड़ी विपत्ति झेलकर आगे के कर्म को सुधारने की चेष्टा करता है।

पर पश्चिम में या तो भौतिकवादी नास्तिक है या ईसाई है। उनके पास ऐसा कोई आधार नहीं। वे न पूर्व जन्म को, न पश्चात् जन्म को और न कर्मफल का विश्वास है। अतः वह कठिनाई को झेल नहीं पाता। इंग्लैण्ड के ट्रेन में बम विस्फोट, तो लोगों ने ट्रेन में बैठना बंद कर दिया, हवाई जहाज का अपहरण तो हवाई जहाज में बैठना बंद कर दिया। पर अपने देश में कितने विमान अपहरण हो गए, बम विस्फोट हो गए उसका कोई स्थायी असर नहीं, मात्र थोड़ी देर के लिए प्रभाव रहता है।

एतान्न हन्तु-मिच्छामि, घ्नतोऽपि मधुसूदन।
अपि त्रैलोक्य-राज्यस्य, हेतोः किं नु मही-कृते।। 1/35

अर्जुन कहता है, हे मधुसूदन! मधु दैत्य को मारने में प्रीति-प्रवृत्ति हो सकती है और उचित भी है। कंस स्वजन तो था पर प्रथम से ही शत्रुभावापन्न, अत्याचारी,

असुरप्राय था। उसकी तुलना पूज्य भीष्म-द्रोण जैसे गुरुजनों से नहीं की जा सकती है। और अपने यादव कुल संहार की घटना अभी तक नहीं हुई है। वह तो महाभारत युद्ध के 36 वर्ष पश्चात् होगी। उनका कुल स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण का बल पाकर उद्दण्ड हो गया तो संसार के लिए कंटक जानकर उसे परस्पर में लड़ाकर कटवा डाला। पर यह तो भविष्य में घटने वाली घटना है।

कुछ लोग भगवान् श्रीकृष्ण पर आरोप लगाते हैं कि अर्जुन को भुला-फुसलाकर उसके परिवार को कटवा डाला। उनका यह आरोप निराधार है क्योंकि जब उनका अपना ही कुल-कुटुम्ब उद्दण्ड हो गया, धर्म विरुद्ध आचरण करने लगे तो अपने पूरे परिवार को भी नष्ट करवा दिया और उसी अवस्था में उद्धव को उपदेश देते हैं। यहां गीता में तो उपदेश के पश्चात् कौरव कुल का संहार होगा। वहां तो श्रीकृष्ण पहले ही अपने परिवार को कटवा डालते हैं। उनकी लाशें बिछी हैं और उसी अवस्था में उद्धव को उपदेश देते हैं। पर यह घटना तो भविष्य में घटने वाली है। अतः इस घटना से अभी सीख ली नहीं जा सकती।

इसलिए अर्जुन कहता है मधु दैत्य एवं कंस जैसे शत्रुभावापन्न असुरप्राय का तो वध किया जा सकता है पर पूज्य स्वजनों का, आत्मभावापन्न स्वजनों का संहार कैसे किया जा सकता है। स्वजनों का संहार भू राज्य के लिए तो क्या त्रिभुवन के राज्य प्राप्ति के लिए भी नहीं किया जा सकता है। त्रिभुवन की निष्कंटक राज्य लक्ष्मी भी मुझ पाण्डव को प्रमुदित कर दे ऐसा मुझे नहीं दिखता है। स्वजनों का संहार कर भला हम सुखी कैसे हो सकते हैं? आचार्य और पितामहादि सगे-सम्बन्धियों के द्वारा भले ही मारा जाऊं फिर भी उन्हें मारना उचित नहीं समझता।

अभिप्राय यह है कि कदाचित स्वजन संहार के लिए उद्यत दुर्योधनादि और उनके लिए प्राणों को न्योछावर करने की भावना वाले आचार्य द्रोणादि यदि ऐसा सोचें कि इनको मारे बिना निष्कंटक राज्यादि सम्भव नहीं। क्योंकि हम पुनः कभी भी चुनौती बन सकते हैं। सत् प्रवृत्ति के लोगों का पुनः संघ बनाकर पुनः चुनौती दे सकते हैं। ये दुर्योधन के राज्योपभोग में सदैव बाधा बना रहेगा, तलवार बनकर लटका रहेगा। अतः 'न रहे बांस न बजेगी बांसुरी' की भावना से हमारा वध कर दे, रोज-रोज का झमेला ठीक नहीं। तो भी हम इन्हें बिना मारे इनके द्वारा मरकर भी इन्हें सुखी देखना चाहते हैं। हम इन्हें मारकर सुखी नहीं रह सकते और ये हमें मारकर भी सुखी रह सकते हैं इसका सदैव इन्होंने प्रयास भी किया है पर असफल रहे। अतः पुनः ये युद्ध में प्रवृत्त हुए हैं। हम तो प्रथम से ही युद्ध नहीं चाहते हैं, युद्ध न हो इसका सब प्रकार से प्रयास किया। लाचारी के रूप में, अन्तिम आवश्यक बुराई के रूप में स्वीकारना पड़ा है न चाहते हुए भी। किन्तु अब मुझे लगता है युद्ध का निर्णय करके ठीक नहीं किया। इस भूल को अब तो सुधार लेना चाहिए।

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः, का प्रीतिः स्याज्-जनार्दन।
पाप-मेवाश्रये-दस्मान्, हत्वैता-नाततायिनः।।1/36।।
तस्मान्-नार्हा वयं हन्तुं, धार्तराष्ट्रान् स्व-बान्धवान्।
स्वजनं हि कथं हत्वा, सुखिनः स्याम माधव।।1/37।।

यद्यपि दुर्योधनादि आततायी हैं। आग लगाने वाला, विष देने वाला, हाथ में शस्त्र लेकर मारने को उद्यत, धन का हरण करने वाला, जमीन छीनने वाला और स्त्री का हरण करने वाला ये आततायी है। दुर्योधनादि में ये छहों लक्षण एक साथ चरितार्थ हैं। उन्होंने हमें लाक्षागृह में आग लगाकर मारना चाहा। भीमसेन को जहर खिलाकर जल में फेंक दिया, जब हम उनकी सारी शर्तों को पूरी करके अपना हक मांगने लगे तो हाथ में शस्त्र लेकर मारने को तैयार हैं, द्यूत में छलकपट का आश्रय लेकर इन्होंने हमारा धन और राज्य हर लिया। भरी सभा में दुर्योधन, दुःशासन ने द्रौपदी का अपमान किया। दुर्योधनादि की प्रेरणा से जयद्रथ द्रौपदी को हरकर ले गया। ऐसी स्थिति में मनुस्मृति के अनुसार आततायी को मारने में कोई दोष नहीं है।

परन्तु आततायी होते हुए भी स्वजन हैं। स्वजन संहार से बढ़कर कोई पाप नहीं है। वही संसार में सबसे बड़ा पापी है जो कुल का नाश करता है। स्वजन संहार से लोक-परलोक दोनों नष्ट हो जाते हैं। आवेश में आकर कोई स्वजनों का संहार कर भी दे तो भी बाद में उसे पछताना पड़ता है। मरने के बाद यम यातना की भी प्राप्ति होती है। ऐसी स्थिति में इन धार्तराष्ट्रों को मारकर भला हमें कौन-सा पुण्य प्राप्त होगा।

फिर विजय, राज्य आदि का फल सुख ही तो है। इन सगे-सम्बन्धियों को मारकर हमें कौन-सा सुख मिलेगा। स्वजन संहार भी करें और सुख से भी वंचित भी रहें यह कौन-सी बुद्धिमानी है।

यद्यप्येते न पश्यन्ति, लोभोपहत-चेतसः।
कुल-क्षय-कृतं दोषं, मित्र-द्रोहे च पातकम्।। 1/38
कथं न ज्ञेय-मस्माभिः, पापा-दस्मान्-निवर्तितुम्।
कुल-क्षय-कृतं दोषं, प्रपश्यद्भिर्-जनार्दन।। 1/39

ये धृतराष्ट्र के पुत्र दुर्योधनादि लोभ के वशीभूत होकर मित्र द्रोह सम्भव पातक को नहीं देख रहे हैं। न ही उन्हें कुलक्षय से सम्भव दोष का ही परिज्ञान है। विवेकियों का दायित्व अधिक होता है। हम कुलक्षयकृत दोष और मित्रद्रोहकृत-पातक को देखते हुए भी इनकी ओर से मुंह फेरने को क्यों उद्यत हो गए हैं?

माना कि दुर्योधनादि लोभ के वशीभूत होने पर विवेक शक्ति के तिरस्कृत हो जाने से ये कुलक्षय सम्भव दोषों को और मित्रद्रोह सम्भव पाप को नहीं देखते।

परन्तु हे जनार्दन! हम तो आपकी अनुकम्पा से कुलक्षय सम्भव दोष को भलीभांति पहचानते हुए भी इस पाप से निवृत्त होने का विचार क्यों नहीं करें। हमें तो मित्रद्रोह सम्भव दोष से अवश्य ही बचना चाहिए।

अभिप्राय यह है कि विवेकी का दायित्व अधिक होता है। लोभ के वशीभूत दुर्योधनादि उसी कुल के हैं जिस कुल के हम हैं। दोनों एक कुल के होने से विधाता के द्वारा एक-दूसरे का मित्र बनाकर भेजे गए हैं। लोभ ने इनके विवेक विज्ञान को दबोच लिया है। यही कारण है कि ये प्राप्त विवेक का समादर न कर अनादर कर रहे हैं। ऐसी स्थिति में इनके द्वारा आयोजित अनर्थ का अनुगम कर हम मित्रद्रोह और कुल क्षय सम्भव दोषों को क्यों जन्म देना चाहते हैं। लोभी, कामी, क्रोधी, मोही, आततायी के द्वारा आयोजित अनर्थों का अनुकरण कर हम स्वयं उन सब अनर्थों को मोल लेने को कटिबद्ध हैं। दुर्बुद्धि दुर्योधनादि की बुद्धि का अनुगमन कर बन्धु विरोध और बन्धुक्षय को जन्म दे रहे हैं। ऐसी स्थिति में हमें सम्भावित अनर्थों से स्वयं को अवश्य बचा लेना चाहिए।

पर स्वत्व (=धन) के प्रति महत्त्व बुद्धि के कारण उसे प्राप्त करने की भावना का उदय लोभ है। लौकिक वैदिक मर्यादा का उल्लंघन कर उसको हथियाने की भावना द्रोह है। द्रोह का परिणाम क्षय है। दुर्योधन लोभ के वशीभूत होकर मित्रद्रोह और स्वजन क्षय (कुलक्षय) के लिए उद्यत है। हम कर्तव्य के नाम पर मित्रद्रोह और कुलक्षय का अनुगमन करने के लिए उद्यत हैं। प्रकारान्तर से कर्तव्य के नाम पर हमारी वही मनःस्थिति है जो दुर्योधनादि की है। यानी हम भी लोभ की वृत्ति से संचालित हैं। अतः हमें अब तो अपने आपको सम्हाल लेना चाहिए।

भारतीय समाज व्यवस्था का मूलाधार संयुक्त परिवार व्यवस्था है। एक व्यक्ति निर्माण की मूल धुरी कुल (परिवार) है। व्यक्ति मूल है। उसी के योग से परिवार, समाज, राष्ट्र, विश्व बनता है। मूल समस्या व्यक्ति निर्माण की है। व्यक्ति का निर्माण परिवार में होता है। व्यक्ति का निर्माण हो जाने से अलग से समाज, राष्ट्र, विश्व के लिए अधिक चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं होती। व्यक्ति को बचपन से ही सदाचार और नेकी की शिक्षा, संस्कार परिवार में ही मिलता है। वेद ने कहा है मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्य देवो भव। इस तरह बच्चे को सबसे पहली शिक्षा अपनी मां की गोदी में मिलती है। भारत के ऋषियों ने कहा है—माता निर्माता भवति अर्थात् मां ही इन्सान की सबसे बड़ी निर्माता है। सरोजिनी नायडू का कथन है—The hand that rocks the cradle rocks the whole world अर्थात् माता का जो हाथ बच्चे को पालने में झुलाता है वह सारी दुनिया को हिला सकता है। असल में मां-बाप द्वारा दी गई शिक्षा के आधार पर इंसानी जिंदगी की बुनियाद निर्माण होती है।

बच्चा जब छोटा होता है तब उसकी चेतना अपने शरीर तक ही सीमित रहती है। दो साल से पांच साल तक बच्चों में एक ईर्ष्या अवस्था होती है। उस समय भाई-बहिन एक-दूसरे से छोटी-छोटी बातों पर लड़ते-झगड़ते हैं। यदि बहन को खिलौना या मिठाई मिलती है तो भाई ईर्ष्यावश रोने लगता है उसे वह चीज क्यों नहीं दी गई। कई बार भाई बहिन की मिठाई छीन लेता है और खिलौना तोड़ देता है। बहन के रोने पर वह उसे और चिढ़ाता है। तब मां उसे समझाती है कि बहन तो देवी होती है उसे छेड़ना, तंग करना पाप है। तब धीरे-धीरे वही भाई परिवार के संस्कारों से संस्कारित हो ऐसा बन जाता है कि वह बड़ा होकर बहन के लिए अपनी जान और जायदाद कुर्बान कर देता है। यानी व्यक्ति परिवार में अन्य सदस्यों के प्रति कर्तव्य पालन एवं उत्तरदायित्व का प्रशिक्षण पाता है। अतः परिवार नैतिक एवं सामाजिक जीवनमूल्यों का एक सुन्दरतम पालना है। परिवार के झूले में झूलता हुआ व्यक्ति धीरे-धीरे एक सामाजिक प्राणी बनता है।

A family is the noblest cradle of all social and moral virtues. एक परिवार समस्त सामाजिक एवं नैतिक सद्‌गुणों के शिक्षण का सर्वश्रेष्ठ पालना है।

मनुष्यत्व से च्युत होकर मानव पशु, नरपशु से नरपिशाच में न होकर उसका उत्थान मानव से देवत्व की ओर देवत्व से सर्वोच्च ही विकास ब्रह्मत्व तक हो इसके लिए एकमात्र सहज, सुलभ साधन परिवार, कुल धर्म की रक्षा है। पर इस विश्व युद्ध में कौरव-पाण्डव, दोनों कुलों का नाश होना निश्चित है।

आज पाश्चात्य मनीषा स्वीकार कर रही है कि अपने देश में हो रहे आपराधिक कर्मों का बहुत बड़ा या एकमात्र कारण वहां के पारिवारिक जीवन का भ्रष्ट हो जाना है जहां व्यक्ति संस्कारित होते हैं जहां उसका निर्माण होता है। यह पारिवारिक केन्द्र ध्वस्त हो जाने से युवा पीढ़ी भ्रष्ट व सभी प्रकार के दुराचारों एवं पापाचारों में लिप्त होती जा रही है। आज पश्चिम में परिवार जीवन समाप्तप्राय है। आज जितने भी प्रकार के अपराध हैं उसमें सबसे सिरमौर अमेरीका है। कम-बेशी यही हाल सारे यूरोपीय देशों का है। आज जहां बच्चे स्नेह से वंचित हैं, जहां बुढ़ापा सम्मानहीन बोझ के सदृश है ओल्ड हाउस में कटता है जहां जवानी चंचल और अस्थिर, जहां सारे रिश्ते समाप्त हो गए हैं, सिर्फ पति-पत्नी का रिश्ता बचा हैं। वह रिश्ता भी बहुत कच्चे धागे से बंधा है जो किसी भी समय तलाक में बदल सकता है। जिस सभ्यता का बचपन बीमार हो, बुढ़ापा बेकार सम्मानहीन हो, जवानी अस्थिर चंचल हो उसका गंतव्य क्या हो सकता है? रूस के राष्ट्रपति गोर्बाचेव और इंग्लैण्ड की प्रधानमंत्री थैचर कहते

हैं—हमें अपने देश के गौरव की रक्षा करनी है तो भारतीय परिवार व्यवस्था और जीवन-मूल्यों को स्वीकार करना पड़ेगा।

अतः अर्जुन कहता है हम तो विवेकी हैं। हमारी दृष्टि तो लोभ से भ्रष्ट नहीं हुई। अतः हम क्यों कौरवों की तरह अंध पाप में प्रवृत्त होकर कुल धर्म को नष्ट कर मित्रद्रोह के पातकी बनने जा रहे हैं।

क्योंकि जिस प्रकार शास्त्र ने जहां एक ओर धर्म, न्याय और सदाचार की रक्षा के लिए युद्ध को कर्तव्य बतलाया है दूसरी ओर वही धर्म अपने परिवार की, अपने परमपूजनीय आचार्य, पितामह आदि की रक्षा और पूजा करने का भी आदेश देता है। इस युद्ध में तो उनकी हत्या करनी पड़ेगी और गुरु हत्या, पितृ हत्या जैसे घोर पाप का भागी बनना पड़ेगा। इसमें तो धर्म के बजाय उलटा अधर्म ही होगा।

और फिर यदि इस अधर्म की ओर से आंखें मींच ली जाए और प्रजा के न्याय और सदाचार की रक्षा पर ही दृष्टि रखी जाए तो इस उद्देश्य की पूर्ति भी इस युद्ध से होने की आशा नहीं है। कारण, कुल, जाति और देश के जो श्रेष्ठ, धार्मिक, सदाचारी वीर क्षत्रिय धर्म की रक्षा करने में समर्थ हैं, प्रायः वे सब तो युद्ध में ही उपस्थित हैं और युद्ध में मारे जायेंगे। युद्ध का आह्वान सुनकर भी अपने को क्षत्रिय कहने वाले जो योद्धा यहां नहीं आये वे कौन हैं? वे प्रायः ऐसे व्यक्ति हैं जिन्हें अपने जीवन का मोह है, जो अपनी इन्द्रियों के विषय भोगों में लिप्त हैं, जो कायर, दुराचारी और लोभी हैं। दूसरे शब्दों में जो सच्चे वीर आर्य क्षत्रिय नहीं हैं। श्रेष्ठ सदाचारी, सच्चे वीरों के युद्ध में मारे जाने पर दूसरे निकृष्ट कोटि के कायर, विषयी, भोगी, लोभी क्षत्रियों के हाथ में राज्य सत्ता रहेगी। ऐसे क्षत्रिय न अपने ऊपर संयम रख सकेंगे और न प्रजा पर अत्याचार करने वाले दुष्टों का दमन करके धर्म की रक्षा कर सकेंगे। इसका परिणाम होगा—सर्वत्र चोरी, लूट, डाका, दुराचार, व्यभिचार। इससे कुल मर्यादा टूट जाएगी, स्त्री-चरित्र कलुषित होगा, कुलधर्म और जाति धर्म नष्ट हो जाएगा। धर्म के स्थान पर अधर्म का प्रभुत्व होगा और इस सबका उत्तरदायित्व हमारे ऊपर होगा। हम ही पाप के भागी और नरकगामी होंगे।

यह माना कि दोष दूसरे पक्ष वालों का है किन्तु उनकी बुद्धि लोभवश अपने कर्तव्याकर्तव्य, धर्माधर्म का विवेक करने में असमर्थ है (लोभपहत चेतसः)। इस कारण वे युद्ध में होने वाली हानि को देखने में असमर्थ हैं। हमें तो इस युद्ध के परिणामस्वरूप कुल-धर्म और जाति-धर्म का विनाश स्पष्ट दिखाई दे रहा है। अज्ञानपूर्वक पाप करने वाला व्यक्ति कदाचित अपने दोष के लिए क्षम्य हो सकता है, किन्तु ज्ञानपूर्वक करने वाला उसके उत्तरदायित्व से नहीं बच सकता। इस समय

धर्म की रक्षा का केवल एक ही उपाय है, वह है हमारा युद्ध का परित्याग कर देना। यदि युद्ध के इन अनर्थकारी परिणामों को देखते हुए भी हम युद्ध का परित्याग नहीं करते तो केवल स्वार्थवश, राज्य-सुख के लोभ के कारण ही। धर्म और न्याय की रक्षा की दुहाई देना तो एक बहाना मात्र है, आत्मवंचना है, वास्तव में महापाप है। इसी दृष्टि से अर्जुन आगे कह उठता है—

अहो बत महत्-पापं, कर्तुं व्यवसिता वयम्।
यद्-राज्य-सुख-लोभेन, हन्तुं स्वजन-मुद्यताः।। 1/45

अहो! हम विवेकी जन भी राज्य सुख भोग के लोभ में कितने बड़े पाप कार्य में प्रवृत्त होने जा रहे हैं।

कुल-क्षये प्रणश्यन्ति, कुल-धर्माः सनातनाः।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्न,-मधर्मोऽभि-भवत्युत।। 1/40

कुल क्षय के नाश से कुलधर्म का नाश सुनिश्चित है। कुलधर्म के नाश से शेष कुल क़ो अधर्म ग्रस लेता है, यह भी सुनिश्चित है।

ध्यान रहे कुल पुरुषों द्वारा आपस में युद्ध छेड़ दिये जाने पर सनातन कुल मर्यादा के जानकार उन कुल पुरुषों का नाश तो होता है। उनका अनुगमन करने वाले युवकों का भी नाश हो जाता है। केवल युद्ध के अयोग्य बालकों तथा वृद्धों के सहित देवियां शेष रहती हैं जिनके द्वारा सनातन कुलधर्म की रक्षा नहीं हो पाती। क्योंकि उनके ऊपर कोई अभिभावक नहीं होने से उनमें धर्म या मर्यादापालन की उतनी प्रीति प्रवृत्ति शेष नहीं रहती। परिवार के अभिभावकों के अभाव में कुल की मर्यादाओं, व्यवस्थाओं, संस्कारों, शास्त्र की मर्यादाओं का ह्रास प्रतिदिन होने लगता है। कुलाचार, शास्त्र मर्यादाओं के टूटने पर समाज यथेच्छाचारी हो जाता है और सर्वत्र पाप ही पाप छा जाता है। यानी व्यक्ति निर्माण की मूल धुरी भ्रष्ट होते ही अधर्माचरण में प्रवृत्ति हो जाती है। अभिभावक शून्य परिवारों का पतन कैसे होता है यह हमारे दैनिक जीवन का अनुभव है।

उपार्जन योग्य सक्षम पुरुषों का नाश तो युद्ध में हो जाता है विप्लवी बंधुओं के परिवारों की आर्थिक दुर्दशा को हम जानते हैं। आर्थिक बोझ से बोझिल वृद्ध, बालक और देवियों का लक्ष्य जीवन-यापन के निमित्त येन-केन प्रकारेण अर्थोपार्जन रह जाता है। आर्थिक विपन्नता की स्थिति में सनातन कुलधर्म एवं रीति-रिवाज का निर्वाह दक्षतापूर्वक नहीं हो पाता। धर्मानुष्ठान के अभाव में कुलधर्म का लोप होने लगता है। जिस प्रकार सर्प यदि पैर के अंगूठे में डस ले तो भी इसका असर सिर पर्यन्त समस्त अंगों तक व्याप्त हो जाता है, उसी प्रकार स्वजन संहार से जो दोष उत्पन्न होता है वह कुल के वर्तमान जीवित व्यक्तियों से

लेकर पूर्वजों (पितरों) तक सबको व्याप्त कर लेता है। इस प्रकार सम्पूर्ण कुल धर्म से च्युत हो जाता है।

टाल्सटाय ने भी कहा है कि जब हमारी प्रवृत्ति धर्म की ओर उन्मुख नहीं होती तब हम अधर्म की शरण में चले जाते हैं। कुल रूपी संस्कार केन्द्र नष्ट हो जाने से हम अधर्म की शरण में स्वतः चले जायेंगे।

इतिहास में भी देखा गया है जो धर्म को नहीं मानते पर उसका विरोध करते हैं वे अन्ततोगत्वा अधर्म की शरण में चले जाते हैं। असुरों ने धर्म का विरोध किया, अधर्म की शरण में चले गए। मार्क्सवादियों ने, सेकुलरवादियों ने, मानवाधिकारवादियों ने, प्रगतिवादियों ने धर्म का विरोध किया अधर्म की शरण में चले गए। और यहां कुल के नष्ट होने से, परिवारों में जो धर्म की, संस्कारित करने की परम्परा है वह भी कुल के नाश से धीरे-धीरे नष्ट हो जाएगी।

अर्जुन ने धर्म के लिए सनातन शब्द का प्रयोग किया है जो बड़े महत्त्व का है। वैदिक धर्म सनातन धर्म है क्योंकि अनादिकाल से चला आ रहा है और अनन्तकाल तक चलने वाला है।

अन्य धर्मों की तरह यह किसी व्यक्तिविशेष द्वारा किसी कालविशेष या देशविशेष में स्थापित धर्म नहीं है। यह तत्त्व पर आधारित धर्म है। राम-कृष्ण हिन्दू धर्म के संस्थापक न होकर हिन्दू धर्म की फुलवारी के सुन्दरतम फूल थे। इनके पूर्व पुरुष भी हिन्दू धर्म के अनुयायी थे न कि संस्थापक। इसके काल की गणना करने में आज तक कोई सफल नहीं हुआ। क्योंकि जब से इस राष्ट्र ने आंख खोली अपने को विकसित राष्ट्र के रूप में अनादि धर्म के रूप में ही पाया। अतः हिन्दू धर्म पौरुषेय न होकर अपौरुषेय यानी स्वयं ईश्वर द्वारा प्रतिपादित एवं स्थापित धर्म है सृष्टि के प्रारम्भ से ही।

मानवता के लिए जीवन का सर्वप्रथम विधान

किसी भी राज्य का प्रशासन समुचित रीति से चलाने के लिए प्रशासन से पूर्व ही संविधान का होना अनिवार्य है। संविधान विधि नियम का सम्यक् एवं सुस्पष्ट घोषणा-पत्र है। यदि किसी नागरिक को जीवन के उद्देश्य तथा नियम स्पष्ट शब्दों में नहीं बताये जायेंगे तो किन नियमों के आधार पर अनुशासित किया जाएगा और उल्लंघन करने पर दण्डित।

यदि सृष्टि की रचना किसी सृष्टिकर्ता ईश्वर ने की है, तब सृष्टि के सम्यक् प्रशासन के लिए उसे अपना दिव्य संविधान सृष्टिरचना के साथ ही घोषित कर देना चाहिए ताकि सभी मानवों को जीवन के उद्देश्य एवं नियम स्पष्ट हो जावें तथा यह भी प्रकट हो जावे कि सृष्टि का महानतम सम्राट् हमसे किस मर्यादापालन

की आशा रखता है? वेद का वचन है—**एको हि विश्वस्य भुवनस्य राजा** अर्थात् इस सारे विश्व भुवन का एक ही सम्राट् है। इस दृष्टि से संसार की सभी धर्म पुस्तकों में वेद का स्थान ही सर्वप्रथम, सर्वश्रेष्ठ सिद्ध हो जाता है। क्योंकि यह विधान तभी से प्रकट है जब से सृष्टि ने नेत्र खोले हैं। इसकी तुलना में किसी धर्म का विधान 2017 वर्ष पहले प्रकट हुआ। किसी का 14 शती पूर्व, किसी का केवल पांच शती पूर्व तथा आनन्द मार्ग जैसे सम्प्रदाय का नया विधान आज प्रकट हो रहा है। प्रश्न उठता है कि जब सृष्टि को बने लगभग ढाई अरब वर्ष बीत चुके हैं तथा धरती पर मानव का अस्तित्व भी करोड़ों वर्षों से माना जाता है। तब करोड़ों-करोड़ों वर्षों तक विधान प्रकट न करके अंधकार-अज्ञान में रखने वाले गॉड या खुदा को क्या न्यायकारी माना जा सकता है? इसलिए वेद ही सर्वप्रथम ईश्वरीय विधान है।

अधर्माभि-भवात्-कृष्ण, प्रदुष्यन्ति कुल-स्त्रियः।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय, जायते वर्ण-सङ्करः।।1/41।।

जब कुल अधर्म से आच्छादित हो जाता है तब कुल की स्त्रियां दूषित होकर वर्णसङ्कर संतानों को उत्पन्न करती है।

युद्ध के परिणाम से असमय में लाखों देवियां वैधव्य को प्राप्त होंगी। युद्ध में पुरुष वर्ग तो मारे जायेंगे केवल स्त्रियां बचेगी। विधवा और अविवाहिता। सभी विधवा सती धर्म का एवं अविवाहिता संयम का पालन नहीं कर सकेगी। फलतः समाज में व्यभिचार के पनपने का अवसर मिलेगा। यानी मर्यादा का अतिक्रमण कर काम की पूर्ति में कुल की स्त्रियों की प्रीति-प्रवृत्ति परिलक्षित होने लगती हैं। वृद्ध स्त्रियों और वृद्ध पुरुषों के मना करने पर भी कुल की परम्परा का उच्छेद कर काम पूर्ति का मार्ग निकालकर कुल स्त्रियां वर्ण संकरता को जन्म देने लगती है। कुलघाती पुरुष यदि जीवित भी रहे तो जब तक प्रायश्चित्त कर शुद्धि लाभ न कर ले तब तक उससे समागम करने वाली देवियां पतित संतान को जन्म देती हैं। यानी असमय में वैधव्य प्राप्त होने पर स्त्रियां दुष्ट होने के लिए बाध्य हैं और स्त्रियां दुष्ट होते ही वर्णसंकर संतान उत्पन्न होने लगती है।

इतिहास से जानते हैं बौद्ध धर्म के पतन का बहुत बड़ा कारण स्त्रियों का संघ में प्रवेश मिलना। न चाहते हुए भी जब भगवान् बुद्ध को स्त्रियों को संघ में प्रवेश देना पड़ा तब उन्होंने आनन्द से कहा कि यदि यह आन्दोलन 1500 वर्ष तक शुद्धता से अविच्छिन्न रूप में चलता तो अब उसकी आयु 500 वर्ष ही रह गयी। बाद में बौद्ध धर्म को राज्याश्रय मिल जाने से दल के दल युवक-युवती बौद्ध धर्म में दीक्षित हो गए। उनके मठ आमने-सामने बन गए। पर कालान्तर में कठोर संयम का पालन नहीं कर पाये। फलस्वरूप वामाचार की ओर प्रवृत्त हुए जिसमें

पंचमकार खुलकर चलने लगा। फलस्वरूप बौद्ध विहार व्यभिचार का अड्डा बन गया और बौद्ध धर्म के पतन में एक प्रमुख कारण बना।

लक्ष्मण ने राम से पूछा, रावण तो विश्रवा ऋषि का पुत्र, वेदपाठी ब्राह्मण होते हुए सोने की लंका देखी, पुष्पक विमान देखा, सुन्दर स्त्री देखी तो उसका मन मचल गया ऐसा क्यों? तब राम कहते हैं जिसके पिता सदाचारी—जिनके जीवन में व्रत है, माता पतिव्रता है उनका मन पराया धन व परायी स्त्री देखकर चलायमान नहीं होता है।

पिता यस्य सदाचारी, माता यस्य पतिव्रता।
कांचन कामिनीम् दृष्टवा तस्य न चलति मनः।।

जब स्वयं रामजी का पुष्पवाटिका में सीता को देखकर मन चलायमान होता है तो वे लक्ष्मण से कहते हैं क्षत्रिय का मन परायी स्त्री को देखकर चलायमान नहीं होता है, पर मेरा मन चलायमान हो रहा है। तब लक्ष्मण कहते हैं सीता आद्या शक्ति जगत्-जननी है और आप जगत्-पिता हैं इसलिए एक-दूसरे के प्रति आकृष्ट हो रहे हैं। हनुमानजी जब माता सीता की खोज के लिए रात्रि में रावण के अन्तःपुर में प्रवेश कर रावण की रानियों पर दृष्टिपात करते हैं बाध्य होकर। पर उन रानियों से नोक-झोंक करने पर भी उनका मन विकारग्रस्त नहीं होता, चलायमान नहीं होता।

प्रतापी राजा दुष्यन्त ने कण्व ऋषि की पालिता पुत्री शकुन्तला को देखा तो उसका मन आकर्षित हुआ, चलायमान हुआ। राजा दुष्यन्त कहता है—शकुन्तला यदि तुम ऋषि पुत्री होती तो श्रद्धा जागती, मातृ बुद्धि होती। तुम निश्चय क्षत्रिय पुत्री हो। तब शकुन्तला अपने जन्म का वृत्तान्त बताती है। तब दुष्यन्त उससे गंधर्व विवाह करते हैं। उससे तेजस्वी पुत्र भरत उत्पन्न होता है जिसके नाम से यह देश भारतवर्ष कहलाया। क्योंकि भारत देश में पुत्र के नाम से माता को पुकारा जाता है। स्पष्ट है सदाचारी माता-पिता के पुत्र-पुत्रियों का मन पर-स्त्री-पुरुष को देखकर चलायमान नहीं होता।

एक बार बादशाह अकबर ने रहीम की परीक्षा लेने के लिए उसको राणा प्रताप के विरुद्ध युद्ध करने भेज दिया। जिस प्रकार भीष्म पितामह पाण्डवों की विजय कामना करते किन्तु, कौरवों के सेनापति होकर वीरता के साथ युद्ध भी करते थे। उसी प्रकार रहीम भी मन से प्रताप की विजय चाहता था। पर बहादुर की तरह मुगल सेनापति होकर राजपूत सैन्य को गाजर-मूली की तरह काटता था।

भीलों ने प्रताप के पक्ष में युद्ध किया था। वे लोग मुगलों की कुछ बेगमों को उठा लाए राणा प्रताप के पास। उन्होंने कहा मुगल लोग हमारी मां-बहनों, बेटियों को उठाकर ले जाते हैं इसलिए हम भी उनकी मां-बहनों को उठाकर ले

आये हैं। प्रताप ने कहा, अरे! जंगली मूर्ख दल। तुम लोगों ने यह क्या सर्वनाश किया। रणक्षेत्र में तो हम जीते किन्तु चरित्र के क्षेत्र में तो हम हार गए। तुम लोग महिलाओं को क्यों उठा लाए? मर्द तो मर्द के साथ युद्ध करते हैं, स्त्रियों को स्पर्श करने की क्या आवश्यकता थी। इसके पश्चात् प्रताप ने जाकर बेगमों को प्रणाम करते हुए कहा, जो मस्तक कभी अकबर और मुगलों के सामने नहीं झुका वह आज क्षमायाचना के साथ झुक रहा है। फिर उन सबको पुरस्कृत एवं अलंकृत किया और सम्मान के साथ उनको उनके पतियों के पास भेज दिया।

उन बेगमों ने कहा—हम लोगों ने सुना है कोई पैगम्बर, मसीहा या खुदा का प्रेरित दूत संसार में आता है। किन्तु हम लोगों ने उसको देखा नहीं था। हां, आज के प्रतापजी को हमने प्रत्यक्ष देखा है। आप सचमुच के देवदूत हैं। आज हम समझ सके कि मनुष्य किस प्रकार से फरिश्ता (देवदूत) होकर रहता है।

बेगमों के ससम्मान वापस जाने पर रहीम ने राणा प्रताप को लिखकर भेजा—

धर्म रहसि रहसि धरा, खिस जासी खुरसाण,
अमर विश्वम्भर ऊपरे, रखियो निहचो राण।

हे राणा प्रताप! धर्म रहेगा तो धरा भी रहेगी, यह खुरसाण (मुगल) तो नष्ट हो जाने वाला है। इसलिए अमर विश्वम्भर भगवान् महादेव पर अपना दृढ़ निश्चय रखकर संघर्ष करते जाओ।

ऐसे ही शिवाजी, दुर्गादास, हरिसिंह नलवा यानी पूरे भारतीय इतिहास और परम्परा को देख लेवें हमने शत्रुओं की मां, बहन-बेटी के साथ कैसा सम्मान जनक व्यवहार किया है। पूरे इसलाम, ईसाइयत और पूरी दुनिया ने हमारी मां, बहन-बेटी के साथ अमानुषिक पापाचार, व्यभिचार, बलात्कार किया है। पूरी भारतीय संस्कृति में नारी जाति को माता का सम्मान दिया। और इसलाम, ईसाइयत, समेत पूरी दुनिया ने नारी को माता से मादा बना दिया। यौन सम्बन्ध के अलावा नारी का और कोई उपयोग नहीं है, महत्त्व नहीं। तब पापाचार, व्यभिचार, बलात्कार का ही भाव आयेगा। यानी ये दो संस्कृतियों का अन्तर है।

सङ्करो नरकायैव, कुलघ्नानां कुलस्य च।
पतन्ति पितरो ह्येषां, लुप्त-पिण्डोदक-क्रियाः।। 1/42।।

वर्णसंकर कुलनाशकों को और कुल को नरक (में जाने) के लिए ही होता है क्योंकि जिनकी पिण्डोदक-क्रिया (अर्थात् श्राद्ध-तर्पण आदि क्रिया) लुप्त हो गयीं है। इनके पितर लोग भी अधोगति को प्राप्त होते हैं।

पतितों एवं वर्ण संकर संतानों में पितरों के श्राद्धादि में प्रीति-प्रवृत्ति ही परिलक्षित नहीं होती, कदाचित होती भी है तो उनके द्वारा प्रदत्त पिण्डोदक पितरों

को प्राप्त नहीं होता। पुण्य की पूंजी समाप्त होने से पिण्डोदक की अनुपलब्धि होने से वे पितर पुण्य लोक से च्युत होने लगते हैं। उधर उन्हें जन्म देने योग्य, क्षत्रिय कुल एवं राजकुल शेष न रहने से वे जन्म भी नहीं ले पाते। ऐसी स्थिति में पितरों की महती दुर्दशा होती है। वर्ण संकर संतानों में परम्परा से चले आ रहे स्वधर्म के प्रति प्रवृत्ति नहीं होती। दो वर्णों के मिश्रण से होने के कारण और परधर्म के सेवन के कारण वर्ण संकर संतानों की जीवनकाल में दुर्दशा होती है और देह त्याग के उपरान्त अधोगति होती है। और वर्ण संकर संतानों को जीवित काल में समाज से उपेक्षा मिलती है।

क्षत्रिय राजा महाराजा की पुत्रियां ब्राह्मण ऋषियों से विवाही जाती रही है। पर ये विधिवत विवाहित होने के कारण संतानों में दूषित प्रभाव नहीं पड़ता। ये सनातन काल से परम्परा से जो स्वधर्म चला आ रहा शिक्षा एवं संस्कार के कारण उस ओर प्रवृत्ति हो जाती है। पर बिना पाणिग्रहण संस्कार के केवल वासनापूर्ति, कामपूर्ति के लिए परपुरुषगमन होता है उनकी संतान पतित होती है क्योंकि माता-पिता दोनों के भाव शुद्ध नहीं हैं। आचरण भी शुद्ध नहीं है। और पिता के अभाव में संतान उपयुक्त शिक्षा संस्कार से भी वंचित रहती हैं। अतः अपने कुल परम्परा से चली आ रही स्वधर्म में प्रवृत्ति नहीं भी हो सकती है।

इस प्रकार वर्ण संकर संतान पिण्डोदक क्रिया में अनधिकृत होने के कारण पितरों का पतन भी अनिवार्य है और स्वयं का भी। हिन्दू जाति हिन्दू संस्कृति कृतज्ञता की संस्कृति है। इसमें हम अपने पूर्वजों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं अपनी श्रद्धा समर्पित करते हैं। उनके नाम अन्न-धन-वस्त्र दान करते हैं। उनके आदर्श और प्रेरणाओं को स्मरण कर उस पर चलने की प्रेरणा प्राप्त करते हैं।

औरंगजेब ने अपने पिता शाहजहां को आगरा के लाल किले की मोती मस्जिद में कैद कर रखा था। तब एक बार वह उसे देखने के लिए गया, हाथ-पैर बंधे हुए अपने बाप को घिसट-घिसट कर पानी के प्याले की ओर जाते देखकर औरंगजेब ने अपने बाप को अधिक सताने के लिए पांव की ठोकर से प्याला तोड़ दिया। इस पर शाहजहां जोर-जोर से रोने लगा। उसने कहा—

ऐ पिसर तू अजब मुसलमानी, ब पिदरे जिंदा आब तरसानी।
आफरीन बाद हिन्दवान सत्‌बार, मैं देहंद पिदरे मुर्दारावा दायॅम आब।।

हे पुत्र! तू विचित्र मुसलमान है जो अपने जीवित पिता को जल के लिए भी तरसा रहा है। शत-शत बार प्रशंसनीय हैं वे हिन्दू जो अपने मृत माता-पिता को भी जल देते हैं।

गुरु नानकदेवजी ने भी कहा है—

आप न देइ चुलुभर पानी
निंदई सइ जिन गंगा आनी।

अर्थात् लोग स्वयं अपने पितरों को चुल्लू भर पानी तो देते नहीं किन्तु निन्दा उस राजा भगीरथ की करने लगते हैं जो अपने पितरों के उद्धार के लिए स्वयं गंगा को ही स्वर्ग से पृथ्वी पर ले आया था।

रूस का बड़ा भारी विद्वान् वरान्निकोव—उसने अपने जीवन के 25-30 वर्ष लगाकर पहले वाल्मीकि रामायण का फिर तुलसी रामायण का रूसी भाषा में अनुवाद किया। अनुवाद चल रहा था। द्वितीय महायुद्ध शुरू हो गया। जर्मनी ने लेनिनग्राड पर हमला कर दिया। तब वह स्टालिन के पास जाकर बोला—मुझे कलम छोड़कर बंदूक उठानी पड़ेगी। उसने पूछा—क्यों? उसने कहा—देश पर हमला हो गया है, देश की रक्षा करनी है। उसने कहा—जाओ वरान्निकोव! हमारे पास देश के रक्षक बहुत हैं पर हमारे पास दूसरा वरान्निकोव नहीं है जो तुलसी रामायण का अनुवाद कर सके। जाओ, तुम अपना अनुवाद करो। उसने कहा—मातृभूमि पर हमला हो गया है उसकी रक्षा मैं नहीं करूंगा क्या? उसने कहा—हमारे पास रक्षक बहुत हैं, यह देश की रक्षा से भी अधिक महत्त्व का कार्य है, तुलसी रामायण का अनुवाद। यह कार्य दूसरा कोई नहीं कर सकता, तुम्हीं कर सकते हो।

तो मैं कैसे करूं? तोपें छूट रही हैं, दिन-रात बमबारी हो रही है, शोर मचा हुआ है, इसमें शांतिपूर्ण काम नहीं कर सकता। तो उसने कहा—अच्छा! इसका प्रबंध मैं करता हूं। तो उसने एक सेना की टुकड़ी को आदेश देकर उसकी सारी लाइब्रेरी अजरबेजान (या अरबैजान) रूस की सीमा पर, जहां ईरान से सीमा लगती है काकेशश पर्वत के पास वह शांतिपूर्ण स्थान है वहां भिजवा दी। तब उसने वहां अपना अनुवाद कार्य पूरा किया।

अनुवाद पूरा करने के बाद अपने बेटे को बुलाया। कहा—बेटा! तुम मेरा श्राद्ध करोगे? उसने कहा—पिता जी! श्राद्ध क्या होता है? उसने कहा—भारत के बच्चे अपने बड़ों की स्मृति में श्रद्धा समर्पित करते हैं उसको श्राद्ध कहते हैं। तो उसने कहा—मुझे क्या करना होगा? उसने कहा—मेरा तुलसी रामायण का अनुवाद छपवा देना और मेरी समाधि पर एक पत्थर की शिला लगाकर तुलसी रामायण की निम्न पंक्तियां भी अंकित करवा देना। ऊपर देवनागरी लिपि में, उसके नीचे रूसी भाषा में उसका अनुवाद, अर्थ छपवा देना। उसने कहा—यह क्यों? उसने कहा—इसमें बड़ा रहस्य छिपा हुआ है? उसने पूछा—क्या रहस्य छिपा है पिता जी? रहस्य यह है कि जिंदगी भर मुझे कम्यूनिस्ट लोग ताना मारते रहे हैं कि तुम कम्यूनिस्ट देश में जन्मे, कम्यूनिस्ट आत्मा-परमात्मा, पुनर्जन्म नहीं

मानते, धर्म-कर्म नहीं मानते और तुम कम्यूनिस्टों के देश में जीकर, रहकर भारत की एक दकियानूसी किताब के अनुवाद में सारी जिंदगी तबाह कर रहे हो। तुलसी रामायण के अनुवाद में जीवन बर्बाद कर रहे हो!

तुम इतने बड़े विद्वान होकर और कोई बड़ा काम कर सकते थे, देश-समाज की सेवा कर सकते थे तुम तुलसी के पीछे अपना जीवन नष्ट क्यों कर रहे हो? मैं उनको कुछ उत्तर नहीं देता था। मैं कहता—अभी काम करने दो, बाद में जवाब दूंगा? अब मेरी समाधि उसका जवाब देती रहेगी। उनकी समाधि पर तुलसीदास की यह चौपाई अंकित है जिसे वहां की सरकार ने साकार किया है।

भलो भलाइहि पै लहइ लहइ निचाइहि नीचु।
सुधा सराहिअ अमरतां गरल सराहिअ मीचु॥ मानस 1/5

भला आदमी दूसरों में भलाई ढूंढ़ता रहता है। भले आदमी को जहां भी अच्छी बात मिलती है उसको लेता है। अरे! शेक्सपियर में अच्छी बात है, अरे! वेद-गीता में अच्छी बात है, अरे! रामायण में अच्छी बात है उसकी प्रशंसा करता है उसको ग्रहण करता है। जहां कहीं अच्छी बात मिलती है उसको ग्रहण करता है।

और, बुरे आदमी ने बताया कि इटली के चोर ने चोरी की नई तकनीक निकाली है—हां, हां, बताना-बताना। अरे अमरीका में हिप्पीकट बाल रखते हैं वह कहेगा—अच्छा-अच्छा। जिस आदमी की जैसी पसंद, जैसी रुचि, वैसी वस्तु ढूंढ़ता रहता है।

उसने कहा—मैं भला था। तुलसी रामायण में मुझे जीवन की सबसे ऊँची भलाई मिली। मैंने ग्रहण कर ली। तुम नीच आदमी, दुष्ट आदमी, लोगों को मारने वाले, रेल पटरी को उखाड़ने वाले, हत्या करने वाले, तुम्हें जहां कुछ बुराई मिली, लेते रहे। तुलसी रामायण में मुझे जीवन की सर्वोत्तम भलाई मिली।

दोषैरेतैः कुलघ्नानां, वर्ण-सङ्कर-कारकैः।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः, कुल-धर्माश्-च शाश्वताः॥1/43॥
उत्सन्न-कुल-धर्माणां, मनुष्याणां जनार्दन।
नरकेऽनियतं वासो, भवती-त्यनु-शुश्रुम॥1/44॥

इन वर्ण संकर कारक दोषों से कुलनाशकों के सनातन कुल धर्म और जाति धर्म नष्ट हो जाते हैं। हे जनार्दन! जिनका कुलधर्म नष्ट हो गया है ऐसे मनुष्यों का निश्चित रूप से नरक में वास होता है—ऐसा हमने सुना है।

इस प्रकार अविवेकियों के द्वारा प्राप्त उनकी अनर्थ परम्परा का अनुगमन करने का फल सनातन जाति धर्म और कुलधर्म अवश्य नष्ट हो जाता है, जिनके कारण और जिन लोगों का कुलधर्म नष्ट हो गया है, वे अवश्य ही अनिश्चितकाल

तक नरक में निवास करते हैं। इस प्रकार कुलघातियों का कुल सनातन धर्म, जाति धर्म और कुलधर्म से च्युत हो जाता है। हे वार्ष्णेय! वृष्णि वंश में समुद्भूत हैं आप, कुल धर्म और जाति धर्म की रक्षा के उपायों को जानते हुए भी हमारी उपेक्षा क्यों कर रहे हैं।

अहो बत महत्-पापं, कर्तुं व्यवसिता वयम्।
यद्-राज्य-सुख-लोभेन, हन्तुं स्वजन-मुद्यता:।। 1/45

हाय! कैसा दुर्दैव है कि हम लोग महान् पाप करने को तुले हुए हैं, जो कि राज्य और सुख लोभ से अपने ही लोगों को मारने को उद्यत हुए।

अर्जुन, युद्ध न करने के पक्ष में बड़ी बुद्धिमत्तापूर्वक जो तर्क का जाल बुना है, और युद्ध के दुष्परिणाम का जो भयंकर चित्र खींचा है उससे वह स्वयं अभिभूत है कि मेरी युक्तियां अकाट्य हैं, इसका कोई जोड़ नहीं, कोई काट नहीं, कोई उत्तर नहीं। अतः वह स्वयं विस्मृत है। और स्वयं के पक्ष को धिक्कारते हुए कहता है खेद की बात है कि हम सब विवेकी, धार्मिक होते हुए भी इन तथ्यों के जानकार होते हुए भी केवल राज्य सुख के लोभ से स्वजनों की हत्या के लिए उद्यत होकर महान् पाप में प्रवृत्त क्यों होने जा रहे हैं। दुर्योधनादि कौरव पक्ष की बुद्धि लोभ के कारण दब गयी है, उनमें यथार्थ विवेक शक्ति का अभाव हो गया है। फलतः वे इन सब तथ्यों पर विचार करने में समर्थ नहीं हैं पर हमारी विवेक शक्ति तो लोभ से कुंठित नहीं हुई है। हम सब तो युद्ध के इस घोर परिणाम पर विचार कर इससे बचने का उपाय कर सकते हैं। कुत्ता हमें काट खाये तो क्या उसके अनुकरण में हम भी उसे काटेंगे क्या? दुर्योधन की बुद्धि का अनुगमन करने से यही परिणाम तो निकलने वाला है!

राजनेता राज्य सुख की लालसा से, भोगों की लालसा से, राज पद की लालसा से बड़े से बड़ा पाप करने को उद्यत हो जाते हैं। यह मानव स्वभाव की दुर्बलता है। इतिहास में ऐसा होता आया है। आज वर्तमान समय में भी हमारे देश की यही सबसे बड़ी समस्या है। जो न वंश परम्परा से और न योग्यता की दृष्टि से राज्य पदों के अनधिकारी होने के बावजूद भी अपनी व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति में देश को किस रसातल में ले जा रहे हैं और कहां तक ले जायेंगे पता नहीं। विवेकी का दायित्व अधिक होने से हमें तो कम से कम अपने विवेक का समादर करना चाहिए न कि अविवेकी की परम्परा का अनुगमन।

अहा केशव! यह ठीक हुआ कि देर से ही क्यों न हो, अभी मेरी आंखें खुल गयी। मेरे प्रज्ञा चक्षु खुल गए हैं। आह, दो दिन के राज्य वैभव के लिए हम कितना भयंकर अधर्म करने पर तुले हुए हैं। धिक्कार है इस राज्य लोभ को, धिक्कार है

इस मिथ्या शौर्य को। हे जनार्दन! मेरा क्षत्रियत्व का अभिमान आज बिल्कुल उतर गया है। मैं कह देता हूं मुझे अपना धर्म दीपक की तरह स्पष्ट दिखाई दे रहा है।

यदि मामप्रतीकार,-मशस्त्रं शस्त्र-पाणयः।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्, तन्मे क्षेमतरं भवेत्।। 1/46।।

अब अर्जुन अपने वक्तव्य का उपसंहार करते हुए कहता है कि उक्त हेतुओं से मैं तो इसी निष्कर्ष पर पहुंचा हूं कि दुर्योधनादि धार्तराष्ट्र यदि प्रतिकार न करने वाले मुझ निहत्थे को शस्त्र लेकर मार डालें तो भी मेरे लिए मंगलप्रद होगा।

यदि हाथ में शस्त्र लिए धृतराष्ट्र पुत्र मुझ शस्त्र रहित तथा प्रतिकार न करने वाले को युद्ध में मार डालें तो वह मेरे लिए अधिक कल्याणकारक होगा।

ऐसी विषम स्थिति में शस्त्रों को त्यागकर युद्ध से निवृत्त हो जाऊंगा। तब हो सकता है युद्ध टल जाए क्योंकि पाण्डवों की ओर से मुख्य योद्धा वही है। अतः स्वजन संहार होने से रह जाए। अर्जुन धनुर्विद्या में कुशल है। दोनों पक्ष जानते थे कि युद्ध की जीत-हार अर्जुन पर निर्भर है। यदि अर्जुन न हो तो कौरवों के डर का कोई कारण नहीं है और अकेला अर्जुन हो तो 11 अक्षौहिणी सेना खतरे में थी। अर्जुन को पूरा विश्वास भगवान् श्रीकृष्ण सारथि रूप में हो तो वह अकेला पूरी कौरव सेना का संहार कर सकता है। अर्जुन की शक्ति के आधार पर पाण्डवों ने युद्ध का खतरा मोल उठायां था। अर्जुन जानता है युधिष्ठिर, भीम, द्रौपदी, स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण उसी के शक्ति के आधार पर विजय की आशा रखते हैं। मेरें शस्त्र परित्याग कर युद्ध से निवृत्त होने पर भी मुझे राज्य सुख में बाधक या कंटक जानकर इस कंटक को सदा के लिए दूर करने के लिए मुझ निहत्थे को मार डालें तो वह भी मेरे लिए अधिक कल्याणकारी होगा। मेरे एक प्राण की कीमत पर और सारे स्वजन बच जायेंगे और मेरे मन में स्वजन संहार की भावना उदित होने से जो भी पाप लगा है उसका सहज प्रायश्चित्त भी हो जाएगा।

ऊपर से देखने पर लगता है अर्जुन ने युद्ध से होने वाला भयानक कुल का नाश देखा और उससे आगे जाकर होने वाले सभ्यता-संस्कृति के नाश रूपी भयंकर परिणाम का भी उसने विचार किया और उसने युद्ध न करने का ही अन्तिम निश्चय किया। स्वयं युद्ध न करने पर भी विपक्षी शस्त्र चलायेंगे तो अपनी मृत्यु होगी ही। इस विषय में वह कहता है कि, 'यदि मेरे शांत, निर्वैर रहने पर शत्रु मुझ पर शस्त्र चलायेंगे तो वह मेरे लिए अधिक कल्याणकारक होगा।' क्योंकि जनता कहेगी कि अपनी ओर से अर्जुन ने तो शांति रखने में पराकाष्ठा का यत्न किया; सामर्थ्य रहने पर भी अहिंसाव्रत का अवलंब किया तो भी साम्राज्यवादी दुष्ट कौरवों ने अपनी पाशवी शक्ति के घमंड में न्याय और अन्याय न देखते हुए निःशस्त्र और विरोध न करने वाले का बिना कारण वध किया। निःशस्त्र, निर्वैर

और अहिंसाशील मनुष्य पर पाशवी बल से आक्रमण करना और उन पर शस्त्र चलाना बड़ी अधोगति को पहुंचे हुए साम्राज्यवादियों का ही काम है। यह गिरा हुआ कार्य कोई अन्य नहीं कर सकता। जनता ऐसा कहेगी और जनता के ये शब्द ही मेरे परम कल्याण होने के सूचक हैं। ऐसी गर्हित, पतित मनोवृत्ति का हमने बहुत बार परिचय दिया और देते जा रहे हैं जिसका नाजायज लाभ विदेशी आक्रान्ताओं ने उठाया और अभी मुसलमान उठा रहे हैं। ऐसे गर्हित उलटे विचारों से प्रभावित होकर बौद्धों ने शक, हूणों की तलवारों के नीचे स्वतः सिर झुका कर अपना सिर कटवा कर देश की परतंत्रता के लिए मार्ग प्रशस्त किया। और यही कार्य हमारे राजनैतिक नेता हमसे मुसलमानों को आगे करके करवा रहे हैं। यह उलटी धारा गांधीजी के समय चली जो अब तक बड़े सम्मान के साथ चली आ रही जिससे देश खण्ड-विखण्ड होता चला जा रहा है।

यह अर्जुन के विषाद की चरम सीमा आ गयी है। कहां तो महाभारत के भीष्म पर्व में अर्जुन ने बड़े आत्मविश्वास के साथ कहा था कि हम सत्य के लिए लड़ रहे हैं और सत्य की सदैव विजय होती है। अतः हमारी विजय अवश्यम्भावी है और धर्म युद्ध करना हमारा पावन कर्तव्य है। और अब मोह एवं भय जन्य विषाद ने अर्जुन की क्या दशा कर दी है। विषादजन्य आत्मग्लानि की मानसिकता विचित्र होती है। मनुष्य ऐसी दशा में अपने को दोषी और पापी मानकर अपने आपको ही तोड़ना और पीड़ा देने में सुख का अनुभव करने लगता है। वास्तव में दुर्योधन के मन में पश्चात्ताप जागना चाहिए था तथा उसे अपने पापों को देखकर यह सब कहना चाहिए था, जो अर्जुन विषादजन्य आत्मग्लानि से ग्रस्त होकर अपने लिए कह रहा है। राज्य और सुख के लोभ के कारण दुर्योधनादि युद्ध कर रहे हैं पाण्डव नहीं। आत्मग्लानि की मानसिकता में भावुकता बढ़ जाती है, जो बुद्धि के सन्तुलन को बिगाड़ देती है तथा मनुष्य तर्क पूर्ण युक्तियों से विवेकहीन बातों को पुष्ट करने लगता है। अर्जुन को स्वजन के मोह का ज्वर चढ़ा है तथा वह मोहज्वर के उन्माद में प्रलाप कर रहा है। वह धर्म और अधर्म को भूल चुका है तथा अपने-पराये के झगड़े में पड़ गया है। वह अत्याचारी का डटकर सामना न करके उसके हाथ से बिना लड़े हुए ही मारा जाने में अपना कल्याण देख रहा है। यदि राष्ट्र के संरक्षक, प्रशासक, सेनानायक आदि इस भावुकता में बह जाएं और अपने अधिकार की सीमा से बाहर उच्चस्तरीय आध्यात्मिक प्रज्ञावान साधकों की तरह व्यवहार करें तो वे स्वधर्म निर्वाह न करने से सारे राष्ट्र के विनाश का कारण बन जायेंगे। अर्जुन का स्वजन मोह, अपने कुल का मोह उसे भ्रमित कर रहा है। वह युद्ध में खड़े होकर आततायिवृन्द को स्वबान्धव कहकर मोहजनित कायरता का ही परिचय दे रहा है—

और अपनी सारी युक्तियों को युद्ध के विरुद्ध देने के बाद निष्कर्ष रूप में कह रहा है मुझ शस्त्र रहित को युद्ध में मार डाले तो वह भी मेरे लिए श्रेयस्कर है।

संजय उवाच—

एव-मुक्त्वार्जुनः सङ्ख्ये, रथोपस्थ उपाविशत्।
विसृज्य सशरं चापं, शोक-संविग्न-मानसः।।1/47।।

ऐसा कहकर शोक संतप्त अर्जुन बाण सहित धनुष का त्याग कर रथ के पिछले हिस्से में बैठ गया। सन्त ज्ञानेश्वर के अनुसार रथ के नीचे कूद पड़ा।

संजय ने धृतराष्ट्र से यह सब वृत्तान्त कहकर सूचित किया कि 'अर्जुन तो अपना धनुष बाण त्याग कर अपने रथ में दुःख करता हुआ बैठ गया।' अर्थात् युद्ध करने का उसका सम्पूर्ण उत्साह नष्ट हुआ, उसकी वीरवृत्ति चली गई, उसका हृदय दुःख से फट गया और वह पूर्ण रीति से उदास हो गया।

सम्भव है कि यह वृत्तान्त सुनकर धृतराष्ट्र को मन ही मन में अत्यन्त आनन्द हुआ हो, क्योंकि संजय द्वारा उसने जो उपदेश पाण्डवों को करवाया था, उसका जो परिणाम होना धृतराष्ट्र को अभीष्ट था, वही उसने संजय के मुख से श्रवण किया।

इस प्रकार स्वराज्य प्राप्ति का प्रयत्न करने वाले पांडव के सम्मुख ऐन आशा के समय पूर्ण उदासीनता और साम्राज्यवादी धार्तराष्ट्रों के सामने अपना साम्राज्य कंटक रहित होकर चिरस्थायी होने की आशा खड़ी हुई। परन्तु होने वाला कुछ और ही था।

स्वराज्य का प्रयत्न करने वालों की बार-बार होने वाली निराशा से ही उसकी परमेश्वर पर भक्ति अधिक होने लगती है और उससे उनको नव शक्ति मिलती है और साम्राज्यवादियों की विजयों से ही उनका घमंड बढ़ जाने के कारण उनका नाश उनके समीप आने लगता है।

अर्जुन की ऐसी शोकाकुल अवस्था होने में मुख्य कारण है—भगवान् का भीष्म और द्रोण के सामने रथ खड़ा करके अर्जुन से कुरुवंशियों को देखने के लिए कहना और उनको देखकर अर्जुन के भीतर कई मनोविकार उठे जैसे स्वजन मोह, फिर भीष्म व द्रोण से भय आदि। इन मनोविकारों से उसका चित्त अभिभूत हो युद्ध रूपी अपने कर्तव्य कर्म से च्युत होना चाहता। स्वजन मोह एवं भय रूपी हृदय की तुच्छ दुर्बलता को नहीं स्वीकार कर उसे आदर्श का जामा पहनाने के लिए तर्कों का जाल खड़ा करता है। अर्जुन यह दिखाना चाहता है वह मोह और भय के वशीभूत होकर युद्ध से पलायन नहीं कर रहा है वरन् एक आदर्श से प्रेरित होकर युद्ध से विमुख होना चाहता है और उसकी पुष्टि में ये तर्क प्रस्तुत करता है। तर्कों

का जाल और कुछ नहीं, धृतराष्ट्र के द्वारा शांति का संदेश नाम से पाण्डव पक्ष को भ्रमित एवं युद्ध के उत्साह को ठंडा करने के लिए जिन युक्तियों का हवाला संजय ने दिया था उन सभी युक्तियों को ही अर्जुन ने प्रस्तुत किया है। धृतराष्ट्र की वह चाल उस समय भगवान् श्रीकृष्ण के कारण सफल नहीं हुई और अभी भी भगवान् श्रीकृष्ण के कारण सफल नहीं होगी।

धृतराष्ट्र अपने राज्य सुख के छिन जाने के दुःख से दुःखी है। अतः तमोगुणी विषादी है क्योंकि स्वयं तो कुछ करता नहीं अपने पुत्रों से करवाता है। दुर्योधन भी अपना राज्य सुख भोग छिन जाने के भय से दुःखी है। इसलिए जो स्वयं पाण्डवों को उनके वैध अधिकार से च्युत करने का प्रयास करता है। अतः रजोगुणी विषादी है। अर्जुन सतोगुणी विषादी है क्योंकि दूसरों के और अपने कुल-कुटुम्ब के दुःखी होने की सम्भावना से दुःखी है, त्रस्त है और अपने कर्तव्य कर्म के निर्णय में असमर्थ हो उसके निवारणार्थ ही वह भगवान् के प्रति समर्पित होगा और इस प्रकार इसका विषाद योग बन जाएगा।

अर्जुनविषादयोग (प्रथम अध्याय) : सार संक्षेप

श्रीमद् भगवद् गीता का अर्थ है भगवान् के द्वारा गाया गया दिव्य गीत। जब भगवान् श्रीकृष्ण का प्रिय सखा अर्जुन विषादग्रस्त होकर उनके शरणापन्न होकर, शिष्य भाव से जब यह जिज्ञासा करता है कि वर्तमान सन्दर्भ में, इस विषम परिस्थिति में मेरा क्या कर्तव्य है, इस विषय में स्पष्ट एवं निश्चित तथा मेरे लिए जो कल्याणकारी हो उसका उपदेश देवें। तब भगवान् ने अर्जुन के विषाद को दूर करने के लिए इस गीत को संगीत के माधुर्य के साथ गाया। यह एकमात्र दिव्य, शाश्वत, अध्यात्मिक संगीत है जो प्रारम्भ से आज तक विश्व मनीषा को अपनी ओर आकृष्ट करता आ रहा है।

जब कौरवों एवं पाण्डवों में सन्धिवार्त्ता असफल होकर युद्ध का पक्का निश्चय हो गया तब अन्तिम प्रयास के रूप में वेदव्यासजी धृतराष्ट्र के समक्ष प्रकट होते हैं और उसे समझाने का प्रयास करते हैं और उसमें असफल होने पर कहते हैं, तुम राजा हो, सन्धि एवं विग्रह का अधिकार तुम्हारा है, अतः सब समय तुम्हें युद्ध की स्थिति स्पष्ट रहनी चाहिये ताकि यथा समय तुम सन्धि व विग्रह का योग्य निर्णय ले सको। इसलिए मैं तुम्हें दिव्य दृष्टि देता हूं, जिससे तुम यहीं बैठे-बैठे युद्ध के सारे दृश्य देख सकोगे। पर धृतराष्ट्र ने स्वयं तो लेना स्वीकार नहीं किया, पर संजय को दिव्य दृष्टि देने की प्रार्थना की। तब वेदव्यासजी ने संजय को दिव्य दृष्टि के साथ-साथ दिव्य शक्ति भी दी और यह वर भी दिया, वह युद्ध में भाग लेने पर भी युद्ध में नहीं मारा जायेगा और उसकी जल, थल व नभ में समान गति होगी।

अतः संजय स्वयं युद्ध में भाग लेता रहा और जब सेनापतियों का पतन हुआ तब-तब धृतराष्ट्र को आकर सूचित किया। जब भीष्म पितामह का पतन हो गया और शरशय्या पर चले गये तब यह सम्वाद लेकर संजय धृतराष्ट्र के पास पहुंचता है। तब धृतराष्ट्र जिज्ञासा करता है मेरे और पाण्डु पुत्रों ने धर्म क्षेत्र-कुरु क्षेत्र में क्या किया?

गीता में एक नाटकीय रोचकता है। मानो तीन बार पट खुलता है। पहली बार धृतराष्ट्र को विषादग्रस्त पाते हैं। दूसरी बार पट खुलता है तब दुर्योधन, उसके सेनापतियों एवं सेना की दुर्दशा का चित्र पाते हैं। तीसरी बार पट खुलता है तब अर्जुन को विषादग्रस्त पाते हैं।

तो पहली बार जब पट खुलता है धृतराष्ट्र को विषादग्रस्त पाते हैं। वह इसलिए दुःखी है कि उसने अन्यायपूर्वक जिस राष्ट्र को हड़प लिया है, उसको वीर, धर्मात्मा पाण्डव एवं उनके सहयोगी उनसे छिन न लेवें। और जब उसे यह सम्वाद मिलता है संजय से भीष्म पितामह का पतन हो गया तो वह अचेत हो जाता है। क्योंकि उन्हें यह आशा न थी कि जिसे इच्छामृत्यु का वरदान प्राप्त हो, और जिसे स्वयं भगवान् परशुराम पराजित नहीं कर सके उसका भी पतन हो जायेगा। होश में आने पर उसने संजय से जिज्ञासा की कि मेरे और पाण्डु पुत्रों ने धर्म क्षेत्र और कुरु क्षेत्र में इकट्ठे होकर क्या किया? उसके पूछने का तात्पर्य यह कि मेरे पुत्रों ने भीष्म पितामह की रक्षा में प्रमाद का तो परिचय नहीं दिया और कहीं पाण्डु पुत्रों ने भीष्म पितामह को मारने में छल का आश्रय तो नहीं लिया। तब संजय पहले बताता है उसके पुत्रों ने क्या किया फिर बताता है पाण्डव पुत्रों ने क्या किया और यह बताते हुए वह स्पष्ट करता है, न तो आपके पुत्रों ने भीष्म की रक्षा में प्रमाद का परिचय दिया और न ही पाण्डवों ने उनको मारने में छल का ही आश्रय लिया। वे तो कौरवों के अधर्म के कारण मारे गये। धृतराष्ट्र तमोगुणी विषादी है क्योंकि अंधा होने से स्वयं तो कुछ कर नहीं सकता पर अपने पुत्रों से करवाता है।

अब दूसरा पट खुलता है जहां हम दुर्योधन और उनके सेनापतियों की दुर्दशा का चित्रण पाते हैं। दुर्योधन भी दुःखी एवं भयभीत है, क्योंकि वह जानता है कि उसका पक्ष अधर्म एवं अन्याय का है, उसके सेनापति भी मन व हृदय से पाण्डवों के पक्ष में हैं और उन्हीं को विजयश्री का आशीर्वाद देते हैं। यहां तक कि दुर्योधन की माताश्री गांधारी भी दुर्योधन को विजयश्री का आशीर्वाद न देकर कहती है विजय तो वहीं होगी जहां धर्म होगा। फिर वह पाण्डवों की कुशल व्यूहरचना देखकर भी घबरा-सा जाता है और आचार्य द्रोण के पास आता है। अपने प्रति कृपा का भाव एवं पाण्डवों के प्रति कोप भाव उत्पन्न करने के भाव से उन्हें निवेदन

करता है आपके बुद्धिमान् शिष्य द्रुपद पुत्र (धृष्टद्युम्न) के द्वारा कुशल व्यूहरचना से युक्त की गयी पाण्डु पुत्रों की इस महान् सेना को देखिये। वह द्रुपद पुत्र कहकर द्रुपद के प्रति पुराना वैर भाव जागृत कर पाण्डवों के प्रति रोष जागृत करना चाहता है पर आचार्य द्रोण मौन हैं। क्योंकि वे स्वयं दुःखी हैं, वे जानते व मानते हैं कि पाण्डवों का पक्ष धर्म व न्याय का है, इसलिए पाण्डवों को ही विजयश्री का आशीर्वाद देते रहे हैं एवं दुर्योधन को सदैव समझाते रहे हैं। वे अर्थ के कारण, नौकरी के कारण दुर्योधन का साथ देने के लिए विवशता अनुभव करते हैं। दुर्योधन स्वयं आचार्य के पास उपस्थित होकर साधुमत लोकमत, शास्त्रमत का, राजनीति व कूटनीति का पालन किया, दोनों पक्ष का बलाबल बता कर कुशल राजनीति का निर्वाह किया। अपनों के प्रति कृपा एवं पाण्डवों के प्रति रोष जाग्रत् करने की चेष्टा से कुशल कूटनीति का निर्वाह किया फिर भी उसे मौन देखकर और उनके दुःखी होने का कारण जानने के कारण वे उससे और अधिक दुःखी न हो इस भाव से वह कहता है आपके द्वारा रक्षित नहीं होने पर भीष्म सहित हमारी सेना अपर्याप्त सिद्ध होगी एवं भीम द्वारा रक्षित पाण्डवों की सेना पर्याप्त सिद्ध होगी। अतः समस्त व्यूह-द्वारों पर अपने-अपने विभाग के अनुसार अवस्थित रहते हुए आप सभी लोग पितामह भीष्म की ही सब प्रकार से रक्षा करें क्योंकि उनके सुरक्षित रहने पर हमें कोई पराजित नहीं कर सकता। इस प्रकार दुर्योधनादि ने भीष्म पितामह की रक्षा में किसी प्रकार के प्रमाद का परिचय नहीं दिया। दुर्योधन के इस प्रकार निवेदन पर आचार्य द्रोण के मौन रहने पर दुर्योधन के प्रश्न का उत्तर देने एवं उसे खुश करने के लिए भीष्म पितामह ने सिंह के समान उच्च गर्जन करके शंख बजाया। यद्यपि भीष्म भी दुःखी हैं पर दुर्योधन और अधिक हताश और निराश न हो, उसमें उत्साह को बनाये रखने के लिए शंख बजाया। यह युद्ध का संकेत नहीं है। मात्र दुर्योधन में उत्साह भरने के लिए शंख बजाया। जब भीष्म पितामह ने शंख बजाया तब कौरव पक्ष के शंख-नगाड़े एक साथ बज उठे। उसके प्रत्युत्तर में फिर पाण्डवों ने शंख बजाया।

दुर्योधन रजोगुणी विषादी है। इसका रजोगुण तमोन्मुख है।

जब तीसरी बार पट खुलता है हम अर्जुन को पाते हैं। शंखवादन के अनन्तर अर्जुन भगवान् श्रीकृष्ण से निवेदन करता है कि मेरे रथ को दोनों सेनाओं के मध्य में स्थापित कीजिये ताकि मैं देख सकूं किन-किन के साथ मुझे युद्ध करना है, जो दुर्बुद्धि दुर्योधन का प्रिय चाहने वाले हैं। भगवान् श्रीकृष्ण के लिए अर्जुन अच्युत शब्द का प्रयोग करता है। जो भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति लोकोत्तर महत्त्व को प्रकट करता है। जो कभी अपने ब्रह्मभाव से च्युत नहीं होते इसलिए तो उसने एक अक्षौहिणी सेना के बदले निहत्थे श्रीकृष्ण भगवान् को चुना है। और भगवान्

श्रीकृष्ण की प्रतिज्ञा है जो जिस भाव से पूजता है, उसी भाव से भगवान् उसे स्वीकारते हैं। अतः अर्जुन को भी अच्युत भाव में स्थिर करने के लिए वे दोनों सेनाओं के मध्य पितामह भीष्म एवं आचार्य द्रोण के सम्मुख अर्जुन के रथ को स्थापित कर देते हैं। अगर दुर्योधन एवं दुःशासन के समक्ष उसके रथ को स्थापित किया जाता उसके युद्ध का उत्साह और बढ़ जाता। उनके द्वारा प्रारम्भ से की गयी दुष्टता याद आती तो उनसे युद्ध की भावना और प्रबल होती है। क्योंकि उनकी दुष्टता के प्रतिकार करने का अवसर आज उसे मिला है। पर आचार्य द्रोण व भीष्म पितामह को सामने देखने पर उसे याद आता है किस प्रकार दोनों महापुरुषों के स्नेह व कृपा के कारण अर्जुन आज संसार का सर्वश्रेष्ठ योद्धा बन सका है। फिर वह देखता है इस युद्ध में तो उसका सारा कुल कुटुम्ब ही खड़ा है तो उनको देखकर युद्ध का उत्साह ठण्डा पड़ जाता है, उसकी वीरता का भाव दब जाता है। करुणा से, पारिवारिक स्नेह से वह आविष्ट हो जाता है। आचार्य द्रोण और पितामह भीष्म को अजेय जानकर भयभीत भी हो जाता है। इन पूज्यजनों, गुरुजनों व पारिवारिकजनों को देखकर उसकी अजीबो-गरीब स्थिति हो जाती है और वह भगवान् श्रीकृष्ण से कहता है—हे श्रीकृष्ण! युद्ध की इच्छा से खड़े हुए इन स्वजनों को देखकर मेरे सारे अंग अवसन्न हो रहे हैं, मेरा मुख सूख रहा है, मेरे शरीर में कम्प और रोमांच हो रहा है, हाथ से गाण्डीव धनुष गिर रहा है और त्वचा जल रही है। मैं खड़ा नहीं रह सक रहा हूं, मेरा मन भ्रमित-सा हो रहा है।

कुछ क्षण पूर्व जो युद्ध के लिए उत्साह से भरा हुआ था, स्वयं युधिष्ठिर महाराज को उत्साहित कर रहा था, जिसकी प्रतिज्ञा है न दैन्यं न पलायनं, जिसके विषय में यह प्रशस्ति थी जो अर्जुन का 12 बार नाम लेकर युद्ध भूमि में प्रवेश करता है वह विजयश्री लाभ करता है, उस अर्जुन की यह स्थिति कैसे उत्पन्न हो गयी।

यहां दो बातों को समझ लेवें, पहली—मन में दुर्बलता आते ही शरीर में दुर्बलता आ जाती है। और मन में दुर्बलता तब आती है जब विचारों में दुर्बलता आ जाती है। खेल के मैदान में हम खिलाड़ी को न देखकर उसमें सगे-सम्बन्धी आत्मीयजनों को देखने लगें तो खेल नहीं सकते। युद्ध के मैदान में अपराधियों (शत्रुओं) को न देखकर उनमें पारिवारिकजनों को देखें तो लड़ नहीं सकते। न्याय के मैदान में न्यायाधीश अपराधी के स्थान पर उनमें सगे-सम्बन्धी को देखने लगे तो न्याय नहीं दे सकते। यही स्थिति अर्जुन की हो गयी।

दूसरी—मनुष्य का स्वभाव है कि वह अपनी दुर्बलता को, अपनी त्रुटियों को सहजता से स्वीकार नहीं कर पाता है क्योंकि उससे उसकी सामाजिक प्रतिष्ठा में न्यूनता आती है। अतः उसको एक आदर्श का जामा पहनाकर उसे सही सिद्ध

करना चाहता है। यही स्थिति यहां अर्जुन की हो गयी है। वह पारिवारिक मोह व भय के वशीभूत होकर युद्ध से पलायन करना चाहता है। पर यह प्रतिपादित करेगा कि वह एक आदर्श से प्रेरित होकर, मानवता से प्रेरित होकर, विश्व रक्षा, धर्म रक्षा से प्रेरित होकर इस युद्ध से बचना चाहता है। जीवनभर वह युद्ध का अभ्यासी रहा है पर उसने कभी भी ऐसे तर्क प्रस्तुत नहीं किये जो अभी पेश करने जायेगा। अगर अभी जरासंध की सेना खड़ी होती या शिशुपाल की सेना खड़ी होती या केवल दुर्योधन एवं दुःशासन होते तो भी यह प्रश्न नहीं उठता पर चूंकि अपने ही परिवार के जन खड़े हैं और उनके स्नेह से आविष्ट होकर वह युद्ध से पलायन करना चाहता है।

और युद्ध के दुष्परिणामों का एक भयानक चित्र खींचता है—हमें पाप लगेगा। 1/36

कौरव बान्धव हैं, कुटुम्ब को मारकर हम कैसे सुखी होंगे। 1/38-39

कुल के नाश से सनातन कुल धर्म नष्ट हो जाता है। इससे कुल में पाप फैल जाता है कुल के कर्ताओं के अभाव में।

पुरुष वर्ग मारे जाने पर स्त्रियां असमय में वैधव्य को प्राप्त होंगी। वे वैधव्य धर्म का पालन नहीं कर पायेगी। कुमारी बची रहेगी। वे योग्य वर के अभाव में एवं संयम पालन के अभाव में वर्णसंकर संतानों को, लुंज-पुंज संतानों को जन्म देगी। इससे पिंड और जल की क्रिया लुप्त हो जाती है। इससे पितर भी नरक में गिर जाते हैं। यानी वर्तमान, भविष्य एवं अतीत की तीनों पीढ़ियां नाश को प्राप्त होंगे। वर्तमान में श्रेष्ठ वीर पुरुष मारे जायेंगे फलतः अगली पीढ़ी में लुंज-पुंज एवं वर्ण संकर संतान उत्पन्न होगी जो न तो श्राद्ध व पिण्डदान में अधिकृत होंगे और न ही इनकी श्राद्ध व पिण्डदान में रुचि, प्रीति-प्रवृत्ति होगी फलतः पितरों का भी पतन हो जायेगा।

वर्णसंकर कारक दोषों से कुल घातियों के कुल धर्म और जाति धर्म नष्ट हो जाते हैं।

जिनके कुल धर्म नष्ट हो जाते हैं वे मनुष्य अनिश्चित काल तक नरक में वास करते हैं।

भीष्म-द्रोण पूजनीय हैं, इनको मारना ठीक नहीं। गुरुजनों को मारकर इस लोक में रुधिर से सने हुए अर्थ और काम ही तो भोगने को मिलेंगे। 2/4

युद्ध करना न करना—इन दोनों में कौन-सा श्रेष्ठ है, हम नहीं जानते। वे जीतेंगे या हम जीतेंगे यह भी ज्ञात नहीं है—अर्थात् संदिग्ध स्थिति में युद्ध करना ठीक नहीं है। 2/6

मैं लक्षणों को भी विपरीत देख रहा हूं अर्थात् अपशकुन देख रहा हूं, युद्ध में स्वजनों को मारकर कल्याण नहीं देख रहा। 1/31

ये लोग तो अविवेकी हैं, लोभ के द्वारा इनकी बुद्धि भ्रष्ट हो गयी है। अतः इन सब बातों का ये विचार नहीं कर सकते, पर हम तो विवेकी हैं, धर्मपरायण हैं, हमें तो इन बातों का विचार करके युद्ध से उपरत हो जाना चाहिये।

इस छोटे से राज्य की तो क्या बात है तीनों लोकों के राज्य के लिए भी इनकी हत्या नहीं करनी चाहिये।

हम तो भिक्षाटन के द्वारा अपना जीवन जी लेंगे।

अगर अपने राज्य भोग में सदैव के लिए कंटक जानकर हम शस्त्र रहित और अप्रतिकार करने वाले को वे मार भी डालें तो भी वह मेरे लिए अधिक कल्याणकारी होगा।

अरे यह कैसा दुर्भाग्य है कि हम विवेकी और धर्मात्मा होकर भी राज्य सुख भोग के लिए इतने बड़े विनाश के लिए उद्यत हुए हैं।

और शोक व भय में डूबा हुआ अर्जुन, मैं युद्ध नहीं करूंगा—यह कहकर धनुष-बाण छोड़कर रथ के पिछले भाग में बैठ जाता है।

इस प्रकार अर्जुन युद्ध के क्या-क्या दुष्परिणाम होंगे इसका एक भयावह व बीभत्स चित्र खींच कर युद्ध से उपराम होने की भावना से वह रथ के पीछे बैठ जाता है।

अर्जुन सतोगुणी विषादी है।

महामना पंडित मदनमोहन मालवीय कहते थे कि मुझे विश्व की चिंता है, इसलिए भारत की चिंता करता हूं, क्योंकि विश्व के सभी प्रश्नों का उत्तर भारत से ही मिलेगा। दुनिया के अनेक विद्वान् यह मानते हैं कि निकट भविष्य में भारत ही विश्व का नेतृत्व करेगा। लेकिन, यह सदी भारत की तब ही हो सकेगी, जब भारत उपनिवेशवाद से पूरी तरह मुक्त हो पाएगा।

लोकेन्द्र सिंह, वरिष्ठ पत्रकार

द्वितीय अध्याय
सांख्य-योग

संजय उवाच—

तं तथा कृपयाविष्ट,-मश्रु-पूर्णा-कुलेक्षणम्।
विषीदन्त-मिदं वाक्य,-मुवाच मधुसूदनः।। 2/1

संजय बोला—इस तरह आंसू भरे, कातर नेत्रों से युक्त करुणा से घिरे हुए उस शोकातुर अर्जुन से भगवान् मधुसूदन यह वचन कहने लगे।

अर्जुन का अपने गुरुजनों एवं अपने से बड़े श्रेष्ठजनों के प्रति श्रद्धा-सेवाभाव है, पूज्यभाव है। अपने समान मित्रजनों, भ्राताओं, सुहृदों के प्रति सख्य भाव है। अपने से छोटो (पुत्र-पौत्रादि) के प्रति वांत्सल्य भाव है। अतः इन पर शस्त्र प्रहार कैसे करे। अतः कृपा से आविष्ट हैं अर्जुन।

अश्रुपूर्णा कुलेक्षणम् : आंसू आने के तीन कारण हैं—(1) अति प्रेम में आंसू आते हैं। (2) अति दुःख में आंसू आते हैं। (3) अति कृपा से आंसू आते हैं।

भीष्म-द्रोण, कृपाचार्य, शल्य आदि पूज्य जन हैं। अश्वत्थामा, कृतवर्मा आदि सखाओं, सात्यकि आदि सुहृद, दुर्योधनादि भ्राता के प्रति सख्य भाव है। लक्ष्मणादि पुत्रों एवं उनके पुत्रादि पौत्रों पर वात्सल्य भाव है। पर अर्जुन के साथ विडम्बना यह है कि दुर्योधनादि उनके स्नेह को कुछ गिनते नहीं। कौरव पक्ष आततायी तो अवश्य है पर साथ ही स्वजन होने से न तो उनसे युद्ध करते बन रहा है और क्षात्र धर्म की ओर देखने से न युद्ध त्यागते ही बन रहा है। ऐसी विषम परिस्थिति में अर्जुन से न तो रण के लिए आगे बढ़ते बनता है और न युद्ध छोड़कर अरण्य में भागते बनता है। इस असमंजस की स्थिति में अर्जुन के लिए धनुष-बाण छोड़कर बैठने के अतिरिक्त और कुछ करते नहीं बना।

अर्जुन करुणा से आविष्ट हो गया है, घिर गया है। एक करुणा वह होती है जिससे प्रेरित होकर देश, समाज, जन कल्याणार्थ उसका उपयोग होता है। वह करुणा स्वातंत्र्य वीर सावरकर, लोकमान्य तिलक की करुणा देश की दुरवस्था

को देखकर मातृभूमि पर करुणा। पर अर्जुन की करुणा भिन्न प्रकार की है। अर्जुन की करुणा तो पृथ्वीराज चौहान आदि की तरह स्वयं को भी व देश-समाज को भी पतन की ओर ले जाने वाली है। करुणा से हृदय उदार होता है पर वह अपनी करुणा से स्वयं ही कातर है, स्वयं के लिए ही कष्टदायक बन गयी है उसकी आंखें कातर हैं और आंसुओं से भरी हुई है, शोकाकुल है। यह मानो एक प्रकार की मूर्च्छा है, हिस्टीरिया के दौरा के समान है। जब किसी को हिस्टीरिया का दौरा पड़ता है तो वह ऐसा ही हो जाता है और उलटी-सुलटी बातें करने लगता है। बड़े-बूढ़ें लोग इसका एक अचूक निदान बतलाते हैं—वह यह कि ऐसे समय में रोगी को जोरों से डांटा जाए। इससे हिस्टीरिया का दौरा न रुके तो उसकी तीव्रता अवश्य कम हो जाती है। भगवान् श्रीकृष्ण उत्तम वैद्य हैं। उन्होंने समझ लिया कि अर्जुन को क्या हो रहा है और वे उचित औषध से निदान करते हैं। और अर्जुन को जोरदार फटकार के साथ ही अपना मुंह खोलते हैं—

श्री भगवान् उवाच—

कुतस्त्वा कश्मल-मिदं, विषमे समुपस्थितम्।
अनार्य-जुष्ट-मस्वर्ग्य, - मकीर्ति-कर-मर्जुन।। 2/2

हे अर्जुन! आर्यों द्वारा असेवित, स्वर्ग प्राप्ति का विरोधी और अपकीर्ति करने वाला यह मोह तुझे इस विषम परिस्थिति में कहां से प्राप्त हुआ?

अर्जुन की इस दीन दशा को देखकर और उसके शब्द सुनकर श्रीकृष्ण एकदम स्तब्ध हो गए। यह असमय मन की निर्बलता उन्हें ठीक न लगी। वैराग्य आदि श्रेष्ठ भाव है पर वह समय पर होना चाहिए। असमय में नहीं। अभी तो शूरता प्रकट करने का अवसर है, वहां पर अर्जुन विषाद प्रकट करे यह ठीक नहीं। राम नाम सत्य है, पर विवाह के अवसर पर नहीं, नहीं तो डण्डे पड़ेंगे। श्रेष्ठ भाव भी समय पर ही शोभा देते हैं। वे बोले, भाई! तुम तो खूब धर्म का विचार करना सीख गए हो। क्या इसीलिए मुझे समझाने को तुम दौड़-दौड़ कर द्वारका आये थे और सवेरे-सवेरे मेरे पलंग के पास आकर बैठे थे, तुम तो कहते थे आप मेरे पक्ष में रहें, यादव सब कौरवों के पक्ष में जाएं तो भले जाएं। क्या यह सब इसलिए था कि मैं यहां आकर तुम्हारी कायरता देख सकूं। युद्ध भूमि में कायरता का आवेश होना बहुत ही आश्चर्य है। तुम्हारे नाम में आस्था रखने वाले, तुम्हारा नाम लेकर युद्ध भूमि में जाने वाले विजयी होते हैं और तुमसे द्वेष रखने वाले तुम्हारे नाम से ही विदीर्ण होने लगते हैं। क्या तुम उर्वशी के शाप से अभी तक मुक्त नहीं हुए हो?

भगवान् कड़े शब्दों में अर्जुन की भर्त्सना करते हैं जिसे अर्जुन ने ज्ञान, अपने हृदय की उदारता समझा था, श्रीकृष्ण उसे 'कश्मल' की एवं मैल की, अज्ञान की संज्ञा देते हैं। ऐसा मैल अनार्यों द्वारा ही सेवित होता है।

यहां पर 'अनार्य' शब्द किसी मानव-वंश का द्योतक नहीं है। आर्य-अनार्य शब्द ऋग्वेद, गीता, मनुस्मृति, रामायण आदि किसी में भी प्राचीन भारतीय साहित्य में जातिवाचक अर्थ में प्रयुक्त न होकर गुणवाचक, संस्कृतिवाचक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। यहां भी अनार्य शब्द गुणवाचक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। आर्यजन विवेक से युक्त होते हैं, अर्जुन अपने विवेक को छोड़ बैठा है। इसलिए श्रीकृष्ण धिक्कारते हैं। कहते हैं—अनार्यों के जीवन में दिखाई देने वाला ऐसा कश्मल विषम परिस्थिति में कैसे उपस्थित हुआ? जो स्वर्ग विरोधी और अपकीर्तिकर भी है।

शान्ति के सभी प्रयास यथा—साम, दाम, दण्ड और भेद असफल हो चुके हैं, युद्ध अनिवार्य हो पड़ा है, ऐसे समय में शौर्य की बात, बल की बात मन में उठनी चाहिए न कि, कायरता की।

अनार्य-जुष्ट-मस्वर्ग्य, मकीर्ति-कर-अर्जुन, किसी भी कार्य को करने से पहले तीन दृष्टि से देखना चाहिए—(1) शिष्ट परम्परा के अनुरूप है या नहीं (2) शास्त्र परम्परा के अनुकूल है या नहीं (3) लोक परम्परा के अनुकूल है या नहीं। शिष्ट परम्परा यानी आर्यों के सेवन योग्य होनी चाहिए। शास्त्र परम्परा यानी स्वर्ग कारक होनी चाहिए। लोक परम्परा यानी कीर्ति देने वाली होनी चाहिए। किसी बात में ये तीनों मिल सकती है, किसी में दो और किसी में एक। यदि एक भी न हो तो उसे अपनाना नहीं चाहिए। अर्थात् यहां भगवान् शुभ कार्य की तीन कसौटी बतलाते हैं। वही कर्म शुभ माना जाएगा जो आर्य द्वारा सेवन योग्य, स्वर्गकारक और लोक में कीर्तिकारक हो। कीर्तिहीन लम्बे जीवन से कीर्तिकारक क्षणभर का जीवन भी अधिक श्रेयस्कर है। अर्जुन का यह कार्य लोक-परलोक, दोनों को बिगाड़ने वाला है। कोई सेनापति चीन के बोर्डर पर खड़ा है, युद्ध अनिवार्य हो गया है उस अवस्था में अर्जुन की तरह विचार करने पर देश की क्या स्थिति होगी एवं स्वयं के यश की तो हानि ही नहीं धिक्कार ही धिक्कार का पात्र बनेगा, परलोक तो नष्ट होना ही है। धर्म युद्ध का आश्रय लेकर पापियों का संहार करना कुल को पवित्र करना है न कि कुल को दूषित करना। जब स्वजन स्नेह और सख्य का विच्छेद कर दुर्जन बनकर युद्ध के लिए उद्यत हो तब भी उनके प्रति स्नेह और सख्य प्रकट कर उनके हाथों मारे जाकर निज शूरता को कलंकित कर अपकीर्ति लाभ करना ही क्या क्षात्र धर्म है? अथवा चित्त में स्नेह को सुरक्षित रखते हुए तथा समर में निष्ठुरता को प्रकट करते हुए स्वजन रूपी शत्रुओं का नाश करना, उनको दण्डित करना ही सबके लिए कल्याण का मार्ग प्रशस्त करना है। विजय, सुख और राज्योपभोग यदि धर्मानुकूल प्राप्त हो तो उसको लाभ करना श्रेयोन्मुख क्षत्रियों का कर्तव्य है। कर्तव्य का निर्णय सदा एकांगी नहीं होता अपितु

सामने वाले की गति, मति और स्थिति को देखकर ही होता है। असमय में सेवित यह विषाद अनार्यजुष्ट है, अस्वर्गकर है और कीर्ति के भी प्रतिकूल है। ऐसा न समझें कि अर्जुन ने राज्य छोड़ दिया, स्वजन संहार रूपी संग्राम से विरत हो गया, विश्व युद्ध होने से बचा लिया, कहकर लोग सम्मान देंगे वरन् यही कहेंगे बड़ा वीर बनता था, पर समय आने पर भाग खड़ा हुआ और यह तुझे सहन नहीं होगा। इस दृष्टि से तुम युधिष्ठिर को भी नहीं बख्शोगे।

अर्जुन ने अब तक यह प्रतिपादित किया है स्वजन संहार रूपी क्षत्रिय धर्म या स्वधर्म पालन योग्य नहीं है। इसके पीछे उसकी युक्ति है उनकी तो लोभ के कारण विवेक शक्ति कुंठित हो गयी है। फलतः वे स्वजन संहार में तत्पर है पर हमारी दृष्टि तो लोभ से कुंठित नहीं हुई है। हम तो विवेकी हैं, विवेकी होकर अनार्यों की तरह, अज्ञानियों की तरह का कार्य (स्वजन संहार) कैसे कर सकते हैं। अर्जुन का कहना है कि यह आर्यों के योग्य नहीं है। फिर यह कार्य (स्वजन संहार) स्वयं को ही नहीं पितरों तक को यानी पूर्व पुरुषों तक को भी स्वर्ग से च्युत कराने वाला है। और आगे आने वाली पीढ़ी दीन, हीन, दुर्बल, अधार्मिक होगी, वर्ण संकर होने से और स्वजन का संहार अकीर्तिकारक भी है ही लोग तो यही कहेंगे आखिर अपने भाइयों को ही अपने स्वजनों का संहार करके ही तो राज्य लाभ किया है। पाण्डव सज्जन तो हैं पर कार्य तो आखिर में अविवेकियों जैसा किया। राज्य प्राप्ति के लोभ में अपने पूरे कुल-कुटुम्ब को मार डाला। अर्जुन का तो दावा था उसकी विवेक दृष्टि खुल गयी है, उसमें ज्ञान का उदय हो गया है। अतः अब वह अविवेकियों के योग्य, अनार्यों के योग्य, फिर स्वर्ग से भी च्युत करने वाला और अपकीर्तिकारक कार्य (स्वजन संहार) में वह प्रवृत्त नहीं होगा।

पर भगवान् श्रीकृष्ण ठीक इसके विपरीत बात कह रहे हैं। अरे तुम्हें यह मोह, यह अज्ञान कहां से आ टपका। यह तो आर्यों के द्वारा सेवन योग्य नहीं है, यह तो स्वर्ग का भी विरोधी है, कीर्ति का भी विरोधी है। पूर्व पुरुषों को स्वर्ग से च्युत कराने वाला है। तुम्हारा स्वधर्म त्याग रूपी कर्म तो उन्हें लज्जा में डालने वाला है। पुत्र यदि अच्छा कार्य करता है, अपने कर्तव्य का पालन करता है तो पिता, पितामह, प्रपितामहों का सिर गर्व से उन्नत हो जाता है। उनके यश की भी वृद्धि होती है। स्वयं भीष्म पितामह व द्रोण उनसे ऐसी ही अपेक्षा करते हैं। आगे आने वाली पीढ़ी दीन, हीन, दुर्बल व अधार्मिक नहीं होगी वरन् अपने पूर्वजों की पुण्य गाथा, न्यायपरायणता की गाथा सुनकर और अधिक प्रेरित, धर्मपरायण व सबल होगी। धर्म व न्याय के प्रति और अधिक आस्थावान बनेगी कि धर्म का, मर्यादा का उल्लंघन सगा भाई भी करता है तो वह दण्ड का पात्र है। इससे आने वाली पीढ़ी लुंज-पुंज न होकर और अधिक धर्मपरायण व सबल होगी। और यदि

पुत्र कर्तव्य से च्युत होता है, वह गलत कार्य कर बैठता है तो पिता, पितामह, प्रपितामहों का सिर शर्म से झुक जाता है, उनका यश भी कलंकित हो जाता है। पुत्र फेल होता है तो पुत्र को शर्म आये या न आये यशस्वी कुल के पिता का तो सिर अवश्य शर्म से झुक जाता है, लज्जा में पड़ जाता है।

अर्जुन ने धर्मयुद्ध के विरुद्ध जो युक्तियां प्रस्तुत की हैं उसका भगवान् खण्डन दूसरे एवं तीसरे श्लोक में, पुनः विस्तार से स्वधर्म की महिमा का बखान करते समय इसी अध्याय में 31वें श्लोक से लेकर 38वें श्लोक तक करेंगे।

दुर्योधन ने जिस कगार पर लाकर देश को खड़ा कर दिया है उस चुनौती को स्वीकारते हुए धर्मयुद्ध के द्वारा इनका दमन न किया गया तो लोगों की धर्म के प्रति ही अनास्था उत्पन्न हो जाएगी। क्षत्रिय धर्म पालन से सनातन धर्म नष्ट नहीं होगा, क्षत्रिय धर्म न पालने से सनातन धर्म के प्रति लोगों की आस्था ही उठ जाएगी। क्योंकि स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण आकर, लीला पुरुषोत्तम आकर धर्मात्मा पाण्डवों को न्याय नहीं दिला सके। वे स्वयं ही जब धर्म की स्थापना नहीं कर सके तो हम दीन-हीन किस खेत की मूली हैं। इसलिए भगवान् आगे 31वें श्लोक में कहेंगे धर्मयुद्ध से बढ़कर क्षत्रियों के लिए कोई धर्म नहीं है। क्योंकि क्षत्रिय धर्मयुद्ध के द्वारा दुष्टों का दमन करेंगे तभी लोगों की आस्था सनातन धर्म के प्रति बनी रहेगी।

अर्जुन ने जिस दृष्टि से बताया कि प्राप्त परिस्थिति में युद्ध करना अधर्म है। भगवान् श्रीकृष्ण ने उसी दृष्टि का (स्वधर्म का) अवलम्बन लेकर बताया कि प्राप्त परिस्थिति में युद्ध करना ही अब एकमात्र धर्म है। युद्ध से पलायन ही पाप है।

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ, नैतत्-त्वय्युप-पद्यते।
क्षुद्रं हृदय-दौर्बल्यं, त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप।। 2/3।।

'हे पार्थ! नपुंसकता को मत प्राप्त हो; यह तुझमें शोभा नहीं देती। हे शत्रुतापन! हृदय की इस क्षुद्र दुर्बलता को त्यागकर उठ खड़ा हो।'

अर्जुन का इससे अधिक तिरस्कार और क्या हो सकता है कि उस गांडीवधारी को श्रीकृष्ण ने नपुंसक कह दिया। अर्जुन जिसे दया और करुणा समझता है, अपने हृदय की विशालता, उदारता, ज्ञान; उसे भगवान् ने सिर्फ दो ही शब्द में प्रथम श्लोक में कश्मल (अज्ञान) एवं दूसरे श्लोक में हृदय की तुच्छ दुर्बलता बतला दिया। अर्जुन ने जो धर्म का चित्र बनाया था उसे श्रीकृष्ण ने अस्वीकार कर दिया। अर्जुन ने जो धर्म का चित्र बनाया वह धर्म नहीं धर्माभास है, उदारता नहीं उदारता का आभास है। जैसे बच्चे पट्टी में चित्र बनाकर लाते हैं उसे मिटाकर (अस्वीकार कर) पुनः गुरु नया चित्र बनाते हैं। वैसे ही अर्जुन ने प्रथम अध्याय में जो धर्म का चित्र बनाया है उसे अस्वीकार कर दूसरे अध्याय का दूसरा एवं तीसरा श्लोक

फिर 11वें श्लोक से अन्त तक भगवान् धर्म का यथार्थ चित्र बनायेंगे। अर्जुन ने जो चित्र बनाया वह धर्म नहीं धर्माभास का है जिनसे बड़े-बड़े पंडित भी मुग्ध हो जाते हैं। अपने पक्ष में अर्जुन ने जितनी भी युक्ति दी, उन सबका दो ही शब्द में उत्तर भगवान् ने दिया। हृदय की तुच्छ दुर्बलता और इसके पहले कश्मल (अज्ञान) कहा। अर्जुन ने युद्ध के परिणाम का जो भयानक चित्र खींचा है उसका स्वतंत्र उत्तर न देकर भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं जिसे तुमने हृदय की उदारता के रूप में प्रस्तुत किया है वह उदारता नहीं हृदय की तुच्छ दुर्बलता है। इस समय जो अर्जुन की स्थिति है वही आज हमारे हिन्दुओं, वामपंथी, मानवाधिकारवादी, प्रगतिवादी एवं सेकुलर राजनेताओं की है। वे भी अर्जुन की तरह अपनी तुच्छता, हृदय की दुर्बलता को उदारता के रूप में प्रस्तुत करते हैं। यह उदारता आर्य पथ से च्युत करती है। जो उदारता मर्यादा के ढांचे में न ढली हो वह पशुता, दुर्बलता, पतन की ओर ले जाती है। जो उदारता विवेक की, शास्त्र की एवं मर्यादा की सीमा में ढली होती है वह मानवता का रूप धारण करती है और उत्थान की ओर ले जाती है। यानी विवेकी उदारता वह है जो देश, काल, पात्र, परिस्थिति पर विचार कर उसका उपयोग होता है। अविवेकी उदारता वह है जो देश, काल, परिस्थिति, पात्र एवं सीमा का बिना विचार किये जिसका उपयोग होता है। वह स्वयं को भी पतन के मार्ग में ले जाता है तथा अपने साथ ही देश, धर्म, समाज के लिए पतन का मार्ग प्रशस्त कर देता है। वीर सावरकर के शब्दों में यह सद्‌गुण सद्‌गुण न रहकर सद्‌गुण विकृति बन जाती है। यह भूषण न होकर दूषण बन जाता है। यह यथार्थ व्यावहारिकता के अभाव में होता है। इस अविवेकी, सीमाहीन, उदारता ने गीता के शब्दों में हृदय की दुर्बलता ने सद्‌गुण विकृति ने या गीता के शब्दों में कश्मल (अज्ञान) ने हमारे देश को हजार वर्ष तक गुलाम बनाये रखा और आज भी हिन्दू समाज की दुर्दशा का यही कारण है।

इस दृष्टि से स्वामी विवेकानन्द कहते हैं पिछले हजार वर्षों के दौरान हम केवल भावुकतापूर्ण साहित्य की ही रचना कर सके हैं। देश ने केवल मृदु साहित्य को ही प्राथमिकता दी और उसके फलस्वरूप पिछले हजार वर्षों के दौरान लिखे गए अधिकांश साहित्य को यदि निचोड़ा जाए, तो उससे केवल आंसू ही निकलते हैं। ऐसे लोगों के हाथ में पड़कर गीता भी अपनी शक्ति खो बैठी। परन्तु श्रीकृष्ण ने अपनी शिक्षाओं में दुर्बलता या भावुकतावाद को कोई स्थान नहीं दिया। अर्जुन के प्रति उच्चरित होने वाले उनके प्रथम श्लोक में ही—**कुतस्त्वा कश्मल-मिदं, विषमे समुपस्थितम्**—'इस संकट काल में कहां से यह दुर्बलता तुम में प्रविष्ट हो गयी है? उपनिषद् तथा गीता केवल शक्ति की ही बात करते हैं। स्वामी विवेकानन्द कहते हैं, 'शक्ति, शक्ति—उपनिषदों का प्रत्येक पृष्ठ मुझ

से यही कहता है। दुर्बल मन के लोग कभी शक्तिशाली विचारों को धारण नहीं कर सकते। इसके लिए प्रयास करते हुए वे अपनी लघुता के द्वारा ऐसे विचारों को हलका कर डालते हैं। केवल सबल लोग ही गीता के महत्त्व को समझ सकते हैं। जैसा कि स्वामी विवेकानन्द कहते हैं, केवल हाथी ही सिंह का बल समझ सकता है, मच्छर नहीं, गीता हमें आराम देकर निद्रा में निमग्न करने के लिए नहीं, अपितु हमें अपनी निद्रा तथा आलस्य से जगाकर सर्वोच्च आत्मानुभूति तथा आत्माभिव्यक्ति में अनुप्राणित करने के लिए हैं। स्वामी विवेकानन्द अपने 'गीता पर विचार' में कहते हैं, 'यदि कोई यह श्लोक पढ़ता है—क्लैब्यं....परंतप—2/3 तो उसे सम्पूर्ण गीता पाठ का लाभ होता है, क्योंकि इसी श्लोक में पूरी गीता का सन्देश निहित है।

डॉ. अब्दुल कलाम ने अपनी पुस्तक इण्डिया मिशन 2020 में हमारी पांच सभ्यतागत कमजोरी को गिनाया है—1. अत्यधिक सहनशीलता और अल्प अनुशासन। हम सहनशीलता पर गर्व करते हैं। अत्यधिक सहनशीलता कोई सद्गुण नहीं है इतिहास ने बार-बार हमें सिखाया है। 2. प्रतिकार प्रतिशोध के भाव का अभाव। हम प्रतिशोध ले नहीं सकते। ईसा-मसीह ने ईसाइयों को कहा कि अगर कोई तुम्हारे एक गाल पर थप्पड़ मारे तो तुम दूसरा गाल भी उसके सामने कर दो। परन्तु ईसाई सभ्यता ने ऐसा कभी नहीं किया। हमारी पूरी सभ्यता में ऐसा किसी ने नहीं कहा, न किसी भगवान् ने, न किसी सद्ग्रन्थ ने कि 'अगर कोई तुम्हारे एक गाल पर थप्पड़ मारे तो तुम दूसरा गाल भी उसके सामने कर दो' परन्तु हम हमेशा ऐसा ही करते हैं, हममें प्रतिशोध लेने की भावना नहीं है यह दूसरी सभ्यतागत न्यूनता है। 3. अतिथि देवोभवः—विदेशियों, विधर्मियों को स्वीकार करने में अत्यधिक लचीलापन। बाहर से कोई भी आये—चाहे दूसरा धर्म हो, चाहे दूसरा राजा अथवा कोई पूर्णतया अजनबी, उनकी ओर तुरन्त श्रद्धामय हो जाते हैं, जबकि अपने ही लोगों को स्वीकार करने में हम कम उदार होते हैं। 4. वंशवाद के प्रति मोह। 5. साहसिक कार्यों की बजाय व्यक्तिगत सुरक्षा को महत्त्व देना।

सुमित्रानन्दन पंत के शब्दों में हिन्दुओं में, जीने की इच्छा दृढ़ नहीं है। हिन्दू लोग जीवन के प्रति उपेक्षा का भाव रखते हैं। वे लोग असंदिग्ध रूप से इहलोक की अपेक्षा परलोक में अधिक विश्वास करते हैं। उनमें जीवन की इच्छा का अभाव है और इसी कारण उनमें साहस की भावना भी नहीं है।' फ्रांस की क्रान्ति के रूप में डाल्टन का नारा था—'साहस करो, अब भी साहस करो, सदा ही साहस करो।'

यदि हिन्दू भारत जीवित रहना चाहता है तो इसे यह शूरता और आक्रामकता का संदेश ग्रहण करना होगा। वीरतापूर्ण जीवन का यह तो पुरातन वैदिक संदेश ही

नये आवरण में है। 'वीर भोग्या वसुन्धरा' केवल वीर और साहसी ही पृथ्वी का उपभोग करते हैं। आक्रमणशीलता जीवन है, इसका अभाव मृत्यु है।

हिन्दुओं का दृष्टिकोण प्रत्येक वस्तु के सम्बन्ध में 'जाने दो भाई' की वृत्ति का है, मानो इस जीवन का उनके लिए कोई अर्थ नहीं है। इस वृत्ति का त्याग करना होगा।

कुछ लोगों ने आध्यात्मिक सद्‌गुणों को ही हमारी पराजय का कारण मान लिया। पर यह सोचने का गलत ढंग है। स्वामी रामतीर्थ कहते हैं—सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह, संतोष, शम, दम, तप, क्षमा, मानवीयता आदि हमारे आध्यात्मिक सद्‌गुण हैं। अपने घर को सजा-संवार कर रखना अच्छा गुण है। उसमें सुन्दर पुष्पवाटिका लगाना अच्छा गुण है। शत्रु अपनी पुष्प वाटिका को उजाड़ देगा, आक्रमण करेगा अतः पुष्पवाटिका ही न लगाएं यह मूर्खता है। हमारी मां-बहनों के सुन्दर चेहरों को गुण्डों के भय से उसके चेहरे पर तेजाब डालकर उसकी सुन्दरता को नष्ट नहीं कर देवें, सुन्दरता उसका गुण है। अध्यात्म हमारा गुण है। जैसे पुष्पवाटिका की रक्षा के लिए कंटीली झाड़ियां लगाने की आवश्यकता है जिससे पशु या नरपशु उजाड़ न सकें, उसे चर न सकें। हमने यही भूल की कि आध्यात्मिक सद्‌गुण का संवर्धन तो किया पर उसकी रक्षा की व्यवस्था नहीं की। कंटीली झाड़ियां नहीं लगाई। फिर स्वामी रामतीर्थ कहते हैं—यथार्थ को, व्यावहारिकता को भूल गए कि कहां क्षमा, दया आदि का प्रयोग करना चाहिए और कहां दण्ड का, क्रोध का प्रयोग करना चाहिए, कहां अतिथिधर्म का पालन करना चाहिए और कहां दण्ड का? इसे भुला दिया। मुहम्मद गजनवी सोमनाथ मन्दिर को लूटकर वापस जाने के उपक्रम में राजस्थान की मरुभूमि में भटककर अन्न-जल के अभाव में अपना प्राण छोड़ रहा था तो ग्रामवासियों ने अपना विचित्र अतिथिधर्म निभाकर उसके अन्न जल की व्यवस्थाकर उन्हें सुरक्षित निकलने का मार्ग बता दिया। जयचन्द ने 'वयं पंचाधिकशतं' के विरुद्ध मुहम्मद गोरी का साथ देकर युधिष्ठिर महाराज के मंतव्य को भुला दिया। युधिष्ठिर महाराज कहते हैं भाइयों में आपस में लाग-डांट रहती है। इस समय कौरव एक सौ हैं और हम पांच। किन्तु किसी तीसरी शक्ति या विदेशी शत्रु को इसका लाभ नहीं लेने देंगे, तब हम 105 हैं। वे हमारे घर पर, देश पर आक्रमण करें, इसको हम नहीं सहेंगे। भीम और अर्जुन को आदेश दिया—तुरत जाओ और दुर्योधन को गंधर्वों से मुक्त कराओ।

संस्कृत में एक उक्ति है उसका अर्थ है—

यदि स्वयं से त्रुटि होती है तो अपने प्रति न्याय-विचार और कठोर आत्मदण्ड की दृष्टि होनी चाहिए तभी स्वयं का विकास होगा। यदि मित्र या अन्य से त्रुटि

होती है तो मित्र एवं अन्य के प्रति विश्वास, प्रेम, सहानुभूति, क्षमा की दृष्टि होनी चाहिए, सुधरने का अवसर दिया जाना चाहिए तथा अपने देश-धर्म-संस्कृति के शत्रुओं के प्रति सावधान एवं भूल करने पर कठोर दण्ड की दृष्टि होनी चाहिए तभी हम स्वयं की और देश-धर्म-संस्कृति की रक्षा कर सकेंगे। पर हमने मुसलमानों और ईसाइयों की प्रकृति को कभी समझने का प्रयास नहीं किया। ये निरन्तर हजार वर्ष से आक्रमण करते आ रहे हैं। हम इनसे धर्म युद्ध करते रहे और ये हमसे कपट युद्ध। वे धोखा देते रहे, सन्धियां व वचन तोड़ते रहे, हम अपनी सेना में उन्हें पालते रहे और वे ऐन मौके पर धोखा देते रहे। 712 ई. से भारत पर निरन्तर आक्रमण कर सन् 1947 में दुनिया में सबसे बड़ा इसलामिक राष्ट्र पाकिस्तान बना लिया। और बचे हुए भारत पर निरन्तर आघात जारी है ताकि इसे भी इसलाम की झोली में डाला जा सके। ऐसे ही ईसाइयों का आघात भी जारी ताकि भारत को ईसा की झोली में डाला जा सके।

हमने कौन शत्रु है और कौन मित्र इसकी पहचान भुला दी। हम शत्रु के साथ मित्रता का व्यवहार करते रहे। पृथ्वीराज चौहान ने एक बार मुहम्मद गोरी की गर्दन मरोड़ दी होती तो देश का इतिहास ही कुछ और होता, पर मुहम्मद गोरी ने पृथ्वीराज जैसी भूल नहीं की। आज तो पाकिस्तान, बांग्लादेश, चीन किसी का भी एजेंट यहां आकर देश विरोधी कार्य करता है और उस का तुरत राशन कार्ड, वोटरलिस्ट में नाम आ जाता है। एक विदेशी अपराधी की नागरिकता तय न हो पाने पर भारत में भेजने का सुझाव क्योंकि अपने देश में स्वाधीनता के पश्चात् हिन्दू को बाद देकर किसी को भी चाहे वह बांग्लादेशी घुसपैठी हो या चाहे पाकिस्तानी हो या और कोई भी हो उसका तुरन्त राशन कार्ड बन जाता है। वोटरलिस्ट में नाम आ जाता है उसके समर्थन में मानवाधिकारवादी, वामपंथी, सेकुलर, प्रगतिवादी बुद्धिजीवी और राजनेता खड़े हो जाते हैं। अब मोदी सरकार ने कहीं से भी लुट-पिटकर आने वाले हिन्दू को भारत की नागरिकता मिले इसका प्रावधान किया है।

कर्तव्य का निर्णय एकांगी नहीं होता। दुर्योधन आदि अत्याचार करते रहें और हम सज्जनता से सहते रहें? वे देश, धर्म को व्यक्तिगत जागीर की तरह उपभोग करते रहें और हम चुपचाप देखते रहें, पिसते रहें। अतः कर्तव्य का निर्णय एकांगी नहीं होता। सामने वाले की मनःस्थिति और गतिविधियों को देखते हुए कर्तव्य पर पुनर्विचार करने के लिए व्यक्ति बाध्य होता है। उदाहरणार्थ भरत जैसे शील निधि मातृभक्त को भी माता कैकेयी की करतूत से खिन्न होकर कटु वचन कहने के लिए बाध्य होना पड़ा। स्वजन स्नेह के पक्षधर अर्जुन को भी दुर्योधन की मनःस्थिति और गतिविधि को देखते हुए स्वजन संहार के लिए बाध्य होना पड़ेगा। आज भी हमें ध्यान रखना चाहिए कि हमारी सज्जनता का दुरुपयोग से हमें

भी अर्जुन की तरह कर्तव्य चुनना न पड़े। और हम भी ऐसे कर्म या वचन न कहें जिससे वह अपनी साधुता, सज्जनता, शालीनता, मृदु व्यवहार त्यागने को बाध्य होकर आपसे कटु वचन कहे और कठोर कदम उठाये।

जो घर-गृहस्थी से नितान्त उपराम मोक्षपरायण लोकसंग्रह से सुदूर तितिक्षु संन्यासी हो, तो केवल उसी का दायित्व होता है कि दूसरों के व्यवहार की ओर ध्यान न देकर अपने व्रत का पालन करे। अभिप्राय यह है कि गाली के बदले गाली न दें। अपमान के बदले अपमान न करें। पिटाई के बदले किसी की पिटाई न करें। पर वे भी विश्वामित्र की तरह उपद्रवी तत्त्वों को राज्य शक्ति के सहयोग से संहार करा सकते हैं। अपनी तप शक्ति का क्षय न हो इसलिए क्रोध नहीं करते पर राज्य शक्ति का आश्रय लेकर उसे दूर करवा सकते हैं। जैसा कि हम विश्वामित्र के जीवन में पाते हैं। वे राम-लक्ष्मण का आश्रय लेकर ताड़कावध करवाते हैं।

और यहां तो अर्जुन गृहस्थ है फिर देश, धर्म की रक्षा का दायित्व उस पर है। अतः युद्ध रूपी कर्तव्य कर्म से मुंह नहीं मोड़ सकता। अर्जुन का स्वजनों के प्रति राग उदारता नहीं है वरन् हृदय की दुर्बलता है। उसकी उदारता ही उसे जला रही है, रुला रही है अन्यथा उदारता से तो उसका चित्त प्रसारित होने के कारण प्रसन्न होना चाहिए था।

डॉक्टर रोगी के अनुसार चले, राजा चाटुकारों के अनुसार चले, गुरु शिष्य के अनुसार चले तो बेड़ा गर्क। कृपा के नाम पर 'क्लैब्य' (नपुंसकता) और उदारता के नाम पर हृदय की क्षुद्र दुर्बलता एवं कश्मल पालने योग्य नहीं है। उदारता के नाम पर हृदय की क्षुद्र दुर्बलता शत्रुओं को न तपाकर स्वयं तुम्हें, मुझे एवं तुम्हारे स्नेही युधिष्ठिरादि स्वजनों को तपा रही है। जो कृपा हृदय को पुष्ट करने वाला भाव है वह असमय पर अभिव्यक्त होने पर वही कृपा तुम्हारी हृदय की तुच्छ दुर्बलता सिद्ध हो रही है। ध्यान रहे आपद्काल में आपद्कालीन धर्म का पालन नहीं करता और आपद्काल व्यतीत हो जाने पर भी जो आपद्काल के धर्म का ही पालन करता रहता है वह धर्म के नाम पर अधर्म करता है। सुत के प्रति स्नेहयुक्त जननी जहां स्नेह के वशीभूत होकर सुत का लालन-पालनादि रूप स्वधर्म का पालन कर पाती है, वही उसे सुरक्षित करने की भावना से हृदय को कठोर बनाकर स्नेह को दबाकर उसे गुरुकुल भेजती है। बहुधा सुत के उत्पात करने पर हित की भावना से चपत भी लगा देती है। जिस प्रकार स्नेह और कठोरता का यथायोग्य उपयोग करके ही जननी सुत के प्रति निज दायित्व का निर्वाह कर पाती है उसी प्रकार सुयोधनादि स्वजनों के प्रति स्नेह को अन्तर्निहित कर दुर्योधनादि उन्मार्गगामी आततायी स्वजनों को दण्ड देकर ही क्षात्र धर्म का निर्वाह सम्भव है। आसुरी प्रकृति के लोगों पर प्रेम और विवेक का शासन कारगर नहीं होता है। आसुरी प्रकृति के

लोगों का हृदय शुष्क, मस्तिष्क विकृत होता है। अतः उन्हें प्रेम और विवेक की भाषा नहीं समझ में आती है। उन्हें तो दण्ड की भाषा ही समझ में आती है। युद्ध से बचने, अहिंसा के समर्थन के लिए गीता, रामायण की ऐतिहासिकता अस्वीकार कर रूपक कह देने से असुरों का स्वभाव एवं इतिहास का नियम नहीं बदल जाता। अहिंसा वहीं तक कारगर जहां तक आत्मीयता का क्षेत्र हो और आत्मीयता शेष हो। युद्ध नीति के रूप में अहिंसा, सत्याग्रह, अनशन को स्वीकार कर सकते हैं। जब हम स्वयं दुर्बल हों और विश्व की सहानुभूति अर्जित करने के लिए। स्वयं गांधीजी ने भी जिन्ना के, पाकिस्तान के विरुद्ध अनशन नहीं किया। क्योंकि वे जानते थे उन पर असर पड़ने वाला नहीं है।

अशोक व अर्जुन—अर्जुन को भगवान् श्रीकृष्ण जैसा गुरु मिला। अन्यथा अर्जुन भी अशोक की तरह क्षात्रशक्ति की उपेक्षा कर देश को बर्बर आक्रान्ताओं के लिए चरागाह बना देता। अशोक को भगवान् श्रीकृष्ण जैसा स्वस्थ मार्गदर्शक नहीं मिला। बौद्ध भिक्षु बनना तो ठीक था क्योंकि अर्जुन और अशोक, दोनों की परिस्थिति परस्पर भिन्न-भिन्न है। अर्जुन युद्ध धर्म की रक्षा के लिए लड़ रहा है तो अशोक व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए। अतः अशोक का संन्यास उचित है, पर राजा के नाते सैन्य व्यवस्था को दुर्बल नहीं करना चाहिए। स्वयं व्यक्तिगत रूप से संन्यास धर्म अपनाना उचित है, पर देश की रक्षा-व्यवस्था को दुर्बल होने नहीं देना चाहिए न उनमें अतिरेक अहिंसा का प्रचार करवाना उचित था। आज हिन्दू अशोक बन रहे हैं। रक्षा एवं दण्ड को दुर्बल कर रहे हैं क्योंकि उसे भगवान् श्रीकृष्ण की तरह स्वस्थ मार्गदर्शक नहीं मिल रहा है।

अतः भगवान् स्पष्ट कहते हैं कि यह तेरी उदारता नहीं तेरी हृदय की दुर्बलता है, अज्ञानता है। यह क्षुद्र दुर्बलता, अज्ञानता एवं कायरता तुझको शोभा नहीं देते, उसको त्यागकर उठ खड़ा हो। इस स्पष्ट वचन से मोह के वशीभूत अर्जुन कुछ कसमसाता है। अर्जुन ने अपनी बातें सुनाकर श्रीकृष्ण की सहानुभूति पाने की आशा की थी। वह तो सोचता था भगवान् शाबासी देंगे, अर्जुन जब अपनी बात रख रहा है तब पूरे पहले अध्याय में भगवान् मौन हैं। मौन का एक अर्थ सहमति भी होता है। अर्जुन को लगा भगवान् उससे सहमत हैं इसलिए भगवान् मुख नहीं खोल रहे हैं, विरोध नहीं कर रहे हैं, इसलिए तो भगवान् ने दूत बनकर शान्ति का प्रयास किया था। अर्जुन को लगा भगवान् मेरे से सहमत हैं, उनसे मेरे को शाबासी मिलेगी। मौन का एक अर्थ अस्वीकृति भी होता है। वास्तव में वे तभी मुंह नहीं खोल रहे। भगवान् अर्जुन की सारी दुर्बलता समझ रहे। अतः दूसरे अध्याय में जोरदार डांट के साथ ही अपना मुंह खोलते हैं। ऐसे रोग से ग्रस्त मनुष्य अपना दुःखड़ा रोकर यही आशा करता है कि सहानुभूति प्राप्त हो, पर सहानुभूति दिखाना

रोगी का अहित करना है। भगवान् श्रीकृष्ण यह जानते हैं। इसलिए वे अर्जुन को अपने तीखे वाग्बाण से तिलमिला देते हैं।

प्रत्येक के जीवन में एक श्रद्धा का केन्द्र होता है, उसको योग्य व्यक्ति द्वारा योग्य रीति से स्पर्श किया जाए तो सामयिक प्रभाव से जो उसकी शक्ति दब जाती है, उस पर बादल छा जाते हैं वह हट जाते हैं और पुनः उसे अपने स्वरूप का स्मरण हो जाता है। वह घोर से घोर पुरुषार्थ करने को तैयार हो जाता है।

तो भगवान् द्वारा दूसरे अध्याय के दूसरे-तीसरे श्लोक में उसके क्षत्रियोचित स्वभाव को स्पर्श करते ही वह तिलमिलाकर जाग जाता है या जागने की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है।

ऐसा ही प्रसंग हनुमानजी के जीवन में भी हम देखते हैं। यह उस समय का प्रसंग है जब सीता का पता लगाने लंका कौन जाएगा? सीता कहां है यह पता तो सम्पाति के द्वारा लग गया कि रावण के पास है। समुद्र लांघकर लंका कौन जाए? उस समय सब कहते हैं मैं नहीं जा सकता, मैं नहीं जा सकता। जामवंत ने कहा, मैं जा तो सकता हूं पर वापस लौटकर आ पाऊंगा कि नहीं, पता नहीं। उस समय दूर एक शिला पर बैठे थे हनुमानजी। जामवंत सहित सब लोग वहां गए। अरे तुम यहां बैठे हो। वहां चर्चा चल रही है कौन जाएगा। हनुमानजी ने कहा मैं नहीं जा सकता। मैं तो साधारण बंदर हूं। जामवंत ने कहा, अरे तू बंदर नहीं है, तू तो पवनपुत्र है। फिर उसकी विरुदावली शुरू की। अरे जब तू पैदा हुआ था तो सूर्य को निगलने के लिए चला था। सूर्य को निगल लेता तो सारे संसार में अंधकार हो जाता, हाहाकार हो जाता। इन्द्र ने तुझे वज्र से मारा तो तुमने ठोड़ी पर झेल लिया, तेरी ठोड़ी टेढ़ी हो गयी। कौन है तू जानता नहीं है। तो जामवंत ने विरुदावली गायी तो अच्छा मैं यह हूं, मैं यह हूं, मैं यह हूं, तो धीरे-धीरे उनका शरीर बढ़ने लगा धरत भूधराकार शरीरा और फिर कहा, राम काज कीजै बिना मोहि कहां विश्राम।

राजा के युद्ध के हाथी का दृष्टान्त—युद्ध का हाथी जिसने राजा को अनेक युद्धों में विजय दिलायी। यह हाथी राजा को बहुत प्रिय था। हाथी के वृद्ध होने पर वह युद्ध के लिए सक्षम रहा नहीं। तब राजा ने युद्ध के लिए दूसरे हाथी को अपना लिया। उसकी अच्छी देखभाल का आदेश दे दिया, पर कुछ समय पश्चात् उपेक्षा होने लगी। देख-रेख में कमी आ गई। भोजन भी साधारण दिया जाने लगा। उसमें भी कटौती होने लगी। हाथी दुःखी हुआ। एक दिन स्नान के समय तालाब में ज्यादा अन्दर चला गया निकलने के सारे प्रयास असफल वह और ज्यादा अन्दर धंसता जाए। सेवकों में घबराहट हुई क्योंकि राजा का प्रिय हाथी, हम सबको दण्ड मिलेगा। खबर राजा के पास पहुंची। राजा भी आ गया। सेनानायक ने युद्ध के नगाड़े बजाने का आदेश दिया। युद्ध के नगाड़े बजाए गए तो हाथी स्वयं से बाहर

आ गया। अतः किसी कारण हताशा-निराशा आने पर उसके श्रद्धा के केन्द्र को जगाना पड़ता है। नेपोलियन का पुत्र बंदी गृह में था। उसको जब जानकारी मिली वह राजा का पुत्र है तब वह ग्लानि भूलकर खड़ा हो गया। राजा का पुत्र अनजाने में भीख का कटोरा लेकर याचना कर रहा हो पर जब उसे जानकारी मिलती है वह राजा का पुत्र है तब वह भीख का कटोरा लेकर थोड़े ही घूमेगा!

अंग्रेजों के समय हिन्दू समाज को सुलाने का कार्य प्रारम्भ हुआ जो आज तक जारी है।

गांधीजी भी, मुसलमान कहीं नाराज न हो जाए हिन्दुओं के गौरव गान, हिन्दू महापुरुषों, वीरों, अवतारों के गौरव गान से परहेज करते रहे हैं। अगर हम पृथ्वीराज व राणा सांगा का, राणा प्रताप, शिवाजी का, गुरु गोविन्द सिंह, तेग बहादुर, बंदा वैरागी का नाम लेंगे तो मुसलमान नाराज हो जायेंगे क्योंकि वे अपने आपको मुहम्मद गजनवी, गोरी, बाबर, अकबर एवं औरंगजेब से जुड़ा हुआ अनुभव करते हैं।

स्वाधीनता के पश्चात् भी हिन्दू समाज को निरन्तर सुलाने का प्रयास किया गया। इस दृष्टि से मुगलों व अंग्रेजों द्वारा विकृत किये हुए इतिहास को और विकृत करने का काम कम्युनिस्टों के सहयोग से कांग्रेस द्वारा किया गया। हिन्दुओं को निरन्तर सुलाया और दबाया जा रहा है। फलतः आज सारा देश आतंकवादियों से, पाकिस्तानी समर्थकों से भर गया है।

अर्जुन क्षत्रिय है। जीवनभर गुण-कर्म स्वभाव से क्षत्रिय रहा है। अतः क्षत्रिय के श्रद्धा केन्द्र को भगवान् जगा रहे हैं। अर्जुन का क्षत्रिय स्वभाव विषाद में पड़कर दब गया है। अतः भगवान् उस पर आघात करके जगा रहे हैं। फिर बाद में प्रशंसा करके जगाएंगे इसके लिए कभी पार्थ, कभी कौन्तेय और कभी सव्यसाची, कभी गुडाकेश, कभी भारत आदि सम्बोधन कर उसके पूर्वजों की श्रेष्ठ परम्परा को और स्वयं उसकी भी श्रेष्ठ परम्परा का स्मरण कराकर उसे जगाने का प्रयास करेंगे। फलतः अर्जुन जागकर पुनः अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है।

किसी के स्वरूप को स्पर्श करने के लिए कभी डांट भी लगानी पड़ती और कभी प्रशंसा भी। भगवान् दूसरे अ. के दूसरे-तीसरे श्लोक में डांट लगाते हैं। फिर बाद में उसके पूर्वजों की पुण्य परम्परा, फिर उसके स्वयं की पुण्य परम्परा का स्मरण दिलाते हैं। जिससे हमें कार्य लेना होता है उसको उसके परिवार की उसके पूर्वजों की महान् परम्परा को स्मरण कराते हैं जिससे उसका सुप्त पौरुष, पुरुषार्थ जाग जाए। उसके हृदय में उत्साह का संचार हो जाए, जोश जाग जाए। भगवान् वामन बलि राजा से तीन पग भूमि मांगने के पूर्व बहुत देर तक उसके महान् पूर्वजों

की प्रशस्ति गाते रहे, उसको जोश दिलाते गए। फिर कहा, मैं तो संतोषी ब्राह्मण हूं। मेरा कद भी छोटा है। अतः मुझे तो मात्र तीन पग भूमि चाहिए। यही मेरे लिए पर्याप्त है। माता कैकेयी ने महाराजा दशरथ से दो वरदान मांगने के पूर्व उनको रघुकुल की रीति का स्मरण कराया कि 'रघुकुल रीत सदा चली आई प्राण जाय पर वचन न जाय'। पूर्वजों की कीर्ति गाथा सुनकर हमारा सुप्त पुरुषार्थ जागृत हो जाता है तब असम्भव कार्य भी सम्भव हो जाते हैं। कर्नल टाड ने जो राजस्थान के इतिहास के लेखक भी हैं राजस्थान के प्रशासनिक अधिकारी थे। उन्होंने एक संस्मरण में लिखा है जिसमें उन्होंने बताया है कि पूर्वजों की कीर्ति गाथा का कैसा रोमांचकारी प्रभाव होता है। एक गीत सुनकर एक युवक ने बहुत बड़े पाषाण खंड को एक ही घन चोट से उसको दो फाड़ कर दिया। यह आश्चर्य उसकी आंखों के सामने घटा। अतः अविश्वास का तो कोई प्रश्न ही नहीं है। उसने गीत गवैया से पूछा तुम्हारे गीत का भाव क्या है? उसने बताया इसमें सिसोदिया राजवंश की कीर्ति गाथा को गाया है कि तुम्हारे पूर्वज कभी हारे नहीं जीवन में। तुम उनके नाम को लजाना नहीं। तब टाड को समझ में आया कि इतिहास का, वीर पुरुषों की महान् परम्परा का क्या प्रभाव जीवन में पड़ता है। वीर पुरुषों के इतिहास को किस प्रकार प्रस्तुत किया जाना चाहिए। अपने पूर्व पुरुषों के इतिहास का अमोघ प्रभाव जीवन में पड़ता है। रामायण-महाभारत की गाथा सुना-सुना कर ही तो जीजाबाई ने सदा विजयी शिवाजी का निर्माण किया।

देश भक्तों ने देश की मुक्ति के लिए क्या नहीं बलिदान दिया। पर आज के सत्तालोलुप राजनेता देश को कहां ले जा रहे हैं। उनके महान् जीवन से उनके बलिदान से देशवासियों को परिचय नहीं कराया, दूर रखा। परिणाम क्या हो रहा है, आज हमारे स्वप्न भी छोटे हो गए हैं, स्वप्न सिकुड़ गए हैं, स्वप्न लेने में भी कंजूसी करने लगे। आज हमारे सामने अखण्ड भारत के स्वप्न नहीं रहे। आज हम स्वप्न देखते हैं तो कटे-पिटे भारत का स्वप्न देखते हैं कि वह किसी प्रकार सुरक्षित रहे। आज हमारे सामने महान् स्वप्न तैरते ही नहीं क्योंकि नयी पीढ़ी को अपने पूर्वजों की कीर्ति गाथा से, अपने महान् आदर्श से, महान् वीर यशस्वी परम्परा से परिचित नहीं कराया। फलतः आज कुछ कर गुजरने का मनोबल ही नहीं रहा। आज हमें लगता ही नहीं हम भी देश के निर्माण में अपना योगदान कर सकेंगे। एक हताशा-निराशा का वातावरण सर्वत्र छा गया है, अपने आप से विश्वास उठता जा रहा है।

अतः किसी व्यक्ति, जाति, समाज को गिराना हो, उसे नष्ट करना हो तो उसके स्वाभिमान को, उसके मानबिन्दु, श्रद्धाबिन्दु, प्रेरणा के स्रोत को नष्ट कर दो, और किसी को उठाना हो, खड़ा करना हो तो उसके सुप्त स्वााभिमान को,

श्रद्धाबिन्दु को, प्रेरणास्रोत को जगा दो। जितने भी हमलावर आये हमारे प्रेरणास्रोत, श्रद्धाबिन्दु इतिहास को नष्ट और विकृत कर सदैव के लिए हमें अपना दास बनाये रखने का प्रयास किया। इस स्थिति से उबरने के लिए हमारे महापुरुषों, युगपुरुषों ने हमारे श्रद्धाबिन्दु को फिर से जगाने का प्रयास किया। इतिहास को ठीक किया। राष्ट्रीय पाठशालाओं की स्थापना की, हमारे गौरव ग्रन्थों को पुनः सामने लाये तभी तो स्वतंत्रता के लिए प्रेरणा जगी, हमने संघर्ष किया। फलतः पुनः स्वतंत्रता प्राप्त हुई।

अर्जुन उवाच—

कथं भीष्म-महं सङ्ख्ये, द्रोणं च मधुसूदन।
इषुभिः प्रति-योत्स्यामि, पूजार्हा-वरि-सूदन।। 2/4

गुरू-नहत्वा हि महानुभावान् श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्य-मपीह लोके।
हत्वार्थ-कामांस्तु गुरूनिहैव भुञ्जीय भोगान् रुधिर-प्रदिग्धान्।। 2/5

अर्जुन बोला—हे मधुसूदन! रणभूमि में पितामह भीष्म और गुरु द्रोण के साथ मैं किस प्रकार बाणों से युद्ध कर सकूंगा? क्योंकि हे अरिसूदन! वे दोनों ही तो पूजा के पात्र हैं। ऐसे महात्मा और पूज्य गुरुजनों को मारने के बदले इस जगत् में भीख मांगकर खाना भी निस्सन्देह श्रेयस्कर है, क्योंकि गुरुओं को मारकर इस संसार में आखिर उनके रक्त से सने हुए ही अर्थ और काम रूप भोगों को ही तो भोगूंगा।

यहां अर्जुन अपनी व्यावहारिक समस्या रखता है कि भीष्म पितामह के कारण ही सारा वंशवृक्ष चला है। अम्बा आदि को हरण करके वही लाये थे। भगवान् व्यास से प्रार्थना करके धृतराष्ट्र, पाण्डु और विदुर को उन्होंने ही उत्पन्न कराया था। वे हमारे पितामह परम धर्मज्ञ ब्रह्मवेत्ता हैं। वंशवृक्ष के मूल समूह में वे देवता सदृश हैं। बाल्यकाल से जब हम पितृहीन हुए थे तब उन्होंने कितने स्नेह से हम लोगों का लालन-पालन किया था। भीष्म हमारे पितामह हैं। जब बचपन में उन्हें 'तात' (पिता) कहकर सम्बोधित करता था तब वे मुझे कहते थे कि मैं तुम्हारे तात का तात हूं। इसी प्रकार द्रोणाचार्य ने धनुर्वेदादि के जो गुप्त रहस्य अपने पुत्र अश्वत्थामा आदि को नहीं बताया उन्हें मेरे प्रति अति स्नेह से बतलाया। मुझे सर्वश्रेष्ठ धनुर्धर बनाने के लिए अपनी कीर्ति को कलंकित करके भी एकलव्य का अंगूठा मेरे लिए कटवा लिया।

माता-पिता तो शरीर को जन्म देते हैं, परन्तु आचार्य ज्ञान गर्भ में धारण करके मनुष्य जीवन को वास्तविक अर्थ प्रदान करते हैं। मानव जीवन को सार्थक करने वाली विद्या के द्वारा जो जन्म देता वही श्रेष्ठ जन्म है। अतः वे पिता से

भी अधिक पूज्य हैं, फिर वे ब्राह्मण भी हैं। जिनकी तो हमें सेवा में उपस्थित रहना चाहिए। जिन्हें वाक्-बाण से भी मारना पाप होगा उन पर तीखे-तीखे बाण से कैसे प्रहार करूं। अर्जुन ने भगवान् श्रीकृष्ण के लिए मधुसूदन और अरिसूदन शब्द का प्रयोग किया जिसका तात्पर्य है कि माना आपने मधु नामक दैत्य का संहार किया। माना कि आपने अपने मामा कंस का भी वध किया पर ये सब वैरभावापन्न थे। आपके शत्रु थे। पर पितामह भीष्म और गुरु द्रोण न तो दैत्य हैं, न शत्रु हैं अतः मैं इन्हें कैसे मार सकता हूं। और ऐसा हो नहीं सकता, हम गुरुजनों को मारे बिना दुर्योधन का वध या पराजित किया जा सके। दुर्योधन के वध के पूर्व इनका वध आवश्यक है। यही अर्जुन के सामने कठिनाई है। भीष्म-द्रोण को आगे रखकर दुर्योधन ने चुनौती दी है। भीष्म पितामह और आचार्य द्रोण दुर्योधन की ढाल बनकर खड़े हैं अतः दुर्योधन के पूर्व इनका वध आवश्यक है। जिनकी गोद में पला हूं, खेला हूं और शिक्षा पाई जिनके कारण अर्जुन आज अर्जुन बना है उनको कैसे मारूं। फिर इन गुरुजनों को मारकर अल्पकाल में जो राज्य सुखभोग प्राप्त होगा वह उनके रुधिर से सना होगा। इसलिए मेरे लिए सर्वथा त्याज्य है।

तब यह प्रश्न उठ सकता है बिना युद्ध के राज्य प्राप्त नहीं होगा तब शरीर का निर्वाह कैसे होगा? तो उत्तर मैं कहता हूं भिक्षा के द्वारा शरीर यापन करना श्रेयस्कर होगा बजाय अपने ही हाथ गुरुजनों के रक्त से रंगना।

इस प्रकार अर्जुन का मानस भावना और कर्तव्य के द्वन्द्व से मथा जा रहा है। प्रायः हर व्यक्ति के जीवन में कभी-न-कभी ऐसा द्वन्द्व उपस्थित होता है। भावना का पक्ष मन के अनुकूल मालूम पड़ता है तथा कर्तव्य का पक्ष बड़ा शुष्क और रुक्ष लगता है। पर वस्तुतः भावना की अपेक्षा कर्तव्य श्रेष्ठ हुआ करता है। ऐसे द्वन्द्व के समय यदि मनुष्य अपने को भावना के प्रवाह में बहने दे, तो उसका पथच्युत होना निश्चित ही है। ऐसे समय में हमें सद्गुरु की आवश्यकता होती है, जो इस द्वन्द्व से हमारी रक्षा कर सके। अर्जुन का यह परम सौभाग्य था कि उसे भगवान् श्रीकृष्ण जैसे गुरु मिले।

लोग कहते हैं अर्जुन की रक्षा के लिए स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ही गुरु बनकर आये थे, हमारी रक्षा के लिए ऐसा गुरु कहां से आयेगा? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि यदि हम ईश्वर पर पूरा भरोसा रखें और ऐसे विकट क्षणों में उनकी कृपा की याचना करें तो वे अवश्य हमारे जीवन में ऐसे सद्गुरु को भेज देंगे जिनका मार्गदर्शन हमें पथच्युत होने से बचा लेगा। यह अध्यात्मिक राज्य का अटल सिद्धान्त है कि जो भी ईश्वर को सच्चे हृदय से चाहता हुआ उनसे प्रकाश की कामना करता है, उनके जीवन में प्रकाश आता ही है।

दुष्ट लोग सदैव ही सज्जन शक्ति को दबाने के लिए सज्जनों का उपयोग किया करते हैं। द्यूत क्रीड़ा में आमंत्रण के लिए विदुर का उपयोग, पाण्डवों की बुद्धि को भ्रमित करने के लिए संजय का उपयोग, अज्ञातवास का पता लगाने के लिए भीष्म का उपयोग एवं युद्ध में भी भीष्म और द्रोण को आगे करके सज्जन शक्ति के मनोबल को दुर्बल कराने के प्रयत्न कर रहे हैं। कंस ने भी श्रीकृष्ण और बलराम को आमंत्रित करने के लिए अक्रूर का उपयोग किया।

तैमूरलंग दूसरे देशों को रौंदता हुआ आगे बढ़ा जा रहा था। पर भारत आकर उसे मुंह की खानी पड़ी। यहां उसकी बुरी पराजय हुई। फिर उसने किसी प्रकार जान लिया कि भारतीय वीर बड़े गोभक्त हैं वे उस पर कभी भी हथियार नहीं उठायेंगे। अतः तैमूर ने उपाय सोचा। युद्ध भूमि में उसने अपनी सेना के आगे गायों की पंक्ति खड़ी कर दी और उनके पीछे से भारतीय जवानों पर आक्रमण करने लगा। भगवान् श्रीकृष्ण जैसा मार्गदर्शक न होने से इधर भारतीयों ने सोचा कि यदि हम भी युद्ध करेंगे तो बेकार में इन गायों की हिंसा होगी और हिंसा का पाप लगेगा। अतः बेहतर है कि हम आत्मसमर्पण कर दें और उन्होंने किया भी वैसा ही। परिणामतः देश में विदेशियों का राज्य हो गया। इससे गो हत्या भी रुकी नहीं और देश भी पराधीन हुआ। यह व्यावहारिक यथार्थ बोध के अभाव का दुष्परिणाम है। अगर विवेक का परिचय देकर युद्ध करते तो हो सकता थोड़ी गायों का वध होता पर देश की स्वतंत्रता की रक्षा होती और भविष्य में गायें भी सुरक्षित होती। पर धर्माभास के शिकार हो न देश की और न गाय की रक्षा कर पाये।

जब भी राजपूत सेना मुल्तान की स्वाधीनता के लिए प्रवृत्त होती वे मुल्तान के प्रसिद्ध शिवलिङ्ग को नष्ट करने की धमकी देते थे और भगवान् श्रीकृष्ण जैसे मार्गदर्शक के अभाव में राजपूत भी पीछे हट जाते थे। ऐसे ही छल का आश्रय लेकर ईसाई पादरी, मुसलमान लाभ उठाते रहे हैं। कभी कुएं में डबलरोटी डालकर तो कभी उनके भोजन को छूकर, हिन्दुओं को धर्म भ्रष्ट करते रहे हैं और कोई श्रीकृष्ण जैसा कुशल मार्गदर्शक नहीं मिलने के कारण ईसाई एवं मुसलमान होते रहे हैं। ऐसी घटनायें अण्डमान निकोबार में भी जहां काले पानी की सजा काटने के लिए विप्लवी बंधुओं को रखा जाता था। वहां वीर सावरकर ने प्रतिवाद किया और हिन्दुओं को बताया धर्म का स्थान पेट नहीं हृदय है क्योंकि मुसलमान हिन्दुओं का भोजन छूकर हिन्दुओं को भूखा रहने के लिए बाध्य कर देते थे और इसी आधार पर मुसलमान बनाने का षड्यंत्र भी रचते थे। इसके लिए देखें सावरकरजी का आजन्म कारावास ग्रन्थ।

पर वह सज्जनता क्या है जिसका उपयोग दुष्ट लोग अधर्म के लिए करे, ऐसी सज्जनता किस काम की है? जिनकी सज्जनता दुष्टों के संरक्षण एवं धर्म के

विनाश में हो उन सज्जनों की, महापुरुषों की, भीष्म और द्रोण की रक्षा भगवान् भी नहीं कर सकते। फिर भीष्म एवं द्रोण आदि श्रेष्ठ गुरुजनों का वध सामुदायिक पाप का भी परिणाम है। क्योंकि दुर्योधन इन दोनों की शक्ति से बलवान होकर सदैव पाण्डवों को सताते रहे हैं। इन्हीं की शक्ति के बल पर यह युद्ध भी मोल लिया है। अतः इन दोनों का उपयोग दुष्टों के रक्षण एवं सम्वर्धन में ही होता रहा है। जैसे अज्ञातवास में पाण्डवों को प्रकट करने में या मारने के प्रयास में। वे गेहूं के अन्दर घुण की तरह पिसे जाने के लिए बाध्य हैं। इसी आधार पर वृंदा का सतीत्व भंग स्वयं भगवान् विष्णु को करना पड़ा। कांग्रेस का उपयोग अब हिन्दुओं के विरोध में हो रहा है, यह जानकारी के पश्चात् भी पुरुषोत्तम दास टण्डन कांग्रेस को छोड़ नहीं पाये। ऐसी ही दशा भीष्म और द्रोण की थी। वे जानते थे उनकी सज्जनता एवं वीरता का उपयोग पाण्डवों को सताने में हो रहा है फिर भी वे दुर्योधन को छोड़ नहीं पाये।

दुर्योधन की सहायता के लिए उद्यत अर्थार्थी भीष्म एवं द्रोण जैसे गुरुओं के वध से बचते हुए केवल दुष्ट दुर्योधनादि का वध सम्भव भी नहीं। अतः ऐसी स्थिति भीष्म पितामह एवं आचार्य द्रोणाचार्य का वध भी आवश्यक हो गया है धर्म राज्य की स्थापना के लिए। अर्जुन, भीष्म एवं द्रोण के वध में स्वयं को निमित्त बनाना नहीं चाह रहा है। यद्यपि ये दोनों अजेय हैं। पर अवश्य ही भगवान् श्रीकृष्ण के पास उन दोनों को मारने की युक्ति है। तभी तो बार-बार भगवान् ने विजय का आश्वासन दिया है पर अर्जुन इन दोनों को मारने में स्वयं को निमित्त नहीं बनाना चाहता है। जिस सज्जनता का विनियोग दुष्टों के संरक्षण एवं वर्द्धन में होता है जिसका रक्षा कवच पाकर दुर्जनता पलती है ऐसे सज्जनों का निर्भय होकर पहले वध करना चाहिए और इस युद्ध में भी यही हुआ।

न चैतद्-विद्मः कतरन्नो गरीयो यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।
यानेव हत्वा न जिजीविषामस्-तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः।। 2/6

फिर हम यह भी तो नहीं जानते कि हमारे लिए क्या करना श्रेयस्कर होगा (पता नहीं इस युद्ध में) हम जीतेंगे या हमें वे जीत लेंगे। अहो! जिन्हें मारकर हम जीना नहीं चाहते, वे ही धृतराष्ट्र के पक्ष में हमारे सामने खड़े हैं।

यहां पर अर्जुन के मन की डांवांडोल स्थिति प्रकट हो जाती है। उससे अनजाने में उसके अन्तर से हार का भय प्रकट हो जाता है जिसे वह अब तक छिपाये हुए था। अर्जुन जानता है कि भीष्म पितामह को इच्छामृत्यु का वरदान प्राप्त है और मरना कोई चाहता नहीं, पराजित तो उन्हें स्वयं परशुराम नहीं कर सके। वैसे द्रोणाचार्य भगवान् शंकरजी के शिष्य हैं उन्हें भी वरदान प्राप्त है जब तक वे शस्त्र धारण किये रहेंगे उन्हें कोई पराजित नहीं कर सकता और पुत्र की

मृत्यु के पूर्व मरेंगे नहीं, पुत्र अश्वत्थामा चिरंजीव। चिरंजीवी पुत्र मरें नहीं, पुत्र के पहले वे मरें नहीं और जब तक शस्त्र धारण किये रहें तब तक वे हारें नहीं। अतः इन दोनों से पार पाना अर्जुन के बस की बात नहीं। ये दोनों महाभारत युद्ध रूपी दो अति दुर्गम तट हैं जिससे अर्जुन पार नहीं पा सकता। अवश्य छद्म रूप में विराट के राज्य में भीष्म-द्रोणादि के साथ युद्ध किया था तब केवल सम्मोहन शस्त्र द्वारा सभी को मूर्च्छित किया था, उस समय जीवन-मरण का प्रश्न नहीं था। इसलिए अर्जुन कहता है पता नहीं इस युद्ध में हम जीतेंगे या हमें वे जीत लेंगे। जयोपलब्धि भी संदिग्ध ही है। युद्ध में हम विजयी होंगे या दुर्योधनादि हम पर विजयश्री लाभ करेंगे। इस रहस्य को भी हम नहीं जानते। यद्यपि कुछ क्षण पूर्व भगवान् की आज्ञा ले भगवती दुर्गा की अराधना से मां भगवती ने रणभूमि में दर्शन देकर कहा 'स्वल्प काल में भगवान् श्रीकृष्ण के आशीर्वाद से विजयश्री लाभ करोगे का वर दिया। इसके पूर्व वेद व्यासजी ने, नारदजी ने, धर्मराज ने, इन्द्र ने एवं भगवान् श्रीकृष्ण तो अनेकों बार कह चुके हैं विजयश्री पाण्डवों को ही मिलेगी। भगवान् श्रीकृष्ण पर अर्जुन को पूरा भरोसा भी है तभी तो एक अक्षौहिणी नारायणी सेना को छोड़कर निहत्थे श्रीकृष्ण को स्वीकार किया। पर विषाद ने, भय और मोह ने इतना अभिभूत कर लिया कि इन सब वरों को भूल गया है।

फिर विचार करने की बात यह है कि भगवान् का प्रकट अवतार काल है एवं भगवान् का साथ होने पर भी पाण्डव विजयश्री लाभ न कर वीर गति को पाते तो निश्चय ही वे उत्तम गति यानी मोक्ष को प्राप्त होते। पर हम-आपकी क्या धर्म के प्रति आस्था रहती। हम यह सोचने के लिए बाध्य होते कि आखिर धर्मपालन का फल क्या हुआ? धर्म के मार्ग पर चलकर भगवान् का साथ होकर पाण्डव अनाथ के समान मारे गए और अधर्मी, पापी, दुराचारी विजयी हुए। जब भगवान् भी समर्थ होकर धर्म पथ पर चलने वाले पाण्डवों को न्याय नहीं दिला सके ऐसा धर्म किस काम का। राम भी यदि सीता को रावण की चपेट से मुक्त नहीं कर सकते तब नास्तिकता आये बिना नहीं रहती। हम कम्युनिस्ट हुए बिना नहीं रहते। हमारी धर्म के प्रति आस्था, प्रेरणा शेष नहीं रहती। अतः भगवान् धर्मात्माओं को धर्म के पथ पर, न्याय के पथ पर चलने वालों को विजयश्री अवश्य दिलाते हैं और परलोक तो बनता ही है। प्रथम में परीक्षा तो अवश्य लेते हैं पर अन्त में उन्हें ही विजयी बनाते हैं। अन्यथा सारा समाज ही धर्म से च्युत हो जाएगा।

महाभारत युद्ध के पश्चात् जब धृतराष्ट्र ने संजय से पूछा कि इतनी सारी हमारी सेना और महारथियों के रहते हुए भी हमारी हार क्यों हुई। तब संजय ने कहा कि श्रीकृष्ण रूपी धर्म आपके विरुद्ध खड़े हो जाने और आपके द्वारा धर्म

का परित्याग कर देने के कारण यह पराजय हुई। संजय ने बार-बार धृतराष्ट्र से कहा था आपका युद्ध दर-दर भटकने वाले पाण्डवों के साथ नहीं है, स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण के साथ है, धर्म के साथ है। उस पर आप कभी विजय नहीं प्राप्त कर सकते। भगवान् श्रीकृष्ण ने स्पष्ट कहा था जो पाण्डवों का मित्र है वह मेरा मित्र है, जो पाण्डवों का शत्रु है वह मेरा शत्रु है। कौरव पक्ष के पाप ने उन्हें पराजित किया। अधर्मी कितनी भी सावधानी बरते, जब उसका समय पूरा हो जाता है तब वह किसी-न-किसी आधार पर हारता ही है। पापी कितना भी अपनी रक्षा करे, पाप ही उसे मार डालता है। बाहरी जितनी भी रक्षा की व्यवस्था हो, वह अन्ततः हारता ही है।

पर अर्जुन विषाद में इतना अभिभूत हो गया है वह इन सब बातों को भूल गया है। फिर उसके अन्दर का एक भाव और काम कर रहा है कि वह स्वयं भीष्म, द्रोण एवं स्वजनों की मृत्यु में निमित्त नहीं बनना चाह रहा है।

जिस प्रकार अर्जुन को भय व्याप्त है उसी प्रकार इन दोनों महापुरुषों के प्रति मोह भी व्याप्त है। इन जैसे आचार्यों को मारने में वह स्वयं निमित्त नहीं बनना चाहता। इस पर पहले ही श्लोक में विचार कर चुके हैं। क्योंकि हो सकता है भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा दोनों महापुरुषों को मारने की युक्ति निकल आवे तो इन दोनों महापुरुषों और इन सदृशों को वह स्वयं मारना नहीं चाहता इसलिए वह पुनः कहता है अहो! जिन्हें मारकर हम जीना नहीं चाहते, वे ही धृतराष्ट्र पक्ष में हमारे सामने खड़े हैं।

यहां अर्जुन का भय और मोह, दोनों प्रकट हो जाता है। उसे भय है मैं न मारा जाऊं और मोह भी है ये भीष्म-द्रोण जैसे श्रेष्ठ पुरुष न मारे जाएं।

वास्तव में अर्जुन भीष्म-द्रोण जैसे योद्धाओं के प्रति भय एवं मोह, दोनों ही से त्रस्त है। जिस भय को अब तक छिपाये हुए था वह अनचाहे अनजाने में प्रकट हो ही गया और अर्जुन ने यह भी देख लिया कि मेरे तर्कों की दाल गली नहीं और न गल सकती है। क्योंकि अर्जुन जितने भी तर्क प्रस्तुत करता है, भगवान् श्रीकृष्ण मौन है, उसकी सुनते जा रहे हैं और देखते जा रहे हैं। अर्जुन कब तक अपने मनोभाव को छिपाये रखेगा और उसके पास कितने तर्क है। जब कोई बच्चा गलत काम करता है पर वह उसे स्वीकारता नहीं वरन् उसे ठीक सिद्ध करने के लिए तर्क पर तर्क प्रस्तुत करता रहता है तो मां चुपचाप रहती है, कुछ नहीं कहती। तब वह समझ जाता है कि अब और चालाकी नहीं चलेगी और अपनी गलती स्वीकार कर लेता है। यही स्थिति अर्जुन की है। अर्जुन की सभी युक्तियों का एक ही उत्तर देते हैं भगवान्। अर्जुन यह तेरी हृदय की तुच्छ दुर्बलता एवं अज्ञान के अलावा

कुछ नहीं है, इस झिड़क से फटकार से अनजाने में ही सही अन्तर् में समाया भय भी जब प्रकट हो जाता है तब वह विचारता है कि भगवान् के सामने लीपा-पोती चलने वाली नहीं है और अब जब पोल-पट्टी खुल गई है तब अब आत्मसमर्पण के अलावा कोई चारा नहीं है। सज्जन व्यक्ति जो होता है जब वह देखता है उसकी चालाकी नहीं चल रही है, पोल-पट्टी खुल चुकी है, उसके तर्क नहीं चल सकते हैं तो वह आत्मसमर्पण कर देता है। अपनी त्रुटि को स्वीकार कर लेता है। पर जो दुष्ट होता है, उसके तर्क चले या न चले, उसकी पोल-पट्टी एवं चालाकी चले या न चले उसकी परवाह किये बिना जीवनभर उसी पर अड़ा रहता है यथा दुर्योधन, धृतराष्ट्र और आज के मानवाधिकारवादी, वामपंथी, सेकुलर, प्रगतिवादी बुद्धिजीवी और राजनेता दुर्योधन ने जितने षड्यंत्र किये बाद में सबकी पोल-पट्टी खुल गयी। पर उसे इसकी परवाह नहीं।

कार्पण्य-दोषो-पहत-स्वभावः पृच्छामि त्वां धर्म-सम्मूढ़-चेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्-निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।। 2/7

अर्जुन कहता है कार्पण्य के दोष से मेरा क्षात्र स्वभाव दब गया है और मैं वास्तविक कर्तव्य (धर्म) के विषय में सम्पूर्ण रूप मोहितचित्त होकर आप से पूछ रहा हूं कि मेरा जिसमें अधिक बड़ा कल्याण हो वह मार्ग मुझे बता दीजिये मैं आपका शरणागत शिष्य हूं, मुझे उचित शिक्षा देवें।

जिसे संजय ने (जो दिव्य दृष्टि सम्पन्न होने से अर्जुन के अन्तर के भाव को जानने में समर्थ होने से) 'कृपयाविष्टम्' (गीता 1/27, 2/1) शब्द से कहा था तथा भगवान् श्रीकृष्ण ने 'कश्मल' और क्षुद्र हृदय दौर्बल्य शब्द से कहा था उसी को अर्जुन यहां 'कार्पण्य दोष' शब्द से कह रहा है। यानी अर्जुन पर भगवान् ने जो दोषारोपण किया था यह तेरा ज्ञान नहीं अज्ञान है, यह तेरे हृदय की उदारता नहीं हृदय की तुच्छ दुर्बलता है इसे वह स्वीकार कर लेता है।

अर्जुन की दो प्रतिज्ञा प्रसिद्ध है—

अर्जुनस्य प्रतिज्ञे द्वे न दैन्यं न पलायनम्।

अर्जुन न किसी के सामने दीन होकर हाथ जोड़ता था न ही युद्ध से भागता था। वही अर्जुन दीन-हीन होकर अपने लिए कार्पण्य शब्द का प्रयोग कर संजय एवं श्रीकृष्ण के कथन को स्वीकारता है। यहां कार्पण्य का अर्थ कर्तव्य से मुंह मोड़ने के कारण दयनीय (दया या कृपा के योग्य) स्थिति है।

अभी तक तो अर्जुन तर्क करता रहा। भगवान् हम क्यों लड़ेंगे, हमारे गोतिया लोग हैं, हमारे वंश का नाश हो जाएगा, कुल-धर्म नष्ट हो जाएगा, मर्यादा नष्ट हो जाएगी, स्त्रियां नष्ट हो जाएगी, वर्ण संकर संतानें पैदा होंगी, सारे कुल का

नाश हो जाएगा। वो तो मूर्ख है पर हम तो समझदार हैं, हम क्यों रक्त से सनी हुई धरती पर राज्य करें, हम भिक्षा का अन्न खा लेंगे। बहुत बातें करता रहा। भगवान् मुसकराते रहे और उन्होंने एक भी उत्तर नहीं दिया। क्यों? चेला बहुत सयाना हो गया है, तर्क करता है, करने दो, भगवान् तो उसका मजा ले रहे हैं उसके तर्क का। देखिये स्थिति विचित्र है—

भगवान् बने हुए हैं सारथि, अर्जुन है महारथी
सारथि बैठा है आगे, गाड़ी चलाने के लिए
मालिक बैठा ऊंचा, पीछे युद्ध के लिए

सारथि का काम है कोच चलाने का, सारथि का काम है साईस का। साईस तो आगे है और रईस तो गाड़ी का मालिक बनकर पीछे बैठा है।।

हालत अजीब हो रही है इस दृश्य में
रईस तो रो रहा है और सईस हंस रहा है
अश्रु पूर्ण नेत्रों से अर्जुन कह रहा है
सीदन्ति मम गात्राणि, मुखं च परिशुष्यति।
वेपथुश्-च शरीरे मे, रोमहर्षश्-च जायते।। 1/29

अर्जुन रो रहा है, मेरा अंग-अंग दर्द कर रहा है। मेरे शरीर में कंपकंपी हो रही है, रोंगटे खड़े हो गए, हाथ से गांडीव गिरा जा रहा है, त्वचा जल रही है, मैं खड़ा नहीं रह सकता, अब गिरा तब गिरा की स्थिति हो रही है, मेरा मन चक्कर खा रहा है। किसी डॉ. को दिखाने से कहेगा कि उसको पेरालाइसिस का अटैक हो गया है, मुख सूख रहा है, ब्लड प्रेशर हाई हो गया है। भगवान् उसकी स्थिति को जान रहे हैं। इसलिए उसे किसी चिकित्सालय में नहीं भेजा कि जल्दी इलाज कराओ इसको क्या हो गया। भगवान् उसकी स्थिति को जान रहे हैं इसलिए मुसकरा रहे हैं। पहले अर्जुन अपने दुःख से आंसू बहाता रहा। अपनी लाचारी, मजबूरी पर आंसू बहाता रहा। अपने मिथ्या तर्कों को मनवाने के लिए आंसू बहाता रहा। और जब भगवान् के शरणागत होकर आंसू बहाये और कह दिया मैं तो अब आपकी चरण-शरण में आ गया। मैं अपने कर्तव्य-अकर्तव्य के विषय में पूर्णतया विमूढ़ हो गया हूं। कृपणता के दोष से मेरा वास्तविक क्षात्र स्वभाव दब गया है। मैं आपका शिष्य हूं। मेरे लिए जो निश्चित कल्याणकारी मार्ग है उसकी शिक्षा देवें। भगवान् मैं कुछ नहीं जानता। मैं आपकी चरण शरण में आया हूं जो उचित हो मुझे शिक्षा देवें।

गांधीजी कहते हैं जब मैं समस्याओं से घिर जाता हूं, आशा की एक किरण भी दिखाई नहीं पड़ती चारों ओर अंधकार ही अंधकार दिखाई पड़ता है तब मैं

अर्जुन की वाणी में रो-रोकर भगवान् के सामने निवेदन करता हूं और भगवान् गीता का प्रकाश दिखाने कोई-न-कोई मार्ग लेकर मेरे सामने स्पष्ट प्रकट हो जाते हैं। यह ले यह मार्ग है और एक चमकता हुआ गीता का श्लोक मेरे सामने आ जाता है और मुझे मार्ग मिल जाता है। मेरा हल मुझे मिल जाता है और मैं मुसकराने लगता हूं। मेरा जीवन बाह्य संकटों से भरा रहा है और यदि उन संकटों ने मुझ पर कोई दृश्यमान अमिटचिह्न नहीं छोड़ा है तो इसका कारण गीता की शिक्षायें ही हैं। अर्जुन की शरणागति का श्लोक हम सबको हृदयंगम होना चाहिए। अर्जुन की शरणागति का श्लोक हमारे हृदय से ध्वनित होना चाहिए। अतः यह शरणागति का श्लोक हम सबको याद रहना चाहिए। अर्जुन की शरणागति के श्लोक में हम भगवान् को, सर्वान्तर्यामी परमेश्वर को प्रत्यक्ष सामने करके उनके मुख से गीता सुनने के अधिकारी बन जाते हैं। अतः अर्जुन की शरणागति के श्लोक को ऐसी कोई माता या सज्जन न होंगे जिसे स्मरण न हो और जिसके हृदय से प्रतिदिन एक बार ध्वनित न होवे।

अर्जुन कहता है भगवान् कार्पण्य दोष से, कृपणता के दोष से मेरा वास्तविक जो स्वभाव है, वीर स्वभाव, क्षत्रिय स्वभाव या धर्मात्मा का जो स्वभाव है वह दब गया। और धर्म तत्त्व के विषय में समूढ़ चित्त हुआ आपको हाथ जोड़कर पूछता है, जो कुछ मेरे लिए निश्चित रूप से कल्याणकारी हो, अपने मुखारविन्द से आदेश दीजिये। मैं आपका शिष्य हूं। यह नहीं कहा कि मैं आपका बंधु हूं, भ्राता हूं, या यह भी नहीं कहा कि आप सारथि हैं, मैं इस रथ का महारथी हूं, मैं रथ का मालिक हूं, ये नहीं कहा कि मैं पाण्डवों की सेना का सर्वोपरि सेनापति, वह तो यह भी कह सकता कि आप तो मेरे साले हैं। मैं आपका बहनोई हूं। ये सब कुछ नहीं कहकर कहता है मैं तो आपका शिष्य हूं। मैं आपके प्रपन्न हूं, मैं आपके शरणागत हूं। इसलिए आप मुझे शिक्षा दीजिये। यह नहीं कहा कि मैं आपसे इस विषय पर सलाह मांगता वरन् शिष्य की तरह प्रपन्न होकर उनके उपदेश के लिए प्रार्थना करता है और अपने ऊपर अनुशासन करने का पूरा अधिकार देता है। यानी पूरी तौर पर प्रपन्न एवं शरणागत होता है। अन्यथा सलाह तो गुरुजनों से कर लेते हैं पर करते हैं अपने मन ही की। वास्तव में हम पहले ही अपना निर्णय या राय या मत बना लेते हैं और उसका समर्थन अन्यों से चाहते हैं। अर्जुन भी यही चाहता था, इसके लिए अनेक तर्क भी किये पर उसकी पोल-पट्टी भगवान् के सामने चली नहीं। अगर अर्जुन को भगवान् श्रीकृष्ण से समर्थन मिल जाता तो कहता मैं युद्ध से नहीं भागा। भगवान् श्रीकृष्ण के आदेश से युद्ध से विरत हुआ। हम बड़े-पूज्यजनों को अपने हित में उपयोग करना चाहते हैं। प्रथम में तो अर्जुन भी यही चाहता था। पर अब वह अपने वास्तविक स्थिति को स्वीकार कर सही अर्थ में प्रपन्न होता है,

शरणागत होता है और ऊपर वाली स्थिति न होवे इसलिए अर्जुन उपदेश के साथ-साथ कर्तव्यपथ पर आरूढ़ करने का शासन करने का अधिकार देता है।

यह प्रपत्ति का सिद्धान्त भारतीय शिक्षा दर्शन का आधार है। जब शिष्य प्रणत होकर गुरु से उपदेश के लिए प्रार्थना करता है तभी गुरु उसे शिक्षा देता है। शिष्य भाव से प्रणत होकर सेवा करते हुए परिप्रश्न करता है तब गुरु उपदेश करते हैं।

प्रपत्ति का यह सिद्धान्त भारतीय शिक्षा दर्शन का आधार के साथ-साथ गीता ज्ञान की भी कुंजी है। इस कुंजी से गीता के दिव्य ज्ञान की रत्न मंजूषा का रहस्य खुल जाता है। तब हमें ज्ञान की अमर सम्पत्ति मिल जाती है। इस प्रकार गीता शुभारम्भ की कुंजी है। प्रथम अध्याय में अनेक तर्क-वितर्क करता है किन्तु भगवान् ने मुख तक नहीं खोला। केवल दूसरे अध्याय के प्रारम्भ के दो श्लोकों में महारथी अर्जुन की दुर्बलता से रोने पर व्यंग्य से ताना तो मारा है, डांट तो लगायी है पर उपदेश प्रारम्भ नहीं किया है। जब दूसरे अध्याय के सातवें श्लोक में अर्जुन तर्क-वितर्क छोड़कर भगवान् के शरणागत होकर शिष्यत्व भाव से उपदेश के लिए प्रार्थना करता है तभी गीता का वास्तविक उपदेश प्रारम्भ होता है।

प्रपत्ति गीता ज्ञान का प्रारम्भ है और गीता ज्ञान का समापन भी प्रपत्ति है। भगवान् ने सब उपदेश देने के पश्चात् कहते हैं—सर्व-धर्मान् परित्यज्य, मामेकं शरणं व्रज। 18/66

तुमको इतनी सब बात समझ में नहीं आती, इन सब बातों को समझने की योग्यता नहीं है तो इन सब बातों को भूलकर, सभी धर्मों (यानी तीनों शरीर-स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर के धर्मों, वर्ण एवं आश्रम के धर्मों) को भूलकर मेरी शरण में आ जा। मेरी आज्ञा से कर्म करो, मैं तुम्हें समस्त पापों से मुक्त कर दूंगा। यानी भगवान् यहां कहते हैं तुम इतनी बातों के पचड़े में नहीं पड़ना चाहते तो कोई बात नहीं, मुझ पर तो दृढ़ आस्था है, अतः मेरी शरण ग्रहण कर मेरी आज्ञा से क्षत्रिय धर्म का पालन कर मैं तुझे सब पापों से मुक्त कर दूंगा। और अर्जुन भी भगवान् के कथन को स्वीकृति देते हुए गीता के समापन में कहता है—

नष्टो मोहः स्मृतिर् लब्धा, त्वत्-प्रसादान्-मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गत-सन्देहः, करिष्ये वचनं तव।। 18/73

हे अच्युत! आपकी कृपा से मेरा मोह नष्ट हो गया है और मुझे आत्म तत्त्व विषयक एक वास्तविक स्मृति प्राप्त हुई। अब मैं संदेह रहित होकर स्थित हूं। मैं तुम्हारे कथन का पालन करूंगा, 'करिष्ये वचनं तव' आपकी आज्ञा पालन करने के लिए तैयार हूं। अतः शरणागत गीता ज्ञान का समापन एवं परिणाम भी है।

अर्जुन के प्रपन्न होने के पश्चात् भगवान् अपने प्यारे शरणागत शिष्य पर सब कुछ निछावर करने को उद्यत हो जाते हैं। गुप्त से गुप्त रहस्य भी खोलकर रख देते हैं। मानो वे अपना हृदय ही निकाल कर अर्जुन को भेंट कर देते हैं—

गीता मे हृदयं पार्थ, गीता मे शास्त्रमुत्तमम्।

हे अर्जुन! गीता तो मेरा हृदय ही है और यही मेरा उत्तम शास्त्र है।

कृपणता का दोष। आजकल हिन्दी में कृपणता का अर्थ करते हैं कंजूस। तो कंजूसी के दोष से अर्जुन का स्वभाव दब गया? कौन-सी चीज की कंजूसी? इस शब्द को समझने से बड़ा आनन्द होगा। वह कृपणता क्या है? कृपण शब्द आया है कृपा से। कृपा तो बड़ी बढ़िया चीज है। कृपा बढ़िया चीज है पर आप किसी पर करें तब। कृपा का अर्थ हुआ कृपालु या दयालु व्यक्ति। बड़ा अच्छा, बड़ा महान्। पर दयनीय व्यक्ति है तरस खाने लायक। इसकी स्थिति बड़ी दयनीय है तरस खाने लायक। तो कृपण व्यक्ति दयनीय होता है। उस पर तरस आता है—अरे, किस हालत में पड़ा है। वह दूसरों पर दया नहीं करता। कंजूस व्यक्ति किसी पर दया नहीं करता और उसी कारण से उसकी अवस्था दयनीय बन जाती है। तरस खाने लायक बन जाती है। क्यों तरस खाने लायक बन जाती है? गुरुद्वारा में प्रसाद बंटता है। प्रसाद बंटते हुए में एक आदमी को बहुत बढ़िया कड़ाही हलवा का प्रसाद मिला। उसको थोड़ा लोभ हो गया। उस हाथ को पीछे करके दूसरा हाथ बढ़ाया कि थोड़ा और ले लेवे। आगे हाथ किया तो डांट मिली कि और नहीं मिलेगा और पीछे हाथ किया था उसको कुत्ता खा गया। यह है दयनीय अवस्था। हाय! तरस आता है। चाहता था डबल हलवा खाऊंगा पर अपना हिस्सा भी नहीं रहा।

एक सज्जन ने कहा हम मन्दिर बना रहे हैं, अयोध्या पहाड़ में बड़ा अच्छा मन्दिर बनेगा, महान् मन्दिर बनेगा। मर्यादा पुरुषोत्तम राम का मन्दिर बनेगा। उनकी चरण धूलि से पवित्र हुई धरती में मन्दिर बनेगा। पर वह कहता है—जा-जा, हम कुछ नहीं देंगे। फिर कहा एक धर्मशाला बनाएंगे और एक वनवासी कल्याण के लिए छात्रावास बनाना है। देखो, मीनाक्षीपुरम् में इतना धर्मान्तरण हो गया है। धर्म जागरण के लिए दे दें। सबने कहा, कुछ तो दे दें। किसी काम के लिए दो, पर कुछ नहीं दिया। अब थोड़ी देर बाद आये डाकू। डाकुओं ने निकाला छुरा, गले को घोंटा। उसने कहा, अरे-अरे, वनवासी कल्याण आश्रम को दान करना है। अरे, अयोध्या पहाड़ के लिए दान करना है, विश्व हिन्दू परिषद् को देना है। अब क्या देगा? अब तो धन भी छीनूंगा और तेरा प्राण भी छीनूंगा। तब अफसोस होता है—दुविधा में दोनों गये, माया मिली न राम। तब दयनीय स्थिति है। यह दयनीय है। यह कृपण है। यह ऐसा कार्पण्य का रूप है जिस पर दुनिया तरस खाये कि हाय! इसका कुछ नहीं हुआ। यह जीवन की बाजी हार गया। धन को बचाए रखना

चाहता है पर धन बचता तो है नहीं। इस मुट्ठी में पहले पैसा था नहीं, अब पैसा चमक रहा है, कल पुनः हाथ खाली हो जाएगा। हाथ से पकड़े रहोगे पैसों को, न जाने पैसा पहले चला जाए या पैसे को पकड़ा हुआ हाथ ही पहले राख हो जाए। तेरे नोटों की गड्डियों में आग लगेगी या जिस हाथ से पकड़े रहोगे नोट, उसको ही आग लग जाएगी। कौन कह सकता है? अतः उसका सदुपयोग कर लो भाई। नहीं करोगे तो तेरी अवस्था कृपण की अवस्था है। तरस खाने लायक अवस्था है। अतः तरस आता है उन लोगों पर जिन्होंने धन का सदुपयोग नहीं किया। तरस आता है उन लोगों पर जिन्होंने तन का सदुपयोग नहीं किया। तुमने कहा हमारे शरीर पर चांटा नहीं लगना चाहिए, कांटा नहीं चुभना चाहिए, धूल नहीं लगनी चाहिए। बचा ले कब तक बचाएगा? एक तमाचा काल का लगेगा तो राम नाम सत्य हो जाएगा। न देश की रक्षा के लिए खड़ा हुआ, न धर्म की रक्षा के लिए खड़ा हुआ, न जाति की रक्षा के लिए खड़ा हुआ, न परिवार की रक्षा के लिए खड़ा हुआ, न सम्मान की रक्षा के लिए खड़ा हुआ। और शरीर को बचाता रहा। तन धूल हो गया। तन का कृपण भी तरस खाने योग्य है और मन का कंजूस तो बहुत ही तरस खाने लायक है। कंजूस अन्य को देखता है किसी को देते हुए तो आंसू बहाने लग जाता है। अरे, तू आंसू क्यों बहा रहा है? अरे, तेरे हाथ से कुछ गिर गया है या दूसरे को देते देखकर तेरे कलेजे में कुछ हो गया है। दूसरों को देते देखकर उसके कलेजे में हड़कम्प मच जाता है।

मन की कंजूसी पर अमेरीका के स्कूल में मैंने एक प्रयोग किया।

कितने बच्चे हैं एक क्लास में जान लिया। 50 बच्चे हैं जानकर बच्चों को जो प्रिय है वह उपहार भी ले गया। एक कक्षा में पहुंचा। चपरासी को कहा तो वह सब उपहार एक ट्रे में सजाकर ले आया। फिर मैंने बच्चों से कहा, मैं भारत से आया हूं। आपके लिए कुछ उपहार लाया हूं। सब बच्चे उपहार पाकर खुश हुए। मैंने कुछ बच्चों से पूछा, आप कैसा अनुभव कर रहे हैं। उन्होंने कहा— Wonderful, Wonderful. You Indian very great. आप बड़े महान् हैं। फिर टिफिन का समय हो गया। बच्चे उछलते-कूदते, खेलते रहे। कोई लेमनचूस, चाकलेट खाते रहे—अन्य कक्षा के साथियों को दिखाते रहे। एक भारत से प्रो. ओबराय आए हैं, हमारे लिए ये-ये उपहार लाए हैं। वे बड़े अच्छे हैं, महान् हैं। प्रशंसा करते रहे। और अन्य कक्षा के बच्चों को ईर्ष्या हुई कि हमें नहीं मिला। ये कितने सौभाग्यशाली हैं। वे बड़े चाव से देखते रहे—उन्हें ईर्ष्या होती रही और जिन्हें दिया वे बड़े प्रसन्न थे। प्रशंसा करते रहे। पुनः अन्तिम कक्षा के समय उपस्थित होने पर बच्चों ने खड़े होकर ताली के साथ स्वागत किया, You Indian very great, wonderful. फिर प्रो. ओबराय ने बच्चों से एक निवेदन

किया....यहां से थोड़ी ही दूर 4-5 किलोमीटर एक ग्राम है नीग्रो लोगों का। वे बड़े गरीब हैं। उनके यहां बच्चों का एक स्कूल है जिनमें बच्चों के पास सामान का बहुत अभाव है। उनके पास रबर नहीं है, पेन्सिल नहीं है। लेमनचूस, चाकलेट नहीं है, वे खरीदने में असमर्थ हैं। अतः जो बच्चे अपने प्राप्त किए हुए उपहारों में से कुछ सामग्री उनके लिए सहायतार्थ दे सकें, वे खड़े होकर अपना नाम लिखवा देवें। इस पर पूरी कक्षा में सन्नाटा छा गया। बच्चों को प्राप्त किए हुए उपहारों से ममता पैदा हो चुकी थी। वे एक-दूसरे का मुंह ताकने लगे। यदि विलियम दे तो राबर्ट दे....। तीसरी बार कहने पर 3 बच्चों ने एक-एक टॉफी, रबर, पेंसिल दान में लिखवाई। अन्त में मैंने सभी बच्चों को आदेश दिया कि वे अपने सामान के डब्बे हाथ में उठाकर एक पंक्ति में बंधकर मंच तक चले आवें तथा अपना अपना बक्स मेज पर रखते जावें। इससे खिले हुए चेहरे गंभीर हो गए। मुरझा गए....हम न अपने लिए बचा सके और न अन्य के लिए दे सके। मुफ्त में कमीने बन गए। तो मैंने कहा, बिल्कुल ठीक है। जो धन-सम्पत्ति हमें संसार में मिली हैं इनमें से क्या एक कौड़ी भी अपने साथ लेकर आए थे। एक कौड़ी तो साथ लेकर आए नहीं, क्या एक छदाम लेकर जा सकते हैं? एक छदाम लेकर जा नहीं सकते। यदि आप लेकर आए नहीं और लेकर जा सकते नहीं, तो धन किसका है? हम मोह से, झूठे मोह से, पाप-पुण्य मोह से मेरा-मेरा-मेरा करते रहते हैं। हम सब कमीने बन रहे हैं। भगवान् की वस्तु, भगवान् का धन, भगवान् का ऐश्वर्य, भगवान् की सम्पत्ति और भगवान् के जगत् के बन्धुओं की सहायता के लिए दे भी नहीं सकते और अपने साथ ले जा भी नहीं सकते। कमीने मुफ्त में बन रहे हैं। ये स्थिति हमारी है। इनके ऊपर क्या तरस नहीं आता। यह है कार्पण्य। यह है तरस खाने लायक कार्य। दूसरों की भलाई के लिए दिया नहीं, अपने लिए बचा नहीं सके, दोनों ओर से रह गए। जिस पर सारी दुनिया आंसू बहाए कि हाय! यह तो अभागा कहीं का नहीं रहा। तरस खाने लायक व्यक्ति कृपण होता है। इसलिए कहता है—**'कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः'**।

इस कृपणता के दोष से मेरा स्वभाव दब गया है। इसका भाव स्पष्ट है। कहा था भारत भर के एवं विश्व भर के बड़े-बड़े सम्राटों को कि हम धर्मात्मा हैं, राज्य हमारा था। राज्य पाण्डु का था। पाण्डु ने मरते-मरते कहा था कि भाई मैं जा रहा हूं। मेरा बेटा युधिष्ठिर छोटा है तुम थोड़े दिन के लिए संरक्षक बन जाना। फिर जब युधिष्ठिर महाराज बड़े हो जाएं तो इसका राजतिलक कर देना। धृतराष्ट्र के मन में पाप आ गया है। अक्ल का अंधा, नीति का अंधा, शरीर का अंधा, नैतिकता का अंधा, वह बिल्कुल अंधा हो गया है। जो राष्ट्र को धर-पकड़ कर बैठ जाता है। यह मेरा है, मेरा राष्ट्र है वह अंधा धृतराष्ट्र है। यानी जो राष्ट्र को

धर-पकड़ कर बैठ जाए, हड़प लेवे, वह धृतराष्ट्र है। पाण्डव लोग हृतराष्ट्र हैं। राष्ट्र हरण हो गया है। जिनका राष्ट्र था उनका तो हरण हो गया है और जिनका राष्ट्र था ही नहीं वह धर-पकड़ कर बैठे हैं। इसलिए पाण्डवों ने, अर्जुन ने प्रार्थना की—देखो, राज्य हमारा था और हम हो गये हृतराष्ट्र और जिनका था नहीं वे हो गए धृतराष्ट्र। हमारी मदद करो, हमारे धार्मिक कार्य में सहयोग करें। सात अक्षौहिणी सेना इकट्ठा होकर आई थी उनकी मदद करने के लिए धर्म युद्ध में। पर धर्म युद्ध की वेला में उसके मन में एक विचित्र प्रकार का भाव आ गया मोह का जिससे उसका वीरभाव दब गया था। वह न विजय ही पा सका और न ही इधर कुछ पहले की मन की स्थिति में रह सका। इसलिए दोनों ओर से चला जा रहा है। दो-दो विशाल अक्षौहिणी की सेना के लोग आए हैं। सबके सब कहेंगे कि तुमने हमें धोखा दिया है, तुमने पाप किया है। हम सब सेनाएं सजाकर इतनी-इतनी दूर से आए हैं, प्राणों का मोह छोड़कर तुम्हारे लिए। तुम्हारे धर्म के लिए प्राण गंवाने आए हैं, तुमने हमारे साथ इतना क्रूर मजाक किया है। अब सारे के सारे अर्जुन को निन्दित करेंगे। अर्जुन ही लांछित होगा। अर्जुन ही सबका शिकार बनेगा। इस तरह की उसकी स्थिति हो गई है। दुनिया को जीतने चला था, अब दुनिया की धिक्कार पाने लायक बन गया है। अर्जुन की स्थिति कृपणता की हो गई। 'कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः'।—इस कृपणता के दोष से मेरा जो क्षत्रियस्वभाव है, वह दब गया है। इसलिए मैं हाथ जोड़कर पूछता हूं धर्म के बारे में। मेरा चित्त विमूढ़ हो गया है। क्या कर्तव्य है, क्या अकर्तव्य है इसको मैं भूल गया हूं। इसलिए जो मेरे लिए कल्याणकारी है उसे निश्चित रूप से अपने मुखारविंद से कहें। मैं आपका शिष्य हूं। शिष्य कौन होता है? जो गुरु के आदेश को मानकर गुरु की आज्ञानुसार शिक्षा ग्रहण करता है। शिष्य कौन होता है? अनुशासन का पालक शिष्य होता है। अंग्रेजी में शब्द है Disciple. Disciple का मतलब है शिष्य। Disciple से शब्द बना है Discipline जो Disciple होने की स्थिति है उसे Discipline कहते हैं। शिष्य होने की स्थिति को अनुशासन कहते हैं। शिष्य के समान आचरण करने वाला व्यक्ति अनुशासित व्यक्ति है। इसलिए मैं आपके अनुशासन को मानूंगा, मैं आपका शिष्य हूं। 'शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।' शाधि के दो अर्थ हैं—आप मुझे शिक्षा देवें और आप मेरी रक्षा करें। और शिक्षा के द्वारा ही गुरु शिष्य की रक्षा करता है। इसलिए भगवान् आप मुझे शिक्षा देकर मेरी रक्षा करें। इस पर भगवान् ने क्या किया? 'प्रपन्नम्' माने क्या है? शरणागति। जब अर्जुन भगवान् के 'प्रपन्न' हो गया तो क्या किया? 'प्रपन्नपारिजाताय' प्रपन्नों के लिए तो भगवान् कल्पवृक्ष हैं। प्रपन्न को क्यों नहीं देंगे। प्रपन्न को तो सब कुछ दे देंगे। तब भगवान् कहते हैं—मेरे प्यारे! तू शरणागत हो गया है, तुमने अपने आपको मेरे

चरणों में समर्पित कर दिया है। मैं तुम्हें क्या दूं? हे अर्जुन! मैं तुम्हें अपना हृदय ही निकाल कर दे रहा हूं।

न हि प्रपश्यामि ममा-पनुद्याद् यच्छोक-मुच्छोषण-मिन्द्रियाणाम्।
अवाप्य भूमा-वसपत्न-मृद्धं राज्यं सुराणा-मपि चाधिपत्यम्।। 2/8

क्योंकि इस पृथ्वी में निष्कण्टक धन-धान्य सम्पन्न राज्य या देवताओं के स्वामित्व को पाकर भी मैं ऐसा कोई उपाय नहीं देख रहा हूं जो मेरी इन्द्रियों को सुखाने वाले शोक को दूर कर सके।

अर्जुन अब हृदय की बात खोलकर रख देता है। भगवान् से अब कोई लुका-छिपी नहीं रह गयी। उसकी मन की वेदना, पीड़ा कितनी तीव्र है, कितनी गहन है उसे स्पष्ट करता है—हे श्रीकृष्ण! मेरा संताप इतना गहन है कि वह मेरी इन्द्रियों को सुखाये दे रहा है। निष्कण्टक समृद्धि पूर्ण राज्य पर शासन करने से अथवा देवताओं पर भी शासन करने से मुझे सुख-शान्ति नहीं मिल सकेगी। मेरे ताप को, मेरी पीड़ा को शमन करने में असमर्थ है। वास्तव में वह परोक्ष रूप में यह सूचना दे रहा है कि उसका रोग भीषण है तथा उसकी तत्काल चिकित्सा होनी चाहिए।

गहरी मानसिक पीड़ा को दूर करने के लिए पुस्तकीय ज्ञान, सत्ता, उच्च पद, धन-धान्य, यश, प्रतिष्ठा, मान-सम्मान तथा भोग्य सामग्री की प्राप्ति करना भी कोई सक्षम उपाय नहीं होता। भवरोग का उपाय सद्गुरु एवं परमात्मा की सच्ची शरण में जाने से ही होता है। सद्गुरु पृथ्वी पर परमात्मा का प्रतिनिधि होता है।

अर्जुन को विषाद होना आवश्यक था। यदि अर्जुन का विषाद युद्ध के समय प्रकट नहीं होता तो पाण्डवों का व्यक्तित्व निखरकर नहीं आता। लोग कहते आखिर भाइयों को मारकर ही तो राज्य प्राप्त किया। आखिर वे भाई ही तो थे। यद्यपि अर्जुन का वैराग्य शुद्ध सात्त्विक नहीं है, सशर्त है।

अर्जुन न तो युधिष्ठिर महाराज की तरह शांतिकामी शमवादी है और न भीम एवं द्रौपदी की तरह उग्र। फिर भी उसका झुकाव युधिष्ठिर की तरफ न होकर भीम-द्रौपदी की तरफ है और सहमति नहीं होने पर भी युधिष्ठिर महाराज की सभी आज्ञायें शिरोधार्य करता है।

अर्जुन की शक्ति से दोनों पक्ष परिचित हैं। वही विजय की आशा का केन्द्र है और उसकी भी दो प्रतिज्ञा प्रसिद्ध है—

न दैन्यं न पलायनं

और इन दोनों प्रतिज्ञा का आज तक पालन करता आया। युद्ध उसके जीवनभर का अभ्यास है।

उसका जो विषाद है वह सशर्त है। उसे सुख मात्र, जीवन मात्र, राज्य मात्र से वैराग्य नहीं हुआ। इन सबके विरुद्ध में चूंकि गुरुजन, स्वजन आ गए हैं, अतः इनका वध करके जीवन, राज्य, भोग नहीं चाहता। फिर भीष्म एवं द्रोण के कारण उसकी विजय भी सुनिश्चित नहीं है।

अर्जुन के वैराग्य में निमित्त स्वजन मोह एवं भय है। ऐसे तो वैराग्य किसी-न-किसी निमित्त से उत्पन्न होता है। ध्रुव के वैराग्य में सौतेली माता से उसका अपमान निमित्त था। वाल्मीकि लुटेरे थे और एक महात्मा से प्रभावित होकर संसार की वास्तविकता का बोध होने पर महर्षि बन गए। भर्तृहरि स्त्री के प्रेम में दीवाने थे और उसके चरित्र में त्रुटि देखकर विरक्त हो गए। तुलसीदास स्त्री लम्पट थे उसके द्वारा प्रबोधित होने पर विरक्त हुए। भागवत के अनुसार काम विघात से पिङ्गला को वैराग्य हुआ। काम के वशीभूत राजा एल को उर्वशी की प्रताड़ना के फलस्वरूप काम विघात से वैराग्य हुआ। तितिक्षु ब्राह्मण को धननाश रूप हेतु से वैराग्य हुआ। अर्जुन को वैध राज्य की प्राप्ति में स्वजनों का विरोध आड़े आने से विषाद या वैराग्य की प्राप्ति हुई। पर इन सबको जब एक बार धक्का लगा तो सम्पूर्ण संसार की असारता का बोध हो गया। संसार मात्र से विरक्ति हो गई। पर अर्जुन की ऐसी स्थिति नहीं है। उसका वैराग्य सशर्त है। स्वजनों को मारकर विजय, जीवन, राज्य नहीं चाहिए। और अर्जुन के मन में विजय के प्रति भी संशय है। वे जीतेंगे या हम जीतेंगे। अतः विजय भी सुनिश्चित नहीं है। स्वजन बीच में से हट जाए एवं उसकी विजय निश्चित हो जाए तो सबके सब उसे चाहिए। यही कारण है वह वैराग्य के पश्चात् भी दुःखी, विषण्ण है, कातर है जबकि वैराग्य से तो चित्त प्रफुल्लित होना चाहिए, सांसारिक बंधन के टूटने से उसकी आसक्ति छूटने से मुक्तता की अनुभूति होती है, चित्त आनन्द से भर जाता है। जैसा कि ध्रुव, वाल्मीकि, तुलसीदास, भर्तृहरि, पिङ्गला, राजा एल, तितिक्षु ब्राह्मण को हुआ। पर ऐसी बात अर्जुन के साथ नहीं वह तो दुःखी है स्वयं को खड़े रखने में भी असमर्थ पा रहा है। सांसारिक बंधन जब टूट जाता है तब मुक्तता की अनुभूति होती है, आनन्द की अनुभूति होती है। कुछ लेना न देना, मग्न रहना। यानी मुक्तानन्द की अनुभूति होती है। जिसने इन्द्रियों को जीत लिया उसने विश्व को जीत लिया—वह ब्रह्मानन्द से भर जाता है। जो राग-द्वेष से मुक्त हो जाता है, वह प्रसन्नवदन हो जाता है। पर अर्जुन इस स्थिति में नहीं पहुंचा है। अतः यह वैराग्य स्वजन वध के प्रति मोह एवं शोक, एवं स्वयं के प्रति भय से ग्रसित है। और विजय भी सुनिश्चित नहीं है। इस प्रकार अर्जुन को सच्चा वैराग्य नहीं है। अर्जुन का वैराग्य विवेक प्रसूत न होकर मोह और भय प्रसूत है। अतः उसकी युद्ध के विरुद्ध में जो युक्तियां हैं वह भी विवेक प्रसूत न होकर मोह एवं भय प्रसूत

है। इसलिए युद्ध के विरुद्ध जो युक्तियां दे रहा है। भगवान् श्रीकृष्ण के शब्दों में-कश्मल (अज्ञान) और हृदय दौर्बल्य का परिणाम है जिसे वह स्वीकारता है। उसका वैराग्य दार्शनिक चिंतन मनन का परिणाम न होकर स्वजन मोह एवं भय से प्रेरित है। संसार को असार जानकर नहीं है। और जब अर्जुन अपने विषय में जिज्ञासा करता मेरे लिए ज्ञान मार्ग और कर्म मार्ग में कौन श्रेष्ठ है? तब भगवान् श्रीकृष्ण उसे कर्म मार्ग का अधिकारी जानकर उसके लिए कर्मयोग श्रेष्ठ बताते हैं। सगुण-निर्गुण भक्ति में उसके लिए सगुण भक्ति को सुलभ (सहज) बताया है। क्योंकि अर्जुन प्रारम्भिक साधक है। अन्यों (उच्च साधकों) के लिए ज्ञान योग एवं निर्गुण भक्ति श्रेष्ठ हो सकती है।

संजय उवाच—

एवमुक्त्वा हृषीकेशं, गुडाकेशः परन्-तप।
न योत्स्य इति गोविन्द,-मुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह।। 2/9

संजय बोला—हे शत्रु-संतापी अर्जुन श्रीकृष्ण से यह सब कह चुकने के बाद साफ-साफ यह बात कहकर कि मैं युद्ध नहीं करूंगा। अभी तो कहा मैं तेरा शरणागत हूं। अब गुरु बनाने से पहले स्वयं ही निर्णय भी ले लिया। यह कैसी शरणागति? शरणागति के बाद निर्णय शिष्य करेगा या गुरु? श्रीकृष्ण हंसे, यह अच्छा शिष्य मिला है। एक तरफ तो आत्मसमर्पण करता है और दूसरी तरफ निर्णय स्वयं लेता है। शिष्य गुरु की आज्ञा नहीं माने पर अपने को आज्ञाकारी शिष्य कहे, पुत्र अपने पिता की आज्ञा में न चले पर अपने को आज्ञाकारी पुत्र कहे। क्या यही स्थिति अर्जुन की है? नहीं। वस्तुतः 'न योत्स' अर्जुन की निश्छलता का प्रतीक है। वह अपने दुःख के साथ-साथ अपने दोष को भी बता देता है कि अभी तो मेरी वृत्ति यह है कि मैं युद्ध नहीं करूंगा। वह अपने दोष को छिपाता नहीं है। क्योंकि अर्जुन सरल है, निश्छल है। हम लोग केवल दुःख सुनाते हैं—दुःख जिस दोष के कारण हुआ है वह दोष नहीं सुनाते। बिना दोष के दुःख कभी नहीं होता। जिस स्तर का दोष-उसी स्तर का दुःख। अपने दोषों के साथ दुःख सुनाना चाहिए। अर्जुन ने निश्छल हृदय से अपने पूरे दोषों को सुना दिया।

एक तरफ तो शिष्यत्व स्वीकार की बात दूसरी ओर युद्ध न करने का निश्चय परस्पर विरोधी बात लग सकती है। पर वास्तव में यह किंकर्तव्यविमूढ़ता की दशा में अर्जुन की उक्ति 'न योत्स्य' (युद्ध नहीं करूंगा) विषाद की घनीभूत अवस्था का सूचक है। न कि भगवान् के प्रति अवज्ञा का भाव है। जैसे कोई (आतुर) रोगी चलना बंद कर बैठ जाए, फिर मैं बैठ नहीं सकता कह कर लेट (लुढ़क) जाए और बोलना बंद कर दे तो उसका उपचार अनिवार्य हो जाता है। वैसे ही अर्जुन की मनःस्थिति विषाद की पराकाष्ठा को सिद्ध करती है। फिर अर्जुन दुर्बल हेतुओं से भी

युद्ध में प्रवृत्त नहीं होगा जैसा कि भगवान् ने दूसरे अध्याय के दूसरे एवं तीसरे श्लोक में राज्य के सुख, लाभ का प्रलोभन या अपकीर्ति के भय से युद्ध में प्रवृत्ति नहीं हो सकती। केवल गाली देने, झिड़की देने से काम नहीं चलेगा। युद्ध की सार्थकता, दार्शनिक आधार पर प्रबल युक्तियों से सिद्ध होनी चाहिए क्योंकि अर्जुन केवल ऊपरी स्तर मोहस्थ नहीं हुआ जैसा कि भगवान् ने पहले समझाया था।

यह अर्जुन की अन्तर योग्यता का सूचक शब्द है न कि भगवान् श्रीकृष्ण के अपमान का सूचक। यानी युद्ध के प्रबल हेतु, दार्शनिक दृष्टि से युद्ध की सार्थकता समझाने से ही युद्ध में प्रवृत्त हो सकेगा। केवल गाली देने, झिड़कने या फटकारने मात्र से काम नहीं चलने वाला है। और 'न योत्स्य' (नहीं लड़ूंगा) कह कर चुप हो गया। इस प्रकार युद्ध के दायित्व से उपराम होकर उपदेश सुनने के लिए बैठ गया। यानी युद्ध से उपरामता प्राप्त कर भगवान् के उपदेश सुनने की तत्परता दिखाता है। यह उसकी अन्तर्योग्यता को ही सिद्ध करता है। अब वह उपदेश सुनने को प्रस्तुत है। और यह भी स्पष्ट कर देता है युद्ध का सुदृढ़ आधार होना चाहिए, दुर्बल हेतु से युद्ध में प्रवृत्त नहीं होगा, गाली देने से काम चलने वाला नहीं। इस प्रकार 'न योत्स' अर्जुन की ऋजुता सरलता का प्रतीक है। वह अपने दुःख के साथ दोष भी बता देता है। दूसरा उसकी मानसिक अवसाद की घनीभूत अवस्था का सूचक है। तीसरी उसकी अन्तर्योग्यता, तत्परता का परिचायक है। सब ओर से विराम लेकर, मुक्ति लेकर, निश्चिंत मन से अपनी समस्या के समाधान के लिए बैठ जाता है। अन्यथा बहुत से लोग प्रश्न तो रखते हैं समस्या तो रखते हैं फिर उसका समाधान सुनने के स्थान पर अपने अन्य काम में व्यस्त हो जाते हैं।

तमुवाच हृषीकेशः, प्रहसन्-निव भारत।
सेनयो-रुभयोर्-मध्ये, विषीदन्त-मिदं वचः।। 2/10

हे भारत! इस तरह दोनों सेनाओं के बीच में शोक करते हुए अर्जुन से भगवान् श्रीकृष्ण मुसकराते हुए यह वचन कहने लगे—कृष्ण सखा है इसलिए उसको गुदगुदाते हैं। हंसने से सामने वाले आदमी का मनोबल बढ़ता है। श्रीकृष्ण ने अपने सखा को हंसकर आश्वस्त किया। भगवान् को विश्वास है कि अर्जुन के मोह को दूर कर दूंगा। 'प्रहसन्निव' की उक्ति से उत्तम चिकित्सक के गुण श्रीकृष्ण में परिलक्षित होते हैं। उत्तम चिकित्सक हास युक्त अवलोकन मात्र से रोगी के आधे रोग को दूर कर देता है। श्रीकृष्ण ने प्रहास के द्वारा पार्थ के शोक-मोह का शमन किया।

भगवान् के मुसकराने के और भी कई तात्पर्य हो सकते हैं—

पहला—जब हम किसी पेचीदा समस्या में उलझ जाते हैं और जितना ही उससे उबरने के लिए सचेष्ट होते हैं, प्रयत्न करते हैं उतना ही और अधिक उसमें

उलझ जाते हैं, जब स्वयं की बुद्धि से निस्तार का कोई रास्ता शेष नहीं दिखता तब हम अपने से श्रेष्ठ, सुलझे हुए सद्गुरु की चरण-शरण में जाते हैं तब वे जैसे चुटकी बजाने सदृश सहज रूप से मीठी-मीठी मुसकान के साथ समाधान देकर हमारा निस्तार कर देते हैं। वे समस्या सुनकर मन्द मुसकरा देते हैं उससे हमारा आधा मन प्रफुल्लित हो जाता है, हलका हो जाता है।

इसलिए अगर हम अपनी बुद्धि से किसी समस्या का समाधान नहीं पाते तो अपने से योग्य, बड़े जनों के सामने हृदय खोलकर समस्या को रख देना चाहिए।

दूसरा—भगवान् के मुसकराने के कई तात्पर्य हो सकते हैं—कृष्ण भगवान् घोर संकटों की दारुण शूलों के बीच भी सदैव मुसकराने वाले फूल थे। जिसके मन में किसी के प्रति भी राग-द्वेष नहीं होता वह सदा प्रसन्नवदन रहता है। भगवान् श्रीकृष्ण ब्रह्मभूत प्रसन्नात्मा थे। उनका जन्म ही शूलों के मध्य हुआ और अन्त तक शूलों से घिरे रहे और उन्हें जीवन में कभी विश्राम मिला ही नहीं। पर वे सदैव मुसकराते ही रहे। भगवान् रोना जानते ही नहीं। वे जन्म से मृत्यु पर्यन्त मुसकराते ही रहे। हर स्थिति में मुसकराना ही जानते हैं। रण छोड़कर भाग रहे हैं और जरासंध को देखकर हंस भी लेते हैं, आंख से कनखी भी मार लेते हैं। वैसे ही कंस को भी मार रहे हैं और मंद-मंद मुसकरा भी रहे हैं। मुष्टिक प्रहार भी और मामा से पूछ रहे—कहो, कष्ट तो नहीं हो रहा है। घटोत्कच की मृत्यु पर सब शोकग्रस्त पर भगवान् मुसकरा रहे हैं। अतः भगवान् श्रीकृष्ण के जितने भी चित्र प्राप्त होते हैं वह सब सदैव हास्य युक्त हैं। एवं ईसा का एक चित्र भी हास्ययुक्त नहीं है।

अतः दुःख के मूल में राग-द्वेष ही है। राग-द्वेष रहित युद्ध भी भगवान् की पूजा की कोटि में परिगणित होता है।

सद्गुरु शिष्य के दुःख से स्वयं प्रभावित नहीं होता। अगर वह स्वयं ही उसके दुःख से प्रभावित हो जाएगा उसके दुःख में बह जाएगा, उसके शोक में डूब जाएगा तो उसका समाधान क्या देगा। जो गुरु शिष्यों के दुःख से जितना अप्रभावित रहता है यानी उसके दुःख से अभिभूत नहीं होता उतना ही सक्षम मार्गदर्शन वह दे पायेगा। यही स्थिति भगवान् श्रीकृष्ण की है।

अर्जुन रोवे भगवान् की इच्छा। अर्जुन योग्य होने से रोने का उसे अवसर कभी आया नहीं। दीनता का कभी अवसर नहीं आया। इसलिए भगवान् की इच्छा है कम से कम एक बार रोवे, दीन बने जिससे उसके निमित्त सारे संसार का कल्याण हो जावे।

स्वयं पुरी के शंकराचार्यजी स्वामी निश्चलानन्दजी महाराज को करपात्रीजी से कभी डांट खाने का अवसर नहीं मिला। पुरी के महाराज की इच्छा एक बार

उनसे डांट सुनूं फलस्वरूप जानबूझकर त्रुटि की और महाराजजी से फटकार सुनी। आज तक अर्जुन का हंसना-सांसारिक हंसी है, व्यर्थ है, यथार्थ हंसी तो तत्त्वज्ञानी की होती है जो संसार से निर्लिप्त रहता है। संसार की हंसी किसी भी समय रुदन में बदल जाती है। अतः उसकी कोई कीमत नहीं। इसलिए भगवान् ने अर्जुन को जान-बूझकर रुलाया जिससे अर्जुन के निमित्त सारे मनुष्य वास्तविक हंसी हंस सकें और रुदन हमेशा के लिए छूट जाए।

एक विचार यह भी अर्जुन नर के भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं नारायण के अवतार हैं। नर-नारायण के रूप में बद्रीनारायण में लोकहित के लिए आज भी तप कर रहे हैं। भगवान् श्रीकृष्ण पूरी मानव जाति को अपने जीवन का संदेश देना चाहते हैं। जीवन में कठोर से कठोर परिस्थिति में भगवद् बुद्धि का अवलम्बन लेकर भगवत समर्पित बुद्धि से सभी कार्य सम्पन्न किये जा सकते हैं। इसलिए अपने संदेश के लिए विश्वयुद्ध के रणांगण को उपदेश के लिए और अर्जुन के विषाद को निमित्त बनाकर सारी मानव जाति को संदेश दिया है। अर्जुन नर का अवतार होने से उसे मोह विषाद नहीं हो सकता। उसे भगवान् ने निमित्त बनाया है और रणभूमि से अधिक विषम स्थल क्या हो सकता है?

क्या युद्ध भूमि में गीतोपदेश सम्भव है

अब प्रश्न उठता है क्या युद्ध भूमि में गीता का उपदेश सम्भव है? इस प्रश्न पर श्रीपाद दामोदर सातवलेकरजी ने 'गीता का राजकीय तत्त्वालोचन' में सुन्दर रीति से विचार किया है जो इस प्रकार है—

यहां कई विचारक पूछेंगे कि क्या युद्धभूमि पर भगवद्गीता जैसा बड़ा ग्रन्थ कहने के लिए जितना समय आवश्यक है, उतना मिल सकता है? फिर जब युद्ध प्रारम्भ के संकेत रूप से जब दोनों ओर से शंखवादन भी हो चुका है फिर तो गीता सम्वाद के लिए अवकाश ही कहां बचता है। अतः कई तो मानते हैं कि, यह पीछे की बनावट महाभारत में पीछे से घुसेड़ी गयी है। ऐसी अनेक शंकाएं आज इस गीता के विषय में प्रचलित हैं; इसलिए यहां इस विषय में विचार करना आवश्यक है।

प्रथम बात तो यह है पितामह भीष्म का शंखवादन युद्ध का संकेत नहीं है वरन् मात्र दुर्योधन को प्रसन्न करने के लिए था। और जब भीष्म पितामह ने शंखवादन किया तो फिर दोनों पक्षों ने शंखवादन प्रारम्भ कर दिया। पर यह युद्ध का संकेत नहीं था। यदि इससे युद्ध प्रारम्भ हो जाता तो अर्जुन का यह अवसर ही नहीं बनता कि दोनों सेनाओं के मध्य में मेरा रथ स्थापित करें ताकि मैं देख सकूं किन-किन से मुझे युद्ध करना है। अर्जुन का यह निवेदन ही सिद्ध करता है यह उभय-पक्षीय शंखवादन युद्ध प्रारम्भ का संकेत नहीं है।

दूसरी बात गीता में सात सौ श्लोक हैं जिनमें—

भगवान् श्रीकृष्ण के	574
अर्जुन के	84
संजय के	41
धृतराष्ट्र का	1
कुल श्लोक	700

धृतराष्ट और संजय के श्लोक युद्ध क्षेत्र में हुए संवाद में नहीं थे। इनको छोड़ देने से 658 शेष रहते हैं। ये श्लोक कृष्णार्जुन संवाद के हैं। इनका विचार-पूर्वक पाठ करने के लिए डेढ़ घण्टे का समय लग सकता है।

क्या महाभारतीय युद्ध शुरू होने के समय दो वीरों को आपस में बातचीत करने के लिए डेढ़ घण्टे का समय मिलना सम्भव था? यही प्रश्न हमारे सामने है। इसका विचार करने के लिए भारतीय युद्ध का स्वरूप जानने की आवश्यकता है।

द्वन्द्व और संकुल युद्ध

युद्ध दो प्रकार के हैं, एक 'द्वन्द्वयुद्ध' और दूसरा 'संकुल युद्ध'। महाभारत युद्ध द्वन्द्वयुद्ध था और राम-रावण का युद्ध संकुल युद्ध था। द्वन्द्वयुद्ध में सब युद्ध नियमों के अनुसार होता है और संकुल युद्ध में वैसा कोई नियम नहीं होता। द्वन्द्वयुद्ध के कुछ नियम अब देखिये—

न कूटैरायुधैर्हन्याद्युद्धयमानो रणे रिपून्।
न कर्णिभिर्नापि दिग्धैर्नाग्निज्वलिततेजनैः।।90।।

न च हन्यात्स्थलारूढं न क्लीबं न कृताञ्जलिम्।
न मुक्तकेशं नासीनं न तवास्मीतिवादिनम्।।91।।

न सुप्तं न विसन्नाहं न नग्नं न निरायुधम्।
नायुद्धयमानं पश्यन्तं न परेण समागतम्।।92।।

नायुधव्यसनप्राप्तं नार्तं नातिपरिक्षतम्।
न भीतं न परावृत्तं सतां धर्ममनुस्मरन्।।93।।

(मनुस्मृति 7)

'कूट शस्त्रों का उपयोग करना नहीं। टेढ़े-मेढ़े शस्त्रों का उपयोग नहीं करना। विषदग्ध शस्त्रों का उपयोग करना नहीं चाहिए; रथ में रहने वाले वीर का भूमि पर रहने वाले पर हथियार नहीं चलाना; भयभीत, मुक्तकेश, भूमि पर स्वस्थ बैठने वाला, 'मैं तेरा हूं' ऐसा कहने वाला, सोया हुआ, कवच न पहना हुआ, वस्त्रहीन नग्न, आयुधरहित, न लड़ने वाला, केवल युद्ध देखने के लिए खड़ा रहा

हुआ, दूसरे के साथ युद्ध करने वाला, हाथ में पकड़ा शस्त्र जिसका नीचे गिरा है, रिश्तेदार की मृत्यु से दुःखी, शारीरिक व्याधियों से दुःखी, घायल हुआ, युद्ध से निवृत्त होने वाला, इतने लोगों पर शस्त्र चलाना योग्य नहीं।'

इस तरह के और भी अनेक नियम थे, जो इस भारतीय युद्ध में बहुत अंश में पाले गए थे। रथी रथी से, घुड़सवार घुड़सवार से, हाथीसवार हाथीसवार से, पदाती पदाती से ही लड़ते थे। सवेरे संध्या तथा हवन पूजा-पाठ आदि करने पर लड़ाई शुरू होती थी। शाम के समय संध्या समय में संध्या करने के लिए लड़ाई बंद की जाती थी, रात के समय लड़ाई नहीं होती थी। सामने वाला वीर तैयार होने तक लड़ाई बंद रहती थी।

सामने वाला वीर किसी से बात करने लगा हो, किसी अन्य कार्य में लग गया हो, तो उसके तैयार होने तक युद्ध बंद रहता था। दोनों वीर परस्पर से पूछकर, एक-दूसरे की तैयारी होने के पश्चात् लड़ना शुरू करते थे। रात्रि के समय परस्पर के शिविरों में जाकर परस्पर का कुशल पूछते थे। दो वीर जब युद्ध करते थे, उस समय अन्य वीर तथा लोग उनका युद्ध देखने के लिए बाजू के स्थान में खड़े रहते थे। भारतीय युद्ध के अन्तिम दिन में भीम और दुर्योधन का गदा-युद्ध हुआ था। इस युद्ध को देखने के लिए भगवान् श्रीकृष्ण, बलराम आदि लोग चारों ओर आराम से बैठे रहे थे। अन्त में जिस समय भीम ने दुर्योधन की जांघ पर अपनी गदा मारी और इस आघात से दुर्योधन जंघा टूट जाने से घायल होकर गिर पड़ा, उस समय देखने वाले वीरों में से बलराम क्रोध से उठे। उन्होंने भीम की निन्दा करके कहा कि 'तुमने जंघा पर गदा मारी, यह गदा-युद्ध के नियमों के विरुद्ध हुआ है,' इतना कह कर भीम का वध करने के लिए बलरामजी भीम पर दौड़ चढ़े। श्रीकृष्ण बीच में जाकर उनको न समझाते, तो उस समय बलराम से भीम का वध हो जाता। द्वन्द्वयुद्ध के नियमों का उल्लंघन करना इतना बुरा समझा जाता था।

ऐसी परिस्थिति में भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन की बातचीत होने के लिए घण्टा दो घण्टों का समय मिलना सहज ही से होने वाली बात थी।

दूसरी बात यह थी कि पाण्डव युद्ध से निवृत्त हो जाए, इसलिए कौरवों ने बड़ा षड्यंत्र रचा था। भगवद्गीता के प्रथम श्लोक में धृतराष्ट्र पूछता है कि 'मेरे पुत्र तथा पाण्डु के पुत्र युद्ध करने के निमित्त कुरुक्षेत्र पर इकट्ठे हुए, इसके पश्चात् क्या हुआ?' (भ.गी. 1/1) इस प्रश्न में बात यह है कि 'मैंने संजय द्वारा पाण्डवों को युद्ध से निवृत्त करने का जो षड्यंत्र रचा था, उसका परिणाम जैसा चाहिए था, वैसा अर्जुनादि पाण्डवों पर हुआ या नहीं?' कौरवों की ओर के लोग, पाण्डव युद्ध से निवृत्त हों, यही इच्छा करते थे। ऐसी स्थिति में यदि अर्जुन युद्ध से निवृत्त होने की बातचीत करना चाहे तो उसको पर्याप्त समय मिलने की संभावना थी।

युधिष्ठिर का भीष्म से विनय

भारतीय युद्ध के समय की परिस्थिति ठीक तरह ध्यान में आने के लिए गीतोपदेश होने के पश्चात् की एक घटना देखना आवश्यक है। गीता के प्रारम्भ में अर्जुन उत्साहरहित होकर युद्ध से निवृत्त हुआ था, वह गीता का उपदेश सुनने के पश्चात् उत्साहयुक्त हुआ और युद्ध करने की इच्छा से अपना गाण्डीव धनुष संभालकर वीर वृत्ति से रथ में खड़ा हो गया। इतने में—

ततो युधिष्ठिरो दृष्ट्वा युद्धाय समवस्थिते।
ते सेने सागरप्रख्ये मुहुः प्रचलिते नृप।।11।।

विमुच्य कवचं वीरो निक्षिप्य च धरायुधम्।
अवरुह्य रथात् क्षित्रं पद्भ्यामेव कृताञ्जलिः।।12।।

पितामहमभिप्रेक्ष्य धर्मराजो युधिष्ठिरः।
वाग्यतः प्रययौयेन प्राङ्मुखो रिपुवाहिनीम्।।13।।

(म.भा. भीष्म 42)

'धर्मराज ने अपने शरीर पर से कवच उतार दिया, शस्त्रास्त्र नीचे रख दिये, अपने रथ से नीचे उतर गये, हाथ जोड़कर भीष्म पितामह जिधर थे, उधर चुपचाप पैदल ही शत्रु की सीमा के समीप वह जाने लगे—

शत्रु के वीर लोग धर्मराज युधिष्ठिर के इस तरह के आगमन को देखकर उसकी निन्दा करने लगे, तथा अर्जुन, श्रीकृष्ण, भीम, नकुल तथा सहदेव अपने रथ से नीचे कूदकर युधिष्ठिर के पास पहुंचे और उनसे पूछने लगे कि 'यह आप क्या कर रहे हैं?' उस समय सबको पता लगा कि युधिष्ठिर भीष्म, द्रोण, कृप, शल्य आदि गुरुजनों की आज्ञा लेने और उनसे आशीर्वाद लेने के लिए जा रहे थे। वे उनके पास गए, उन्होंने उनसे युद्ध करने की आज्ञा मांगी, उनकी मृत्यु कैसी होगी, इसके बारे में पूछा, इस बारे में हरेक से आवश्यक बातचीत की और सबसे आशीर्वाद लेने पर धर्मराज पुनः अपने रथ पर आकर खड़े हुए। इस समय सबसे जो बातचीत हुई, वह यहां देने की आवश्यकता नहीं है, तथापि भीष्म पितामह के साथ जो वार्तालाप हुआ, वह संक्षेप से देखिये—

आमन्त्रये त्वां दुर्धर्ष त्वया योत्स्यामहे सह।
अनुजानीहि मां तात आशिषश्च प्रयोजय।।37।।

भीष्म उवाच—

यद्येवं नाभिगच्छेथा युधि मां पृथिवीपते।
शपेयं त्वां महाराज पराभावाय भारत।।38।।

प्रीतोऽहं पुत्र युध्यस्व जयमाप्नुहि पाण्डव।
अर्थस्य पुरुषो दासो दासस्त्वर्थो य कस्यचित्।
इति सत्यं महाराज बद्धोऽस्म्यर्थेन कौरवैः।।41।।

अतस्त्वां क्लीबवद्वाक्यं ब्रवीमि कुरुनंदन।

(म.भा. भीष्म 43)

इसके अनन्तर धीरज धारण करने वाले धर्मराज वीर युधिष्ठिर ने उन समुद्र की तरह दोनों ओर की सेनाओं को युद्ध के निमित्त तैयार और बार-बार आगे बढ़ती हुई देखकर, कवच उतार के अपने धनुष्य को नीचे रख दिया, फिर अपने रथ से उतर कर भीष्म पितामह की ओर देखते हुए जाने लगे। उनके पास जाकर बोलने लगे कि—'हे अजिंक्य पितामह! आपके साथ जो मैं युद्ध करूंगा, उसके लिए आप मुझे अनुमति और आशीर्वाद दीजिये। भीष्म बोले, 'हे पृथ्वीपति धर्मराज! यदि तुम हमारे पास इस तरह से न आते, तो मैं तुम्हारे पराजय के निमित्त तुम्हें शाप देता। हे पुत्र! मैं अब तुम्हारे ऊपर प्रसन्न हुआ हूं। तुम युद्ध करो, युद्ध में जय प्राप्त करो। हे धर्मराज! पुरुष अर्थ का दास है, परन्तु अर्थ किसी का दास नहीं है। हम लोग अर्थ से कौरवों के साथ बद्ध हुए हैं, इसीलिए मैं तुमसे इस तरह क्लीव जैसा निःसत्त्व संभाषण कर रहा हूं।'

इस तरह भीष्म पितामह ने धर्मराज को आशीर्वाद दिया, विजय होगी ऐसा कहा और धर्मराज को विदा किया। इसी तरह द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, शल्य आदि से धर्मराज जाकर मिले और प्रत्येक से ऐसे ही संभाषण करके आशीर्वाद लेकर उनसे युद्ध करने के लिए आज्ञा ली और अपने रथ पर आकर विराजमान हुए।

उधर भगवान् श्रीकृष्ण कर्ण के पास गए और उनसे धर्मराज की सहायता करने के लिए विनय करने लगे। कर्ण ने इनकार किया। तब वे वापस अर्जुन के रथ पर आकर विराजे।

इसके अनन्तर धर्मराज ऊंची आवाज से (म.भा. भीष्म. 43/94-96) घोषणा करके बोले कि 'जो कोई कौरवों की सेना से हमारे आश्रय को आना चाहे, वह वहां से हमारे पास आ जाए। यह सुनकर कौरव सेना से वीर युयुत्सु निकला और पाण्डवों की सेना में दाखिल हुआ और यहां इसका आगमन ढोल बजाकर सबको विदित किया गया। इतना होने के पश्चात् धर्मराज ने अपना कवच धारण किया, शस्त्र हाथ में लिए और पश्चात् युद्ध का प्रारम्भ हुआ है।

ऊपर कहे अनुसार भीष्म, द्रोण, कृप, शल्य और कर्ण के पास जाने, उनको प्रणाम करने, उनकी आज्ञा और आशीर्वाद लेने और वापस आने के लिए थोड़ा समय नहीं लगा होगा, क्योंकि ये वीर बिलकुल पास-पास नहीं थे। इसके पूर्व

सेना के व्यूह रचे गए थे और ये वीर अपने-अपने नियत स्थानों पर ही खड़े थे। कर्ण तो सब सेना के बिलकुल पीछे था। लाखों सैनिकों के पीछे खड़े रहे कर्ण के पास पहुंचने के लिए कम से कम एक मील तो अवश्य ही चलना आवश्यक होगा। इतना भ्रमण पैदल ही किया है। प्रत्येक के साथ बातचीत करने, उनके पास पहुंचने और वहां से आशीर्वाद लेकर दूसरे के पास जाने के लिए प्रत्येक के साथ 15 मिनट भी लगे, तो डेढ़ घण्टे का समय चाहिए। भगवद्गीता का उपदेश सुनकर वीर अर्जुन के सज्य होने के पश्चात् इस तरह धर्मराज ने घण्टा, डेढ़ घण्टा इस आशीर्वाद लेने के लिए लिया है। पूर्व स्थान में दिये श्लोक देखने से पता लग सकता है कि, यदि धर्मराज इस तरह भीष्मादिकों के पास न जाता, तो उनमें से प्रत्येक उसको शाप देने के लिए तैयार था! इसका अर्थ यही है कि, द्वन्द्वयुद्ध का यही शिष्टाचार था, उसका पालन होना आवश्यक ही था और भीष्म पितामह आदि वीर धर्मराज से यही चाहते थे।

इससे सिद्ध हुआ कि द्वन्द्वयुद्ध के इन नियमों को देखने से अर्जुन को श्रीकृष्ण के साथ बातचीत करने के लिए घण्टा दो घण्टे तथा प्रणामादि करके आशीर्वाद लेने के शिष्टाचार के लिए धर्मराज को घण्टा दो घण्टे का समय मिलना सहज ही में होने वाली बात थी।

जो विचारक आज के युद्धों को देखकर सभी युद्ध एक जैसे ही हैं, ऐसा मानते हैं और युद्ध के प्रारंभ में इतना समय गीतोपदेश के लिए मिलने की संभावना नहीं है, ऐसा कहते हैं, वे द्वन्द्वयुद्ध के इन नियमों को जानते ही नहीं। अतः उनके इस अज्ञान के कारण वे ऐसा मानते हैं।

आज यूरोप में अथवा चीन में जो युद्ध चल रहे हैं वे 'संकुल युद्ध' हैं। आज के लोग द्वन्द्वयुद्ध करें इतने सभ्य नहीं रहे हैं। राम-रावण का युद्ध इस तरह का संकुल युद्ध था और भगवान् रामचन्द्रजी की सेना ने राक्षसों की नगरी दो बार जला दी थी, उसमें बालक, वृद्ध, स्त्रियां, संन्यासी आदि कितने जल मरे इसका कोई हिसाब नहीं था। संकुल युद्धों के वर्णन राम-रावण युद्ध में विचारक देख सकते हैं। कौरव-पाण्डवों के युद्ध में जब तक भीष्म, द्रोण आदि माननीय वृद्ध सेनानायक जीवित रहे, तब तक धर्मयुद्ध के पूर्वोक्त नियम जारी रहे। तब तक कुरुक्षेत्र पर थोड़े-थोड़े संकुल युद्ध भी हुए थे, परन्तु इन वृद्ध सेनानायकों की दक्षता के कारण वे समय-समय पर रोके गए। इनके पश्चात् वैसा नियम नहीं रहा। तथापि भारतीय युद्ध द्वन्द्वयुद्ध ही मुख्यतया था और राम-रावण युद्ध मुख्यतया संकुल युद्ध था।

इससे सिद्ध हुआ कि, भारतीय युद्ध द्वन्द्वयुद्ध होने के कारण उसके प्रारम्भ में कृष्णार्जुन की आपस की बातचीत के लिए आवश्यक समय मिलना संभव था। क्योंकि द्वन्द्वयुद्ध के नियमों के अनुसार वैसा होना योग्य था।

यानी हमारे यहां युद्ध भी धर्म की मर्यादा में बंधे हुए थे। जो विचारक आज की स्थिति को देखते हुए विचार करते हैं उनको यह बात समझ में नहीं आती है। जब तक भीष्म पितामह के नेतृत्व में युद्ध हुआ तब तक मर्यादा का पालन कड़ाई से हुआ। आचार्य द्रोण के नेतृत्व में थोड़ी ढिलाई अवश्य आयी एवं नियमों का उल्लंघन कर अभिमन्यु को मारा गया, फिर भी युद्ध मर्यादा में बंधा रहा। कर्ण के नेतृत्व में आचार्य द्रोण के समय जो ढिलाई आ गयी थी उसमें पुनः दृढ़ता आ गयी। इस प्रकार महाभारत युद्ध धर्म की मर्यादा में ही लड़ा गया।

आचार्य द्रोण भीष्म की तरह दृढ़ नीतिधर कभी नहीं रहे। इसलिए वे धनुष विद्या के जितने बड़े आचार्य थे उतने बड़े आचार्य नीति के सिद्ध नहीं हुए।

अतः यह आरोप निराधार है रणभूमि में गीतोपदेश सम्भव नहीं था। आज की वर्तमान स्थिति, वर्तमान संदर्भ में विचार करेंगे तो ऐसा ही लगेगा। पर उस समय की स्थिति एवं संदर्भ के परिप्रेक्ष्य में विचार करेंगे तो यह कोई कठिन कार्य नहीं है। अतः यह प्रश्न निरर्थक है।

क्या युद्ध के लिए भगवान् श्रीकृष्ण उत्तरदायी हैं या युद्ध अनिवार्य था

अर्जुन युद्ध के विरुद्ध ऐसे सुन्दर एवं अकाट्य तर्क प्रस्तुत करता है जिससे लगता है इससे बढ़कर धर्म, त्याग की क्या बात हो सकती है। केवल अर्जुन की युक्तियों को ही देखा जाए युद्ध के विरुद्ध में तो अकाट्य लगते हैं और श्रीकृष्ण भगवान् के उत्तर पर विचार न किया जाए तो ऐसा ही लगेगा कि इससे बढ़कर धर्म, त्याग और महानता क्या हो सकती है। पर हम सारे संसार को धोखा दे सकते हैं पर अपने आपको नहीं। अर्जुन भी अपनी दुर्बलता को जानता है जिसे वह अब सातवें श्लोक में स्वीकारेगा। वैसे ही भगवान् को भी धोखा नहीं दे सकते। अतः गीता जब मोड़ लेती है तब इमर्सन घबरा जाता है। जब उसने पहली बार इसे पढ़ा तो उसने किताब बंद कर दी, वह घबरा गया क्योंकि अर्जुन जो कह रहा था वह सभी तथाकथित धार्मिक लोगों को ठीक मालूम पड़ेगा। वह ठीक तथाकथित धार्मिक आदमी के तर्क दे रहा था। जब हेनरी थोरो ने इस जगह आकर देखा कि श्रीकृष्ण उसे युद्ध में जाने की सलाह देते हैं तो वह भी घबरा जाता है। हेनरी थोरो ने भी लिखा है मुझे ऐसा भरोसा नहीं था, खयाल भी नहीं था कि कहानी ऐसा मोड़ लेगी कि श्रीकृष्ण युद्ध में जाने की सलाह देंगे। गांधी को भी वही तकलीफ थी, उनकी पीड़ा भी वही थी। इसलिए उन्होंने ऐतिहासिकता को अस्वीकार करके रूपक के रूप में व्याख्या की।

इमर्सन और थोरो तो पश्चिम के श्रेष्ठ विचारक हैं। प्रथम में तो उन्हें भ्रान्ति हुई। जब उन्होंने दण्ड नीति, युद्ध आदि के विषय में भारतीय दृष्टि समझी तो

इनकी भ्रान्ति दूर हो गई और पश्चिम में गीता के सबसे बड़े प्रशंसक एवं प्रचारक सिद्ध हुए। इन्हीं दो महापुरुषों के कारण पूरे यूरोप में गीता को प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। पश्चिम ने राम, बुद्ध, एवं गांधी, अशोक की तो बड़ी प्रशंसा की है। पश्चिम के अब भी बहुत से विचारक हैं जो श्रीकृष्ण और शिवाजी के बड़े आलोचक बने हुए हैं। क्योंकि भगवान् श्रीकृष्ण एवं शिवाजी की नीति पर देश चलेगा तो धर्म के नाम पर कभी भ्रान्त नहीं होगा और विदेशी शत्रुओं का और न स्वदेशी द्रोहियों, धर्मद्रोहियों का चरागाह बनेगा। कुछ पाश्चात्य विचारक युद्ध के प्रति भारतीय अवधारणा न समझने के कारण और कुछ अपनी दुराग्रही (दुष्ट) बुद्धि के कारण, फिर यह बात पश्चिमी विद्वानों को कहां से अच्छी लग सकती है? इससे तो पश्चिम को भारत का शोषण करने, उससे नाजायज लाभ उठाने का मार्ग जो अवरुद्ध हो जाएगा। ऐसे विचारकों में होपकिन्स एक विचारक है जिनकी आलोचना पर हम विचार करेंगे। यहां पर एक बात विचार कर लेवें कि गीता ने धर्म के नाम पर अविवेकी अहिंसा को प्रश्रय नहीं दिया।

श्रीकृष्ण के विषय में दो प्रकार की—एक-दूसरे से अत्यन्त विरोधी समालोचनायें मिलती हैं। एक ओर तो 'कृष्णस्तु भगवान्स्वयम्' कहकर उनकी स्तुति की गयी है और उन्हें मन, वाणी से अगोचर परम पुरुष माना गया है। एवं दूसरी ओर पाश्चात्य विद्वान उनको कूटनीति (Machiavellian Policy) के आश्रित तथा शत्रुता के प्रति कपटतापूर्ण व्यवहार करने वाला बताकर उनकी निन्दा करते हैं। प्रोफेसर ई.डब्ल्यू. होपकिन्स (Prof. E.W. Hopkins) नामक एक पाश्चात्य लेखक का कहना है कि 'जब महाभारत के चरित्रनायक ही इस प्रकार के निन्दित काम करते हुए पाये जाते हैं तो ऐसे ग्रन्थ को शिक्षाप्रद कैसे कह सकते हैं? यही समालोचक 'Great Epic of India' नामक ग्रन्थ में लिखता है कि 'श्रीकृष्ण ने जैसे को तैसा (Tit for Tat) वाली नीति का अवलम्बन करके खुल्लमखुल्ला धर्म की मर्यादा का उल्लंघन किया है। अपने भारतीय धर्म (Religions of India) नामक ग्रन्थ में इस लेखक ने श्रीकृष्ण चरित्र की और भी कटु समालोचना की है। वह कहता है कि 'महाभारत' का श्रीकृष्ण एक धूर्त, सिद्धान्तहीन मनुष्य था, जिसने बराबर स्वयं ऐसे कार्य किये तथा दूसरों से करवाये जो क्षत्रियोचित मान-मर्यादा के सर्वथा विरुद्ध थे। पश्चिम के बहुत से विचारक श्रीकृष्ण से असन्तुष्ट हैं। होपकिन्स जैसे कुछ लोग भगवद्गीता को युद्धशास्त्र अथवा हिंसा समर्थक संगीत कहते हैं। उनका तर्क है कि अर्जुन युद्ध से उपराम होकर क्षत्रिय के कर्तव्य से भी श्रेष्ठ ब्राह्मण के कर्तव्य को करने के लिए प्रस्तुत था। शांति के श्रेष्ठ कर्तव्य से हटाकर अर्जुन को पुनः हिंसा के कर्म में लगाना निश्चय ही युद्ध और हिंसा का ही प्रचार है। अर्जुन तो अपने हित के

साथ-साथ प्राणों की बलि देकर भी विश्व युद्ध को टालना चाहता है, विश्व युद्ध रूपी सर्वसंहार से देश की जनता को बचाना चाहता है। पर श्रीकृष्ण भगवान् ने उसे युद्ध में ढकेल दिया। अतः गीता हिंसा का शास्त्र है। युद्ध का शास्त्र है। अर्जुन तो महान् धर्मात्मा, महात्मा बनना चाहता है, पर श्रीकृष्ण उसे युद्ध में ढकेल देते हैं।

वास्तव में गीता युद्ध शास्त्र न होकर कर्मयोग शास्त्र है। युद्ध भी एक कर्म है। पर संयोग की बात है कि अर्जुन क्षत्रिय है, धर्म युद्ध करना उसका कर्तव्य कर्म है और गीतोपदेश की पृष्ठभूमि तथा उपदेश का रंगमंच एक महायुद्ध का रणक्षेत्र है। किन्तु इस विशिष्ट पृष्ठभूमि, अति भयानक प्रतीत होने वाली देश, काल, पात्र, परिस्थिति में भी ब्रह्म विद्या और योग शास्त्र का समन्वित संदेश दिया जा सकता है। यही गीता की विशेषता है। क्योंकि हमारे यहां धर्म या ब्रह्म विद्या Art of life है। पश्चिम की तरह पार्ट ऑफ लाइफ नहीं। अतः धर्म, ब्रह्म ज्ञान अरण्य में वरेण्य है तो रण में भी वरेण्य है।

इन संदर्भों पर दृष्टि रखते हुए गीतोपदेश के पहले महाभारत की कथा से स्पष्ट होता है कि युद्ध का सारा उत्तरदायित्व अत्याचारी आततायी कौरवों पर ही था पाण्डवों या श्रीकृष्ण पर नहीं। कौरवों की अन्याय, अत्याचार, लोभ, लूट की प्रवृत्ति ही सारे श्रीभीषण काण्ड का मूल कारण बनी। राज्य पाण्डु का था और उसके वैध उत्तराधिकारी पाण्डव ही थे। राजा पाण्डु ने मरते समय अपने अंधे भाई धृतराष्ट्र को तब तक के लिए राज्य का संरक्षक बनने को कहा जब तक युधिष्ठिर राजतिलक के लिए वयस्क नहीं हो जाते। किन्तु धृतराष्ट्र संरक्षक के स्थान पर सम्भक्षक बन गया। वह राष्ट्र को अपने व्यक्तिगत लोभ के पंजे के नीचे धर पकड़ कर बैठ गया। वह धृतराष्ट्र बन गया और राष्ट्र के वास्तविक उत्तराधिकारी को विष देकर मारने, धोखे के पासे फेंक कर राज्य लूटने, उनको माता सहित लाक्षागृह में जलाने, भरी सभा में भाभी को वस्त्रहीन कर अपमानित करने, उन्हें 12 वर्ष वनवास देने, वहां दुर्वासा के द्वारा मरवाने का प्रयास, कभी दुर्योधन आदि का चिढ़ाने का प्रयास और अज्ञातवास में भी जान से मारने के सब दुष्ट प्रयास धृतराष्ट्र और धार्तराष्ट्रों की काली करतूतें थी। कहीं जंगल में भी कोई चोरी करता है, दूसरों पर विष प्रयोग करता है, धोखे से सम्पत्ति हरण करता है, स्त्री के शील पर आक्रमण करता है, तो राजा स्वयं उसकी खोज करवाकर दण्डित करता है। पर जब राजा स्वयं ही भरी सभा में स्त्री को नग्न करता है, स्वयं विष का प्रयोग करता है तो उसको क्या कहें, यही कहना पड़ेगा कि उसका अन्त काल समीप आ गया। अब जब दुर्योधन ने उनके राज्य को धोखे से जुए में छीन लिया। अब जब 12 वर्ष का वनवास और एक वर्ष का अज्ञातवास की शर्त पूरी करके पुनः अपना हक

मांगने आये तो राज्य देने से स्पष्ट इनकार कर दिया। इन सभी काली करतूतों के बाद भी पाण्डवगण विश्व युद्ध टालने के लिए सन्धि सचेष्ट होते हैं और श्रीकृष्ण सन्धि के लिए उपयुक्त समझे जाते हैं।

भगवान् श्रीकृष्ण की भावना—सारे भारत में धर्म राज्य प्रतिष्ठित करने की दृष्टि से कंस, जरासंध, शिशुपाल, विदेशी आक्रान्त कालयवन, नरकासुर आदि को समाप्त किया जा चुका है। कंस, जरासंध, शिशुपाल, नरकासुर के स्थान पर योग्य उत्तराधिकारियों को बैठाया जा चुका है। अब इन सब धर्म राज्यों को जोड़ते हुए केन्द्रीय धर्म राज्य की स्थापना होवे जिसका प्रभाव क्षेत्र सारा भारत हो। इस दृष्टि से धर्मात्मा युधिष्ठिर के लिए राजसूय यज्ञ की युक्ति सोची जिससे पाण्डवों का सिंहल से कश्मीर तक और सौवीर से सुह्य तक एक छत्र राज्य हो गया। पर यह दुर्योधन को सहन नहीं हुआ। अतः भगवान् पुनः पाण्डवों द्वारा केन्द्रीय धर्म राज्य की प्रतिष्ठा करवाना चाहते हैं जिसमें बाधक कौरव हैं। उससे यदि पांच गांव लेकर भी सन्धि हो जाए तो फिर पाण्डव अपने प्रभाव का विस्तार कर सारे भारत में छा जायेंगे जैसा कि पहले जंगल में इन्द्रप्रस्थ राज्य स्थापना करके किया था। अतः भगवान् श्रीकृष्ण धर्म राज्य की स्थापना के लिए पाण्डवों के पक्ष में हैं। और भगवान् जानते हैं युद्ध होने से सामान्य युद्ध न होकर विश्व युद्ध होगा। अतः किसी प्रकार उसे टाला जा सके, साम, दाम, दण्ड, भेद सभी उपायों का अवलम्बन लिया। सन्धि में जाने से पूर्व युधिष्ठिर से परामर्श किया। युधिष्ठिर ने कहा—धृतराष्ट्र न्याय-अन्याय का विवेक खो बैठा है। मुझे युद्ध पसन्द नहीं है, पर दुर्भाग्य से क्षत्रिय हूं। इसलिए लाचारी है। युद्ध न करने से मेरा अपयश होगा और उपहास भी होगा। इसलिए तुम्हारा शान्ति के लिए प्रयास स्तुत्य है। मुझे आशा है कि तुम्हें सफलता मिलेगी।

श्रीकृष्ण ने कहा—मैं पूरा प्रयत्न करूंगा और यदि सफलता मिली तो लाखों प्राण बचेंगे। अन्यथा वहां के नागरिकों को भी मैं बता दूंगा कि उनका राजा कैसे नृशंस है और युधिष्ठिर धर्म के मार्ग पर है।

भीम से भी परामर्श हुआ। तब भीम ने कहा, 'श्रीकृष्ण, तुम्हें सफलता मिले तो मुझे प्रसन्नता होगी। दुर्योधन दुष्ट है और अहंकारी है, फिर भी शान्ति हो जाए तो शुभ ही है।

इस पर श्रीकृष्ण जोर से हंस पड़े और कहने लगे, 'भीम तुममें यह नम्रता और शान्ति की चाह कब से जाग्रत हो गयी? कल तक तुम युद्ध की बात करते थे, अपनी प्रतिज्ञा का स्मरण करो। इससे भीम पुनः उत्तेजित हुआ। श्रीकृष्ण ने कहा, 'भीम तैयार हो जाओ, युद्ध रुकेगा नहीं।

अर्जुन—श्रीकृष्ण जो उचित हो सो करो। मुझे कोई चिंता नहीं है। युद्ध हो तो तैयार हूं, न हो तो अच्छा है। श्रीकृष्ण ने कहा, 'अर्जुन याद रखो कि काल सबसे प्रबल है। जो विधि ने निर्धारित कर दिया है, उसको मैं नहीं रोक सकता। तुम समझते हो कि मैं सब कुछ कर सकता हूं, वह मिथ्या आशा है। मेरे पास कोई दैवी शक्ति नहीं है। जो होना है वही होकर रहेगा।'

नकुल-सहदेव ने भी अपनी-अपनी राय दी। यह दोनों ही आवेश में थे। पर शान्ति हो जावे तो अच्छा ही है। सात्यकि तो और भी गर्म था। उसने कहा, 'दुर्योधन की मृत्यु ही पाप को मिटा सकती है।'

अंत में द्रौपदी की बारी आयी। वह तो भरी बैठी थी। द्रौपदी ने अपने केश हाथ में लेकर कहा, आप सन्धि करने जा रहे हैं। स्त्री जीवन राष्ट्र जीवन की पताका होती है। उसका अपमान होने पर भी; अपमान करने वालों से आप सन्धि करने जा रहे हैं? पति को पत्नी की इज्जत, भाई को बहन की आबरू का विस्मरण हो जाए पर पुत्रों को मां की इज्जत-आबरू का विस्मरण नहीं हो सकता। मेरे पांचों बेटे मेरे साथ होंगे और मैं स्वयं इस अपमान का बदला लेकर रहूंगी।

इस पर श्रीकृष्ण ने कहा, दैवी! तो उन पांच पुत्रों के साथ तेरा यह भाई भी होगा। मैं सन्धि करने जा रहा हूं पर दुर्योधन के हठी स्वभाव के कारण होगी नहीं। अतः जो चाहती है वही होगा। पर मुझे प्रयास करने जाने दो। ताकि पाण्डवों और मुझ पर युद्ध के लिए भावी पीढ़ी लांछन न लगा सके। यह मान लो मैं सन्धि करने के लिए नहीं बल्कि युद्ध की तिथि निश्चित करने जा रहा हूं। ध्यान रहे भगवान् जो करते हैं वह नहीं भी हो सकता है, पर जो चाहते हैं वह अवश्य होता है।

कौरव सभा में श्रीकृष्ण ने सिद्ध कर दिया अपने वक्तव्य के द्वारा कि पाण्डवों का पक्ष धर्म एवं न्याय का है। वहां के अधिकांश सभासदों का मन जीत लिया था। इस प्रकार आधा युद्ध तो उन्होंने वहीं जीत लिया था। श्रीकृष्ण का वक्तव्य इतना प्रभावी हुआ कि दुर्योधन को भय लगा कि सभी सभासद मुझे ही सब अनर्थ का हेतु मानकर मुझे बंदी बनाकर कहीं पाण्डवों को न सौंप दे और वह सभा से भाग निकला, फिर श्रीकृष्ण को ही बंदी बनाने का प्रयास किया जिससे पाण्डव असहाय हो जाएं। क्योंकि पाण्डवों की शक्ति एवं प्रेरणा के मूल में भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं।

धृतराष्ट्र का एक ही रोना कि दुर्योधन मेरी सुनता नहीं है। इस प्रकार काम नहीं बना तो कर्ण को सही स्थिति बतायी तुम पाण्डवों के ज्येष्ठ हो, फिर पाण्डवों का धर्म पक्ष है। फिर प्रलोभन भी दिखाया कि तुम ही पाण्डवों की ओर से राजा बनोगे। महाराज युधिष्ठिर और स्वयं मैं तुम्हारा चंवर डुलाया करेंगे। फिर भय भी

दिखाया कि मेरे पाण्डव के पक्ष में होने से और पाण्डवों का पक्ष धर्म का होने से भी उनकी विजय सुनिश्चित है। अतः तुम पाण्डवों के पक्ष में रहो तो कुन्ती के छहों पुत्र ही सुरक्षित रहेंगे।

पर कर्ण ने अस्वीकार कर दिया, फिर कहा तुम्हारी भी आन्तरिक इच्छा नहीं, फिर पृथ्वी का भार हरण तुम्हारा उद्देश्य है वह भी पूरा नहीं होगा। और जब तक आप पाण्डवों के पक्ष में हो तो पाण्डवों की विजय सुनिश्चित है। क्षत्रिय खाट पर सड़कर नहीं मरें और युद्ध भूमि में मर कर स्वर्ग लाभ करें। फिर मुझे राज्य मिलने से मैं उसे मैत्री के निर्वाह के लिए दुर्योधन को ही राज्य दे दूंगा। अतः अधर्म के पक्ष से पृथ्वी का भार पूर्ववत बना ही रहेगा। अतः आप युद्ध को मत रोको, होने दो।

कौरव सभा, कर्ण से निराश होकर श्रीकृष्ण कुन्ती से मिलने गए तो कहा, हे फूफी! अब युद्ध अवश्य होगा। अपने पुत्र के लिए कोई संदेश है तो दे दो। तब कुन्ती ने कहा, युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन आदि सभी पुत्रों से कहना कि जिस काल के लिए क्षत्राणियां अपने पुत्र उत्पन्न करती हैं वह युद्ध काल अब आ पहुंचा है, उसके लिए अब उद्यत हो जाओ।

जब मात्र पांच गांव भी कौरव पाण्डवों को देने के लिए तैयार नहीं। सब ओर से समझौते का मार्ग बन्द हो गया। इस प्रकार युद्ध न हो इसके लिए सब प्रकार के उपाय कर लिए थे श्रीकृष्ण ने, लेकिन जीवन की और सत्य की और धर्म की कीमत पर युद्ध को बचाने के लिए राजी नहीं थे क्योंकि अब यदि युद्ध से पीछे हटते हैं तो अधर्म की विजय होगी तब लोगों की धर्म के प्रति आस्था ही उठ जाएगी। वे कहेंगे कि पाण्डव सदैव धर्म, न्याय के मार्ग पर चले, स्वयं भगवान् भी उनके साथ थे सहयोगी थे उसके बाद भी वे न्याय नहीं पा सके, विजयी नहीं हो सके। ऐसी स्थिति में लोगों की सदा के लिए धर्म, न्याय आदि पर से आस्था ही टूट जाएगी और मानवता का, समाज का सदा के लिए पतन हो जावेगा।

जब भगवान् का प्रकट अवतार काल है और वे स्वयं पाण्डवों के साथ होने पर भी न्याय ना दिला सकेंगे तो धर्म और भगवान् पर किसी की आस्था होगी क्या? सबके सब नास्तिक बनने को बाध्य हो जायेंगे। फलतः भगवान् ने समझ लिया समाज का यह अंग विकृत होकर सड़ चुका है। इनके संस्पर्श से समाज का अन्य वर्ग भी प्रभावित एवं विकृत हो जाएगा। फलतः सारा समाज ही अधर्म की शरण में जाकर सर्वनाश को प्राप्त होगा। ऐसा न हो इसके लिए विकृत अंश को आपरेशन के द्वारा काट देना आवश्यक हो गया है। जिस प्रकार शरीर में कोई विशेष कष्ट हो जाए तब उसका प्रभाव शरीर के अन्य अंगों में न पड़े इसलिए उसे आपरेशन द्वारा काट बाहर करते हैं।

भारत ने युद्ध को अन्तिम बुराई के रूप में स्वीकारा है। तभी तो वेद व्यासजी ने महाभारत युद्ध के पश्चात् युधिष्ठिर महाराज को रुलाया है? जब और कोई उपाय शेष न रहे तब धर्म की रक्षा के लिए सत्य की स्थापना के लिए युद्ध को स्वीकारा है। अतः भारतीय वैदिक परम्परा ने, गीता, रामायणादि ने युद्ध को अन्तिम बुराई के रूप में, अन्तिम शस्त्र के रूप में स्वीकारा है कि दुष्टों के दुष्टता के साधन शरीर को छीन लो इसके अलावा और कोई उपाय शेष नहीं रह गया है। हमारी ओर से युद्ध से विरत हो जाने पर युद्ध को अस्वीकारने से युद्ध बंद नहीं होते—रक्तपात से बचने के लिए देश का विभाजन किया तो रक्तपात रुका क्या? निर्दोष पांच लाख हिन्दुओं ने प्राण गंवाये।

युद्ध अस्वीकारने से युद्ध बंद नहीं होता, हम पर कोई हावी हो जाता है, गुलाम बनाता है, युद्ध में घसीटता है, हम शक, मुगल, तुर्कों, अंग्रेजों के साथ उनकी सेना बनकर अपने देश की गुलामी के लिए लड़ते रहे।

सामान्य व्यक्ति आदर्शवाद से दूर रहता है। हमारे ऋषि केवल आदर्शवादी नहीं व्यवहार जीवी भी थे। वे व्यवहार की यथार्थ भूमि में जीते थे। आत्मरक्षार्थ वीर रस का संचार भी आवश्यक है। दुष्टों के दमन के लिए ही भगवान् ने क्रोध आदि भाव व्यक्ति को दिये हैं। इसलिए वेद में जहां सैकड़ों मंत्र शान्ति के लिए गुंजायमान हैं वहीं आत्मरक्षार्थ वीर रस के संचार के लिए, शत्रु संहार के लिए युद्ध के मंत्र भी गुंजित हैं।

वाल्मीकि रामायण में राम के लिए लिखा—जहां भगवान् भक्तों को अभय देते हैं, भक्त वत्सल है, वहीं रावण के साथ युद्ध में उनकी आंखों से अंगारे बरसते थे। इसलिए वेद में मन्यु के उपासना के भी मंत्र हैं।

अर्जुन भगवान् श्रीकृष्ण के विराट रूप को देखकर डर जाते हैं। वे भगवान् से पूछते हैं आपने विभूतियोग में अपना प्रथम परिचय आत्मा के रूप में दिया। इस विराट दर्शन में आपका यह भयानक रूप देखकर मैं कांप गया हूं। आप कौन हैं मैं आश्चर्यचकित होकर पूछता हूं?

उत्तर—अर्जुन! मेरे दो रूप हैं। अन्तःप्रकृति में आत्म रूप और बाह्य प्रकृति में काल रूप। मैं आत्म रूप में अन्तः पर शासन करता हूं और काल रूप से बाह्य जगत् पर। भक्तों को मैं आत्म रूप से दर्शन देकर मोक्ष प्रदान करता हूं किन्तु अभक्तों को काल रूप से वश में रखता हूं, मृत्यु के चक्कर में घुमाता रहता हूं। अतः नैतिक स्तर विकसित नहीं है उन्हें दण्ड के द्वारा ही वश में किया जा सकता है। सब पर विवेक और प्रेम का शासन कारगर नहीं होता जिनका हृदय शुष्क, मस्तिष्क विकृत हो गया ऐसे आसुरी प्रकृति के लोग प्रेम, अहिंसा, कोमलता की

बात को हमारी कायरता, दुर्बलता समझ कर वे अपने अत्याचारों को बढ़ाते जाते हैं। सुरसा के मुंह फैलाने के समान रावण ने ऋषियों के साथ, मुसलमानों-ईसाइयों ने, हिन्दुओं व अनेक देशों के साथ किया।

इस दृष्टि से विश्व के सन्दर्भ में मुसलमानों का इतिहास एवं मुस्लिम लीग का इतिहास देखें। जैसे-जैसे कांग्रेस उनकी मांग मानती गयी वैसे-वैसे उनकी मांग बढ़ती गयी और शेष में देश विभाजन स्वीकारना पड़ा। जहां ये अल्पसंख्यक होते वहां उत्पाती और बहुसंख्यक वहां असहिष्णु। एवं ये अल्पसंख्यक के रूप में तो कभी परिचय नहीं दिया सदैव बहुसंख्यकों को त्रस्त करने वाले रहे हैं। अहिंसा, सत्य आदि वहीं कारगर होते हैं जहां आत्मीयता शेष हो और आत्मीयता अशेष हो वहां-वहां ये असफल। दुर्योधन तो आत्मीय है पर वहां आत्मीयता शेष नहीं है। अतः वहां सत्य, अहिंसा, सत्याग्रह कारगर नहीं है। वैसे ही पंडित नेहरू सत्य-अहिंसा का ढोल पीटने वाले, सत्य अहिंसा के मद में विप्लवी बंधुओं के स्वाधीनता आन्दोलन में अवदान को अस्वीकार करने वालों ने गांधी हत्या आड़ में देशभर में आर.एस.एस. को कुचलने का प्रयास किया। इन्दिरा गांधी ने गो रक्षक, अहिंसक 800 साधुओं को गोलियों से भुनवा डाला।

युद्ध का समर्थन न हो इसके लिए रामायण-महाभारत की ऐतिहासिकता अस्वीकार कर देने से असुरों का स्वभाव नहीं बदल जाता। और न ही उसके दुष्परिणामों से ही बचा जा सकता है। गांधीजी ने भी मुसलमानों के विरुद्ध पाकिस्तान एवं जिन्ना के विरुद्ध कभी अनशन नहीं किया। जब भी किया तो हिन्दुओं को मनवाने के लिए किया। मुसलमानों के पक्ष में ही अनशन किया उनके विरुद्ध कभी नहीं। हां, जब तक सशस्त्र संघर्ष नहीं कर सकते हैं हम दुर्बल हैं तब तक के लिए युद्ध नीति के तौर पर अहिंसा, सत्याग्रह का अवलम्बन ले सकते हैं। अहिंसा को साधन रूप से स्वीकारा जा सकता है साध्य रूप से नहीं। अहिंसा को नीति के रूप में स्वीकारा जा सकता है, सिद्धान्त रूप से नहीं। अहिंसा तो सिद्धान्त रूप में केवल लोक-संग्रह से सुदूर संन्यासी का ही धर्म हो सकता है और किसी का नहीं। गांधीजी ने भी स्वीकारा है जहां श्रद्धा हो, श्रद्धा के क्षेत्र के अन्तर्गत अहिंसा, सत्याग्रह कारगर होते हैं।

भारत सेवा संघ के प्रतिष्ठाता आचार्य प्रणवानन्दजी आन्तरिक शत्रुओं से संघर्ष के लिए धूप, दीप, तुलसी, जप ध्यान एवं बहिर्जगत् के शत्रु के दमन के लिए अस्त्र-शस्त्र। हमारे सभी देवी-देवता भी शस्त्रधारी हैं। दुर्बल होना ही, युद्ध की उपेक्षा करना ही युद्ध को निमंत्रण देना है। अहिंसा शब्द पर पुनर्विचार करने की आवश्यकता है। शठे शाठये समाचरेत उपनिषद् का वचन है, इसे संन्यासी का धर्म बताया गया है। अशोक और अर्जुन में अन्तर है। दोनों दो भिन्न मोर्चों पर

खड़े हैं। अर्जुन को तो धर्म की स्थापना, दुष्टों का दमन के लिए युद्ध आवश्यक है। यह स्थिति अशोक के साथ नहीं है वह तो व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षा के लिए एक के बाद एक राज्य में रक्तपात कर रहा है। उससे तो वैराग्य होना ही उचित है, वैध है। व्यक्तिगत रूप से वह भिक्षु बने, संन्यासी बने, अहिंसक बने, संन्यास धर्म का पालन करे इसमें आपत्ति कहां है? हां, सम्राट की दृष्टि से संन्यासी धर्म ठीक नहीं है। वह अपने देश के प्रशासन में, सेना पर संन्यास धर्म थोपे, अहिंसा थोपे यह ठीक नहीं। वह जब भिक्षु बन गया तो सम्राट पद छोड़ देना चाहिए। राज्य पर किसी योग्य अधिकारी को बैठाना चाहिए था। पर सेना में अहिंसा का प्रचार कर रक्षा-व्यवस्था को दुर्बल कर विदेशी शत्रुओं के देश पर आक्रमण करने का मार्ग प्रशस्त कर देता है देश, देशी-विदेशी षड्यंत्रों का अड्डा बनता है। देश गुलाम बनता है आदि दुष्परिणाम देश को भोगने पड़ते हैं। ऐसे गांधीजी का अहिंसा का प्रयोग व्यक्तिगत दृष्टि से प्रशस्त हो सकता है पर हिन्दू राष्ट्र पर लादना गलत था। इससे हिन्दू समाज निस्तेज हुआ, न देश विभाजन रुका, न हिन्दुओं की हिंसा से रक्षा हो सकी। और विभाजन के बाद भी और-और देश विभाजन के रास्ते खुल गये।

यह धर्म युद्ध है। महर्षि वेद व्यास, देवर्षि नारद, लोमष ऋषि, मार्कण्डेय ऋषि, ब्रह्मर्षि शोनक, भगवान् परशुराम, भीष्म, द्रोण, विदुर, कुन्ती एवं युधिष्ठिर महाराज ने भी इसे धर्म युद्ध माना है। माता गांधारी ने भी इसे धर्म युद्ध माना है। इसलिए माता गांधारी ने दुर्योधन को विजयश्री का आशीर्वाद नहीं दिया और कहा जिधर धर्म है उधर ही विजय होगी। औरों की कौन कहे स्वयं दुर्योधन भी इसे धर्म युद्ध मानता है। जब भगवान् श्रीकृष्ण दुर्योधन से मिलने जाते हैं तब वह स्पष्ट कहता है—

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्ति
जानामि अधर्मं न च मे निवृत्ति।

पाण्डवों ने मां का दूध पीया है तो अपना क्यों मेरा राज्य भी छीन लेवें। बिना युद्ध के मैं कुछ नहीं दूंगा। इसलिए भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन से मानो कहते हैं यह युद्ध धर्म युद्ध है या नहीं, स्वयं दुर्योधन से जाकर पूछो। धृतराष्ट्र ने भी पाण्डवों के पक्ष को धर्म का माना तभी तो उसने अन्तिम कूटनीतिक चाल चली उनको धर्म पथ से विभ्रान्त करने के लिए। संजय स्पष्ट कहता है आप धर्मात्मा हैं पर दुर्योधन दुष्ट है वह पिता की बात को सुनता नहीं आप तो सुनें। आप तो धर्मात्मा हैं, विवेकी हैं, दुर्योधन नहीं मानता है, तो आप ही मान जाइये।

और क्षत्रिय के लिए धर्म युद्ध से बढ़कर कोई धर्म नहीं है? क्योंकि दुष्टों की दुष्टता के साधन रूप शरीर को छीन लेना आवश्यक है, इसमें अधर्म नहीं धर्म है।

स्वजनों के संहार में प्रीति-प्रवृत्ति नहीं होने पर भी स्वधर्म की दृष्टि से धर्म युद्ध तेरा कर्तव्य है। और यह धर्म युद्ध तुझे करना पड़ेगा।

विधि की मर्यादा में हिंसा पाप नहीं मानी जाती है। विधि की मर्यादा में दंड आवश्यक है।

प्राप्त युद्ध की आज्ञा के पांच हेतु—

(1) स्वरूप (आत्म) दृष्टि से।

(2) स्वधर्म (क्षत्रिय धर्म) की दृष्टि से।

(3) राग एवं रोष की दृष्टि से युद्ध।

(4) लोक-संग्रह की दृष्टि से।

(5) मेरी एवं मां की आज्ञा से।

(1) **स्वरूप की दृष्टि से युद्ध**—बाधक नहीं आवश्यक है। स्वरूप की दृष्टि से हम अजर-अमर आत्मा जो न स्वयं मर सकती है और न ही कोई उसे मार सकता है और शरीर अनित्य और कर्मफल से बंधा हुआ है। अतः कर्मफल के आधार पर उसका आना-जाना बना रहता है। अतः जो आततायी है और अपने शरीर का दुरुपयोग कर रहा है उससे शरीर छीन लेना समाज के व्यापक हित के लिए आवश्यक है। प्रथम अध्याय में ही स्पष्ट है कौरव पक्ष आततायी है अधर्म वृक्ष है और पाण्डव पक्ष धर्म वृक्ष है, देव पक्ष है। देव और आसुरी वृत्तियों की व्याख्या भगवान् ने 16वें अध्याय में की है। देव और असुर पक्ष का उदाहरण प्रथम अध्याय में है और इसको परिभाषित किया है 16वें अध्याय में। मनुस्मृति में भी जो आततायी के लक्षण दिये गए हैं वह कौरवों पर पूरे फलित होते हैं। अतः स्वरूप की दृष्टि से भी युद्ध आवश्यक है।

राग और रोष की दृष्टि से युद्ध—सत्य, धर्म, न्याय व देव पक्ष के प्रति राग और असत्य, अधर्म, अन्याय व असुरपने के प्रति रोष क्षत्रिय का स्वाभाविक धर्म है। इसी आधार पर वह सज्जनों की रक्षा और पापियों को दण्डित करता है। अतः राग व रोष की दृष्टि से भी युद्ध आवश्यक है।

स्वधर्म की दृष्टि से युद्ध आवश्यक है—अर्जुन जन्म और कर्म, दोनों से क्षत्रिय है और क्षत्रिय के लिए सत्य, धर्म, न्याय की पुनः प्रतिष्ठा के लिए युद्ध करना उसका सहज कर्तव्य है। अतः स्वधर्म की दृष्टि से भी युद्ध आवश्यक है। जिसका प्रतिपादन भगवान् ने दूसरे अध्याय के 31वें से 38वें श्लोक तक किया है।

कर्मयोग की दृष्टि से युद्ध आवश्यक है—चित्त शुद्धि के लिए अपने जन्म और कर्म से प्राप्त सहज धर्म का पालन अनिवार्य है। जब हम अपने कर्तव्य का पालन शास्त्र की आज्ञा से, गुरु की आज्ञा से करते हैं तो चित्त शुद्ध होता है।

ज्ञान हो जाने पर लोक-संग्रह की दृष्टि से युद्ध आवश्यक है—इसमें राजा जनक एवं स्वयं का उदाहरण देते हैं। उपनिषदों में ऐसे बहुत से उदाहरण यथा अश्वपति का जैवेली का दिया गया है।

मां की आज्ञा से युद्ध करना कर्तव्य है—जब युद्ध अनिवार्य हो गया तब कुन्ती माता ने अपने पुत्रों के नाम संदेश दिया—जिस काल के लिए क्षत्राणियां पुत्र उत्पन्न करती हैं वह काल आ गया है। विदुला संजय के आख्यान को भी भगवान् श्रीकृष्ण के द्वारा प्रेषित करती है कि अब युद्धरूपी कर्तव्य से पीछे नहीं हटें। भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को अनेकों बार कौन्तेय, पार्थ सम्बोधन कर मां की आज्ञा का स्मरण दिलाते हैं तो कभी पाण्डव कहकर पिताश्री की दिग्विजय परम्परा का, कभी भारत कहकर देश के महान् पूर्वजों की वीर परम्परा और कभी गुडाकेश, धनञ्जय, सव्यसाची, परंतप आदि कह कर स्वयं अर्जुन की वीर परम्परा उसे स्मरण दिला रहे हैं। उसकी प्रतिज्ञा है युद्ध में न दैन्यं न पलायनं।

फिर स्वयं भगवान् की आज्ञा से युद्ध करना कर्तव्य है—भगवान् अपने विराट रूप दर्शन में दिखाते हैं—कौरव पक्ष पाप कर्मों के कारण मेरे द्वारा पहले ही मार दिये गए हैं, तुझे तो निमित्त मात्र बनना है। गीता 11/33-34

भगवान् कहते हैं दुष्टों के लिए मैं काल स्वरूप हूं। 11/33

भगवान् विभूति योग में कहते हैं—**दण्डो दमयता-मस्मि...** 10/38

दुष्टों का दमन करने वाला मैं दण्ड स्वरूप हूं। भगवान् प्रथम में प्रेम प्रदाता नहीं। प्रथम में भगवान् शासनकर्ता, कर्मफलप्रदाता हैं, दुष्ट कर्मी के लिए वह दण्ड प्रदाता हैं। बाद में प्रभु माता-पिता, सखा व स्वयं अपना आत्मस्वरूप हैं। 18वें अध्याय के अन्त में भगवान् कहते हैं—**सर्व-धर्मान् परित्यज्य...** 18/66 समस्त धर्मों, संशयों को छोड़कर तू मेरी शरण में आ जा मैं तुझे समस्त पापों से मुक्त कर दूंगा, तू शोक मत कर। इस प्रकार भगवान् कहते हैं मेरी आज्ञा से तू युद्ध कर।

इन सब आधारों पर भगवान् अर्जुन को धर्म युद्ध के लिए अपने स्वधर्म (क्षत्रिय धर्म) धर्म पालन के लिए प्रेरित करते हैं।

स्पष्ट है हमने धर्म, न्याय, सत्य की प्रतिष्ठा, स्वराज्य व अस्मिता की रक्षा की कीमत पर युद्ध को अस्वीकारा नहीं। नहीं तो धर्म, न्याय, नैतिकता पर से समाज की आस्था ही उठ जायेगी और सबकी अधर्माचरण की प्रवृत्ति हो जायेगी, सर्वत्र अव्यवस्था फैल जायेगी, और असमय में सृष्टि विनाश को प्राप्त हो जायेगी। इसलिए धर्म, न्याय, नैतिकता की प्रतिष्ठा बनी रहे इसके लिए युद्ध को एक आवश्यक बुराई के रूप में स्वीकारा। इसी दृष्टि से भारतीय परम्परा यथा गीता-रामायण आदि धर्मयुद्ध का आह्वान करती है। पर सेमिटिक परम्परा में विशेषकर

ईसाइयत एवं इसलाम में जो जिहाद (धर्मयुद्ध) का आह्वान किया गया है वह अन्यों के—स्वराज्य का, स्वधर्म का, संस्कृति एवं सभ्यता का, ज्ञान-विज्ञान का अपहरण करके उन पर विदेशी, बर्बर सभ्यता, संस्कृति एवं पंथ को थोपकर सदा के लिए अपना उपनिवेश स्थापित करने के लिए, बाजार स्थापित करने के लिए है। अब तक का इतिहास इस बात का साक्षी है। इस प्रकार हिन्दू धर्म के धर्मयुद्ध और ईसाई एवं इसलाम पंथ के जिहाद, क्रूसेड में मूलभूत अन्तर है। हिन्दू धर्म स्वराज्य, स्वधर्म, न्याय की प्रतिष्ठा के लिए धर्मयुद्ध की आज्ञा देता है। ईसाई व इसलाम जिहाद (क्रूसेड) के तहत अन्यों पर आतंक थोपकर उनके स्वराज्य, स्वधर्म एवं संस्कृति का अपहरण करके उनको विदेशी परतंत्रता में जकड़ करके उन पर अपना विदेशी बर्बर पैशाचिक पंथ एवं संस्कृति को थोपने के लिए है। स्पष्ट है गीता का धर्मयुद्ध सत्त्व की रक्षा के लिए है, बाइबिल व कुरान का धर्मयुद्ध सत्त्व के अपहरण के लिए है। अतः दोनों की दृष्टि में 'आकाश-पाताल' का अन्तर है।

अर्जुन युद्ध से पलायन करना तो चाहता है पर पलायन करते बनता नहीं है। क्योंकि तब न तो द्रौपदी, न माता कुन्ती, सुभद्रा, अभिमन्यु, महाराज युधिष्ठिर, न भीष्म पितामह, न आचार्य द्रोण, कृपाचार्य, द्रुपद और न उन राजाओं जिनको स्वयं उसने धर्म युद्ध में साथ देने बुलाया है, किसी को भी मुंह दिखाने योग्य नहीं रहता। क्योंकि अर्जुन ने स्वयं विश्व के राजाओं के सामने रो-रो कर निवेदन किया था कि हमारे साथ बड़ा अन्याय हुआ है, ये हमको पांच गांव देने तक को तैयार नहीं हैं। हमारे धर्म राज्य की स्थापना में आप साथ देवें। और इस तरह सात अक्षौहिणी सेना उन्हें प्राप्त हो गयी। अब अर्जुन स्वयं स्वधर्म में स्थिर नहीं रह रहा है। अब सब उसे लताड़ेंगे कि आपने हमारे साथ क्रूर मजाक किया है, हम आपके लिए प्राण त्यागने आये हैं। अब वे दोहरी मार के शिकार होंगे, दुर्योधन के कोप के भाजन बनेंगे। पाण्डवों की ओर से धोखा और कौरवों की मार के शिकार बनेंगे। आपने हमें कहीं का नहीं छोड़ा।

अंग्रेजी शासन में विदेशी वस्तु, वस्त्रों के बहिष्कार के लिए अनशन आन्दोलन, भूख हड़ताल होते रहते थे। दिल्ली में जो हिन्दू व्यापारी विदेशी वस्त्र बेचते थे उसके विरुद्ध उनकी दूकान के सामने एक युवती ने धरना दिया। भूख हड़ताल की। मुसलमानों ने उसे छेड़ा, एक मुस्लिम युवक ने आगे बढ़कर चुम्बन ले लिया, इससे हिन्दुओं में आक्रोश फैला—उन मुस्लिमों की पिटाई कर दी। तो दंगा हो गया। मुसलमान उन युवकों के साथ आ गये। तब दोनों पक्ष की गिरफ्तारी हुई। युवती का बयान लिया तो उसने कह दिया वह तो मेरा भाई है। इससे निर्दोष हिन्दू दोहरी मार के शिकार हो गए। एक तो अंग्रेजों और मुसलमानों, दोनों के कोप के भाजन बने। उस युवती के बयान ने निर्दोष हिन्दुओं

को दोनों पक्षों से सताये जाने का अवसर दिया। ऐसी स्थिति ही पाण्डवों का साथ देने वाली निर्दोष सात अक्षौहिणी सेना की होगी। वे सब कौरवों के कोप का, दुर्योधन-दुःशासन के कोप का शिकार बनेंगे। और अर्जुन व पाण्डवों की ओर से सुरक्षा से वंचित होंगे।

शाहजहां के विद्रोही पुत्र जिसका पीछा शाहजहां की सेना कर रही है, वह अपनी रक्षा के लिए अफ़गानिस्तान पलायन करना चाहता था उस दृष्टि से सहायता के लिए अर्जुनदेव की शरण में गया। मानवता की भावना से गुरु अर्जुनदेव ने उसकी सहायता की। इसकी खबर जब शाहजहां को लगी, तब गुरु अर्जुनदेव पर क्रोधित हो कर उन्हें दण्डित व पीड़ित करने के लिए दिल्ली बुलाकर माफी मांगने, 2 लाख जुर्माना देने, और गुरु ग्रन्थ साहब में मुहम्मद साहब का नाम डाल कर संशोधित करने को कहा। उनके ये सब अस्वीकार करने पर कितनी यातनामय मृत्यु उन्हें स्वीकार करनी पड़ी! ऐसी ही स्थिति अर्जुन का साथ देने वालों की होगी।

एक क्षत्रिय राजकुमार युद्ध से पीठ दिखाकर लौट आया। उसकी पीठ में घाव था। तब माता को लगा मेरा दूध पीने वाला ऐसा नहीं हो सकता। धाय को बुलाया और पूछा—सत्य बता तुमने कभी अपना दूध पिलाया है, नहीं तो सिर काट लूंगी। उसने कहा—एक बार बहुत रो रहे थे, तब मैंने अपना दूध पिला दिया। ऐसा माता कुन्ती को नहीं लगा होगा क्या? माता कुन्ती लज्जित नहीं होगी क्या अर्जुन के युद्ध से पलायन के निर्णय पर। इन सब दृष्टियों से युद्ध अनिवार्य हो गया था।

अर्जुन का प्रश्न कर्तव्य के विषय में और भगवान् का उत्तर आत्मतत्त्व से क्यों?

अर्जुन का प्रश्न तो कर्तव्य के विषय में है और भगवान् श्रीकृष्ण आत्मतत्त्व से उपदेश प्रारम्भ करते हैं। और अर्जुन कोई तत्त्ववेत्ता तो था नहीं, वह व्यावहारिक, राजनीतिक क्षेत्र में काम करने वाला व्यक्ति था। उसे बिना जिज्ञासा के आत्मतत्त्व का उपदेश देने से बहुतों को लगता है कि गीता महाभारत का स्वाभाविक हिस्सा नहीं है, यह बाद में जोड़ दी गयी है।

पर कर्तव्य स्व के अनुसार होता है। तू कौन है, पिता है, पुत्र है, पति है, भाई है उसके अनुसार कर्तव्य। अतः प्रथम में स्वयं को परिभाषित करें, मैं कौन हूं। फिर सम्बन्ध के आधार पर कर्तव्य होता है। मेरा कौन-सा रिश्ता है पिता का, पति का, भाई का। अतः कर्तव्य मैं और मेरा से सम्बन्धित है। मैं के निर्णय के पश्चात् ही मेरा का निश्चय होता है।

पर अर्जुन विषाद में पड़कर अपने स्वरूप को, आत्मा-परमात्मा को भूल गया है, जबकि अर्जुन धार्मिक है, आत्मा-परमात्मा को मानने वाला, परलोक मानने वाला। वह स्वयं सशरीर स्वर्ग रह चुका है पर विषाद में पड़कर सब भूल गया है।

जैसे शराबी शराब के नशे में स्वयं को भूल जाता है और सम्बन्ध को भी भूलकर किसी के प्रति भी सही कर्तव्य पालन नहीं कर पाता। अतः पहले अपने स्वरूप को बताना आवश्यक हो गया।

अब हम अगर अपने को शरीर, मन, बुद्धि ही मानेंगे तो खाओ, पीओ मौज उड़ाओ का ही विचार आयेगा, केवल लोक और अर्थ और काम का ही विचार आयेगा।

और हम अगर स्वयं को शरीर, मन, बुद्धि के साथ आत्मा का विचार करेंगे तभी चारों पुरुषार्थों—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष एवं लोक के साथ परलोक का भी विचार एवं उनके प्रति उसे कर्तव्य पालन का भाव आयेगा। अर्जुन आत्मा-परमात्मा, परलोक को मानने वाला है।

फिर अर्जुन ब्राह्मण धर्म, संन्यास धर्म में स्थित होना चाहता है—तो पहले बताना जरूरी हो गया कि इसकी पात्रता तुझमें है या नहीं।

फिर भारतीय दर्शन का प्रारम्भिक और अन्तिम बिन्दु आत्म जिज्ञासा ही है। हमारे ऋषियों की प्राथमिक योजना मानव निर्माण की है। मानव को सही ढंग से विश्लेषित कर उसके अनुसार निर्माण कर लेवें तो अलग से परिवार, समाज, राष्ट्र, विश्व पर विचार करने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि व्यक्ति से परिवार, परिवारों की समष्टि से समाज, समाजों की समष्टि से राष्ट्र एवं राष्ट्रों की समष्टि से विश्व बनता है। इन सबके मूल में व्यक्ति हैं।

एक बुद्धिमान् पिता ने अपने नटखट पुत्र को कुछ समय व्यस्त रखने के लिए एक विश्व का मानचित्र उसके सामने टुकड़े-टुकड़े करके जोड़कर लाने के लिए दे दिया ताकि पिता अपना कार्य निर्विघ्न कर सके। पिता को तब बड़ा आश्चर्य हुआ जब देखा कि पुत्र कुछ समय पश्चात् विश्व का मानचित्र जोड़कर प्रस्तुत हो गया। पिता के आश्चर्य को तोड़ते हुए पुत्र ने ही रहस्य खोला कि मानचित्र के पीछे मानव की आकृति बनी हुई थी, इसलिए वह सहजता से जोड़ सकने में समर्थ हुआ। इस प्रकार मानव को ठीक ढंग से जोड़ लिया जाय तो विश्व की अलग से चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी।

रमण महर्षि—रमण महर्षि के पास बहुत से देशी-विदेशी साधक आये। हम्फ्रीस, पालब्रटन आदि विदेशी साधक विश्व की बड़ी-बड़ी समस्याओं को लेकर कि विश्व की भलाई कैसे होगी? मैं विश्व के निर्माण में कुछ योगदान कर

सकूंगा या नहीं। रमण महर्षि इन सब प्रश्नों को निरर्थक बताकर टाल देते थे और कहते थे—मूल प्रश्न मैं कौन हूं इसका अन्वेषण करो और उसके अनुरूप अपने जीवन का निर्माण करो तब सभी समस्या अपने आप सुलझ जायेगी। इसलिए आचार्य श्रीराम शर्मा कहते हैं—तुम बदलोगे युग बदलेगा, तुम सुधरोगे युग सुधरेगा। एक दीप से अनन्त दीप प्रज्वलित होते हैं। एक राम के निर्माण हो जाने से अनन्त राम निर्मित हो जाते हैं और एक रावण के निर्माण से सारे संसार को त्रास पहुंचाने के लिए अनन्त रावणों का निर्माण हो जाता है।

महर्षि दयानन्द जब ज्ञान अन्वेषण के लिए एक गुरु से दूसरे गुरु के पास भटक रहे थे तब अन्तिम गुरु विरजानन्दजी के पास पहुंचे। उस समय गुरुजी की कुटिया के द्वार बन्द थे और वे विश्राम कर रहे थे। दयानन्दजी ने द्वारा खटखटाया तो अन्दर से आवाज आयी—तुम कौन हो? दयानन्दजी ने कहा—यही तो जानने मैं आपके पास आया हूं। जब मैं यह जान लूंगा तब आपके पास आने का प्रयोजन ही क्या रहेगा?

स्वामी शिवानन्दजी का सरल सहज उपदेश है—

Eat a little, Drink a little, Sleep a little,

Think a little, Serve a little, meditate a little,

enquire who am I and be free, know the knower, see the seer, percieve the perciver and be free.

वृहदारण्यक उपनिषद् में प्रसंग आता है देवर्षि नारदजी का। देवर्षि नारद ने उस समय की प्रचलित सभी विद्याओं का सांगोपांग अध्ययन किया पर उन्हें कृत-कृत्यता की, धन्य-धन्यता की अनुभूति नहीं हुई, शान्ति नहीं मिली। तब वे बाल ब्रह्मज्ञानी सनत्कुमारजी के पास गये और उन्हें बताया कि धरती से आकाश तक की सब विद्याओं का अध्ययन किया पर पूर्णता की, शांति की अनुभूति नहीं हुई। इस पर सनत्कुमारजी पूछते हैं—क्या आपने अपने-आपको जान लिया? उसको जाने बिना सारा ज्ञान अज्ञान है। बोझ है। भार है।

इसलिए भारतीय दर्शन आत्मजिज्ञासा से प्रारम्भ होता है—'कोऽहम्' मानव जीवन का प्रथम और आधार-भूत प्रश्न है कोऽहम्! अर्थात् मैं कौन हूं। जबकि पश्चिमी दर्शन विश्व जिज्ञासा से प्रारम्भ होता है—सृष्टि क्या है? उपनिषद् के ऋषि इसी आत्म तत्त्व की विस्तृत और पूर्ण व्याख्या करके उत्तर देते हैं—'सोऽहम्' तुम वही हो जो मूल तत्त्व है, परब्रह्म परमेश्वर है। आत्मा तथा परमात्मा की अन्तर्भूत एकता का दर्शन ही उपनिषद् विद्या है। इसे ही आत्म विद्या, ब्रह्मविद्या कहते हैं। यही सच्ची विद्या, पराविद्या है। इसके अतिरिक्त सब विद्याओं को अपराविद्या कहा जाता है। पराविद्या के अनुसार हमारे अन्तर में ही नारायण

समाये हुए हैं। पूर्णता, दिव्यता, अनन्तता, आनन्द, अनन्त शक्ति, अनन्त ज्ञान हमारे अन्तर में ही समाया हुआ है। पर वह सोयी हुई अवस्था में है, उसे साधना, शिक्षा, संस्कार, तप के द्वारा जगाना पड़ता है अन्यथा अन्तर के नारायण सोये ही रह जाते हैं।

अतः हमारी यात्रा लंगोटी से चोटी तक, मूलाधार से सहस्रार तक ही, मात्र दो-ढाई फुट की यात्रा है। उसी के लिए सब साधन-भजन हैं। नाक बंद कर प्राणायाम करना, आंख मींच कर ध्यान करना, कर्मयोग, भक्तियोग, राजयोग, ज्ञानयोग आदि सभी इसी की सिद्धि के लिए हैं। और शरीर के रहते ही इस स्थिति को उपलब्ध कर लेवें इसी दृष्टि से हमारी व्यक्तिगत जीवन रचना एवं समाज जीवन की रचना की गई। इसी के लिए हमारे सामने चार आदर्श रखे गये—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इसी की सिद्धि के लिए व्यक्तिगत जीवन को चार आश्रमों में और समाज जीवन को चार वर्णों में बांधा गया ताकि जीवन रहते हुए ही पूर्णतालाभ, कर सकें। हम कर्मों को समझ कर कर्म चक्र के पार जा सकें। प्रकृति और उसके तीनों गुणों को समझकर, उसके पार जाकर आत्मा में स्थित हो सकें। प्रभु लाभ कर सकें। आत्म-ब्रह्म ऐक्य में स्थित हो सकें। इसी में मानव जीवन की सार्थकता है, पूर्णता है।

हिन्दू दर्शन के चार आधारभूत सिद्धान्त

हिन्दू धर्म के लगभग सभी मत-सम्प्रदायों के निम्नलिखित चार सामान्य दार्शनिक आधार हैं—

(क) आत्मा अमर है। (सच्चा मानव आत्मा ही है Soul in the Real Man within man)

(ख) जीवन का अन्तिम लक्ष्य है अमरत्व अथवा मोक्ष।

(ग) जब तक मोक्ष प्राप्ति नहीं तब तक पुनर्जन्म।

(घ) कर्म सिद्धान्त—मनुष्य के किये हुए अच्छे-बुरे कर्मों का फल जन्म-जन्मान्तर तक उसके साथ जाता है।

इनमें से प्रथम दो सिद्धान्त शाश्वत हैं—

आत्मा का अमरत्व एवं मोक्ष।

दो सिद्धान्त व्यावहारिक एवं अस्थायी हैं—पुनर्जन्म एवं कर्म सिद्धान्त।

जब तक मोक्ष का लक्ष्य प्राप्त नहीं होता तब तक बीच के पड़ाव की तरह दोनों सिद्धान्त कार्य करते हैं। जब मोक्ष प्राप्त हो जाता है तब पुनर्जन्म एवं कर्म-सिद्धान्त दोनों के चक्र से मुक्ति मिल जाती है। मुक्ति ही है इन दोनों से छुटकारा।

आत्मा स्वरूप से जो अमर ही है जब अपने अमरत्व के जन्मसिद्ध अधिकार को पा लेता है तब उसी को मोक्ष कहा जाता है। अंत में अमर अमर में मिलकर एक अमरत्व का सिद्धान्त बचता है। भारतीय संस्कृति उसी अमरत्व की साधना एवं अमरत्व की सिद्धि है।

अर्जुन ने दोनों सेनाओं के मध्य स्थित होकर निरीक्षण किया, और उस पर विचार कर इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि युद्ध भूमि में आकर उसकी प्रज्ञा खुल गई। वह प्रज्ञावान बन गया है। पर दुःखी भी है। वह अपनी त्रुटि को स्वयं समझने में असमर्थ है। अतः श्रीकृष्ण ने हलकी डांट लगाते हुए झकझोरा। क्योंकि श्रीकृष्ण अर्जुन के शिष्यत्व को स्वीकार कर गुरुपद को उचित समय पर ग्रहण कर गुरु की भांति व्यवहार करने लगे। शिष्य को सही पथ दिखाने के लिए कभी-कभी डांटना और उपहास करना आवश्यक हो जाता है।

गुरु की महिमा अकथनीय है। गुरु का प्रथम दायित्व होता है वह चिकित्सक की भांति शिष्य में उत्साह और आशा का संचार कर दे तथा अपने अपरिमित प्रेम से शिष्य को तरल एवं तन्मय कर दे। गुरु ताड़ना देते समय भी उसे संभालता रहता है। कबीरदासजी कहते हैं—

गुरु कुम्हार सिष कुम्भ है, गढ़ि-गढ़ि काढे खोट।
अन्तर हाथ सहार दै, बाहर मारे चोट।।

गुरु कुम्हार है जो शिष्यरूपी घड़े को ठोक-पीटकर उसके दोष दूर करता है। वह बाहर चोट मारते समय भीतर हाथ का सहारा देता रहता है।

यदि आडम्बररहित सरल और सात्त्विक गुरु मिल जाये, जिसे यश की कामना न हो और पूर्णतः निःस्वार्थ होकर माता की भांति शिष्य का कल्याण करने में रत रहता है तो परम सौभाग्य है। कबीरदासजी कहते हैं—

यह तन विष की बेलरी, गुरु अमृत की खान।
सीस दिये जो गुरु मिले तो भी सस्ता जान।।

यदि अपना सिर देने पर (आत्मसमर्पण करने पर) भी सद्गुरु मिल जाये तो सस्ता ही है। सद्गुरु आत्यन्तिक सत्य की अनुभूति कराने में समर्थ होते हैं। कबीरदासजी कहते हैं—

गुरु तो ऐसा चाहिये जस सिकलीगर होय।
सबद मस्कला फेरकर देह दर्पण करे सोय।।

उत्तम गुरु सिकलीगर (चाकू पर धार रखने वाला) की भांति मस्कला (साफ पत्थर) पर घिसकर शिष्य को पारदर्शक, निर्मल बना देता है। मात्र पैर छूने या

'गुरुजी' कहने से गुरु-शिष्य का नाता नहीं हो जाता। शिष्य गहरी श्रद्धा के द्वारा ही गुरु के साथ नाता स्थापित करता है। यदि शिष्य श्रद्धाविहीन है तो गुरु उसका उपकार नहीं कर सकता। जब गुरु-शिष्य दोनों चालाक हों, अथवा मूढ़ हों तो दोनों विनष्ट हो जाते हैं, जैसे यदि अंधा अंधे को राह दिखाये तो दोनों कुएं में गिर पड़ते हैं। पुण्यवान व्यक्ति को उत्तम पुण्यवान गुरु अवश्य सुलभ हो जाता है। वास्तव में, परस्पर तारतम्य होने पर गुरु-शिष्य एक हो जाते हैं तथा गुरु दिव्यानुभूति का साधन शिष्य बन जाता है। मात्र ज्ञान नहीं अनुभूति प्राप्त करना उद्देश्य होना चाहिए तथा अनुभूति सम्पन्न गुरु ही शिष्य को अनुभूति करा सकता है। श्रीकृष्ण की अद्‌भुत महिमा है कि उन्होंने शिष्य के साथ सखा भाव रखकर तथा उसके स्तर तक नीचे उतर कर उसे ऊपर उठाया। सद्‌गुरु शिष्य को अपने भावजगत् के तरङ्गदैर्ध्य पर लाकर परमात्मा का साक्षात्कार करा देता है, गोविन्द से मिला देता है।

ऐसे सद्‌गुरु भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को झकझोरते हुए कहते हैं—

अशोच्या-नन्व-शोचस्-त्वं, प्रज्ञा-वादांश्-च भाषसे।
गतासू-नगतासूंश्-च, नानु-शोचन्ति पण्डिताः।। 2/11

हे अर्जुन! तू शोक न करने योग्य (भीष्म, द्रोण आदि) लोगों के लिए शोक करता है तथा पण्डितों जैसे वचन कहता है, किन्तु पण्डित तो न उनके लिए शोक करते जिनके प्राण चले गये हैं और न उनके लिए जिनके प्राण नहीं गये हैं।

प्रत्येक मंत्र के जैसे ऋषि (अर्थात् रचयिता) देवता (अर्थात् विशेष विषय को लेकर मंत्र की रचना हुई है) तथा छन्द (अर्थात् जिस प्रकार के पद विन्यास से मंत्र की भाषा को लिपिबद्ध किया जाता है) होते हैं, वैसे ही बीज भी रहता है। गीता में भी ऐसा ही है। बीज से जैसे वृक्ष की उत्पत्ति होती है, वैसे ही ग्रन्थ में भी एक ऐसा विषय रहता है जिसका अवलम्बन लेकर या विस्तार करके बाकी अंश लिखा जाता है। यह ग्यारहवां श्लोक गीता का बीज मंत्र है। इसी का विस्तार सारी गीता है। अतः इसी श्लोक से वास्तविक गीता प्रारम्भ होती है।

अर्जुन दुःखी है। मनुष्य दुःखी कब होता है, जब वह प्राणी जगत् एवं पदार्थों में दो विभाग कर एक को अपना मान लेता है, अपना कुटुम्बी मान लेता है, दूसरे पराया मान लेता है। जो हमारे होते हैं उनमें ममता, कामना, प्रियता, आसक्ति हो जाती है। इन ममता, कामना आदि से ही शोक, चिन्ता, भय, उद्वेग, हलचल, सन्ताप आदि दोष पैदा होते हैं। ऐसा कोई भी दोष, अनर्थ नहीं है, जो ममता, कामना आदि से पैदा न होता हो। यह सिद्धान्त है।

गीता में सबसे पहले धृतराष्ट्र ने कहा मेरे और पाण्डु पुत्रों ने युद्ध भूमि में क्या किया? यद्यपि पाण्डव धृतराष्ट्र को अपने पिता से भी अधिक आदर-दृष्टि

से देखते थे, तथापि धृतराष्ट्र के मन में अपने पुत्रों के प्रति ममता थी। अतः उनका अपने पुत्रों में और पाण्डवों में भेदभावपूर्ण पक्षपात था कि ये मेरे हैं और ये मेरे नहीं हैं। यहीं युद्ध का बीज छिपा हुआ है—जो अपने नहीं हैं उनके प्रति द्वेष, उससे हिंसा व युद्ध उपजते हैं।

जो ममता धृतराष्ट्र में थी वही अर्जुन में पैदा हुई। परन्तु अर्जुन की यह ममता धृतराष्ट्र की तरह नहीं थी। अर्जुन में धृतराष्ट्र की तरह पक्षपात नहीं था; अतः वे सभी को स्वजन कहते हैं—**दृष्ट्वेमं स्वजनम्** (1/28) और दुर्योधन आदि को भी स्वजन कहते हैं—**स्वजनं हि कथं हत्वा, सुखिनः स्याम माधव।** (1/37) तात्पर्य है अर्जुन की सम्पूर्ण कुरुवंशियों में ममता थी और उस ममता के कारण ही उनके मरने की आशंका से अर्जुन को शोक हो रहा था। यहां अर्जुन सामान्य अज्ञ-संसारी जीवों की तरह दुःखी हो रहा है, पर इसकी विवेचना बड़ी बुद्धिमत्ता का परिचय देते हुए, प्रज्ञा का परिचय देते हुए की है।

इसलिए भगवान् कहते हैं बातें तो सारी प्रज्ञावादियों की तरह करते हो, पर दुःखी भी हो रहे हो, जबकि प्रज्ञावादी जिनके प्राण चले गये और जिनके प्राण नहीं गये, दोनों में से किसी के लिए हर्ष या शोक नहीं करते। एक ही अन्तःकरण में विवेक भी रहे और शोक भी रहे, ऐसा नहीं हो सकता।

एक संग नहीं होहि भुआलू।
हंसब ठठाइ फुलाइव गालू।।

जैसे गाल फुलाकर रूठना और ठठाका मारकर हंसना ये दोनों एक साथ नहीं हो सकते हैं। वैसे ही विवेकी बनना और शोक भी करना एक साथ नहीं हो सकता।

पण्डित लोग शोक क्यों नहीं करते हैं?

मानव ज़ीवन में तीन तत्त्व हैं—

(1) आत्म तत्त्व,

(2) सूक्ष्म एवं कारण शरीर,

(3) स्थूल शरीर।

आत्म तत्त्व सर्वव्यापी होने से उसमें गमनागमन नहीं है।

सूक्ष्म एवं कारण शरीर का गमनागमन होता है, जो कर्मों के अधीन है। कर्मों के आधार पर, प्रारब्धानुसार, मोक्ष प्राप्त न होने तक का आवागमन का चक्र चलता रहता है। जन्म के गर्भ से कर्म और कर्म के गर्भ से जन्म निकल आते हैं। इस चक्रव्यूह से छुटकारा पाना कठिन। हमें संसार में कर्म के चक्रव्यूह में अभिमन्यु

की तरह प्रवेश करना आता है, निकलना नहीं। हम सुषुप्ति जो अकर्म भूमि है, शून्य भूमि है अहम् जोड़कर 'मैं सोया हूं' कहकर कर्म भूमि बना देते हैं। अतएव अकर्म को भी कर्म का रूप दिये बिना नहीं रहते, ऐसा विकट यह चक्रव्यूह है।

और स्थूल शरीर सूक्ष्म एवं कारण शरीर के अभाव में निष्चेष्ट मिट्टी तुल्य हो जाता है, उसका प्रयोजन समाप्त हो जाता है।

इस प्रकार ज्ञानिवृन्द जानते हैं कि इस शरीर के प्राप्त होने के पूर्व भी अनन्त बार शरीर प्राप्त हो चुके हैं कि उनसे ही अनन्त ब्रह्माण्ड पट जायें। दिव्य दृष्टि यदि हमें कुछ समय के लिए मिल जाए तो इसे देख सकेंगे। अनादि व अनन्त में गणित की गणना काम नहीं करती। और हर बार नाश को प्राप्त हुआ। अतः कितने शरीरों के विषय में शोक करें। यह एक ही शरीर मिलता तो दुःख की बात थी जैसा कि सेमिटिक परम्परा में!

फिर शरीर उसी को कहते हैं जो शनैः शनैः शीर्यते इति शरीरः। जो धीरे-धीरे क्षीण होता है और नाश को प्राप्त होता है उसको शरीर कहते हैं।

ये सब शरीर कर्मफल के अधीन हैं उसी के अनुसार बनते-बिगड़ते रहते हैं। और भीष्म पितामह, द्रोण आदि शूरवीर एवं पुण्यात्मा होने से इनकी दुर्गति हो सकती नहीं। एवं दुर्योधन-दुःशासन की अधम गति निश्चित है, उससे कोई उन्हें बचा नहीं सकता। हां, यदि शरीर या घर का मालिक आत्मा का नाश होता तब तो शोक का विषय हो सकता था पर आत्मा तो अविनाशी जन्म-मृत्यु से रहित है। शरीर तो नौकर की तरह है जिसे आवश्यकतानुसार बदलते रहते हैं। शरीर रूपी कपड़े को बदलते रहते हैं। कर्मफल के अनुसार कभी मानव का, कभी पशु आदि का। खोटे कर्म होने से हीन योनि प्राप्त होगी, अच्छे कर्म होने से मानव शरीर। उसमें भी श्रीमानों के यहां, योगियों के यहां, ब्रह्म-ज्ञानियों के यहां जन्म प्राप्त होगा। प्रज्ञावादी पूर्ण रीति से यह बात जानते हैं। अतः जीवित या मृत अवस्था के लिए कभी शोक नहीं करते।

पर जब तक आत्मज्ञान प्राप्त नहीं होता तब तक अर्जुन की तरह हम सबके दो चेहरे होते हैं एक दिखाने का दूसरा वास्तविक। एक तो हमारा Ideal Brain आदर्श विचार होते हैं और वास्तविक जीवन में कार्य करने का विचार अलग होता है। जैसे सभी के घर का Drawing room तो बहुत सजा, साफ-सुथरा होता है पर रहने का वास्तविक का रूम कुछ दूसरा ही होता है। इस प्रकार आत्मज्ञान के पूर्व हमारी दोहरी स्थिति होती है। हम जब किसी से प्रथम बार मिलते हैं तब लगता इसके समान कोई भला आदमी नहीं है, पर जब उनसे घनिष्ठ रूप से जुड़ते हैं तब पता चलता है उसकी वास्तविक स्थिति का।

हमारी कथनी-करनी में तालमेल नहीं होता है। हम सोचते कुछ और हैं, कहते कुछ और हैं और करते भी कुछ और। यही अवस्था अर्जुन की है, भले ही वह प्रज्ञावादियों की-सी बात करे, आत्मज्ञानियों की बात करे, पर व्यावहारिक जीवन की वास्तविकता अभी कुछ और ही है। रामकृष्ण परमहंस कहते हैं तोता राम नाम रट कर राम नाम का जप करने लगता है पर शिकारी उसको पकड़कर गर्दन दबाने लगता है तब उसके मुंह से राम-राम न निकलकर वही टें-टें ही निकलने लगती है। वैसे ही हम सब वेदान्त को रट लेते हैं या बुद्धि से समझ कर बड़े-बड़े प्रवचन भी करने लगते हैं, पर अपने पर या अपने परिवार पर वैसा कोई संकट आ जाता है तब ब्रह्म आदि कीं सब बात भूल जाते हैं और दुःख के सागर में निमग्न हो जाते हैं।

अर्जुन तो स्वजन स्नेह से मोहित हो आततायी होने पर भी उनकी मृत्यु का निमित्त कारण नहीं बनना चाहता। क्योंकि घर के आत्मीयजनों के प्रति स्वाभाविक ममता होती है, दुर्बलता होती है, वे गलत कार्य करें तब भी उसे बचाने का भाव रहता है, फिर अर्जुन को भय भी व्याप्त हो गया कि भीष्म एवं द्रोण का वध कर पाना उसके वश का नहीं। इन दोनों कारणों से ही स्वजन संहार में प्रवृत्त नहीं होना चाहता। अतः यदि स्वजन संहार में प्रवृत्त नहीं होगा तो उसे स्वधर्म से च्युत होना पड़ेगा, दोनों ही स्थिति कष्टदायक है, पर अर्जुन अपने मन की इन दुर्बलताओं को न स्वीकार उसे आदर्श का जामा पहना कर युद्ध के विरुद्ध में अकाट्य युक्तियां पेश करता है। साथ ही अपनी रुचि ब्राह्मण धर्म के प्रति, संन्यास धर्म के प्रति दर्शाता है। और फिर शोक भी करता है। युद्ध नहीं करूंगा, ऐसी घोषणा कर बैठ जाता है। इस प्रकार अर्जुन सोचता एक बात है, कहता दूसरी बात है, और करता तीसरी बात। क्योंकि संन्यास मार्ग या ज्ञान मार्ग के पथिक किसी के प्राण हैं या चले गये उसकी चिन्ता नहीं करते, परन्तु अर्जुन स्वजनों के प्राण जाने के भय से दुःखी है। इसी बात को श्रीकृष्ण पकड़कर कहते हैं—कहते तो पंडितों, ज्ञानियों की सी बात, पर ज्ञानी लोग जिनके लिए शोक नहीं करते उसी के लिए तुम शोक कर रहे हो! अर्जुन मोह व भय के कारण युद्ध से पलायन करना चाहता है, पर कहता है वह एक महान् आदर्श से प्रेरित हो युद्ध से विरत होना चाहता है, बाध्य होकर शिष्यत्व स्वीकारता है शिक्षा व आदेश देने को कहता है। और फिर शिक्षा व आदेश देने के पूर्व ही कहता है मैं युद्ध नहीं करूंगा? इस प्रकार मन के भाव में, कथनी में और करनी, तीनों में अन्तर है।

पर प्रज्ञावादियों की, आत्मज्ञानियों की पहली कसौटी है वह वीतशोक हो जाता है। नारद जो सर्वशास्त्रवेत्ता थे। पर अपने को शास्त्रवेत्ता या आत्मवेत्ता की क़सौटी पर कसने पर स्वयं को शोकवेत्ता ही पाया। अपनी इस अपूर्णता को

जानकर वे दुःखी मन से सनत्कुमार के पास पहुंचे और अपनी असफलता का कारण जानकर उसका निवारण किया।

आत्मज्ञान के पूर्व हमारी सारी प्रवृत्ति व निवृत्ति का नियामक मृत्यु का भय ही है। हम भोजन में प्रवृत्त होते हैं कि कहीं भूख से मर न जायें और भोजन से निवृत्त होते हैं अधिक खाकर मर न जायें। पहले हम सिगरेट छोड़ नहीं पाते हैं फिर जब डॉक्टर कहता है अब पीओगे तो मर जाओगे तो मृत्यु के भय से छूट जाती है। वैसे ही पानी जीवन है अतः पानी पीते ही नहीं चले जाओ नहीं तो मृत्यु अनिवार्य है। इस प्रकार हमारा सम्पूर्ण जीवन मृत्यु को सत्य मानकर बना हुआ है। मृत्यु का भय हमारे हर कार्य में सन्निहित है। हम परिवार बनाते हैं, बच्चे पैदा करते हैं, क्योंकि हमें यह भय लगा रहता है कि अगर परिवार नहीं बनेगा, बीबी-बच्चे नहीं होंगे तो बुढ़ापे में क्या होगा, कौन देख-भाल करेगा, देख-भाल नहीं करेगा तो मौत का सामना करना होगा। हम धन कमाते हैं, बड़े-बड़े व्यापार करते हैं, अगर कहा जाये कि हम काम-धन्धा करते ही इसलिए हैं क्योंकि हम अपने को असुरिक्षत पाते हैं, यह सब मृत्यु से लड़ाई नहीं तो और क्या है? समाज ने चारों तरफ पुलिस, फौज तैनात की हुई है। विश्व स्तर पर सुरक्षा परिषद् बनी हुई ताकि एक देश दूसरे देश को हड़प न जाये। विश्वभर में मृत्यु की काली घटाएं चारों तरफ फैली हुई देखकर डार्विन ने कहा—जीवन एक संग्राम है, इसमें बलवान दूसरे निर्बल को खा जाना चाहता है; व्यक्ति हो, समाज हो, देश हो परस्पर में घमासान लड़ाई मच रही है, विश्वभर में मृत्यु का ताण्डव नृत्य हो रहा है, मृत्यु से बचने के लिए हमारी हरेक श्वास चल रही है। गीता में श्रीकृष्ण ने कहा है—**कालोऽस्मि लोक-क्षयकृत्-प्रवृद्धो-लोकान् समाहर्तु-मिह प्रवृत्तः** (11/32) मैं काल बनकर संसार का संहार करने के लिए आया हूं। मनुष्य के चारों तरफ से काल उसे ग्रसित करने के लिए मुंह फाड़े उसकी तरफ भागा चला आ रहा है। प्रसिद्ध कवि टैनिसन (1850-1892) ने प्रकृति के विषय में कहा—प्रकृति कैसी है? ऐसी जिसके दांत एवं पंजे खून से लथपथ हैं। किसी ने सत्य ही कहा है कि यह आश्चर्य की बात नहीं है कि मनुष्य जिन्दा है, आश्चर्य तो इस बात का है कि पग-पग पर मृत्यु का शिकंजा पड़ा होने पर भी मनुष्य जी कैसे रहा है? हम कहते हैं बालक ने जन्म लिया, परन्तु भूल जाते हैं कि जन्म लेते ही मृत्यु की तरफ कदम बढ़ने लगता है। उसके जन्म की एक-एक घड़ी उसे मृत्यु के निकट ला रही है। इस बीहड़ मार्ग को पार कर जब वह अन्त में ठिकाने पर पहुंचेगा तब उसे मृत्यु के सिवाय कुछ नहीं दीखेगा।

वास्तव में मौत का शिकार होता है शरीर न कि आत्मा। शरीर या भौतिक सभी वस्तुएं अयोग के गर्भ से टपकती है वियोग के गर्त में समा जाती है। अतः शरीर के नष्ट होने से कोई बचा नहीं सकता। जिन्हें प्यारी-प्यारी वस्तु का वियोग

नहीं सुहाता है वह प्यारी-प्यारी वस्तु के संयोग का अपने को पक्षधर न बनाये। प्रथम में शरीर या संसार नहीं, मध्य में प्राप्त होता है, अन्त में पुनः शरीर वियुक्त हो जाने से नहीं हो जाता है। इसलिए कहा शरीर अयोग के गर्भ से प्रकट होता है और वियोग रूपी गर्त में समा जाता है। आत्मा अयोग, संयोग एवं वियोग का विषय नहीं है। इसलिए आत्मा कभी नष्ट नहीं हो सकती। और शरीर व संसार को नष्ट होने से कोई रोक नहीं सकता। इनकी स्थिति मध्य काल में ही है। न आदि में है और न अन्त में है। शरीर और संसार हमें अपने कर्मफल के आधार पर प्राप्त होता है और उतने समय तक ही टिके रहते हैं। भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य जिनके लिए तुझे शोक हो रहा है वे अपने कर्मों के द्वारा पहले ही मारे जा चुके हैं। तुझे तो निमित्त बनना है। तू निमित्त नहीं बनेगा तो भी मारे जायेंगे। तू मारने वाला कौन होता है? ये तो अपने कर्मों से स्वयं ही मारे गये हैं। ऐसा ही अर्जुन भगवान् के विराट रूप में देखेगा कि उसके मारने के पहले ही वे सब मारे गये। भगवान् द्वारा चबाये जा रहे अतः शोक उचित नहीं।

जो ज्ञानी होता है वह सत्य के मार्ग में पारिवारिक जन, गुरु जन भी बाधक हो तो इनमें से किसी की भी परवाह नहीं करता। क्योंकि ये तो एक जीवन के साथी हैं परन्तु सत्य सदैव का साथी है—अतः अनित्य के लिए नित्य का त्याग नहीं करना चाहिए अशाश्वत के लिए शाश्वत को नहीं त्यागना चाहिए।

यान्तो न्याय प्रवृतस्य तृथञ्चाऽपि साहयताम्।
अपन्थानान्तु, गच्छन्तं सादरोऽपि विमुञ्चतु।।

ज्ञानी न्याय पर जाते हुए एक बालक से भी डरता है, अन्याय पर चलते हुए एक शक्तिशाली सम्राट् का भी भय नहीं मानता।

मीरा बाई को उसके ससुराल में घोर कष्ट मिल रहा था तब इसके निवारण के लिए तुलसीदासजी ने परामर्श मांगा। तुलसीदासजी इसका उत्तर देते हुए कहते हैं—

जाके प्रिय न राम-बैदेही।
तजिये ताहि कोटि बैरी सम, जद्यपि परम सनेही।।1।।
तज्यो पिता प्रहलाद, बिभीषन बंधु, भरत महतारी।
बलि गुरु तज्यो कंत ब्रज-बनितन्हि, भये मुद-मंगलकारी।।2।।
नाते नेह रामके मनियत सुहृद सुसेब्य जहां लौं।
अंजन कहा आंखि जेहि फूटै, बहुतक कहौं कहां लौं।।3।।
तुलसी सो सब भांति परम हित पूज्य प्रानते प्यारो।
जासों होय सनेह राम-पद, एतो मतो हमारो।।4।।
—श्री गोस्वामी तुलसीदासजी विरचित
विनय पत्रिका, पद-संख्या 174

कंस को आकाशवाणी में पता लग गया था अपनी मृत्यु के विषय में। देवकी के स्वागत में कंस स्वयं सारथि बना था। आकाशवाणी के पश्चात् वही कंस लगाम के स्थान पर देवकी के बाल और एक हाथ में तलवार! वासुदेव ने बहुत अनुनय-विनय से किसी प्रकार उसके प्राणों की रक्षा की। पर कंस ने देवकी के सब बच्चों की ही नहीं ग़ांवों के सब शिशुओं की हत्या करवा दी, इतने अत्याचार करके भी स्वयं को बचा सका क्या?

द्रोणाचार्यजी को अपनी मौत का पता थां कि द्रुपद के पुत्र धृष्टद्युम्न से होनी है। द्रोणाचार्य ने इसे स्वाभाविक रूप से लिया। उन्होंने द्रुपद पुत्र धृष्टद्युम्न को समाप्त करने की चेष्टा नहीं की वरन् उसे स्वयं आमन्त्रित कर शिष्य रूप में स्वीकार कर धनुर्विद्या की शिक्षा दी और द्रुपद ने भी निर्भय होकर भेज दिया द्रोणाचार्य के पास। वह जानते थे कि धनुर्विद्या के सर्वश्रेष्ठ आचार्य गुरु द्रोणाचार्य से ही पुत्र धनुर्विद्या लाभ करे पर स्वयं भेजने में संकोच हो रहा था, जब द्रोणाचार्य ने स्वयं बुला लिया तो निस्संकोच भेज दिया। मैं या मेरा पुत्र भले ही द्रोणाचार्य के प्रति हिंसा बुद्धि रखें पर द्रोणाचार्य में ऐसा मनोभाव नहीं है। पिता पुत्र से, गुरु शिष्य से पराजय का भाव रखे ऐसे शास्त्र की आज्ञा है। यानी वे हमसे भी श्रेष्ठ, गुणी बनें ऐसा भाव गुरु में होता है।

द्रोणाचार्य भी जानते हैं जब मौत आनी है तभी आयेगी और जिस रूप में आनी हो उस रूप में ही आयेगी। हां, इसमें जो निमित्त बनेगा वह ईश्वर की कृपा से मुझे जानकारी है। मृत्यु से शरीर नष्ट होगा, आत्मा तो अविनश्वर है। इस भाव के कारण ही द्रोणाचार्य ने स्वयं उसको शिक्षित किया और सदैव मृत्यु भय से मुक्त रहे। पर वही कंस जहां मृत्यु से सदा भयभीत रहा है, उससे बचने के लिए बड़े कष्ट एवं जुल्म ढाये।

इस प्रकार देह नाश से आत्मा का नाश उसी प्रकार नहीं होता जिस प्रकार जागृत का शरीर स्वप्न में नहीं रहता और स्वप्न का शरीर जागृत में नहीं रहता। पर आत्मा दोनों अवस्था में बना रहता है। यह प्रत्यक्ष दैनिक अनुभव सभी को प्राप्त है।

शरीर आत्मा नहीं तो शरीर में चोट से जीव को क्लेश क्यों? देहाभिमान के कारण, अंहता-ममता के कारण क्लेश। स्थूल शरीर का सूक्ष्म शरीर से तादात्म्य से देह के क्लेश जीव को व्यापते हैं। जैसे किसी व्यक्ति के शरीर पर भूत या यक्ष का आक्रमण हो जाये तब ओझा पक्ष आक्रान्त व्यक्ति के शरीर को यातना देता है—बेंत प्रहार करता है, उससे प्रेतात्मा को कष्ट क्योंकि उस समय उस व्यक्ति के सूक्ष्म शरीर पर प्रेतात्मा का अधिकार रहता है। जब तक

व्यक्ति के शरीर में प्रेत का आवेश है तब तक उसके शरीर पर पहुंचा कष्ट प्रेत को व्यापता है, उस व्यक्तिविशेष को नहीं। प्रेत बाधा दूर होने से व्यक्ति को कष्ट व्रण से क्योंकि तब व्यक्ति की अहम्बुद्धि पुनः शरीर के साथ तादात्म्य भाव के कारण जुड़ जाती है।

आग से सिर्फ पंच भूतों से निर्मित स्थूल शरीर ही (प्रभावित या) नष्ट होता है, जलता है, सूक्ष्म शरीर नहीं। वह तो तत्त्वज्ञान से ही जलता है।

परकाया प्रवेश

पुर्यष्टक सहित जीव कला को शरीर छोड़ दे तब शरीर शव हो जाता है, मृत हो जाता है।

पुर्यष्टक में आठ वस्तु की मिली-जुली सामग्री होती है। यथा—पंच ज्ञानेन्द्रियां, पंच कर्मेन्द्रियां, पंच प्राण, अंतःकरण पंचक, पंच सूक्ष्म भूत या तन्मात्रा, अविद्या, काम और कर्म।

परकाया प्रवेश सूक्ष्म शरीर के द्वारा सम्भव—आदि शंकराचार्य एवं योगियों ने परकाया प्रवेश किया सूक्ष्म शरीर के द्वारा योग शक्ति के माध्यम से।

सूक्ष्म शरीर के बने रहने के कारण पुनः स्थूल शरीर जीवित हो उठता है। जैसे- सत्यवान का, अजामिल का। मर कर जीवित होने वालों का भी यही कारण सूक्ष्म शरीर का अक्षत रहना। डॉक्टरी जांच में जिन शरीरों को मृत घोषित कर दिया जाता है, कुछ काल बाद पुनः जीवित हो उठते हैं। ऐसी अनेक घटनायें घटती रहती हैं तो वह सूक्ष्म शरीर के कारण जिसका विशेष अध्ययन परामनोविज्ञान के क्षेत्र में हो रहा है। कभी संतों की कृपा से भी मृत स्थूल शरीर पुनः जीवित भी हो उठता है—समर्थ गुरु रामदास, तुलसीदासजी के जीवन से ऐसी घटनायें आती हैं। यह सब सूक्ष्म शरीर के बने रहने के कारण होता है।

प्रजातंत्र में बहुमत का जमाना! शरीर ही आत्मा है ऐसा बहुत-से मानते हैं। स्थूल शरीर आत्मा नहीं हो सकती नहीं तो सुषुप्ति में, नशे में, चोट से बेहोशी में, ऑपरेशन के लिए बेहोशी में, मृतक अवस्था में अपनी गवाही दे सकते। दिनभर के थके-मांदे को सुषुप्ति में ही पुनः शक्ति एवं नव ऊर्जा प्राप्त होती है। वहां न भोजन, न औषधि, न व्यायाम है। बिना सुषुप्ति के बिना शक्ति की पूर्ति के कुछ दिन में ही व्यक्ति पागल हो जाये। मानव की तो बात क्या है इन्द्र देव को नींद नहीं आती है तो अश्विनी कुमार को बुलाते हैं। अश्विनी कुमार कहते हैं—आपको निद्रा की क्या आवश्यकता है। जिसे दुःख-संताप है वह सोये। आपको प्रिय मोद-प्रमोद ही नहीं दिव्य भोग प्राप्त हैं। इन्द्र कहते हैं—बकवास मत कर, मेरे निद्रा की व्यवस्था कर, नहीं तो पागल हो जाऊंगा।

और नींद का वेग ही भौतिकवाद, कम्यूनिज्म एवं भौतिक सुखों पर पानी फेरने के लिए पर्याप्त है।

अरे मनुष्य तो 5-6 घण्टे सोकर काम चला लेते हैं पर ब्रह्माजी तो 12 घण्टे सोते हैं। और ब्रह्माजी की तो क्या बात है, भगवान् विष्णु योग निद्रा में पड़े रहते हैं। बड़े लोगों की निद्रा योग निद्रा कह दी जाती है।

बड़ी मात्रा में नशा खाकर पड़ा है, नशे में चेतना विकृत हुई पड़ी है। अतः अपनी गवाही नहीं दे सकते।

औषधालय में ईथर सूंघाकर चार घण्टे के लिए बेहोश किया गया चिकित्सा की दृष्टि से, औषधि के कारण चेतना दब गयी। अतः अपनी गवाही नहीं दे सकती है।

मृतवस्था में शरीर से चेतना पृथक् हो जाने से अपनी गवाही नहीं दे सकता।

सुषुप्ति काल में चेतना आत्मकेन्द्रित या हृदयकेन्द्रित हो जाती है, शरीर निष्चेष्ट, इन्द्रियां सुप्त, मन मरा हुआ, बुद्धि पंगु हो जाती है। अतः निद्रा में अपनी गवाही नहीं दे सकते।

फिर ट्रक की टक्कर खाकर सड़क पर बेहोश पड़े हैं। ट्रक की मार से मस्तिष्क की चोट के कारण चेतना को नियन्त्रित करने वाला शारीरिक यन्त्र मस्तिष्क कुछ समय के लिए काम करना बंद कर देता है। अतः शरीर के रहते हुए भी शरीर की चेतना लुप्त हो जाती है। अतः अपनी गवाही नहीं दे सकते।

इस प्रकार सारा खेल चेतना का है। शरीर तो क्षेत्र है, खेत है और चेतना क्षेत्रज्ञ और मालिक है। मालिक ही खेत को पहचानता है। शरीर न स्वयं को जानता है, न दूसरे के शरीर को जानता है, न चेतना को जानता है। चेतना स्वयं को भी जानती है, जड़ को भी और आपस के सम्बन्ध को भी। शरीर की साक्षी चेतन आत्मा ही देती है—उसी के प्रभाव से इन्द्रियां, मन-बुद्धि, अहंकार अपना-अपना कार्य करते हैं। उसके विकृत होते ही या दबते ही या अलग होते ही सब अपना कार्य करना छोड़ देते हैं। स्पष्ट है शरीर आत्मा नहीं है।

अब जीवन एक अखण्ड अविरल प्रवाह है जिसका प्रतिपादन अगले श्लोक में करते हैं। उसमें खण्डता हमें अपनी दृष्टि दोष के कारण प्रतीत होती है।

न त्वेवाहं जातु नासं, न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः, सर्वे वयमतः परम्।। 2/12

संसार को तीन भागों में बांटा जा सकता है—'मैं', 'तू', 'वह'। संस्कृत में इसे अहम्, त्वम्, इदम् कहा जाता है। इस श्लोक में श्रीकृष्ण ने सम्पूर्ण विश्व पर दार्शनिक दृष्टि से विचार करते हुए कहा है—वास्तव में मैं किसी काल में नहीं

था ऐसा नहीं, तू कभी नहीं था ऐसा नहीं, ये राजा लोग कभी नहीं थे ऐसा भी नहीं और इसके बाद भी हम सब न होंगे ऐसा भी नहीं है। अर्थात् हम पहले भी थे, इस समय हैं और आगे भी होंगे।

श्री भगवान् यहां पर कारण उपस्थित करते हैं कि राजागण शोक करने योग्य क्यों नहीं है। गीता का उपदेश आत्मस्वरूप के ज्ञान से प्रारम्भ होता है क्योंकि एकमात्र आत्मा का ज्ञान ही अज्ञान-भ्रम से उत्पन्न शोक को दूर कर सकता है। इस श्लोक में भगवान् जैसे ईश्वर की नित्यता है वैसी ही जीव की नित्यता का प्रतिपादन करते हैं।

हमारी स्वयं की अनुभूति ही सिद्ध करती है कि आत्मा अनादि है। सो कैसे? इसका उत्तर यह है—"प्रत्येक व्यक्ति वर्तमान दशा में अपनी विद्यमानता की अनुभूति करता है—'अहमस्मि' 'मैं हूं।' वर्तमान में जीव को अपनी सत्ता के विषय में कोई भ्रम नहीं होता। शंकराचार्य ने कहा है—ज्यों-ज्यों हम अपने अस्तित्व पर संदेह करते हैं त्यों-त्यों हम और भी पुष्ट होते हैं कि हम अवश्य हैं, क्योंकि हमारा संदेह सिद्ध करता है कि कोई संदेह करने वाला अवश्य होना चाहिये। इसी बात को फ्रांस के देकार्टे ने कहा—Cogito ergo sum I know therefore I am. मैं जानता हूं इसलिए मैं अवश्य हूं। मैं संदेह करता हूं इसलिए मैं अवश्य हूं। जितना अधिक अपने अस्तित्व पर संदेह करता जाता हूं उतना ही अधिक मेरा अस्तित्व पुष्ट होता जाता है। इस प्रकार वर्तमान में अपनी सत्ता सिद्ध है।

स्वामी विवेकानन्द कहते हैं—पुराने धर्म कहते थे नास्तिक वह है जो ईश्वर में विश्वास नहीं करते। नया धर्म (वेदान्त) कहता है नास्तिक वह है जो स्वयं में विश्वास नहीं करता।

इस प्रकार वर्तमान में अपनी सत्ता में संदेह की कोई गुंजाइश नहीं रहती। और वर्तमान की सत्ता ही हमारे अतीत एवं भविष्य की सत्ता को भी सिद्ध करती है। अतीत में हमारी सत्ता थी तभी वर्तमान में सत्ता है। कोई भी वस्तु यूं ही नहीं टपक पड़तीं। वरन् कारण-कार्य की शृंखला से बंधी हुई है। वर्तमान में सत्ता मानें और अतीत में हमारी सत्ता किसी-न-किसी रूप में थी और भविष्य में किसी-न-किसी रूप में रहेगी ही। यह आज का विज्ञान भी कह रहा है। हमारी दर्शन परम्परा तो इसे प्रारम्भ से ही मानती है। दार्शनिक दृष्टि से भी यदि केवल हम वर्तमान की सत्ता मानें अतीत और भविष्य की सत्ता न मानें तो दो दोष की प्राप्ति होगी—

(1) अकृत्याभ्यागम दोष—न किये हुए कर्मों का फल भोगना पड़े।

(2) कृतविप्रनाश दोष—एक शरीर से सभी कर्मों के फल का भोग सम्भव नहीं अतः बिना भोग किये ही कर्म का नाश।

जीव के एक ही जन्म या नाश से शरीरों की विषमता की व्याख्या नहीं हो सकती। कोई जन्म से ही स्वस्थ, धनी और कोई जन्म से ही अपंग एवं गरीब है। जब हमारा पहले अस्तित्व ही नहीं था यही हमारा पहला और अन्तिम जन्म है तो बिना कर्म के ही फल की प्राप्ति रूप अकृत्याभ्यागम दोष प्राप्त हो जाता है। और विषमता का कारण ईश्वर को माने जैसा सेमिटिक्र परम्परा मानती तो ईश्वर निष्पक्ष, न्यायी नहीं रहता। ईश्वर तो कर्म सापेक्ष होकर सृष्टि करता है। यह तथ्य इस जन्म से पूर्व जन्मों को सिद्ध करता है।

फिर इस जन्म के सभी कर्म फलों का एक ही शरीर में भोग सम्भव नहीं। फिर अन्त काल में किये गये कर्मों का फल भोगना एक शरीर मानने से कैसे सम्भव है। यदि एक जन्म के सभी अच्छे-बुरे कर्मों को भोगकर देह त्याग करते तब तो जन्म नहीं। पर सभी अच्छे-बुरे कर्मों का फल एक ही प्रकार के देह से भोगना सम्भव नहीं। फिर अन्तिम समय में किये गये कर्मों का फल शेष बचा रह जाता है। कर्मफल दिये बिना नष्ट हो जाना कृतविप्रनाश दोष है। जन्मते शिशु की दूध पीने की प्रवृत्ति ही सिद्ध करती है कि हमारा पूर्व में अस्तित्व था। पूर्व में अस्तित्व था इसलिए वर्तमान में अस्तित्व है। और वर्तमान में अस्तित्व है तो भविष्य में भी अस्तित्व रहने वाला है।

अतः स्वयं ज़ीवन की अनुभूति ही आत्मा को अनादि सिद्ध करती है। वास्तव में अक्षय आयु का नाम ही आत्मा है। गीता के द्वारा यहां पर जीवनक्रम की अनादितता और अनन्तता प्रदर्शित की गई है। हम नदी के तट पर खड़े हैं। जल की असीम राशि एक तरफ से आती है, दूसरी तरफ निकल जाती है। यह असीम जलराशि कहां से आती है, कहां चली जाती है—इसे हम नहीं देख पाते। परन्तु क्या नदी का प्रवाह सिर्फ उतना है जितना हमारी दृष्टि के सामने है? नहीं, जितना हमें दिख रहा है वह उस जलप्रवाह का लाखवां हिस्सा भी नहीं जो पीछे से आ रहा है, आगे बढ़ा जा रहा है। वर्तमान में हमारे सामने तो बहुत थोड़ा-सा हिस्सा है, एक बहुत बड़ा हिस्सा पीछे और एक बहुत बड़ा हिस्सा आगे है। वैसे ही हमारा जीवन एक प्रवहमान नदी के समान है। हम एक स्थान पर खड़े होकर किसी नदी को देखते हैं। कितना भाग देख पाते हैं? सम्भव है—सौ गज की लम्बाई मात्र को। उसका न पहले का भाग दिखाई देता है न बाद का। पर इसका मतलब यह नहीं कि नदी मात्र सौ गज लम्बी है। जहां से नदी दीखना शुरू होती है उसके पहले भी नदी है, पर आंखें उस भाग को देख नहीं पाती इसी प्रकार जहां तक नदी दिखाई दे रही है, उसके आगे भी वही नदी है, पर आंखें अपनी दृष्टि शक्ति की सीमा के कारण आगे के भाग को नहीं देख पाती। यह जीवन भी इसी प्रकार सतत प्रवहमान एक सरिता है। जिस दिन हम पैदा हुए, उसके पहले के भाग को और

जिस दिन हम मृत्यु की गोद में अदृश्य हो जाते हैं, उसके बाद के भाग को हम नहीं देख पाते। पर इसका तात्पर्य यह नहीं कि वर्तमान जीवन के पहले यह जीवन नहीं था, तथा वर्तमान जीवन के बाद यह जीवन नहीं रहेगा। दृष्टि शक्ति की परिच्छिन्नता के कारण हम अतीत और आगामी जीवन को देख नहीं पाते। दृष्टि शक्ति की यह परिच्छिन्नता देह और मन के परदे के कारण उपजती है।

आगे अर्जुन प्रश्न उठायेगा आपने यह ज्ञान पहले सूर्य को कैसे कहा क्योंकि आपका जन्म अभी का सूर्य का सृष्टि के समय! तब भगवान् कहेंगे कि मेरे-तेरे अनेक जन्म हो चुके हैं, तेरी दृष्टि परिच्छिन्न होने से तू भूल चुका है, पर मेरी दृष्टि अपरिच्छिन्न होने के कारण मैं जानता हूं और आने वाले जीवन को भी देख सकता हूं। जो इस परदे को थोड़ा उठा लेने में समर्थ है, वे जीवन की नित्यता को देख पाते हैं। उनके लिए काल के तीनों भेद समाप्त हो जाते हैं। महात्मा बुद्ध अपने सात सौ जन्मों की कथा जानते थे। किसी-किसी के जीवन में यह परदा अपने आप कुछ समय के लिए अचानक हट जाता है और वे अतीत के जीवन को देखने में समर्थ हो जाते हैं। हमने ऐसी कई घटनायें सुनी और पढ़ी होंगी, जहां एक छोटा-सा बालक अपने पूर्व जन्म का स्मरण करने लगता है और जांच-पड़ताल से उसकी बातें सत्य सिद्ध होती हैं। यदि जीवन में नित्यता न होती तो उस बालक की बातें कैसे सत्य होती? आजकल इसका विशेष अध्ययन परामनोविज्ञान में हो रहा है।

यहां एक प्रश्न उठ सकता है, उसी बालक विशेष के साथ यह घटना क्यों घटी? फिर यह घटना दुबारा किसी अन्य के साथ फिर क्यों नहीं घटती? यानी हमें पूर्व जन्म की स्मृतियों का विस्मरण क्यों हो जाता है। इसका उत्तर है विस्मरण आवश्यक है। इसके बिना हमारी आगे की यात्रा में बड़ी कठिनाई उपस्थित हो जायेगी। इस एक जन्म की सभी स्मृतियों एवं राग-द्वेष के कारण हम विक्षिप्त हो जाते हैं फिर पूर्व जन्मों की स्मृति से हमारा क्या हाल हो? भगवान् ने कृपा कर पूर्व जन्मों की विस्मृति दी है अन्यथा हम विक्षिप्त हो जायें और आगे की यात्रा कठिन हो जायेगी। अतः यह स्वीकार करने को बाध्य होना पड़ता है कि जीवन नित्य है। मैदान में खड़े हम थोड़ी दूर देख पाते हैं, छत से ज्यादा, पहाड़ की चोटी से और ज्यादा तथा साधना के द्वारा सिद्धि में हम त्रिकालदर्शी बन सकते हैं।

जीवन की नित्यता से बौद्ध दर्शन का सिद्धान्त सर्व क्षणिकं क्षणिकं। All is change खण्डित हो जाता है।

बौद्ध दर्शन—सर्वं क्षणिकम् All is change. आत्मा क्षणिक चेतना है जो स्मृति की श्रृंखला से जुड़ी हुई है। इसके लिए दीपक की लौ से, नदी की धारा से, उपमा दी जाती है।

शंकराचार्य—यह किसने जाना कि सब कुछ क्षणिक है?

बौद्ध—यह भगवान् बुद्ध ने जाना।

शंकराचार्य—यदि शरीरधारी बुद्ध ने जाना तो वे स्वयं काल से सीमित थे, वे जन्म-मरण वाले थे। उनकी चेतना क्षणिक थी। विश्व की अनादि-अनन्त सत्ता के विषय में वह कैसे जान सकता है, जो अल्पजीवी है। उसके जन्म के पहले के बारे में वह कैसे जान सकता है तथा मृत्यु के उपरान्त का सत्य कैसे जान सकता है?

यदि 30 मील की दौड़ का खेल हो जिसमें 15 खिलाड़ी दौड़ने वाले हैं और निर्णायक महोदय स्वयं पांच मील दौड़कर, हांपकर गिर जाने वाले हैं तो कौन निर्णय करेगा कि कौन जीता, कौन प्रथम आया। निर्णायक को दौड़ के आदि में रहना चाहिये, बीच में भी उपस्थित रहना चाहिये तथा अन्त में भी। अन्यथा निर्णय नहीं हो सकता।

इसी प्रकार सृष्टि की दौड़ खरबों वर्ष पुरानी है और जब तक सृष्टि रहेगी यानी अन्त तक देखने वाला होगा तभी न कोई दावा कर सकता है कि चेतना क्षणिक है।

क्षणिक चेतना वाला अनादि-अनन्त शाश्वत सत्ता को नहीं जान सकता। परम सत्ता को वही जान सकता है जिसकी शाश्वत चेतना हो।

यदि शरीरधारी बुद्ध को क्षणिक चेतना का ज्ञान है कि सब कुछ बदलने वाला है तब तो उसका हम कोई भरोसा नहीं कर सकते। हम जितना ऊंचा ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं उसके लिए उतना ही ऊंचा या पक्का ज्ञाता भी चाहिये। सारा ज्ञान किसी-न-किसी ज्ञाता का ही साक्ष्य है। ज्ञाता विश्वसनीय नहीं तो उसका जाना हुआ ज्ञान अज्ञान ही है। ज्ञान के अनुपात में ज्ञाता चाहिए। अगर कोई डॉक्टर सूर्य का तापमान थर्मामीटर से मापने चले तो थर्मामीटर सहित डॉक्टर भी पिघल जायेगा। अतः सूर्य की शक्ति मापने के लिए सूर्य से बड़ा शक्तिशाली या उसके समान तेज वाला चाहिये।

ज्ञाता भी विश्वसनीय चाहिये तभी विश्वस्त ज्ञान प्राप्त कर सकता है। कोई कहे अमुक स्थान में बीस पैर वाला दैत्य देखा, पर आंख का डॉक्टरी परीक्षण करने पर पाया गया कि उसकी आंख ही खराब है। इसलिए—

यदि ज्ञाता झूठा है तो ज्ञान झूठा,

यदि ज्ञाता कच्चा है तो ज्ञान कच्चा,

यदि ज्ञाता नश्वर है तो ज्ञान नश्वर।

बौद्ध—भगवान् बुद्ध के शरीर ने नहीं उनकी आत्मा ने जाना कि सब कुछ क्षणिक है।

शंकराचार्य—तब बुद्ध आत्मा के रूप में शाश्वत हैं क्षणिक नहीं। तब भी सिद्ध होता है कि क्षणिक के पीछे एक शाश्वत सत्ता है। वही आत्मा या परमात्मा है।

इस पर रामकृष्णदेव भी एक कथा कहा करते हैं—

एक नमक की पुतली नमक का डण्डा लेकर समुद्र की थाह (गहराई) नापने गई। और वह समुद्र में ही घुल-मिल गई यानी समा गई। जो स्वयं ही समुद्र में विलीन हो गई वह समुद्र की गहराई कैसे बता सकती है?

गई पूतरी नौन की, थाह सिन्धु को लेन।
गल वह सिन्धु ह्वै गई, कहे कौन अब बैन।। (बैन=वचन)

कबीर

क्षणिक की कोई हिम्मत नहीं कि अनन्त की थाह पा सके। चेतन ही चेतन को जानता है। आत्मा ही परमात्मा को जानता है। 'मैं' के आत्मा सिद्ध हो जाने पर परमात्मा अपने आप सिद्ध हो जाता है। जब नास्तिक कहता है—मैं कहता हूं कि ईश्वर की सत्ता नहीं है। तब विवेकानन्द उससे पूछते हैं—क्या तुम्हारी अपनी सत्ता भी है या नहीं। अपनी सत्ता स्वीकारते ही परमात्मा की सत्ता स्वतः सिद्ध हो जाती है। यदि तुम में क्षणिक चेतन है तो तुम्हारा कथन ही गलत है। क्षणिक चेतना मानने से और भी कई दोष प्राप्त होते हैं। कर्म किसी ने किये फल किसी और को, पुनर्जन्म किसी और का हो जायेगा, मुक्ति भी किसी और ही की। यदि तुम्हारा मैं शाश्वत चेतन है तब वही शाश्वत चेतन ही आत्मा है या परमात्मा है। तब तुम्हारे उसकी सत्ता को इनकार करने पर भी वह सिद्ध हो रहा है।

इन सब विवेचन का निष्कर्ष यही है कि जीवन में सातत्य है। अतएव वर्तमान जीवन के नाश के विचार से शोक नहीं करना चाहिये। अर्जुन अपने सम्बन्धी राजाओं को शोच्य मान रहा था। भगवान् कह रहे हैं कि ये राजा मेरे और तेरे समान पहले भी थे और आगे भी रहेंगे। शरीर की दृष्टि से वे नश्वर और काल से बंधे हुए हैं, पर आत्मा की दृष्टि से वे अविनाशी हैं और शाश्वत हैं। अतएव अर्जुन! तू उनके लिए शोक न कर।

ऐसे तो सेमिटिक परम्परा एक जन्म को ही मानती है, पर सभी धर्मों को प्रकाश तो वेद से कुछ-न-कुछ मात्रा में मिला, पूरा वे ग्रहण नहीं कर पाये, कर पाते तो वे धर्म त्रुटिपूर्ण नहीं होते। इसलिए उनमें भी छिटपुट उद्धरण है जो पुनर्जन्म की सत्ता को सिद्ध करती हैं। ऐसे वे एक जन्म को ही मानते हैं। पर एक जन्म को मानने पर भी जीवन की सतता को तो मानते हैं तभी कयामत के बाद स्वर्ग या नरक। इस प्रकार सेमिटिक परम्परा जीवन की सत्ता को तो मानते हैं। भले ही उनके जीवन की सत्ता की अवधारणा त्रुटिपूर्ण है। वेद से पारसी धर्म निकला, पारसी से यहूदी, यहूदी से ही ईसाई व इसलाम निकले।

मूल में दो धर्म—वैदिक धर्म और पारसी धर्म। पारसी धर्म पर वेद का पूरा प्रभाव। पारसी धर्म से सेमिटिक परम्परा निकली। इसलाम में पुनर्जन्म का संकेत मिलता है जो इस प्रकार है—पत्थर होकर मरा तब जाकर वृक्ष बन गया, वृक्ष होकर मरा तब जाकर पशु बन गया, जब पशु होकर मरा तो अब मनुष्य योनि में आया है तो फिर मरने से भय किस बात का।—सत्यमित्रानन्दजी की गीता-पृ. 15

इसी प्रकार ईसाइयत में भी पूर्वजन्म संकेत है जो इस प्रकार है—जीसस से बहुत पहले अब्राहम नामक एक 'प्रोफेट' हुआ जेरुसलम में। एक बार जीसस से किसी ने पूछा कि आप अब्राहम के सम्बन्ध में क्या जानते हैं? तो भारतीय चिंतन परम्परा में शिक्षित जीसस ने कहा, 'जब अब्राहम हुआ, उसके पहले भी मैं था—Before Abraham I was. मैं अब्राहम के पहले भी था। निश्चय ही उस आदमी को शक हुआ होगा। तीस साल से ज्यादा उम्र नहीं थी उस समय जीसस की। और अब्राहम को मरे हजारों साल हो गये और यह आदमी कहता कि अब्राहम के पहले भी मैं था। जब अब्राहम नहीं हुआ था, तब भी मैं था। असल में जीसस सागर की बात कर रहे हैं; उस लहर की बात नहीं कर रहे हैं जो मरियम से उठी। वह जो जीसस नाम की लहर है, उसकी बात नहीं कर रहे हैं। वह उस सागर की बात कर रहे हैं, जो लहरों के पहले और लहरों के बाद है।

जब श्रीकृष्ण कहते हैं कि पहले भी हम थे, तू भी था, मैं भी था। यह जो लोग सामने युद्ध के स्थल पर खड़े हैं, ये भी थे। ये बाद में भी होंगे। तो वे सागर की बात कर रहे हैं। और अर्जुन लहर की बात कर रहा है। और अकसर सागर और लहर की बात करने वाले लोगों में संवाद बड़ा मुश्किल है। क्योंकि कोई पूरब की बात कर रहा है, कोई पश्चिम की बात कर रहा है।

गीता इतनी लम्बी चलेगी, क्योंकि अर्जुन बार-बार लहरों की बात उठायेगा और श्रीकृष्ण बार-बार सागर की बात करेंगे और उनके बीच कहीं भी मिलन नहीं होता। कहीं वे एक दूसरे को काटते नहीं, काट दें तो बात हल हो जाये। इसलिए लम्बी चलेगी बात! और अर्जुन फिर-फिर लहरों पर लौट आयेगा। उसे लहरें ही दिखायी पड़ती हैं और जिसे लहरें ही दिखाई पड़ती हैं, उसका भी कसूर क्या है? लहरे ही ऊपर होती है। वे जो देखने वाले पर ही निर्भर है उन्हें लहरें ही दिखाई पड़ेगी। अगर सागर को देखना है तो खुली आंख से देखना जरा मुश्किल है। आंख बंद करके देखना पड़ेगा। लहरों के नीचे सागर में डुबकी लगानी पड़ेगी। अतः जीवन की निरन्तरता, सातत्य बताने के लिए कहा—न ऐसा ही है कि इसके पूर्व किसी काल में मैं नहीं था, तू नहीं था, ये राजा लोग नहीं थे और न ऐसा ही है कि भविष्य में हम सब नहीं रहेंगे। इस

प्रकार बहुवचन का प्रयोग देहभेद दर्शाने हेतु किया गया आत्मभेद के अभिप्राय से कदापि नहीं। आत्मा तो एक ही है। जीवन एक अखण्ड प्रवाह है दृष्टि दोष के कारण हमें खण्डित दीखती है इसलिए शोक होता है। जीवन अखण्ड कैसे है प्रतिपादन करते हुए कहते हैं—

देहिनोऽस्मिन् यथा देहे, कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तर-प्राप्तिर्,-धीरस्-तत्र न मुह्यति।। 2/13

देहधारी (आत्मा) को इस देह में जिस प्रकार बालपन, तरुणाई और बुढ़ापा प्राप्त होता है, उसी प्रकार (आगे उसी आत्मा को) दूसरे देह की प्राप्ति होती है। अतः इस विषय में ज्ञानी पुरुष मोहित नहीं होता।

पूर्व श्लोक में भगवान् ने जीवन की नित्यता बता कर अर्जुन को समझाया कि आत्मा की दृष्टि से किसी के लिए शोक करना उचित नहीं है। और शरीर तो नित्य परिवर्तनशील है एवं मृत्यु के पश्चात् नवीन शरीर प्राप्त करना इसकी स्वाभाविक अवस्था है, जिससे भय खाने का कोई कारण ही नहीं। हमारे शरीर की कथा तो माता के गर्भ में शुक्र के कीटाणु से प्रारम्भ होती है और वह कई रूपों में परिवर्तित होता है। परिवर्तन के क्रम में कोई अपने भ्रूण (गर्भस्थ शिशु) रूप का फोटो (चित्र) देखकर कोई अपने को पहचान नहीं सकता। स्वयं अपने ही जन्म के समय का फोटो बिना किसी साक्षी के कोई नहीं पहचान सकता कि मैं ही हूं। जिस प्रकार शुक्र से भ्रूण, भ्रूण से शिशु, शिशु से बाल, बाल से किशोर, किशोर से तरुण, तरुण से नवयुवक, नवयुवक से युवक, युवक से प्रौढ़, प्रौढ़ से वृद्ध, वृद्ध से रोगी परिवर्तन की स्वाभाविक अवस्थायें हैं। उसी प्रकार वृद्धावस्था एवं रुग्णावस्था के बाद स्वाभाविक अवस्था देहान्त है, उसके पश्चात् नवीन शरीर की प्राप्ति है। जिससे दुःखी या चिन्तित होने का कोई कारण नहीं है। जैसे गर्भ में प्रवेश की खुशी, जन्म में खुशी के लड्डू बांटे जाते हैं, शैशवावस्था में मुंडन संस्कार के लड्डू बंटते हैं। किशोरावस्था में यज्ञोपवीत संस्कार पर खुशियां मनाई जाती है, तरुणाई में सगाई एवं विवाह के लड्डू बंटते हैं, फिर सन्तानोत्पत्ति पर लड्डू बंटते हैं, हर जन्मदिन पर खुशियां मनाई जाती है। 60 वर्ष में षष्टि-पूर्ति के उपलक्ष में उत्सव मनाये जाते हैं, स्वर्ण जयन्तियां, हीरक जयन्तियां मनाई जाती है। उसी प्रकार वृद्धावस्था का अगला पड़ाव देहांत आने पर भी उत्सव मनाना चाहिये क्योंकि उसमें कुछ भी अस्वाभाविक नहीं है। मृत्यु वास्तव में जीव की वापसी यात्रा है। Return ticket है। बिना हेमंत (पतझड़) बसंत आ ही नहीं सकता, बिना गले-सड़े वृद्ध रोगी शरीरों के देहांत के प्रकृति का परिवर्तन चक्र ही रुक जायेगा और सारा संसार हाय-हाय से भरा हुआ एक विराट अस्पताल बन जायेगा। खेत में झाड़ी-झंखाड़ को साफ किये बिना उत्तम खेती असम्भव हो जायेगी। इस सन्दर्भ में सिकन्दर के साथ एक

बोध कथा जुड़ी है। सिकन्दर अमर होने के लिए संत से आशीर्वाद चाहता है तो अमरताल का जल सेवन करने के लिए कहा। वहां वृद्ध जनित शारीरिक कष्ट देखकर तरुणाई के साथ अमरता चाहता है। तब अन्य ताल का जल सेवन के लिए कहते हैं। वहां भी तरुणों के आपसी संघर्ष देखकर कांप उठता है।

इस प्रकार मरण तो नये शरीर प्राप्ति के लिए अनिवार्य पूर्वावस्था है। उदाहरण के लिए हमारे सामने सुन्दर लाल काश्मीरी सेव है। उसकी सुन्दरता है, उसकी लालिमा उसका रूप जब तक अपना बलिदान न दे तब तक वह सेव हमारा आहार नहीं बन सकता। सेव के सौन्दर्य लालिमा एवं रूप को हम छुरी की धार एवं दांतों की मार से स्वयं मृत्यु देते हैं तब वह सेव अपनी शक्ति से हमें जीवन देता है। शैशव के मरे बिना कोई बाल नहीं हो सकता और बालक के मरे बिना युवक नहीं बन सकता। अतः नये शरीर की प्राप्ति के लिए मृत्यु उसकी अनिवार्य पूर्वावस्था है।

शरीर नित्य परिवर्तनशील है स्थिर नहीं। शरीर में बचपन है, जवानी है, बुढ़ापा है, जन्म है, मृत्यु है। अर्थात् शरीर में कुछ भी स्थिर नहीं है। बच्चे जवान होते जा रहे हैं, जवान बूढ़े होते जा रहे हैं, पर व्यवहार की सुविधा, एवं भाषा की लाचारी के कारण ही हम उन्हें किसी को बच्चा, किसी को जवान, किसी को बूढ़ा कहते हैं। पर वास्तव में यह गलत प्रयोग है। इससे प्रतीत होता है जो बच्चा है वह स्थिर है, जो जवान है वह स्थिर है, जबकि सब गतिशील हैं। अतः बच्चा है, यह गलत बोलते हैं। बच्चा 'है' की स्थिति में कभी नहीं होता, बच्चा पूरे वक्त होने की स्थिति में होता है—हो रहा है। कहना चाहिये 'बच्चा' हो रहा है, 'बूढ़ा' हो रहा है। प्रत्येक चीज 'हो रही है।' 'है' की स्थिति में कोई चीज नहीं है। 'इज' की हालत में कोई भी चीज नहीं है, प्रत्येक बिकमिंग में है। हम कहते हैं नदी है। कैसी गलत बात करते हैं—नदी और 'है', हो सकती है? नदी का मतलब ही है कि जो बह रही है, जो हो रही है। इसलिए हेराक्लाइट्स ने कहा You cannot step twice in the same river. आप एक नदी में दोबारा नहीं उतर सकते। यह प्रयोग भी गलत है। एक ही नदी में एक बार भी उतरना मुश्किल है, दोबारा उतरना तो असम्भव है। ज्योंहि जब पैर आपका नदी की सतह को छूता है तब नीचे नदी भागी जा रही है। एक डुबकी में कितनी बार जल परिवर्तन हो गया है। अतः वही नदी डुबकी लगाने तक नहीं रहती।

शरीर नित्य परिवर्तनशील है, जो आकृति कल देखी थी, सुबह देखी थी, वह अब नहीं है। प्रतिपल पुराना शरीर मर रहा है, नया जन्म ले रहा है। अर्जुन शरीरों एवं जगत् के लिए चिंतित है। हम भी चिंतित हैं। पर जो मर ही रहा है उसको बचाने का कोई उपाय नहीं। उसके लिए चिंतित है वह असम्भव के लिए

चिन्तित है। और जो असम्भव के लिए चिन्तित है, वह चिन्ता से कभी मुक्त नहीं हो सकता। असम्भव की चिन्ता ही विक्षिप्तता बन जाती है।

सुकरात को विष पान की सजा हुई तो उनके मित्र क्रेटो ने जेल से पलायन की योजना बनायी पर सुकरात ने स्वीकार नहीं किया। उनके मित्र उनकी मृत्यु से बहुत चिन्तित थे। पर सुकरात निश्चिंत था। सुकरात जब मर रहा था तो उसके मित्र क्रेटो ने पूछा कि आप मर जायेंगे लेकिन आप चिन्तित और परेशान दिखाई नहीं पड़ते। तो भारतीय तत्त्व ज्ञान से प्रभावित सुकरात ने कहा, मैं चिन्तित और परेशान नहीं हूं, क्योंकि मैं सोचता हूं कि यदि मर कर मर ही जाऊंगा तब तो कोई चिन्ता का कारण नहीं। और अगर नहीं मरा मर कर भी, तब तो चिन्ता का कोई कारण ही नहीं है। और ये दो सम्भावनायें हैं। सुकरात ने कहा कि या तो मैं मर ही जाऊंगा या फिर नहीं ही मरूंगा। और तीसरी कोई भी सम्भावना नहीं है। इसलिए मैं निश्चिंत हूं। फिर याद रखना कि मेरा शरीर मरेगा मैं नहीं। विष पान का प्रभाव शरीर पर क्रमशः होने लगा—देखो अब पैर मर रहा है, अब हाथ मर रहा है, देखो अब पूरा शरीर मर रहा है, मैं नहीं मर रहा, मैं तो शरीर छोड़कर आगे की यात्रा में जा रहा हूं।

आधुनिक चिकित्सा शास्त्र कहता है कि शरीर के सारे अवयव रुधिर, अस्थि, मज्जा आदि सतत परिवर्तित हो रहे हैं और सात वर्ष में सारे कण नष्ट होकर नवीन हो जाते हैं। इस प्रकार जिसे हम जिन्दगी कहते हैं उसमें हमारा शरीर 9-10 बार बदल चुका होता है या कहे मर चुका होता है। भारतीय शास्त्रीय परम्परा भी इस बात को स्वीकार करती है कि बारह वर्ष में मानव देह के समस्त कण नष्ट होकर नूतन हो जाते हैं। इसलिए संभवतः हमने बारह वर्ष की अवधि को युग की संज्ञा दी है। एक युग में मनुष्य का सारा शरीर बदल जाता है। एक अवस्था के अवयव दूसरी अवस्था में नहीं पहचाने जाते। कहां जन्म के समय का एक मासूम बच्चा और कहां युवावस्था का साढ़े तीन हाथ का बलिष्ठ मनुष्य। इस नित्य परिवर्तनशील शरीर में एक तत्त्व अपरिवर्तित रहता है, वह मैं या आत्म- तत्त्व जो इस शरीर के परिवर्तन की लीला को साधे हुए हैं, जोड़े हुए हैं, एकता को बनाये हुए हैं। वह शरीर की अवस्थाओं के परिवर्तन का साक्षी है। वही बचपन की घटना को याद करता है एवं जीवन की अन्य घटनाओं को भी। प्रसिद्ध अमेरीकन जीव शास्त्री नोबेल पुरस्कार प्राप्त एलेक्सिस कैरल की भाषा में यह देही ही Man the unknown (मानव का अज्ञात रूप) है और देह ही Man the known (मनुष्य का ज्ञात रूप) है। सभी का जाना-पहचाना है। मनुष्य का वजन कितना है, उसकी ऊंचाई कितनी है, उसके शरीर का रंग कैसा है, उसके चलने का ढंग कैसा है, उसकी वेश-भूषा कैसी है—यह सब मनुष्य का ज्ञात रूप है जो सतत बदलता रहता है। इन बदलते रूपों के पीछे यदि उसका अपरिवर्तनशील अज्ञात रूप न होता तो इन रूपों का कोई अर्थ

ही नहीं हो पाता। यह अज्ञात रूप ही स्मृति शक्ति और विचारों की सुसम्बद्धता का आधार है। जो व्यक्ति इस देही को धारण करने में समर्थ है, वही श्रीभगवान् की भाषा में धीर है, बुद्धिमान् है और विवेकी है। अर्जुन से वे धीर बनने को कहते हैं। जो धीर बनता है, वही मोह से ऊपर उठने में समर्थ होता है।

सम्राट भरत राजमहलों में बैठे थे। कांच का महल था। सर्वत्र अपना ही प्रतिबिम्ब दृष्टिगत हो रहा था। सहसा प्रतिबिम्बों से हटकर चित्त बिम्ब/शरीर पर केन्द्रित हो गया। देह का परिवर्तन सामने आ गया—'देह बदल रहा है। वह नित्य नहीं है, क्षणभंगुर है। उसका सौन्दर्य अबाध नहीं रहता। अवस्था के अनुसार, उसमें रूपान्तरण घटित होता जाता है।' महल में बैठे-बैठे वे सब भूल गए। कितना समय बीता, उन्हें कुछ पता नहीं चला। अनित्यता की गहराई में खो गए। आगे-पीछे क्या काम है, कोई सुध नहीं रही। जब महलों में से निकले, तो एक नए मानव बनकर निकले, नए मानव नहीं, भगवान् बनकर निकले। उन्होंने यह अनुभव कर लिया कि मैं देह नहीं हूं, देह का द्रष्टा हूं। द्रष्टा अलग है और देह अलग है। दोनों का तादात्म्य अस्थाई है। दोनों का धर्म एक नहीं है। एक ज्ञाता है, एक ज्ञेय है। एक द्रष्टा है, एक दृश्य है। दृश्य में द्रष्टा के धर्म नहीं होते। बस, इसी चिन्तन धारा ने सम्राट को योगी बना दिया, भोगों से विरक्त बना दिया, सचाई से परिचित करा दिया। आवरण टूट गया। वे सत्य को उपलब्ध हो गए। परम ज्ञान के सागर में स्नात होकर बाहर निकल आए।

पाश्चात्य तत्त्व चिन्तक कालाईल के जीवन में भी ऐसा प्रसंग घटित हुआ। वे बाथरूम में स्नान करने गए। लेकिन उससे बाहर निकले तब कालाईल बदले हुए थे। जीवन के अस्सी वसंत पार कर लिए थे। पर मन में कभी ऐसा विचार नहीं आया। आज स्नान करते-करते उनका मन घूम गया। शरीर को देखने लगे। नहाने के बाद शरीर को तौलिए से पोंछा। चमड़ी बदली हुई नजर आई। शरीर भी पहले जैसा नहीं लगा। शरीर में बचपन आया, जवानी आई, बुढ़ापा आया। इतने वसंत देखने के बाद भी देखने वाला अपरिवर्तित है। देह बदलता है, देही नहीं। कालाईल ने अपने से पूछा—'मैं कौन हूं? क्या मैं शरीर हूं? शरीर बदला, पर शरीर को देखने वाला नहीं बदला। मैं देखने वाला हूं। शरीर नहीं।' बस, कालाईल को एक नई दिव्य दृष्टि मिल गई। जीवन विकास का परम गुर मिल गया।

तब यहां स्वाभाविक प्रश्न उठता है क्या देहातीत जीवन सम्भव है?

जब जीवन का अध्ययन केवल देह के आश्रित जीवन के रूप में किया जाता है तब पंच महाभूत उस जीवन स्तर के लिए अनिवार्य साधन बन जाते हैं। क्योंकि देह पांच तत्त्वों से ही बना है। पर जब देहातीत या शाश्वत जीवन तत्त्व का अध्ययन किया जाता है तब पंच महाभूत का आश्रय अनिवार्य तो बिलकुल नहीं वरन् पंच

महाभूत जीवन के साधन होने के बजाय बाधक हो जाते हैं। क्योंकि जीवन तत्त्व आत्म तत्त्व है। वह पुरुष है और स्वरूप से प्रकृति के अधीन न होकर प्रकृति का स्वामी है। इसलिए देहाश्रित जीवन प्रकृति में परिबद्ध जीवन है और देहातीत जीवन मुक्त एवं शाश्वत जीवन है। भौतिकवादी केवल देहाश्रित जीवन को ही देखते हैं। वे देहातीत जीवन को सम्भव ही नहीं मानते। इसलिए वे मृत्यु से भयभीत रहते हैं।

हम इसी जन्म में अनुभव करते हैं कि हमारा सूक्ष्म शरीर हमारे स्थूल शरीर को त्यागकर बहुत दूर की ओर, इच्छित लोकों की सैर कर आता है। इस सूक्ष्म मन के द्वारा हम दूसरों की मन की बात जान लेते हैं। इसी के द्वारा अनेक भावी घटनाओं का पूर्वाभास मिल जाता है। इसी को विकसित करने से हम मन ही मन अपने मित्रों और साधकों से बात कर लेते हैं। इसे Mental telepathy कहा जाता है। किसी मृतक के सूक्ष्म शरीर (वायु स्वरूप) को वश में कर लेने से हम भूत के द्वारा अनेक बातों की जानकारी और अनेक अन्यथा कठिन प्रतीत होने वाले कार्यों की पूर्ति की जा सकती है।

यह निश्चय ही स्थूल भौतिक शरीर द्वारा नहीं हो रहा है। इस सूक्ष्म शरीर में जीवन के सब लक्षण हैं केवल स्थूल पंच भौतिक शरीर नहीं है। इससे स्पष्ट होता है देह के बंधन से मुक्त देहातीत जीवन होता है एवं आश्चर्यजनक कार्यों का सम्पादन भी कर सकता है। आजकल पश्चिम में इसका विशेष अध्ययन किया जा रहा है जिसे हम परामनोविज्ञान के नाम से पुकारते हैं। श्री विक्टर सालो नामक एक सज्जन ने 'लिटररी डाइजेस्ट' के अप्रैल, 1975 के अंक में एक लेख लिखा है जिसका शीर्षक है—I died at 10.52—मैं 10.52 पर मर गया। वे लिखते हैं न्यूयार्क में शनिवार 23 मार्च, 1974 को वे अपनी कार में पत्नी के साथ जा रहे थे कि बत्तियों के क्रासिंग पर उन्हें अपनी गाड़ी खड़ी करनी पड़ी। समय 10.52 का था। इस समय बैठे-बैठे गाड़ी में उनके हृदय की गति बन्द हो गई, श्वास चलना भी स्थगित हो गया, शरीर नीला पड़ गया। उन्हें अस्पताल में लाया गया। डॉक्टरों ने निर्णय दे दिया कि उनकी मृत्यु हो गई है। फिर भी उन्हें जीवित करने के लिए बिजली के झटके दिये जाते रहे ताकि सम्भव हो तो उनका जीवन लौट आये। ठीक 23 मिनट बाद उनके हृदय में हरकत महसूस होने लगी, श्वास धीरे-धीरे चलने लगा और कुछ देर बाद वे उठ बैठे। डॉक्टरों का कहना है कि हृदय 3 मिनट गति न करे तो आदमी मर जाता है, यहां मरने के 23 मिनट बाद विक्टर सालो जी उठे।

विक्टर सालो से पूछा गया कि उन 23 मिनट में जब उनका हृदय तथा श्वास गति नहीं काम कर रहे थे, उन्हें कुछ अनुभव हुआ? वे लिखते हैं कि उस समय शरीर को छोड़ते हुए—'मुझे अनुभव हुआ कि मैं अपनी सभी इन्द्रियों को,

जिनसे उपकरण के रूप में अब तक काम लेता रहा हूं, और जिनकी वजह से मैं इस संसार को सत्य मानता रहा हूं, मैंने पीछे छोड़ दिया है और अब मुझे अपना यथार्थ रूप (Reality) दिखने लगा है। मुझे मृत्यु का वह क्षण, जिसमें मनुष्य मृत्यु के द्वार से इस शरीर को छोड़कर बाहर निकलता है, अत्यन्त सरल प्रतीत हुआ—न कोई भय था, न कोई पीड़ा थी, न किसी प्रकार का अन्य विचार था। मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि मैं अत्यन्त तीव्र गति से किसी अत्युज्ज्वल प्रकाशपुंज की तरफ खींचा चला जा रहा हूं। उस समय तक पहुंचकर वह प्रकाशपुंज इतना उद्दीप्त दिखने लगा कि उसमें मेरा प्रवेश अवरुद्ध हो गया। इसके बाद मैं इतना ही कह सकता हूं कि जब मेरा हृदय तथा श्वास गति करने लगे, तब मैंने अपने को आपरेशन की टेबल पर पाया।' श्री विक्टर सालो लिखते हैं—'सम्भव हो सकता है कि मेरा अनुभव मस्तिष्क की किसी विकृति का परिणाम हो, परन्तु इसमें संदेह नहीं कि जबसे मुझे यह अनुभव हुआ है तब से इस संसार के विषय में सारा दृष्टिकोण बदल गया है और दिनोदिन बदलता जा रहा है। मैंने तथाकथित मृत्यु के समय जो कुछ अनुभव किया उसके प्रति मेरा खिंचाव बढ़ता जा रहा है। मैं इस समय 57 वर्ष का हूं। बाल-बच्चों से घिरा हूं। संसार के सुख-दुःख चारों तरफ है, परन्तु अब मेरा किसी वस्तु से लगाव नहीं रहा, मेरे भीतर से यह अनुभूति जाती ही नहीं यह जीवन किसी अन्य जीवन की यात्रा का एक हिस्सा है।'

श्री रेमांड ए. मूडी ने एक पुस्तक लिखी है जिसका नाम है—Life after life जीवन के बाद जीवन। इस पुस्तक में से कुछ उद्धरण Illustrated weekly of India 5, 12, 19 मार्च, 1977 के अंकों में प्रकाशित हुए हैं। लेखक का कहना है कि उन्होंने 150 ऐसे व्यक्तियों से भेंट की जो चिकित्सकों के निर्णय के अनुसार मर चुके थे, परन्तु कुछ समय मरणावस्था में रहकर फिर जी उठे थे। उन्होंने मृत्यु के बाद क्या होता है—इस विषय पर प्रकाश डाला जिससे इस बात की पुष्टि होती है कि इस शरीर को छोड़ देने के बाद आत्मा अपने को एक ऐसे सूक्ष्म शरीर में पाता है जो इस शरीर के छूटने पर भी वह शरीर नहीं छूटता।

एक व्यक्ति का जो डूब कर जी उठा का उद्धरण देते हुए श्री मूडी लिखते हैं—'मैं 17 वर्ष का था, मेरा भाई एक पार्क में काम करता था। एक दिन हमने तय किया कि हम लोग तैरने चलेंगे। मैं तैरता हुआ मझधार में चला गया। मझधार में जाते ही डूबने लगा, पानी में डूबता चला गया। मुख से बुदबुदे निकलने लगे। मुझे ऐसा लगा कि मैं अपने शरीर से जुदा हो गया, सब संगी-साथियों से अलग, दूर और मैंने देखा कि मेरा शरीर मुझसे 3-4 फीट की दूरी पर पानी में डूबता चला जा रहा है। इस अवस्था में भी जबकि मैं देख रहा था कि मेरा शरीर मेरे साथ नहीं है, मुझे अनुभव हो रहा था कि मेरा कोई शरीर है।'

उक्त पुस्तक में इस प्रकार के अनेक दृष्टान्त दिये गये हैं जिनसे प्रकट होता है कि इस स्थूल शरीर को छोड़ने के बाद हमारी चेतना किसी सूक्ष्म शरीर के साथ बंधी रहती है जो भौतिक होता हुआ भी इतना सूक्ष्म है कि उसे अभौतिक कहा जा सकता है। यह अवस्था ऐसी है जब आत्मा का स्थूल शरीर के साथ सम्बन्ध छूट जाता है, उसका अपना सूक्ष्म शरीर अपने स्थूल को अपने से अलग पड़ा हुआ देखता है। यह सूक्ष्म शरीर ही इस जन्म के कर्मों के संस्कारों को अपने में समेटे हुए जन्म-जन्मान्तर का चक्र लगवाता है। यही सूक्ष्म शरीर पुनर्जन्म का आधार है। और जहां-जहां सूक्ष्म शरीर जाता है वहां उसे आत्मा सर्व व्यापक होने से उसको उससे प्रकाश प्राप्त होता है जैसे विद्युत से ट्रेन को।

थियासोफी के बिशप सी.डब्ल्यू. लीडबीटर ने मृत्यु के बाद जीवन (The life after death) पर कहना है कि मृत्यु कोई हौवा नहीं, बल्कि इसका आगमन देवदूत की भांति होता है जो पूर्ण और उच्च जीवन का द्योतक है। मृत्यु के समय मनुष्य में बिलकुल स्वाभाविक परिवर्तन होता है और उसकी दशा ठीक वही होती है जो मृत्यु के पहले थी।

उसके विचार, बुद्धि, गुण-अवगुण तथा शक्ति उसी प्रकार होते हैं जैसे पहले थे। उसे बाहर से कोई पुरस्कार या दण्ड नहीं मिलता, बल्कि पृथ्वी पर उसके जैसे विचार और कर्म होते हैं उसी के अनुरूप उसका जीवन होता है।

वास्तव में मनुष्य इस पृथ्वी पर अपना बिस्तर जैसा बनाता है सूक्ष्म लोक में उसी पर उसे सोना पड़ता है।

लीडबीटर के अनुसार सूक्ष्म लोक में मृतात्मा का जीवन अनोखा नहीं होता, बल्कि वर्तमान जीवन का ही विस्तार होता है। हम लोग मृतात्माओं से पृथक् नहीं होते, बल्कि वे हमारे चारों ओर सदैव विद्यमान होते हैं।

इस प्रकार देहातीत जीवन है। मृत्यु के पश्चात् जीवन का अन्त नहीं होता वरन् जीवन स्वाभाविक रूप से बना रहता है। इसका संकेत आधुनिक अन्वेषण से मिल रहा है। स्वामी विवेकानन्दजी ने कहा था विज्ञान के प्रकाश में हिन्दू धर्म और भी पुष्ट होगा, यही आज सिद्ध हो रहा है। सूक्ष्म शरीर रूपी सत्ता पुष्ट हो रही है विज्ञान से भी।

मृत्यु के सम्बन्ध में प्रचलित शब्दों पर भी विचार करें तो मृत्यु एक अवस्था विशेष है, जो स्थानान्तर मात्र सिद्ध होता है। पंच तत्त्व को प्राप्त हो गये। नाथ सम्प्रदाय में नाथजी सिद्ध हो गये। दिवंगत (यानी स्वर्गीय) हो गये, वैकुण्ठवासी, कैलासवासी, गोलोकवासी, साकेतवासी, ब्रह्मलीन। इन शब्दों के अर्थ से ही स्वतः स्पष्ट है मृत्यु स्थानान्तर मात्र है। तद्-तद् लोक विशेष का नाम है जो

अपनी-अपनी भावना एवं कर्म के अनुसार प्राप्त होते हैं। यही कारण है जब राम के वियोग में दशरथ प्राण त्याग की सूचना भरत को सीधे-सीधे न देकर माता कैकेयी कहती हैं वे भूपति से सुरपति हो गये। मन में कैकेयी सोचती है। कैकेयी के घर में दीपावली अन्यत्र शोक था। राजतिलक के समय दशरथ जीवित रहेगा तो छाती पीटेगा, भरत को कोसेगा, आंसू बहायेगा। अतः भगवान् ने उठाकर अच्छा ही किया। अन्दर से खुश पर बाहर से कहती है भगवान् ने थोड़ा काम बीच में बिगाड़ दिया है। पर दशरथ तो भूपति से सुरपति हो गये। वे इन्द्र के मित्र और सहयोगी होने से उसके समतुल्य पद पर विराजमान होंगे। अतः मरकर उनका उत्कर्ष हो गया है। फिर श्राद्ध, तर्पण, पिण्ड दान आदि की क्रिया भी सिद्ध करती है कि देह त्याग के पश्चात् अपने-अपने कर्मों एवं भावना के अनुसार लोक-लोकान्तर को प्राप्त हुए हैं। सचमुच में हमारी सत्ता मृत्यु से समाप्त हो जाती तो इन कृत्यों का कोई औचित्य शेष नहीं रहता। त्रिकालदर्शी ऋषि झूठे नहीं हो सकते।

मात्रा-स्पर्शास्-तु कौन्तेय, शीतोष्ण-सुख-दुःखदाः।
आगमा-पायिनोऽनित्यास्,-तांस्-तितिक्षस्व भारत।। 2/14

हे कुन्तीपुत्र! सर्दी-गर्मी और सुख-दुःख को देने वाले इन्द्रियों और विषयों के संयोग तो आने-जाने वाले (और) अनित्य हैं, (अतः) हे भारत (अर्जुन)! उनको (तू) सहन कर।

यं हि न व्यथयन्त्येते, पुरुषं पुरुषर्षभ।
सम-दुःख-सुखं धीरं, सोऽमृतत्वाय कल्पते।। 2/15

क्योंकि हे पुरुष-श्रेष्ठ! सुख और दुःख को समान समझने वाले जिस धीर पुरुष को ये (इन्द्रियों और विषयों के संयोग) व्याकुल नहीं कर पाते, वह मोक्ष का अधिकारी होता है।

सिद्धान्त कथन के साथ-साथ उसकी प्राप्ति, उपलब्धि का साधन भी बताते जाते हैं। सिद्धान्त कथन कि आत्मा ही शाश्वत सत्य होने से प्राप्तव्य है शरीर अनित्य और कर्म फल से बंधा हुआ है। हमारा प्राप्तव्य लक्ष्य है आत्म तत्त्व की, अपने स्वरूप की, पूर्णता की, आनन्द की प्राप्ति। इसकी प्राप्ति के लिए हम देखेंगे कि उपनिषदों के ऋषि-मुनि स्वयं नारदजी ज्ञानी गुरुओं के पास जाते हैं। नचिकेता स्वयं यमराज के पास जाते हैं अमरत्व का रहस्य पाने के लिए। याज्ञवल्क्य मैत्रेय सम्वाद, याज्ञवल्क्य गुरुकुल के कुलपति थे। 10 हजार विद्यार्थी पढ़ते थे। एक हजार आचार्य थे। वे जब संन्यास लेकर जाने लगे और दोनों पत्नियों में सम्पत्ति का बंटवारा करने लगे, तब मैत्रेयी ने पूछा—आप धन-सम्पत्ति छोड़कर क्यों जा रहे हैं? क्या इसमें सुख-शान्ति नहीं है। इसमें सुख-शान्ति नहीं है तो मुझे क्यों दे

रहे हो, मुझे भी वह विद्या देवें जिसे पाने के लिए यह सब त्याग कर जा रहे हैं। तब याज्ञवल्क्यजी ने बताया—इसमें स्थायी सुख-शान्ति, समाधान नहीं है। एक बार भोजन करते हैं 5-6 घण्टे की सुख-शान्ति मिलती है। अच्छे व मन-पसन्द वस्त्रों से भी मन कुछ दिन में उकताने लगता है। पुनः नये वस्त्र चाहिए, अच्छे मकान से भी मन उकताने लगता है, मन-पसन्द मकान में कमियां दिखने लगती है। संसार ही जब अनित्य है, जड़ रूप है, दुःख रूप है तब वह स्थायी सुख-शान्ति कहां से दे सकता है। जो उसके स्वरूप में ही नहीं है वह कहां से दे सकता है। इसलिए तो मैं संन्यास लेकर जा रहा हूं, फिर उन्होंने आत्म स्वरूप पर उपदेश किया जो शाश्वत है, आनन्द स्वरूप है, जिसका आनन्द कभी म्लान पड़ने वाला नहीं।

अतः भारतीय दर्शन की समस्या और लक्ष्य अमरत्व की प्राप्ति है जो उसका वास्तविक स्वरूप है, उसी की प्राप्ति का साधन भगवान् बता रहे हैं।

फिर किसी से बड़ा काम लेना होता है तो उसे कुल परम्परा की—उसकी मातृ कुल परम्परा, पितृ कुल परम्परा की याद दिलायी जाती है। कौन्तेय कह कर कुन्ती के श्रेष्ठ चरित्र का, कर्तव्यपरायण स्वरूप का, प्रमाद में भी मिथ्या न बोलने वाले स्वरूप का, दुर्वासा जैसे क्रोधी, क्षण में रुष्ट होने वाले को अपनी सेवा से प्रसन्न कर वरदान पाने वाले स्वरूप का। इसी आधार पर द्रौपदी पांच पतियों की पत्नी बनी, माता की आज्ञा से युद्ध स्वीकारने वाले, फिर जेठ-जेठानी की सेवा के लिए उनके साथ वन में चले जाने वाले महान् स्वरूप की याद दिलवाते हैं। वैसे ही भरतवंशी कहकर महान् पितृ कुल की याद दिलाते, जिसके नाम से इस देश का नाम भारत पड़ गया। इतने प्रतापी, यशस्वी, चक्रवर्ती सम्राट हुए जिन्होंने बचपन में खेल—खिलौने से नहीं, सिंह शावकों से खेलने वाले, उनके दांत गिनने वाले। भारत में पत्नी को, मां को उसके नाम से नहीं पुत्र के नाम से, यशस्वी बड़े पुत्र के नाम से पुकारा जाता है। भरत पूरे देश के यशस्वी पुत्र होने से इस देश का नाम भारत पड़ गया।

हनुमानजी को सीता की खोज के लिए लंका जाने के लिए प्रेरित करते समय जामवंत उनके यश का, उनके कार्यों का बखान करते हैं कि तुमने किस प्रकार सूर्य को फल समझकर खा लिया था।

इन दोनों श्लोकों में समत्व की महिमा को बतलाया गया है। श्रीमद्भगवद्गीता के प्रधान प्रतिपाद्यों में समत्व है। गीता में योग की तीन परिभाषाएँ दी गई हैं उसमें से एक है—'**समत्वंयोग उच्यते**' 2/48 समत्व जो है वही योग है।

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मयणि ते स्थिताः।। 5/19

जिनका मन समत्वभाव में स्थित है, उन्होंने यहीं इसी जन्म में, अपनी जीवित अवस्था में ही संसार जीत लिया है। चूँकि परब्रह्म (सभी) दोषों से रहित और (सबमें) समान है, इसलिए वे (समदर्शी पुरुष) ब्रह्म में ही अवस्थित हैं।

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः। 9/29

मैं सब प्राणियों में सम हूं। मेरा न कोई (द्वेष्य) है और न (कोई) प्रिय है।

यह भगवान् की उक्ति है। सम वास्तव में कौन है? भगवान् हैं। 'समोऽहं सर्वभूतेषु' भगवान् हैं। तो समत्व को प्राप्त करना माने भगवान् की प्राप्ति करना है। यह जो समत्व प्राप्त कर लेने की बात है यह गीता के प्रधान प्रतिपाद्यों में से एक है।

कर्मयोग के सन्दर्भ में स्वधर्म पालन के लिए समत्व को सबसे बड़ा योग बताया है।

'**समत्वंयोग उच्यते**' 2/48 इसके अभाव में स्वधर्म का पालन सम्भव नहीं है।

इन्द्रियों द्वारा विषयों की जो शीत-उष्ण, अनुकूल-प्रतिकूल, प्रिय-अप्रिय, सुखद-दुःखद अनुभूतियां होती है, उससे मन चंचल हो उठता है। कर्तव्यपरायणता के लिए यह अत्यावश्यक है कि इन सब विपरीत अनुभूतियों के मनोविकारों में कर्तव्य-परायण व्यक्ति अपने मन को सम बनाये रखे। राजस्थान के मरुस्थल में और लद्दाख की बर्फानी चोटी में मन को सम रखकर ही कर्तव्य पालन हो सकता है तभी कर्मयोगी कहलाता है। यदि अनुकूल जलवायु और प्रतिकूल जलवायु हमारे कर्तव्यपालन में कोई अन्तर नहीं डाल सकता तभी सच्चा कर्मयोग है। महलों के राजसी भोग और जंगलों की घास की रोटी दोनों में सम रहकर ही मेवाड़ की स्वाधीनता की लड़ाई चालू रख सकता है, तभी सच्चा कर्मयोगी है। अनुकूल का कर्मी और प्रतिकूल में कामचोर सच्चा कर्तव्यपरायण नहीं हो सकता। स्वधर्म पालन नहीं कर सकता।

मात्रा-स्पर्शास्-तु कौन्तेय, शीतोष्ण-सुख-दुःखदाः।
आगमा-पायिनोऽनित्यास्,-तांस्-तितिक्षस्व भारत।। 2/14

यं हि न व्यथयन्त्येते, पुरुषं पुरुषर्षभ।
सम-दुःख-सुखं धीरं, सोऽमृतत्वाय कल्पते।। 2/15

अतः तितिक्षु सम दुःख सुखं धीरं ही सच्चा कर्मयोगी बन सकता है, अपना स्वधर्म पालन कर सकता है।

अनुकूल प्रतीति से मन को सुख और प्रतिकूल की प्रतीति से दुःख होता है। लोभ से मनुष्य को उसी लाभ को पुनः-पुनः प्राप्त करने का लोभ बढ़ता है, हानि

से कर्म में निराशा आ जाती है। जय से उत्साह बढ़ता है। पराजय से उत्साह भंग हो जाता है। सच्चे कर्मयोगी को सुख-दुःख, हानि-लाभ, जय-पराजय में सम रहना पड़ता है, तभी वह स्वधर्म पालन कर सकता है।

सुख-दुःखे समे कृत्वा, लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व, नैवं पाप-मवाप्स्यसि।। 2/38

सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजय को समान समझकर तू युद्ध के लिए तैयार हो जा। इस प्रकार (युद्ध करने से) तू पाप को प्राप्त नहीं होगा।

इस प्रकार बिना समत्व में स्थित हुए हम स्वधर्म का पालन नहीं कर सकते, कर्मयोगी नहीं बन सकते।

वैसे ही बिना समत्व के हम सच्चे भक्त भी नहीं बन सकते और न ही भगवान् के प्रिय ही हो सकते हैं।

समत्व को हृदयंगम करने के लिए कुछ बातों को समझ लेना आवश्यक है—

सृष्टि का मूल विषमता है। प्रकृति त्रिगुणात्मिका है। इन तीनों गुणों में जब वैषम्य उपस्थित होता है तब सृष्टि होती है। विषमता पर्यन्त ही सृष्टि का अस्तित्व है। तीनों गुणों की साम्यावस्था में सृष्टि सम्भव नहीं। जब कोई अपने अन्दर तीनों गुणों में समता स्थापित कर लेता है तब मुक्त हो जाता है। अतः निरी भौतिकता के आधार पर मार्क्सवाद के आधार पर कभी भी समता स्थापित नहीं हो सकती है। क्योंकि सृष्टि का मूल बीज ही विषमता है। सबका शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, नैतिक एवं अध्यात्मिक विकास का स्तर अलग-अलग है। आत्मा के आधार पर ही समता स्थापित हो सकती है। आत्मभाव को धर्म ही जागृत करता है और जैसे-जैसे आत्मीयता के क्षेत्र का विस्तार होता जाता वैसे-वैसे इसमें त्याग की भावना बलवती होती है। तभी हम अपनी योग्यतानुसार कार्य करते हैं। और आवश्यकतानुसार समाज से ग्रहण करते हैं जैसा कि पारिवारिक जीवन में, सामाजिक एवं राष्ट्रीय जीवन में एवं संन्यासी के जीवन में होता है। अतः समता आत्मा के आधार पर, गीता व उपनिषद्, वेदान्त के आधार पर ही हो सकती है। मार्क्सवाद के अनुसार जो समता लाने का प्रयास करते हैं, उसका हाल रूस जैसा होने के लिए बाध्य है।

संसार में मीठा-मीठा हब और कड़वा-कड़वा थू-थू यह नहीं चल सकता। सृष्टि में द्वन्द्व सदैव जोड़े के रूप में रहते हैं। केवल सुख या केवल दुःख, या केवल संयोग या केवल वियोग नहीं रह सकता। शीत-उष्ण, संयोग-वियोग सदैव जोड़े के रूप में रहता है। सृष्टि पर्यन्त द्वन्द्व बने ही रहते हैं।

सृष्टि का चक्र प्रकृति के नियमों के अनुसार भूगोल के नियम के अनुसार घूमता है, आप-हम की इच्छानुसार नहीं। ऋतु चक्र के अनुसार सर्दी-गर्मी, वर्षा आयेगी ही। सृष्टि को हम अपनी व्यक्तिगत आवश्यकता या मन के अनुसार नहीं चला सकते पर उसके अनुकूल स्वयं को ढालकर उसके दुःखपूर्ण प्रभावों से बच सकते हैं। हम संसार के सारे कांटों को दूर नहीं कर सकते पर स्वयं के पैर में जूता डालकर उनसे बच सकते हैं। वैसे प्रकृति चक्र के द्वन्द्वों से बचने का उपाय गीता बताती है—विवेकपूर्वक सहन करना।

न तो साधनों का अम्बार लगाकर इसे जीता जा सकता है और न विज्ञान की सहायता से प्रकृति को इतना पालतू ही बनाया जा सकता है कि वह पग-पग में हमारी आज्ञाओं का पालन करे। और जिसने साधनों का अम्बार लगाकर प्रकृति को जीतने का प्रयास किया है तो उन्हें शेष जीवन में उसका परिणाम भोगना पड़ता है। जिसने घर, ऑफिस, गाड़ी को Air Condition बना लिया बाद में डॉक्टर कहता है सूर्य का प्रकाश शरीर पर डालो। जो जीवन भर पैदल नहीं चलते हैं उन्हें शेष जीवन में स्वस्थ रहने के लिए डॉ. पैदल चलने की सलाह देता है।

जब तक देह है तब तक इन्द्रियों का अपने विषयों से संयोग होगा ही। इसे कोई रोक नहीं सकता। आंखें हैं तो देखेंगी ही, कान हैं तो सुनेंगे ही, नाक है तो गंध लेगा ही, शरीर है तो भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी, समय पर काम विकार उत्पन्न होगा ही और अगर नहीं होता है तो अस्वस्थता है। उसके लिए हम डॉक्टर की शरण लेते हैं।

सहिष्णुता की सीमा के अन्दर विषय से इन्द्रिय का संयोग सुखद एवं सीमा का अतिक्रमण करने से प्राप्त विषय का संयोग दुःखद हो जाता है। जैसे सहिष्णुता की सीमा के अन्दर उष्णता प्राप्त हो तो सुखप्रद अन्यथा दुःखद। सहिष्णुता की सीमा में भोजन, जल, अग्नि, वायु जीवन है, अन्यथा दुःखद एवं मृत्यु का कारण भी बन सकते हैं।

एक ही विषय एक परिस्थिति में सुखदायी है तो दूसरी परिस्थिति में वही कष्टदायक बन जाता है। जैसे सिनेमा हॉल में पीछे बैठना सुखदायी है एवं नाटक में आगे।

मन की एक वृत्ति में जिस वस्तु, व्यक्ति या परिस्थिति से सुख मिलता है वहीं मन की वृत्ति बदल जाने से उसी वस्तु, व्यक्ति या परिस्थिति के प्रति घृणा या दुःख की अनुभूति होती है।

द्वन्द्व भी मूलतः दो प्रकार के हैं—

एक तो माँ के गर्भ से ही जन्म से ही लेकर उत्पन्न होते हैं जैसे—भूख-

प्यास, सर्दी-गर्मी और यह जीवन पर्यन्त रहने वाले हैं। इसका निवारण यथायोग्य आहार-विहार-वस्त्र के द्वारा करें एवं थोड़ा सहने का अभ्यास भी आवश्यक है।

कुछ द्वन्द्व शरीर के विकास, मन व बुद्धि के विकास से उत्पन्न होते हैं यथा वित्तैषणा, पुत्रैषणा एवं लोकैषणा। इसका निवारण शास्त्र की, धर्म की मर्यादा में रहते हुए उसकी पूर्ति कर करें और फिर उससे ऊपर उठ जायें।

और कुछ द्वन्द्व अविवेक के कारण उत्पन्न होते हैं उसे विवेक का स्तर बढ़ाकर उस पर नियन्त्रण पा सकते हैं। अब श्लोक देखें—

अनुकूल प्रतीति से मन को सुख और प्रतिकूल की प्रतीति से दुःख होता है।

सुख-दुःख हमारे अपने पाप-पुण्यों के आधार पर प्राप्त होता है—देवों का शरीर पुण्य के प्रभाव से, पशुओं का शरीर पाप के प्रभाव से और मनुष्य का शरीर पाप-पुण्य दोनों के मिश्रण से प्राप्त होता है। सुख-दुःख हमें प्रारब्धानुसार प्राप्त होता है। दुःख आता है तो समझें पूर्वकृत पापों का क्षय हो रहा है, सुख आता है तो समझें पुण्यों का क्षय हो रहा है।

सुखस्य दुखस्य न कोऽपि दाता
परोददातीति कुबुद्धिरेषा।
अहं करोमि वृथाभिमानः
स्वकर्म सूत्रे ग्रथितो हि लोकः।।

काहु न कोऊ सुखदुख कर दाता। निज कृत करमभोग सबु भ्राता।।
मानस 2/91/4

कोई दूसरा सुख-दुःख दे रहा है, यह कुबुद्धि है। सब अपने पूर्वकृत कर्मों का फल प्रारब्ध बनकर सामने आता है। गीता के दूसरे अध्याय के 14 व 15, 38 व 56वें श्लोक में इस भाव से मुक्त होने अर्थात् उनसे ऊपर उठने का उपदेश है।

सुख-दुःख चक्राकार घूमता रहता है। सदैव न तो किसी का सुख ही बना रहता है। न सदैव किसी का दुःख ही बना रहता है। कालिदास कहते हैं—

कस्यात्यन्तं सुखमुपनतं दुःखमेकान्त को वा।
नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमैण।।

अर्थात् किसे केवल सुख या दुःख मिला है। जैसे रथ का पहिया ऊपर-नीचे होता रहता है, वैसे ही कभी सुख कभी दुःख। कभी सुख कभी दुःख आता-जाता रहता है। चाणक्य कहते हैं—

कस्यः दोषकुले नास्ति व्याधिना को न ताडितः।
व्यसनं केन न प्राप्तं कस्य सौख्य निरन्तरम्।।

अर्थात् किसके कुल में दोष नहीं है? कौन रोग से पीड़ित नहीं होता? किसे कष्ट नहीं हुआ? किसका सुख सदा रहता है? दुनिया की ओर देखें तो हम पायेंगे हमसे कितने बड़े-बड़े दुःखी हैं। इससे दुःख दूर होगा, दुःख कम होता है। दुःख की अपेक्षा सुख की प्राप्ति अधिक पर व्याप्ति कम। दुःख की प्राप्ति कम। पर राई के बराबर दुःख को मन की कल्पना से पहाड़ के तुल्य बना लेते हैं। सुख चारों अवस्था में प्राप्त होता है। दुःख केवल दो ही अवस्थाओं में प्राप्त होता है। राम का वनवास मात्र 14 वर्ष पर राज्य उससे बहुत अधिक, पाण्डवों का वनवास 13 वर्ष का पर राज्य 36 वर्ष। नल को कलि से प्राप्त कष्ट मात्र तीन वर्ष।

संसार में मीठा-मीठा हब व कड़वा-कड़वा थू यह नहीं चल सकता। अगर हम लाभ चाहेंगे तो हानि अवश्य प्राप्त होगी। अगर संयोग चाहते हैं तो वियोग अवश्य ही प्राप्त होगा। जो वियोग का कष्ट नहीं सह सकते उन्हें स्वयं को मीठे-मीठे संयोग का पक्षधर नहीं बनाना चाहिये। सब सुख अन्ततोगत्वा दुःख में बदल जाता है, सब संयोग वियोग में बदल जाता है, लाभ हानि में बदल जाता है, सब जीवन बुढ़ापे में बदल जाते हैं। बुढ़ापा मृत्यु में और मृत्यु अनेक दुःखदायी जन्मों में बदल जाती है। संसार में सभी कुछ अस्थायी, क्षणिक, परिवर्तनशील है। अतः संसार को असार जानकर इससे विचलित न होवें। इसमें सम बने रहें। जिस भगवान् ने सृष्टि की रचना की है वे ही स्वयं साक्षी दे रहे हैं—जगत् जो है वह अनित्य, अशाश्वत एवं दुःखों का आलय है। जो स्वयं अनित्य है वह स्थायी, नित्य सुख कैसे दे सकता है। जो स्वयं ही दुःख रूप है वह कैसे हँसा सकता है, वह तो रुलायेगा ही। जगत् की सभी वस्तुएं अयोग के गर्भ से टपकती हैं अतः वियोग रूपी गर्त में समाने के लिए बाध्य हैं।

सर्प फूफकार कर कहता है मैं काल हूं, किन्तु मनुष्य उसको फँसाकर सब्जी बनाकर खाता है। करेला कहता है मैं कड़वा हूं, मनुष्य कहता है मेरे पास आग-पानी मसाला है। नीम कहता है मैं कड़वा हूं, मनुष्य कहता है मैं तेरी चटनी बनाकर खाऊँगा। गन्ना कहता है मैं डण्डा हूं। जीव कहता है मैं तुझे चूस लूँगा। जगत् कहता है, मैं दुःख रूप हूं, जीव कहता है मैं तुझे पचा लूँगा। जगत् कहता है—मैं अनित्य, अशाश्वत, दुःखों का आलय हूं, पर जीव कहता है, मैं अविद्या, राग-द्वेष, अस्मिता अभिनिवेश, कर्मविपाक में ढालकर जगत् को भोग्य बना लूँगा। इस प्रकार दुःख रूप अनित्य जगत् को, इन साधनों से सुख रूप बनाकर पचा लेता हूं। जैसे कुत्ता विष्ठा को आनन्द का विषय बना लेता है।

वास्तव में सुख-दुःख में भेद नहीं है। मंद प्रकाश में रस्सी किसी को सर्प और किसी को सुनहरी माला दिखती है, पर सर्प और सुनहरी माला में तत्त्वतः कोई भेद

नहीं है, दोनों ही रस्सी ही हैं। इसी प्रकार सुख-दुःख भी अभिन्न हैं। जो मल आपके लिए अप्रिय है, वह कुत्ते का आहार बन जाता है। वह धरती के लिए खाद, नाली के कीड़े के लिए, पाखाने के कीड़े के लिए वही स्वादु आहार है। माघ माह की शीत में ठण्डे जल से स्नान से प्रथम में कंपकंपी, दांत कटकटाना पर बाद में इसका तांता बंध जाना आदतवशात और उसी में सुख मिलने लगता है। वृन्दावन जाते समय अभी-अभी वैधव्य को प्राप्त माता जो पुत्र का सहारा लेकर रोते हुए जा रही है, पहले रोना कष्ट के कारण, बाद में रोने में ही सुख प्राप्त होने लगता है। निषेध करने पर ज्यादा रोने लगती है, क्योंकि रोने का अवसर न मिले तो कष्ट बढ़ जाता है, रोने से मन हलका हो जाता है। अपना दुखड़ा सुनाने में, बढ़ा-चढ़ाकर बताने में भी बड़ा आनन्द आता है। अगर कोई अपना दुखड़ा सुनाने वाला न मिले तो हम दुःखी हो जाते हैं। अतः रोना अपना कष्ट सुनाना भी बहुत बार आवश्यक हो जाता है, क्योंकि उससे दुःख सारा बाहर निकल जाता है नहीं तो भीतर घुटन बनी रह जाती है। इसलिए चिकित्सक कहते हैं उसे रुलाओ जो किसी हादसे में सुन्न हो जाता है या रोने का अवसर नहीं मिला हो तो उसके लिए रोने का अवसर बना देवें।

इस बात पर ध्यान देवें हम सुखी कब होते हैं? दुःखी कब होते हैं? सुखाकार वृत्ति आती है तो हम सुखी, दुःखाकार वृत्ति आती है तब हम दुःखी। सुख के हेतु आते जाते रहते हैं। सुख के हेतु सबके जीवन में हैं, दुःख के हेतु सबके जीवन में हैं और रहेंगे। जब सुख के हेतु आयेंगे तो थोड़ी देर के लिए सुखाकार वृत्ति हो जाएगी, जब दुःख के हेतु आएंगे तो थोड़ी देर के लिए दुःखाकार वृत्ति हो जायेगी। वृत्ति माने वर्तनशील, परिवर्तनशील। सुखाकार वृत्ति भी बराबर नहीं रहती, दुःखाकार वृत्ति भी बराबर नहीं रहती। वृत्ति का मतलब है जो बदलती रहे, जो बरतती रहे। जो स्थिर न रहे। अभी हममें सुख की वृत्ति है तो सुखी हैं। दुःख की वृत्ति आई दुःखी हो गये। काम की वृत्ति आई कामी हो गये, लोभ की वृत्ति आयी लोभी हो गये। अभिमान की वृत्ति आयी अभिमानी हो गये। ज्ञान की वृत्ति आई, ज्ञानी हो गये। इसी आधार पर जब भी दुःखाकार वृत्ति आयेगी, तब अपनी परिभाषा से ही वह थोड़े समय रहेगी फिर चली जायेगी। हम श्मशान में भी लोगों को हंसते हुए देखते हैं, एक तरफ चिता जल रही है दूसरी तरफ लोग हंस रहे हैं, राजनीति की चर्चा कर रहे हैं, चाय पी रहे हैं। इस प्रकार वृत्ति वर्तनशील होती है। शोक की स्थिति बदल जाती है।

मनुष्य सुखी-दुःखी कब होता है? जब वह अपने सुख या दुःख को स्वीकृति देता है। जब हम अपने को सुख से जोड़ लेते हैं। सुख-दुःख आभास भाष्य नहीं है, ये साक्षी भाष्य हैं। इस बात को समझें। यह जो सामने माइक है यह आभास भाष्य है। यह माइक मुझको भी दीख रहा है, आपको भी दीख रहा है। अगर हम लोग ना कहेंगे तो क्या यह माइक नहीं रहेगा? लेकिन सुख-दुःख यह साक्षी भाष्य

है। अगर अपनी गवाही दूं कि मैं सुखी हूं, तो मैं सुखी हूं। मैं गवाही देता हूं कि मैं दुःखी हूं तो मैं दुःखी हूं। जिन स्थितियों में एक व्यक्ति बहुत सुखी है, उन्हीं स्थितियों में दूसरा व्यक्ति बहुत दुःखी हो सकता है। जिन स्थितियों में एक दुःखी है उन्हीं स्थिति में दूसरा व्यक्ति सुखी है। सुख और दुःख केवल एक वृत्ति नहीं है। सुख और दुःख अपने द्वारा उस वृत्ति को स्वीकृति देना है। अगर उसको हम अपनी स्वीकृति नहीं देते हैं, उसके साथ हम अपना अहं न जोड़ें। जब उसके साथ हम अपना अहम् जोड़ देते हैं, तभी सुखी-दुःखी होते हैं। और अपनी स्वीकृति देना बंद कर दें तो काहे के सुखी, काहे के दुःखी।

सुख-दुःख या द्वन्द्वों की प्राप्ति एवं व्याप्ति अहं पर्यन्त ही है। जब सुषुप्ति में अहं सो जाता है या अहं को चिकित्सा में सुविधा के लिए कृत्रिम उपाय से सुला देते हैं, समाधि में अहं विस्मृत हो जाता है और तत्त्वज्ञान में अहं बाधित हो जाता है। उस अवस्था में द्वन्द्वों की व्याप्ति नहीं होती है। तत्त्वज्ञान प्राप्त होने पर प्रारब्ध पर्यन्त शरीर तो रहता है, द्वन्द्वों की प्राप्ति तो होती है पर व्याप्ति नहीं क्योंकि अहं तत्त्वज्ञान से बाधित हो चुका है। इसलिए तो रामकृष्णदेव के गले में कैंसर पर उन्हें कष्ट व्याप्त नहीं हुआ। रमण महर्षि को भी विष फोड़ा हुआ पर अन्त तक उनका मन अप्रभावित एवं अविचलित रहा।

इनके लिए सुख-दुःख आते हैं रंगमंच पर, अपनी भूमिका दिखाकर, अपना अभिनय दिखाकर चले जाते हैं, इससे वे अपना सम्बन्ध नहीं जोड़ते। फलतः व्याप्त नहीं हो पाते।

'समः' सम माने समान। सबमें समान कैसे होगा? तो सम होने का सूत्र देते हैं—'सङ्गविवर्जितः' यह सम होने का सूत्र है। सङ्ग माने चिपक जाना, आसक्ति। जो आसक्ति रहित है वही सबमें समान है। जिसकी आसक्ति सुख में है तो वह दुःख में दुःखी होगा ही। जिसकी आसक्ति मान में है वह अपमान से दुःखी होगा ही। अनासक्त होने का सबसे अच्छा उदाहरण दर्पण है। शीशा है आप देखिये। शीशे का लक्षण है जो शीशे के सामने खड़ा होगा उसको ज्यों-का-त्यों प्रतिबिम्बित कर देगा। और शीशे के सामने से हट जाओ तो शीशे में कुछ रहता है? कुछ नहीं, साफ। सामने जो कर्तव्य कर्म है पूरी लगन से उसको किया। हो गयी छुट्टी। भूल ही गये। तो यह 'सङ्गविवर्जितः' सूत्र है जिसके आधार पर समत्व की प्राप्ति होती है। जब तक अनासक्ति नहीं होगी तब तक समता नहीं आयेगी।

ज्ञान, भक्ति और वैराग्य ऊपर से लादा नहीं जा सकता—सबको स्वयं की बोध की प्रक्रिया से गुजरना पड़ता है। एक वैद्यजी ने अपने पुत्र को समझाया संसार में सार नहीं है, इसमें मत पड़ो। भगवत भक्ति में लगो। अब तक की कमाई के ब्याज से

खाना-पीना जीवन भर चल जायेगा। पर पुत्र तैयार नहीं। यह बोध आपको होने से मैं आता ही कहां से? अतः वैराग्य अपने विवेक की उपज होनी चाहिये।

और मृत्यु के समय तक तृष्णा घटने के स्थान पर बढ़ती जाती है। भर्तृहरिजी ने सुन्दर दृष्टान्त दिया है कि सर्प के मुंह में मेढक, मेढक के मुंह में मक्खी, मक्खी के पास मल और मल में बैठने के लिए मक्खी का मन मचल रहा है। इस तरह संसार में हम मदमस्त हैं। एक उदाहरण विदुरजी महाभारत में देते हैं।

महाभारत में स्त्रीपर्व में विदुर ने धृतराष्ट्र से कहा है—दुनिया एक बियाबान है। जीवन उसमें एक जंगल के समान है। बीमारियां इस जंगल में शेर, चीते, भेड़िये आदि हैं। बुढ़ापा मनुष्य के गले से चुड़ैल की तरह लटक रहा है। इससे बचने के लिए मनुष्य भागता हुआ एक गहरी कन्दरा के किनारे, अर्थात् शरीर में, आ गिरता है। इस कन्दरा में वह सिर नीचा करके लटक जाता है। कन्दरा के किनारे पर बहुत-सी झाड़ियां उगी हुई हैं (ये झाड़ियां विषय हैं)। पास में छह मुँह (अर्थात् छह ऋतु) और बारह टांगों (अर्थात् बारहमास) वाला एक हाथी (अर्थात् वर्ष) मनुष्य को मारने के लिए खड़ा है। जिस शाखा के सहारे मनुष्य लटक रहा है उसे दो चूहे एक सफेद और दूसरा काला (अर्थात् दिन और रात), काट रहे हैं। कन्दरा के अन्दर एक काला नाग (अर्थात् काल) मुंह खोले पड़ा है। इन झाड़ियों में शहद का एक छत्ता है जिससे एक-एक बूंद शहद नीचे टपकती है। यह बूंद मनुष्य के मुंह में पड़ने पर उसे ऐसी मीठी लगती है कि वह सभी मुसीबतों और खतरों को भूल जाता है। यह बूंद तृष्णा को और भी बढ़ा देती है। प्यास के बढ़ने से पहले से ज्यादा दुःख होने पर भी इस मिठास की आशा से वह शहद की ओर टकटकी लगाये रहता है। उसे जीने की लालसा बनी रहती है।

चींटी, बिच्छू, विष फोड़ा का जलन भी हमें सहन है उसको आराम से हम सह ही नहीं रहे हैं मचल रहे हैं जैसे बन्दर तो स्वभाव से चंचल है, फिर उसे बिच्छू ने डस लिया और उस पर किसी ने शराब पिला दे तो उसकी चंचलता कितनी बढ़ जाती है वैसे ही हम मानवों की अवस्था है।

संसार के इस रूप का विचार करने पर उसका पर्यवसान तीन में ही होना चाहिये- वैराग्य, ज्ञान एवं भक्ति में। इसलिए तुलसीदास कहते हैं—

मन तो तहं जह रघुपति
तुलसीदास हरि गुरु कसना बिनु
विमल विवेक न होई
बिनु विवेक संसार
घोर निधि पार न पावे कोई।

संसार की दुःखद से दुःखद घटना का पर्यवसान वैराग्य, ज्ञान और भक्ति में होना चाहिये। बुरी घटना से संसार के प्रति वैराग्य को पुष्ट कर भगवान् में अनुरक्ति पैदा करें। कोई सुखद घटना का पर्यवसान सीधे भगवान् की अनुरक्ति में होना चाहिये। अतः संसार की अप्रिय से अप्रिय घटना का पर्यवसान संसार के प्रति यथार्थ या वास्तविक ज्ञान में होकर संसार से विरक्ति, ज्ञान एवं मुक्ति के प्रति अनुरक्ति में होना चाहिये। अतः विवेकी का संसार कुछ बिगाड़ नहीं सकता है वह तो उसका पर्यवसान ज्ञान, वैराग्य व भक्ति में कर लेता है।

जगत् अनित्य है कह कर पलायन करने से भी नहीं चलेगा। इस द्वन्द्वमय जगत् में निर्द्वन्द्वता की स्थिति प्राप्त करें। द्वन्द्व की उपस्थिति में निर्द्वन्द्वता प्राप्त हो सकती है और उसकी सार्थकता है। क्रोध का वातावरण ही न हो (जैसे जंगल में) तब क्रोध जय का अर्थ; कर्मेन्द्रियों में काम का वेग हो तभी काम जय का महत्त्व है। इस प्रकार जाग्रतावस्था में चित्त की समता आवश्यक है। क्योंकि जाग्रतावस्था ही पुरुषार्थ भूमि है। अहम् भूमि है। जाग्रतावस्था में प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, स्मृति, निद्रा पांचों वृत्ति कायम रहती है। स्वप्न में भी। सुषुप्ति में चार वृत्तियों का अभाव सिर्फ निद्रा वृत्ति रहती है। समाधि में पांचों वृत्तियां निरुद्ध हो जाती है। सिर्फ द्रष्टा या साक्षी होकर रहता है। अतः जाग्रतावस्था में पांचों वृत्तियों की उपस्थिति में शरीर कर्मेन्द्रियां सक्षम रहने तक ही में इन पर नियंत्रण एवं समता प्राप्त करना है और सम ही ब्रह्म है।

इससे वर्तमान और भविष्य, लोक और परलोक दोनों ही सध जाता है। पर जो कम्युनिस्ट, नास्तिक चार्वाकवादी हैं उनके मन में जीवन (यानी इस शरीर छूटने के बाद) के बारे में कोई संकल्प-विकल्प नहीं होता। अतः वह बहुत ही निश्चिंत एवं धैर्यवान है। भविष्य के बारे में कोई मनोराज्य भी प्राप्त नहीं होता। शरीरोपरान्त स्वर्ग जाऊंगा या नरक आदि की कल्पना नहीं, पुनर्जन्म का भय नहीं। इस प्रकार नास्तिक भविष्य के बारे में निश्चिंत होता है। पर मृत्यु पर्यन्त निश्चिंत रह पाता है या नहीं कहना कठिन है। क्योंकि उन्हें मृत्यु के पूर्व बड़ा मनोवैज्ञानिक क्लेश प्राप्त होता है। अब अपनी सुरक्षा के लिए किसे कहे? नेहरू, माओ, संदेहवादी ह्यूम को बड़ा कष्ट हुआ, फिर उन्हें डर होता है जीवनभर तो ईश्वर को माना नहीं, अब कहीं ईश्वर निकल आवे तो। जीवनभर ईश्वर के लिए कुछ किया नहीं और न जीवन को शुद्ध रखा, मनमानी की। क्योंकि जीवन को शुद्ध रखने का दो ही आधार है या तो ईश्वर का भय या मृत्यु का भय मानें। एकनाथजी ने स्पष्ट किया उनके शुद्धाचार का रहस्य मृत्यु का भय है, सदैव मृत्यु को स्मृति में रखते हैं एवं यही बात जनक ने शुकदेव से कही। इसलिए राज भोग में रहने के बाद भी उनसे अलिप्त हैं। अप्रभावित हैं।

पर वर्तमान के विषय में निश्चिंत हो जाये तो वह सिद्ध ओलिया हो जाये, पर यह सम्भव नहीं। क्योंकि इसके लिए साधना, जीवन की शुद्धता अपेक्षित है।

जीवनमूल्यों का बंधन नहीं होने से वर्तमान का दुरुपयोग करके लोक भी बिगाड़ देते हैं, परलोक तो बिगड़ा है ही। कम्युनिस्टों के नास्तिक विचार से उनका कैसे पतन होता है उसका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करके देखें कि कम्यूनिज्म असफल क्यों हो गया? डार्विन ने भी जड़ विकासवाद से नैतिकता की हानि को स्वीकार कर अपने जीवन में सुधार कर लिया था।

फिर संसार के जिन विषयों को भोगने से मनुष्य को इन्द्रिय तृप्ति या मनोरंजन होता रहता है उनके मात्र बढ़ जाने पर मनुष्य का मन उकता जाता है और कई बार उनसे घृणा हो जाती है। दिन भर मधुर सुरीले गानों के रिकार्ड सुन-सुन कर भी मन उकता जाता है। बंद करो राग-रागिनियां मुझे शांति चाहिये। मनुष्य जब अपने आप में होता है तब अपने भीतर से बड़ी शान्ति मिलती है। दिनभर जागृतावस्था में विषयभोगों की लीला के लिए पागल बन कर भाग-दौड़ करने वाला व्यक्ति भी रात्रि को तंग आकर इन्द्रिय सुख के सब दरवाजे बंद करके सुषुप्ति काल में आत्मा की गोदी में चला जाता है ताकि उसे सुख-शांति मिल सके। हर मानव को प्रतिदिन का अनुभव है कि उसे सुख-शांति और नवजीवन रात्रिकाल के सुषुप्ति के 5-6 घण्टे में ही मिलता है। अन्यत्र नहीं। प्रातःकाल वह जागकर कहता है मैं बहुत आनन्द से सोया। सुषुप्ति का सुख द्वन्द्व कोटि का नहीं है। द्वन्द्व कोटि का सुख, प्रकृति से प्राप्त सुख बाद में दुःख में बदल जाता है। सुषुप्ति का सुख आत्मा के सन्निकट अनजाने में ही सही आत्मा की गोद में चले जाने से आत्मानन्द की प्राप्ति होती है। आत्मानन्द कभी दुःख में रूपान्तरित नहीं होता। क्योंकि आत्मा तो आनन्द स्वरूप है। अतः आत्मा का सुख सदैव स्थिर रहने वाला है। प्रकृति या संसार का सुख द्वन्द्व कोटि का होने से नित्य परिवर्तनशील है। यदि क्लब के नाच-गान का आनन्द इससे ऊंचा होता तो सुषुप्ति छोड़कर वह सदा नाचघर में ही बैठा रहता।

अतः वास्तविक सुख निर्विषयक सुख ही है जो अपने अन्दर ही प्राप्त होता है। प्रिय, मोद-प्रमोद को छोड़कर भी हम सुषुप्ति में जाना चाहते हैं अन्यथा पागल हुए बिना नहीं रह सकते। निद्रा का वेग ही भौतिकवाद का खण्डन कर देता है। वस्तविक सुख निर्विषयक सुख ही है। अतः यह विचार करके भी बाह्य संसार से, बाह्य विषय सुखों से विरक्ति होनी चाहिये। और अपने अन्दर निहित सुख की प्राप्ति के लिए अन्वेषण वृत्ति होनी चाहिये।

तितिक्षा का पर्यवसान रोग-भोग में न होकर योग में होवे। इसके लिए विवेक का आधार होना परमावश्यक है। अतः तितिक्षा के पालन में ही सावधानी बरतने

की आवश्यकता है। जो तितिक्षा विवेक वैराग्य से युक्त है वही भगवद् प्राप्ति में समर्थ होती है। जो तितिक्षा राग-द्वेष से युक्त है उससे तो मल उत्पन्न होता है। यदि अभी भी विषयों में राग शेष है तो राग के कारण तितिक्षा से फिसलकर भोगों में प्रवृत्ति हो जाती है। जब तितिक्षा रागपूर्वक होती है तब हम 'भक्तों ने श्रद्धापूर्वक उपहार भेंट में दिये हैं नहीं स्वीकारने पर उन्हें कष्ट होगा का आधार लेकर हम सुविधा भोगने के आदि हो जाते हैं। फलस्वरूप भोगों में प्रवृत्ति स्वाभाविक रूप से हो जाती है। और यदि द्वेष के वशीभूत होकर हम तितिक्षा का अभ्यास कर रहे हैं तो क्या होता है एक अति से दूसरी अति में चले जाते हैं। पहले भोग की पराकाष्ठा थी तो अब त्याग या कष्ट भोगने की पराकाष्ठा कर देते। यानी हम एक अति से दूसरी अति में चले जाते हैं। हम एक अति से दूसरी अति में न जाये इसके एक उदाहरण—एक राजकुमार जिसे भगवान् बुद्ध ने सावधान किया कि वीणा के तार न बहुत ही कसो और न बहुत ढीला छोड़ो तभी संगीत निकलेगा। अतएव शरीर के प्रति द्वेष पालकर की गई तितिक्षा हानिकारक हो जाती है। क्योंकि शरीर से द्वेष पाल लेने से शरीर की उपेक्षा एवं शरीर को यथायोग्य आहार-विहार नहीं देते, शीत के अनुकूल वस्त्रादि कम्बल का उपयोग नहीं करते। फलतः शरीर दुर्बल एवं रोगी हो जाता है। फलस्वरूप भगवत् प्राप्ति रूप पुरुषार्थ के योग्य नहीं रह जाता है। अतः जिस शरीर के माध्यम से भगवान् को पाना था या ज्ञान की साधना करनी थी उससे वंचित हो जाते हैं। अतः तितिक्षा का आधार विवेक-वैराग्य होवे। अन्यथा राग-द्वेष की अगली सीढ़ी है—काम, क्रोध, लोभ। राग से भोग के प्रति कामनायें उत्पन्न होती है, उसकी पूर्ति से लोभ अन्यथा क्रोध, क्रोध ही द्वेष में फिर शत्रुता में परिवर्तित हो जाता है। जिस तितिक्षा के मूल में विवेक-वैराग्य का अभाव वह चित्त को मलीन एवं विक्षिप्त कर देता है। अतः तितिक्षा के मूल में विवेक वैराग्य का पुट होवे ताकि चित्त मल-विक्षेप के प्रतिबंध से मुक्त होकर चित्त शुद्ध एवं निर्मल हो जाये जिससे वह स्वतः भगवत् तत्त्व की ओर आकृष्ट हो जाता है। जिस प्रकार जंग रहित लोहा चुम्बक की ओर आकृष्ट होता है। अतः आत्मा की ओर चित्त की प्रवणता ही चित्त शुद्धि की कसौटी है।

हम कब मानेंगे कि चित्त सम होकर भगवत् तत्त्व की ओर उन्मुख हो गया है या भगवान् के प्रति हमारी कम से कम कितनी प्रीति होनी चाहिए। अत्यन्त भूख लगने पर जितनी भोजन की याद आती है, प्यास लगने पर जितनी पानी की याद आती है। अत्यन्त भूख में जितना भोजन, प्यास लगने पर जितना पानी, बीमार पड़ने पर जितना डॉक्टर एवं औषधि प्यारी लगती है, याद आती है। ऐसा न हो कि बीमारी के समय डॉक्टर एवं औषधि तो याद आवे और भगवान् पीछे ही रह जाये यानी याद न आवे।

द्वन्द्वातीत आत्मा का अनुसंधान से पूर्व प्रथम तो यह अभ्यास करना चाहिये कि भूख-प्यास की दशा में भोजन-पानी की याद आती है या भगवान् की।

भूखे व्यक्ति को भूख के समय भोजन की याद आती है।

प्यासे व्यक्ति को प्यास के समय पानी की याद आती है।

पर भक्त तब तक भोजन मुख में न डाले जब तक उसे परमेश्वर की याद न आवे। उसके मन में यह दृढ़ विश्वास होना चाहिये कि भोजन में भूख दूर करने की क्षमता मेरे प्रियनाथ भगवान् ने डाली है—स्वतः नहीं है। इसके पश्चात् गीता का 15वां अध्याय का पाठ करके प्रसाद रूप में ग्रहण करें। 15वें अध्याय के पाठ से अन्न दोष नहीं व्यापता।

अब प्रश्न उठता है कि भूख लगने पर आस्तिक नास्तिक, दोनों भोजन की शरण लेते हैं। अन्यथा आस्तिक का काम कम से कम बिना भोजन के सिर्फ भगवान् के नाम से ही चलना चाहिये था। पर ज़ब उसका काम भी बिना भोजन के नहीं चलता तब नास्तिक को गाली क्यों? क्योंकि बिना भोजन, पानी, चिकित्सा के किसी का काम नहीं चलता। सबको इसके आगे घुटना टेकना पड़ता है। अतः भोजन ही सब कुछ है—इसमें राम कहां से आ टपका। आस्तिक मानता है भोजन के तीन फल होते हैं—तुष्टि, पुष्टि एवं क्षुधानिवृत्ति। भगवान् ने ये तीनों शक्ति भोजन में डाल रखी है। ऐसी स्थिति में आस्तिक भोजन को साधन मानकर भगवान् के प्रसाद रूप में पाकर मुक्त हो जाता है जबकि नास्तिक भोजन को साध्य मानकर भोजन के रूप में विष पान ही करता है—विनय पत्रिका। वह खाता है कमाने के लिए, और कमाता है खाने के लिए। उसके लिए आजीविका ही जीवन है। पर आस्तिक के लिए आजीविका है जीवन के लिए और जीवन है जीवन धन परमेश्वर के लिए अतः वह मुक्ति का अधिकारी बन जाता है। जबकि नास्तिक, जन्म के गर्भ से कर्म और कर्म के गर्भ से जन्म निकल आता है। रामनाम भूलने का यही परिणाम है यही विष है।

भगवदाश्रय के बिना, संतोष के बिना विषयी पुरुष कल्पतरु के पास पहुंचकर भी अपनी दरिद्रता दूर नहीं कर सकता। करोड़ों ब्रह्मा का वैभव भी उसकी दरिद्रता दूर नहीं कर सकता है। तात्पर्य यह है कि नास्तिक आस्तिक उभय का जीवन भगवान् है। नास्तिक जिस बुद्धि से भगवान् का खंडन करता है वह भी भगवान् ने दी है। कितनी दयनीय बात है। नास्तिक व्यक्ति थोड़ी सी सफलता पर फूलकर कुप्पा हो जाता है। जैसे बरसाती नदी थोड़ी-सी वर्षा से बाढ़ की शिकार हो जाती है और नास्तिक व्यक्ति थोड़ी-सी असफलता पर आत्महत्या को उतारू हो जाता है। जैसे वर्षा के अभाव में नदी सिर्फ बालू का ढेर रह जाती है। पर आस्तिक

व्यक्ति सफलता को भगवान् की कृपा, असफलता को भगवान् की परीक्षा मानता है। एवं भगवान् पर दृष्टि होने से निरुत्साहित नहीं होता। अतः वह सुख में फूलकर गुब्बारा नहीं बन जाता और दुःख में सूख कर छुआरा नहीं बनता है।

गीता के अनुसार सत्त्व गुण से अन्तर्मुखता आती है—रजोगुण से विषयों में प्रीति प्रवृत्ति उत्पन्न होती है एवं तमोगुण से आलस्य व प्रमाद आता है। प्रातः सतोगुण की, दिन में रजोगुण की और रात्रि में तमोगुण की प्रधानता होती है। पर आस्तिक इन तीनों गुणों के प्रभाव से अपने को अविचलित बनाये रखता है क्योंकि ये वह द्वन्द्व हैं जो आगमापायी हैं, मिथ्या हैं। अतः वह इनसे द्रष्टा रूप से निर्द्वन्द्व ही बना रहता है। पर नास्तिक इन तीनों गुणों से अभिभूत होता है। तीनों गुणों से प्रभावित सुख-दुःख, आशा-निराशा को प्राप्त होता है।

भक्ति योग के माध्यम से द्वन्द्वों में समचितता आती है—जगत् में यह क्षमता नहीं है कि वह हमें कृतार्थ कर सके। अगर जगत् में कृतार्थ करने की क्षमता होती तो हम कब के कृतार्थ हो गये होते। जगत् के माहात्म्य से तो हम करोड़ों वर्ष से परिचित हैं। पर जगत् में यह क्षमता नहीं समग्र चित्त को सदैव के लिए समग्र रूप से अपनी ओर आकृष्ट कर सके, पकड़ कर रख सके, आनन्द दे सके। यह सामर्थ्य तो सिर्फ ईश्वर में ही है। अग्नि को जानकर या अनजाने में छूएं वह दाहकता देगी ही। वैसे ही संसार-अरण्य में जानकर या अनजाने में प्रवेश करें वह जलायेगा ही।

द्वन्द्वों को साधनों का अम्बार लगाकर, सुविधा बढ़ाकर नहीं जीत सकते। उससे लड़ने से भी पार नहीं पा सकते। अतः उसे सहें एवं मन को ही रूपान्तरित कर देवें भगवत् भजन की ओर। जूझने में शक्ति क्षय होती है, वहीं भगवत् प्राप्ति में लगायें।

श्रुति कहती है माया को मार डालें क्योंकि वह जीव को बहुत नाच नचाती है, आजीवन भरमाती रहती है। भगवान् के न्यायालय में माया ने पेश होकर उत्तर दिया भगवान् से विमुखजनों को ही चपत लगाती हूं। आपके सम्मुख जो है उनको तो माता के सदृश सहयोग देती हूं। जो संसार में रम रहे हैं, मुझ में रम रहे हैं, आपको भूले हुए हैं उनको चपत लगाती रहती हूं ताकि किसी तरह भी संसार से निवृत्त होकर आपकी तरफ प्रवृत्ति हो। गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—

ज्ञान के पंथ कृपाण की धार चल हि खगेश पाई नहीं पार।
भक्ति ही सानुकूल रघुराया ताते तोहि उपरति अति माया।।

भगवत् प्राप्ति में भक्ति बहुत अनुकूल है। इसलिए माया भी भक्त से बहुत डरती रहती है। यहां ज्ञान साधक निरन्तर माया से डरता रहता है कि कहीं वह

उसको अचानक धूल में पटक न देवे वहां माया स्वयं भक्त से डरती रहती है क्योंकि भक्त निरन्तर भगवान् के भाव में रहता है।

केवल अपने बलबूते पर भगवान् को प्राना दुष्कर है। भगवद् चरणों में आश्रय से भव सागर सुगमता से पार पा लेते हैं।

तितिक्षा का उपयोग संसार के भोग एवं रोग में न होकर योग में होवे इसके लिए भगवद् चरणों का आश्रय लेवें। हां, विचार को तिलांजलि देकर भी साधना न करे। अर्थात् यज्ञ, दान, तप हो पर तितिक्षा ऐसी न होवे जो स्वयं को ही नष्ट कर डाले। रोगी एवं दुर्बल बना देवे।

भगवान् को जब हम अपनी आत्मा से पर मान लेने पर अपनी आत्मा की अपेक्षा उसमें प्रीति थोड़ी न्यून हो जाती है। क्योंकि सबसे अधिक प्रीति अपने आत्मा के प्रति ही होती है। अतः एक तरफ तो इष्टदेव को परम आराध्य, वरण योग्य मानना पर उसे आत्मरूप न मानने से इष्ट देव अपने से पर, पराया हो जाने पर उतनी प्रीति का भाजन नहीं बन सकता। वह अपने से पराया ही बना रहता है। मुख्य स्थान स्वयं अपनी आत्मा को और Secondary गौण स्थान इष्टदेव को प्राप्त होता है जिससे उसकी सर्वश्रेष्ठता खंडित हो जाती है। इस प्रकार वह स्वविरोधी, आत्मविरोधी बात हो जाती है। अतः पहले इष्टदेव को आत्मीय फिर अपने आत्मदेव से अभिन्न कर लेवें।

जगत् के माहात्म्य से तो करोड़ों वर्षों से विदित हैं। भगवान् के माहात्म्य से अविदित होने से चित्त का आकर्षण भगवान् के प्रति नहीं। अतः स्वयं को भगवद् रूप जान एवं मानकर पंचकोषों को भगवान् विषय बनावें। भगवत् तत्त्व को लेकर जिनका मन प्रिय मोद-प्रमोद को प्राप्त होता है, जिसका स्थूल देह सहित अन्तःकरण भगवान् के प्रति समर्पित होता है ऐसे ही प्रेमी भक्त को भगवान् 'ददामि बुद्धि-योगं' (10/10 गीता) देते हैं।

ऐसे जीवन में सदैव सावधान रहने की आवश्यकता है। एक साधु से प्रश्न क्या आपको काम का वेग नहीं सताता। जीवनभर मौन। मृत्यु के पूर्व क्षण घोषणा की जीवन निभ गया। जीवन रहते हुए यह दावा नहीं किया जा सकता। सतियों का जीवन, महर्षियों का जीवन प्रमाण है कि थोड़ी असावधानी से किस तरह फिसल गये। अतः जीवन पर्यन्त सावधान रहने की आवश्यकता है।

राजयोग के माध्यम से द्वन्द्वों में समचितता

ज्ञानेन्द्रियां सूक्ष्म एवं अतीन्द्रिय है जबकि उसको ग्रहण या प्रकट करने वाले गोलक स्थूल हैं। बाहरी आंख, कान, नाक जो हम देखते हैं ये गोलक हैं और आपादमस्तक जिस इन्द्रिय को अभिव्यक्त करने वाला गोलक त्वकिन्द्रिय है।

इन्द्रियों से गोलक भिन्न है। गोलक इन्द्रियों को अभिव्यक्त करने का साधन मात्र है। यदि गोलक इन्द्रिय होती है तो सुषुप्ति में आंख, कान, नाक, त्वक इन्द्रिय खुले रहने से रूप, शब्द, गंध, स्पर्श का ज्ञान होता। गोलक मात्र बिजली को अभिव्यक्त करने वाला बल्ब की तरह साधन के सदृश है।

अहम् पर्यन्त ही द्वन्द्व व्यापते हैं। जब तक अहम् जागृत है तभी तक द्वन्द्व व्यापते हैं। अहम् के गल जाने पर द्वन्द्व अपनी मौत स्वयं ही मर जाते हैं।

अहम् लीन हो जाता है सुषुप्ति में। अहम् का विस्मरण समाधि में। अंहम् बाधित हो जाता है तत्त्व बोध एवं जीवन् मुक्ति में। अति कष्ट में हम अहम् को कृत्रिम रूप से चाहे दबा या क्लोरोफार्म से सुला देते हैं तब कष्ट नहीं व्यापते। अतः इस अहम् को समाधि के अभ्यास या तत्त्व ज्ञान से बाधित करें।

उसी का जीवन सार्थक है जिसके जीवन में काम, क्रोध का वेग शांत हो गया है। वही सुखी है जिसने अपनी इन्द्रियों को जीत लिया या वश में कर लिया। वही विश्व विजयी है जिसे द्वन्द्व अभिभूत नहीं कर पाते। उसमें विषय आते और चले जाते हैं पर वह उससे प्रभावित नहीं होता—

आपूर्यमाण-मचल-प्रतिष्ठं समुद्र-मापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत् कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्ति-माप्नोति न काम-कामी।। 2/70

जिस प्रकार सब ओर से (जल से) पूर्ण होते रहने वाले स्थिर रूप से अवस्थित समुद्र में (विविध नद-नदियों के) जल (उसे विचलित न करते हुए) प्रविष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार जिस (स्थितप्रज्ञ पुरुष) में सब काम्य विषय (किसी प्रकार का विकार उत्पन्न न करते हुए ही) प्रविष्ट हो जाते हैं, वही (परम) शान्ति को प्राप्त होता है—भोगों की कामना करने वाला नहीं।

स्वामी रामतीर्थ कहते हैं—

हम राजी उसी में जिसमें तेरी रजा है
यूं भी वाह-वाह है वूं भी वाह-वाह
यदि शक हो तो तू आजमा कर देख ले
चाहे खाक में मिला दे, चाहे फांसी पर चढ़ा दे
हम राजी उसीमें जिसमें तेरी रजा है
धरा में धंसा दो या सूली पर चढ़ा दो
चाहे मिट्टी में मिला दो या गिरा दो गगन से
चाहे तेज तलवार-तीर से तराशो
तब भी छूटेगी न लगी जो लगन प्राण धन से।

जब चित्त की समता इस प्रकार की हो जाती है वही अमरत्व का अधिकारी होता है, भगवान् को पाने का अधिकारी होता है। मीरा बाई यह जानकर भी कि राणा ने विष भेजा है हंसते-हंसते भगवान् का चरणामृत मानकर पी गई।

गुरु अर्जुन देव

सिख सम्प्रदाय के जिस विशाल भवन का शिलान्यास गुरु नानकदेव ने किया और जिसका कलश गुरु गोविन्दसिंह द्वारा स्थापित किया गया और उसकी उसारी में स्वयं अपने आप को ही चुनवा देने वाले पंचम गुरु श्री अर्जुनदेवजी का महत्त्व बहुत बड़ा है। वे सिख जाति में बलिदानों की परम्परा के आदिप्रेरक कहे जा सकते हैं।

भारत की धर्म परम्परा को उनकी तीन महान् देन हैं—श्री गुरु ग्रन्थ साहब जैसे महान् आध्यात्मिक ज्ञान भण्डार का सम्पादन, अमृतसर नगर का महत्त्वपूर्ण निर्माण एवं विकास तथा उनकी तीसरी देन बड़ी महान् है—धर्म रक्षा के लिए स्वयं अपने आप को बलिदान कर देना।

एक भक्त मियां मीर उनसे प्रायः पूछता रहता था कि क्या उनके 'सुखमनी' सन्देश के अनुसार कोई प्रत्यक्ष जीवन बिता सकता है। अंतिम समय में उसने देखा कि तप्त तवों पर गुरुजी का पावन देह तिल-तिल कर के जल रहा है, किन्तु गुरुजी मुसकराते हुए गा रहे हैं—

तेरा भाणा मीठा लागै, हरि नाम पदारथ नानक मांगै।।

मियां मीर अवाक् रह गया। गुरुजी ने कहा—'मियां मीर! मैं अपने प्रत्यक्ष जीवन को होम कर 'सुखमनी' पर भाष्य कर रहा हूं–तेरा भाणा मीठा लागै। हरि नाम पदारथ नानक मांगै।'

एक गोपी उद्धव से कहती है—

यह तो प्रेम की बात है उधो बंदगी तेरे वश की नहीं है
जहां सरदे के होते हैं सौदे वह आशिकी इतनी सस्ती नहीं है।

नानकदेव कहते हैं—

लाख शीश तेने दिये यमराजा को भेंट
एक शीश तेने न दियो नारायण के हेत

बंदा वैरागी के बलिदान को याद करें जिनमें इस प्रकार की सिद्धता है, चित्त की समता कि तप्त चिमटे से उनके पूरे शरीर से मांस नोचा जा रहा है पर उफ तक न करके मंद-मंद मुसकराते रहे, ऐसे ही साधक अमरता के, भगवत् प्राप्ति के अधिकारी होते हैं ईश्वर के मार्ग पर चल पाते हैं। इस मार्ग पर चलना तलवार की धार पर चलना है 'क्षुरस्य धार पर' तो ऐसे ही साधक इस मार्ग का निर्वाह कर पाते हैं।

भगतसिंह—

उन्हें फिक्र है हरदम नया तेज जफा क्या है,
हमें शौक है देखें सितम की इंतहा क्या है।

नासतो विद्यते भावो, नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्,-त्वनयोस्-तत्त्व-दर्शिभिः।। 2/16

यह कूट श्लोक है। गीता महाभारत का अंश है। महाभारत रचकर इसको लिखने के लिए गणेशजी को आह्वान किया वेदव्यासजी ने। गणेशजी की शर्त मेरी कलम रुकनी नहीं चाहिये। तो वेदव्यासजी ने भी अपनी शर्त रखी बिना समझे कलम चलनी नहीं चाहिये। इसलिए बीच-बीच में कूट श्लोक। लिपि विद्या के आविष्कारक गणेशजी। उसके पूर्व सारा ज्ञान श्रुति परम्परा से आया है चाहे वह वेद हो या वाल्मीकि रामायण हो।

इस श्लोक पर हमारा व्यक्तिगत जीवन व राष्ट्र जीवन अधिष्ठित होने से भारत चिरंजीवी बना हुआ है जबकि अन्य प्राचीन सभ्यतायें भौतिकता (असत्) पर अधिष्ठित होने से नष्ट हो गयी और आधुनिक यूरोपीय सभ्यता भी बिना आध्यात्मिक अधिष्ठान के नष्ट होने की राह पर है। अगर उसे अपने को नष्ट होने से बचाना है तो शीघ्रातिशीघ्र आध्यात्मिक अधिष्ठान को स्वीकारना पड़ेगा।

गांधीजी को इसी श्लोक से सत्याग्रह की प्रेरणा मिली कि सत्य को सदा के लिए दबाया नहीं जा सकता और असत् को हमारे ऊपर सदा के लिए जोर जुल्म से लादा नहीं जा सकता। सत्य एक-न-एक दिन प्रकट होगा ही। स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है वह हमें प्राप्त होगा ही और असत् विदेशी सत्ता को परास्त होना ही पड़ेगा।

नासतो विद्यते भावो, नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्,-त्वनयोस्-तत्त्व-दर्शिभिः।। 2/16

इस श्लोक में भगवान् ने सत् और असत् की कसौटी बताई है। सत् वस्तु वह है जिसकी सत्ता सदा बनी रहे। सत् का कभी अभाव नहीं है और न असत् का होता भाव अर्थात् असत् वह है जो सदा टिकेगा नहीं। तत्त्वदर्शी ऋषियों ने इन दोनों का यही ठहराव, निश्चय या अनुभूति की है।

असत् का अर्थ अप्राप्त नहीं। अप्राप्त के निषेध या प्रतिषेध में कोई प्रवृत्त नहीं होता। जो है ही नहीं, जिसका कोई अस्तित्व ही नहीं उसका कोई निषेध नहीं करता। जैसे—आकाशकुसुम, शशीश्रृंग वन्ध्यापुत्र आदि। इनकी किसी भी प्रकार की सत्ता नहीं। न प्रतिभासिक और न व्यावहारिक। अप्राप्त (जैसे वंध्यापुत्र) और असत् में अन्तर है। अप्राप्त जैसे वंध्यापुत्र न तत्त्वंतः और न

माया से जन्म ले सकता है। कोई हंसाने की दृष्टि से भी नहीं कह सकता वह देखो वंध्यापुत्र। ऐसा कहने पर वदतोव्याघात दोष से दूषित होता है। यह कहना वैसे ही है 'मम मुखे जिह्वा नास्ति' यानी मेरे मुख में जिह्वा नहीं है। अरे तेरे मुंह में जिह्वा नहीं है तो बोल कैसे रहे हो। बिना जिह्वा के बोला नहीं जा सकता। और जो मायाशक्ति से जन्म लेवे वह असत् है। इस प्रकार अप्राप्त एवं असत् में अन्तर है। और यहां असत् का निषेध किया गया है। क्योंकि उसकी सत्ता सदा टिकती नहीं है।

अप्राप्त का प्रतिषेध नहीं होता। यानी जो वस्तु प्राप्त ही नहीं है वन्ध्यापुत्र या आकाशकुसुम की तरह उसके निषेध में कोई प्रवृत्त नहीं होता। स्वर्ग, नरक, पुनर्जन्म, भूत, ईश्वरादि का खण्डन सिद्ध करता हैं इन सबकी सत्ता है। एक विदेशी विद्वान् द्वारा करपात्रीजी के समक्ष ईश्वर का खण्डन तीन घण्टों में समग्र दर्शनों के आधार पर। जब तुम खण्डन में ही प्रवृत्त हो, आस्थान्वित नहीं हो तो मुझ से मण्डित क्यों कराना चाहते हो? विद्वान् चौंक कर, भय लगता है। जब ईश्वर नहीं तब वन्ध्यापुत्र के सदृश ईश्वर से भय की क्या आवश्यकता। भय ही सिद्ध करता है ईश्वर की सत्ता है। एक गम्भीर दर्शन की चर्चा हो रही थी। एक जन आये और कहने लगे—यहां कोई भूत-प्रेत नहीं है। सभी हंस पड़े पर करपात्रीजी ने गम्भीर होकर कहा—ये भूतविद्या के विशारद हैं, इनकी दृष्टि से भूत बचकर नहीं रह सकता।

असत् पद का प्रयोग

असतो मा सत्गमय। तमसो मा ज्योतिर्गमय। मृत्योर्माऽमृतं गमय—हम नित्य प्रार्थना करते हैं तो इसमें असतो मा सत्गमय में वंध्यापुत्रवत निषेध नहीं है। देह इन्द्रियादि का अतिक्रमण कर आत्म जगत् में प्रस्थान के लिए है।

वैसे ही असत् का अर्थ शून्य या अभाव नहीं। शून्य=कुछ नहीं या अभाव। शून्यवादी बौद्ध असत् कारणवाद मानते हैं। असत् से सत् की उत्पत्ति होती है। शून्य जो अभाव है वही स्थावरजङ्गम का कारण है। शून्य ही जगत् का उपादान कारण है। पर असत् से सत् की उत्पत्ति कैसे हो सकती है। जैसे बालू से तेल या जल से नवनीत नहीं प्राप्त हो सकता वैसे ही शून्य से जगत् कैसे सम्भव है? छान्दोग्य श्रुति इसका निराकरण करती है—'कथमसतः सज्जायते' अर्थात् असत् से सत् उत्पन्न नहीं हो सकता।

तैतरीय उपनिषद् में असत् का अव्यक्त के अर्थ में प्रयोग हुआ है। इसी दृष्टि से तैतरीय उपनिषद् में कहा है असत् से सत् की उत्पत्ति हुई। माण्डूक्य उपनिषद् में असत् का प्रयोग मिथ्या के अर्थ में हुआ है।

नासतो विधते भावो एव असतो मा सत्गमय दोनों में मिथ्या के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है न कि वंध्यापुत्र के निषेध में प्रवृत्त हुआ है। क्योंकि अप्राप्त का प्रतिषेध नहीं होता।

इसलिए आनन्दगिरि कहते हैं 'असत् पद' का प्रयोग लोक में प्रसिद्ध वंध्यापुत्र या शून्य के लिए नहीं वरन् मिथ्यात्मक जगत् प्रपंच के लिए हुआ है। यहां स्वयं रामानुजाचार्य एवं अन्य वैष्णवाचार्यों ने भी असत् पद का अर्थ 'प्रपंच' ही किया है। ऐसा न करने पर इस शास्त्रीय मर्यादा का उल्लंघन होता, सिद्धान्त कटता। क्योंकि अप्राप्त का प्रतिषेध नहीं होता है। अतः अपनी दार्शनिक मान्यता का मोह त्याग कर पराजय स्वीकार कर भी सत्यता का परिचय दिया, पक्ष लिया। क्योंकि असत् वह है जो सदैव रहता नहीं। और उनके यहां माया या जगत् सत् है, सदा रहने वाला है।

(क) जो वस्तु सत् है वह कभी मिटेगी नहीं। जो असत् है वह सदा टिकेगी नहीं। संसार की जितनी वस्तुएं हैं सब सत् प्रतीत होती हैं किन्तु विवेक का दीपक जलाने पर पता चलता है एक-न-एक दिन उनका विकार या विनाश हो जाता है। एक समय था जब वह वस्तुएं नहीं थी। एक समय है जब ये वस्तुएं हैं और एक समय पुनः होगा जब वे वस्तुएं नहीं रहेगी। जो वस्तु भूतकाल में असत् थी, भविष्य में पुनः असत् हो जायेगी केवल वर्तमान में सत्-सी प्रतीत होती है। वह वास्तव में असत् ही है केवल सत् की भ्रान्ति हो रही है। इसी भ्रान्ति को शंकराचार्यजी ने माया कहा है।

(ख) इसके सत् प्रतीत होने का रहस्यमय कारण यह है कि अनेकता में भासित होने वाली ये वस्तुएं मूलतः एक ही सत् के अधिष्ठान पर टिकी हुई हैं। नाम-रूप ने उनको अनेकता और अलग-अलग सत्ता की भ्रान्ति में बांध रखा है। जल के बुद-बुद, वीचि, लहर, तरंग, ज्वार, भाटा, फेन, वाष्प, बादल, घने बादल, वर्षा, हिम, वृष्टि, नदी, नाला, तालाब, बावड़ी, कुआं, महानदी, समुद्र, महासमुद्र सबके नाम-रूप पृथक्-पृथक्। व्यवहार जगत् में भाप को बर्फ कहना और वर्षा को समुद्र कहना मूर्खता माना जायेगा। भाप गरम, बर्फ ठण्डा है, वर्षा बिन्दु में है, सिन्धु अगाध है, किन्तु इन सबके नाम-रूप के माया के पर्दे के पीछे जो जल तत्त्व वह एक और अविभाज्य है। उसके बिना जल के विकारों की सारी सृष्टि मिथ्या और माया ही है।

(ग) इसी प्रकार अनन्त फैलाव वाला और अनेकता के रूपोंवाला सारा विश्व किसी एक सत् वस्तु पर टिका हुआ है। जो एक जाने वह ज्ञानी और जो परिवर्तनशील, नश्वर, अनेकता को ही जाने वह भ्रान्त, अज्ञानी है।

(घ) यदि शरीर सत् है तो उसका नाश कभी नहीं होना चाहिए। यदि इन्द्रिय, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, संसार के ऐश्वर्य, भोग, अहंता, ममता में बंधा हुआ सारा संसार सत् है तो उसका कभी अभाव नहीं होना चाहिये। किन्तु सुषुप्ति काल में पिण्ड और ब्रह्माण्ड के सारे संसार का अभाव हो जाता है। यह हम सब दैनिक अनुभव से जानते हैं। यदि हमारा ही अभाव हो जाता तो पिण्ड और ब्रह्माण्ड के अभाव के साक्षी हम कभी नहीं हो सकते।

(ङ) यदि सत् वस्तु का सत्यनाश मान लिया जाये तो मानव के विवेक पर विश्वास का महाविनाश हो जायेगा। आत्मा का अभाव होने पर न केवल सारे दर्शनशास्त्र का अभाव हो जाता है बल्कि सारी सृष्टि का अभाव हो जाता है। आत्मा होगी तभी जिज्ञासा होगी। बिना आत्मा के न प्रश्न होगा, न उत्तर, न दार्शनिक चर्चा की संभावना, न दर्शनशास्त्र। अतः सारा दर्शनशास्त्र इस आत्मतत्त्व पर टिका हुआ है। आज विज्ञान की सबसे बड़ी त्रुटि यह है कि जिस चेतन सत्ता के सहारे सारे वैज्ञानिक सृष्टि की व्याख्या करते हैं, सृष्टि के तत्त्वों का विभाग करते हैं फिर उसका विश्लेषण, नामकरण करते हैं—द्रव्य-अद्रव्य का, खनिज-अखनिज का, फिर वनस्पति जगत् का, पशु-पक्षी जगत् आदि। इन सबका विभाग, नामकरण जिस चेतन सत्ता के द्वारा करते हैं अन्त में उसी को अस्वीकार कर देते हैं। जिस चेतन सत्ता के थोड़े से प्रकाश से न्यूटन, आइंस्टाइन जैसे वैज्ञानिक उत्पन्न होते हैं उसी मूल सत्ता को अस्वीकार देते हैं। यह ऐसी ही मूर्खता की बात है वृक्ष की जिस डाल पर बैठा है वह स्वयं ही उसी को काट रहा है। जिसके सहारे खड़ा है उसी पर स्वयं कुल्हाड़ी मार रहा है।

(च) उपनिषद् के ऋषि कहते हैं केवल दर्शनशास्त्र ही क्यों सारा विश्व इसी आत्मतत्त्व से प्रकाशित हो रहा है। हम कल्पना करें कि यदि सृष्टि में चेतन तत्त्व न होता तो सृष्टि क्या होती, कैसी होती? इसकी कल्पना भी भयंकर है। क्योंकि कल्पना करने के लिए भी किसी चेतना की आवश्यकता पड़ती है। मुर्दा मुर्दों की बरात सजाकर मुर्दाघाट में मृत्यु भोज करता तो उसकी हलवा पुड़ी खाकर किसी भौतिकवादी का पेट भरता। इस प्रकार हमारा कभी अभाव नहीं माना जा सकता। संसार के लोग जिसे सत् कहते हैं उसके विनाश के हम साक्षी हैं। यानी ये असत् है।

असत् को इस प्रकार भी समझा जा सकता है—जो एक काल, एक देश, एक जनीन या कुछ जनीन, एवं एक वस्तु से सम्बन्धित है यानी सर्व रूप न हो उसे असत्, मिथ्या या तथ्य कहते हैं। यानी जिसकी सत्ता एक काल विशेष से, एक देश विशेष से, एक या कुछ जनों से सम्बन्धित, एक वस्तु विशेष सम्बन्धित को असत्, मिथ्या या तथ्य कहते हैं। सत्य जो सार्वकालिक सार्वदेशिक,

सार्वजनीन एवं सर्वरूप यानी सब वस्तु से सम्बन्धित है उसे ही सत्य कहते हैं। यानी जो देश काल वस्तु से न कटे। दार्शनिक शब्दावली में जो कालकृत परिच्छेद शून्य, देशकृत परिच्छेद शून्य, वस्तुकृत परिच्छेद शून्य हो। इस कसौटी पर कसने पर अद्वैत वेदान्त का ब्रह्म ही अन्तिम सत्य के रूप में शेष बचता है। और जगत् की सत्ता बीच में है। न तो वंध्यापुत्र की तरह अप्राप्त है और न ब्रह्म की तरह सत् है यानी सार्वकालिक, सार्वदेशिक, सार्वजनीन एवं सर्वरूप नहीं है वरन् एक काल, एक देश, एक जनीन या कुछ जनीन एवं सर्व रूप न होकर एक रूप होने से असत्, मिथ्या या तथ्य यानी बीच वाली स्थिति का है। न वंध्यापुत्र की तरह सर्वथा असत् ही और न ब्रह्म की तरह सर्वथा सत् है। जो किसी काल में रहे, किसी काल में नहीं, जो कहीं रहे, कहीं नहीं जो एक रूप या कुछ रूप में रहे सर्व रूप में नहीं, एवं जो चारों अवस्थाओं में नहीं उसे गीता ने असत् कहा है। और जिसकी सत्ता सर्वकालिक, सार्वदेशिक, सार्वभौम एवं सर्व रूप एवं चारों अवस्था में है वही सत् है। इस कसौटी पर भारतीय दर्शन परम्परा को कसने पर अद्वैत वेदान्त का ब्रह्म ही एकमात्र सत्य के रूप में शेष बचता है। इसलिए शंकराचार्य भगवान् कहते हैं—'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या, जीवो ब्रह्म नापरः' ब्रह्म या आत्मा की सत्ता सभी देशों, सभी कालों, सभी वस्तुओं एवं सभी से सम्बन्धित है एवं चारों अवस्थाओं में विद्यमान है एक-सा है। पर जगत् या उसके किसी भी वस्तु की सत्ता एक देश, एक काल, एक वस्तु, एक अवस्था विशेष एवं एक जन या कुछ जन से सम्बन्धित है। इसलिए ब्रह्म या आत्मा को सत् कहा एवं जगत् को मिथ्या कहा। जो न सत् है न असत् है अतः मिथ्या कहा। जिसकी मात्र व्यावहारिक सत्ता है।

न्याय और वैशेषिक दर्शन

जो काल-देश एवं वस्तु से न कटे यानी अखण्डित हो उसे ही तत्त्व या सत्य कहा जाता है।

वैशेषिक का कुछ काल से कुछ देश से और कुछ वस्तु से खण्डित हो जाता है।

वैशेषिक के अनुसार नौ द्रव्य। इनमें पृथ्वी, जल, तेज, वायु के परमाणु नित्य है। इनके यहां खण्ड प्रलय होता है जिसमें कार्य द्रव्य तो नष्ट हो जाते हैं पर परमाणु रूप से बने रहते हैं। अतः काल से नहीं कटते पर अणु परिमाणी होने से देश एवं वस्तु से कट जाते हैं।

आकाश, दिक्, काल, मन एवं आत्मा व्यापक होने से देश से भी नहीं कटता जो देश से नहीं कटता वह काल से भी नहीं कटता। जो व्यापक है वह देश और काल से अतीत होता है।

पर ये देश-काल से अतीत तो है पर सर्व रूप नहीं है यानी आकाश-आकाश ही अन्य रूप नहीं अतः अन्य वस्तु से कट जाते हैं। तत्त्व तो वह है जो त्रिविध रूप से अखण्डित हो एवं चारों अवस्थाओं में विद्यमान रहे। जो किसी एक से भी कट जाये तो वह तत्त्व नहीं है। जो वस्तु से नहीं कटता, वह देश से भी नहीं कटता, जो देश से भी नहीं कटता वह काल से भी नहीं कटता। चारों अवस्था में रहता है। किसी भी वस्तु को नित्य सिद्ध करने के लिए वैशेषिक उस वस्तु को या तो अणु परिमाण परिमित या परम महत परिमाण परिमित अर्थात् विभु (व्यापक) हो। मध्यम और महत्त परिमाण परिमित नश्वर होता है। जिसका नाश खण्ड प्रलय में हो जाता है।

(1) अणु परिमाण परिमित—जिसका और विभाजन न हो सके उस सूक्ष्मतम परिमाण को अणु कहते हैं जैसे पृथ्वी आदि चार द्रव्यों के परमाणु।

(2) मध्यम परिमाण परिमित—शरीर टेबुल आदि।

(3) महत्त परिमाण परिमित—जैसे कार्य रूप पृथ्वी, कार्य रूप जल आदि।

(4) आकाश दिक्, काल और आत्मा परम महत्त परिमाण परिमित (व्यापक) है।

पृथ्वी आदि चारों द्रव्यों के परमाणु काल से नहीं कटते पर देश से कट जाते हैं। आकाश, दिक्, काल और आत्मा काल और देश से नहीं कटते पर वस्तु से कट जाते हैं।

वेदान्त के अनुसार जो वस्तु से नहीं कटता वही देश और काल से भी नहीं कटता।

तत्त्व होने के लिए आवश्यक है कि वह वस्तु से न कटे। वस्तु से नहीं कटने के लिए उसे सजातीय, विजातीय एवं स्वगत भेद रहित होना अनिवार्य है।

प्रतिज्ञा मात्र से वस्तु की सिद्धि नहीं होती। इसके लिए उपयुक्त प्रमाण (युक्ति) और दृष्टान्त की अपेक्षा होती है।

काल से अखण्डित तभी तक सम्भव है जब देश से अखण्डित रहे और देश से अखण्डित तभी रह सकता है जब वस्तु से अखण्डित रहे।

दो परमाणु के मिलने से द्व्यणुक की सिद्धि। पृथ्वी के परमाणु आपस में मिलकर जगत् की रचना करते हैं। अतः परमाणु सावयव सिद्ध है। द्व्यणुक से स्थूल पृथ्वी की अभिव्यक्ति होती है। दो वस्तु के संयोग से होने वाली वस्तु निरवयव नहीं अर्थात् सावयव है। यदि परमाणु को सावयव न मानें तो उनका आरम्भवाद या सृष्टि ही सम्भव नहीं। निरवयव वस्तु का संयोग कथमपि सम्भव

नहीं। परमाणु पदार्थ चाहे कितना भी सूक्ष्म क्यों न हो उन्हें परम महत्त परिमाण अर्थात्-विभु (व्यापक) पदार्थ का व्याप्य बनना ही पड़ेगा। जो व्यापक है उनमें सूक्ष्मता और विभुता की पराकाष्ठा मान्य है। यानी इसमें दोनों गुण हैं वह सूक्ष्म से सूक्ष्म और विशाल से विशाल है। सूक्ष्म द्रव्यों का व्यापक होना अनिवार्य नहीं है जैसे अणु परिमाण पृथ्वी आदि चारों द्रव्यों के परमाणु। ऐसी स्थिति (पृथ्वी आदि चारों द्रव्यों) में अणु परिमाण परमाणु में विभु परमेश्वर (परम महत्त) व्यापक होगा। क्योंकि छोटी वस्तु अपने से बड़ी सत्ता में समा जाती है। जैसे पृथ्वी जल में समा जाती है, जल अग्नि में, अग्नि वायु में, वायु आकाश में, आकाश महत्त में, महत्त अव्यक्त प्रकृति में, प्रकृति ब्रह्म में। छोटी वस्तु बड़ी वस्तु का व्याप्य होती है और बड़ी वस्तु व्यापक। इस प्रकार यह सिद्ध है अणु परिमाण व्याप्य होता है व्यापक के प्रति। व्याप्य वस्तु स्थूल होगी व्यापक की अपेक्षा। व्यापक व्याप्य की अपेक्षा सूक्ष्म होता है, जो स्थूल होता है वह सावयव होता है, सावयव कार्य होता है, कार्य अनित्य और (स्वेत्तर अपने से भिन्न) निमित्तोपादान-कारण की अपेक्षा रखता है।

इस प्रकार न्याय वैशेषिक पृथ्वी आदि के परमाणु जो जगत् का कारण है अनित्य सिद्ध हो गया। अतः काल से भी कट गया इस तरह परमाणुवाद ध्वस्त हो गया। वेदान्त के अनुसार नित्यत्व के लिए काल से अखण्डित होवें, देश से अखण्डित होवें साथ ही वस्तु से अखण्डित होना अनिवार्य है। परमाणुवाद देश व वस्तु से तो पहले ही खण्डित है अब काल से भी खण्डित हो गया। चार्वाक और कम्यूनिज्म का समान दार्शनिक पक्ष है। वैशेषिक दर्शन का परमाणुवाद खण्डित होते ही ये स्वतः ही खण्डित हो गये। सांख्य-योग—प्रकृति और पुरुष को व्यापक माना। न्याय-वैशेषिक—आकाश, दिक्, काल, मन और आत्मा को व्यापक माना।

ये देश कृत परिच्छेद शून्य होने से काल कृत परिच्छेद शून्य भी हैं। यानी देश से अखण्डित होने से काल से भी अखण्डित है। ये व्यापक तो हैं किन्तु सर्वरूप नहीं। अतः वस्तु से कट जाते हैं। सो कैसे—प्रकृति-पुरुष नहीं, पुरुष प्रकृति नहीं। यही अवस्था वैशेषिक के पांचों द्रव्यों की है। ये सर्वरूप (वस्तुकृत परिच्छेद शून्य) न होने के कारण व्याप्य हैं। अब उस किसी पदार्थ के प्रति जो वस्तुकृत परिच्छेद शून्य में व्याप्य होने से व्यापक के अपेक्षा स्थूल-सावयव-कार्य-अनित्य। अनित्य होने से वास्तव में व्यापक नहीं। अतः सांख्य के दोनों और वैशेषिक के पांचों में से कोई भी व्यापक सिद्ध नहीं हुआ। व्यापक न होने से देश कृत परिच्छेद शून्य नहीं, देश कृत परिच्छेद शून्य न होने से कालकृत परिच्छेद शून्य भी नहीं। अतः इनको नैरात्म्यवाद की प्राप्ति हुई। जो एक से कट

जाता है वह शेष दोनों से कट जाता है और नैरात्म्यवाद की प्राप्ति होती है। यानी किसी भी अखण्ड सत्ता की प्राप्ति नहीं होती।

वस्तुकृत परिच्छेद शून्य होने के लिए सजातीय, विजातीय एवं स्वगत भेद शून्य होना अनिवार्य है। वही तत्त्व हो सकता है। छान्दोग्य श्रुति में इसी सत् का वर्णन है—'सदैव सोम्य इदमग्रे आसीत् एकमेवाद्वितीयम्' आरुणि ने श्वेतकेतु को समझाया—हे सोम्य, जगत् सृष्टि से पूर्व एक ही अद्वितीय सत् था।

एकम्—सजातीय भेद शून्य (जाति रहित) उसके सदृश कोई सत्ता नहीं।

जैसे एक मनुष्य से दूसरे मनुष्य का भेद।

एव स्वगत भेद शून्य—इसके अवयव नहीं यानी निरवयव है। जैसे आंख व कान में भेद।

अद्वितीय=विजातीय भेद शून्य—इससे भिन्न कोई सत्ता नहीं। जैसे मनुष्य एवं पशु में अन्तर।

जिसमें तीनों भेद का वारण हो वही तत्त्व है। सजातीय भेद ही विजातीय भेद में परिवर्तित हो जाता है। एवं सावयव होते ही स्वगत भेद सिद्ध हो जाता है। एवं स्वगत भेद सिद्ध होने पर कालान्तर में सजातीय एवं विजातीय भेद में रूपान्तरित हो जाता है जैसे पिता में स्वगत भेद—जैसे एक अंग का दूसरे अंग से भेद।

दो पुत्रों में सजातीय भेद—परस्पर में भेद।

एक का विवाह अन्य वर्ण में होने से विजातीय भेद।

सत्-चित्त-आनन्द स्वरूप भगवान् को ही तत्त्व कहा वेदान्त ने। जो सत्-चित्त-आनन्द नहीं वह तत्त्व नहीं हो सकता।

एक के विज्ञान से सभी के विज्ञान की सिद्धि का संकल्प श्रुति भगवती करती है। यह अभिन्न-निमित्तोपादान-कारण से ही सम्भव है। ब्रह्म सर्वातीत होकर भी सर्वरूप न हो तो एक के विज्ञान के विज्ञान से सबका विज्ञान सिद्ध नहीं होगा।

श्रुति की प्रतिज्ञा है जिस एक के विज्ञान से सर्व का विज्ञान हो जाता है वही तत्त्व है। यह तब तक सम्भव नहीं है जब तक परमात्मा को जगत् का अभिन्ननिमितोपादान-कारण न मानें। ऐसा तत्त्व सिर्फ वेदान्त के पास ही है। वह है ब्रह्म तत्त्व। जिसको जानने से सबका ज्ञान हो जाता है। जैसे मिट्टी को जानने से मिट्टी के विकारों का ज्ञान हो जाता है। जैसे रस्सी ही धारा, माला, भूछिद्र, दण्ड होकर भासती है। रस्सी के ज्ञान से ही इन सबका ज्ञान हो जाता है।

जब श्वेतकेतु विद्या का अभिमान लेकर लौटा तो पिता ने उसके अहम् को तोड़ने के लिए कहा—जिस एक के ज्ञान से सर्व का ज्ञान हो जाता है वह विज्ञान

बताओ। छान्दोग्य उपनिषद् कहती है उस तत्त्व को जानो जिसके जानने से सबका जानना हो जाता है, जिस एक के गुनने से सबका गुनना हो जाए, जिस एक के श्रवण, मनन, दर्शन से सबका श्रवण, मनन, दर्शन हो जाये। एक ऐसा तत्त्व वेदान्त का ब्रह्म तत्त्व ही है। इसी एक तत्त्व का ही सकल पसारा है। इसलिए सन्तों ने गाया—

हरिरेव जगत् जगत् रेव हरि
सीयराम मय सब जग जानी।
करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी।।

वैज्ञानिक भी Matter के स्थान पर Energy की सत्ता मानने लगे हैं। Matter is nothing but energy. विज्ञान अणु परमाणु का विश्लेषण करते-करते वे Energy तक पहुंचते हैं। पर Energy का स्वरूप क्या है जड़ है या चेतन इसका उत्तर उनके पास नहीं है। यद्यपि बहुत से चोटी के वैज्ञानिक Energy के स्वरूप को चेतन Spiritual मानने लगे हैं क्योंकि Energy में matter के कोई गुण शेष नहीं बचते। जो जगह घेरे और वजन रखे उसे Matter कहते हैं। पर Energy में ये दोनों गुण ही शेष नहीं बचते। आज विज्ञान वेदान्त या मन्दिर के गर्भगृह के ड्योढ़ी पर खड़ा है, जिस दिन वह अपने चेतन स्वरूप को पहचान लेगा उस दिन विज्ञान का स्वतंत्र अस्तित्व समाप्त हो जायेगा, विज्ञान विज्ञान न रह कर दर्शन में ही परिणत हो जायेगा। और जिन वैज्ञानिकों ने चेतन की अनुभूति की वे विज्ञानवेत्ता से दर्शनवेत्ता बन गये। नोबल पुरस्कार विजेता ओपनहिमर रामकृष्ण मिशन का शिष्य बन गया एवं विज्ञानवेत्ता से दर्शनवेत्ता बन गया। ऐसे ही बर्गसा एडिंगटन, श्रोडिंज़र, आदि। वर्तमान में कोपरा। भारतीय ऋषि तो प्रारम्भ से ही विज्ञानवेत्ता के साथ-साथ दर्शनवेत्ता हुए हैं। Energy के चेतन स्वरूप सभी को मान्य नहीं है। पर इतना निर्विवाद है Energism के सिद्धान्त से भौतिकवाद का महल ढह गया। बर्ट्रेंड रसेल कहते हैं जिन ईंट एवं चूने पर भौतिकवाद का महल खड़ा था वह ही कच्चा निकला। इस प्रकार आज Materialism के स्थान पर Energism के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जा रहा है। इसी के आधार पर सारी सृष्टि की व्याख्या प्रस्तुत की जा रही है। उनके अनुसार Energy विविध रूपों में विलसित होती रहती है। और Energy ही Matter में परिवर्तित हो जाती है Matter Energy में। वैसे ही वेदान्त में सर्वातीत जो ब्रह्म है वह अचिन्त्य माया शक्ति के योग से एक ही तत्त्व जगत्, जीव और जगदीश्वर रूप में विलसित हो रहा है या सर्व रूप होकर विलसित हो रहा है। इन तीनों में भेद व्यावहारिक दृष्टि से ही है।

जगत्—सृष्टि भोग्य

जीव—भोक्ता

जगदीश्वर—सृष्टिकर्ता

इस प्रकार तीनों में भेद है पर एक ही सत् चित् आनन्द तत्त्व तीनों में विलसित हो रहा है। जैसे जल तत्त्व ही जल के नाना विकारों में विलसित होता है। कोई भी अंश अपने अंशी से अभिन्न होता है। जैसे तरंग, बुद-बुद में भेद पर जल से तो अभिन्न हैं। वैसे सच्चिदानन्द तत्त्व एक है पर मायाशक्ति के योग से सर्गावस्था में तीन रूपों में विभक्त हो जाता है।

सृष्टिकाल में भगवदनुग्रह से माया के तीन विभाग। विशुद्ध सत्त्व के योग से जगदीश्वर, मलीन सत्त्व के योग से जीव और तमोगुण के योग से जगत्। एक को ही तीन रूप में विलसित करना माया शक्ति का कमाल है।

जगत् कार्य रूप से असत् कारण रूप से सत्य

वेदान्त किसी भी वस्तु को बाधकर (=निषेध कर) उसको शाश्वत जीवन प्रदान करता है। इसलिए वेदान्ती अत्यन्त सहृदय होता है। बौद्धों के यहां जगत् शून्य का विवर्त है अतः जगत् का मूल शून्य और जगत् के नष्ट होने पर शून्य बचता है। अतः बौद्धों के यहां जगत् के नष्ट होने पर शून्य बचता है। पर वेदान्त जगत् के मूल में अधिष्ठान में सत् (ब्रह्म) को मानता है। अतः जगत् के नाश से ब्रह्म की सत्ता शेष रहती है। जगत् कार्य रूप से मिथ्या-असत् पर कारण रूप से सत् है। समुद्र तरंग रूप से मिथ्या पर जल रूप से सत् तरंग की अपेक्षा जल को सत् मानने के लिए प्रत्येक विचारक व्यावहारिक एवं दार्शनिक दृष्टि से बाध्य है। आदि अन्त और मध्य में जल ही है। तरङ्ग माला को मृत्यु के भय से मुक्त करने के लिए कहते हैं तरङ्ग माला माना तू कार्य रूप से असत् पर उपादान कारण जल के रूप में सत्य है। जल ही तेरा जीवन है, वास्तविक स्वरूप है। तू अपने को मूल रूप से जल मान और अपने को दुःख से मुक्त मान। इस दो मिनट के सत्सङ्ग से अनन्त (यानी अरब-खरब) वर्ष की आयु प्राप्त कर सकता है। जल की आयु ब्रह्मा की आयु के बराबर है। मात्र आठ-दस घण्टों का अन्तर हो सकता है जिसे महाभारत के शान्तिपर्व से प्राप्त किया जा सकता है। इस प्रकार तरङ्ग माला की जल रूप में स्वीकृति एवं अनुभूति मात्र से मृत्यु के भय से मुक्त होकर प्रायः ब्रह्मा के समकक्ष आयु प्राप्त कर सकता है।

सत् कार्यवाद के अनुसार किसी भी वस्तु का निरवयव नाश नहीं होता। महाप्रलय में जल रूप से शेष नहीं पर अव्यक्त-प्रकृति रूप से शेष रहता है।

ब्रह्म + महत्त तत्त्व = ब्रह्मा। महत्त तत्त्व= समष्टि बुद्धि

ब्रह्मा - महत्त बुद्धि = ब्रह्म।

ब्रह्माजी के नाश का अर्थ है जड़ और चेतन का अलग हो जाना। प्रारब्ध निमित्तक संयोग का टूट जाना। जड़ व चेतन का यह काल्पनिक सम्बन्ध है।

जड़ विभाग प्रकृति होकर अवशिष्ट रहता है प्रलय में और चेतन ब्रह्म होकर अवशिष्ट रहता है।

इस प्रकार महाप्रलय में हम भी जड़ रूप से प्रकृति और चेतन रूप से ब्रह्म होकर रहते हैं।

तब तो बिना प्रयास के महाप्रलय में सब मुक्त हो जाते हैं। जैसे सभी नदियों का जल समुद्र में मिल जाने पर उसे गंगा-यमुना के रूप में अलग-अलग नहीं किया जा सकता। यह मानव के लिए भले शक्य न हो। पर यह बात ईश्वर पर लागू नहीं होती क्योंकिं कर्तुम-अकर्तुम अन्यथा कर्तुम समर्थ ईश्वर सर्गावस्था में अकृतार्थ जीवों के लिए पूर्व संस्कारों के आधार पर, कर्मों के आधार पर पुनः सृष्टि के समय शरीर प्राप्त हो जाता है। अतः जब तक कृतार्थ या मोक्ष लाभ नहीं करते तब तक आवागमन का क्रम चलता रहता है। कैवल्य मोक्ष एकत्व के विज्ञान से प्राप्त होता है।

अतः जगत् की निवृत्ति का उतना महत्त्व नहीं जितना तत्त्व ज्ञान से कैवल्य की प्राप्ति का है। क्योंकि वैसे तो सुषुप्ति, मूर्च्छा, प्रलय, महाप्रलय, जड़ समाधि में जगत् की तात्कालिक निवृत्ति हो जाती है पर संसार के प्रति राग रहने के कारण आत्यन्तिक या तात्त्विक निवृत्ति नहीं। फलतः व्युत्थान दशा में पुनः संसार आ घेरता है। अतः जड़ वस्तुओं में मिथ्यात्व का दृढ़तापूर्वक निश्चय होकर आत्मा की अद्वितीयता का बोध अनिवार्य है।

जगत् का दर्शन नहीं जगदीश का दर्शन। जगदीश के कारण जगत् सत् चित् आनन्द लगता है, आकर्षक लगता है—

विचार करने पर स्पष्ट होता है जगत् की न स्वयं में निरपेक्ष सत्ता ही है, न जगत् का आज तक किसी को दर्शन हुआ है और न भविष्य में होने की सम्भावना है। प्रतिक्षण हमें जगदीश्वर का ही दर्शन होता है पर हम उसे जगत् मान लेते हैं जैसे लोहे को हम माइक मान लेते हैं, सोने को आभूषण मान लेते हैं। बिना सोने का आभूषणों का दर्शन नहीं वैसे ही जगदीश के बिना जगत् का दर्शन नहीं। क्योंकि जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादान-कारण स्वयं ईश्वर है। जब ईश्वर का ही दर्शन जगत् का नहीं, तब मुक्ति क्यों नहीं होती हमारी। यह दर्शन विधिपूर्वक न होकर अविधिपूर्वक होने के कारण।

ईश्वर सत् चित् आनन्द स्वरूप है। जगत् उसके आश्रय में रहने से सत्, चित् एवं आनन्द सरीखा मालूम पड़ता है। जगत् में हमें जो आकर्षण, रमणीयता

परिलक्षित होती है वह सच्चिदानन्द भगवद् सत्ता के कारण है। यदि सच्चिदानन्द भगवद् तत्त्व जगत् के अधिष्ठान होकर न साधें तो जगत् का दर्शन कैसे सम्भव हो सकता है। और बिना दर्शन के आकर्षण कैसा? सच्चिदानन्द परमात्मा से सत्ता, चित्तता, प्रियता लाभ कर जगत् का सत् चित् आनन्द रूप से परिलक्षित होकर जीव को आकर्षित करता है। अतः भगवद् तत्त्व आश्रय के कारण जगत् आकर्षक लगता है। इसी तथ्य को आत्मसात् करने के कारण महात्मागण परम महत्त भगवत् तत्त्व की प्राप्ति के लिए जगत् का त्याग कर देते हैं पर अन्यों को इसका बोध नहीं रहने से जगत् से ही चिपके रह जाते हैं और भगवान् को भुलाये रहते हैं। महात्मा त्यागी तो है क्योंकि बड़े को पाने के लिए छोटे का त्याग जबकि सेठ महात्यागी है क्योंकि छोटे, तुच्छ (जगत्) के लिए भगवान् (परम महत्त) का त्याग कर देते हैं।

जगत् में जो आकर्षण है वह भगवान् का दिया हुआ है, आभूषण का आकर्षण स्वर्ण का ही है। सुनार की दृष्टि गहने की नक्काशी पर न होकर उसकी वास्तविक दृष्टि सोने पर ही, उसके आधार पर आकलन करता है। सुनार की तरह हमारी भी, पारखी दृष्टि होनी चाहिये जगत् का मूल भगवत् तत्त्व में ही हमारी दृष्टि होनी चाहिये। एक जौहरी ने महाराजजी से कहा—वेदान्त पढ़ते-पढ़ाते आप हैं पर लाभ हम उठाते हैं। खरीदते समय हम आभूषणों का मूल्य सोने की दृष्टि से आंकते हैं और बेचते समय नक्काशी और सोना दोनों का मूल्य वसूलते हैं। तत्त्व निर्णय कठोर चित्त से पक्षपात व राग-द्वेष से रहित होना चाहिये। दार्शनिक लोग तत्त्व विचार करते समय व्यावहारिक मान्यताओं, भावनाओं को ताक पर रख कर करते हैं। पर आचरण के समय व्यवहार के समय जैसे मधुसूदन सरस्वती भक्ति रसायन में कहते हैं कोई भक्त भक्त नहीं जिसका हृदय भगवत् कथा सुनकर द्रवित नहीं होता। तुलसीदास भी कहते जो भगवान् के कष्ट को सुनकर भक्त के आंख में अश्रु न आये तो वह आंख आंख नहीं पत्थर है। हमें आत्म तत्त्व बुद्धि से समझ लेने के पश्चात् भी हृदयंगम नहीं होता क्योंकि जन्म से ही शरीर एवं संसार से परिचित होते हैं। जितने भी सम्बन्ध बनते हैं वह शरीर के आधार पर ही, रक्त के आधार पर ही। जैसे-जैसे बड़े होते हैं, शिक्षा पाते हैं सर्वत्र शरीर, मन, बुद्धि को लेकर ही सारा व्यवहार होता है। शरीर-मन, बुद्धि के ही विकास का प्रयास होता है उसी को सर्वस्व मानकर शिक्षा, उद्योग आदि सारे इन्हीं के उपयोग एवं विकास के निमित्त हैं। फिर हमारे अनन्त जन्मों के संस्कार भी इन्हीं के हैं उसी के अनुसार दृष्टि विकसित हुई है।

अतः शिक्षा और संस्कार के आधार पर हमारी दृष्टि विकसित हो जाती है। जैसे पुलिसमैन पूर्व शिक्षा के संस्कार के कारण सभी को शक की दृष्टि से देखेगा भले ही वह रिटायर्ड होकर साधु क्यों न हो गया हो? उसकी प्रथम दृष्टि में सभी

चोर, बदमाश, गुण्डे ही हैं। वैसे ही वकील के लिए सभी झूठे ही हैं क्योंकि उन्हें वैसा ही शिक्षा के माध्यम से सिखाया गया है। वैसे ही ज्ञानी या तत्त्वज्ञ की दृष्टि ऐसी विकसित होती है कि सभी के मूल में अधिष्ठान में परमात्मा ही समाया हुआ है।

जगत् चिदाभास (भगवत् तत्त्व का आभास) है जैसे सूर्य की रश्मि दर्पण में प्रतिफलित होती है, प्रतिबिम्बित होती है। लगता है कि दर्पण में से रश्मि निकल रही है, दर्पण में रश्मि प्रतिफलित होने का कारण सूर्य है। अतः उसकी ओर (सूर्य पर) दृष्टि केन्द्रित करने से दर्पण का दर्शन सम्भव नहीं वैसे ही जगत् के परम अधिष्ठान जगदाश्रय का अनुसंधान करते हुए परमात्मा की ओर मन को केन्द्रित कर देने पर जगत् का दर्शन सम्भव नहीं, दर्शन ही नहीं तो आकर्षण कैसा?

कदाचित जगत् के नाम-रूप में तादात्म्य हो गया तो विवेक का आश्रय लेकर जागरूक होवें। तुलसीदासजी भी चिद्विलास को बुझते-बुझते बुझे। जगत् मिथ्या है समझने पर भी जगत् धीरे-धीरे ही बुझता है एकाएक नहीं, इसके लिए क्रमिक अभ्यास करें। यद्यपि जगत् मिथ्या है फिर भी वह सहजता से छूटता नहीं अनन्त जन्मों के पूर्व संस्कार के कारण। अतः क्रमिक अभ्यास की आवश्यकता है। चित्त-जड़ ग्रंथि पड़ गई है जो मिथ्या पर छूटती नहीं।

(क) सर्वप्रथम में जगत् को पंचभूतों का विलास समझना चाहिए। वेदान्तेतर दार्शनिकों की दृष्टि से। न्याय-वैशेषिक की दृष्टि से।

(ख) फिर सांख्य और योग का आश्रय लेकर जगत् को प्रकृति या प्रधान का विलास समझें। पंचभूतों को साधे है प्रकृति। उस प्रकृति का विलास जगत् है।

(ग) प्रकृति को साधे हुए है भगवान्। अतः जगत् चिदाभास है। इसी रूप में जगत् को देखें (वेदान्त दृष्टि) **मयाध्यक्षेण प्रकृतिः, सूयते सचराचरम्।** 9/10 गीता

माया ब्रह्म के समाश्रित होकर नाम-रूपात्मक जगत् रूपी पुष्प को खिलाती है।

प्रथम जगत् भूतों का विलास, फिर प्रकृति का विलास, फिर जगदीश का चिद्विलास, फिर विवर्त, फिर चिन्मय दृष्टि और अन्त में जगत् चिन्मात्र ही दीखे।

एक वकील ने स्वामी करपात्रीजी महाराज से कहा, आप इतने सुन्दर, व्यवस्थित, आनन्दप्रद संसार को और फिर आज विज्ञान के कारण कितना विकास हो गया है पर आप बड़ी निष्ठुरता से मिथ्या कह देते हैं। स्वामीजी, नहीं। हम तो कहते हैं जगत् में जो सुन्दरता है वह भगवान् की दी हुई है अतः हम दोनों का आनन्द लेते हैं। कड़वा-कड़वा थू, मीठा-मीठा ग्रहण करते हैं। जगत् में जो सुन्दरता दिखती है वह तो भगवान् की ओर जो असुन्दरता है, वह तो मिथ्या है, असत् है, टिकने वाली नहीं है।

वैसे ही हिमालय के दो महात्माओं ने करपात्रीजी से प्रश्न किया। तत्त्व दृष्टि से जगत् मिथ्या होने से, ये पूत पवित्र एवं साधना के सबसे उपयुक्त आकर्षक हिमालय कहां चले जायेंगे। उत्तर-हिमालय जहां है वही ब्रह्मसिद्ध हो जायेंगे। इस प्रकार जगत् जहां कहीं है चिद्‌विलास सिद्ध हो जायेंगे। इस पर डॉ. सम्पूर्णानन्द ने चिद्‌विलास पुस्तक लिखी है।

उक्त रीति से जगत् में उसके अधिष्ठान का, मूल कारण का अनुसंधान करते-करते उन्नत दृष्टि प्राप्त हो जाती है, तत्त्व दृष्टि प्राप्त हो जाती है। उनके लिए नाम-रूपात्मक जगत् का अभानात्मक अभाव हो जाता है, केवल परमात्म तत्त्व का ही दर्शन होता है। यही तत्त्वज्ञ महापुरुषों का लक्षण है।

सीयराम मय सब जग जानी।
करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी।।

जगत् को सत्य मानने वाले विचारकों को भी जगत् को अनित्य एवं विकारी मानना पड़ता है। जगत् की सत्यता भगवान् की कोटि की नहीं है। जगत् बनता और बिगड़ता रहता है अतः अनित्य है, पर भगवान् अनित्य नहीं है उनके यहां। इसलिए जगत् को भले ही मिथ्या न मानें पर अनित्य दुःखप्रद समझकर भगवत्-अराधना में ही जीवन की सार्थकता मान्य है। विशिष्टाद्वैती वैष्णव आचार्य ही नहीं, द्वैतवादी, त्रेतवादी भी जगत् से वैराग्य चाहते हैं।

त्रेतवादी जीव जगत् और ब्रह्म की सत्ता स्वीकारते हैं। प्रकृति सत् है अर्थात् उसकी सत्ता है। किन्तु उसमें चेतना और आनन्द का अभाव है। जीव सत् और चित् दोनों हैं। उसकी सत्ता भी है, चेतना भी है किन्तु उसमें आनन्द का अभाव है। इसलिए आनन्द के लिए तरसता रहता है। ईश्वर में सत्, चित् और आनन्द तीनों गुण हैं। सृष्टि की सर्वोच्च सत्ता भी वही है। सृष्टि की समस्त चेतना का सबसे प्रथम कारण एवं पूर्ण भण्डार भी वही है। तथा पूर्ण आनन्द का स्वरूप भी वही है। जीव जो प्रकृति और परमेश्वर के बीच में खड़ा है प्रकृति की ओर न जाकर परमेश्वर की ओर जाना चाहिये। प्रकृति की ओर जाने से वह भोगी और रोगी बनता है और परमेश्वर की ओर जाने से वह योगी बनता है। प्रकृति के वश में हो जाने से वह चेतना से जड़ता की ओर जाता है और परमेश्वर की ओर जाने से वह सच्चिदानन्द की उपलब्धि करता है। मानव आध्यात्मिक साधना के लिए त्रेतवाद की सीढ़ी बड़ी उपयोगी है। इससे दर्शन की तिपाई के तीनों पादों का परस्पर सम्बन्ध भी स्पष्ट होता है अतः त्रेतवादी प्रारम्भ में प्रकृति, जीव और ब्रह्म के भेद से और उनकी तीन पृथक् सत्ताओं से विवेचन शुरू करते हैं। द्वैतवादी आगे चलकर दो ही सत्ता मानता है जीव और ब्रह्म चेतन है और प्रकृति जड़ है अतः

प्रकृति पुरुष दो को ही मानता है और जब तक जीव भगवान् को भुलाकर प्रकृति के चक्र में पड़ा रहता है तब तक जन्म के गर्भ से कर्म और कर्म के गर्भ से जन्म का चक्र चलता है। अतः प्रकृति का अतिक्रमण कर पुरुष के शरण में जाने की बात कहते हैं।

वैष्णवाचार्य भगवान् को चित्त कहते हैं जगत् को अचित्त। भगवान् सच्चिदानन्द एवं जगत् को दुःखों का आलय। तब जब भगवान् को सत् कहेंगे तो जगत् को क्या कहेंगे—असत्। वंध्यापुत्र की भांति असत् नहीं, भगवान् की भांति सत् नहीं अपितु मिथ्या है।

जगत् असत् है पर वैष्णवाचार्य जगत् को सत्य इसलिए मानते हैं कि कोई अपरिपक्व बुद्धिवाला भगवान् के नाम-रूप लीला धाम आदि को भी इस मिथ्यात्व के व्यामोह में पड़कर ताक पर न रख दे। सगुण-साकार भगवान् के प्रति परम अनुरक्ति के कारण और भक्तों का कल्याण हो इस भावना से प्रेरित होकर उन्होंने जगत् को सत्य कहा।

वैष्णवाचार्य जगत् को सत्, जगत् में विलास के लिए नहीं भक्ति की पुष्टि के लिए। तभी सभी वैष्णव जगत् से परमविरक्त हुए हैं जैसे चैतन्य महाप्रभु आदि। अतः प्रारम्भिक साधना की दृष्टि से एवं भक्ति प्रधान साधकों का अहित नहीं हो, इस दृष्टि से जगत् को सत्य माना है।

योग के अनुसार भी जगत् सत् है। पर योगियों की मान्यता पांच प्रकार की वृत्तियों (प्रमाण, विकल्प, विपर्यय, स्मृति एवं निद्रा) का अक्लिष्ट उपयोग जगत् को मिथ्या मानकर उससे विरत होना ही है।

भागवत के अनुसार भी जगत् अनित्य एवं दुःखप्रद सांसारिक जीवन के स्थान पर भगवत् तत्त्व प्राप्ति ही जीवन की सार्थकता है।

ऋषि अरविन्द ने भी जगत् को अवास्तविक वास्तविकता Unreal reality कहा। विज्ञान भी जगत् की सत्ता को सापेक्ष स्वीकार करता है निरपेक्ष नहीं। जिसमें आधार, आधेय की अन्तहीन श्रृंखला चलती है। जो एक दूसरे पर अवलम्बित है। जो उसके मूल आधार को कभी नहीं जान सकता। अतः विज्ञान भी जगत् की निरपेक्ष सत्ता नहीं स्वीकारता।—आइंस्टाइन

हम सब की भी अनुभूति है शरीर एवं संसार एवं उसके धन वैभव को कितना ही चिपकाकर रखें वह अन्त तक टिकता नहीं, हाथ से निकल जाता है। चाहे राजा हो या फकीर। अतः शरीर व संसार हमें छोड़े उससे पूर्व ही हमें शरीर व संसार छोड़ने की तैयारी कर लेनी चाहिए। इसलिए वानप्रस्थ व संन्यास की व्यवस्था है गृहस्थाश्रम के बाद स्वाभाविक क्रम से।

संसार में सुख है यह भ्रान्ति ही है। इसके लिए संसार की तुलना पागल गीदड़ी से की जाती है। इसलिए जो आचार्य जगत् को सत्य मानते हैं वे भी अनित्य, दुःखप्रद जानकर इसे वरण योग्य नहीं वैराग्य योग्य है, उसमें मन नहीं लगाना ही उन्हें अभीष्ट है तब फिर जो जगत् को मिथ्या मानते हैं वे तो उसमें मन लगा ही नहीं सकते। उनके लिए एकमात्र कमनीय, वरणीय भगवान् है यही सार्वभौम सिद्धान्त है। अतः हमारी साधना का प्रारम्भ कार्य से कारण की ओर होना चाहिए।

यानी हमारी विकास की यात्रा—

जगत् से ब्रह्म की ओर होनी चाहिये।

स्थूल से सूक्ष्म की ओर।

विशेष से निर्विशेष की ओर होनी चाहिये।

कार्य से कारण की ओर होनी चाहिये।

कार्य की अपेक्षा उपादान कारण निर्विशेष, सूक्ष्म, शुद्ध एवं व्यापक होता है। यह सिद्धान्त सांख्य, योग, वेदान्त को समान रूप से मान्य है।

गुण से व्यक्ति का ह्रास यानी स्थूल हो जाता है।

जितने गुण जुड़ेंगे उतना ही स्थूल।

व्यवहार में तो गुणों के आधार पर ही समाज में स्थान एवं उसी अनुपात में पूजा जाता है। अतः बाह्य स्थूल दृष्टि से तो यही लगता है मान्यता सविशेष की है निर्विशेष की नहीं। पर सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर सविशेष की अपेक्षा निर्विशेष की अधिक उपयोगिता व्यवहार में भी सिद्ध है।

लोक में अवश्य गुण की ही पूजा होती है पर अन्त में सब गुण की पूजा निर्गुण में समा जाती है। साकारवाद का आश्रय अजातवाद ही सिद्ध होता है अन्यथा अनवस्था दोष की प्राप्ति। अनित्य जगत् का आश्रय नित्य परमेश्वर ही है। अनित्य का मूल अनित्य, अचित् का मूल अचित्, जन्मशील का मूल जन्मशील मानने पर अनवस्था दोष की प्राप्ति होती है।

सबके पिता प्रजापति कश्यप—प्रजापति के पिता ब्रह्मा (स्वयंभू), ब्रह्मा के पिता विष्णु स्वयं (अजन्मा)। विष्णु स्वयं है उसके कोई पिता नहीं हो सकता। अतः सगुणवाद का स्वाभाविक अन्त अजातवाद में होता है। प्रत्येक उत्तम विचारक मूल कारण को अज मानते हैं। न्याय-वैशेषिक चार भूतों के परमाणु को अज, सांख्य, प्रकृति पुरुष को अज एवं वेदान्त अष्ट आवरण को भेदकर कारणातीत ब्रह्म तक पहुंचता है जो अज है। एवं अज की अन्तिम परिणति अजातवाद में ही होती है।

और अज से जो उत्पन्न होगा वह अजात ही उत्पन्न होगा। यानी साकारवाद की परिणति अजातवाद में होती है। गेहूं से गेहूं उत्पन्न होता है, चने से चना, शेर से शेर उत्पन्न होता है। परमात्मा क्या है अज। तो अज से अजातवाद ही उत्पन्न होगा।

पृथ्वी की अपेक्षा जल निर्विशेष है।
जल की अपेक्षा अग्नि निर्विशेष है।
अग्नि की अपेक्षा वायु निर्विशेष है।
वायु की अपेक्षा आकाश निर्विशेष है।
आकाश की अपेक्षा महत्त निर्विशेष है।
महत्त की अपेक्षा अव्यक्त निर्विशेष है।

निर्विशेषता से सूक्ष्मता, सूक्ष्मता से शुद्धता, शुद्धता से व्यापकता का आधान होता है। जितनी निर्विशेषता उतनी सूक्ष्मता आ जाती है। जितनी सविशेषता उतनी स्थूलता। पृथ्वी, जल, तेज, वायु एवं आकाश में उत्तर-उत्तर की अपेक्षा पूर्व-पूर्व सविशेष (अधिक विशेषता वाले) हैं और पूर्व-पूर्व की अपेक्षा उत्तर-उत्तर निर्विशेष जैसे पृथ्वी में पांच गुण—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध है। जल में चार गुण—शब्द, स्पर्श, रूप और गंध है। अग्नि में तीन गुण—शब्द, स्पर्श और रूप है। वायु में दो गुण—शब्द और स्पर्श हैं। आकाश में केवल एक गुण है—शब्द। किन्तु उपयोगिता पूर्व-पूर्व की अपेक्षा उत्तर-उत्तर की अधिक है।

अन्न के बिना हम कुछ दिन जीवित तक रह सकते हैं। जल के बिना उससे कम समय तक जीवित रह सकते हैं। अग्नि के बिना उससे भी कम समय तक जीवित रह सकते हैं। वायु के बिना उससे भी कम समय तक जीवित रह सकते हैं। एवं आकाश के बिना अनुग्रह के न चारों भूतों का ही अस्तित्व होगा और न हमारा स्थूल शरीर का ही अस्तित्व रह सकता है। अतः निर्विशेष की उपयोगिता लोक में भी सिद्ध है। अतः कार्य की अपेक्षा कारण का महत्त्व अधिक है। जितने विषयी बनेंगे उतने ही स्थूल। विषय मन में प्रवेश कर जाते हैं और मन विषयों में। दोनों एक-दूसरे से अलग रहे। न विषय मन में प्रवेश करे न मन विषयों में प्रवेश करे। इस दृष्टि से सनत्कुमार का प्रश्न ब्रह्माजी से। विषय और मन परस्पर घुल-मिल गया है। मन गुंथ गया है विषयों में। जैसे मछली जल से अनन्य हो जाती है, उसके बिना जीवित नहीं रह सकती। चाशनी में बूंदी और बूंदी में चाशनी परस्पर घुल-मिल जाते हैं। मन विषय रूपी चाशनी में पग गया है। अतः विषय और मन को अलग-अलग कैसे करें? सनत्कुमार का प्रश्न ब्रह्माजी से भागवत में। और ब्रह्माजी का उत्तर हंसोपाख्यान में।

कार्य की अपेक्षा कारण का चिन्तन करने से बुद्धि सूक्ष्म होती जायेगी। जितनी बुद्धि निर्विशेषता युक्त, सूक्ष्मता युक्त होगी उतनी ही शुद्ध। जैसे आकाश चारों भूतों से अप्रभावित रहता है। आत्मा के समान आकाश को पृथ्वी की तरह न शस्त्र से काटा या छेद किया जा सकता है, न जल से भिगोया जा सकता है, न अग्नि से जलाया जा सकता है, न वायु से सुखाया जा सकता है। ब्रह्म तो आकाश का भी आकाश है।

ब्रह्मकुमारियों का ईश्वर सर्वव्यापी नहीं क्योंकि इससे ब्रह्म को शौचालय में मानना पड़ेगा तब उसकी शुचिता खण्डित हो जायेगी। अतः उनका ईश्वर तो आकाश, सूर्य, चन्द्र, तारों से भी घटिया है।

अव्यक्त की अपेक्षा ब्रह्म निर्विशेष है।

पांच भूतों की बीजावस्था, सबकी पिटारी अव्यक्त प्रकृति में। अव्यक्त रूप बीज को ब्रह्म रूप मिट्टी में बोने से जगत् रूप फल मिलेगा।

यहां प्रकृति=अंकुरोत्पादनी शक्ति युक्त बीज।

ब्रह्म=मिट्टी जिसमें बीज बोया जाता है, अधिष्ठान।

अतः प्रकृति रूपी बीजोत्पादनी शक्ति में ज्ञान का घुन लग जाये तो अंकुर नहीं, तब मिट्टी (ब्रह्म) ही शेष बचेगी। अतः निर्विशेषता की महिमा व्यावहारिक जीवन में बहुत है। अतः ब्रह्म ही तत्त्व सिद्ध होता है। आकाश के अन्दर भूत चतुष्टय हो सकते हैं क्योंकि वह पोला है। पर ब्रह्म तो सत्घन, चिद्घन एवं आनन्दघन होने से ठोस ब्रह्म के अन्दर जगत् नहीं हो सकता। ब्रह्म सर्वव्यापी, सर्वातीत होने से, निरतिशय वृहद होने से ब्रह्म के बाहर भी जगत् नहीं अन्यथा ब्रह्म की सर्वव्यापकता खण्डित हो जायेगी। जैसे रस्सी के न बाहर और न अन्दर ही सर्प है। काष्ठ के न बाहर, न भीतर ही मेज है सिर्फ काष्ठ ही काष्ठ है। वैसे ही सर्वत्र ब्रह्म ही ब्रह्म है। पर हमें ब्रह्म की प्रतीति न होकर जगत् की प्रतीति होती है उसका कारण माया है जिसकी अनिर्वचनीय शक्ति के कारण हमें भ्रम हो रहा है। जगत् को ब्रह्म के भीतर मानेंगे तो ब्रह्म की सत् चित् आनन्दघनता नष्ट, बाहर होने पर ब्रह्म की सर्वव्यापकता एवं अद्वैतता खण्डित यानी द्वैत सिद्ध हो जायेगा। अतः जगत् है ही नहीं ब्रह्म ही है। जो जगत् रूप में भासता है वह भ्रम के कारण है।

इस श्लोक के माध्यम से भगवान् अर्जुन को प्रबोधित कर रहे हैं इस असत् मिथ्या शरीर की रक्षा के नाम पर कर्तव्य का त्याग एवं आत्मा का हनन उचित नहीं है। तात्कालिक मूल्यों (शरीर व संसार) की रक्षा के लिए शाश्वत मूल्य धर्म, ईश्वर, आत्मा, परिवार की रक्षा के नाम पर देश की हत्या कथमपि

उचित नहीं है। जड़ से चेतन अधिक मूल्यवान है। अतः जड़ शरीर की रक्षा के लिए चेतन आत्मा को कलंकित मत होने दे। नश्वर के लिए अविनश्वर को मत त्यागो। क्षुद्र के लिए महान् को मत ठुकराओ। व्यष्टि (भीष्मादि) के लिए समष्टि (देश) को क्षति मत पहुंचाओ। शरीर रूप से सदैव रह नहीं सकता। सत् आत्मा का कभी नाश हो नहीं सकता। अतः नश्वर शरीर का मोह त्याग कर अपने कर्तव्य का पालन करो।

अविनाशि तु तद्-विद्धि, येन सर्वमिदं ततम्।
विनाश-मव्ययस्यास्य, न कश्चित् कर्तु-मर्हति।। 2/17

जिसके द्वारा यह समस्त (संसार) व्याप्त है उसी को तू अविनाशी जान। इस अव्यय (आत्म-तत्त्व) का विनाश करने में कोई भी समर्थ नहीं है।

16वें श्लोक में सत् एवं असत्, दोनों को परिभाषित किया गया। 17वें श्लोक में सत् का और अधिक खुलासा कर रहे हैं। 16वें श्लोक में जिसे सत् कहा गया है उसे यहां तत शब्द से कहा जा रहा है। तत काल, देश, वस्तु से अबाधित होने के कारण सर्वव्यापी है और सर्वव्यापी का नाश करने में कोई समर्थ नहीं। यहां तक कि भगवान् शंकर भी नहीं।

नाश 'णश' धातु से बना है जिसका अर्थ अदर्शन है। तो सत् वह है जिसका अदर्शन यानी दर्शन का अभाव कभी नहीं होता है। उसकी अनुभूति चारों अवस्थाओं में समान रूप से विद्यमान है। जाग्रत में, तो सर्वविदित है ही। स्वप्न में भी अनुभूति बनी होती है और बहुत बार मैं स्वप्न देख रहा हूं इसकी स्पष्ट अनुभूति बनी रहती है तभी मनोनुकूल न होने से या भयानक स्वप्न होने से हम आंख भी खोल लेते हैं। स्वप्न में स्वयं की सत्ता नहीं होती हो तो स्वप्न की अनुभूति और बाद में याद कौन करता है। कुछ भूल जाते हैं, कुछ याद रहता है। सुषुप्ति में स्वयं की सत्ता एवं अनुभूति शेष रहती है तभी हम जागकर कहते हैं, सुख से सोया, कुछ नहीं जाना। और जागृति में तो स्पष्ट बोध होता है पहले स्वयं की अनुभूति होती है फिर अन्य विषयों का ज्ञान या मन में संकल्प-विकल्प या चिन्तन चलता है। और मैं की अनुभूति एक अखण्ड बचपन से लेकर शेष तक एवं तीनों या चारों अवस्था में एक-सी बनी रहती है।

जन्म और मृत्यु हमारी अनुभूति से परे की चीज। हम अन्यों को जन्मते या मरते देखते हैं, पर स्वयं अपने मृत्यु या जन्म की अनुभूति नहीं क्योंकि हम कभी मरते नहीं। क्योंकि मैं या आत्मा का अखण्ड जीवन है, सदा से है, सदा रहने वाला है अतः स्वयं के जन्म-मृत्यु का अनुभव नहीं। अगर मरे होते तो हमारी वर्तमान में सत्ता कैसे होती जब कल्प-दर-कल्प बीतने पर भी नहीं मरे तो भविष्य

में भी नहीं मरेंगे। शरीर छूटना और प्राप्त होना यह अलग बात है। यह हमारे जन्म या मृत्यु नहीं। फिर हम पुनर्जन्म को मानने वाले भी हैं। स्थूल व सूक्ष्म व कारण शरीर की दृष्टि से जन्म-मरण एवं पुनर्जन्म होता है। तृण जलुका न्याय से शरीर छूटने से पूर्व हमें भाव शरीर प्राप्त हो जाता है, अपने कर्मों के आधार पर। जैसे चलते समय पृथ्वी पर एक पांव जमाकर दूसरा पैर हम उठाते हैं। अतः स्वयं का अदर्शन कभी नहीं। अतः स्पष्ट है जो सत् है वही चित्त भी है। इसी समीकरण को स्पष्टतः अपने मन में बैठा लेवें जो सत् है वही चित्त। इसलिए इसका अदर्शन कभी नहीं होता। हां, इसको हम ईदमतया यानी Objectively यह, वह कह कर कभी नहीं जान सकते उसे तो Subjectively ही जान सकते हैं क्योंकि वह तो सबका द्रष्टा है, साक्षी है। उसकी चेतना से ही इन्द्रियां, मन, बुद्धि अपना-अपना कार्य करते हैं इसलिए सबसे पहले उसी की अनुभूति होती है। इसलिए पहले स्वयं की अनुभूति होती है फिर संसार के साथ व्यवहार हो पाता है। पहले स्वयं की अनुभूति फिर इन्द्रियां, मन, बुद्धि, अहम् का कार्य प्रारम्भ होता है। एवं सत् की पहली कड़ी त्रिकाल अबाधित और यहां सत् की दूसरी कड़ी या कसौटी बताई कि जो सत् है वही चित्त है। पहली कसौटी सत् काल, देश व वस्तु से अबाधित है, अखण्डित है। उसकी अगली कड़ी है जो सत् है वही चित्त है। अतः उसका अदर्शन कभी नहीं होता। वह चारों अवस्था में है बना रहता है, भासता है। अतः उसको मारने में कोई समर्थ नहीं है।

अन्तवन्त इमे देहा, नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य, तस्माद्-युध्यस्व भारत।। 2.18

(और इस) नाशरहित, अप्रमेय (अर्थात् जिसको अपने से अलग रूप से नहीं जाना जा सकता), नित्यस्वरूप शरीरी (अर्थात् शरीर में अभिव्यक्त हो रही आत्मा) के ये सब शरीर नाशवान् कहे गये हैं। इसलिए हे भरतवंशी (अर्जुन)! (तू) युद्ध कर।

देह के नाश से सचमुच हमारा नाश हो गया होता तो वर्तमान दशा में अपनी विद्यमानता 'मैं हूं' की अनुभूति कैसे करता। इससे सिद्ध होता है पूर्व देह के नाश से आत्मा का नाश नहीं। 'मैं हूं' की अनुभूति प्रत्येक व्यक्ति को होती है। अतः देह के नाश से आत्मा का नाश नहीं।

देह की विविधता से आत्मा में विविधता नहीं होती। सोने से पूर्व जागरण में मनुष्य की मान्यता अलग प्रकार की, स्वप्न में शरीर की मान्यता भिन्न प्रकार की। क्योंकि स्वप्न में नया शरीर मिलता है, एक शरीर नहीं कई शरीर मिलते हैं, स्वप्न के व्यवहार के लिए जितने शरीर आवश्यक होते हैं वह स्वयं ही तो अनेक रूप धारण करता है। सुषुप्ति का शरीर स्वप्न के शरीर से भिन्न होता है। इस

प्रकार जागरण, स्वप्न, सुषुप्ति आदि अवस्थाओं में देहों के भेद से अनेकता से आत्मा में भेद की प्राप्ति नहीं होती। यह प्रत्यभिज्ञा से भी सिद्ध है कि अवस्थाओं के भेद से आत्मा अभेद एवं एक है। 'सोऽयम् देवदत्त' पूर्वानुभूत की अनुसंधान पूर्वक अनुभूति से देवदत्त की एकता सिद्ध होती है, वैसे ही तीनों अवस्थाओं के शरीर की भिन्नता के बावजूद मेरी एकता तीनों अवस्थाओं में विद्यमान है। तीनों अवस्था का साक्षी मैं वही हूं।

सात प्रकार की सृष्टि—उद्भिज्ज, स्वेदज, अण्डज, जरायुज, मनसिज, स्वयंभू और स्वयं। भगवान् वेदव्यास की कृपा से संजय को 21 दिन तक दिव्य दृष्टि प्राप्त हुई थी। दुर्योधन के देह त्याग के पश्चात् दिव्य दृष्टि नष्ट हो गई। 18 दिन युद्ध के, मध्य में तीन दिन अवकाश के, कुल मिलाकर 21 दिन तक वेदव्यास की कृपा से संजय को दिव्य दृष्टि प्राप्त हुई थी। अब यदि ईश्वर की कृपा से हमें भी मात्र 5 मिनट के लिए दिव्य दृष्टि प्राप्त हो जाये और उसका उपयोग अब तक अपने द्वारा त्यागे हुए शरीर का दर्शन करे तो पायेंगे कि करोड़ों बार हम चमगादड़ बने, करोड़ों बार छिपकली बने, करोड़ों बार शेर, शिकारी, उर्वशी, आम, अमरूद बने, चारों प्रकार के शरीर बने, मनसिज, स्वयंभू बने। अनादि, अनन्त, असंख्य में गणित की गति नहीं होती। हमारे एक के द्वारा त्यागे गये शरीरों से करोड़ों ब्रह्माण्ड पट जायें।

शरीर दृश्य है आत्मा द्रष्टा है। दृश्य के नाश से द्रष्टा संज्ञा का नाश होता है स्वयं द्रष्टा का नहीं। पुत्र के नाश से पिता मिथ्या नहीं होता पिता संज्ञा मिथ्या हो जाती है, वैसे जगत् के नाश से ईश्वर संज्ञा मिथ्या हो जाती है, ईश्वर मिथ्या नहीं होता। देह के नाश से देही संज्ञा मिथ्या होती है। नाश साक्षी सापेक्ष है। भगवान् शंकराचार्य ने बौद्ध दर्शन का खण्डन मात्र गिने-चुने चार सूत्रों के आधार पर किया—

(1) विकल्पना निरधिष्ठान नहीं होती।

(2) नाश निरवधिक नहीं होता—किसी का नाश पूर्णतया नहीं होता, मात्र रूपान्तरण होता है। जिसे आज विज्ञान भी स्वीकारता है।

(3) उत्पत्ति असत्मूलक नहीं होती।

(4) बाध असाक्षिक नहीं होता।

कल्पना के मूल में असत् के मूल में सत् की सत्ता होती है। सत् के आधार पर ही असत् की, असली के आधार पर नकल की सत्ता चलती है। जैसे तीन रुपये का नकली नोट नहीं चलता। क्योंकि तीन का असली नोट भी नहीं है, जल (सत्) के आधार पर फेन, बूंद, लहर की सत्ता है। अतः कोई भी कल्पना बिना सत्य अधिष्ठान के कायम नहीं रहती।

नाश निरवधिक नहीं होता। नाश का तात्पर्य है कार्य का कारण में लय, व्यक्त का अव्यक्त में लय, कार्य का अपने मूल में लय। जैसे घट, पट, स्वर्णाभूषण का मूल पृथ्वी है, पृथ्वी का मूल जल है, जल का मूल अग्नि है, अग्नि का मूल वायु है, वायु का मूल आकाश है, आकाश का मूल अहम् है, अहम् का मूल महत्त है और महत्त का मूल अव्यक्त या प्रकृति है यह सांख्य दृष्टि है। वेदान्त की दृष्टि इससे भी ऊंची है। उसके अनुसार प्रकृति का मूल परमेश्वर है। अतः नाश का अर्थ व्यक्त का अव्यक्त में, कार्य का कारण में लय या रूपान्तरित मात्र होना है। अतः नाश निरन्वय नहीं होता।

उत्पत्ति असत् से नहीं हो सकती। उत्पत्ति जब भी होगी तो सत् से ही होगी। अभाव से भाव की उत्पत्ति सम्भव नहीं है।

और बाध या नाश साक्षी सापेक्ष है। जागरण के शरीर का नाश स्वप्न में हो जाता है, स्वप्न के शरीर का नाश सुषुप्ति में हो जाता है, और सुषुप्ति के शरीर का नाश जागरण के शरीर में हो जाता है। इन तीनों नाश का साक्षी आत्मा है। अतः अगर आत्मा का नाश होता तो इसका साक्षी कौन है?

हम इन चारों बिन्दु में पाते हैं कि शरीर साकार है और साकार का मूल निराकार है। अज है। साकारवाद का अनुशीलन करने पर भी अन्त में अजातवाद को मानना पड़ता है। हम अपना मूल खोजने चले पिता-पितामह, प्रपितामह से हम कश्यप आदि सप्त महर्षि उनके मूल ब्रह्माजी, ब्रह्मा के मूल विष्णुजी, विष्णु का कोई मूल नहीं। मूल का मूल, बीज का बीज नहीं अति प्रश्न नहीं होता, अति प्रश्न न करो, मौन होना पड़ेगा। शिवजी के विवाह के समय तीन पीढ़ियों के नाम की आवश्यकता हुई। शिवजी ने अपना पिता ब्रह्मा को बताया, ब्रह्मा का पिता विष्णु को बताया, अब विष्णु का पिता किसे बतायें क्योंकि आदि कारण तो अज होता है। यदि आदि कारण को अज न मानें तो अनवस्था (दार्शनिक) दोष प्राप्त होता है। इसलिए वैशेषिक दर्शन में चारों भूतों के कारण परमाणु अज हैं, अनादि हैं उसका कोई मूल नहीं है, सांख्य दर्शन का प्रकृति पुरुष अज और अनादि है। यानी अन्तिम कारण को अज मानने के लिए सभी बाध्य हैं। अतः चरम उपादान अज और अनादि होता है। पर चार्वाक इसे नहीं स्वीकारता। वह प्रत्यक्ष को ही एकमात्र प्रमाण मानने के कारण चार भूतों की सत्ता स्वीकारता है। उसका खण्डन 'मार्क्सवाद एवं रामराज्य' नामक ग्रन्थ में करपात्रीजी ने इस प्रकार किया है—इन्द्रियगोचर वस्तु सावयव होती है, सावयव कार्य होता है, कार्य अनित्य होता है, अनित्य स्वेतर निमित्तोपादान-कारण की अपेक्षा रखता है। निमित्त कारण- ज्ञानवान, इच्छावान, प्रयत्नवान चेतन पदार्थ जो किसी धातु

को कार्य रूप प्रदान करे। उपादान कारण—वह मूल धातु जिसे कार्य रूप प्रदान किया जा सके।

चार्वाक ने अजातवाद को नहीं स्वीकार किया, परिणामस्वरूप उनके मत में उपरोक्त दोषों की प्राप्ति अनिवार्य रूप से हुई।

अजातवाद की सही अन्तिम परिणति आत्मवाद या ब्रह्म में होती है क्योंकि आत्मा या ब्रह्म के अलावा कोई अपने आपको अज सिद्ध नहीं कर पाते क्योंकि कोई काल से, कोई देश से तो कोई वस्तु से कट जाता है, जिसे हमने 2/16वें श्लोक में देखा।

एक वैष्णवाचार्य शंकराचार्यजी को देखकर चिढ़कर कहते हैं गेहूं से गेहूं, चने से चना, शेर से शेर उत्पन्न होता है। ईश्वर सत् है या असत्। जनता कहती सत्। तो सत् परमेश्वर से उत्पन्न जगत् असत् या मिथ्या कैसे हो गया। तब उत्तर में शंकराचार्य ने उनकी बात दोहराई—गेहूं से गेहूं, चने से चना, शेर से शेर उत्पन्न होता है। ईश्वर अज है या नहीं। जनता अज है। तो अज से अजातवाद ही उत्पन्न होगा इससे इनको चिढ़ क्यों? आर्यसमाजी व वैष्णवाचार्य शंकर मत को बिना ठीक से समझे आलोचना करते हैं।

अक्षय आयु का नाम आत्मा है और शरीर क्षय शील है। और जन्म से ही क्षय प्रारम्भ हो जाता है—शनैः-शनैः शीर्यते इति शरीरः। शरीर जो शनैः-शनैः जीर्ण और शीर्ण होता है। शरीर का नाश सुनिश्चित है, प्रतिक्षण इसका नाश होता है। जो भी सावयव है वह मृत्यु के मुख में ही है। 100 वर्षों में शरीर का वियोग होगा ही। शरीर को क्षेत्र भी कहा जाता है क्योंकि जिसका क्षरण होता है, क्षय होता है उसको क्षेत्र कहते हैं। बाध के द्वारा जिसका क्षय, नाश हो जाये। मृत्यु की जन्मतिथि क्या है? जो जन्म की तिथि है वही मृत्यु की जन्म तिथि है। मृत्यु के मुख में ही शरीर जन्म लेता है। अंग्रेजी वाले कहते हैं—Five year old यानी पांच वर्ष समाप्त। जितनी आयु हम लेकर आये हैं उसमें से पांच वर्ष समाप्त। अतः शरीर को नष्ट होने से कोई बचा नहीं सकता। एक संत का वक्तव्य है—न कोई मरेगा और न कोई बचेगा—यही द्वितीय अध्याय का सार है। आत्मा की दृष्टि से कोई मरेगा नहीं और शरीर की दृष्टि से कोई बचेगा नहीं। इसलिए 'अन्तवन्त इमे देहा' कहा। आत्मा नित्य है पर उसका शरीर अनित्य है।

कोई भी दार्शनिक शरीर को तत्त्व नहीं मानता। यहां तक कि चार्वाक भी शरीर को तत्त्व नहीं मानता। सभी के मत में शरीर विवर्त है, कल्पित है, दृश्य कोटि का है। वेदान्ती शरीर को ब्रह्म का विवर्त मानते हैं, सांख्यवादी प्रकृति का तो चार्वाक भूत चतुष्टय का। विवर्त या कल्पित होने से नाशवान है।

जिस प्रकार हम मकान में रहते हैं वैसे ही आत्मा नौ द्वार वाली पुरी (शरीर) में रहता है। शरीरों में रहने के कारण जीवात्मा को शरीरी कहते हैं। पुरियों (शरीरों) में रहने के कारण इसको पुरुष संज्ञा मिली है। जैसे परिव्राट संन्यासी घूमता रहता है, कभी फुटपाथ में, कभी मठ में रह जाता है, कभी मन्दिर में, महल में भी वास कर लेता है और प्रातः उठकर चल देता है। फिर कितने घरों में वास किया है उसकी चिन्ता नहीं करता, भूल जाता है। इसी प्रकार यह जीवात्मा न जाने कितनी पुरियों-देहों में रहा होगा, न जाने कितनी देहों में रहना शेष है। नित्य अविनाशी को कोई मार नहीं सकता और शरीर को सदा स्थिर नहीं रख सकते। फिर शोक किसका करना? यही ज्ञान भगवान् राम तारा को देते हुए कहते हैं—

छिति जल पावक गगन समीरा।
पंच रचित अति अधम शरीरा।।
प्रकट सो तनु तव आगें सोवा।
जीव नित्य केहि लगि तुम्ह रोवा।। 4/10/4-5 मानस

यह शरीर पंच भौतिक अनित्य है तथा आत्मा नित्य है, फिर शोक किसका करना। देह रूप पुर में आत्मा रहता है। आत्मा की जीव रूप से अभिव्यक्ति देहेन्द्रिय के योग से होती है। जैसे बिजली सर्वत्र होने पर बल्ब आदि के माध्यम से अभिव्यक्ति होती है।

देह आदि सावयव वस्तु की अभिव्यक्ति आठ रूपों में होती है। अतः शरीर और संसार के विषय आठ रूप में ही हमारा भोग का विषय बनता है—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध, सुख, दुःख एवं मोह रूप से। जैसे कमल पुष्प आठ रूप में हमारा दृश्य या भोग बनता है। दुःखी व्यक्ति के लिए कमल पुष्प की माला ज्वाला उत्पन्न करती है, सुखी के लिए आनन्द रूप और विरही व विरहिनी के लिए चांदनी रात झुलसाने वाली होती है, चोर के लिए दुःखप्रद। पतिव्रता स्त्री पति के लिए सुखप्रद, सौत के लिए दुःखप्रद एवं अन्य जिसकी उसके प्रति कामना बनी हुई थी पर उसे वह प्राप्त नहीं हो सकी, और उसके प्रति उसका आकर्षण मन से निकला नहीं उसके लिए मोह रूपा है। अपना शरीर भी अपने लिए ही भोग बनता है। गिलहरी भोजन के अभाव में अपनी पूंछ को खाकर अपना निर्वाह करती है। अपने शरीर की गंध तो हमारा नित्य का भोग बनती ही है। शब्द शब्द बन कर अपना शरीर अपना विषय बनता है। विटामिन का रसिक कटी अंगुली का रक्त चूसने के लिए अपने मुख में डाल लेता है। अपना मूत्र भी रस बन जाता, भोग्य बन जाता है औषधि रूप से। स्त्री-पुरुष के शरीर—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, सुख, दुःख, मोह रूप से एक-दूसरे के भोग बनते हैं।

शरीर दृश्य, ग्राह्य, नश्वर है अतः वह अनात्मा है। अनात्मा की परिभाषा- जिसका कालक्रम से वियोग हो, जिसके वियोग की प्रतिदिन प्रतीक्षा हो, जिसका वियोग सुहाता है वह अनात्मा है। अयोग के गर्त से जो संयोग टपकता है वह वियोग के गर्त में समा जाता है। वह अनात्मा है।

अयोगास्पद, संयोगास्पद, वियोगास्पद अनात्मा है। वियोग की मधुर-मधुर प्रतीक्षा होती है, जिसका वियोग सुहाता है, उसकी बेचैनी से प्रतीक्षा होती है जैसे गाढ़ी नींद की। गाढ़ी नींद में शरीर अभानात्मक वियोग या विस्मरण को प्राप्त होता है। शरीर के अभानात्मक वियोग की प्रतीक्षा प्रतिदिन प्रति व्यक्ति को होती है। इसके अभाव में कृत्रिम उपाय का अवलम्बन लेते हैं। किसी कारण नींद टूट जाये या कोई तोड़ देवे तो कष्ट होता है। हम तीनों शरीर एवं पांचों कोषों को भुलाकर सोना चाहते हैं। अन्नमय कोष को भुलाकर हम सोना चाहते हैं। प्राणों के अभानात्मक वियोग की प्रतीक्षा प्रतिदिन होती है। नींद में प्राणों के स्पन्दन का भान नहीं रहता। प्राण हम सबका सबसे ज्यादा प्यारा होता है। उस प्राण को भी भुलाकर सोना चाहते हैं।

मनोमय कोश को भी हम भुलाना चाहते हैं। यदि 24 घंटा ही संकल्प-विकल्प चलता रहे तो पागल हो जावें। अतः मनोमय कोष का अभानात्मक वियोग 5-6 घंटे के लिए प्रतिदिन चाहते हैं।

वैसे ही विज्ञानमय कोष बुद्धि सहित पंच ज्ञानेन्द्रियों को प्रतिदिन 5-6 घंटे के लिए विश्राम न मिले तो बुद्धि कुण्ठित हो जाये, पगला जाये। बुद्धि के भी अभानात्मक वियोग की प्रतीक्षा होती है। अतः बुद्धि भी आत्मा नहीं हो सकती। आत्मा बुद्धि से परे है। '**बुद्धि परतस्तु सः**' 3/42 से पश्चिम वाले आश्चर्य में है क्योंकि वे बुद्धि से परे कुछ मानते ही नहीं। मनुष्य की परिभाषा ही बौद्धिक प्राणी के रूप में करते हैं कि Man is Rational animal वे मन और बुद्धि को ही आत्मा मानते रहते हैं। Mind and matter तक ही उनका चिन्तन है।

हम सब पापड़ क्यों बेलते हैं, हम सारा परिश्रम क्यों करते हैं, कष्ट क्यों सहते हैं, आनन्द प्राप्ति के लिए—तो आत्मा का लक्षण है—

'न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वंप्रियं भवति आत्मनः तु कामाय सर्वंप्रियं भवति।' अन्यों में प्रीति अपने लिए होती है, अपने सुख एवं आनन्द के लिए होती है, एवं स्वयं अपने में भी प्रीति अपने लिए होती है। पत्नी पत्नी के लिए प्यारी नहीं होती, पुत्र पुत्र के लिए प्यारा नहीं होता अपने लिए होता है। पुत्र पुत्र के लिए प्यारा होता तो हिरण्यकशिपु को प्रह्लाद प्यारा होता। भाई-भाई के लिए प्यारा होता तो सुग्रीव को बाली, और बाली को सुग्रीव प्यारा होता। सुग्रीव के लिए बाली

भाई न होकर साक्षात् काल था। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध के प्रति प्रीति अपने लिए होती है। स्वतः या स्वयं में शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध प्यारा नहीं होता। अपने अनुकूल होने पर प्यारा होता है। अन्यों के प्रति प्रीति अपने लिए। सुर-मुनि सबकी यही रीति है। और स्वयं अपनी आत्मा में प्रीति परमप्रेमास्पद होने के कारण। आत्मा में प्रीति आत्मा को परमप्रेमास्पद सिद्ध करती है। आनन्द में प्रीति, आनन्द के लिए, सुख में प्रीति सुख के लिए होती है।

आनन्द तीन प्रकार का

फलात्मक आनन्द—प्रिय, मोद और प्रमोद जिसकी अभिव्यक्ति जागरण एवं स्वप्न में होती है। यह निरतिशय सुख नहीं है। क्योंकि उसको भुलाकर भी हम सोना चाहते हैं।

बीजात्मक आनन्द—जिसकी अभिव्यक्ति सुषुप्ति में, कारण शरीर में अज्ञान वृत्ति होती है, जो मलिन सत्व प्रधान है। यह भी निरतिशय सुख नहीं है। सुषुप्ति में दुःख न रहने पर दुःख का बीज रहता है। वास्तव में जहां तक त्रिपुटि है, वहां द्वैत है, जहां द्वैत है वहां श्रम है वहां शुद्ध आनन्द की प्राप्ति नहीं। फलात्मक एवं बीजात्मक आनन्द शुद्ध आनन्द नहीं है। यह हमें सदैव के लिए कृतार्थ नहीं कर सकता, चिर प्रेमास्पद नहीं। इसलिए हम फलात्मक आनन्द प्रिय, मोद और प्रमोद को छोड़कर सोना चाहते हैं अन्यथा पागल हो जायेंगे। अतः फलात्मक आनन्द को छोड़कर बीजात्मक आनन्द में जाना चाहते हैं। बीजात्मक आनन्द के लिए सोते हैं। सारे संसार का सुख छोड़कर सोना चाहते हैं पर उस बीजात्मक आनन्द के वियोग की भावना भी बनी रहती है। सोने के पूर्व जागरण का संकल्प डाल लेता है। वह संकल्प करता है, हे भगवान! मैं हमेशा सोता ही न रह जाऊं। बीजात्मक आनन्द में त्रिपुटि का, द्वैत का, श्रम का बीज रह जाता है इसलिए उसका भी हम वियोग चाहते हैं। अतः बीजात्मक आनन्द भी आत्मा नहीं हो सकता अन्यथा सोकर उठने का जो संकल्प जो सोने के पहले ही कर लेते हैं नहीं उठता। बीजात्मक आनन्द के प्रति वियोग की भावना है अतः यह भी अनात्मा है, कारण शरीर है। अब जो बचा वही आत्मा है। काल क्रम से जिसका क्षय हो वह अनात्मा है और जिसका काल क्रम से क्षय न हो वह आत्मा है। स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण शरीर—सब क्षयशील, काल क्रम से क्षय, ब्रह्म ज्ञान से बाध अतः परमप्रेमास्पद नहीं अतः आत्मा नहीं। अब जो शेष बचा वही आत्मा है।

निर्बीजात्मक आनन्द—जिसकी अभिव्यक्ति तुरीय अवस्था में, समाधि अवस्था में, ज्ञानावस्था में होती है। यह निरतिशय और अहैतुक आनन्द है, परमप्रेमास्पद है। अतः आत्मा है।

आत्मा ही सुखी-दुःखी हो जाये तो इसका साक्षी कौन होगा? आत्मा सुख-दुःख से रहित है। अतः सुख भी एक उत्तेजना है। आत्मा सदैव आनन्द रूप मृत्युंजयी है—यो वै भूमा तत्सुखम्। आनन्द ही आत्मा है परमप्रेमास्पद होने के कारण। कैसा आनन्द जो वियोग को (कालक्रम से) प्राप्त होने वाला न हो एवं जिसके वियोग की आकांक्षा भी मन में कभी उदित न हो वह आनन्द परमप्रेमास्पद है। आत्मा का भी यही परम प्रेमास्पद लक्षण है। लक्षण साम्य से वस्तु साम्य के कारण आनन्द एवं आत्मा में एकता है। स्पष्ट है आत्मा आनन्द-स्वरूप है।

हमारी सबकी चाह का विषय निरतिशय सुख जिसका कभी क्षय न हो जिसका कभी वियोग न हो। ऐसा सुख निर्बीजात्मक आनन्द ही है, आत्मानन्द ही है जो सदा एकरस है क्योंकि आत्मा सत्-चित् के साथ आनन्द स्वरूप है। सत्-चित् की पहले चर्चा हो चुकी है। तो जो सत् है वही चित्त है और वही आनन्दस्वरूप है। इसलिए 'आनन्दो ब्रह्म' कहा गया। इसलिए 'यो वै भूमा तत्सुखम्'—तो हमारी चाह का विषय तो निरतिशय सुख ही है जिसका कभी वियोग न हो। पर इसका बोध नहीं होने, इस तक पहुंच नहीं होने से और हमारी दिशा भूल होने से हम फलात्मक एवं बीजात्मक आनन्द में ही गोता खाते रहते हैं। क्योंकि जन्म-जन्मान्तर से हमें इसी का अभ्यास है। शिक्षा एवं परम्परा से इसी में सुख मानते रहते हैं।

आत्मा अविनाशी है। कभी भी किसी भी प्रकार से उसका नाश सम्भव नहीं। नाश या बाध साक्षी सापेक्ष है। आत्मा तो द्रष्टा है साक्षी है अतः उसका नाश सम्भव नहीं। व्यापक आत्मा का नाम ही परमात्मा है। साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म का नाम आत्मा है। अतः परमात्मा भी आत्मा का नाश नहीं कर सकते। आत्मा स्वयं भी स्वयं का नाश नहीं कर सकती अन्यथा कर्म-कर्तृ विरोध दोष की प्राप्ति होगी। आत्मा अज है, अमृत है। अजन्मा है। जन्म नहीं, तो मृत्यु भी नहीं। अमृत की मृत्यु कैसी? आत्मविद् को शोक कैसा?

आत्मा अप्रमेय और स्वप्रकाश है। इसको समझने के पूर्व यह समझ लेवें ज्ञानेन्द्रियां और कर्मेन्द्रियां सूक्ष्म एवं अतीन्द्रिय होती है, पर उनके गोलक या संस्थान स्थूल एवं दृष्टिगोचर होते हैं। ये गोलक या संस्थान ज्ञानेन्द्रियों एवं कर्मेन्द्रियों के अभिव्यंजक यानी अभिव्यक्ति के संस्थान हैं। इन्द्रियां सूक्ष्म शरीर में है। स्थूल शरीर में इन्द्रिय की गोलकें हैं। ये गोलक स्थूल शरीर के अन्दर-बाहर फैली हुई है जो मस्तिष्क व ग्लैण्डों से जुड़ी हुई है। बल्ब एवं विद्युत में भेद के समान इन्द्रिय एवं उसके अभिव्यक्ति संस्थान गोलक में भेद है। जिस प्रकार विद्युत की अभिव्यक्ति बल्ब के माध्यम से होती है वैसे ही इन्द्रियों की अभिव्यक्ति गोलकों के माध्यम से होती है। जैसे बल्ब विद्युत का अभिव्यंजक है। वैसे ही

गोलक इन्द्रियों के अभिव्यंजक हैं। अभिव्यंजक को ही अभिव्यंजय का नाम दे दिया जाता है। इसी प्रकार गोलकों को ही इन्द्रिय कहने लगते हैं। यानी अतीन्द्रिय इन्द्रियों के अभिव्यक्ति संस्थान इन्द्रिय गोलकों (स्थूल शरीर के अंगभूत) को ही इन्द्रिय (श्रोत्रादि) कह दिया जाता है।

चश्मा नेत्र नहीं, नेत्र का उपकरण मात्र उपनेत्र है। उसी प्रकार इन्द्रिय गोलक इन्द्रियों के उपकारक (=अभिव्यंजक) हैं। उन्हें उपेन्द्रिय कहा जा सकता है। ये सूक्ष्म ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रिय मन से जुड़ी हुई हैं या समायी हुई है। मन को इन्द्रियों का सहयोग चाहिये, उसके अभाव में मन विचरण नहीं कर सकता और मन बिना इन्द्रियों को भी विषय का बोध नहीं, विषयों का ज्ञान नहीं।

अन्वय—व्यतिरेक विधि से यह तथ्य सिद्ध है कि किसी अतीन्द्रिय पदार्थ एवं मन से चेतित (युक्त) होने पर ही इन्द्रिय गोलकें विषयों का प्रकाशन रूप कार्य करने में सक्षम होती है। उसी अतीन्द्रिय पदार्थ का नाम इन्द्रिय है। यदि गोलकें ही वास्तविक इन्द्रिय होती खुली आंख रखकर सोने वाला उसके आंख के सामने हुई घटनाओं को देख पाता, कान से श्रवण कर पाता। मृत शरीर में भी तो गोलकें होती हैं, वह कार्य कर पाने में अक्षम होती है। मृत शरीर की गोलक अन्य जीवित शरीर में काम करने लगती है। या मृत शरीर में पुनः जीवकला वापस लौट आये तो गोलकें काम करने लगती हैं। जैसे सत्यवान के शरीर में पुर्यष्टक समेत जीव कला का कर्षण कर यमराज ले गये। पुनः सावित्री के शील एवं सतीत्व से प्रभावित होकर उसके निवेदन पर पुर्यष्टक सहित जीव कला को वापस कर दिया तो पूर्ववत् उस शरीर की सारी गोलकें कार्य करने लगी। जैसे विद्युत का प्रवाह जहां नहीं रहता है वहां बल्ब नहीं जलता। वही बल्ब जहां विद्युत धारा प्रवाहित है वहां जलने लगता है। तो सुषुप्ति अवस्था में, मृतावस्था में मन सहित सूक्ष्म इन्द्रियों का अभाव होने से गोलकें कार्य नहीं करती। मन एवं सूक्ष्म इन्द्रियों का योग गोलकों से नहीं होगा तो हमें विषयों का ज्ञान सम्भव नहीं। अतः स्पष्ट केवल गोलक इन्द्रिय नहीं। उसके साथ मन सहित सूक्ष्म इन्द्रियों का योग होना चाहिए तभी ज्ञानेन्द्रियां विषयों का प्रकाशन कर सकती हैं अन्यथा नहीं। दोनों-दोनों पर निर्भर है। मन सहित सूक्ष्म इन्द्रियां गोलकों पर निर्भर है एवं गोलक मन पर निर्भर है। गोलक के अभाव या उसमें त्रुटि होने से सूक्ष्म इन्द्रियां काम नहीं कर सकेंगी। बिना इन्द्रियों के सहयोग के मन न बाहर ही जा सकता है न शरीर के अन्दर ही। एक बार इन्द्रियों के सहयोग से मन शरीर के बाहर हिमालय का अनुभव कर ले या अन्दर का अनुभव कर ले, तो उसके बाद जो मन की गति इन्द्रियों के सहयोग बिना होती है वह स्मृति के आधार पर होती है। जैसा प्रत्यक्ष किया है इन्द्रियों के द्वारा और स्मृति में है वैसे ही अनुभूति है मन के द्वारा पुनः स्मरण कर सकते हैं और करते हैं।

हमें जो जानने के साधन प्राप्त हैं वह प्रकृति से निर्मित है। प्रकृति दृश्य है, दृश्य से द्रष्टा को नहीं जाना जा सकता है। ज्ञानेन्द्रियां बाहर का अन्तःकरण के द्वारा आन्तरिक भाव—सुख-दुःख, भूख, प्यास, ईर्ष्या, द्वेष, राग, प्रेम आदि भावों का ही ज्ञान सम्भव है। प्रपंच के स्वामी आत्मा का ज्ञान इससे सम्भव नहीं है। इसलिए जहां तक इन्द्रियों या यंत्रों की पहुंच है वहां तक सब माया का कारोबार है।

गो गोचर जहँ लगि मन जाई।
सो सब माया जानेहु भाई।।3/14/3 मानस

मन, बुद्धि, आत्मा से अपना थोड़ा प्रकाश उधार लेकर बाह्य जगत् का ज्ञान ज्ञानेन्द्रियों के सहारे और अन्तर जगत् का ज्ञान सम्भव है पर अपने मूल को वह प्रकाशित नहीं कर सकती—थर्मामीटर जिससे बुखार मापते हैं उससे सूर्य का ताप नहीं माप सकते। नमक की पुतली समुद्र की गहराई नहीं माप सकती। कोई भी व्यक्ति अपने सगे पिता को दूल्हा बना नहीं देख सकता। दर्पण में पड़े सूर्य के चिलके या प्रतिबिम्ब से संसार की वस्तुएं तो प्रकाशित होती हैं स्वयं सूर्य पर डालें तो सूर्य को प्रकाशित नहीं कर सकते। बचपन में चिलके से बहुत खेल खेलते हैं, जिसको सताना होता है उसके मुख पर, आंख पर डालते हैं, पर वही सूर्य पर डालें तो कोई काम नहीं करता।

प्रत्यक्ष से पंच की दृश्य वस्तु का ज्ञान होता है। अनुमान भी प्रत्यक्ष पर ही आधारित है। उपमान से भी नहीं, क्योंकि वह एकमेव अद्वितीय है, द्वितीयोनास्ति। आगम-शास्त्र के द्वारा भी नहीं—वेद नेति-नेति के द्वारा ही बखान करते हैं। गुरु नानकदेव कहते हैं करोड़ों मुखों से करोड़ों युगों तक ब्रह्म का बखान सम्भव नहीं है। शास्त्र तो आत्मा के मार्ग में आयी बाधा को दूर करने, उस पर आये अध्यारोप को दूर करने का उपाय बताते हैं उससे चित्त शुद्ध होने पर स्वयं प्रकाशित हो जाता है पर उसका बखान वाणी द्वारा सम्भव नहीं केवल कुछ संकेत कर सकते हैं, वहां पहुंच कर वाणी मौन हो जाती है। आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः मन्तव्यः इसी आधार पर कहा जाता है उस पर आये अध्यारोपन को हम दूर करें तो वह स्वयं प्रकाशित हो जाता है पर वह मौन हो जाता है, वाणी वर्णन नहीं कर सकते। शास्त्र तो संकेत करने के लिए बने हैं—इतने विश्वविद्यालय इसलिए चल रहे हैं। निष्काम कर्म योग द्वारा चित्त शुद्ध होने पर वह स्वतः प्रकाशित हो जाता है। चित्त शुद्धि के पश्चात् श्रवण-मनन-निदिध्यासन द्वारा प्रकाशित होता है।

ध्यान योग द्वारा जब हमारे अपने ऊपर ही ध्यान एकाग्र करने से अनन्त शक्ति उत्पन्न हो जाती है। एकाग्रता अपने-अपने रुचि के विषयों में नहीं, नहीं तो खिलाड़ी का खेल में, अध्येता का अध्ययन में, चित्रकार का चित्र में, संगीतकार का संगीत में ध्यान एकाग्र स्वाभाविक रूप से हो जाता है, पर जब अपने आप पर

या एक बिन्दु पर ध्यान करने से अनन्त शक्ति उत्पन्न हो जाती है। जैसे सूर्य की रश्मि को आरशीशी शीशे पर एकत्रित करने से कागज को जला देती है, सोलर कूकर में भोजन पका देती है वैसे एक बिन्दु पर मन को एकाग्र करने पर वह मन की परत दर परत खोलकर कुण्डलिनी शक्ति का भेदन कर, षड्चक्रों का भेदन कर आत्मतत्त्व का साक्षात्कार कर लेती है। आत्मा को आध्यात्मिक अनुभूति या साक्षात् अपरोक्ष अनुभूति द्वारा ही जान पाते हैं।

प्रत्यक्ष	परोक्ष	अपरोक्ष	साक्षात् अपरोक्ष
टेबल-चेयर	स्वर्ग-नरक	अन्तर के	आत्मा
देखकर	सुन पढ़कर	सुख-दुःख मन से	यह बिना इन्द्रियों की सहायता से
ये तीनों इन्द्रियों की सहायता से जानते हैं। यानी पांच ज्ञानेन्द्रिय एवं अन्तःकरण चतुष्टय द्वारा			Intution (अन्तःप्रज्ञा) से ऋतम्भरा प्रज्ञा से

फिर वह मौन हो जाता। गूंगा गुड़ खाकर किस मुख से स्वाद बताये वाली स्थिति हो जाती है। हम गुड़ की मिठास, चीनी की मिठास और भिन्न-भिन्न नमकीन के स्वाद का शब्दों में वर्णन नहीं कर सकते तब आत्मा का वर्णन कैसे कर सकते हैं? जहां से मन-वाणी लौट आते हैं और जो सत्यं ज्ञानं अनन्तं ब्रह्म है उसको शब्दों से, परिभाषा से कैसे बांध सकते हैं।

सत्य तो सर्वत्र समाया हुआ है। अन्दर-बाहर सर्वत्र सत्य परब्रह्म परमात्मा ही परमात्मा समाया हुआ है तो हमें दिखता क्यों नहीं। क्योंकि हमारे Reciver में त्रुटि है। कितना भी Electric Waves (चैनल) आकाश में तैर रहा हो पर उसको पकड़ने के लिए Reciver चाहिये। रेडियो, T.V., कम्प्यूटर आदि चाहिये। उसमें दोष होने से पकड़ नहीं पायेगा। ऐसे ही ईश्वर की अनुभूति के लिए हमारे मन-बुद्धि रूपी यंत्र शुद्ध, पवित्र, सही होने चाहिये। पर अभी उसमें मलीनता है, विकार है, विकृतियां हैं उसको दूर करना होगा। कामना बुरी नहीं है, उसको शास्त्र की, गुरुजनों की, माता-पिता की आज्ञानुसार पूरी करो और असत् कर्म, भाव, चिन्तन का त्याग करो। पहले कामना मुख्य कर्तव्य गौण। बाद में कामना गौण कर्तव्य प्रमुख। फिर निष्काम, फिर गुण गुण में वर्त रहे मैं तो निमित्त मात्र हूं। प्रभु के दिये हुए तन-मन-धन, ज्ञानेन्द्रियों-कर्मेन्द्रियों से प्रभु के रचे हुए जीव जगत् के प्रति प्रभु की प्रेरणा और शक्ति से काम कर रहा हूं। प्रभु यंत्री है मैं उनका यंत्र हूं। इस तरह चित्त शुद्ध हो जाता है। तब प्रभु पर, आत्मा के ऊपर जो माया का पर्दा पड़ा हुआ है वह हट जाता है और हमें सत् की साक्षात् अपरोक्ष अनुभूति होती है। अमन मन से, शुद्ध मन-बुद्धि में चित्त में वह प्रकाशित हो जाता है तब अन्तर-बाहर उसी के दर्शन होते हैं—तुलसीदास, रामकृष्ण

परमहंस, विवेकानन्द, अरविन्द घोष सभी का यही अनुभव है। पर उसको शब्दों में अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता, शब्दों में बांधा नहीं जा सकता, सकारात्मक रूप से नहीं बताया जा सकता है। इसलिए भगवान् शंकराचार्य ने नकारात्मक रूप से बताया ताकि समझ में भी आ जाए और उस पर वाणी का बंधन भी न होवें। इसलिए शंकराचार्यजी कहते हैं वह अजर है, अमर, अविनाशी है....। सत्यं ज्ञानं अनन्तं ब्रह्म को हम शब्दों से नहीं बांध सकते। सत्य पर माया का पर्दा पड़ा है इसके कारण वह दिखता नहीं इसलिए ईश उपनिषद् में भगवान् से प्रार्थना करते हैं—सत्य का मुख माया के पर्दे से ढका हुआ है उस माया के पर्दे को हटा दें ताकि हम सत्य का दर्शन कर सकें। और माया का पर्दा चित्त निर्मल पवित्र शुद्ध हो जाने पर मन-बुद्धि शुद्ध हो जाने पर, मन अमन हो जाने पर माया का पर्दा सत्य से सदा-सदा के लिए हट जाता है और सत्य उसके लिए प्रकाशित हो जाता है।

पर उस सत्य का व्याख्यान नहीं हो सकता, वाणी मौन हो जाती है, मूक हो जाती। वाणी से भौतिक वस्तु का ही पूरा वर्णन सम्भव नहीं। सैकड़ों प्रकार की मिठाइयां व नमकीन बनती है पर वाणी उसके स्वाद का वर्णन नहीं कर सकती तब आत्मा जो अभौतिक है आध्यात्मिक है उसका वर्णन कैसे सम्भव है?

तो इस श्लोक में बताया हमारा वास्तविक स्वरूप आत्मा है जो अजर-अमर, अविनाशी, अप्रमेय है और शरीर तो कुछ काल के लिए मिला हुआ साधन है, यंत्र है जो विनाशी है। कर्मफल के अनुसार जन्म-मृत्यु या मुक्ति को प्राप्त करता है। अतः अपने कर्तव्य कर्म में प्रमाद मत कर।

य एनं वेत्ति हन्तारं, यश्-चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो, नायं हन्ति न हन्यते।। 2.19

अर्जुन! यदि तुम अपने को भीष्म-द्रोणादि के हन्ता अर्थात् मारने वाला मानते हो तो तुम अपने स्वरूप को नहीं जानते। यदि भीष्म द्रोणादि अपने को हत अर्थात् मरा मानते हैं तो वे भी अपने आपको नहीं जानते। दोनों अज्ञानी है। यहां श्रीकृष्ण भगवान् अर्जुन की समझ पर आक्षेप कर रहे हैं कि अर्जुन संसार में दो प्रकार के अज्ञानी हैं। एक तो वे जो अपने इस आत्मा को मारने वाला मानते हैं और दूसरे वे जो अपने इस आत्मा को मारा जाने वाला मानता है। आत्मा में कर्तृत्व भोगतृत्व है नहीं। अतः पाप का भय के लिए कोई स्थान ही नहीं। तो पाप का स्थान कहां पर है?

पर जो शरीर को ही सर्वस्व मानता है वह तो खाओ, पीओ, मौज उड़ाओ में ही रमेगा। वह न त्याग कर सकता और कर्तव्य कर्म में भी भय और लोभ से डिगता रहेगा, डोलता रहेगा। पर जो शरीर को आत्मा का साधन मानेगा, यंत्र मानेगा वह अपने कर्तव्य कर्म से कभी नहीं डिगेगा—चाहे जितनी विपत्ति आये, भय और प्रलोभन आयें वह अपने कर्तव्य से कभी पीछे नहीं मुड़ेगा। विप्लवी-

बंधुओं में देखते हैं कितने ही भय और प्रलोभन आये पर अपने कर्तव्य से कभी नहीं डिगे और हंसते हुए फांसी के फंदे पर झूल गये।

प्राचीन सारी सभ्यतायें भौतिकता पर आधारित शरीर को ही सर्वस्व मानने वाली संकटों के आगे झुक गई, उनके अनुसार ढल गई अतः उनका राष्ट्रजीवन सदा-सदा के लिए समाप्त हो गया और भारतीय संस्कृति आत्मा की अमरता पर खड़ी होने के कारण हर प्रकार के संकटों का सामना करके चिरंजीवी बनी हुई है। भारत ने मौत को स्वीकार कर लिया। पराजय को कभी स्वीकार नहीं किया। यही उसकी अमरता का रहस्य है।

आत्मा की अमरता के आधार पर ही भारतीय संत सिकन्दर के सामने निर्भीक बना हुआ है। सिकन्दर उनके सामने हतप्रभ हो जाता है और उसे ही झुकना पड़ता है।

साहस दो प्रकार का—भौतिकता पर खड़ा साहस आसुरी होता है, उसमें गुंडई होती है, जो दूसरों को लूटकर स्वयं को सुखी करना चाहता है। पूरा पश्चिम, इसलाम-ईसाइयत इसमें आते हैं। इनकी बहादुरी लूटने में है, स्वयं ही भोग भोगने में है। पश्चिम का राष्ट्र प्रेम अपने तक सीमित है। वे विश्व के सभी दुर्बल राष्ट्रों की धन-सम्पदा और स्वाधीनता छीनकर अपने देश को सुखी-समृद्ध करना चाहते हैं, इसमें उन्हें कोई संकोच नहीं है। इसलिए पश्चिम में महान् व्यक्ति स्वामी विवेकानन्द जैसे मनीषी पैदा नहीं हो सकते वहां संन्यास की कल्पना भी नहीं है। पादरी वेतनधारी पंथ प्रचारक है। मौलवी भी पंथ प्रचार हेतु वेतनधारी कर्मचारी है। यहां त्याग की कल्पना भी नहीं। इनकी सेवा धर्मान्तरण के द्वारा अपना उपनिवेश बाजार स्थापित करने के लिए है। यूरोप का मानसिक दास बनाने के लिए है।

आत्मा पर खड़ा साहस दैवी होता है जो दूसरों के शोषण, अत्याचार के आधार पर अपने को सुखी नहीं करना चाहता है। यह अपने देश भारत में, हिन्दुओं में पाया जाता है। हमारी बहादुरी दान देने में है, त्याग में है। हमने माना हम सब एक ही ईश्वर की संतान हैं अतः सबको प्रेम, सेवा दी।

भारत का देशप्रेम अन्य राष्ट्रों के शोषण पर नहीं। जब वह अपनी समस्याओं पर विचार करता है तो विश्व की समस्या को भी अपने सामने रखता है।

और एक आध्यात्मिक साहस होता है जिसके द्वारा हम अनजाने क्षेत्र में-आत्मा के क्षेत्र में उतरते हैं। इसके लिए धैर्यपूर्वक निरन्तर गुरु व शास्त्र पर विश्वास कर उस पर चलना पड़ता है। भगवान् का स्पर्श उनका Response बहुत बाद में प्राप्त होता है।

अतः भगवान् कहते हैं आत्मा को अपना वास्तविक स्वरूप जानकर, उसको अजर-अमर, अविनाशी जानकर और शरीर को नश्वर जानकर अपने क्षत्रिय धर्म का, युद्ध रूपी कर्तव्य कर्म का पालन कर—इसमें किसी भी प्रकार से संकोच या प्रमाद मत कर। यह श्लोक प्रत्येक प्रकार का बलिदान देने का बल संचार करता है।

पंजाब में उस जमाने में मदरसों और मुल्ले-मौलवियों का बड़ा जोर था। हिन्दू बालक भी उन मदरसों में पढ़ने को विवश थे। 7 वर्ष का एक बालक स्यालकोट के मदरसे में उसके पिता भागमल द्वारा भर्ती कराया गया था। माता थीं कौरा देवी। वह बालक सन् 1971 में स्यालकोट में जन्मा था। 12 वर्ष की ही उम्र में उसका विवाह एक बच्ची लक्ष्मी देवी से कर दिया गया। पर अभी विवाह के 2 वर्ष भी नहीं बीते थे। एक दिन जब मौलवी मदरसे से बाहर गया था तो मदरसे में मुसलमान लड़के शोर मचाने लगे। उस हिन्दू बालक ने उन्हें शोर करने से रोकना चाहा तो संख्या में अधिक मुस्लिम लड़के माता दुर्गा के लिए अपशब्द बोलने लगे। इस पर उस हिन्दू बालक ने उनसे कहा, 'तुम हमारी दुर्गा माता को गाली दे रहे हो, अगर मैं फातिमा बीबी (जो मोहम्मद साहब की पुत्री थीं) को कुछ कहूं तो तुम्हें कैसा लगेगा?' जब मौलवी लौटा तो मुस्लिम लड़के ने उससे उस हिन्दू बालक की शिकायत की कि इसने फातिमा बीबी को गाली दी है। जब कि यह सच नहीं था, फिर भी मौलवी ने यह मामला स्यालकोट के हाकिम अमीर बेग की अदालत में पहुंचा दिया, जहां उस हिन्दू बालक को मौत की सजा सुनाई गई। उसके पिता ने लाहौर में अपील की। पर उस बालक को कहा गया कि अगर तुम मुसलमान बनना मंजूर करो तो यह सजा माफ हो सकती है। अदालत के काजी ने उस लड़के को दौलत का भी लालच दिया और पिता ने भी जान बचाने के लिए उसे मुसलमान बनने को कह दिया। पर वह 13 साल का बहादुर अपनी आन पर डटा रहा। उसने कहा, 'मैं मरना पसन्द करूंगा, पर धर्म नहीं छोड़ सकता।' आखिर वह दिन (23 फरवरी, सन् 1734) भी आ गया, जब एक खुले मैदान में उस लड़के को खड़ा करके उस पर जल्लाद ने तलवार चलाई तो तलवार छिटककर नीचे जमीन पर गिर गई। तब लड़के ने फौरन वह तलवार जमीन से उठाकर जल्लाद को थमा दी और जल्लाद ने उस निर्भीक लड़के को कत्ल कर दिया। वह वीर लड़का था, हकीकतराय, जो इतिहास में अपना नाम अमर कर गया।

19वें श्लोक की भूमिका

अर्जुन शोक एवं भय से त्रस्त था। पहला, यदि युद्ध करूंगा तो मेरे गुरुजन और महानुभाव एवं मेरे अपने स्व बान्धव मारे जायेंगे इसलिए शोक ग्रस्त हुआ फिर भीष्म व द्रोण को अजेय जानकर उसे अपनी विजय में भी संदेह हो गया

कि कहीं हम ही न मारे जायें इसलिए भयत्रस्त भी था। वे न मारे जायें इसलिए शोकग्रस्त कहीं मैं ही न मारा जाऊं इसलिए भयत्रस्त।

इस शोक एवं भय से उबारने के लिए भगवान् ने पूर्व श्लोकों में आत्मा की अमरता, उसका अविनाशीत्व, नित्यत्व बताकर उसे बताया कि न वे ही मारे जायेंगे और न तू ही मारा जायेगा। हां, शरीर तो अनित्य, विनाशी, क्षणभंगुर है उसे कोई बचा ही नहीं सकता। कर्मफल से बंधा हुआ है। अनित्य का भय नित्य से ही दूर हो सकता है। विनाशी का भय अविनाशी ही दूर कर सकता है। देह पर खड़ा साहस देही पर खड़े साहस की तुलना में नगण्य है। देह के ऊपर खड़े साहस और देही के ऊपर खड़े साहस में जमीन-आसमान का अन्तर है। देह के ऊपर खड़ा साहस कभी भी डिग सकता है, आत्मा के ऊपर खड़ा साहस कभी डिगता नहीं। देही पर खड़े साहस में मृत्यु दण्ड के समय वजन बढ़ जाता है और देह पर खड़े का साहस रफूचक्कर हो जाता है उसका वजन घटने लगता है। सूख कर कांटा! फांसी के मंच तक ढकेलकर ले जाना पड़ता है। मल-मूत्र बाहर आ जाते हैं। पर भक्त इसे शरीर परिवर्तन की क्रिया मात्र मानता है या प्रभु मिलन, आत्म मिलन की वेला। प्रभु से एकाकार होने की वेला मानकर प्रसन्न रहता है। इसलिए श्रीकृष्ण नित्य और अविनाशी देही का पाठ पढ़ाते हैं। वह नित्य अविनाशी आत्मा है। आत्मा के आधार पर खड़े होकर कापुरुषता और दुर्बलता को जीत लेते हैं, अपने भीतर साहस को जगाते हैं। इसलिए पूर्व श्लोकों में आत्मा की अमरता व देह की क्षणभंगुरता बतायी। पर हत्या के लिए अर्जुन को निमित्त बनना पड़ेगा। तो हत्या का पाप तो लगा ही रहेगा न? अब अर्जुन पाप भय से कैसे छूटे? अर्जुन सोचता है कि गुरुजनों को मारकर पाप ही तो हाथ लगने वाला है, आत्मीय स्वजनों की हत्या से बढ़कर और कोई पातक नहीं है। श्रीकृष्ण अब इसी पाप भावना को दूर करने की ओषध इस 19वें श्लोक में प्रदान करते हैं।

य एनं वेत्ति हन्तारं, यश्-चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो, नायं हन्ति न हन्यते।। 2/19

जो इस आत्मा को मारने वाला समझता है तथा जो इसको मरा मानता है, वे दोनों ही (आत्म तत्त्व को) नहीं जानते; क्योंकि यह आत्मा (वास्तव में) न (तो किसी को) मारता है (और) न (किसी के द्वारा) मारा जाता है (क्योंकि आत्म-सत्ता के अलावा और अन्य किसी की सत्ता ही नहीं है—आत्मा अखण्ड अद्वितीय है।)।

यही श्लोक प्रथम पंक्ति में थोड़े से अन्तर के साथ कठोपनिषद् में आया है—

हन्ता येन्मन्यते हन्तुं हतश्चेन्मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते।। (1/2/29)

गीता उपनिषदों का सार है। इसलिए कहा गया है—

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्।।

सभी उपनिषदें गाये हैं, गोपालनन्दन श्रीकृष्ण उन्हें दुहने वाले (ग्वाले) हैं, अर्जुन बछड़ा है, महान् गीता रूपी अमृत दूध है और सुधी (अर्थात् विवेकिवृन्द) उस दूध का उपभोग करने वाले हैं।

भारत में परम्परा का महत्त्व : भारत में किसी ने अपने को श्रेय नहीं दिया; परम्परा को, अपने गुरुजनों को महत्त्व दिया। भागवतानन्दजी ने अपने नाम से आश्रम नहीं गुरु नृसिंहगिरिजी के नाम से आश्रम बनाया। स्वामी विवेकानन्दजी ने रामकृष्ण मिशन नाम दिया। वाल्मीकि, वेदव्यास, शंकराचार्यजी ने अनेक ग्रन्थों की रचना की, किन्तु अपना परिचय किसी ने नहीं दिया। यह भारत की विशेषता है। चाहे वह मूर्तिकार हो, चित्रकार हो....किसी भी श्रेष्ठ कार्य के लिए माता-पिता, गुरुजनों को श्रेय देते हैं और कुछ गलत होने पर स्वयं को दोषी मानते हैं। और उसकी माता को कोसते हैं कि ठीक से संस्कारित नहीं किया, शिक्षा नहीं दी।

भारत में किसी ने नहीं कहा, मैं जो कह रहा हूं वह अन्तिम सत्य है, एकमात्र सत्य है। सत्य पर कभी विरामचिह्न नहीं लगाया। न कभी कहा कि बस सत्य इतना ही, मेरे से पूर्व के और आगे आने वाले सब शास्त्र निरस्त हो गये। उनकी अब कोई आवश्यकता नहीं रही।

पश्चिम में नवीनता का महत्त्व : स्वयं को श्रेय देने की परम्परा और मैंने जो खोजा वही एकमात्र सत्य और अन्तिम सत्य। वह अपने से भिन्न विचार को सहन नहीं करते। ग्रीक परम्परा से भिन्न विचार व्यक्त करने के कारण सुकरात को विष का प्याला, अरस्तू को निर्वासित जीवन जीना पड़ा। यहूदी से भिन्न विचार के कारण ईसा को सूली। बाइबिल से भिन्न विचार वाले दार्शनिकों, वैज्ञानिकों आदि सबको अपने प्राण गंवाने पड़े। सिकन्दरिया के विशाल पुस्तकालय को यह कहकर जला दिया बाइबिल की समर्थक है तो अनावश्यक और बाइबिल की विरोधी तो शैतान प्रेरित, कूफ्र है और नष्ट होने योग्य हैं—दोनों ही स्थिति में इसकी आवश्यकता नहीं और उसकी सात लाख पुस्तकों को जलाकर राख कर दिया।

यही स्थिति इसलाम की है। नालन्दा, तक्षशिला, विक्रमशिला के पुस्तकालयों को कुरान के अनुकूल है तो बेकार हैं, रद्दी हैं और विरुद्ध हैं तो कूफ्र हैं। दोनों ही स्थिति में जलने, ध्वस्त होने योग्य हैं। दोनों ने ही देवालयों को तोड़ा, पुस्तकालयों को जलाया, पश्चिम में चाहे जिस क्षेत्र के विचार हो वह दूसरे पर

थोपने की परम्परा चाहे आर्थिक क्षेत्र हो, चाहे कृषि क्षेत्र हो, चाहे शैक्षणिक क्षेत्र हो, चाहे वैज्ञानिक क्षेत्र हो, चाहे धार्मिक क्षेत्र हो।

भारत में स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने को श्रेय न देकर परम्परा को महत्त्व दिया, यही बुद्ध में, यही शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, निम्बार्काचार्य आदि में पाते हैं। अपनी बात सत्य है इसको परम्परा से, शास्त्र से सिद्ध करते हैं। कोई बात प्रामाणिक है या नहीं इसके लिए हम देखते हैं शास्त्र या परम्परा के अनुसार है या नहीं। कोई कितना भी तपस्वी हो अगर वह शास्त्र व परम्परा से सिद्ध नहीं होता तो हमें मान्य नहीं है। इसलिए सभी आचार्य अपनी बात प्रस्थानत्रयी से सिद्ध करते हैं। वेदान्त के छह स्कूल्स (विचारधारायें) हैं, सबने इसे गीता, उपनिषद् और वेदान्त के द्वारा सिद्ध किया। किसी ने भी नहीं कहा, मैं नवीन मत का प्रतिपादन कर रहा हूं। सबने कहा, पहले से ही परम्परा से चला आया है उसे मैं पुनः कह रहा हूं। सत्य चिर प्राचीन होते हुए नित्य नवीन होता है। अतः किसी भी बात को परम्परा से सिद्ध करते हैं। और किसी ने अन्तिम सत्य का दावा नहीं किया। इसलिए हमारी सत्य की प्रयोगशाला, अध्यात्म क्षेत्र की प्रयोगशाला हमेशा खुली रही। गीता की नित्य नवीन व्याख्या, उपनिषदों पर नित्य नये भाष्य की रचना होती रही। हमारी सारी साधना अहम् को गलाने की है। हमारी संस्कृति, हमारी जीवन रचना इसी तरह डिजाइन है नियोजित है। सारे संघर्ष अहम् के कारण मैं-मैं के कारण। सास-बहू, भाई-भाई में, पिता-पुत्र में तू-तू, मैं-मैं के कारण झगड़े होते हैं। अतः हमारी सारी जीवन रचना अहम् को गलाने की, मैं नहीं तू की। रसोई किसने अच्छी बनाई। सास कहेगी बहू ने, बहू कहेगी सास। स्वयं श्रेय न लेकर दूसरों को देना। पश्चिम में है मैं-मैं, अहम्-अहम् एकोऽहम् द्वितीयोनास्ति। हम ही सर्वश्रेष्ठ, ईश्वर के चुने हुए अतः सारा विश्व हमारे अधीन है, हमारे अनुसार ही चलना चाहिये। अपने प्राण देकर भी अपनी सेवा हमें देवें उसी में आपके जीवन की सार्थकता है।

ईसाइयत में ईसा के पश्चात्, इसलाम में मुहम्मद के बाद सदा-सदा के लिए सत्य की प्रयोगशाला बंद हो गई और संत जीवन पर भी विराम लग गया।

ईसाइयत ने ईसा के पूर्व जो ज्ञान-विज्ञान की परम्परा थी, को नष्ट कर दिया चाहे वह किसी भी क्षेत्र में हो। वहां के पादरियों ने ग्रीकों की ज्ञान-विज्ञान की परम्परा की सभी पुस्तकें जला दी। नवीन अन्वेषण का मार्ग अवरुद्ध कर दिया और आगे जिन्होंने बाइबिल से हटकर नवीन खोज की उन्हें अपने प्राण गंवाने पड़े। यही बात इसलाम के साथ पाते हैं। उन्होंने मुहम्मद के पूर्व के ज्ञान-विज्ञान की सभी पुस्तकें जला दी, उन परम्पराओं को नष्ट कर दिया और आगे के अन्वेषण को अवरुद्ध कर दिया। अरब में हिन्दू धर्म फैला था उसे नष्ट कर दिया।

गीता के 18वें अध्याय के अनुसार पांच हेतुओं से कर्म की सिद्धि होती है इसमें से कोई भी हेतु आत्मा में नहीं है—

अधिष्ठानं तथा कर्ता, करणं च पृथग्-विधम्।
विविधाश्च पृथक्-चेष्टा, दैवं चैवात्र पञ्चमम्।। 18/14

यहां (कर्मों की सिद्धि के विषय में) अधिष्ठान, कर्ता, विभिन्न प्रकार के कारण, विविध प्रकार की अलग-अलग चेष्टा और पांचवां (हेतु) देव है।

1. अधिष्ठान का अर्थ है आधार या आश्रय। कर्म के लिए सबसे प्रथम हेतु अधिष्ठान कहा गया है। अधिष्ठान शब्द की व्याख्या तीन प्रकार से की गई है।

(क) संत ज्ञानेश्वरजी के मत में देह ही अधिष्ठान कारण है। क्योंकि इस देह में ही भोक्ता अपने भोग्य विषयों के साथ निवास करता है। बिना शरीर के कर्म होने में कठिनाई है।

(ख) लोकमान्य तिलक के मत में अधिष्ठान का अर्थ है वह स्थान या देश जिसका आश्रय लेकर कर्म किया जाता है।

(ग) वेदान्त मत में आत्मा या ब्रह्म ही सारे विश्व का अधिष्ठान है।

यह स्पष्ट है कि बिना आत्मा के, चैतन्य के भी कर्म नहीं हो सकता, यानी बिना ब्रह्म के आधार के भी कर्म नहीं हो सकता। बिना देह के आधार के कर्म नहीं हो सकता तथा बिना स्थानविशेष के भी कर्म नहीं हो सकता।

कर्म का भौतिक अधिष्ठान शरीर है। जागतिक अधिष्ठान पृथ्वी है तथा आध्यात्मिक अधिष्ठान आत्मा या ब्रह्म ही है। शरीर जितना शुद्ध होगा, स्वस्थ होगा, स्थान भी जहां से कर्म करते हैं जितना शुद्ध व दिव्य होगा उतना ही कर्म शुद्ध एवं दिव्य होगा। अब अगर हम ध्यान का अभ्यास कर रहे हैं तो आसन जितना मृदुल है तो अधिक समय तक सुखपूर्वक बैठेंगे। आसन कठोर-विषम है तो शीघ्र उठना पड़ेगा। जिस स्थान में हम कार्य करें यदि वहां पूर्वकाल में कोई शुभ कार्य हुआ है तो उसके शुभ परमाणु हमारे मानस में संचरित होंगे और अगर घोर कर्म हुआ है तो उसके परमाणु हममें संचरित होंगे। उपासना स्थल एवं शान्त देवालय में शयन करेंगे तो मन शांत रहेगा और किसी वधशाला में शयन करने पर घोर दुःस्वप्न दिखाई पड़ेगा। इसलिए साधु संत अपने आसन व बिछावन साथ-साथ रखते हैं। यही कारण है कि तीर्थों में, मन्दिरों में जाने पर हममें अच्छे भाव, संस्कार जागते हैं। इसलिए शांत, एकांत वन, पहाड़ या नदी तट पर आश्रम बनाते हैं। मानव का स्थूल शरीर ही कर्मायतन एवं भोगायतन है। स्वप्न में भी मनोमय शरीर की प्राप्ति। उसमें तादात्म्यापति के बल पर हम अपने को कर्ता मान बैठते हैं। सुषुप्ति में मनोमय कोश भी प्राप्त नहीं होता।

2. कर्ता—वह जीवित चेतन संकल्पवान जीव है जो कर्म करता है। सांख्य के अनुसार कर्ता पुरुष, जैन दर्शन के अनुसार आत्मा कर्ता है। वेदान्त के अनुसार कर्ता आत्मा नहीं वरन् जीवात्मा है। जिस प्रकार तालाब के ऊपर से बादल उठते हैं तथा आकाश में तैरते हुए पुनः तालाब में प्रतिबिम्बित भी होते हैं। उसी प्रकार शुद्ध आत्मा अन्तःकरण रूपी दर्पण में प्रतिबिम्बित हो जीवात्मा का रूप धारण कर लेता है। जब तक कर्तापन का अहंकार बना रहता है तब तक वह जीवात्मा के रूप में कर्ता एवं भोक्ता बना रहता है। ज्ञान मिलते ही वह अहंकार से मुक्त हो, शुद्ध आत्म रूप में स्थित हो जाता है। तब जीव का जीवत्व लय होकर वह ब्रह्म-रूप बन जाता है।

अतः जब तक अहम् बना रहता है तभी तक हम कर्ता-भोक्ता बने रहते हैं। नींद में जब अहं सो जाता है, तब कर्म की सिद्धि नहीं होती। सभी द्वन्द्व अहं को ही व्यापते हैं। अहं पर्यन्त ही उनकी गति है। आत्मा निर्द्वन्द्व है। अहं के गल जाने, बाध हो जाने, विस्मृत या लय हो जाते ही न हम कर्ता रहते हैं न कोई द्वन्द्व ही हम पर हावी हो सकते हैं। अतः जब तक जीव भाव है तभी तक हम कर्ता रहते हैं। कर्ता का कर्म में मनोयोग है या नहीं, वह पूरे उत्साह व लगन से करता है या बे-मन से, या इससे बलपूर्वक कार्य करवाया जा रहा है। इसके अतिरिक्त जो कार्य हो रहा है, उसके सम्बन्ध में कर्ता का ज्ञान कितना है? वह यदि उसके सम्यक् विधान को जानता है तभी कार्य सर्वाङ्गपूर्ण होगा। साथ ही उस कर्म में कर्ता का उद्देश्य भी कर्म के स्वरूप को प्रभावित करता है। कर्ता का मनोयोग, उसकी तत्सम्बन्धी-योग्यता एवं उद्देश्य के ऊपर क्रिया का स्वरूप तथा उसकी पूर्णता निर्भर करती है।

3. करण—का अर्थ इन्द्रियां। पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां और चार अन्तःइन्द्रियां ये 14 करण हैं। इनके बिना कर्म नहीं हो सकता। ये करण जितने स्वस्थ एवं शुद्ध होंगे उतना ही कार्य दिव्य होगा। इस प्रकार कर्म के 14 करण होते हैं। 14 करणों के अनुसार ही क्रिया सम्पन्न होती है। हमें एक काष्ठमंच बनाना है। काष्ठ अच्छा है बनाना चाहते हैं और जानते भी हैं, किन्तु वसुला आदि यदि न हो तो क्रिया न होगी, होने पर भी तीक्ष्ण न हो तो भी मंच न बन सकेगा।

4. इन्द्रियों के द्वारा कुछ करने का प्रयास चेष्टा है। कर्म के लिए यह भी आवश्यक है। चेष्टा जितनी सम्यक् होगी कार्य भी उतना सम्यक् होगा।

5. दैव शब्द की व्याख्या कई प्रकार से की जाती है—तिलकजी के मत में दैव का अर्थ भाग्य है इसे प्रारब्ध भी कहते हैं। जो पिछले संचित कर्मों का फल ही है। हमारे वर्तमान कर्मों के परिणाम हमारे पहले के संचित कर्मों का फल ही है। हमारे वर्तमान कर्मों के परिणाम को हमारे पहले के संचित कर्मों का फल भी प्रभावित करता है। हम आज जो कर्म कर रहे हैं उस पर भी पिछले कर्मों का

संस्कार हमें प्रेरित कर रहा है तथा पिछले कर्मों का फल हमें भोगना है। उसके अनुसार हम तदनुरूप कर्मों में प्रेरित किये जाते हैं। सब प्रकार से अनुकूल कर्म होने पर भी कभी-कभी प्रारब्ध के कारण अभीष्ट फल प्राप्त नहीं होता। ऐसा भी देखा गया है अयोग्य व्यक्ति के प्रमादपूर्ण क्रिया से भी अद्भुत फल पा लेते हैं। कुछ ऐसे भी कर्म होते हैं जिन्हें हमने करने का विचार तक नहीं किया और हमारे द्वारा अकस्मात् हो जाते हैं। इन सबके पीछे प्रारब्ध का हाथ है। कोई घोर परिश्रम करके कुछ नहीं या बहुत थोड़ा उपार्जन करता है और कोई थोड़े से परिश्रम से बहुत उपार्जन कर लेता है। हरे-भरे खेत को पशु चर जाये या अग्नि कांड या ओलापात हो जाये, ये सब प्रारब्ध के आधार पर। समय पर वर्षा न हो तो अन्न नहीं होगा।

कुछ विचारक दैव का अर्थ दैवी या ईश्वरीय शक्ति से लेते हैं। इसके बिना भी कर्म नहीं हो सकता।

कुछ के मत में दैव का अर्थ इन्द्रियों के पीछे उन्हें बल देनें वाला अनुग्राहक देवता। देव का अनुग्रह भी कर्म की सिद्धि में आवश्यक है। सभी ज्ञानेन्द्रिय एवं कर्मेन्द्रिय सही होते हुए भी उनके अनुग्राहक देव का अनुग्रह न हो तो कर्म सम्भव नहीं होगा। आंख हो और सूर्य की कृपा न हो तो कर्म सम्भव नहीं होगा। आंख हो और सूर्य की कृपा न हो तो क्या पढ़ सकेंगे? हाथ के अनुग्राहक देव इन्द्र के अनुग्रह बिना हाथ हिला नहीं सकते। एक ब्राह्मणदेव के बगीचे में गाय ढुक आयी। डण्डे से भगाने के क्रम में गोहत्या हो गई। गोहत्या का पाप लग गया। गोहत्या के पाप के फलस्वरूप कृत्या आ गई। ब्राह्मण ने कहा, हाथ के देवता इन्द्र हैं मैं तो अकर्ता हूं, इन्द्र को जाकर लग। इन्द्र ब्राह्मण देवता की परीक्षा लेने पहुंचे कि सच्चा वेदान्ती है या झूठा। काजू-किशमिश का कितना सुन्दर बाग, कितनी सुन्दर पर्णकुटी, कितनी सुन्दर व्यवस्था। अहा... किसने बनाया होगा। बाबाजी ने कहा सारी करामात इस दास की है। मात्र पांच वर्ष में सारा बाग संवारा है। इसके पूर्व तो सब ओर झाड़-झंखाड़ ही था। इन्द्र ने कहा, मीठा-मीठा हब और तीखा-तीखा थू, यह नहीं चलेगा। गोहत्या को आदेश दिया, ब्राह्मण देव को लग, यह झूठा वेदान्ती है।

कान (श्रोत) के अनुग्राहक देवता दिक् है, चक्षु के अनुग्राहक देव सूर्य, घ्राणेन्द्रिय के अश्विनीकुमार, रसनेन्द्रिय के वरुण देव, त्वक के वायुदेव, वाक् के अग्नि, हाथ के इन्द्र, पैर के उपेन्द्र, उपस्थ के प्रजापति, गुदा के यम, मन के चन्द्रमा, बुद्धि के ब्रह्मा, चित्त के वासुदेव, अहं के रुद्र हैं।

ज्ञान वस्तु तंत्र भूत या सिद्ध (प्रमाण तंत्र) होता है। कर्म व उपासना पुरुष तंत्र पुरुषार्थ सापेक्ष अनुष्ठेय होते हैं। अग्नि में घी डालें या मिर्च डालें उसकी सुगंधि

हम सूंघने के लिए बाध्य हैं क्योंकि ज्ञान वस्तु तंत्र है। उसी प्रकार अपने आसं-पास गाली-गलौच हो या भगवत् स्तुति हम सुनने के लिए बाध्य हैं। इसलिए हम भगवान् से प्रार्थना करते हैं भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा। हमारे कर्ण में भद्र शब्द ही पड़े, अभद्र नहीं। देव वाणी, धर्म वाणी, महापुरुषों की, शास्त्रों की वाणी ही हमारे कान श्रवण करें। जहां व्यक्ति का पुरुषार्थ काम नहीं करता वहां देव बल ही सहायक है। ईश्वर का बल ही चाहिये। इसलिए वेद भगवान् से ऋषि प्रार्थना करते हैं—हम अच्छा ही देखे-सुने, इसलिए आपके अनुग्रह की आवश्यकता है।

· कोई भी क्रिया चाहे वह शारीरिक हो, वाचिक हो या मानसिक हो उक्त पांचों कारणों से प्रभावित होती है। उसकी सम्पन्नता पांचों के सामञ्जस्य पर निर्भर करती है। तो कर्म इतनी बातों पर निर्भर करता है। अतः कर्म का अभिमान मिथ्या है। ये पांचों हेतु उपस्थित होने पर कर्म सम्पन्न हो सकते हैं। आत्मा में पांचों हेतु में कोई भी हेतु उपस्थित नहीं होने से आत्मा में न कर्तृत्व है और न भोगतृत्व है। क्योंकि आत्मा न देह है न देश, न जीवात्मा, न करण है, न चेष्टा है, न देव है। आत्मा या ब्रह्म वस्तु तंत्र है। यानी जैसा है वैसा सदा विद्यमान है उसके लिए पुरुषार्थ की आवश्यकता नहीं है। हां, अज्ञान के कारण जो उसमें मल विक्षेप आवरण आ गया है उसको दूर करने के लिए पुरुषार्थ की आवश्यकता होती है। इसके लिए कर्म व उपासना की आवश्यकता होती है। इसके लिए भगवान् कर्म की उत्तरोत्तर शृंखला बतलायेंगे जिससे हमारा चित्त शुद्ध हो। कर्तृत्व का अभिमान विगलित हो। पहले सकाम, फिर निष्काम, फिर सहज कर्म, फिर निमित्त मात्र, फिर गुण-गुण में वर्त रहे हैं मैं तो साक्षी मात्र हूं। हां, जब तक जीवात्मा बुद्धि है तब तक कर्म है, तो कर्तृत्व भोगतृत्व है। कर्म की पहुंच जाग्रत एवं स्वप्न में कर्म की पहुंच सुषुप्ति में ही नहीं तो आत्मा में कहां से होगी। जाग्रत और स्वप्न अवस्था ही पुरुषार्थ भूमि है, कर्म भूमि है। जाग्रतावस्था में माता-पिता द्वारा प्राप्त अष्टधातुमय शरीर से स्थूल जगत् के व्यवहार सम्पन्न होते हैं। स्वप्नावस्था में मनोमय, वासनामय शरीर होता है। स्वप्नावस्था में शरीर आतंकवाद का शिकार होने पर भी, दावानल के चपेट में आने पर स्वप्न शरीर के राख-खाक होने पर भी कुछ भी अवशेष जाग्रत् में नहीं प्राप्त होता मनोमय शरीर होने के कारण।

सुषुप्ति में न शरीर, न इन्द्रियां और न अंतःकरण अतः कर्म भूमि नहीं है। पर प्राण अभान रूप से एवं आत्मा साक्षी रूप से रहने पर भी पुरुषार्थ नहीं। जब सुषुप्ति में ही कर्म की पहुंच नहीं तो तुरीय अवस्था में कर्म का प्रश्न ही नहीं उठता। कर्म सम्पादन के लिए कर्मायतन की आवश्यकता होती है। सुषुप्ति अवस्था में स्थूल, सूक्ष्म कोई भी शरीर नहीं रहता। बुद्धि सो जाती है यानी अन्तःकरण सो

जाता है। बुद्धि पर्यन्त, अहमर्थ पर्यन्त ही कर्म हो सकता है। अहमर्थ की सत्ता सुषुप्ति में लय हो जाती है। फलतः न कर्तृत्व और न भोगतृत्व की ही सिद्धि होती है। समस्त कर्म तो प्रकृति के गुणों के द्वारा होते हैं। अहंकार विमूढ़ चित्त मैं ही कर्ता हूं ऐसा मानता है—

प्रकृतेः क्रियमाणानि, गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहङ्कार-विमूढात्मा, कर्ताहमिति मन्यते।। 3/27

पांचवें अध्याय में भगवान् कहते हैं—

नैव किञ्चित् करोमीति,
युक्तो मन्येत तत्त्व-वित्।
पश्यञ्-शृण्वन्-स्पृशञ्-जिघ्रन्-
नश्नन्-गच्छन्-स्वपञ्-श्वसन्।।
प्रलपन्-विसृजन्-गृह्णन्,-नुन्मिषन्-निमिषन्-नपि।
इन्द्रिया-णीन्द्रियार्थेषु, वर्तन्त इति धारयन्।। 5/8,9

देखते हुए, सुनते हुए, स्पर्श करते हुए, सूंघते हुए, भोजन करते हुए, चलते हुए, श्वास लेते हुए, बातचीत करते हुए, (मलादि का) त्याग करते हुए, कुछ लेते हुए, नेत्रों के पलक उठाते-गिराते हुए भी तत्त्ववेत्ता समझता है कि इन्द्रियां अपने विषयों में प्रवृत्त हो रही है। गुण-गुण में वरत रहे हैं। मैं (आत्मा) कुछ भी नहीं करता। वास्तव में आत्मा में कर्तृत्व अध्यारोप के कारण, अविद्या उपाधि के कारण शरीर, मन, बुद्धि एवं अहं से तादात्म्यापति के कारण आरोपित होती है।

अतः अर्जुन का भय—भीष्म एवं द्रोण को मारने का पाप उसको चढ़ेगा क्योंकि आत्मीय-स्वजनों की हत्या से बढ़कर कोई पाप नहीं वृथा है। भीष्म पितामह की मृत्यु से वह पाप का भागी बनेगा यह मिथ्या है क्योंकि आत्मा तो अकर्ता है, मृत्यु तो स्वयं अपने पापपूर्ण कार्यों के कारण होगी। क्योंकि सभी कर्म तो अपने-अपने गुण, कर्म, स्वभाव के द्वारा होते हैं। उसमें आत्मा साक्षी मात्र है। पांचवें अध्याय में ही भगवान् कहते हैं—

न कर्तृत्वं न कर्माणि, लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्म-फल-संयोगं, स्वभावस्तु प्रवर्तते।। 5/14

नादत्ते कस्यचित्-पापं, न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञाने-नावृतं ज्ञानं, तेन मुह्यन्ति जन्तवः।। 5/15

परमेश्वर (आत्मा) मनुष्य के न तो कर्तृत्व को, न कर्मों को और न कर्मफल के संयोग को ही रचता है; किन्तु (मनुष्य) का स्वभाव ही बरतता है (अर्थात् सब कुछ करता है)।

सर्वव्यापी परमात्मा (आत्मा) न किसी के पाप को, न पुण्य को ही ग्रहण करता है। किन्तु अज्ञान से (जीवों का विवेक) ज्ञान ढका हुआ है, इसी से जीव मोह को प्राप्त हो रहा है।

पर इस स्थिति तक हम एकाएक नहीं पहुंच सकते—इसकी तह पहुंचने की, भगवान् ने क्रम से ऊपर उठने की, सीढ़ी प्रदान की है—पहले निषिद्ध कर्म का त्याग, विधिवत शास्त्रीय सकाम कर्म फिर निष्काम कर्म में फल त्याग, फिर गुण-गुण में वर्त रहे हैं, प्रकृति के द्वारा सारे कर्म होते हैं अतः कर्तापन का स्थान नहीं, फिर निमित्त मात्र (क्योंकि वे अपने कर्मों के कारण पहले ही देव द्वारा मारे गये हैं) यहां भी सूक्ष्म अहंकार अवशिष्ट रह सकता है। अतः सब धर्मों को त्याग कर मेरी शरण में आ जा। मैं तुझे पाप-पुण्य से मुक्त कर दूंगा। मेरी अध्यक्षता में मेरे आदेश से कर्म कर। जैसे प्रकृति भगवान् की अध्यक्षता में कर्म करती है। वह बिना जाने कर रही है तू बोध सहित कर तो तू मुक्त हो जायेगा। प्रकृति बिना जाने कर रही है अतः बंधी हुई रहती है।

यह अकर्तापन की साधना दो प्रकार से सधा करती है। प्रथम तो ज्ञान का रास्ता है, जिसमें साधक को यह धारणा दृढ़ करनी पड़ती है कि वह देह मन से भिन्न आत्मा है तथा आत्मा अपरिच्छिन्न और सर्वव्यापी होने के काण क्रिया आदि विक्रियाओं से रहित है। दूसरा रास्ता भक्ति का, शरणागति का है, जिसमें भक्त अपने अहंकार को भगवान् में विलीन करने का प्रयास करता है और इस प्रकार अपने कर्तापन को उन्हें सौंप देता है। पहले रास्ते को ज्ञान के पथ को, 'महान् अहं' की साधना भी कह सकते हैं और दूसरे, यानी भक्ति के पथ को, 'महान् त्वं' की। महान् अहं में साधक अपने अहं का इतना विस्तार करता है कि आब्रह्मस्तम्ब पर्यन्त सारा विश्व ब्रह्माण्ड उसके अहं के अन्तर्गत आ जाता है। वह अहं ब्रह्मास्मि, सोऽहम्, अयमात्मा ब्रह्म, आदि वाक्यों से ध्वनित सत्य की प्रतीति करने लगता है। वह अनुभव करता है कि वही सारे जगत् में व्याप्त है तथा कह उठता है—जो कुछ है सो मैं ही हूं। केवल मैं ही मैं हूं वहां कर्म के लिए कहां स्थान है? कर्म के लिए तो द्वैत चाहिये। त्रिपुटि चाहिये। दूसरी ओर महान् त्वं का साधक अपने अहं को तुच्छ और नगण्य बनाता हुआ भगवान् के अहं में निमज्जित करने का प्रयास करता है। वह कहता है—'नाहं नाहं, त्वमेव त्वमेव' मैं नहीं, मैं नहीं, तू ही तू ही। उसके लिए भगवान् ही सबके अहं में व्याप्त है तथा वह कह उठता है—जो कुछ है सो तू ही है। अतः जो कुछ होता है वह भगवान् ही करते हैं। भगवान् की ही लीला है क्योंकि उसका अहं भगवान् में लय हो जाने से कर्ता-धर्ता भगवान् ही सिद्ध होते हैं।

श्रीरामकृष्ण देव के शिष्य गिरीशचन्द्र घोष कहते थे कि ये दोनों प्रकार के साधक माया के पाश में नहीं बंधते। माया अपनी डोर लेकर महान् अहं के साधक

को बांधने आती है। वह अपने अहं का इतना विस्तार करता है कि अन्ततोगत्वा माया की डोर छोटी पड़ जाती है और उसे लपेटने में असमर्थ रहती है। माया महान् त्वं के साधक के पास भी जाती है और उसके चारों ओर अपनी डोर लपेटकर उसे गांठ में कसती है। पर यह साधक अपने अहं को इतना छोटा कर लेता है कि वह अन्त में उस गांठ से फिसलकर निकल आता है।

इस प्रकार आत्मा को मारने वाला समझता है या जो उसे मारा गया मानता है, वे दोनों यथार्थ सत्य को नहीं जानते; क्योंकि आत्मा न तो मारता है और न मारा जाता है। मारने की क्रिया द्वैत के राज्य में होती है। वह मारने वाले को उससे सम्बद्ध करती है जिसे मारा जा रहा है पर आत्मा में द्वैत है नहीं। अतः आत्मा में हनन की कोई क्रिया नहीं बन सकती।

भक्ति योग में प्रभु के दिये हुए शरीर से, प्रभु के बनाये हुए संसार में, प्रभु के बनाये हुए जीवों के प्रति, प्रभु की ही प्रेरणा से, प्रभु की दी हुई इन्द्रियों के द्वारा, प्रभु की प्रसन्नता के लिए, प्रभु की दी हुई शक्ति से कर्म करता हूं। इससे कर्तापन से बचा—

इससे कर्म फल की फांसी से, उसके संग से बचा।

प्रभु की प्रेरणा व शक्ति से कर्म भी दिव्य हो गया। प्रभु का यंत्र बन जाने के कारण इससे जगत् का हित एवं अपना मोक्ष फलित हो गया।

न जायते म्रियते वा कदाचिन्, नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो, न हन्यते हन्यमाने शरीरे।। 2/20

यह आत्मा न कभी जन्मता है और न मरता ही है। ऐसा नहीं कि यह नहीं होकर फिर से हो जाता है (अथवा यह भी नहीं कि यह होकर फिर से अभाव रूप हो जाता है) यह आत्मा तो अजन्मा, नित्य, शाश्वत और पुरातन है। यह शरीर के नष्ट होने पर नाश को प्राप्त नहीं होता।

दर्शन में सत्ता के दो स्तर हैं—

(1) स्वयंभू सत्ता (Being)—अस्ति। जो अपने आप में सदा सर्वदा विद्यमान है। अपरिवर्तनीय है। जैसे आत्मा है।

(2) परिवर्तनशील सत्ता (Becoming)—भवति। विश्व की प्रत्येक वस्तु होकर होने वाली है अर्थात् वह होती है, बनती है, विकसित होती है, विकारी होती है, बिगड़ती है, मिटती है। और पुनः होती, बनती, बिगड़ती है, मिटती है। शरीर होकर होने वाला है। किन्तु आत्मा होकर होने वाला नहीं।

आत्मा अस्ति न भवति, देहः नास्ति, केवलं भवति।

इसी को वेद की शब्दावली में 'आभु' और 'अम्व' का अन्तर बताया गया है।

आभु = आ समन्तात् भवतीति (भवति इति) आभु अर्थात् जो सर्वथा परिपूर्ण, देश और काल में सर्वत्र व्यापनशील है, वह सत् तत्त्व 'आभु' है। इसे विभु भी कहा जाता है। आत्मा या ब्रह्म आभु है।

अम्व = भूत्वा-भूत्वा पुनर् भवति इति अभूवम्। जो हो-हो कर पुनः होता है वह परिवर्तनशील सत्ता 'अम्व' है। इसे वेद में तुच्छ या क्षुद्र भी कहा गया है। सारी प्रकृति और देहादि अम्व, तुच्छ या क्षुद्र है। यह परिवर्तनशील, विकारी और विनाशी है। किन्तु इसी तुच्छ ने आभु को ढक रखा है। ऋग्वेद में कहा है—

तुच्छेन आभु अपिहितम्।

परिवर्तनशील जगत् ने अपरिवर्तनीय परम सत्ता को ढक रखा है। इसी को शुक्ल यजुर्वेद के ईशोपनिषद् में कहा गया है—

'हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।'

अर्थात् सोने के पात्र से सत्य का मुख ढका हुआ है। वैभव ने विभु को ढक लिया है। ऐश्वर्य ने ईश्वर को छिपा दिया है। माया ने महेश्वर पर पर्दा डाल दिया है। आत्मा पर देहरूपी पर्दा ही पड़ा हुआ है।

'दिह्यति इति देहः'

अर्थात् जो सद्वस्तु को ढक दे वही देह है। चोले ने व्यक्ति को ढक दिया है। बाली के मुखौटे और वेश-भूषा ने वास्तविक कलाकार सुशील कुमार को ढक दिया है। भूमिका ने पात्र को ढक दिया है।

इस तरह दो प्रकार की सत्ताओं का साम्राज्य हम देखते हैं एक होकर होने वाली है (Becoming) और एक है (Being)। हम होकर होने वाली सत्ता से ही परिचित है। यह इन्द्रिय गोचर या यंत्र गोचर है, अतः दृश्य है एवं जन्म-मरण की प्रक्रिया से युक्त है। षड् विकारों से युक्त है। इनकी उत्पत्ति (जन्मना), अस्तित्व (उत्पन्न होकर सत्ता वाला होना), वृद्धि (बढ़ना), विपरिणाम (रूपान्तर को प्राप्त होना), अपक्षय (क्षय होना या घटना) और विनाश (मर जाना)। संसार की प्रत्येक दृश्य भौतिक वस्तुएं इन छह विकारों से युक्त है। अतः अस्थायी हैं। सृष्टि का नियम है कि कोई अस्थायी वस्तु स्थायी आधार के बिना नहीं टिकती। चक्की का चाक चलता है, परन्तु कील स्थिर रहती है, अगर कील भी घूमने लगे तो चाक चल नहीं सकता। अस्थिर का आधार स्थिर ही होता है, नहीं तो अस्थिर टिक नहीं सकता। ईशोपनिषद् में कहा है—'अनेजदेकं मनसो जवीयो' वह गति नहीं करता इसलिए संसार में गति दिखलाई देती है, 'तदेजति तन्नेजति'—वह गति नहीं करता इसलिए जो गतिशील है वह गति कर पा रहा है। अतः परिवर्तित

सत्ता को आधार देने के लिए अपरिवर्तित सत्ता आवश्यक है। इसके बिना परिवर्तन का चक्र नहीं घूम सकता है।

जब तक फिल्म चलती रहती है, रूप आते और जाते रहते हैं, तब तक पीछे खड़ा परदा दिखाई नहीं देता। लेकिन उस परदे को हटा दें तो ये रूप कहीं भी प्रकट नहीं हो सकते। ये आकृतियां कहीं प्रकट भी नहीं हो सकती। इन आकृतियों को दौड़ती हुई परिवर्तन की इस लीला में, पीछे कोई स्थिर परदा चाहिये, जो उन्हें सम्हाले। एक चित्र आयेगा तब भी परदा वही होगा, दूसरा चित्र आयेगा तब भी परदा वही होगा, तीसरा चित्र आयेगा तब भी परदा वही होगा। चित्र बदलते जायेंगे परदा वही होगा। तभी इन चित्रों में एक संगति, तभी इन चित्रों में एक शृंखला, तभी इन चित्रों में एक सम्बन्ध दिखायी पड़ेगा। वह सम्बन्ध पीछे जो थिर परदा है, उसी से पैदा हो रहा है।

जो बात जड़-जगत् में लागू है वही बात जीव सृष्टि, मानव शरीर के साथ लागू है। मानव का शरीर भी परिवर्तन के चक्र में एक अवस्था से दूसरी अवस्था को प्राप्त होता रहता है। जाग्रत, जाग्रत से मनोराज्य, मनोराज्य से स्वप्न, स्वप्न से सुषुप्ति, सुषुप्ति से मृत्यु, प्रलय-महाप्रलय पुनः सृष्टि से जाग्रत- मनोराज्य..।

इसी प्रकार शिशुपन, बालपन, बुढ़ापा, रुग्णावस्था, सुख, दुःख, मान, अपमान, सफलता, असफलता ये सब भी चित्र हैं। ये सब चित्रों की धारायें हैं। उन चित्रों की धारा को सम्हालने के लिए कोई चाहिये जो दिखाई नहीं पड़ता। जब तक हम चित्रों को देखते हैं तब तक वह दिखाई नहीं पड़ता।

वह परदे की तरह पीछे खड़ा है, वही अस्तित्व है। उसे श्रीकृष्ण कहते हैं— अजात, अजन्मा, जो कभी मरता नहीं। लेकिन भूल कर भी ऐसा मत समझ लेना कि हम-आप के सम्बन्ध में कहा जा रहा है। हम-आप तो जन्मते हैं और मरते हैं। और जिस 'आप' के सम्बन्ध में कहा जा रहा है उस 'आप' का आपको कोई भी पता नहीं है। जिस 'आप' को आप जानते हैं वह तो जन्मता है, उसकी तो जन्म तारीख है, उसकी तो मृत्यु की तिथि भी होगी। जन्म के साथ ही मृत्यु का जन्म भी हो जाता है। अतः कब्र के पत्थरों पर जन्म और मृत्यु दोनों तिथि लिखी रहती है। अतः हम जितना अपने आपको जानते हैं वह चित्रों का ही संग्रह है।

जीवन की सारी घटना या चित्र स्मृति से जुड़े हैं। अब तो हम ब्रेन-वाश (स्मृति-नाश) कर सकते हैं। अब तो वैज्ञानिक रास्ते उपलब्ध है जिसके सहयोग से सारी स्मृति को पोंछ सकते हैं। विद्युत के धक्कों से और दूसरे कैमिकल्स व दूसरी मानसिक प्रक्रियाओं से स्मृति को पोंछा जा सकता है। कुछ की मृत्यु के पूर्व स्मृति नष्ट हो जाती है। कुछ की दुर्घटना से भी स्मृति नष्ट हो जाती है जिसके

फलस्वरूप अपने नाम तक को, अपनी माता-पिता, पत्नी तक को भूल जाता है, पहचान नहीं पाता है। ऐसी घटनायें द्वितीय विश्व युद्ध के समय बहुत-सी प्रकाश में आयी। कुछ की वृद्धावस्था में स्मृति नष्ट हो जाती है। जिसे हम 'मैं' कहते हैं, जो किसी का बेटा है, किसी का पिता है, किसी का पति है यह सिर्फ चित्रों (या स्मृति) का संग्रह है, 'एलबम' है, इससे ज्यादा नहीं। अपना-अपना एलबम हम सम्हाले बैठे हैं। सबकी अपनी-अपनी अलग-अलग दुनिया है, अलग-अलग एलबम है। उसी को लौट-लौट कर देख लेते हैं, दूसरे को भी दिखा देते हैं; कोई घर में आता है तो दिखाते हैं कि यह 'एलबम' है। पर वास्तविक आप यह नहीं है। यह 'मैं' मैं नहीं है। यह सिर्फ मेरे उस गहरे 'मैं' पर इकट्ठे हो गये चित्र हैं जिनसे मैं गुजरा हूं। परस्पर परिचय में हम चित्रों का ही तो आदान-प्रदान करते हैं।

जापान में झेन फकीर के पास जब कोई साधक जाता है और उनसे पूछता है कि मैं क्या साधना करूं तो वह कहता है कि तू यह साधना कर कि तू अपना 'ओरिजनल फेस' जो जन्म के पहले तेरा चेहरा था, और मृत्यु के पश्चात् जो चेहरा रहेगा उसको खोजकर लाओ। ऐसे ही भगवान् श्रीकृष्ण कहते, अन्तःकरण से युक्त शरीर से परे जो मूल सत्ता है परम कारण है और वह अज है, अजन्मा है। वहां मृत्यु का प्रश्न नहीं है।

जिस प्रकार परछाईं पर शस्त्राघात करने से मूल शरीर को कुछ भी हानि नहीं, अथवा तरंगों की उत्पत्ति और विनाश से समुद्र की कुछ हानि नहीं होती, स्वप्न की अग्नि जागृति के शरीर को स्पर्श नहीं कर सकती वैसे ही शरीर के नाश से आत्मा का नाश नहीं होता। इसी तत्त्व के अधिगम से मृत्यु का भय सदैव के लिए चला जाता है। इसी तत्त्व के अधिगम के परिणाम से ही सिक्ख गुरुओं में अर्जुन देव, तेगबहादुर, मति भाई, बंदा वैरागी ने धर्म की रक्षा के लिए अद्भुत बलिदान किये बिना उफ् किये।

19 जून, 1716 को बन्दा बहादुर को पिञ्जरे में बन्द करके मेहरौली ले जाया गया। काजी ने इसलाम कबूल करने का फतवा जारी किया, जिसे बन्दा ने ठुकरा दिया। बन्दा के मनोबल को तोड़ने के लिए उसके चार वर्षीय अबोध पुत्र अजयसिंह को उसके पास लाया गया और काजी ने बन्दा को निर्देश दिया कि वह अपने पुत्र की अपने हाथों से हत्या करें। जब बन्दा इसके लिए तैयार नहीं हुआ, तो जल्लादों ने इस अबोध बालक का एक-एक अंग निर्ममतापूर्वक बन्दा की आंखों के सामने काट डाला। इस मासूम के धड़कते हुए दिल को सीना चीरकर बाहर निकाला गया और बन्दा के मुंह में जबरन ठूँस दिया गया। वीर बन्दा तब भी निर्विकार और शान्त बना रहा। 'सैरुल मुतकीन' के लेखक मिर्जा मोहम्मद के अनुसार बन्दा हिन्दुओं की योग विद्या जानता था। इसलिए उस पर यातनाओं

और उत्पीड़न का कोई असर नहीं हो रहा था। वह शान्त और निर्विकार बना रहा। अगले दिन जल्लाद ने उसकी दोनों आंखों को तलवार से बाहर निकाल दिया। बन्दा टस से मस न हुआ। वह शान्तचित्त से गुरुवाणी का पाठ करता रहा। वह मौत के भय पर बिजय प्राप्त कर चुका था। उसके बाद हर रोज एक-एक अंग काटा जाने लगा। उसे भीषण पीड़ा हो रही थी, मगर न जाने वह किस मिट्टी का बना हुआ था। उसके मुंह से उफ तक नहीं निकली। वह पूर्णरूप से शान्त बना रहा। जल्लादों द्वारा अंगों के काटने का यह सिलसिला एक सप्ताह तक चलता रहा। एक सप्ताह के बाद काजी के निर्देश पर जल्लाद ने उसकी गर्दन काट दी। मुगल इतिहासकार अहमद के अनुसार बन्दा के कटे हुए सिर के ओंठों पर अद्भुत मुस्कराहट थी। बन्दा न तो गिड़गिड़ाया और न उसने चीख-पुकार मचायी। मुगलों की हर प्रताड़ना और जुल्म का उसने शान्ति से सामना किया और धर्म की रक्षा के लिए बलिदान हो गया। ऐसी ही स्थिति सिकन्दर के आक्रमण के समय ब्राह्मणों की पाते हैं। सिकन्दर गुरु की आज्ञानुसार एक भी संत को अपने देश में ले जाने को तैयार नहीं कर सका।

इस प्रकार स्पष्ट है आत्मा वस्तुतः न कभी जन्म लेता है और न ही कभी भी किसी हेतु से उसका नाश होता है। अनादिकाल से यदि हम कभी भी मर गये होते तो वर्तमान में अपनी विद्यमानता की अनुभूति भला किस प्रकार करते। 'अहमस्मि' 'मैं हूं' का प्रत्येक क्षण प्रत्येक व्यक्ति को अनुभव होता है।

आत्मा जन्म या मृत्यु को प्राप्त नहीं होता इसका अर्थ जीवन के विषय में नियम, निष्ठा, व्यवहार में प्रमाद नहीं बरतना चाहिये। जब तक देहपात न हो जाये, तब तक जागरूक एवं सावधान रहना चाहिये।

दास कबीरा जतन से ओढ़ी ज्यों के त्यों धर दीनी चदरिया।

कुछ शिष्य महात्माओं से सीखने अपने जीवन का कैसे उत्थान करें इसके लिए आते हैं तो कुछ महात्माओं की ही परीक्षा के लिए आते हैं। सब प्रकार के भक्त व शिष्य सम्पर्क में आते हैं। एक महात्मा को एक मुंह लगे भक्त ने पूछा, आपका जीवन निभ गया। महात्मा मौन। फिर कहा, इसके उत्तर के लिए प्रतीक्षा करो। यथा समय उत्तर दूंगा। फिर महात्माजी एक दिन चल बसे। मृत्यु का समाचार पाकर वह भक्त पहुंचा। महात्मा उत्तर दिये बिना मर गये। श्मशान में ले जाने लगे तो मध्य में आकर कहा, झूठ-झूठ बोलते हो। बिना उत्तर दिये चल दिये। 2-3 बार ताना दिया। सबने कहा, मर गये। मौत पर किसका वश है। इतने में महात्मा ने कहा, कुशलपूर्वक निभ गयी। फिर मरने लगे। यह बात पहले क्यों नहीं कही। क्या मालूम प्रारब्ध के शेष दिनों में जड़ भरत की तरह फिसल जाऊं। सेवा बुरी नहीं है पर उसमें आसक्ति ममत्व और इस ममत्व के कारण अपने वास्तविक

कर्तव्य कर्म का विस्मरण कर देना गलत है। यही भूल राजा भरत से होने के कारण उनकी साधना दो जन्मों के लिए पिछड़ गयी। हमारे ऋषि-मुनियों ने सारे जीवन को बैल की तरह एक खूंटे से नहीं बांधा है। उन्होंने जीवन का सूक्ष्म अध्ययन करके पाया कि हमारा भौतिक जीवन ही सर्वस्व नहीं है। उससे ऊंचे भी जीवन के कई स्तर हैं, कई आनन्द हैं जिसकी और क्रमशः बढ़ना पड़ता है। अतः जीवन को चार पड़ावों में, चार विभागों में बांटा ताकि हम जीवन के वास्तविक स्वरूप का आस्वादन कर सदा के लिए भौतिक जीवन के बंधन से मुक्त हो सकें। इसलिए हमारी परम्परा रही है जन साधारण ही नहीं राजा महाराजा भी गृहस्थाश्रम के पश्चात् वानप्रस्थ आश्रम का आश्रय लेवें जब उनके पुत्र राज्य या घर की व्यवस्था सम्हालने योग्य हो जायें उनको जिम्मेदारी सुपुर्द कर स्वयं वन की राह पकड़ें।

वेदाविनाशिनं नित्यं, य एन-मज-मव्ययम्।
कथं स पुरुषः पार्थ, कं घातयति हन्ति कम्।। 2/21

हे पार्थ! जो व्यक्ति इस आत्मा को अविनाशी, नित्य, जन्मरहित और अव्यय जानता है (अर्थात् अपने को ऐसा अनुभव करता है), वह कैसे किसको मरवाए और कैसे किसको मारे।

अर्जुन भयत्रस्त है कहीं मेरे से पूज्यजन न मारे जायें। मेरे न मारे जायें इसके लिए भगवान् बताते हैं—आत्मा में कर्तृत्व है ही नहीं, कर्मपना है ही नहीं। ज्ञान योग महान् अहम् की साधना ज्ञानी के मैं में चराचर समाया हुआ है—वह स्वयं भगवान् ही हो जाता है—उसको माया बांध नहीं सकती, उसकी रस्सी छोटी पड़ जाती है।

भक्ति योग में महानत्वम् की साधना अहम् को इतना छोटा या अहम् को गला देता है कि उसका व्यक्तिगत अहम् गुरु में, माता-पिता में, भगवान् में समा जाता है, भगवान् यंत्री बन जाते हैं और वह यंत्र। उसका व्यक्तिगत अहम् शेष नहीं बचता। जिस प्रकार न्यायाधीश अपनी व्यक्तिगत इच्छा के अनुसार नहीं कानून एवं संविधान के अनुसार दण्ड या सम्मान देता है। अतः वह पाप-पुण्य का भागी नहीं बनता। जल्लाद फांसी या शिरश्च्छेद करता है, शासन की आज्ञा से, अतः वह पाप-पुण्य का भागी नहीं बनता।

इसी तरह भीष्म पितामह आदि की मृत्यु के तुम उत्तरदायी नहीं हो तुमने क्षत्रिय धर्म के अनुसार भगवान् की, माता की, बड़े भ्राता की आज्ञा से दण्ड दिया है। संविधान, न्याय के आधार पर दण्ड दिया है, युद्ध किया है। अतः उनके वध के लिए तुम पाप के भागी नहीं हो, तुमने तो क्षत्रिय धर्म निभाया, पुण्य के भागी हो। अपने कर्तव्य का हर परिस्थिति में, विपरीत परिस्थिति में पालन किया इसके लिए यश और पुण्य के भागी ही बनोगे पाप के नहीं।

युद्ध के अवसान पर युधिष्ठिर महाराज भीष्म पितामह आदि के पतन को देखकर सारे कौरवों के मारे जाने पर बहुत दुःखी हुए। इसके लिए अपने को जिम्मेवार, उत्तरदायी मानकर वे विषादग्रस्त हो गये और राज्य सम्हालने के स्थान पर संन्यासी बन वन जाने की कामना करने लगे। तब भीष्म पितामह ने तितिक्षु ब्राह्मणी की कथा सुनाकर युधिष्ठिर को बताया कि कौरव पक्ष अपने कर्मों के आधार पर मारा गया। उसके लिए तुम पाण्डव उत्तरदायी नहीं हो। हम सब अपने कर्मों के कारण पतन को प्राप्त हुए हैं।

गौतमी ब्राह्मणी, बहेलिया अर्जुनक (व्याध), सर्प, मृत्यु देव और काल देव के संवाद रूप प्राचीन इतिहास का उदाहरण दिया—पूर्व काल में गौतमी नाम वाली एक बूढ़ी ब्राह्मणी रहती थी, जो शान्ति से साधना में लगी रहती थी। एक दिन उसने देखा, उसके इकलौते बेटे को सांप ने डस लिया और उसकी मृत्यु हो गयी। इतने में ही अर्जुनक नामक बहेलिये ने सांप को जाल में बांध लिया और गौतमी से कहा, यही नीच सर्प है जिसने डसा है इसका किस तरह वध करूं? इसे आग में जलाऊं या इसके शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर डालूं? बालक की हत्या करने के कारण अधिक काल तक जीने के योग्य नहीं रहा।

गौतमी ने कहा—अर्जुनक! तू अभी नादान है, इसे छोड़ दे। होनहार को कोई टाल नहीं सकता इस बात को जानकर भी इसकी उपेक्षा करके कौन मनुष्य अपने ऊपर पाप का बोझ लादेगा? इसको मारने से मेरा पुत्र जीवित नहीं हो सकता। ब्राह्मण को क्रोध नहीं करना चाहिये। अतः सर्प के अपराध को क्षमाकर उसे छोड़ दो।

व्याध—इस सर्प को मार डालने से अनेकों का भला होगा। एक सर्प को मारने से बहुतों के जीवन की रक्षा होगी। धर्मज्ञ पुरुष अपराधी को यथायोग्य दण्ड देते हैं नहीं तो उनकी दुष्टता बढ़ती जाती है। उसको दण्ड नहीं मिला तो समाज में अराजकता पनपने का अवसर मिल जाता है।

देवी! वृत्रासुर का वध करके देवराज इन्द्र श्रेष्ठ पद के भागी हुए और त्रिशूलधारी रुद्र देव ने यज्ञ का विध्वंस करके उसमें अपने लिए भाग प्राप्त किया। तुम्हें भी देवताओं के मार्ग का अनुसरण करना चाहिये। व्याध के बार-बार कहने और उकसाने पर भी गौतमी ने सर्प को मारने का विचार नहीं किया।

उस समय बन्धन से पीड़ित होकर धीरे-धीरे सांस लेता हुआ वह सांप बड़ी कठिनाई से अपने को संभालकर मन्द-मन्द स्वर से मनुष्य की वाणी में बोला—ओ नादान अर्जुनक! इसमें मेरा क्या दोष है? मैं तो पराधीन हूं। मृत्यु ने मुझे विवश करके इस कार्य के लिए प्रेरित किया था। मैंने बालक को क्रोध या कामना

से नहीं डसा। मृत्यु की प्रेरणा से विवश होकर डसा है। अतः इसमें कुछ अपराध है तो वह मेरा नहीं मृत्यु का है।

व्याध ने कहा—सर्प! तेरे मत के अनुसार यदि दुष्टतापूर्ण कार्य करके भी कर्ता उस दोष से लिप्त नहीं होता है तब तो चोर या हत्यारे आदि जो अपने अपराधों के कारण राजाओं के यहां वध्य होते हैं, उन्हें भी वास्तव अपराधी या दोष का भागी नहीं होना चाहिये फिर तो पाप और उसका दण्ड भी व्यर्थ ही होगा। अतः तू क्यों बहुत बकवाद कर रहा है।

सर्प ने कहा—जैसे दण्ड और चक्र आदि मिट्टी का बर्तन बनाने में कारण होते हुए भी कुम्हार के अधीन है, इसलिए स्वतन्त्र नहीं माने जाते, इसी प्रकार मैं भी मृत्यु के अधीन हूं। अतः तू ने मुझ पर जो अपराध लगाया है, वह ठीक नहीं है।

व्याध ने कहा—तू अपराध का कारण या कर्ता न भी हो तो भी बालक की मृत्यु तो तुम्हारे ही कारण हुई है अतः तुम अपराधी हो एवं वध के योग्य हो।

सर्प ने कहा—व्याध! जैसे यजमान के यहां ऋत्विज लोग अग्नि में आहुति डालते हैं, किन्तु उसका फल उन्हें नहीं मिलता। इसी प्रकार इस अपराध का दण्ड मुझे नहीं मिलना चाहिये। क्योंकि वास्तव में मृत्यु ही अपराधी है।

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! मृत्यु की प्रेरणा से बालक को डसने वाला सर्प जब बार-बार अपने को निर्दोष और मृत्यु को दोषी बताने लगा, तब मृत्यु देवता भी वहां आ पहुंचा और सर्प से इस प्रकार बोला—

मृत्यु ने कहा—काल से प्रेरित होकर ही मैंने तुझे इस बालक को डसने की प्रेरणा दी थी; अतः इस बालक के विनाश में न तो तू कारण है और न मैं कारण हूं।

काल के द्वारा सृष्टि होती है, काल विशेष तक स्थित रहती है फिर काल में ही लय हो जाती है। शरीर एवं संसार काल के अधीन है। काल के आधार पर ही सृष्टि स्थिति व लय को प्राप्त होती है।

पृथ्वी अथवा स्वर्गलोक में जितने भी स्थावर जङ्गम पदार्थ हैं, वे सभी काल के अधीन हैं। यह सारा जगत् ही काल स्वरूप है। लोक में जितने प्रकार की प्रवृत्ति-निवृत्ति है तथा उनकी विकृतियां (फल) है, वे सब काल के ही स्वरूप हैं। सृष्टि एवं प्रलय काल के अधीन है, काल पाकर सृष्टि होती है काल पाकर सृष्टि नष्ट होती है। सूर्य, चन्द्र, जल, वायु, इन्द्र, अग्नि, आकाश, पृथ्वी, पर्जन्य वसु, अदिति, नदी, समुद्र तथा भाव और अभाव ये सभी काल के द्वारा ही रचे जाते हैं और काल ही इनका संहार कर देता है। महाभारत युद्ध के पश्चात् धृतराष्ट्र अपने सारे पुत्रों को खोकर बहुत ही दुःखी थे। वेदव्यासजी आने पर अपनी व्यथा रखी

तो वेदव्यासजी ने भी कहा, काल ही सर्व संहार का कारण है, काल के आधार पर रचना होती है, काल के आधार पर ही सब नाश को प्राप्त होते हैं। काल पर किसी का वश नहीं। सब काल के अधीन है। यह कहकर सांत्वना दी। काल बड़ा प्रबल है। इस पर किसी का वश नहीं है। होनी बड़ी प्रबल है उसे कोई रोक नहीं सकता।

सर्प! यह सब जानकर भी तुम मुझे दोषी मानते हो?

सर्प ने कहा—मृत्यो! 'मैं तुम्हें न तो निर्दोष बताता हूं और न ही दोषी। मैं तो इतना ही कह रहा हूं कि इस बालक को डसने के लिए तू ने ही मुझे प्रेरित किया था। काल दोषी है अथवा नहीं इसकी जांच का मैं अधिकारी नहीं हूं और न ही मुझे जांच करनी पर मेरे ऊपर जो दोष लगाया गया उसका निवारण कर रहा हूं। मेरे कहने का प्रयोजन यह नहीं है कि मेरे बदले मृत्यु का दोष सिद्ध हो जाये।

तदनंतर, सर्प ने अर्जुनक से कहा—अब तो तू ने मृत्यु की बात सुन ली। मैं सर्वथा निर्दोष हूं, अतः मुझे बंधन में बांधकर व्यर्थ कष्ट न दे।

व्याध ने कहा—सर्प! मैंने तेरी और मृत्यु की बात सुनी, इससे तेरी निर्दोषता नहीं सिद्ध होती। इस बालक के विनाश में तुम दोनों ही कारण हो, अतः मैं दोनों को ही अपराधी मानता हूं, किसी को भी निरपराध नहीं मानता। सज्जनों को दुःख में डालने वाले इस क्रूर एवं दुरात्मा मृत्यु को धिक्कार है।

मृत्यु ने कहा—व्याध! हम दोनों काल के अधीन हैं, विवश एवं उसके आदेश पालक मात्र हैं। जगत् में जो कोई भी चेष्टा हो रही है वह सब काल की ही प्रेरणा से होती है। तदनंतर काल भी उपस्थित हो गया।

काल ने कहा—व्याध! न तो मैं, न यह मृत्यु और न यह सर्प ही इस बालक की मृत्यु में अपराधी है। हम लोग किसी की मृत्यु में प्रेरक नहीं हैं।

अर्जुनक! इस बालक ने जो कर्म कर्म किया है वही इसकी मृत्यु में प्रेरक हुआ है, दूसरा कोई इसके विनाश का कारण नहीं है। यह जीव अपने कर्म से मरता है।

इस बालक ने जो कर्म किया है, उसी से यह मृत्यु को प्राप्त हुआ है। इसका कर्म ही इसके विनाश का कारण है। हम सब लोग कर्म के अधीन हैं।

कर्म ही सुख-दुःख के सम्बन्ध का सूचक है।

इस प्रकार विचार करने से न मैं (काल), न मृत्यु, न सर्प, न तुम (व्याध) और न यह बूढ़ी ब्राह्मणी ही इस बालक की मृत्यु में कारण है। यह बालक स्वयं ही कर्म के अनुसार अपनी मृत्यु में कारण हुआ है।

काल के इस प्रकार कहने पर गौतमी ब्राह्मणी को यह निश्चय हो गया कि मनुष्य को अपने कर्मों के अनुसार ही फल मिलता है। फिर वह अर्जुनक से बोली।

गौतमी ने कहा—व्याध! न यह काल, न सर्प, और न मृत्यु ही यहां कारण है। यह बालक अपने कर्मों से ही प्रेरित होकर काल के द्वारा विनाश को प्राप्त हुआ है।

अर्जुनक! मेरे पुत्र ने ही वैसा कर्म किया था जिससे मेरा पुत्र मर गया है। अतः काल और मृत्यु अपने-अपने स्थान को पधारें और तू इस सर्प को छोड़ दे।

भीष्म कहते हैं—राजन्! तदनन्तर काल मृत्यु और सर्प जैसे आये थे वैसे ही चले गये और अर्जुनक तथा गौतमी ब्राह्मणी का शोक दूर हो गया।

नरेश्वर (युधिष्ठिर)! इस उपाख्यान को सुनकर तुम शांति को धारण करो, शोक में न पड़ो। सब मनुष्य अपने-अपने कर्मों के अनुसार प्राप्त होने वाले लोकों में ही जाते हैं।

तुमने या दुर्योधन ने कुछ नहीं किया है। कर्म की ही सारी करतूत समझो, जिससे समस्त भूपाल मारे गये।

भीष्म की यह बात सुनकर धर्मात्मा युधिष्ठिर की चिन्ता दूर हो गई।

यही बात अर्जुन भगवान् के विराट रूप दर्शन के समय पाता है कि कौरव पक्ष अपने कर्मों के फलस्वरूप भगवान् के द्वारा पहले ही मार दिये गये हैं। उसे तो मात्र निमित्त बनकर यश का भागी बनना है। अतः किसी भी हालत में न शोक करने की आवश्यकता है और न भय की ही आवश्यकता है। अतः अर्जुन का अपने युद्ध रूपी कर्तव्य से पलायन उचित नहीं है।

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय, नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-न्यन्यानि संयाति नवानि देही।।2/22

'जैसे मनुष्य फटे-पुराने कपड़ों को त्याग कर अन्य नये कपड़े पहन लेता है, वैसे ही यह शरीरी आत्मा भी जीर्ण शरीरों को छोड़कर अन्य नये शरीरों में प्रवेश कर जाता है।'

यह बहुत प्रसिद्ध श्लोक है चाहे गांव के अनपढ़ या वन के अनपढ़ भी इसे जानते हैं जो उन्हें लोक परम्परा, लोक भाषा से, लोक साहित्य, लोक गीत, लोकाचार से, लोक मान्यता से प्राप्त होती है। जन-जन में व्याप्त है यह श्लोक। इस श्लोक ने राष्ट्रीय व अन्तरराष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन को प्रभावित एवं प्रेरित किया है।

भगवान् श्रीकृष्ण कह रहे हैं पुराने कपड़ों को छोड़कर नये वस्त्रों को धारण करने पर जिस प्रकार देह का नाश और जन्म सिद्ध नहीं होता वैसे ही उसी प्रकार

पूर्व देह के नाश से और नवीन देह की प्राप्ति से आत्मा का नाश और जन्म सिद्ध नहीं होता। शरीर के नष्ट होने से ऐसा नहीं समझना चाहिये सब कुछ नष्ट हो गया वरन् उसे (देही आत्मा को) नया देह प्राप्त हो जाता है। जैसे मनुष्य अपने पुराने-फटे वस्त्र को त्याग कर नये वस्त्र पहन लेता है वैसे ही यह देह का स्वामी आत्मा शरीर के जीर्ण होने पर उसे त्याग देता है और नया शरीर ग्रहण करता है। मनुष्य सहज रूप से पुराने वस्त्रों को त्याग देता है उसके लिए शोक नहीं करता, तो फिर जीर्ण शरीर को छोड़ते समय शोक क्यों करे? क्योंकि शरीर आत्मा के लिए वस्त्र के समान है। तिलकजी वस्त्र के स्थान पर, पुस्तक की जिल्द से करते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण का यह उपदेश देहासक्ति, और देहासक्ति से उत्पन्न शोक को दूर करने के लिए है। भगवान् मानो अर्जुन से यह कहना चाहते हैं कि अर्जुन, तू भीष्म पितामह एवं गुरु द्रोणाचार्य आदि के लिए शोक कर रहा है, वह उचित नहीं है। आत्मा की दृष्टि से यदि तू देखे, तो उसमें न कोई परिवर्तन है, न मरने-मारने की कोई क्रिया ही। और यदि तू उन लोगों की ओर शरीर की दृष्टि से देखे तो, तो उनका यह शरीर नष्ट होने पर उन्हें नया शरीर मिल ही जायेगा। शरीर कर्मफल के आधार पर मनुष्य का या पशु-कीट-पतंग या इन्द्र आदि देवों का यानी किसी का भी मिल सकता है। भीष्म एवं द्रोण सदाचारी होने पर उन्हें तो श्रेष्ठ शरीर ही मिलेगा। दुर्योधन आदि बान्धव युद्ध में वीर गति प्राप्त होने से स्वर्गीय शरीर द्वारा स्वर्ग सुख ही भोगेंगे।

अर्जुन! क्या तू जीवन को इतना सा ही मानता है कि एक दिन एक जीव पैदा हुआ, कुछ समय संसार में रहा और अन्त में काल के मुख में समा गया? क्या जीवन की गाथा इतने में ही समाप्त हो गयी? अरे नहीं, अर्जुन! जीवन तो शाश्वत है। आत्मा ही यथार्थ जीवन है। जीवन और आत्मा, दोनों पर्यायवाची हैं। जैसे आत्मा अविनाशी और शाश्वत है, वैसे ही जीवन भी। शरीर तो हम प्रतिदिन ही नये बदलते रहते हैं। जाग्रत् का शरीर मनोराज्य में नहीं रहता, मनोराज्य का शरीर स्वप्न में नहीं रहता, स्वप्न का शरीर सुषुप्ति में नहीं रहता, जाग्रत् के शरीर ने अभी-अभी तृप्त होकर भोजन व पानी पाया। फिर सोये, स्वप्न के शरीर को भूख-प्यास लगी जाग्रत् के पेट में रखा हुआ भोजन एवं जल अभी काम आयेगा क्या? सिरहाने में मेवा-मिष्टान्न एवं जल रखा है वह काम आयेगा? अब मनोमय भोजन एवं जल ही चाहिये। राजा जनक को स्वप्न में भूख लगी, कहीं भोजन उपलब्ध नहीं, खुरचन भी कुत्ता लेकर भाग गया—यह सच या वह सच! अष्टावक्र ने कहा—न यह सच, न वह सच। और तुरीयावस्था (समाधिवस्था) में इनमें से किसी भी शरीर की सत्ता नहीं रहती। अतः शरीर में परिवर्तन से हमारे में कोई परिवर्तन नहीं होता और न शरीर के नाश से हमारा कोई नाश होता है।

इस श्लोक में शरीर की तुलना वस्त्र से की गई है और पुनर्जन्म के सिद्धान्त का भी स्पष्ट संकेत किया गया है। तो यह शरीररूपी वस्त्र कैसा है। शरीर रूपी वस्त्र के भी तीन भेद किये गये हैं—

स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर।

स्थूल शरीर—पंचीकृत पंचभूतों से निर्मित सप्तधातुमय स्थूल शरीर की अभिव्यक्ति होती है। त्वक्, मांस, रुधिर, अस्थि, स्नायु, मज्जा और शुक्र ये सप्त धातु हैं। यह शरीर माता-पिता की कृपा से प्राप्त होता है। यह स्थूल शरीर कर्म फलात्मक होता है। मोटे तौर पर अन्न सारसर्वस्व, शुक्र से समुद्भूत अन्न के द्वारा पोषित एवं अन्न में ही लय को प्राप्त होता है।

सूक्ष्म शरीर—सूक्ष्म शरीर के अन्तर्गत पांच ज्ञानेन्द्रिय, पंच कर्मेन्द्रिय, पंच प्राण एवं मन और बुद्धि आते हैं। पंच ज्ञानेन्द्रियों में श्रोत, त्वक्, नेत्र, रसन, घ्राण, कर्मेन्द्रियों में वाक्, हस्त, पाद, उपस्थ और गुदा, पंच प्राण में प्राण, अपान, उदान, व्यान, समान। मन और बुद्धि के अन्तर्गत ही चित्त और अहंकार का अन्तर्भाव कर लिया जाता है।

कारण शरीर—कारण शरीर अविद्यात्मक होता है। मलीन सत्त्व गुण प्रधान कारण शरीर है।

स्थूल शरीर—बार-बार बनता एवं नष्ट होता है। गमनागमन सूक्ष्म और कारण शरीर का होता है।

अकृतार्थ पर्यन्त यानी मोक्ष पर्यन्त सूक्ष्म और कारण शरीर की स्थिति बनी रहती है। महाप्रलय में भी सूक्ष्म भूतों से निर्मित सूक्ष्म शरीर ही भूतलय का योग प्राप्त होने पर लय दशा को प्राप्त होता है। इतना ही नहीं महाप्रलय में गुणों की साम्यावस्था का योग प्राप्त होने पर मलीन सत्त्वप्रधान प्रकृति रूप अविद्यात्मक कारण शरीर भी प्रकृतिभावापन्न हो जाते हैं। पुनः सर्गदशा में अविद्या, काम और कर्म के योग से जीवों को क्रमशः कारण, सूक्ष्म और स्थूल देहों की प्राप्ति होती है। आत्मा के अजत्व, अमृतत्व और अद्वितीयत्व के विज्ञान सहकृत प्रारब्ध क्षय के अनन्तर त्रिविध शरीरों का ही त्याग हो जाता है। विवेकबल को प्राप्त कर आवागमन सदा के लिए मिट जाता है।

शरीर की जिस प्रकार त्रिविध रूपों में विवेचना की जाती है इसी प्रकार पंच कोषों की विवेचना की जाती है।

अन्नमय कोष, प्राणमय कोष, मनोमय कोष, विज्ञानमय कोष एवं आनन्दमय कोष। जो अभिव्यंजक (प्रकट करने वाला) होता हुआ आवरक (ढकने वाला या आच्छादक) हो उसे कोष कहते हैं। उदाहरणार्थ म्यान तलवार का, जाला मकड़ी

का और बल्ब विद्युत् का अभिव्यंजक होता हुआ आवरक होने के कारण कोष है। इसी प्रकार आनन्दमयादि आत्मा के अभिव्यंजक होते हुए आवरक होने के कारण कोष है।

अन्नमय कोष—स्थूल शरीर को ही अन्नमय कोष कहते हैं। पंचीकृत पंचभूत का नाम अन्न है। मनुष्यादि शरीर सप्त धातुमय है। त्वक्, मांस, रुधिर, अस्थि, स्नायु, मज्जा और शुक्र में सप्तधातु है। शुक्र रूप चरमधातु का अन्तर्भाव छह धातुओं में कर लिया जाता है। त्वक्, मांस और रुधिर ये तीन धातु मातृ शरीर से प्राप्त होता है। अस्थि, स्नायु, मज्जा पितृ शरीर से प्राप्त होता है। स्थूल शरीर की स्थिति अन्नमय कोष में है।

प्राणमय कोष—क्रिया शक्ति प्रधान प्राणमय कोष है। पंच कर्मेन्द्रियों सहित प्राण का नाम प्राणमय कोश है।

मनोमय कोष—इच्छाशक्ति प्रधान मनोमय कोष है। ज्ञानेन्द्रियों सहित मन का नाम मनोमय कोष है।

विज्ञानमय कोष—ज्ञान शक्ति प्रधान विज्ञानमय कोष है। ज्ञानेन्द्रियों सहित बुद्धि का नाम विज्ञानमय कोष है।

आनन्दमय कोष—कारण शरीर (अविद्या) का नाम आनन्दमय कोष है। आनन्दमय कोष के दो भेद हैं। (1) बीजात्मक, (2) फलात्मक। बीजात्मक आनन्दमय को बिम्बात्मक आनन्दमय भी कहते हैं। फलात्मक आनन्दमय को प्रतिबिम्बात्मक आनन्दमय भी कहते हैं। गाढ़ी नींद में बिम्बात्मक (बीजात्मक आनन्द) की अभिव्यक्ति होती है। जाग्रत् और स्वप्न में फलात्मक आनन्दमय की अभिव्यक्ति होती है। प्रिय, मोद, प्रमोद को फलात्मक आनन्द कहते हैं। इच्छित वस्तु के मिलने की आशा से और मिलने से जो आनन्द मिलता है उसे प्रिय कहते हैं। इच्छित वस्तु के उपभोग से जो आनन्द मिलता है उसे मोद कहते हैं। इच्छित वस्तु के यथेच्छ उपभोग से जो आनन्द मिलता है उसे प्रमोद कहते हैं।

स्थूल शरीर के अन्तर्गत अन्नमय कोष है।

सूक्ष्म शरीर के अन्तर्गत तीन कोष हैं—क्रियाशक्ति प्रधान प्राणमय कोष, इच्छाशक्ति प्रधान मनोमय कोष और ज्ञानशक्ति प्रधान विज्ञानमय कोष।

कारण शरीर के अन्तर्गत आनन्दमय कोष की स्थिति है।

तीनों शरीर एवं पंचकोष अनात्मा हैं। और आत्मा के वस्त्र के सदृश हैं। और जब तक हम कृतार्थ या मोक्ष लाभ नहीं करते तब तक पुनर्जन्म का चक्र निरन्तर घूमता रहता है।

भारतीय दर्शन जिन चार पायों पर खड़ा है उनमें एक पुनर्जन्म है।

यह पुनर्जन्म का सिद्धान्त सारी सृष्टि में विज्ञान द्वारा प्रतिष्ठित एवं प्रमाणित है। बीज परिपक्व होने पर गिरता है और अपने जैसे वृक्ष तथा और अनेक बीज पैदा कर जाता है। मानव सृष्टि में भी पुनर्जन्म के अनेक ऐतिहासिक प्रमाण देश-विदेश में उपलब्ध होते हैं। अम्बाला के छोटे शिशु अश्वनीकुमार को जन्म से ही सूर एवं तुलसी के अनेक पद कंठस्थ थे। जो वह तुतली भाषा में सारे उत्तर-भारत के मंचों पर गा-गाकर सुनाता था। श्रीमती सरोजबाला नामक बाल विदुषी का शैशव से ही अनेक वेदमंत्र एवं धर्मशास्त्रों पर बिना किसी विद्यालय में पढ़े ही असाधारण अधिकार था। उसने पूर्वजन्म का परिचय भी दिया जो पूर्ण सत्य प्रमाणित हुआ। पुनर्जन्म की स्थिति आत्मलाभ के पूर्व तक अनिवार्य होते हुए भी अन्तिम नहीं है—

इहचेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।

केनोपनिषद् 2/5

यदि इसे जीवनकाल में ही जान लिया तब तो जीवन सार्थक हुआ, अन्यथा महान् विनाश हुआ। देह त्याग के अव्यवहित पूर्व क्षण पर्यन्त जीवनकाल में ही आत्म तत्त्व का विज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिये। अन्यथा—

यं यं वापि स्मरन् भावं, त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय, सदा तद्-भाव-भावितः।।8/6

वासनावशात जिसका चिन्तन देहत्याग काल में हो जाता है उसी के अनुरूप नये भावमय शरीर की प्राप्ति अकृतार्थ व्यक्ति को होती है।

तृण जलूका न्याय, पाद विन्यास एवं स्वप्न मनोरथ न्याय से अकृतार्थ जीव को नये शरीर की प्राप्ति पहले होती है पुराना शरीर बाद में छूटता है। (भागवत)

कृतार्थ न होकर शरीर छोड़ने का फल है वर्तमान शरीर (जीवन)। स्वप्नावस्था का व्यवहार जिस शरीर से आप साधते हैं उस शरीर के नष्ट हो जाने पर जीव शोक नहीं करता। इस जाग्रत् सप्तधातुमय शरीर के रहते हुए ही स्वप्न शरीर को प्राप्त कर स्वप्न का व्यवहार चलाते हैं। वैसे ही मनोराज्य आदि में नये शरीर से व्यवहार करते हैं फिर उसका त्याग कर देने पर उसका मातम नहीं मनाते।

गीता में तीन चक्षु की चर्चा है—

स्वचक्षु, दिव्य चक्षु एवं ज्ञान चक्षु।

स्वचक्षु, चर्मचक्षु है, साधारण चक्षु है।

दिव्य चक्षु साधना या योगाभ्यास के फलस्वरूप या ईश्वर की कृपा से, समर्थ गुरु की कृपा से प्राप्त होता है जैसे वेद व्यास की कृपा से संजय को और

भगवान् श्रीकृष्ण की कृपा से अर्जुन को कुछ काल के लिए प्राप्त हुए। और ज्ञान चक्षु—बोध या ज्ञान के अनन्तर जो चक्षु प्राप्त होती जिससे स्वरूप का ज्ञान होता है। यदि ईश्वर की कृपा से हमें दिव्य दृष्टि प्राप्त हो जाये तो देखेंगे कि हमने जितने शरीर त्यागे हैं उससे करोड़ों ब्रह्माण्ड पट जायें। अनादि, अनन्त, असंख्य में गणित की पहुंच नहीं होती है। हम लोग तो रामकृष्ण के अवतार नहीं है। पिछले शरीर के त्याग के समय तक कृतार्थ न होने से यह वर्तमान जन्म है। और जब-जब मृत्युकाल में पुराना शरीर त्यागने के पूर्व भावात्मक शरीर की प्राप्ति होती है। देह त्याग के समय का नाम है—प्रयाणकाल (=संक्रमणकाल) जीवन के अन्तिम क्षण के चिन्तन के फलस्वरूप भावमय नये शरीर की प्राप्ति होती है। इसी भावमय शरीर का अवलम्बन कर, आश्रय कर सूक्ष्म एवं कारण शरीर का लोक-लोकान्तर में गमन होता है। इस प्रकार हिन्दू दर्शन जीवन-प्रवाह को अनादि और अनन्त मानता है।

जीवन प्रवाह का लक्ष्य : पूर्णता की प्राप्ति

पहले विज्ञान इस जीवन-प्रवाह का कोई लक्ष्य नहीं मानता था। पर आज का वैज्ञानिक, जीवन को निरुद्देश्य कहने में संकोच का अनुभव करता है। हम प्रवाहपतित तिनके नहीं हैं कि जिधर हमें प्रवाह बहा ले जाये, हम बहते रहेंगे। आज कोई भी व्यक्ति अपने जीवन को लक्ष्यहीन नहीं मान सकता। पर पैसा कमाना और धन संग्रह करना, परिवार का पालन-पोषण करना, समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त करना—यह सब जीवन का लक्ष्य नहीं हो सकता। यह तो पशु-पक्षी भी किया करते हैं। जीवन का लक्ष्य पशुभाव से ऊपर उठना है। पशु अपने मन का नियन्त्रण नहीं कर सकता, वह अपने मन की क्रियाओं को नहीं समझ सकता, वह अपनी गतिविधियों का साक्षी नहीं बन सकता, क्योंकि वह अपनी सहज प्रवृत्तियों के द्वारा परिचालित होता है। पर मनुष्य का मन इतना विकसित है कि वह अपनी क्रियाओं को समझने और पकड़ने में समर्थ होता है, वह मानो स्वयं से हटकर अपनी क्रियाओं को देख सकता है। यही उसकी विशेषता है। पर यह विशेषता आज सम्भावना के रूप में छिपी है। यह सम्भावना जितनी मात्रा में प्रकट होती है उतनी मात्रा में मनुष्य अपने विकासक्रम का स्वामी होता जाता है, और जिस दिन वह इस सम्भावना को पूरी तरह प्रकट कर लेता है, उस दिन वह पूर्ण बन जाता है, श्रीकृष्ण बन जाता है, बुद्ध और रामकृष्ण बन जाता है, सत्य का साक्षात्कार कर लेता है। स्वामी विवेकानन्द इस सम्बन्ध में कहते हैं—प्रत्येक आत्मा अव्यक्त ब्रह्म है। बाह्य एवं अन्तःप्रकृति को वशीभूत करके इस अन्तरस्थ ब्रह्म भाव को व्यक्त करना ही जीवन का लक्ष्य है।

वैज्ञानिक प्रबन्धों के प्रसिद्ध लेखक लिंकन बार्नेट मनुष्य की इस सम्भावना को स्वीकार करते हैं और अपनी विख्यात पुस्तक 'The universe and Dr.

Einstein' में लिखते हैं कि मनुष्य अपनी इस सम्भावना से अपरिचित होने के कारण ही अशांति और दुःख का शिकार है। उनके अनुसार मनुष्य की सबसे उदात्त और रहस्यमय क्षमता है—The ability to transcend himself and perceive himself in the act of perception अपने को लांघकर, देखने की क्रिया में अपने आपको देखने की सामर्थ्य। मनुष्य की इसी क्षमता को हम धर्म की भाषा से 'साक्षीभाव' के नाम से पुकारते हैं। यही मनुष्य में निहित पूर्णता का, ब्रह्मभाव का प्रकट होना है। जब तक यह पूर्णता पूरी तरह से प्रकट नहीं हो जाती, तब तक मनुष्य बारम्बार जन्म ग्रहण करता है और एक दिन जब वह अपने भीतर के पशुत्व का सम्पूर्णतः दमन कर मन का स्वामी बन जाता है तो महापुरुषों के समान पूर्ण बन जाता है। बस, यही विकासक्रम की पूर्णता साधित होती है और जीवन प्रवाह, जो अमीबा से, जीवाणु कोष से निकलकर लक्ष-लक्ष योनियों में से होता हुआ बह रहा था, वृत्त को पूरा कर लेता है और अपने लक्ष्य-पूर्णता के सागर में मिलकर विलीन हो जाता है। इसी को 'मुक्ति' या 'मोक्ष' की अवस्था कहते हैं।

हिन्दू दर्शन को डार्विन का जड़ विकासवाद मान्य नहीं है—

चार्ल्स डार्विन ने अपनी खोजों के अनुसार यह स्थापित किया कि जड़ पदार्थ से ही धीरे-धीरे जीवों का विकास हुआ है। उनका अनुमान है तप्त नीहारिका से सूर्य—नवग्रह, पृथ्वी, तप्तलावा, तप्त लावा से भाप—बादल, वृष्टि, पर्वत, नदी, समुद्र, मिट्टी, पानी के संयोग से अमीबा, मछली, मेढक, कछुआ, धरती पर रेंगने वाले सर्प, पक्षी, धरती पर चलने वाले बंदर, लंगूर और मनुष्य।

मिट्टी एवं पानी के संयोग से जीवन का पैदा होना हमें (शास्त्र) मान्य नहीं है। जीवन के बीज से ही जीवन का अंकुर पैदा हो सकता है। निर्जीव जड़ वस्तु से जीवन पैदा नहीं हो सकता। Life issues from life and never no life. We cannot get anything out of nothing. यह सत् कार्यवाद का परीक्षित सिद्धान्त है। गीता के अनुसार ईश्वर ही समस्त प्राणियों का सनातन बीज (नित्य कारण) है।

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्। 7/10 गीता

'जीवनं सर्वभूतेषु'। 7/9 गीता

मैं ही समस्त प्राणियों में जीवन हूं।

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।। 9/17 गीता

मैं ही इस जगत् का पिता, माता, धाता (अर्थात् धारण करने वाला ईश्वर) और पितामह हूं।

गतिर्-भर्ता प्रभुः साक्षी, निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं, निधानं बीज-मव्ययम्।। 9/18 गीता

मैं (समस्त प्राणियों का) गन्तव्य, भरण-पोषण कर्ता, स्वामी, साक्षी, निवासस्थान, शरणयोग्य, सुहृद, उत्पत्तिकारण एवं प्रलयकारण (आधार) स्थान, निधान (अर्थात् लय स्थान) तथा अविनाशी बीज (अर्थात् कारण) हूं।

इससे सिद्ध होता है कि जीवन, चेतना आत्मा या परमात्मा ही सृष्टि का सनातन बीज है। यह उसकी लीला है कि वह कभी जीवाणुओं में खेलता है, कभी स्वेदज में, कभी अण्डज में, कभी जरायुज में, कभी पिण्डज में खेल खेलता है। और कभी शरीरों से मुक्त होकर शाश्वत जीवन लीला करता है। तब वह जीवन्-मुक्त अथवा देहातीत अथवा ब्रह्मलीन कहा जाता है।

अमीबा से लेकर मनुष्य तक जो विकास की सीढ़ी है वह भौतिकवादी सिद्धान्त से स्पष्ट कभी नहीं हो सकती। क्योंकि प्रश्न उठता है यदि प्रकृति में विकास चल रहा है तो विकास की पहचान क्या है?

प्रगति = प्र+गति = अर्थात् लक्ष्य की ओर बढ़ना

परागति- लक्ष्य के विपरीत गति

दुर्गति- बुरी गति

अवगति- बुरी गति

विगति- विपरीत गति।

प्रगति या दुर्गति का निर्णय लक्ष्य के आधार पर होगा। यदि लक्ष्य हो 100 फुट ऊंचा मीनार, तो जितना ऊपर निर्माण होगा, उतनी प्रगति होगी। यदि लक्ष्य 100 फुट गहरा कुआं हो तो जितना नीचे निर्माण होगा उतनी प्रगति होगी।

विकास तभी माना जायेगा जब पूर्व निश्चित लक्ष्य की ओर प्रगति होगी। जड़ पदार्थ किसी लक्ष्य को पहचानता नहीं है, तो जड़ किसकी ओर विकास करेगा। लक्ष्य की पहचान केवल चेतन को होती है। पूर्णत्व का लक्ष्य पूर्व निश्चित मान लेने का अर्थ है, जड़ से पूर्व कोई सनातन सत्ता है। अतः भौतिक जड़वादी विकासवाद अपने आप खंडित हो जाता है। इसके स्थान पर आध्यात्मिक विकासवाद सिद्ध होता है।

जड़ के पीछे कोई चेतन ही उसे लक्ष्य की ओर प्रेरित करके बढ़ा रहा है और जड़ के आगे कोई चेतना ही लक्ष्य के रूप में उसे अपनी ओर आकर्षित कर रहा है।

अतः भौतिकवाद के आधार पर विकासवाद की व्याख्या नहीं हो सकती। इसलिए फ्रांस के महान् दार्शनिक हेनरी बर्गसा जो गीता भक्त एवं भारतीय दर्शन

का प्रशंसक था, पूछता है कि बिना पूर्व निर्धारित लक्ष्य के प्रगति कैसे हो रही है और किस दिशा में हो रही है। वास्तव में जड़ वस्तु अपने आप बिना चेतन की प्रेरणा के, चेतन मानक के आकर्षण के, एवं पूर्व निर्धारित लक्ष्य के प्रगति हो ही नहीं सकती। अतः विकासवाद अशुद्ध तर्कहीन सिद्धान्त है। विकास जड़ द्वारा जड़ में जड़ की ओर नहीं हो सकता। जड़ जीवन की ओर जीवन नैतिक उद्देश्य की ओर नैतिकता आध्यात्मिकता की ओर आगे प्रगति करते जायें तो प्रगति कहा जा सकता है। इसलिए विश्व की अन्तिम सत्ता बर्गसा के शब्दों में Elan vital (शाश्वत जीवनधारा) भारतीय दर्शन के शब्दों में अमर नित्य चेतन आत्मा है।

जब विकासवाद कहता है कि विकास का प्रवाह 'अमीबा' से शुरू होकर सीधे मनुष्य तक चला आया है और इसी प्रकार चलता रहेगा, तो विज्ञान की दृष्टि से इस कथन में एक दोष है। विज्ञान कहता है कि सरल रेखा में कोई गति नहीं होती। यह विज्ञान का सिद्धान्त है कि सरल रेखा को यदि अनन्त दूर तक फैला दिया जाये तो वह सरल रेखा नहीं रह जाती वृत्त का रूप ले लेती है। यह सिद्धान्त हिन्दू विकासक्रम के सिद्धान्त को ही पुष्ट करता है। भारतीय चिन्तनधारा में हम ब्रह्म से जीव तक के सृष्टि विस्तार को ऊर्ध्व से अधः पुनः अधः से ऊर्ध्व की ओर गति के रूप में समझते हैं। जीवन का शाश्वत नियम है जहां से प्रारम्भ होता है वही होती है परिणति। जो आदि है वही अन्त है। जीवन के इसी शाश्वत नियम को ईशावास्य उपनिषद के शांति मंत्र ने बड़े सुन्दर ढंग से दर्शाया जिसे पाश्चात्य मनीषा को समझने में कठिनाई होती है—

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।।

वह पूर्ण है और यह भी पूर्ण है क्योंकि पूर्ण से पूर्ण की ही उत्पत्ति होती है। तथा पूर्ण का पूर्णत्व लेकर पूर्ण ही बचा रहता है। यानी पूर्ण से निकली यह सृष्टि एवं जीव जगत् में पूर्णता निहित है, इसलिए यह पूर्णता की ओर आकृष्ट हो रही है। अन्तर इतना ही है कि यह पूर्णता पत्थर में सोयी है पशु-पक्षियों में स्वप्न ले रही है, मनुष्य में जाग्रत् है।

विकासवाद को मानने से क्रम संकोच को भी मानना पड़ेगा। जब हम कहते हैं कि 'अमीबा' से जीवन प्रवाह का क्रम विकसित होता है, तो यह मानना पड़ेगा कि 'अमीबा' में कुछ क्रम संकुचित हुआ है। जिसका विकास परवर्ती काल में (अन्य योनियों में यानी मानव योनि में) होता है। पर भौतिकवादी जीवशास्त्री यथा डार्विन यह नहीं बता पाते कि यह 'कुछ' क्या है जो अमीबा में आकर क्रम संकुचित हो गया है।

जीव विज्ञान के विकासवाद के संदर्भ में इसकी व्याख्या करते हुए स्वामी विवेकानन्दजी कहते हैं—यह ठीक है अमीबा से गौतम बुद्ध की उत्पत्ति हुई पर चूंकि जगत् में ऊर्जा की सम्पूर्ण मात्रा स्थिर है, अतः अमीबा में यदि परिवर्तन-प्रक्रिया के एक सिरे पर बुद्ध है तो दूसरे सिरे पर अमीबा भी बुद्ध का ही एक रूप होगा। प्रलय के समय विश्व में ऊर्जा की वही मात्रा रही होगी, जो पहले थी। साध्य रूप में निम्नतम कीटाणु जो हमारे पैरों तले रेंगता है, उच्चतम साधु तक उसमें अनन्त शक्ति, अनन्त शुचिता और अन्य प्रकार की अनन्तता पाई जाती है, उनके बीच अन्तर केवल अभिव्यक्ति की मात्रा में ही है। कीटाणु उस ऊर्जा को निम्नतम मात्रा में अभिव्यक्त करता है और मनुष्य उस ऊर्जा को अधिक मात्रा में अभिव्यक्त करता है। तथा कोई ईश्वरीय व्यक्ति उसी ऊर्जा को अधिकतम मात्रा में अभिव्यक्त करता है।

ऋषि अरविन्द भी अपने विकासवाद में क्रम संकोच को स्वीकारते हैं। सत्-चित्-आनन्द ब्रह्म ही क्रम संकुचित होकर जड़ प्रकृति के रूप में व्यक्त होते हैं जिसे उन्होंने अवतरण (Involution) की प्रक्रिया कहा। फिर यह जड़ प्रकृति चेतन ब्रह्म की ओर लौट पड़ती है उसे आरोहण (Evolution) नाम दिया है। पर भौतिकवादी जीवशास्त्री यह नहीं बता पाते कि यह कुछ क्या है जो अमीबा में आकर क्रम संकुचित हो गया है।

विकासवाद विकास के दो कारण मानता है—यौन निर्वाचन (Sexual selection) और योग्यतम की विजय (Survial of the Fittest) पर ये दोनों कारण ही पर्याप्त नहीं मालूम पड़ते। मान लें आज ज्ञान-विज्ञान का इतना विकास हो गया है कि शरीर धारण तथा पति या पत्नी की प्राप्ति सम्बन्धी प्रतियोगिता उठ जाये तो क्या विकास का प्रवाह रुद्ध हो जायेगा। प्राचीन विकासवादी महर्षि पतंजलि कहते हैं कि विकास का वास्तविक रहस्य है प्रत्येक व्यक्ति में जो पूर्णता पहले से ही निहित है, उसी की अभिव्यक्ति या विकास मात्र है। वे कहते हैं कि इस पूर्णता की अभिव्यक्ति में बाधा हो रही है। हमारे अन्दर यह पूर्णता का अनन्त ज्वार अपने को प्रकट करने के लिए संघर्ष कर रहा है। ये संघर्ष और होड़ केवल अज्ञान के फल हैं। ये इसलिए होते हैं कि हम यह नहीं जानते कि यह दरवाजा कैसे खोला जाये और पानी भीतर कैसे लाया जाये। हमारे अन्दर जो अनन्तता समायी हुई है, वह अपने को प्रकाशित करेगी ही। वही समस्त अभिव्यक्ति का कारण है। केवल जीवन धारण या इन्द्रिय-सुखों को चरितार्थ करने की चेष्टा उस अभिव्यक्ति का कारण नहीं है। ये सब संघर्ष तो वास्तव में क्षणिक हैं, अनावश्यक है, बाह्य व्यापार मात्र है। ये सब अज्ञान से पैदा हुए हैं। सारी होड़ बंद हो जाने पर भी जब तक हममें से प्रत्येक पूर्ण नहीं हो जाता तब तक हमारे भीतर निहित यह

पूर्ण स्वभाव क्रमशः उन्नति कराता रहेगा। अतः यह विश्वास करने का कोई कारण नहीं कि होड़ या प्रतियोगिता उन्नति के लिए आवश्यक है।

विवेकानन्द साहित्य प्रथम खण्ड पृष्ठ 205-6

डार्विन के विकासवाद ने भले ही विकास-क्रम का कोई लक्ष्य नहीं स्वीकारा है, पर आज का जीवशास्त्री न केवल इस जीवन के प्रवाह के लक्ष्य को मानने को बाध्य हो रहा है, अपितु इसका लक्ष्य सम्बन्धी दृष्टिकोण पूर्णता की हिन्दू धारणा के अत्यन्त समीप आ गया है। वह डार्विन द्वारा प्रतिपादित प्रतिद्वन्द्विता और होड़ को विकास के कारण में गौण मानता है और Fulfilment (पूर्णता) की प्रेरणा को प्रमुख स्थान दे रहा है। आज के सर्वश्रेष्ठ जीवशास्त्री जूलियन हक्सले Evolution after Darwin नामक ग्रन्थ के पहले खण्ड (पृष्ठ 21) में प्रकाशित अपने 'The Emergence of Darwinism' नामक लेख में लिखते हैं—आज के ज्ञान के आलोक में मनुष्य का सबसे व्यापक लक्ष्य न तो केवल जीवित बचे रहने में, न संख्या की वृद्धि में, न समुदाय की बढ़ी हुई जटिलता में और न अपने वातावरण पर अधिक नियमन प्राप्त करने की क्षमता में दृष्टिगोचर होता है, बल्कि वह तो अधिकाधिक पूर्णता के रूप में परिलक्षित होता है जिससे कि मानवजाति समष्टिगत रूप से, और उससे भी अधिक, उसके विभिन्न घटक व्यक्तिगत रूप से अपनी अधिकतम सम्भावनाओं को अच्छी तरह अनुभव कर ले।

भारत के जितने मत-सम्प्रदाय हैं उनकी चार समान आस्थायें हैं। यही चार हिन्दू धर्म के दार्शनिक आधार हैं—

(1) आत्मा अजर-अमर अविनाशी है।

(2) जीवन का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष है।

(3) जब तक मोक्ष नहीं मिलता तब तक पुनर्जन्म होता रहेगा ताकि मनुष्य मोक्ष के लिए अधूरी साधनाओं को अगले जन्म में पूरा कर सके।

(4) जब तक पुनर्जन्म होगा तो पिछले जन्मों के अर्जित कर्मों का फल, पिछली अधूरी साधनायें अगले जन्म में साथ-साथ चलेगी।

हिन्दू धर्म के इन चारों दार्शनिक सिद्धान्त में सबसे अधिक आधारभूत सिद्धान्त आत्मा की अमर सत्ता का ही है। उसी एक की व्याख्या अथवा मंथन से चारों सिद्धान्त प्रकट हो जाते हैं।

जब तक जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य मोक्ष प्राप्त नहीं हो जाता तब तक पुनर्जन्म का विधान अनिवार्य है। पुनर्जन्म का उद्देश्य है आत्म-साक्षात्कार के लिए पुनः प्रयास करना। परीक्षा में एक बार अनुत्तीर्ण हो जाने पर पुनः परीक्षा में

बैठने का अवसर सिद्ध करता है कि परीक्षा अनिवार्य है। और परीक्षा की महत्ता सिद्ध करती है कि जिस विद्या को प्रकट करने के लिए परीक्षा है वह विद्या बड़ी महत्त्वपूर्ण है। यदि प्रथम प्रयास में सफल नहीं हुए तो पुनः पुनः परीक्षा में बैठने का अवसर मिलेगा। किन्तु अन्ततोगत्वा परीक्षा में पास होना अनिवार्य है। परीक्षा में चोरी, बेईमानी करने से कुछ वर्षों के लिए परीक्षा से बहिष्कृत कर दिया जाता है। इसी प्रकार मानव जन्म में मोक्ष साधना के स्थान पर कुकर्मों में लग जाने पर कुछ समय के लिए मानव योनि से वंचित कर छोटी पशु योनियों में ढकेल दिया जाता है।

यह श्लोक कठिन से कठिन परिस्थिति को झेलने की ताकत देता है, हिन्दू धर्म की अमरता का रहस्य इसमें छिपा हुआ है। बरसात का मौसम! अलकनन्दा नदी की बरसाती तरंगों पर नाव थी और उछलती तरंगों से चंचल नाव पर थे ह्वेनत्सांग। चंचलता बाहर भी थी और भीतर भी, बाहर तरंगों की और भीतर भावनाओं की। बाढ़ के कारण तीव्रगामिनी अलकनन्दा नदी की उत्ताल तरंगें रह-रहकर नाव से टकरा रही थीं और नौका का नाविक रह-रह कर डर रहा था, कहीं नाव डूब न जाये। भयभीत नाविक ने तय किया कि बोझिल नौका को हलका करने के लिए कुछ सामान नदी में फेंक देना चाहिए, अन्यथा यह डगमगाना बन्द न होगा। नाविक ने ह्वेनत्सांग से कुछ सामान नदी में फेंक देने के लिए निवेदन किया, जिससे नौका सुरक्षित गन्तव्य स्थान पर पहुंच सके।

ह्वेनत्सांग चिन्तातुर हो उठे। उनकी भावनायें भी चंचल हो उठीं। सामान के रूप में उनके पास थी वह अमूल्य निधि, वे अमूल्य ग्रन्थ, जो नालन्दा विश्वविद्यालय से मिले थे। ह्वेनत्सांग चीन से भारतीय विद्याओं का अध्ययन करने के लिए आये थे और अध्ययनोपरान्त स्वदेश लौटते हुए ह्वेनत्सांग को विश्वविद्यालय के आचार्य ने अलभ्य ग्रन्थ एवं अमूल्य वस्त्राभूषण विदाई में दिए थे। भेंट स्वरूप मिली हुई किसी भी वस्तु को अलग करना, अलग करके नदी में फेंकना, इसकी कल्पना मात्र से मर्मान्तक पीड़ा हो रही थी, पर दूसरा उपाय भी क्या था? यदि कुछ अंश नहीं फेंका जाता है तो सर्वांश की यहीं जल-समाधि निश्चित है।

अत्यधिक विषण्ण हृदय से नदी में फेंक देने के लिए चीनी-यात्री ह्वेनत्सांग ने अपने हाथ में कुछ ग्रन्थों को उठाया। हाथ कांप रहे थे, अधर सूख रहे थे और नेत्र छलक रहे थे।

जिस समय ह्वेनत्सांग नालन्दा विश्वविद्यालय से विदा हुए थे, उस समय एक युवक को आचार्य ने उनके साथ भेज दिया था, जिससे उनकी वापसी यात्रा

निर्विघ्न पूर्ण हो सके। वह युवक भी उसी नाव में था। उस युवक ने नाविक के उस निवेदन को भी सुन लिया था और वही अब देख रहा था ह्वेनत्सांग के मुख की मलिनता को तथा मानस के मन्थन को। तुरन्त ही उस युवक ने मन-ही-मन कुछ निर्णय किया और एक अचिन्त्य उल्लास के साथ तत्क्षण ह्वेनत्सांग के हाथों को थाम कर कहा—'आर्य! आप यह क्या कर रहे हैं? नौका के बोझ को हलका करने के लिए क्या इन अमूल्य ग्रन्थों का जल-विसर्जन करेंगे आप? इस उद्देश्य के लिए तो किसी अन्य नगण्य वस्तु का भी विसर्जन किया जा सकता है।' इतना कह कर वह युवक नदी में कूद पड़ा। ह्वेनत्सांग देखते रह गये, चकित भावों से, अवाक् मुद्रा से तथा स्तब्ध अन्तर से कि अलकनन्दा की उछलती-मचलती तरंगें उस युवक को साथ बहा ले गईं। सजल नेत्रों से नतमस्तक होकर ह्वेनत्सांग ने उस युवक के प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की।

युवक की आत्म-बलि से नौका का डगमगाना रुक गया, परन्तु चीनी-यात्री ह्वेनत्सांग को यह भी ज्ञात हो गया कि हिन्दू-धर्म एवं हिन्दू-संस्कृति की अमरता का रहस्य क्या है।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि, नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्-त्यापो, न शोषयति मारुतः।। 2/23

(और हे अर्जुन!) इस (आत्मा) को शस्त्र नहीं काट सकते, इसको आग नहीं जला सकती, इसको जल गीला नहीं कर सकता तथा वायु नहीं सुखा सकती।

अच्छेद्योऽय-मदाह्योऽय,-मक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणु,-रचलोऽयं सनातनः।। 2/24

यह (आत्मा निरवयव होने के कारण) कटने वाला नहीं है, यह (आत्मा) जलने वाला नहीं है, गलने वाला नहीं है, सूखने वाला नहीं है। यह नित्य, सर्वव्यापी, स्थिर, निश्चल और सनातन है।

प्रत्येक शस्त्र अपनी धार या नोक से अपने से कुछ अधिक स्थूल वस्तु को ही काट या छेद सकता है। कोई भी शस्त्र अपने से अधिक सूक्ष्म भौतिक वस्तु को काट, छेद नहीं सकता। पतले कागज की खड़ी धार को उसको सीधे ऊपर से नीचे चाकू अथवा ब्लेड द्वारा भी काटना सम्भव नहीं होता। बाल को दो भाग में चीरना तलवार अथवा चाकू से भी सम्भव नहीं है। इस प्रकार भौतिक शस्त्र अपने से अधिक सूक्ष्म भौतिक वस्तु को नहीं काट सकते। आत्मा तो अभौतिक है, फिर विश्व का सूक्ष्मतम तत्त्व है उसे शस्त्र कैसे काट सकता है? धरती भौतिक तत्त्व है उसे शस्त्र द्वारा दो भाग में काटा-बांटा जा सकता है। बालू थोड़ी देर के लिए काटी जा सकती है, कालान्तर में वे पुनः एकरूप, सम हो जाती है। जल को शस्त्र

द्वारा क्षण भर के लिए काटने की भ्रान्त लीला हो सकती है। अग्नि को काटना असम्भव ही है। इसी प्रकार वायु और आकाश भौतिक तत्त्व होते हुए भी शस्त्र द्वारा काटे नहीं जा सकते। तब शस्त्रों की क्या मजाल है कि वे अभौतिक और परम सूक्ष्म आत्मा को काट सकें?

अग्नि केवल उन्हीं भौतिक वस्तुओं को जला सकती है जिनमें कार्बन हो और जलाने के वातावरण में ऑक्सीजन सहायक हो। जिस वस्तु में कार्बन नहीं होगा वह कभी नहीं जलेगी। जैसे कि सोना, चांदी, लोहा आदि धातुएं केवल पिघलती हैं, जलती नहीं। उनके भीतर जो कार्बन का खोट है, वह जल जाती है। कोयला पूर्ण कार्बन ही कार्बन है किन्तु किसी ऐसे बंद स्थान पर जहां कार्बन डाइऑक्साइड या नाइट्रोजन भरी हो कोयला कार्बन होते हुए भी कभी नहीं जलेगा क्योंकि वहां ऑक्सीजन का अभाव है। सेना के कार्य के लिए Fire proof गाड़ियां बनाई जाती हैं। दरवाजे पर Fire proof रंग-रोगन किया जाता है ताकि अग्निबम से जले नहीं। अस्पेस्टा पाषाण तंतु जिसको सीमेंट में मिलाकर छत की चद्दरें बनाते हैं वह भी आग में नहीं जलता। अग्नि पृथ्वी के कार्बनिक तत्त्वों को जलाती है। जल को वाष्प बना देती है किन्तु जलाती नहीं। वायु को गर्म करके फैला देती है जलाती नहीं। बड़ी से बड़ी आग भी आकाश को जला सकती नहीं। जब अग्नि सभी भौतिक वस्तुओं को भी नहीं जला सकती तब अभौतिक, परम सूक्ष्म आत्मा को कैसे जला सकती है?

जल पृथ्वी तत्त्व की उन वस्तुओं को गीला कर सकता है जिनमें कुछ छिद्र हों। तोलिया गीला हो जाता है, किन्तु बरसाती का कोट गीला नहीं होता। उसमें छेद न होने के कारण पानी फिसल जाता है। प्लास्टिक, शीशा, बेकुलाइट, लोहा आदि धातुएं भी पानी से गीली नहीं होती। पानी अग्नि, वायु, आकाश आदि को भी गीला नहीं कर सकता। जब आत्मा में कोई शस्त्र छेद कर ही नहीं सकता तब पानी कैसे घुसेगा? जो पानी अनेक भौतिक तत्त्वों को गीला नहीं कर सकता वह अभौतिक और परम सूक्ष्म आत्मा को कैसे गीला कर सकता है?

वायु उन वस्तुओं को सुखा सकता है, जो पानी से गीली हो सकती हैं। जो आत्मा गीला ही नहीं हो सकता तो उसको सुखाने का प्रश्न ही पैदा नहीं होता। इस वैज्ञानिक विश्लेषण से भी आत्मा की अमरता एवं अविकारिता सिद्ध होती है। यह दोनों श्लोक हर प्रकार का बलिदान देने का बल प्रदान करते हैं।

धर्म की बलिवेदी पर बलिदान

घटना सन् 1947 की है। भारतमाता के अंग-अंग, खण्ड-खण्ड होकर पाकिस्तान बनने की घोषणा होते समय ही समस्त पंजाब, सिंध, बंगाल में मुस्लिम गुण्डों ने हिन्दुओं को मारना-काटना तथा ग्रामों को आग की लपटों में भस्मीभूत करना प्रारम्भ कर दिया था। हिन्दुओं को या तो तलवार के बल पर हिन्दू धर्म

छोड़कर मुस्लिम बनने को बाध्य किया जा रहा था, अन्यथा उन्हें मार-काटकर भगाया जा रहा था।

पंजाब के ग्राम टहलराम में भी मुसलमानों ने हिन्दुओं को आतंकित करना आरम्भ कर दिया। गुण्डों की एक सशस्त्र भीड़ ने हिन्दुओं के घरों को घेर लिया तथा हिन्दुओं के सम्मुख प्रस्ताव रखा कि—'या तो सामूहिक रूप से कलमा पढ़कर मुसलमान हो जाओ, अन्यथा सभी को मौत के घाट उतार दिया जाएगा।' बेचारे बेबस हिन्दुओं ने सोचा कि जब तक भारतीय फौजें न आएं उतने समय तक कलमा पढ़ने का बहाना करके जान बचायी जाए। उन्होंने मुसलमानों के कहने से कलमा पढ़ लिया, किन्तु मन में राम-राम का जप करने लगे।

'ये काफिर हमें धोखा दे रहे हैं। हिन्दू सेना आते ही जान बचाकर भाग जाएंगे। इन्हें गो-मांस खिलाकर इनका धर्म भ्रष्ट किया जाए और जो गो-मांस न खाए, उसे मौत के घाट उतार दिया जाए।'—एक शरारती मुसलमान ने धर्मान्ध मुसलमानों की भीड़ को सम्बोधित करते हुए कहा।

'ठीक है, इन्हें गो-मांस खिलाकर इनकी परीक्षा ली जाए।' मुसलमानों की भीड़ ने समर्थन किया। मुसलमानों ने गांव टहलराम के प्रतिष्ठित व्यक्ति तथा हिन्दुओं के नेता पं. बिहारीलाल से कहा कि—'आप सभी लोग गो-मांस खाकर यह सिद्ध करें कि आप हृदय से हिन्दू-धर्म को छोड़कर मुसलमान हो गए हैं। जो गो-मांस नहीं खाएगा, उसे हम काफिर समझकर मौत के घाट उतार डालेंगे।'

पं. बिहारीलाल ने मुस्लिम गुण्डों के मुख से गो-मांस खाने की बात सुनी तो उनका हृदय हाहाकार कर उठा! उन्होंने मन में विचार किया कि धर्म की रक्षा के लिए प्राणोत्सर्ग करने, सर्वस्व समर्पित करने का समय आ गया है। उनकी आंखों के सम्मुख धर्मवीर हकीकतराय तथा गुरु गोविन्दसिंह के पुत्रों द्वारा धर्म की रक्षा के लिए प्राणोत्सर्ग करने की झांकी उपस्थित हो गयी। वीर बंदा वैरागी द्वारा धर्म की रक्षा के लिए अपने मांस को गरम-गरम चिमटों से नुचवाए जाने का दृश्य सामने आ गया।

पं. बिहारीलाल ने मुसलमानों से कहा कि 'हमें चार घंटे का समय दो, जिससे सभी को समझाकर तैयार किया जा सके।' मुसलमान तैयार हो गए।

पं. बिहारीलाल ने घर जाकर अपने समस्त परिवारवालों को एकत्रित किया। घर के एक कमरे में पत्नी, बहन, बेटियां, बालक, बूढ़े—सभी को एकत्रित करके बताया कि 'मुसलमान नराधम गो-मांस खिलाकर हमारा प्राणप्रिय धर्म भ्रष्ट करना चाहते हैं। अब एक ओर गो-मांस खाकर धर्म भ्रष्ट करना है, दूसरी ओर धर्म की

रक्षा के लिए प्राणोत्सर्ग करना है। सभी मिलकर निश्चय करो कि दोनों में से कौन सा मार्ग अपनाना है।'

सभी स्त्री-पुरुष, बाल-वृद्धों ने निर्भीकता पूर्वक उत्तर दिया—'गो-मांस खाकर, धर्म-भ्रष्ट होकर परलोक बिगाड़ने की अपेक्षा धर्म की बलिवेदी पर प्राण देना अच्छा है। हम सभी मृत्यु का आलिंगन करने के लिए तैयार हैं।'

पं. बिहारीलाल ने महिलाओं को आदेश दिया—'तुरन्त नाना प्रकार के सुस्वादु भोजन बनाओ और भगवान् को भोग लगाकर खूब छककर खाओ, अंतिम बार खाओ और फिर सुन्दर वस्त्राभूषण पहनकर धर्म की रक्षा के लिए मृत्यु से खेलने के लिए मैदान में डट जाओ।'

तुरन्त तरह-तरह के सुस्वादु भोजन बनाये जाने लगे। भोजन बनने पर ठाकुर जी का भोग लगाकर सबने डटकर भोजन किया तथा अच्छे से वस्त्र पहने। सजकर एवं वस्त्राभूषण धारण करके सभी एक पंक्ति में बराबर-बराबर खड़े हो गए। सभी में अपूर्व उत्साह व्याप्त था। पं. बिहारीलाल का समस्त परिवार गो-रक्षार्थ, धर्म-रक्षार्थ प्राणों पर खेलकर सीधे गोलोक-धाम जाने के लिए शीघ्रातिशीघ्र मृत्यु का आलिंगन करने के लिए व्याकुल हो रहा था। सभी को एक पंक्ति में खड़ा करके पं. बिहारीलाल ने कहा—'आज हमें हिन्दू से मुसलमान बनाने और अपनी पूज्य गो-माता का मांस खाने को बाध्य किया जा रहा है। हमें धमकी दी जा रही है कि यदि गो-मांस खाकर मुसलमान न बनेंगे तो सभी को मौत के घाट उतार दिया जाएगा। हम सभी अपने प्राणप्रिय सनातन धर्म की रक्षा के लिए, गो-माता की रक्षा के लिए हंसते-हंसते बलिदान होना चाहते हैं।'

सबने श्रीभगवत्स्मरण किया और पं. बिहारीलाल ने अपनी बंदूक उठाकर धांय! धांय! करके अपनी धर्मपत्नी, पुत्रियों, बन्धु-बांधवों तथा अन्य सभी को गोली से उड़ा दिया। किसी के मुख से उफ् तक न निकली। हंसते-मुसकराते हुए गो-रक्षार्थ, धर्म-रक्षार्थ बलिदान हो गए। घर लाशों के ढेर से भर गया।

अब पं. बिहारीलाल एवं उनके भाई दो व्यक्ति ही जीवित थे। दोनों में आपस में संघर्ष हुआ कि 'पहले आप मुझे गोली मारें।' 'दूसरे ने कहा 'नहीं, पहले आप मुझे गोली का निशाना बनाएं।' अन्त में दोनों ने अपने-अपने हाथों में बंदूक थामकर आमने-सामने खड़े एक-दूसरे पर गोली दाग दी। पूरा परिवार ही धर्म की रक्षा के लिए बलिदान हो गया!

ग्राम के अन्य हिन्दुओं ने जब पं. बिहारीलाल के परिवार के इस महान् बलिदान को देखा तो उनका भी खून खौल उठा। वे भी धर्म पर प्राण देने को मचल उठे। मुसलमान शरारतियों के आने से पूर्व ही हिन्दुओं ने जलकर, कुएं में

कूदकर एवं मकान की छत से छलांग लगाकर प्राण दे दिए, किन्तु गो-मांस का स्पर्श तक न किया। मुसलमानों की भीड़ ने जब कुछ समय पश्चात् पुनः ग्राम टहलराम में प्रवेश किया, तब उन्होंने ग्राम की गली-गली में हिन्दू वीरों की लाशें पड़ी देखीं। पं. बिहारीलाल के मकान में घुसने पर लाशों का ढेर देखकर तो गुंडे दांतों तले अंगुली दबा उठे।

अव्यक्तोऽय-मचिन्त्योऽय,-मविकार्योऽय-मुच्यते।
तस्मादेवं विदित्वैनं, नानु-शोचितु-मर्हसि।। 2/25

यह (आत्मा) अव्यक्त है, यह अचिन्त्य है (और) यह विकार-रहित कहा जाता है। अतः इसको (अपने आप को) इस प्रकार जानकर (अनुभव कर) (तू) शोक करने के योग्य नहीं है (अर्थात् तुझे शोक नहीं करना चाहिए)।

आत्मा चिर अव्यक्त है। मन-वाणी से परे होने से अचिन्त्य है, आत्मा पूर्ण एक रस होने से अविकारी है। अतः भीष्म पितामह आचार्य द्रोणाचार्य आदि के लिए शोक उचित नहीं है।

अथ चैनं नित्य-जातं, नित्यं वा मन्यसे मृतम्।
तथापि त्वं महाबाहो, नैवं शोचितु-मर्हसि।। 2/26

और यदि तू इस आत्मा को सदा जन्मने वाला तथा सदा मरने वाला मानता है, तो भी हे महाबाहो (अर्थात् वीर)! (तू) इस प्रकार शोक करने को योग्य नहीं है (अर्थात् तुझे शोक नहीं करना चाहिए)।

अर्जुन अपने कर्तव्य कर्म की जिज्ञासा के संदर्भ में भगवान् से किसी प्रकार की व्याख्या, किसी प्रकार का स्पष्टीकरण नहीं चाहता। वह आदेश मांगता है। 'शाधि माम्' (2/7) मैं आपका शिष्य हूं। मैं आपका अनुयायी हूं। मैं आदेशों का पालन करना चाहता हूं। मुझे एक निश्चित आदेश दें कि मुझे इस विषम परिस्थिति में क्या करना चाहिये। पर भगवान् आदेश नहीं देते। इसके विपरीत गीता के 17 अध्यायों में तत्त्वों की व्याख्या तथा उनका प्रत्येक विचारणीय दृष्टिकोण का प्रतिपादन करते हैं। यहां तक कि निरीश्वरवादी अनात्मवादी दृष्टिकोण को भी सम्मिलित किया है। यानी दार्शनिक युक्तियों के साथ लोकमत को भी उद्धृत कर रहे हैं।

'यदि तुम पूर्णतः नास्तिक भी हो, ऐसे प्रकृतिवादी, जो मात्र प्रकृति में विश्वास करता है और ईश्वर, आत्मा तथा ऐसे अन्य तत्त्वों की चिन्ता नहीं करता, इस दृष्टि से भी शोक उचित नहीं है। भगवान् श्रुति, युक्ति, अनुभूति एवं लोकमत, जनमत जो समाज में प्रचलित हो जाते हैं, मान्यता प्राप्त कर लेते हैं सबके द्वारा अर्जुन के शोक-मोह-भय निवारण का प्रयास कर रहे हैं। यहां लोकमत को भगवान् उद्धृत कर रहे हैं कि लोकमत के अनुसार भी तेरे को शोक उचित नहीं है।

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्,- ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मा-दपरिहार्येऽर्थे, न त्वं शोचितु-मर्हसि।। 2/27

(इस मान्यता के अनुसार) क्योंकि जन्मे हुए की मृत्यु निश्चित है और मरे हुए का जन्म निश्चित है। इससे (भी इस) अपरिहार्य विषय में तू शोक करने के योग्य नहीं है (अर्थात् तुझे शोक नहीं करना चाहिए)।

वास्तव में देश एवं विदेश को विजय करने वाले बड़े-बड़े योद्धा एवं विजेता भी मृत्यु के सामने हार जाते हैं। यहां किसी का वश नहीं चलता।

आया है सो जायेगा—राजा-रंक-फकीर

एक से एक बड़े साम्राज्य निर्मित हुए और ध्वस्त हो गये। जिस रोम से धरती कांपा करती थी। आज वह रोम का साम्राज्य कहां है? आज वहां मकड़ियां जाला बुनती हैं। जिसके विषय में एक समय कहा जाता था—सब सड़कें रोम की ओर जाती हैं। वह समय था पूरे यूरोप पर रोम का एक छत्र राज्य था। उसकी राजधानी रोम—सभ्यता, साहित्य, कला, संस्कृति एवं सैन्य शक्ति का केन्द्र थी। इसलिए पूरा यूरोप रोम की ओर देखता था और सभी सड़कें रोम की ओर जाती हैं, ऐसा कहा जाता था, फिर कालान्तर में औपनिवेशिक काल में इंग्लैण्ड दुनिया के मानचित्र पर छा गया और कहा जाने लगा कि अंग्रेजी राज्य में सूर्यास्त नहीं होता, पर द्वितीय विश्व युद्ध में उसकी भी कमर टूट गयी और फिर रूस के विघटन के बाद अब अमेरीका ने वही स्थान प्राप्त कर लिया है जो कभी रोम और लंदन का होता था। आज अमेरीका विश्व का सर्वाधिक शक्तिशाली देश है। अब अमेरीका भी लड़खड़ा रहा है।

इस प्रकार जो आया है उसे जाना है चाहे व्यक्ति हो या साम्राज्य। प्रभु राम से लेकर रमण महर्षि सभी के शरीर चले गये। बस उनका धवल यश ही उसे अमर बनाये हुए हैं। यश या अपयश ही जीवित रहता है।

वास्तव में सृष्टि को रचकर परम पुरुष परमात्मा ने जीवन की डोर तो मानव को थमा दी है, किन्तु मृत्यु की डोरी अपने हाथ में ही रखी है। मृत्यु की नकेल पर सारी जीवसृष्टि बनी हुई है। इसी शासन के द्वारा सारी सृष्टि उस परम शक्ति के वश में है। यदि मृत्यु का अंकुश न रहता तो मानव को कुकर्म अथवा स्वेच्छाचार से रोकने का कोई उपाय ही नहीं बचता। अतः शासन की दृष्टि से जीवन से भी मृत्यु का महत्त्व अधिक है।

जन्मे हुए का मरना निश्चित है और मरे हुए का पुनर्जन्म। यह पुनर्जन्म का सिद्धान्त सारी सृष्टि में विज्ञान द्वारा प्रतिष्ठित एवं प्रमाणित है। बीज परिपक्व होने पर गिरता है और अपने जैसे वृक्ष और अनेक बीज पैदा कर जाता है। मानव

सृष्टि में भी पुनर्जन्म के अनेक ऐतिहासिक प्रमाण देश और विदेश में उपलब्ध होते हैं। इस पर नित्य नयी-नयी पुस्तकें प्रकाशित हो रही हैं। अत: मृत्यु केवल एक विश्राम स्थल के समान है जहां थका-हारा जीव पुराने थके हुए शरीर को त्याग कर नये युवा तन-मन से आगे की मोक्षयात्रा प्रारम्भ करता है। एक स्थान पर स्वामी रामतीर्थ विनोद में कहते हैं—

मृत्यु तो एक नौकरानी है जो हाथ में नये सुन्दर वस्त्र लिए खड़ी है और प्रार्थना करती रहती है कि मालिक, कपड़े बदल लीजिये। मैं उस नौकरानी की ओर देखता भी नहीं।

विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने लिखा है कि जीवन और मृत्यु प्रकृति माता के दो स्तनों के समान हैं। जब माता जीवनरूपी स्तन से दूध पिलाते थक जाती है तो मृत्युरूपी स्तन पर लगा देती हैं।

यहूदी, ईसाई और मुसलमान धर्म में एक ही जन्म माना गया, वे पुनर्जन्म में विश्वास नहीं करते। अत: वे तथा भौतिकवादी दोनों ही मृत्यु को जीवनरूपी नाटक का अन्तिम काला पर्दा मानते हैं। मृत्यु की भयावह घाटी के उस पार भी जीवन है ऐसा वे नहीं मानते जैसा कि आर्य धर्म में माना जाता है। सेमिटिक धर्म में इतना तो मानते हैं कि कयामत (महाप्रलय) के दिन तक मृतकों के शव (रूहों के रूप में जो आत्मा से मिलता-जुलता शब्द है) कब्रों में पड़े रहेंगे और कयामत के दिन उनके भले-बुरे कर्मों का न्याय होगा। किन्तु भौतिकवादी नास्तिक न कयामत को मानते हैं और न अन्तिम ईश्वरीयन्याय को। इसलिए मृत्यु उनके लिए जीवन की पूर्ण समाप्ति अथवा सर्वनाश की घड़ी है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मृत्यु की चपत लगने पर मनुष्य भविष्यत् के बारे में सोचने के लिए मजबूर हो जाता है। भविष्यत् की स्पष्ट कल्पना न होने के कारण नास्तिकों को अन्तिम घड़ी में भयंकर मनोवैज्ञानिक क्लेश होता है। एक महान् नास्तिक जो आत्मा-परमात्मा में विश्वास नहीं करता था, मरते समय बोलने लगा O God, If there is God! Save my soul if there is Soul. इसी प्रकार चीन के दिवंगत राष्ट्रपति माओ ने अपनी स्त्री को जो मृत्यु का वसीयतनामा लिखा उसमें लिखा Now both of us are being separated. We are moving in two different world. जब कम्यूनिज्म की मान्यता में परलोक है ही नहीं तो दूसरे लोक में जाने का अर्थ ही क्या होता है?

परलोक और पुनर्जन्म दोनों अन्योन्याश्रित हैं। यह दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। सेमिटिक धर्म पुनर्जन्म नहीं मानते परन्तु कयामत के बाद स्वर्ग-नरक की कल्पना करते हैं जो तर्कसंगत सिद्ध नहीं होता। बराकपोर्ट (न्यूयार्क, अमेरीका) के

First Beptist Mission के महापुरोहित रेबरेन्ड डाइक्लर्क (जिनके निवास पर मैं अतिथि के रूप में लगभग एक मास तक ठहरा था।) एक दिन कहने लगे कि आप हिन्दू लोग मृतक का शव जलाकर बड़ा अन्याय करते हैं। मेरे पूछने पर उन्होंने कहा कि जिन बड़ों का सारी उमर सम्मान करते हैं मरने पर उनको स्वयं आग लगाकर जला देते हैं। यह बड़ा क्रूर दिखाई देता है। उसने कहा कि हम मृतकों के लिए सुन्दर कफन और बक्सा बनवाकर उसमें सुरक्षित रखते हैं। ऊपर सुन्दर पत्थर का स्मारक बना देते हैं। मैंने कहा, प्रतिव्यक्ति की कब्र के लिए कम से कम तीन फुट चौड़ी और आठ फुट लम्बी भूमि अवश्य लगती है। संसार में सारी जनसंख्या के लगभग ढाई अरब ईसाइयों में, लगभग 75 करोड़ मुसलमानों में, कुछ बौद्ध देशों में भी गाड़ने की प्रथा है, आदिवासियों में भी गाड़ने की प्रथा है। कभी-कभी हिन्दू महात्माओं को समाधि दी जाती है। लगभग 25 वर्ष में संसार की आधी जनसंख्या बदल जाती है। अतः प्रत्येक 50 वर्ष में लगभग पौने चार अरब लोगों को कब्रें चाहिये। ईसाइयत प्रारम्भ हुए 2000 वर्ष और इसलाम को प्रारंभ हुए 1400 वर्ष हो चुके हैं। यदि 2000 वर्षों में 1400 अरब लोगों की कब्रें और उनकी भूमि का हिसाब लगाया जाय तो धरती पर एक चींटी के भी रहने का स्थान नहीं बचता। फिर कयामत के दिन तो अभी तक बहुत दूर हैं। 10,000 वर्षों के 10,000 युग बीतने के बाद कयामत का दिन आयेगा, तब तक सारी धरती तो कब्रिस्तान बनं चुकी होगी और जिस चन्द्रमा, मंगल ग्रह पर जाने का प्रयास करते हैं वहां भी कब्रिस्तान बन जायेगा। क्योंकि धरती पर जगह बचेगी ही नहीं। फिर वैज्ञानिक दृष्टि से कोई शरीर धरती के भीतर इतनी लम्बी अवधि तक सुरक्षित रह ही नहीं सकता। अनेक पुराने कब्रिस्तान बाद में खेत बन जाते हैं या नगर बस जाते हैं। धरती पर हल के फाल से अनेक खोपड़ियां निकलती हैं। जिनको बच्चे फुटबाल समझ कर खेलने लगते हैं। अंग्रेजी की एक कविता में एक बच्चा अपने बूढ़े दादा से हल द्वारा निकली एक खोपड़ी के विषय में कहता है कि यह फुटबाल मुझे दे दो। मैं इससे खेलूंगा। पर दादाजी ने कहा, नहीं बेटा! यह फुटबाल नहीं है। यहां युद्ध में बहुत सैनिक मारे गये हैं। और यह कब्रिस्तान है। इसी प्रकार बहुत सी कब्रें खुली हुई मिलती हैं जिनकी भुजा, टांग जंगली पशु खींचकर ले जाते हैं। कयामत के दिन कीड़ों से खाये शरीर और पशुओं के पेट में गई हुई मांस-मज्जा, फुटबाल की तरह निकली हुई खोपड़ियां आदि सब मिलकर पुनः मानव शरीररूप धारण कर अन्तिम न्याय में स्वर्ग या नरक में जायेंगे। आर्य धर्म में शरीर को केवल जड़ मिट्टी माना जाता है। इसलिए उसको जला देने से शरीर का न भयंकर तिरस्कार होता है और न पशुओं द्वारा नोच-नोच कर खाने की नौबत आती है और न उपजाऊ धरती जीवित मानवों से छीनकर मुर्दों के लिए सुरक्षित की जाती है। चेतन आत्मा को न मिट्टी

का भय है। न आग की ज्वालाओं का भय है। उसे कर्मफल के लिए लम्बे समय तक प्रतीक्षा भी नहीं करनी पड़ती। इस प्रकार सेमिटिक धर्मों का कर्म सिद्धान्त बिना पुनर्जन्म सिद्धान्त के अवैज्ञानिक, तर्कशून्य सिद्ध होता है।

भारतीय दर्शन की पुनर्जन्म की मान्यता मनुष्य को आशावादी बनाती है। एक बूढ़े मौलवी साहब एक दूसरे मौलवी साहब से रो-रो कर कह रहे थे कि इस जन्म में तो बहुत गुनाह किये हैं अब मौत सिर पर नाच रही है। कयामत के दिन तक कब्र में रहना पड़ेगा। सुधार की कोई गुंजाइश भी नहीं रही। हाय! मेरा क्या होगा? इसकी तुलना में आर्यधर्मी जानता है कि इस जन्म में यदि इस लक्ष्य तक नहीं पहुंचे तो भगवान् अगला जन्म देंगे। जब तक मनुष्य परीक्षा पास नहीं करता उसे पुनः-पुनः परीक्षा में बैठने का अधिकार होना ही चाहिये। अतः हिन्दू आशावादी है कि आज की भूल का कल सुधार कर लूंगा। इस जन्म की बाजी अगर मैं हार भी गया तो अगले जन्म में पुनः नये सिरे से प्रयत्न करने का सुअवसर मिलेगा।

पुनर्जन्म तभी तक होता है जब तक मनुष्य मोक्ष के योग्य नहीं बनता। वेद में प्रार्थना है—

मृत्योर्माऽमृतं गमय्

हे भगवान्! मुझे मृत्यु से अमरत्व की ओर ले जाओ। अतः पुनर्जन्म का सिद्धान्त मोक्ष जैसे अन्तिम लक्ष्य पर पहुंचने से पहले बीच के पड़ाव के समान है। कोई कैलास यात्रा के मार्ग में कितने पड़ाव करता है यह उसके मनोबल और साधना पर निर्भर करता है। इसी जन्म में मोक्ष का अधिकारी बन जाना सर्वोत्तम है। पर यदि किसी कारण हम अन्तिम लक्ष्य तक नहीं पहुंच पाये तो पिछले जन्म की सारी कमाई हमारे साथ चलेगी और योगभ्रष्ट के रूप में उत्तम परिवार के उत्तम संस्कारों के साथ अगला जन्म होगा जिससे भावी यात्रा सुगम हो जायेगी। अतः कर्म सिद्धान्त के लिए पुनर्जन्म का सिद्धान्त अनिवार्य है।

सेमिटिक धर्म कर्म सिद्धान्त को अन्तिम कयामत के दिन न्याय के रूप में मानता है पर पुनर्जन्म को न मानने से उनके कर्म सिद्धान्त का आधार ही कच्चा रह जाता है।

Justic delayed is Justic denyed. विलम्बित न्याय अन्याय जैसा बन जाता है। अमेरीका के महान् लेखक क्रिस्टोफर ईशरवुड ने बाइबिल में जब यह पढ़ा कि ईश्वर दूर सातवें आसमान में बैठा हुआ है और उसका न्यायालय करोड़ों वर्षों के बाद कयामत के दिन खुलेगा तो उसने ईश्वर में विश्वास करना ही छोड़ दिया। उसने कहा कि ऐसे ईश्वर से कोई धरती का मजिस्ट्रेट ही अच्छा है। जो हमें कुछ मास या कुछ वर्ष में न्याय तो देता है। यदि किसी आदमी ने आज

मुझे चोट मारी है और उसे दण्ड लाखों वर्षों के बाद मिलेगा तो यह घोर अन्याय है। अतः ईशरवुड गीता के प्रभाव से पुनः अपनी आस्था एवं जीवन बचा सका। आर्य धर्म मानता है कि ईश्वरीयन्याय अनवरत रूप से चलता रहता है। भगवान् का न्यायालय एक क्षण के लिए भी बंद नहीं होता। अतः कर्म हमें इस जन्म में भी उत्तम मानव बनाता हुआ अगले जन्म में हमें उत्तम योनि में उत्तम संस्कारों के साथ पैदा करता है।

भौतिकवादी और सेमिटिक धर्म मानव के व्यक्तित्व का सूक्ष्म विश्लेषण करने में समर्थ नहीं हो सके। आर्य धंर्म कहता है बाहर दिखने वाला मानव स्थूल शरीर है। उसे देखकर भले-बुरे की तुरत पहचान नहीं हो सकती। चोर के माथे पर कोई पट्टी नहीं लगी कि वह चोर है और संत बाहरी शरीर पर, बाहरी वेश-भूषा से संत नहीं कहलाता। सज्जन और दुर्जन के लिए मानव का सूक्ष्म शरीर मनुष्य का मन ही है। वास्तव में सब कर्मों का उद्‌गम इसी मन से होता है। यही मनुष्य को उठाता अथवा गिराता है। उससे भी अधिक सूक्ष्म एक कारणशरीर है जो एक जन्म की मूल वासनाओं को लेकर दूसरे जन्म में पहुंचाता है। स्थूल शरीर धान्य का बोझा ढोने वाले के समान है। सूक्ष्म शरीर का मन उतने ही धन या धान्य के हलके नोट ढोने वाले के समान है। और कारणशरीर विदेश जाना लाखों रुपये की हुण्डी या Travellor's cheque के समान होगा। मकान जलने पर कोई व्यक्ति रोता है, कोई हाय हाय करता है। पर समझदार व्यक्ति मकान बीमा पॉलिसी से सुरक्षित कर मकान से अलग हो जाता है। न रोता है, न हाय हाय करता है, क्योंकि उसे पॉलिसी द्वारा नया मकान मिलने वाला है।

इसी प्रकार शरीर के मरने या जलने पर स्थूल वस्तुओं के मोह में पड़े हुए लोग रोते हैं और हाय हाय करते हैं। किन्तु, उत्तमकर्मरूपी बीमा पॉलिसी वाले लोग शांत एवं संतुलित रहते हैं।

पुनर्जन्म एवं कर्म सिद्धान्त मोक्ष से पूर्व अनिवार्य होते हुए भी अन्तिम नहीं है। जैसे साबुन से कपड़े का मैल चला जाता है और अन्त में स्वयं साबुन को निकाल देना भी अनिवार्य होता है। उसी प्रकार अच्छे कर्मों द्वारा खोटे संस्कारों को धोने के पश्चात् कर्मरूपी साबुन को भी निकाल देंना अनिवार्य हो जाता है। जो साबुन मैल को निकालता है उसकी झाग कपड़े में रह जाये तो वह स्वयं मैल बन जाती है। इसलिए कर्मों के चक्कर से छुटकारा ही मोक्ष है। कर्म की धन्यता इसी बात में है कि वे हमें कर्म चक्र से छुड़ा दें। जैसे फूल की सार्थकता इसी बात में है कि वह स्वयं खिल-झड़ कर फल के लिए स्थान बना दे—

फल कारण फूले बन राय,
फल लागे सो फूल बिलाय,

जाने कारण कर्म ही विकास
उपजे ज्ञान तो कर्म ही नाश

—रविदास

मृत्यु पर विजय पाने के लिए मृत्यु को अन्तिम अतिथि माना गया है—

सम्मान्यः सादरं मृत्युः जीवनस्य अन्तिमोऽतिथिः

आदरसहित मनुष्य को मृत्यु का सम्मान करना चाहिये क्योंकि जीवन का अन्तिम अतिथि है। जैसे जीवन भर अतिथि को देवता मानकर हम जीवन निर्वाह करते रहे हैं, इसी प्रकार इस जीवनलीला का अन्तिम अतिथि मृत्यु देवता है। उससे भयभीत होने के स्थान पर हमें सम्मान करते हुए जीवन की भेंट चढ़ा देनी चाहिये। इस पर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने कहा है—

हे रुद्र! जब आप अपना भिक्षापात्र लेकर मेरे द्वार पर आ जायें तो मैं आपके महाकाल विकराल रूप को देखकर डर न जाऊं। मैं मुसकराते हुए अपने प्राण रूपी पुष्प को आपके चरणों में डाल दूं।

इस प्रकार से सबका जाना निश्चित ही है। पर कब जाना है यह निश्चित नहीं है। प्रत्येक यात्रा के लिए मनुष्य कई दिन पहले से तैयारी करता है और मार्ग के लिए कुछ पाथेय तैयार कर लेता है। किन्तु, इस मृत्यु की यात्रा निश्चित है और अकस्मात् कब एक क्षण दिये बिना जाना पड़ेगा यह नियत नहीं है। यह मृत्यु को भयावह बना देती है **न हि प्रतीक्षते मृत्युः कृतं वाप्यकृतं पुनः**। मृत्यु प्रतीक्षा नहीं करती कि आपका काम पूरा हुआ कि नहीं। वृक्ष का फल पकने पर गिरे तो किसी को दुःख नहीं होता किन्तु मृत्युरूपी आंधी कच्चे-पके फल, फूल, बीज आदि किसी को भी क्षणभर में धराशायी कर देती है। इसी कारण मानव मृत्यु से भयभीत रहता है। शास्त्र में कहा है—

गृहीत इव केशैषु, मृत्युना धर्ममाचरेत्।

अर्थात् यह मानकर कि मृत्यु ने केशों से पकड़ रखा है, मनुष्य को धर्माचरण करना चाहिये। भाव यह है कि मृत्यु ने जब केशों से पकड़ा हुआ है तब न जाने किस क्षण मृत्यु शरीर को मार डाले? इसलिए एक भी क्षण नष्ट न करते हुए वर्तमान के क्षण को धर्मपरायण कर लो। सारे जीवन को धर्ममय साधनामय बना लेवें। कोई भी शुभ विचार आये तुरन्त क्रियान्वित करना चाहिए। युधिष्ठिर के दरबार में एक याचक-कल आना-भीम का घण्टा बजाना कि युधिष्ठिर महाराज ने मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लिया है। युधिष्ठिर महाराज को भूल का एहसास-याचक को बुलाकर दान देना। कोई बुरा विचार आये तो कल-कल पर टालते रहे। हो सकता कल-कल करते-करते आपका मन बदल जाए और आप उससे बच जाएं। अन्तिम समय में

रावण ने यही सीख लक्ष्मण को दी। हां! धन और विद्या का उपार्जन करना हो तो सोचना चाहिए आत्मा अमर है और काल अनन्त है।

महायात्रा के लिए उचित तैयारी का न होना कितना बड़ा अभिशाप है। वास्तव में जीवन उसी का उत्तम है जो अपने समस्त साधन एवं सुकर्म इस महायात्रा हेतु लगाता है। आर्य धर्म में मृत्यु एक डरावनी डायन न होकर वह मृत्युदेव अथवा यमराज अथवा मृत्यु के शासक प्रलयंकारी शिव के रूप में वर्णित है। दुष्टों के लिए प्रलयंकर है, वही सज्जनों के लिए कल्याणकारी शिव है। कबीर कहते हैं—

जिण मरणे से जग डरे, मेरे मन आणंद।
कत मरिहौं कत जाहिहौं, पूरण परमानन्द।

जिसने शरीर से लेकर ब्रह्म पर्यन्त समस्त कर्तव्यों का विधिवत् पालन किया है उसे मृत्यु का कोई भय नहीं। कबीरदासजी कहते हैं—जस के तस धर दिना चदरिया। दास कबीर ने ऐसी ओढ़ी, ज्यों की त्यों धर दीनी।। कबीरदासजी कहते हैं मैं जत्न से ओढ़ी चदरिया, और जैसी ओढ़ी थी वैसी की वैसी वापस रख दी। जीवन की चरित्र की शुद्धता का आधार मृत्यु को सदैव स्मरण रखना कि मेरे ऊपर भगवान् है, उन्हें जीवन का सारा लेखा-जोखा देना है। एकानाथजी महाराज से एक भक्त ने उनके चरित्र की निर्मलता का रहस्य पूछा तो उन्होंने यही बताया मैं सदैव मृत्युदेव को स्मरण रखता हूं उनको सारा हिसाब देना है।

शुकदेवजी को समझ में नहीं आता था राजा जनक राजसी भोगों के बीच में रहकर भी विदेह कैसे है? उनके पिता वेद व्यासजी ने कहा उनके पास हो आओ। उन्होंने भी राजा जनक के पास आकर यही पाया कि वे सदा मृत्युदेव को स्मरण रखते हैं इसलिए राजसी भोगों के बीच में रहकर भी उससे अलिप्त हैं। अतः जिन्होंने अपने सभी कर्तव्य विधिवत् पालन किया है वह मृत्यु से भयभीत न होकर परम आनन्दित होकर उसका स्वागत करते हैं। उनके लिए मृत्यु जीवन का अभिशाप न होकर प्रभु मिलन की वेला है। इस संदर्भ में यह कहानी पढ़ें—सच ही, वह अवसर न तो गाने का रहा था और न ही बैंड बजाने का, लेकिन वे तब भी अन्त तक बैंड बजाकर गाते ही रहे जबकि ऐसे मौके पर लोग रोने-बिसूरने लगते हैं। यह कहानी है ब्रिटेन में बने जलयान की, जो समुद्र में अपनी पहली यात्रा पर निकला था। उस जलयान को बनाने वाली कम्पनी का दावा था कि यह जहाज इंग्लैण्ड से सिर्फ 4 दिन में ही अमेरीका की यात्रा कर लेगा। इसके पहले तक संसार में सबसे बड़े जलयान जर्मनी के बने होते थे और वे यूरोप और अमेरीका के बीच की यात्रा 5 दिन में पूरी कर पाते थे। अन्य जहाजों को तो इस यात्रा में 7 दिन लगते थे। इंग्लैण्ड में बने विश्व के इस सबसे बड़े जलयान का नाम था टाइटैनिक। टाइटैनिक अपनी पहली यात्रा पर मात्र 4 दिन में अमेरीका

पहुंचने की शर्त रखकर चला। किन्तु वह रास्ते में समुद्र में तैरती बर्फ की एक बड़ी चट्टान से टकराकर टूट गया। अतः उसके समुद्र में डूबने की नौबत आ गई। बीच समुद्र में उस पर सवार लोगों के बचाव का कोई उपाय न था। ऐसे भयानक और दुःखद क्षणों में भी उस जहाज के कप्तान ने जहाज पर बैंड बाजा बजाने वाले दल को कहा, 'सभी बैंड वादक सदस्य अपने-अपने वाद्य बजाते हुए ईश्वर के भजन गाना शुरू करें।' फिर तो उस समय भी जब वह जहाज क्षण-प्रतिक्षण समुद्र में नीचे और नीचे डूबता जा रहा था, उस जहाज का बैंड भजन के साथ लगातार बजता जा रहा था। उस गाने का अर्थ था, 'हे प्रभु! अब हम तेरे ही पास आ रहे हैं।' और वह जहाज डूब गया, उस पर सवार सभी लोग सागर तल में समा गए। स्पष्ट है मृत्यु प्रभु मिलन की वेला है। मोक्ष का महापर्व है, निर्वाण का महोत्सव है। रूस के राष्ट्रपति ब्रेझनेव और आचार्य विनोबाभावे का प्रयाण लगभग एक ही समय में हुआ। रूस के राष्ट्रपति को जीवित रखने के लिए डॉक्टरों के दल, उनकी हृदय गति रुक जाने पर भी घंटों प्रयत्न करते रहे। लेकिन विनोबाजी को जैसे ही हृदय का हलका सा दौरा पड़ा, देश के डॉक्टर उनके इलाज में लगे तथा सुधार भी नजर आने लगा, किन्तु विनोबाजी ने चिकित्सकों को नमस्कार कर दिया। दवा ही नहीं, अन्न जल भी त्याग दिया। जान लिया कि प्राणों के जाने का समय आ गया। शरीर के प्रति वह निर्मोही हो गए। आश्रमाधिकारी ने कहा कि बाबा ने यह निर्णय सोच समझकर लिया है। वह महाप्रयाण के लिए अपने को समाधिस्थ कर रहे हैं। उनके लिए कोई दुःखी या उत्तेजित न हो। यह है पूर्व और पश्चिम के बीच का मौलिक अन्तर। आध्यात्मिकता और भौतिकता के बीच मूलभूत फर्क यह है। यह है आध्यात्मिक आस्था और अनास्था का भेद। हमारे यहां ऐसे महापुरुषों की अखण्ड परम्परा है। मेरा कार्य पूर्ण हुआ जानकर शरीर त्याग दिया जीवित समाधि ले ली। आदि-शंकराचार्य, ज्ञानेश्वरजी महाराज, कबीर, गुरुनानक देव, माता जीजा बाई, स्वातंत्र्य वीर सावरकरजी, स्वामी रामतीर्थ आदि-आदि। इसी भाव से जैन समाज में संथारा प्रचलित है। इसी भाव से मातायें सती हो जाती थी। क्षत्रिय रमणियां जौहर के द्वारा शरीर परित्याग कर देती थी। रानी लक्ष्मी बाई ने जौहर व्रत से शरीर को भस्म कर दिया ताकि अंग्रेजों के अपवित्र हाथ उसको स्पर्श न कर सकें। इस महोत्सव का अधिकारी वही हो सकता है जिसने काल में जीते हुए भी कालातीत अमर आत्मा की साधना की हो। जिसने अपने सच्चे स्वरूप को पहचाना है तथा अपनी अनुभूति से अमरत्व का आनन्द लाभ किया है।

कठोपनिषद् में भारत का छोटा-सा बालक नचिकेता साक्षात् मृत्युदेव से वार्तालाप करता है और मृत्युदेव द्वारा वर मांगने के लिए कहने पर आत्मविद्या और ब्रह्मविद्या का रहस्य पूछता है।

दूसरे शब्दों में वह आदर्श जिज्ञासु मृत्युदेव से ही मृत्यु का रहस्य पूछता है। अर्थात् मृत्यु से ही पूछता है कि आप मरेंगे कैसे? जिससे मृत्यु मर जाये और मैं अमर हो जाऊं। अन्त में यमराज को हारकर उसे अमरत्व की विद्या बतानी पड़ती है। मृत्युदेव स्वयं कहते हैं—

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं, तथारसं नित्यमगन्धवच्च यत्।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं, निचाय्य तन्मृत्युमुखात् प्रमुच्यते।। 1/3/15

अर्थात् शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गंध रहित और अक्षय-नित्य, अनादि-अनंत एवं महत्-तत्त्व से श्रेष्ठ ऐसा जो आत्मतत्त्व है, उसे जानकर जीव मृत्युमुख से छूटता है।

केन उपनिषद् कहता है—

श्रोतस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्वाचो ह वाच (ँ) स उ प्राणस्य प्राणः।
चक्षुषच्चक्षुरतिमुच्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकदमृता भवन्ति।। 1/2

अर्थात् जो श्रोत का श्रोत, कर्णेन्द्रिय का भी कर्णेन्द्रिय, मन का भी मन, वाणी का वाणी, प्राण का भी प्राण, चक्षु का भी चक्षु और सब इन्द्रिय, मन एवं बुद्धि के मूल प्रेरक एवं अधिष्ठान मूल चैतन्यरूप आत्मा को जान लेता है वह इस लोक से शरीर को त्याग कर जाने पर अमृत हो जाता है।

आद्यशंकराचार्यजी ने ठीक ही कहा है—

सच्चा जीवन क्या है? जिसकी मृत्यु न हो। और सच्ची मृत्यु वह है जिसका पुनर्जन्म न हो।

अव्यक्तादीनि भूतानि, व्यक्त-मध्यानि भारत।
अव्यक्त-निधनान्येव, तत्र का परिदेवना।। 2/28

अर्थात् सब प्राणी प्रारम्भ में अव्यक्त ही रहते हैं। मध्य काल में व्यक्त हो जाते हैं। अंत में पुनः अव्यक्त ही हो जाते हैं। अतः इस विषय में चिन्ता करने का कोई कारण नहीं है। व्यक्त होने का अर्थ है नाम-रूप में प्रकट होना, रचित होना, स्पष्ट होना, दृश्यमान होना आदि। व्यक्ति को इसलिए व्यक्ति कहा गया है कि निराकार, निर्विकार परमेश्वर की उस रूप में अभिव्यक्ति हुई है। यह वेदान्त की दृष्टि है। सांख्य दृष्टि से निराकार पुरुष (जीवात्मा) अव्यक्त प्रकृति के सहारे से व्यक्ति के रूप में प्रकट हो जाता है।

प्रारम्भ में सब अव्यक्त रहते हैं। 'एकोऽहम् बहुस्याम' का संकल्प होता है तो अचिन्त्य माया शक्ति के योग से भगवान् अपने आपको प्रकट करते हैं जीवों के रूप में—यह वेदान्त की दृष्टि है। सांख्य की दृष्टि से प्रकृति के सहारे पुरुष अपने को व्यक्त करता है।

इस श्लोक पर दो दृष्टियों से विचार किया जा सकता है। सांख्य की दृष्टि से और अद्वैत वेदान्त की दृष्टि से।

प्रथम में सांख्य की दृष्टि से विचार करें

जन्म और नाश हैं क्या? अव्यक्त का व्यक्त हो जाना जन्म है और व्यक्त का पुनः अव्यक्त हो जाना या मूल उपादान कारण में लय हो जाना नाश है। जैसे अग्नि का अव्यक्त रहना स्वभावसिद्ध है, घर्षण के योग से व्यक्त होना और दाह संस्कार के अभाव में पुनः अव्यक्त हो जाना सुनिश्चित है वैसे ही प्राणियों का अव्यक्त से व्यक्त होना और व्यक्त से अव्यक्त का होना सुनिश्चित है। इस सम्बन्ध में शोक या खेद कैसा? अपनी ओर से घटादि को बनाये रखने का प्रयास करने पर भी कभी-न-कभी घटादि का भंग होकर मृतिका रूप हो जाना जिस प्रकार अनिवार्य है उसी प्रकार भीष्मादि को जीवित रखने का भरसक प्रयास करने पर भी अदर्शन अनिवार्य है। भीष्मादि जितनी भी आकृतियां दिखाई देती हैं अधिक से अधिक सौ साल तक रहेंगी अन्त में मिट्टी में मिलना ही है। यानी जब थोड़े ही काल 'बीच के काल में' अस्तित्व में रहना है तब शोक की क्या जरूरत है? सदा रहने वाला होता तो भले ही सोचना था। कितने दिनों के संगी साथी हैं। भगवान् शंकराचार्य जब संन्यास लेने को तैयार हुए तो मां ने कहा—शंकर! अभी तुम्हारी आयु आठ साल की है, मैंने तो अपनी इकलौती संतान, तुम्हारे लिए न जाने क्या-क्या सोच कर रखा था; पुत्र का विवाह करूंगी, पुत्रवधू आयेगी, घर भी सूना-सूना दीखता है, फिर हरा-भरा हो जायेगा, बड़ा सुन्दर दीखेगा, तू संन्यास की बात करता है। क्या सोचने लग गया रे?

भगवान् शंकराचार्य ने कहा—मां! क्या तू ने अपने पूर्व जन्म में पुत्रवधुओं को प्यार नहीं किया? क्या पुत्रोत्पन्न नहीं हुए? वे सब आज कहां हैं? आज तो एक भी नहीं दीखता है। ना पुत्रवधुएं दीख रही हैं, न पुत्र दीख रहे हैं। संसार का संग कैसा है, जैसे चलते-चलते मार्ग में मुसाफिर मिल जाते हैं, प्याऊ पर पानी पीते हैं और फिर अलग-अलग अपने गन्तव्य स्थान के लिए चल पड़ते हैं। इसी को मिलन कहते हैं, उसी को जीवन कहते हैं, इसी को परिवार सम्बन्ध कहते हैं। अतः कृतार्थ होने के पूर्व तक व्यक्त-अव्यक्त की आंख मिचौनी चलती रहने वाली है अतः इसके लिए शोक का अवकाश कहां है?

इसी भाव को गीता में आगे दूसरे शब्दों में कहा है—

अव्यक्ताद्-व्यक्तयः सर्वाः, प्रभवन्-त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते, तत्रैवा-व्यक्त-सञ्ज्ञके।। 8/18

ब्रह्मा के दिन के प्रारम्भ में अव्यक्त से सब पदार्थ व्यक्त होते हैं और उसी की रात्रि प्रारम्भ होने पर वे सब पदार्थ उसी अव्यक्त में लीन होते हैं। अर्थात् ब्रह्मा के दिन के प्रारम्भ में सबकी उत्पत्ति होकर सबकी व्यक्तता होती है और ब्रह्मा की रात्रि के समय फिर सबकी अव्यक्त स्थिति हो जाती है, कोई इससे छूटता नहीं इसलिए यह अपरिहार्य है। अतः अपरिहार्य बात का शोक करना सर्वथा अयोग्य है क्योंकि इससे कोई लाभ नहीं है।

इसे हम दैनिक जीवन के उदाहरण से भी समझ सकते हैं। हमारे जागरण काल में दिन में सृष्टि व्यक्त होती है और सुषुप्ति काल में, रात्रि में पुनः अव्यक्त हो जाती है। हमारी सुषुप्ति अल्प है ब्रह्माजी की सुषुप्ति दीर्घ है बस इतना ही अन्तर है।

महाभारत के स्त्री पर्व में यही विषय अन्य शब्दों में स्पष्ट किया है—

सर्वे क्षयान्ता नियया: पतनान्ताः समुच्छ्रयाः।
संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्तं च जीवितम्।।3।।

अयुध्यमानो म्रियते युध्यमानश्च जीवति।
कालं प्राप्य महाराज न कश्चिदतिवर्तते।।5।।

अभावादीनि भूतानि भाव मध्यानि भारत।
अभावमिधनान्येव तत्र का परिदेवना।।6।।

महाभारत स्त्रीपर्व अ. 2

सब संचय क्षय होने तक रहने वाले हैं, सब ऊपर चढ़ना पतन होने तक ही है, सब संयोग-वियोग होने तक रहते हैं और मृत्यु आने तक जीवन होता है। युद्ध न करने वाला मर जाता है और युद्ध करने वाला भी जीवित रहता है। हे महाराज! काल प्राप्त होने पर कोई बचता नहीं। सब भूत उत्पत्ति के पूर्व अभाव रूप होते हैं, मध्य समय में भाव रूप दीखते हैं और मृत्यु के पश्चात् फिर अभाव को प्राप्त होते हैं। इसमें शोक करने का कारण क्या है?

इस स्थान में गीता के 'अव्यक्त' शब्द के स्थान पर अभाव शब्द है। अर्थात् यह श्लोक गीता के श्लोक के अर्थ को स्पष्ट करता है। इसी प्रकार का एक श्लोक है—

अदर्शन और दर्शन

अदर्शनादापतिताः पुनश्चादर्शनं गताः।
नैते तव न तेषां त्वं तत्र का परिदेवना।।

महाभारत स्त्रीपर्व 2/13

सब भूत पहले अदर्शन (अदृष्ट) अवस्था में थे पश्चात् दर्शन (दृष्ट) स्थिति में हो गये, अनन्तर पुनः अदर्शन (अदृष्ट) स्थिति में पहुंच गये। ऐसी अवस्था में शोक के लिए कारण क्या है? वास्तव में देखा जाये तो वे तेरे नहीं है और तू उनका नहीं है।

इस श्लोक में 'अदर्शन' अर्थात् 'नजर से दूर हो जाना' इस शब्द का भी मृत्यु को उद्देश्य कर उपयोग किया गया है।

इस प्रकार सांख्य की दृष्टि से शोक करना व्यर्थ है। वेदान्त की दृष्टि से विचारेंगे तो भी शोक करना व्यर्थ सिद्ध होगा।

प्रश्न है बीच के काल, प्रकट काल में, जन्म के पश्चात् मृत्युपर्यन्त यानी थोड़े समय के लिए ही क्यों न हो यानी 50-60 या 70 साल तक देह का अस्तित्व तो रहता है? अतः सही वस्तु के लिए शोक करना क्या स्वाभाविक नहीं है? इसके जवाब में सांख्य कहता है चूंकि अनित्य है अतः शोक उचित नहीं। अनित्यता तो सबको समझ में आती है पर मिथ्या एक सीढ़ी ऊंची है वह सबको प्रथम में समझ में नहीं आती। मिथ्या समझने के लिए वैराग्य का भाव चाहिये। यही वेदान्त अनित्य के साथ-साथ मिथ्या मानता है अतः शोक करना और भी उचित नहीं है।

गुरु गौडपादाचार्य 'मांडूक्योपनिषद्' पर लिखी कारिका में कहते हैं : आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा। अर्थात् उत्पत्ति के पूर्व और नष्ट होने के बाद जो पदार्थ नहीं रहता, वर्तमान काल में भी वह पदार्थ अस्तित्व में नहीं रहता। मृग-जल पहले भी नहीं रहता और बाद में उसका अस्तित्व नहीं रहता। किन्तु बीच में सूर्य-किरणों का बालू के साथ संयोग होने पर दूर से उसमें पानी की झलक दिखाई पड़ती है। इसलिए जल होना चाहिये, इस खयाल से मृग वहां दौड़ जाते हैं। लेकिन वस्तुतः वहां जल न होने से वे निराश होकर वापस लौटते हैं। आदि-अन्त में जल का अस्तित्व न होने से मध्य में यानी बीच में जो जल प्रतीत हुआ वह जल नहीं जल का आभास मात्र था। इससे यह सिद्ध होता है कि आदि-अन्त में जो चीज नहीं, वह थोड़े समय के लिए बीच में दिखाई देने पर भी वास्तव में उसका अस्तित्व नहीं होता। उसकी व्यावहारिक सत्ता है पारमार्थिक नहीं। जो तीनों कालों में है वही पारमार्थिक है।

वास्तव में देह सहित ब्रह्माण्ड के सभी पदार्थ हैं ही नहीं। अन्यथा भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों कालों में वे दिखाई देते। लेकिन ऐसा होता नहीं। इसलिए वर्तमान काल में जो थोड़े समय के लिए उनका अस्तित्व दिखाई देता है, उसे मिथ्या ही समझना चाहिये। बीच में यह वस्तु का अस्तित्व दिखाई देना माया

का कार्य है। माया का कार्य ही है कि वस्तु न होते हुए भी उसका भास करना। वस्तु सत्य न होते हुए भी यदि हमें सत्य लगती है, तो यह हमारा अज्ञान ही समझा जायेगा। इस श्लोक में भगवान् ने यही बताया कि भूतमात्र पहले अव्यक्त में थे और अन्त में भी अव्यक्त में लीन हो जायेंगे। बीच के समय में उनका जो व्यक्त स्वरूप दिखता है, वह मिथ्या है, ऐसा समझकर ज्ञानी लोग भूतमात्र के लिए कभी शोक नहीं करते। इस प्रकार सांख्य और वेदान्त, दोनों दृष्टियों से शोक करना व्यर्थ सिद्ध होता है।

आश्चर्यवत्-पश्यति कश्चिदेन-माश्चर्य-वद्-वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्य-वच्चैन-मन्यः शृणोति श्रुत्वा-प्येनं वेद न चैव कश्चित्।। 2/29

कोई (तत्त्व ज्ञानी) इस (आत्मा) को आश्चर्यरूप से देखता है और वैसे ही दूसरा कोई (तत्त्व-ज्ञानी इस आत्म-तत्त्व को) आश्चर्यरूप से बताता है तथा दूसरा कोई (मुमुक्षु) इसे आश्चर्यरूप से सुनता है और फिर कोई (तो) सुनकर भी इसको नहीं जानता (यह भी आश्चर्य ही है)।

अब तक हमने देहतत्त्व एवं आत्मतत्त्व पर विचार किया। ये दोनों एक-दूसरे के विपरीत हैं।

आत्मवाचक शब्द	**देहवाचक शब्द**
आत्मा	देह, अनात्मा
पुरुष	प्रकृति
अमर	मर
सत्	असत्
देही	देह
अविनाशी	विनाशी
अनन्त	अन्तवान
अनादि	सादि
नित्य	अनित्य
अज (न जायते)	जन्म वाला (जायते)
शाश्वत	अशाश्वत
पुराण	बदलने वाला
अप्रमेय	प्रमेय
अव्यय	व्यय
अच्छेद्य	छेद्य

अदाह्य	दाह्य
अक्लेद्य	क्लेद्य
अशोष्य	शोष्य
सर्वगत	एकदेशीय
स्थाणु (आधार)	आधेय
अचल	चल
सनातन	नश्वर
अव्यक्त	व्यक्त
अचिन्त्य	चिन्त्य
अविकारी	विकारी

हम सृष्टि में दो प्रकार की सत्ताएं देखते हैं। एक दृश्यमान संसार और शरीर की सत्ता। इसके मूल आधार में, अधिष्ठान में, Base में एक अदृश्य सत्ता है, जिसे हम आत्मा-परमात्मा कहते हैं। हम इन दोनों, शरीर और संसार की (दृश्य) सत्ता से परिचित हैं जो इन्द्रियगोचर है या यंत्रगोचर है या जिनका प्रभाव देखकर अनुमान किया जाता है, जिसकी व्याख्या गणितीय संकेतों से होती है और प्रायः सही निकलती है। Electron, Proton आदि यंत्रगोचर भी नहीं है, पर उनके प्रभाव से उनके स्वरूप का विचार किया जाता है। इस प्रकार हम शरीर और संसार को एक सीमा तक जानने में समर्थ है क्योंकि यह इन्द्रियगोचर या यंत्रगोचर या उनके प्रभाव से अनुमान द्वारा जानने में समर्थ होते हैं।

पर इस तरह हम आत्मा-परमात्मा को नहीं जान सकते क्योंकि वे अदृश्य, सनातन, अव्यक्त होने से प्रत्यक्ष, यंत्र या अनुमान का विषय नहीं बनता। इस प्रकार हमारे जानने में नहीं आने से इसकी सत्ता-अस्तित्व को ही अनेक लोग अस्वीकार करने लगते हैं।

और पश्चिम के विज्ञान जगत् में एक समय ऐसा आया ईसाइयत के अत्याचार से त्रस्त हो उसके प्रतिक्रिया स्वरूप कि जो विषय इन्द्रियगोचर या यंत्रगोचर नहीं है उसे न केवल अस्वीकारा वरन् उससे किसी प्रकार का सम्बन्ध जोड़ना उन्हें नागवार लगता था। उनका कहना था अगर ईश्वर का अस्तित्व है तो उसे अपने अस्तित्व का प्रमाण पत्र वैज्ञानिक की प्रयोगशाला में आकर उसकी परखनली में देना होगा।

और उस समय की वैज्ञानिक खोजों से इसकी ही पुष्टि होती सी लगी—मशीनी ब्रह्माण्ड की नींव पड़ी और ऐसा उन्हें विश्वास था सृष्टि का कोई भी तत्त्व

नहीं, जिसको यंत्र के रूप में न समझा जा सके, उसका Model बनाया न जा सके। बस प्रयास करने की आवश्यकता है। पर यह स्थिति अधिक देर तक कायम नहीं रह सकी। दो सिद्धान्त प्रकाश में आये जिससे मशीनी ब्रह्माण्डवाद की नींव सदा के लिए हिल गयी। Quantam theory का परिणाम अनिश्चयवाद आया। और सापेक्षवाद ने घोषणा की कि विज्ञान ने जो कुछ खोजा सीमित एवं सापेक्ष है, निरपेक्ष विज्ञान की पकड़ से बाहर है।

जो दम्भ पल गया था कि विज्ञान समग्र सृष्टि की व्याख्या करने में समर्थ है, आज वह दम्भ विगलित हो गया और उन्हें लगने लगा सृष्टि के सम्बन्ध में जो कुछ जान पाया है वह आधा-अधूरा, सतही एवं प्रतीकात्मक ज्ञान ही जान पाया। विज्ञान अपनी सीमा में सृष्टि को मूलरूप से समझ पायेगा ऐसी सम्भावना उन्हें नहीं लगती।

तो आज विज्ञान बाह्य दृश्यमान संसार की व्याख्या में अपने आपको असमर्थ पा रहा है तब आत्मा-परमात्मा की व्याख्या कैसे करेगा। अतः आज विज्ञान पहले की अपेक्षा बहुत विनम्र हो गया है और अध्यात्म की भाषा बोलने लगा है। इस दृष्टि से अनेकों पुस्तकें लिखी गयी। The man unknown, Mysterious universe, Space time and gravitation, Tao of Phisic, Turning point आदि-आदि।

बाह्य जगत् में जो भी सफलता मिली है उससे वैज्ञानिकों को संतोष नहीं है। क्योंकि अभी तक जो जानकारी मिली है वह अधूरी, धुंधली, प्रतीकात्मक ज्ञान ही प्राप्त हुआ, वास्तविक सारतत्त्व का ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ। इसलिए बहुत से वैज्ञानिक तो विज्ञान से आस्था ही खो बैठे हैं कि विज्ञान कभी भी सत्य की उपलब्धि नहीं कर पायेगा। सर जेम्स जीन्ज ने प्लेटो के 'रिपब्लिक' का निम्न रूपक देकर कहा है कि भौतिक विज्ञान का ज्ञान केवल सांकेतिक है, सत्य नहीं। कुछ कैदी एक ही पंक्ति में इस प्रकार शृंखलाबद्ध हैं कि वे केवल सामने ही देख सकते हैं। उनके पीछे अग्नि जल रही है। उनके और अग्नि के बीच में एक मंच पर कुछ व्यक्ति आ-जा रहे हैं। कैदियों को सामने की दीवार पर केवल उनकी छाया ही दिखाई देती है, असली व्यक्ति दिखाई नहीं देते। इस उपमा में सर जेम्स जीन्ज ने भौतिक वैज्ञानिकों को उन शृंखलाबद्ध कैदियों के समान कहा है जो सत्य को नहीं देखते, पर उसकी मंद-मंद अस्थिर छाया मात्र को ही सत्य मान लेते हैं।

बाहरी जगत् में जो थोड़ी बहुत सफलता मिली है पर अन्तर्जगत में उतनी भी नहीं। नोबल पुरस्कार विजेता एलेक्सिस कैरल ने एक पुस्तक लिखी है उसका नाम है 'मैन दि अननोन'। इसमें वे बताती है कि मनुष्य के दो रूप हैं। पहला रूप तो वह है जो जाना हुआ है, जो ज्ञात है; और दूसरा रूप वह है जो अब

तक अजाना ही है। मनुष्य का जाना हुआ रूप क्या है? यही कि वह पुरुष है या स्त्री, उसकी लम्बाई कितनी है? उसकी ऊंचाई कितनी है? उसका रंग-रूप, वजन और बाहरी नक्शा कैसा है? उसकी उम्र, उसकी शैक्षणिक योग्यता, उसकी गतिविधियां, उसकी राष्ट्रीयता आदि का विवरण देते हैं। उसके सम्बन्ध में जितनी जानकारियां मिल सकती है हम उन सबके सहारे उसका परिचय दे सकते हैं, पर इससे उसका पूरा आख्यान नहीं हो जाता। क्योंकि इसका व्यक्त भाग है जो बड़ा ही अल्प है, जिसका विवरण दे देते हैं, इससे बहुत बड़ा भाग अव्यक्त है, अजाना है जो अछूता ही रह जाता है। एलेक्सिस कैरल की भाषा में अज्ञात मनुष्य (Man the unknown) का, वह परिचय, परिधि में नहीं आ सका। पिछली शताब्दियों में जैसी सफलता बाह्य जगत् में मिली है वैसी सफलता अन्तर्जगत में नहीं मिली। अभी तक प्रारम्भिक स्थिति में है।

लिंकन बार्नेट भी मनुष्य को ही प्रकृति का सबसे बड़ा रहस्य मानता है। वे अपनी पुस्तक The universe and Einstein (पृष्ठ 126) में लिखते हैं—Man is thus his own greatest mystery मनुष्य ही सबसे बड़ा रहस्य है।

नील्स बोअर का विचार है कि 'हम लोग अस्तित्व के इस महान् नाटक में दर्शक और अभिनेता दोनों हैं।

इस सदी के एक बड़े भौतिकशास्त्री अर्विन श्रोडिंजर 'What is life' नामक ग्रन्थ में (पृष्ठ 90-91) लिखते हैं—चेतना का अनुभव कभी बहुवचन में नहीं होता, केवल एकवचन में होता है। चेतना एक ऐसा एकवचन, जिसका बहुवचन अज्ञात है, केवल एक का ही अस्तित्व है। और जो अनेकता दिखाई देती है, वह केवल इसी एक के विभिन्न पहलुओं का जो भ्रम से (भारतीय 'माया' से) उत्पन्न होते हैं, क्रम मात्र है।

महानतम वैज्ञानिक आइंस्टाइन ने तो स्पष्ट कह दिया कि विज्ञान का सारा ज्ञान सापेक्ष और सीमित है; अनन्त का ज्ञान उसकी सीमा से परे है। भौतिक ज्ञान को सीमित कहकर भगवान् शंकराचार्य ने भी यही बात कही थी जिसे आज विज्ञान स्पष्ट शब्दों में स्वीकार रहा है—विज्ञान की भौतिक जगत् के ज्ञान के विषय में यह स्थिति है तो परमतत्त्व आत्मा के विषय में उसकी पहुंच कैसे हो सकती है।

आज हम सापेक्षवाद के प्रकाश में आत्मतत्त्व को समझ सकते हैं। पूर्ण में जाकर दो विपरीत गुण एक हो जाते हैं। निरपेक्ष गति और स्थिरता एक हो जाते हैं। निरपेक्ष सूक्ष्मता और विराट एक हो जाते हैं। निरपेक्ष दूरी और निकटता एक हो जाते हैं।

पूर्ण की व्याख्या ईशावास्योपनिषद् के शान्ति मंत्र में की गयी है—

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।।

अदृश्य ब्रह्म पूर्ण है। पूर्ण ब्रह्म से पूर्ण दृश्य जगत् की उत्पत्ति हुई। पूर्ण दृश्य जगत् की सृष्टि होने के बाद भी पूर्ण (ब्रह्म) पूर्ण ब्रह्म ही रहता है। अर्थात् पूर्ण से पूर्ण की निष्पत्ति होती है, और पूर्ण ही अवशिष्ट रहता है।

अनन्त (पूर्ण)+पूर्ण=पूर्ण। वह पूर्ण वर्द्धन रहित परिपूर्ण है, निर्योग है।

पूर्ण-पूर्ण=पूर्ण वह पूर्ण घटाव रहित, अक्षय है।

पूर्ण×पूर्ण=पूर्ण वह पूर्ण गुणन रहित, निर्गुण है।

पूर्ण÷पूर्ण=पूर्ण वह पूर्ण भाग रहित, अखण्ड-अविभाज्य है।

पूर्ण जो है देश, काल, वस्तु परिच्छेद रहित सार्वजनीन है। यानी वह सब देशों में, सब कालों में, सब वस्तुओं में है। सार्वजनीन है।

इसलिए ईशावास्योपनिषद् में गाया है—

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत्।
तद्धावतोऽन्यान अत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति।।

अर्थात् वह परमेश्वर अचल एवं मन से अधिक तीव्र गति युक्त है, सबके आदि ज्ञानस्वरूप और सबको जानने वाला है। इन परमेश्वर को; इन्द्रादि देवता भी नहीं पा सके या जान सके हैं। वे (परब्रह्म पुरुषोत्तम) दूसरे दौड़ने वालों को (स्वयं) स्थिर रहते हुए ही अतिक्रमण कर जाते हैं, उनके होने पर ही उन्हीं की सत्ता शक्ति से वायु आदि देवता, जल, वर्षा आदि क्रियाओं का सम्पादन करने में समर्थ होते हैं।

तदेजति तन्नैजति तद् दूरे तद्विन्तके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः।।

अर्थात् वह आत्मा निरन्तर गतिमान है तथा नितांत स्थिर है, यह दूर से भी दूर है तथा निकट से भी निकट है। वह सबके भीतर भी है तथा सबके बाहर भी है।

गति और स्थिरता, दोनों सापेक्ष स्थितियां हैं। बिना किसी स्थिर वस्तु की तुलना में किसी अन्य वस्तु की गति को जाना नहीं जा सकता है। प्रत्येक वस्तु अपने आप में स्थिर प्रतीत होती है वह किसी अन्य वस्तु की तुलना में चलायमान है। आइंस्टाइन इसके लिए स्वयं का उदाहरण देता है कि वह लंदन में एक ट्रेनकार पर यात्रा कर रहा है। ट्रेन में एक होटल का बेयरा हाथ में चाय का ट्रे लेकर घूम रहा है। आइंस्टाइन सोचता है कि वह स्थिर है और बेयरा गतिमान है। तनिक विचार करने पर अपनी मूर्खता पर हंसता है क्योंकि वहां तो पचास मील प्रति घंटे

की गति से दौड़ने वाली ट्रामकार में दोनों गतिमान हैं। बेयरे की अपेक्षा आइंस्टाइन स्थिर प्रतीत होता और आइंस्टाइन की अपेक्षा बेयरा गतिमान प्रतीत होता है। किन्तु ट्रेन की अपेक्षा से दोनों गतिमान है और ये गति बेयरे के चलने से भिन्न गति है। लंदन शहर में आकर ट्रेन रुकती है और दूसरी ट्रेन चलने लगती है। आइंस्टाइन सोचता है, हमारी गाड़ी खड़ी है और दूसरी गाड़ी चल रही है, वह पुनः अपनी मूर्खता पर हंसता है क्योंकि समूचा लन्दन शहर धरती के साथ एक हजार मील प्रति घण्टे की गति से घूम रहा है। आइंस्टाइन कहता है, निरपेक्ष सूक्ष्मता और निरपेक्ष विराटरूपता, दोनों एक हैं। निरपेक्ष दूरी व निकटता एक हैं।

अपूर्ण एवं जड़ वस्तु यदि स्थिर हो तो उन्हें गतिमान नहीं कहा जा सकता किन्तु आत्मा पूर्ण एवं अभौतिक तत्त्व होने के कारण वह भौतिक जगत् के नियमों के बंधन से मुक्त है। पूर्ण में विपरीत गुण एक हो जाते हैं। इसलिए वह एक साथ अचल और गतिमान हो सकता है। यदि शरीर एकदेशीय है, आत्मा सार्वदेशिक है। शरीर अल्पकालिक, आत्मा सर्वकालीन। इसलिए वह एक साथ भूत, भविष्य, वर्तमान में हो सकता है। भौतिक वस्तु एकदेशीय होती है इसलिए यदि वह अन्दर हो तो बाहर नहीं हो सकती। और बाहर हो तो भीतर नहीं हो सकती। आत्मा शुद्ध चैतन्य रूप होने के कारण बाहर और भीतर एक साथ हो सकता है। उदाहरण स्वरूप आकाश एक ही समय में सब घटों और मठों, बाहर और भीतर हो सकता है। जब आकाश जैसा सूक्ष्म भौतिक तत्त्व भी सूक्ष्मता के प्रभाव से बाहर और भीतर एक साथ हो सकता है तब परम सूक्ष्म आत्मा के लिए इसमें क्या बाधा हो सकती है। भौतिक वस्तु सापेक्ष है और आत्मा निरपेक्ष। भौतिक वस्तुएं देश-काल परिच्छिन्न हैं और आत्मा देश-काल से मुक्त है। बाहर और भीतर, निकट और दूर, सब देश के बंधन की दीवारें हैं। ज्यों-ज्यों हम सूक्ष्मता की ओर बढ़ते जाते हैं त्यों-त्यों देश-काल के बंधन लुप्त होते जाते हैं। तन कारा में बंदी होने पर भी मन को जेल की दीवार बंदी नहीं बना सकती। बुद्धि और सूक्ष्म होने के कारण और अधिक मुक्त है और आत्मा परम सूक्ष्म होने के कारण देश के बंधन से पूर्ण मुक्त है। वास्तव में वहां देश-काल की सत्ता बचती ही नहीं है। भौतिक जगत् में देश-काल की सीमायें अविद्या जनित विकार है। अंधेरे में भासने वाले छाया रूप भूत तभी तक डरा सकते हैं जब तक सूर्य का प्रकाश नहीं हुआ। आत्मा सार्वदेशिक एवं सर्वकालीन होने के कारण वह पहले ही सब देशों एवं कालों में विद्यमान है, उसे कोई गति करने की आवश्यकता नहीं क्योंकि वह पहले ही उन सब देशों और कालों में वर्तमान है। अतः न देश उसको सीमित कर सकता है, न काल खा सकता है। देश और काल की सीमाएं नाम-रूप में बंटे हुए इस संसार में भेद एवं पृथक्ता दिखाने के लिए है। इसके विना व्यवहार

सम्भव नहीं है। पर आत्मा में कोई भेद है ही नहीं। अतः देश-काल के बंधन लुप्त हो जाते हैं।

यही भाव अन्य श्लोकों में थोड़ा हेर-फेर के साथ कहा गया है—

अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्।
तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमात्मनः।।

कठ उ. 2/20

आत्मा सूक्ष्म से भी सूक्ष्म, बड़े से भी बड़ा है। प्राणी के हृदय में वह स्थित है। निष्काम पुरुष विधाता के प्रसाद से आत्मा की महिमा से शोक रहित होकर देखता है।

नासतो विद्यते भावो, नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्,-त्वनयोस्-तत्त्व-दर्शिभिः।। 2/16

असत् वस्तु का अस्तित्व नहीं है और सत् का अभाव नहीं है। ये दोनों ही तत्त्व ज्ञानी पुरुषों द्वारा देखे गये हैं, निश्चित किये गये हैं।

अविनाशि तु तद्-विद्धि, येन सर्वमिदं ततम्।
विनाश-मव्ययस्यास्य, न कश्चित् कर्तु-मर्हति।। 2/17

अन्तवन्त इमे देहा, नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य, तस्माद्-युध्यस्व भारत।। 2/18

य एनं वेत्ति हन्तारं, यश्-चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो, नायं हन्ति न हन्यते।। 2/19

न जायते म्रियते वा कदाचिन्
नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे।। 2/20

वेदाविनाशिनं नित्यं, य एन-मज-मव्ययम्।
कथं स पुरुषः पार्थ, कं घातयति हन्ति कम्।। 2/21

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही।। 2/22

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि, नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्-त्यापो, न शोषयति मारुतः।। 2/23

अच्छेद्योऽय-मदाह्योऽय,-मक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणु,-रचलोऽयं सनातनः।। 2/24

जिसके द्वारा यह समस्त (संसार) व्याप्त है, उसी को तू अविनाशी जान। इस अव्यय (आत्मा) का विनाश करने में कोई समर्थ नहीं है। इस नाश रहित, अप्रमेय (अर्थात् प्रत्यक्षादि प्रमाणों के अगोचर) नित्य स्वरूप शरीरी (अर्थात् आत्मा) के ये सब शरीर नाशवान कहे गये हैं। जो इस आत्मा को मारने वाला समझता है तथा जो इसको मरा समझता है, वे दोनों ही नहीं जानते हैं, क्योंकि यह न तो मारता है और न मारा जाता है; अथवा (ऐसा भी नहीं है कि) यह एक बार होकर फिर नहीं होता। यह जन्मरहित, नित्य, शाश्वत तथा सनातन है; शरीर के नष्ट होने पर भी यह नष्ट नहीं होता। जो व्यक्ति इस आत्मा को अविनाशी, नित्य, जन्मरहित और अव्यय जानता है, वह कैसे किसको मरवाए और कैसे किसको मारे? जिस प्रकार मनुष्य जीर्ण वस्त्रों को त्यागकर दूसरे नये वस्त्रों को ग्रहण करता है, उसी प्रकार देही जीर्ण शरीरों को त्यागकर दूसरे नये शरीरों को प्राप्त करता है। इस आत्मा को शस्त्र नहीं काट सकते, इसको अग्नि नहीं जला सकती, इसको जल गीला नहीं कर सकता तथा वायु नहीं सुखा सकती। निरवयव होने के कारण यह आत्मा कटने वाला नहीं है, यह जलने वाला नहीं है, गलने वाला नहीं है और सूखने वाला नहीं है। यह नित्य, सर्वव्यापी, स्थिर, निश्चल और सनातन है।

आत्मा की इन सब विशेषताओं से हमें आश्चर्य होता है कि क्या वास्तव में ऐसा कोई तत्त्व हो सकता है। और साधारणतया आत्म तत्त्व के विषय में जिज्ञासा बहुत कम लोगों में होती है। हम जीते तो हैं और किसी भी स्थिति में मरना नहीं चाहते। पर हमें यह जिज्ञासा ही नहीं होती कि जीवन क्या है, हम कहां से आये, कहां जाना है, हमारा लक्ष्य क्या है, क्यों हम जीना चाहते हैं, जीवन की संरचना क्या है, आदि प्रश्न हमारे अन्दर उठते नहीं, बस जीये चले जाते हैं। यही बात गीता के सातवें अध्याय के तीसरे श्लोक में कही है—

मनुष्याणां सहस्रेषु, कश्चिद् यतति सिद्धये।
यतता-मपि सिद्धानां, कश्चिन् मां वेत्ति तत्त्वतः।। 7/3

हजारों मनुष्यों में कोई एक ही विरला आत्म तत्त्व (सिद्धि) लाभ के लिए प्रयत्न करता है। और ऐसा प्रयास करने वाले हजारों में कोई विरला यथार्थतः आत्म तत्त्व को जान पाता है। सामान्यतः हम भगवान् से कामना की पूर्ति चाहते हैं। हमारा योगक्षेम् वह वहन करता रहे। थोड़ी बहुत कथा-कहानी, कर्मकाण्ड में रुचि होती है ताकि हमारा घर सुख-समृद्धि से, धन-धान्य से भरा रहे और उसकी रक्षा होती रहे और मरने पर स्वर्ग मिले। इस दृष्टि से कर्मकाण्ड, पूजा-पाठ में

प्रवृत्ति होती है। तत्त्वतः स्वयं को जानने की प्रवृत्ति हजारों यानी लाख में एक को होती है।

स्पष्ट है आत्म तत्त्व के विषय में जिज्ञासा बहुत कम लोगों में होती है। अतः आत्मा के विषय में उपदेश देना भी एक आश्चर्य है, क्योंकि आत्मा किसी की आवश्यकता नहीं है—तब उपदेश कौन सुनेगा?

बाजार में वही चीज बिक सकती है जो किसी की जरूरत हो। आत्मा किसी की भी जरूरत नहीं है। श्रीकृष्ण भगवान् भी जान रहे हैं अर्जुन की जो मांग नहीं है उसी की वे सप्लाई कर रहे हैं। वह तो युद्ध से पलायन चाहता है। उसके लिए वह भगवान् का समर्थन और सांत्वना चाह रहा है और वह चाह रहा है भगवान् उसे किसी भी तरह युद्ध के झंझट से मुक्त कर देवें। वह आत्मा आदि की बात नहीं कर रहा है।

आत्मा किसी की जरूरत नहीं है। इसलिए आश्चर्य है कि क्यों कभी कोई व्यक्ति आत्मा को बेचने निकल जाता है। पर कुछ लोग सनकी होते ही हैं, वे आत्मा को भी समझाने लगते हैं। यही तो आश्चर्य है कि कोई समझने को जिसे तैयार नहीं है, फिर भी समझाने वाले लोग होते हैं।

एक ईसाई बिशप की जीवनी में है कि सारे यूरोप में ईसाई पादरियों का एक सम्मेलन था, तो उस बिशप ने, उस पादरियों के सम्मेलन में यह पूछा कि चर्चों में जब तुम बोलते हो तो लोग सिर्फ उबे हुए मालूम पड़ते हैं; अधिक तो सोये हुए मालूम पड़ते हैं, कोई रस लेता मालूम नहीं पड़ता और लोग बार-बार घड़ी देखते हैं। कारण क्या है? उत्तर वे बिशप को नहीं दे सके जो इकट्ठा थे। तब जिसने पूछा था उस बिशप ने खुद ही कहा, मैं समझता हूं कि कारण यह है कि तुम उन प्रश्नों का उत्तर दे रहे हो जो कोई पूछता नहीं, जो किसी का प्रश्न ही नहीं है।

सामान्यतया हमें तत्त्व की जिज्ञासा ही नहीं होती। हम वेद पाठ, उपनिषद्, गीता, रामायण पाठ कर लेते हैं, अर्थ जानने की इच्छा ही नहीं होती। सम्पूर्ण गीता पाठ, अखण्ड रामायण पाठ हम अनुष्ठान की तरह Ritual (रिचुअल) की तरह बिना तत्त्व की जिज्ञासा, बिना अर्थ समझे कर लेते हैं—पुण्य प्राप्ति की भावना, मनोकामना पूर्ति की भावना से। ऐसे सत्यनारायण की कथा, कार्तिक माह की कथा पुण्य प्राप्ति के भाव से, कामना पूर्ति की दृष्टि से करते हैं। उत्सव पालन पुण्य और मनोरंजन के भाव से कर लेते हैं पर उस सबके पीछे तत्त्व जानने की भावना नहीं होती। बस उसे अनुष्ठान की तरह पूरा कर खुशी मना लेते हैं।

स्पष्ट है तत्त्व की जिज्ञासा विरले में ही यानी हजारों में किसी एक को होती है। उन हजारों तत्त्व जिज्ञासु में कोई एक सिद्धि को प्राप्त होता है। अन्य बीच में

ही अटक जाते हैं, कथावाचक बन जाते हैं और उसी की दुकानदारी प्रारम्भ कर देते हैं। इसी आधार पर आज भागवत कथा की बाढ़ आयी है। यह बिना पूंजी Investment का व्यवसाय है, उद्योग है, जिसमें पैसा, पूजा, प्रतिष्ठा, भरपूर सम्मान मिलता है, जिसमें पैर भी पूजे जाते हैं, अच्छी दक्षिणा भी मिलती है, अच्छा भोजन भी मिलता है। अतः हजारों चलने वालों में प्रायः अधिकांश बीच में ही रह जाते हैं, माया का जंजाल रच लेते हैं कोई एक-आध ही सिद्धि तक पहुंच पाते हैं।

प्रथम में तो जिज्ञासा ही कठिन है। हजारों में किसी एक को जिज्ञासा होती है तो उसको वक्ता या गुरु मिलना कठिन है, क्योंकि बिना गुरु के मार्गदर्शन कहां मिले? संसार की छोटी-छोटी सी दिशा में आगे बढ़ने के लिए गुरु के मार्गदर्शन की आवश्यकता होती है फिर यह जीवन की सबसे महान् जिज्ञासा के साथ प्रथम और अन्तिम जिज्ञासा भी है—इस संदर्भ में छांदोग्य उपनिषद् इसे दृष्टान्त के द्वारा बताती है—

हे सौम्य! जिस प्रकार (कोई डाकू) गांधार प्रदेश (पाकिस्तान का उत्तर-पश्चिम सीमान्त) से आंखों पर पट्टी बांधकर लाये गये मनुष्य को निर्जन स्थान में छोड़ दें, और ठीक जिस प्रकार (दिशाभ्रान्त होकर) वह पूर्व की ओर या उत्तर की ओर या दक्षिण की ओर चीत्कार करता हुआ (रोता है), मैं यहां आंखों पर पट्टी बांध कर छोड़ दिया गया हूं, और जैसे कोई उसकी पट्टी खोल कर उससे इस प्रकार कहे कि 'इस दिशा में गांधार देश है, इस दिशा में चले जाओ' और जैसे वह गांव-गांव अपना रास्ता पूछते हुए और लोगों से निर्देशित और स्वयं अपना निर्णय लेकर गांधार पहुंच जाता है, ठीक उसी प्रकार इस संसार में एक मनुष्य, जिसको (मार्गदर्शन के लिए) एक गुरु मिल जाये (आत्मा को जानने वाला); उसके लिए देर तब तक ही है, जब तक उसको शरीर से आसक्ति नहीं छूटती; शरीर से आसक्ति छूटने के साथ वह आत्म-साक्षात्कार कर लेता है।

इस मंत्र में हमको बताया गया है, प्रबुद्ध गुरु के अभाव में यह अन्धे को ले जाते हुए अन्धे के समान होगा। जो स्वयं ही अपनी आंख पर पट्टी बंधी होने के कारण लाचार है, वह दूसरे के आंखों की पट्टी न खोल सकता है, न उसे रास्ता दिखा सकता है। किन्तु जिसने आत्म-साक्षात्कार कर लिया है उसके द्वारा मार्गदर्शन निश्चित और अचूक होता है।

स्पष्ट है जिज्ञासा की निवृत्ति के लिए प्रबुद्ध गुरु की, वक्ता की आवश्यकता है, जो दुर्लभ है, आश्चर्य है। श्री रामकृष्ण कहा करते थे—शिव ने जब अपनी असीमता को जान लिया—शिव प्रकृति को, वे स्वयं को नियंत्रित नहीं रख सके और नृत्य करने लगे। सामान्यतः आप तब नृत्य करते हैं जब आप ऊर्जा की

प्रचुरता का अनुभव करते हैं, तभी आप नृत्य करेंगे। यदि आंप में ऊर्जा कम है, आप कभी नृत्य नहीं करेंगे। अपने भीतर ऊर्जा का एक विस्तार आपको नृत्य करवाएगा। शिव का नृत्य उसी का परिणाम है। वे स्वयं अपने में शिव प्रकृति को देखकर आश्चर्यचकित हैं। वे शिव हैं, असीम अनन्त। इसलिए, मनुष्य के 'स्व' की इस गहन खोज से ऐसे सुन्दर विचार आते हैं।

स्वामी विवेकानन्द कहते हैं—(विवेकानन्द साहित्य, खण्ड-2 पृष्ठ 212): सम्पूर्ण शास्त्र एवं विज्ञान मनुष्य के रूप में प्रकट होने वाली इस आत्मा की महिमा की कल्पना भी नहीं कर सकते....।' यह एक अद्भुत वास्तविकता है। साधारणतः हम सीमित शक्ति युक्त जैविक व्यक्ति हैं। लेकिन हम शंका करते हैं कि प्रत्येक मानव में कुछ बहुत गहन है। वह शंका आश्चर्य में बदल जाती है, जब कोई सत्य को जानने का प्रयास करता है और उसके बाद, यह एक उपलब्धि का विषय बन जाता है।

अठारहवीं सदी में फ्रांसीसी दार्शनिक और रहस्यवादी पास्कल ने कहा था, 'अंतरिक्ष में यह ब्रह्माण्ड मुझे निगल जाता है, और मुझे एक पिन के बिन्दु जैसा बना देता है। लेकिन विचार के माध्यम से, मैं इस ब्रह्माण्ड को समझता हूं।'

फिर मेरा सत्य का स्वरूप क्या है? क्या मैं केवल धूल का कण हूं? नहीं उस धूल के कण में महान् वैभव है। वही आत्मा इस आश्चर्य का विषय है। यदि इन्द्रियों के माध्यम से संसार का यह अनुभव आश्चर्यजनक है तो अरबों, खरबों गुणा अधिक आश्चर्यजनक आत्मा का अनुभव होगा जो अन्दर 'बंदी' है। इस गहन सत्य ने भारतीय मानस को शताब्दियों से आकर्षित किया है।

उपनिषदों के बाद हमारे लोग इस खोज से प्रेरित हुए। मुझे इस सत्य को जानना चाहिये। इसलिए इतने सारे लोग वनों और कन्दराओं में ध्यान को गये, केवल इसी सत्य की अपरोक्षांनुभूति के लिए। प्राकृतिक विज्ञानों की कोई तकनीक वहां हमारी सहायता नहीं कर सकती। इसलिए आपको अब गुफाओं में शिलाएं मिलती है, यहां-वहां पूरे भारत में! और इतिहास में भारत ने एक बुद्ध पैदा किया। एक व्यक्ति, जो इस बन्दी वैभव में गहरे में गया और जिसने इस सत्य को ढूंढ़ निकाला। वे सात दिनों और रातों तक अतीव आनन्द में थे और उसी वृक्ष के नीचे चल-फिर रहे थे, जहां उन्होंने सत्य की अनुभूति की थी। उस वृक्ष को बाद में 'बोधि वृक्ष' कहा गया, ज्ञान के प्रकाश का वृक्ष। अतः यह 29वां श्लोक इस आश्चर्य को व्यक्त कर रहा है। मनुष्य धूल का कण नहीं है, एक जन्तु मात्र नहीं, बल्कि मुक्त है। उसके अन्दर कुछ आश्चर्यजनक है, यह एक सत्य है। यह वेदान्त की प्रथम शिक्षा है। यह हममें से प्रत्येक में, यहां तक

कि जानवरों में, कीड़े-मकोड़ों में सर्वत्र हमारी अन्तरतम आत्मा है। अन्तर इतना सा है कि, जानवर इस सत्य को नहीं जान सकते हैं। किसी प्रबुद्ध ज्ञानेश्वरजी के स्पर्श से भैंस भी वेद-पाठ कर सकती है, प्रबुद्ध के आशीर्वाद से कागभुसुण्डी और गरुड पक्षी राम कथा का वक्ता-श्रोता बन सकते हैं। यह अत्यन्त अपवाद स्थिति है। सामान्यतः केवल मनुष्यों में ही इसे जानने की जैविक क्षमता है। यह मनुष्य की सर्वोच्च विशेषता है। विकास मनुष्य में उस स्तर तक आ गया है जहां से अपने आसपास के जगत् को और अपनी अमर आत्मा को वह इस सत्य के रूप में जान सकता है। और जब कोई इस सत्य को प्राप्त कर लेता है, वह तृप्त हो जाता है, क्योंकि मानव स्तर पर समस्त क्रम विकास की यात्रा, इस खोज के लिए है। इसके लिए प्रबुद्ध गुरु का सान्निध्य चाहिये—भगवान् बुद्ध, रामकृष्ण देव, रमण महर्षि, स्वामी विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ सदृश महापुरुषों का, गुरुओं का।

इस प्रकार जिस प्रकार परम तत्त्व की जिज्ञासा दुर्लभ है, आश्चर्यजनक है, ऐसे उसके लिए प्रबुद्ध गुरु, वक्ता दुर्लभ है, आश्चर्यजनक है। दोनों उपलब्ध हो जाने पर भी इसको बताना कठिन है—

गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—

सुनहु तात यह अकथ कहानी। समुझत बनइ न जाइ बखानी।।
ईश्वर अंस जीव अविनासी। चेतन अमल सहज सुख रासी।।
सो माया बस भयउ गोसाई। बंध्यो कीर मरकट की नाई।।
जड़ चेतन हि ग्रंथि परि गई। जदपि मृषा छूटत कठिनाई।।
तब ते जीव भयउ संसारी। छूट न ग्रंथि न होइ सुखारी।।

रा. 7/117- 1, 2, 3, 4, 5

हे तात! यह कहानी अकथनीय है, इसे तुम सावधान होकर सुनो; यह समझते बनती है किन्तु बखान नहीं की जा सकती। यह अविनाशी जीव तत्त्वतः सच्चिदानन्द परमेश्वर की अंशाभिव्यक्ति है। स्वभावतः इसमें भी वे ही गुण हैं जो इसके अंशी में है। स्वरूपतः यह मलरहित विशुद्ध चेतन तथा सहज सुख की राशि है। इसमें किसी भी प्रकार का विकार नहीं किन्तु ये इन्द्रियों के स्वामी अविद्या माया के वशीभूत है। यह कीर (तोते) मर्कट (बन्दर) के समान मोहवश स्वयं को बंधा हुआ मान बैठा है। इस माया का ही अद्भुत प्रभाव है कि जड़ और चेतन में गांठ पड़ गई है, यद्यपि ऐसा असम्भव होने से यह ग्रन्थि केवल भ्रम मात्र तथा मिथ्या है, फिर भी इस जड़-चेतन की ग्रन्थि को छुड़ाना अत्यन्त कठिन हो गया है। इस भ्रम के परिणाम से यह ईश्वर का चिदांश जीव परिवर्तनशील प्रकृति के कार्यों में आसक्त हो उनके साथ आत्मभाव से भावित हो, स्वयं भी संसारी हो

नाना प्रकार के दुःखों का भाजन बन गया है। जड़ पदार्थों में आत्मबुद्धि रूप यह ग्रन्थि जब तक नहीं छूटती तब तक ही यह अपने सच्चिदानन्दस्वरूप में अवस्थित हो सुख का भाजन नहीं बन सकता।

गोस्वामी तुलसीदासजी विनय पत्रिका में कहते हैं—

सुनिय, गुनिय, समुझिय, समुझाइय, दसा हृदय नहिं आवै।
जेहि अनुभव बिनु मोहजनित भव दारुन विपति सतावै।। 116/2

सुनता हूं, विचारता हूं, समझता हूं तथा दूसरों को समझाता हूं, पर दशा हृदय में नहीं आती। क्योंकि तुमरी माया का यथार्थ रहस्य समझ में नहीं आता और जब तक इसके वास्तविक रहस्य का अनुभव नहीं होता, तब तक मोह जनित संसार की महान् विपत्तियां दुःख देती ही रहेगी।

आत्मा की ऐसी अकथ कथा है जो कही भी नहीं जा सकती और कहे बिना भी रहा नहीं जाता। इसलिए वेद इसे नेति-नेति कहकर समझाने का प्रयास करता है। स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण भी अर्जुन को समझा पाने में कठिनाई अनुभव करते हैं। इसलिए भगवान् को गीता इतनी लम्बी 18 अध्याय तक खींचनी पड़ती है। अन्यथा दूसरे अध्याय में भगवान् का सारा मंतव्य आ गया है।

यही भाव थोड़ा हेर-फेर के साथ कठोपनिषद् में आया है—

श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः
शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विधुः।
आश्चर्यो वक्ता कुशलोस्य लब्धा-
ऽऽश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः।। (कठ. 2/7)

जो बहुतों को तो सुनने के लिए भी प्राप्त होने योग्य नहीं है, जिसे बहुत से सुनकर भी नहीं समझते, उस आत्म तत्त्व का निरूपण करने वाला भी आश्चर्य रूप है। उसको प्राप्त करने वाला भी कोई निपुण पुरुष ही होता है तथा कुशल आचार्य द्वारा उपदेश किया ज्ञाता भी आश्चर्य रूप है।

स्पष्ट है गीता उपनिषदों का ही सार है, मक्खन है। सहज-सरल-सुगम रूप है।

एक तो जिज्ञासा दुर्लभ, फिर इसका कुशल वक्ता दुर्लभ, फिर इसका कथन करना कठिन और कथन सुनकर भी समझ में आना कठिन, हृदयंगम करना कठिन इसलिए भगवान् कहते हैं कोई इस आत्मा को आश्चर्य के समान देखता है, कोई दूसरा इसका आश्चर्य के साथ कथन करता है और कोई आश्चर्य के समान सुनता है और सुनकर भी जान नहीं पाता है।

देही नित्य-मवध्योऽयं, देहे सर्वस्य भारत।
तस्मात्-सर्वाणि भूतानि, न त्वं शोचितु-मर्हसि।। 2/30 गीता

हे अर्जुन! यह आत्मा सबके शरीर में सदा ही अवध्य है; इस कारण से (इसलिए) समस्त प्राणियों के लिए अर्थात् किसी भी प्राणी के लिए तू शोक करने के योग्य नहीं है (अर्थात् तुझे शोक नहीं करना चाहिए)।

आत्मगीत का उपसंहार करते हुए भगवान् कह रहे हैं सभी शरीरों में एक ही आत्मा अवध्य रूप से विद्यमान है। पूरे आत्मगीत में भगवान् ने यही बताया है— आत्मा न मरता है और न मारता है। तब निम्नलिखित शंकायें पैदा हो सकती हैं—

(क) मरने-मारने के झंझट में युद्ध अथवा संघर्ष में पड़े ही क्यों? अर्जुन भगवान् से यही प्रश्न करता है कि यदि कर्म (युद्ध) से ज्ञान (आत्मज्ञान) ही श्रेष्ठ है तो मुझे घोर कर्म (युद्ध) में आप क्यों लगा रहे हो।

(ख) यदि सब में आत्मा (मैं) ही छिपा बैठा है या नारायण ही विराजमान है तो मुहम्मद गोरी, गजनवी के अत्याचारी आक्रमण का प्रतिरोध क्यों करें? वे भी नारायणरूप हैं।

(ग) यदि आत्मा न मरता है न मारता है तो न्यायालय में लाखों यहूदियों का हत्यारा Eachman कह सकता है कि मारना, मरना झूठ है। वास्तव में मैं (आत्मा) किसी को मारता ही नहीं और मार सकता भी नहीं यानी कोई व्यक्ति मेरे द्वारा मारा जा सकता ही नहीं।

(घ) देश विभाजन के समय दंगों में बहुत से हिन्दू-सिक्ख गांधीजी के पास अपना दु:ख रोने के लिए आए और कहा, मुसलमान हमारी मां-बहनों की इज्जत लूट रहे हैं और लाखों हिन्दुओं का कत्लेआम कर दिया है। तो गांधीजी अपने भोले भाव में कहते हैं कि हिन्दू धर्म यह मानता है कि आत्मा अमर है। केवल शरीर ही मरता है जो कि मिथ्या है। इसलिए इसमें क्या अन्तर पड़ता है कि हिन्दू अपने घर में रोग से मरे या मुसलमान के छुरे से मरे? आत्मा तो अमर ही है। इसी से क्रुद्ध होकर कुछ नवयुवकों ने गांधीजी पर घातक प्रहार का षड्यंत्र रचा।

कुछ लोग भगवद्गीता को युद्धशास्त्र अथवा हिंसासमर्थक संगीत कहते हैं। उनका तर्क है कि अर्जुन युद्ध से उपराम होकर क्षत्रिय के कर्तव्य से भी श्रेष्ठ ब्राह्मण के कर्तव्य को करने को प्रस्तुत था। शान्ति के श्रेष्ठ कर्तव्य से हटाकर अर्जुन को पुन: हिंसा के कर्म में लगाना निश्चय ही युद्ध और हिंसा का ही प्रचार है। पर वास्तव में गीता युद्धशास्त्र न होकर कर्मयोग शास्त्र है। युद्ध भी एक कर्म है। यह संयोग की बात है कि अर्जुन क्षत्रिय है। धर्मयुद्ध करना उसका कर्तव्य कर्म है और

गीतोपदेश की पृष्ठभूमि तथा उपदेश का रंगमंच एक महायुद्ध के महासमर का रणक्षेत्र है। किन्तु इस विशिष्ट पृष्ठभूमि में अति भयानक प्रतीत होने वाली देश-काल, पात्र-परिस्थिति में भी ब्रह्मविद्या और योगशास्त्र का समन्वित संदेश दिया जा सकता है। यही गीता ज्ञान की विशेषता है।

We have a singing and ringing philosophy हमारा गीता दर्शन संगीत के गुणों से तरंगायमान है। युद्ध में मानव मन की. लड़ने और संघर्ष करने की प्रवृत्ति कार्यशील होती है। परिणामस्वरूप उसका क्रोध का संवेग भड़क उठता है। क्रोध में अपने आपको नियंत्रण में न रख सकने के कारण प्रबल रोष एवं जोश में, क्रोध के पागलपन में, क्रोध के कारण सामने वाले व्यक्ति अथवा जनसमूह पर प्रहारकर उन्हें चोट पहुंचाने, क्षति पहुंचाने अथवा इससे भी आगे बढ़कर उन्हें जान से मारने पर मनुष्य तुल जाता है। व्यक्तिगत रूप में इसे हत्या या हत्या का प्रयास कहा जाएगा और सामूहिक रूप से इसे युद्ध कहा जाता है। युद्ध का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण यही है Instinct of pugnacite (लड़ने की प्रवृत्ति), Emotion of anger—wild rage = (पाशविक क्रोध), Physical assault (शरीर रूप में आक्रमण करना) Killing—mass killing battle = war.

गीतोपदेश से पहले की महाभारत की कथा से स्पष्ट होता है कि युद्ध का सारा उत्तरदायित्व अत्याचारी कौरवों पर ही था, पांडवों पर नहीं। कौरवों की अन्याय, अत्याचार, लोभ-लूट की प्रवृत्ति ही सारे भीषण युद्धकाण्ड का मूल कारण बनी। राज्य पांडु का था और उसके वैध उत्तराधिकारी पांडव ही थे। राजा पांडु ने मरते समय अपने अंधे भाई धृतराष्ट्र को तब तक के लिए राज्य का संरक्षक बनने को कहा था जब तक युधिष्ठिर राजतिलक के लिए वयस्क नहीं हो जाते हैं। किन्तु धृतराष्ट्र संरक्षक के स्थान पर संम्भक्षक बन गया। वह राष्ट्र को अपने व्यक्तिगत लोभ के पंजे के नीचे धर-पकड़कर बैठ गया। वह धृतराष्ट्र बन गया और राष्ट्र के वास्तविक स्वामी पांडव हतराष्ट्र बन गए। वास्तविक उत्तराधिकारियों को विष देकर मारने, धोखे के पासे फेंककर राज्य लूटने, उनको माता सहित लाक्षागृह में जलाने, भरी सभा में भाभी को वस्त्रहीनकर अपमानित करने, उन्हें 12 वर्ष का वनवास देने और वनवास और अज्ञातवास-काल में भी जान से मारने का दुष्ट प्रयास धृतराष्ट्र (पुत्रों) कीं ही काली करतूतें थी। अत: लोभवृत्ति के साथ लड़ने की प्रवृत्ति भी उन्हीं की ही प्रबल थी। एक तो चोरी और ऊपर से सीनाजोरी! प्रकृति ने मानव को जो लड़ने की मूल प्रवृत्ति दी है वह निरुद्देश्य नहीं दी है। उसका जीवनरक्षा एवं सत्त्वरक्षा के लिए महत्त्व है। जब कोई आततायी किसी दुर्बल जीव को लूटने या मारने के लिए आता है तब भयाक्रान्त जीव की प्रतिरक्षा के हेतु से लड़ने की प्रवृत्ति जाग उठती है। वह क्रोध में भरकर आततायी को ललकारता

है। उस क्रोध के आवेग में उसकी सोयी हुई शक्ति जाग उठती है और बहुत बार बलवान आततायी भी दुर्बल व्यक्ति या अबला नारी की सत्त्वरक्षा के लिए प्रकट क्रोध से हतप्रभ हो जाता है। सज्जन व्यक्ति अपनी इस लड़ने की प्रवृत्ति का न्याय नीति की रक्षा के लिए सदुपयोग करता है और दुर्जन व्यक्ति अन्याय और अनीति करने के लिए इसका दुरुपयोग करता है। अतः यदि युद्ध की बला सिर पर आ ही पड़े तो अन्याय-अनीति के सामने घुटने टेक देना एक बहुत बड़ा अनैतिक कर्म होगा। क्योंकि इससे अत्याचार को बढ़ावा ही मिलेगा। अन्याय करना पाप है तो अन्याय सहना महापाप है। इसलिए अन्य सब उपाय व्यर्थ हो जाने पर अन्याय का प्रतिकार (आततायी को दण्ड) अथवा युद्ध करना धर्म है। नहीं तो न्याय, धर्म, नैतिकता पर विश्वास उठ जाएगा और समाज अनीति पर चलकर नष्ट होगा। देवों के अंश से उत्पन्न धर्मात्मा पांडव और जिनके साथ स्वयं भगवान् हैं उन्हें ही न्याय मिला नहीं तो हम भला किस खेत की मूली हैं? अतः धर्म न्याय पर लोगों की निष्ठा ही उठ जाएगी और धीरे-धीरे पूरा समाज अनीति पर चलकर सर्वनाश को प्राप्त हो जाएगा। इस विषय में भगवान् मनु राजा का कर्तव्य निर्धारित करते हुए कहते हैं—

गुरु वा बालवृद्धो वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम्।
आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्।। मनु स्मृति

भले ही वह गुरु हो, एक बालक हो या वृद्ध ब्राह्मण हो अथवा बहुपाठी विद्वान्। लेकिन यदि वह आततायी के रूप में आता है तो बिना किसी हिचक के उसका वध कर देना चाहिए।

यदि कोई पूछे कि आततायी के लक्षण क्या हैं तो वसिष्ठ स्मृति (3/16) उत्तर देते हुए कहती हैं—

अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः।
क्षेत्रदाराहरश्चैव षडेते आततायिनः।।

आग लगाने वाला, जहर देने वाला, हाथ में शस्त्र लेकर मारने आने वाला, धन लूट लेने वाला, जमीन पर जबरदस्ती कब्जा कर लेने वाला तथा पत्नी का अपहरण करने वाला—ऐसे छह प्रकार के आततायी होते हैं।

ये सारे लक्षण कौरवों में चरितार्थ हैं। अतः ऐसे आततायी दुष्ट को दण्ड देना धर्म है, अधर्म नहीं। अहिंसा है, हिंसा नहीं। इसीसे समाज में अहिंसा प्रतिष्ठित रहती है। अतः महाभारत का महायुद्ध पापी कौरवों द्वारा धर्मात्मा पांडवों पर थोपा गया युद्ध था जो कौरवों ने किया। पांडवों ने युद्ध टालने के सब उपाय समाप्त हो जाने पर भगवान् एवं माता के आदेश से आत्मरक्षार्थ धर्मयुद्ध किया।

गीता धर्मशास्त्र है, युद्धशास्त्र नहीं। धर्मरक्षार्थ अन्य सभी उपाय विफल हो जाने पर धर्मयुद्ध करना भी धर्म के अन्तर्गत है, युद्ध के अन्तर्गत नहीं।

(क) युद्ध में महत्ता युद्ध की ही होती है। उसमें हेतु स्वार्थ, लोभ या अहंकार होता है। धर्मयुद्ध में महत्ता धर्म की होती है। युद्ध उसके लिए एक अन्तिम अप्रिय साधन रूप है।

(ख) युद्ध स्वार्थप्रेरित होकर किया जाता है, धर्मयुद्ध न्याय नीति की रक्षा के लिए निःस्वार्थ भाव से किया जाता है—

सुख-दुःखे समे कृत्वा, लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व, नैवं पाप-मवाप्स्यसि।। 2/38

'सुख और दुःख को, लाभ और हानि को, जय और पराजय को समान समझ और युद्ध के लिए तैयार हो जा। तब तुझे पाप नहीं लगेगा।'

(ग) युद्ध वैरभावना से होता है। धर्मयुद्ध मित्र-शत्रु, निन्दा-स्तुति, लाभ-हानि, सुख-दुःख को समान समझकर शुद्ध कर्तव्यभावना से होता है।

(घ) युद्ध और धर्मयुद्ध में अन्तर वैसा ही है जैसा एक छुरेबाज के पेट काटने में और एक शल्य चिकित्सक के पेट चीरने में अन्तर है। हत्यारा हत्या कर्म को ही प्रमुख मानता है और प्राणहानि ही उसका उद्देश्य है। किन्तु सर्जन रोगी की प्राणरक्षा के उद्देश्य से अन्य सब उपाय निष्फल हो जाने पर बाध्य होकर छुरे द्वारा पेट को काटने का अप्रिय एवं अनिवार्य साधन अपनाता है। साध्य स्वास्थ्य और साधन शल्यचिकित्सा है। छुरेबाज हत्यारे को कठोर दण्ड मिलता है किन्तु ऑपरेशन करने वाले शल्य चिकित्सक को पुरस्कार मिलता है। जिस प्रकार मानव शरीर में मस्तिष्क का कार्य विचार करना, भुजाओं का कार्य रक्षा करना, पेट का कार्य अन्नग्रहण एवं पाचन करना, पांव का कार्य आवागमन एवं सेवा करना है। इसी प्रकार समाज के शरीर में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र—इन सबके परस्पर सहयोग की व्यवस्था से समाज चल सकता है अन्यथा नहीं। इसी भाव को वेद के मंत्र में चारों वर्णों को एक ही विराट्पुरुष ब्रह्म के अंगों के रूप में दर्शाया गया है—

ब्राह्मणोऽस्य मुखामासीद्बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्या ँ शूद्रो अजायत।।

अर्थात् एक ही ब्रह्म के मुख से ब्राह्मण, भुजाओं से क्षत्रिय, मध्य भाग से वैश्य और चरणों से शूद्र उत्पन्न हुए। यह हमारी वर्णव्यवस्था प्राकृतिक एवं ईश्वर निर्मित है। किसी पण्डा-पुरोहित द्वारा निर्मित नहीं। इसमें परस्पर सहयोग और एकात्मता का भाव है, जात-पांत के भेदभाव का नहीं।

मस्तिष्क पूरे शरीर के हित के लिए विचार करता है। यदि वह अपना मस्तिष्क का कार्य (विचार करना) छोड़कर पेट का कार्य भोजन करना और पचाना करने लगे तो शरीर कुछ क्षण भी नहीं चल सके। यदि पेट अपना कार्य छोड़ दे और पांव का कार्य करने लगे या शरीर पर पड़ने वाली चोट से रक्षा के लिए आगे दौड़ने लगे तो भी न पेट का कल्याण है न शरीर का। इसी प्रकार यदि क्षत्रिय अपना कर्तव्य छोड़ दे और अवसर आने पर कायरता के कारण या मोह के कारण ब्राह्मण के कर्तव्य को करना चाहे तो भी समाज में बड़ी अव्यवस्था पैदा हो जाएगी। जिस सेना के अधिकारी को सैनिक का प्रशिक्षण दिया गया, सैनिक सम्मान एवं सलामी दी गई। भोजन, वर्दी एवं ऊंचा वेतनमान दिया गया। वह शान-शौकत और अपनी अफसरी का घमण्ड दर्शाता रहा। पर जब चीन या पाकिस्तान का आक्रमण होने पर उसे युद्ध के मोर्चे पर जाने का आदेश मिला और वह उस समय अर्जुन के समान युद्ध की हिंसा, रक्तपात आदि बुराइयों का बखानकर उसके स्थान पर ब्राह्मण के विद्यादान के अथवा ब्रह्म-चिन्तन के कर्तव्यों की प्रशंसा करने लगे और अपने स्वधर्म को त्यागकर युद्ध के मोर्चे से भाग आए तो उसे कौन धर्मात्मा कहेगा? वह तो कर्तव्यभ्रष्ट, देश को असमय पर धोखा देने वाला पापी गिना जाएगा।

युद्धकाल में भी सभी वर्णों को अपने-अपने कर्तव्य पथ पर डटे रहना चाहिए। यदि अध्यापक विद्यादान का कर्तव्य छोड़कर युद्ध करने को भागे तो युद्ध में लड़ने वाले सैनिक के बच्चों की शिक्षा खंडित हो जाएगी। यदि वैश्य भी युद्ध भूमि में पहुंच जाए तो युद्ध के मोर्चे पर लड़ने वाले सैनिकों के लिए भोजन एवं अन्य साधन उपलब्ध कराने की सारी व्यवस्था ही बिगड़ जाएगी। सैनिक के गोला-बारूद से भी अधिक महत्त्वपूर्ण उसका दैनिक भोजन है। यदि उसको भोजन ही न मिले तो वह बिना शत्रु की गोली के अपने आप ही मर जाएगा। इसलिए भोजन व्यवस्था को सेना की Life line कहा जाता है। इसी प्रकार यदि सफाई मजदूर अपना सहयोग न करे तो सैनिक अपने ही मोर्चों पर अपने ही शरीर की गन्दगी से, रोगाणु के कीटाणुओं का शिकार होकर बिना शत्रु की गोली के रोगों से ही मर जाएगा। इस प्रकार चारों वर्णों द्वारा अपना-अपना कर्तव्य परस्पर सहयोग तथा राष्ट्रकल्याण के भाव से (राष्ट्रयज्ञ भाव से) करने पर ही एक युद्ध का मोर्चा जीता जा सकता है। इसी प्रकार विचारों का मोर्चा, खाद्य का मोर्चा, सेवा व सफाई आदि सभी मोर्चों पर चारों वर्णों का अपना-अपना कर्तव्य करते हुए यज्ञभाव से परस्पर सहयोग अनिवार्य है। जो अपना कर्तव्य छोड़ता है वह अकर्मण्यता या कर्तव्यहीनता का दोषी है। जो इसके साथ दूसरे के कर्तव्य में हस्तक्षेप करता है वह समाज में अव्यवस्था फैलाने का भी दोषी है। दूसरे

का कर्तव्य वह उत्तम रीति से कर भी नहीं सकेगा क्योंकि उसकी प्रवृत्ति और प्रशिक्षण उसके अनुरूप नहीं है। और अपना कर्तव्य छोड़ने से जो क्षति होगी उसकी पूर्ति भी कठिन हो जाएगी।

इसलिए गीता में आत्मा की अमरता के सिद्धान्त के तुरन्त पश्चात् भगवान् ने स्वधर्म की महत्ता का बखान किया। तात्त्विक स्तर पर आत्मा की अमरता से ऊंचा सिद्धान्त नहीं और नैतिक स्तर पर निष्कामभाव से स्वधर्मपालन से ऊंचा कोई दूसरा सिद्धान्त नहीं है।

तत्त्व दृष्टि से कोई मरता नहीं, किन्तु लोक मर्यादा हेतु संसार के रंगमंच पर दुष्टों का संहार करना अनिवार्य। जैसे नाटक में किसी के मारने पर कोई मरता नहीं। नाटक के पूर्व रामजी और रावण जीवित हैं। नाटक के मंच पर राम के धनुष बाण से रावण आहत होकर छटपटाते हुए मरता है। फिर खेल समाप्त होने पर दोनों आपस में अभिवादन करते हैं और परस्पर में एक-दूसरे की प्रशंसा करते हैं। अहा! आपने तीर कितने सुन्दर ढंग से चलाया तो दूसरा, आपने मरने का कितना सुन्दर अभिनय किया। जिस प्रकार नाटक में रावण नहीं मरता। उसी प्रकार संसार रूपी नाटक में दुष्टों को उनकी दुष्टाई का फल देना समाज की व्यवस्था को बनाए रखने के लिए आवश्यक है।

ताकि समाज में धर्म पंथ प्रतिष्ठा बनी रहे। उनके प्रभाव से वे भी उन्मादी नहीं बनें। यानी दृष्टि वेदान्त की पर, प्रसंग आने पर व्यवहार की उपेक्षा नहीं। व्यवहार तो वर्णाश्रम के आधार पर धर्मशास्त्र एवं लौकिक मर्यादा के अनुसार होना चाहिए। दृष्टि वेदान्त की रहने से किसी के ऊपर अत्याचार अन्याय का अवसर नहीं रहेगा। दर्शन सर्वत्र सम रहे पर वर्तन तो गुणों के आधार पर ही होना चाहिये। तभी व्यवस्था सम्यक रहेगी।

यह तत्त्व दृष्टि प्रथम में सुपाच्य नहीं होगी।

(ग) इसका दुरुपयोग भी, साधारण लोग अपनी रक्षा के लिए कर सकते हैं। या इस तत्त्व की आड़ में अत्याचार अनाचार भी कर सकते हैं। जैसे डकैत द्वारा लोगों को सताया जाना, मारा जाना और फिर अपनी रक्षा के लिए मजिस्ट्रेट के सामने यह दलील पेश करना कि श्रीकृष्ण जैसे दार्शनिक का कहना है कि तत्त्व की दृष्टि से न तो कोई मर सकता है और न ही मारा जा सकता है तब मैं हत्यारा कैसे? अतः श्रीकृष्ण ने तुरन्त बाद ही में स्वधर्म की महत्ता बताई जिससे लोक मर्यादा बनी रहे। जो हमारे पहले से निर्धारित कर्तव्य हैं वही स्वधर्म है। तब तत्त्वज्ञान के साथ-साथ स्वधर्म पालन आवश्यक है। स्वधर्म का त्याग कभी नहीं होना चाहिए। चाहे साधारण अवस्था हो। विपरीत स्थिति में तो और भी त्यागना

नहीं चाहिए। स्वधर्म का पालन करते हुए मर जाना श्रेयस्कर है। उसे त्यागना किसी भी हालत में नहीं। Duty supreme है।

स्वधर्म : (1) अपने-पराये के भेद के ऊपर। न्याय में सब समान।

(2) परिस्थिति निरपेक्ष। प्रत्येक परिस्थिति में स्वधर्म का पालन होना चाहिए।

यदि जंगल में ब्रह्मज्ञान वरेण्य है तो युद्ध में भी लागू होना चाहिए। शान्ति में और क्रान्ति में यानी सब स्थितियों में।

(3) धर्म व्यक्तिगत, कुलतंत्र, जातिगत इच्छा-अनिच्छा से ऊपर है।

(4) **धर्म** : अच्छे-बुरे फल, अनुकूल-प्रतिकूल परिणाम से मुक्त है। अच्छे कर्म द्वारा प्रतिकूल परिणाम भी मिले (भगतसिंह को फांसी भी मिले) तो वरेण्य है, बुरे कर्म द्वारा यदि अनुकूल परिणाम मिले (Black Market द्वारा धन) तो भी बुरा। इसलिए स्वधर्म पालन निष्काम कर्मयोग की भावना से होना चाहिए।

Dharm—'Duty' should not be at the mercy of—

(1) Circumstances

(2) Personal likes or dislikes

(3) Favours and Prejudice (राग-द्वेष)

(4) Kinsman and Aliens (अपना-पराया)

(5) Favourable or unfavorable fruit of consequence (Kant).

Moral law is categoricaly imperative

नैतिक नियम स्पष्ट रूप से पात्र, परिस्थिति, देश-काल निरपेक्ष आदेश है। (कान्ट)

Imperative—अनिवार्य आदेश (not optional)

Categorical स्पष्ट रूप से परिस्थिति निरपेक्ष (not conditional)

इस प्रकार अपने स्वधर्म का विचार करके भी तुमको कभी कम्पित नहीं होना चाहिए। क्योंकि स्वधर्म युद्ध से बढ़कर क्षत्रिय के लिए अन्य कोई भी कल्याणकारी कार्य नहीं है।'

आत्मा अमर है इसलिए युद्ध में स्वयं के मरने अथवा दूसरों के मारे जाने का भय छोड़कर कर्तव्यपालन करो। यह प्रथम तात्त्विक उपदेश भगवान् ने दिया। मनुष्य का स्वभाव है कि वह अपने मन की दुर्बलताओं का कोई तार्किक आधार

खोजता है ताकि वह लोकनिंदा से बच सके। उसे मनोविज्ञान तथा समाज शास्त्र में Rationalisation की प्रक्रिया कहा जाता है। कोई कार्य Rational तो नहीं है, तर्कसम्मत भी नहीं है पर उसे तर्कसम्मत किया जाता है। पहले तो बिना सोचे विचारे, किन्तु बाद में लोकनिन्दा या सामाजिक दण्ड से बचने के लिए कोई भाषा की तोड़-मरोड़, कानून की मनमानी व्याख्या, तर्क-कुतर्क की चालबाजी से जनता को ठगने के लिए तर्कसम्मत दिखने वाला कारण खोज लिया जाता है। इसे Rationalisation कहते हैं। कानूनी तौर पर किसी को मृत्युदण्ड मिलना Rational हो सकता है। किन्तु कानून अपने हाथ में लेकर मार डालना और बाद में मारने के औचित्य के लिए तर्क खोजना Rationalisation है। उदाहरणार्थ—यूरोप-अमेरीका के गोरे लोग वहां के नीग्रो लोगों को जातिविद्वेष के कारण युगों से सताते चले आए हैं। ऊंची शिक्षा एवं ऊंचे पदों पर पहुंचकर भी उनका हब्शी लोगों के प्रति अत्याचार का पूर्वाग्रह बना हुआ है। लोकनिंदा से बचने के लिए उन्होंने नीग्रो लोगों के प्रति अपने अत्याचार के लिए Rationalise करके कुछ तर्क खोज लिए हैं, जैसे नीग्रो लोगों के शरीर से एक बदबू निकलती रहती है, जो बदबू गोरे लोगों के स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है। इनका रक्त गोरों के रक्त से भिन्न है। इनकी टांगें गोरे लोगों के पांवों से अधिक लम्बी हैं इसलिए दौड़ एवं अन्य खेलों में ये टांगों के कारण आगे निकल जाते हैं। इसलिए खेलों में न्याय नहीं हो सकता है। गोरे लोग ऐसे ही मनगढ़न्त तर्क खोजकर नीग्रो लोगों पर अत्याचार का Rationalisation करते रहते हैं।

किसी ऊंचे सिद्धान्त का इस प्रकार (अन्याय के लिए) दुरुपयोग करना एक घृणित कार्य है। इसलिए भगवान् ने आत्मा के तात्त्विक उपदेश के बाद स्वधर्म का नैतिक उपदेश दिया। तात्त्विक दृष्टि से जब आत्मा मरता ही नहीं तब कोई भी चालाक हत्यारा तत्त्वज्ञान की बात कहकर लोकनिंदा अथवा सामाजिक दण्ड से बचने का प्रयास कर सकता है। वह गीता का सिद्धान्त बताकर कहता है 'जो इसे मरने वाला या मारने वाला जानते हैं वे दोनों ही नहीं जानते क्योंकि यह न मरता है न मारा जाता है।' तत्त्वज्ञान की दृष्टि से 'नायं हन्ति न हन्यते' कोई भी हत्या का अभियोग नहीं चलना चाहिए, क्योंकि वास्तविक हत्यारा कोई है ही नहीं और वास्तव में कोई मरा भी नहीं है। भगवद्गीता ने ऐसी गलत व्याख्या की सम्भावना को निर्मूल करने के लिए तत्त्वज्ञान और नीतिशास्त्र का समन्वय प्रस्तुत किया। गीता की पुष्पिका में हम पाते हैं—ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे। ब्रह्मविद्या गीता का तत्त्वदर्शन है और योगशास्त्र (कर्मयोग शास्त्र) गीता का नैतिक दर्शन है। ब्रह्मविद्या सिद्धान्त है (Theory) और योगशास्त्र उसकी क्रियासाधना है। यदि सिद्धान्त को कृति में न उतारा जा सके तो वह सिद्धान्त धोखे में डालने वाला है। सिद्धान्त

प्रत्यक्ष साधनां द्वारा सिद्ध होना चाहिए अन्यथा वह सिद्धान्त ही नहीं है। जिसका प्रतिफलन कृति द्वारा सिद्ध हो वही सिद्धान्त है।

ब्रह्मविद्या का आख्यान तो उपनिषदों में भी बहुत सुन्दर किया गया है किन्तु गीता की उपनिषदों से भी बढ़कर महत्ता इसी बात में है कि प्रकृति के शान्त एकान्त प्राङ्गण में निश्चिन्त एवं समस्याहीन वातावरण में जगत् के कोलाहल से दूर जिस ब्रह्मज्ञान का उपदेश उपनिषदों में किया गया, इसी ब्रह्मज्ञान के महानतम सिद्धान्त को जीवन की भीषणतम परिस्थिति में भी प्रत्यक्ष कृति में उतारने का दुर्लभ एवं दुष्कर कार्य गीता ने किया। गीता में आत्मज्ञान और स्वधर्मपालन का समन्वय है। ब्रह्मज्ञान मोक्षशास्त्र है कर्तव्यपालन धर्मशास्त्र है। अत: गीता मोक्षशास्त्र के साथ-साथ धर्मशास्त्र भी है। इसलिए गीता में ज्ञानकर्मसमन्वय है। गीता को न ज्ञानी का आलस्य सहन होता है और न अज्ञानी का कर्म। इसलिए गीता की दृष्टि से अनैतिक कर्मी तत्त्वज्ञान की ओट लेकर चालाकी से छूट नहीं सकता। मिथ्याचारी एवं दम्भी व्यक्ति की भगवान् ने स्वयं भर्त्सना की है। सच्चा ज्ञान पवित्रकर्म में प्रतिफलित होना चाहिए। अन्यथा वह केवल ज्ञान का मिथ्या दम्भमात्र ही है।

ऊंचे ज्ञान के पश्चात् भी कर्म करने की आवश्यकता का निरूपण करते हुए भगवान् कई कारण बताते हैं—

(1) शारीरिक कारण—बिना कर्म के शरीर क्षण भर भी नहीं चल सकता।

(2) मानसिक कारण—मन निरन्तर कुछ न कुछ संकल्प-विकल्प करता ही रहता है। इस चंचल मन को काबू में रखना बड़ा कठिन कार्य है। यदि इसे पवित्र नैतिक संकल्प नहीं देंगे तो अपने आप अनैतिक नीच संकल्पों की ओर झुकेगा। पहाड़ी के ऊपर ले जाते हुए भारी रोलर को ऊपर ले जाना छोड़ दिया जाए तो वहां से अपने आप नीचे लुढ़क आता है। इसलिए दुष्ट संकल्पों से बचने के लिए पवित्र नैतिक संकल्प करना अनिवार्य कर्तव्य है।

(3) प्राणिक कारण—प्राणियों के प्राण निरन्तर चलते रहते हैं। श्वास लेना, छोड़ना, हृदय का स्पन्दन, नाड़ी की गति आदि सब कर्म हैं। ये मनुष्य के संकल्प के बिना भी चलते रहते हैं। अत: कर्म से सर्वथा बचना भी कभी सम्भव ही नहीं।

(4) नैतिक कारण—शुभ कर्मों से मानव का नैतिक विकास होकर आध्यात्मिक उन्नति भी होती है। अशुभ कर्मों द्वारा नैतिक पतन एवं आध्यात्मिक ह्रास होता है। इसलिए ज्ञान के हित के लिए भी शुभ कर्म आवश्यक है।

(5) चित्त शुद्धि—निष्कामभाव से कार्य करने से ही चित्त शुद्ध होता है। तभी शुद्ध 'मैं' में आत्मजिज्ञासा उत्पन्न होती है, ज्ञान धारण करने की पात्रता आती है।

(6) ज्ञान साधना हेतु—ज्ञान सत्यम् है और उस तक पहुंचने का साधन ऋतम्, नैतिकता है। Without morality there is no spirituality. बिना नैतिकता के हमारी अध्यात्म में न तो गति होती है और न ही उसमें स्थित हो सकते हैं।

(7) लोक शिक्षण हेतु कर्म आवश्यक है। श्रेष्ठ पुरुष जैसा आचरण करते हैं अन्य लोग वैसा ही आचरण करते हैं। वे जिसे श्रेष्ठ कह करके प्रमाणित कर देते हैं लोग उसी के अनुसार वर्तन करने लगते हैं। गांधीजी ने जिसको सत्य प्रमाणित किया हजारों लोग उनके पीछे चल पड़े। ऐसे ही सुभाष बोस ने जिसे प्रमाणित किया उसके पीछे हजारों लोग चल पड़े। ऐसे ही विवेकानन्द के पीछे, संघ (आर.एस.एस.) के पीछे कितने लोग चल पड़े हैं।

(8) लोक संग्रह हेतु—राजा जनक एवं भगवान् स्वयं का उदाहरण देते हैं। भगवान् कहते हैं न मेरे को कोई प्राप्तव्य शेष है और न ही कोई कर्तव्य ही शेष है। पर मैं (स्वयं श्रीकृष्ण) कर्म छोड़ दूं तो मेरी अन्तर्योग्यता को तो कोई पहचानेंगे नहीं, मेरी देखादेखी सब लोग निकम्मे हो जायेंगे और कर्तव्यों की गड़बड़ी से प्रजाओं का नाश हो जाए। इसलिए जो कर्तव्य कर्म त्यागता है वह मानो सारी मानवता का हत्यारा बनता है।

(9) ज्ञान परीक्षण हेतु—अन्यथा झूठा दम्भ पल सकता है कि मैं ब्रह्मज्ञानी हूं। बहुतों के जीवन को देखने में ऊपर से ब्रह्मज्ञानी बनते हैं पर वैसा अवसर आने पर सारा ब्रह्मज्ञान भूल जाते हैं। जैसे परिवार में या अपने पर शारीरिक कष्ट आने पर सब ब्रह्मज्ञान भूल जाते हैं। जिनका स्वयं का जीवन एवं अपने बच्चे सब well settled हैं, प्रतिभावान हैं, वे स्वयं वेदान्त पढ़कर ब्रह्मज्ञानी बन जाते हैं। क्योंकि वेदान्त तो बहुत सरल है। बुद्धि तुरन्त पकड़ लेती है। पर जब उनके स्वयं पर या परिवार पर कष्ट आता है तब वे सारा वेदान्त भूल जाते हैं। मां-बहन की गाली मुँह से निकालने लगते हैं।

(10) पारमार्थिक स्तर और व्यावहारिक स्तर का सम्बन्ध—व्यावहारिक स्तर पर जो कुकर्मी होगा वह ज्ञानी कैसे हो सकता है? एक पिता की अपनी ही पुत्री पर बुरी नीयत, पिता (पुत्री से) मैं तो श्रीकृष्ण स्वरूप हूं, मेरे से कैसा दुराव! पुत्री इस धर्मसंकट से रक्षा के लिए एक साधु का आश्रय लेती है और अपना संकट बताती है। तब साधु ने कहा—मुझे घर में भोजन के लिए आमंत्रित करो। मेरे लिए हलवा और पिता के लिए मलवा परोसकर लाना। पिता अपने लिए मलवा देखकर हक्का-बक्का रह गया। तब साधु ने कहा—जब सब ब्रह्म है तो हलवे और मलवे में क्या भेद है? भेद व्यावहारिक दृष्टि से है और यह भेद जीवनपर्यन्त, सृष्टिपर्यन्त रहेगा। अतः जीवनपर्यन्त व्यावहारिक भेद का पालन अनिवार्य है।

प्रारम्भ में निष्काम स्वधर्मपालन चित्तशुद्धि करके ज्ञान के विकास में सहायक होता है, फिर दूसरों की शिक्षा के लिए आदर्श प्रस्तुत करता है। मुक्ति का साधन बनता है। फिर ज्ञानी की ज्ञान की कसौटी बनता है। पुनः पतन से बचाने के लिए सम्बल बनता है। जो ज्ञानप्राप्ति के बाद भी स्वधर्मपालन करता रहता है उसके पतन की सम्भावना बहुत कम होती है। अन्यथा बड़े-बड़े ज्ञानी भी फिसल जाते हैं। जो स्वयं पारमार्थिक स्तर तक पहुंच चुके हैं और उन्हें स्वयं कर्तव्यकर्म करने की आवश्यकता कुछ भी शेष नहीं हैं, उन्हें भी पीछे के व्यावहारिक स्तर वाले लोगों के मार्गदर्शन के लिए लोकसंग्रह की भावना से कर्तव्य करते जाना चाहिए। जो शुभ कर्म उनके ज्ञान की सीढ़ी था, ज्ञान प्राप्ति के बाद उनको पतन से बचाने वाला सम्बल बना, वह अब पीछे वाले अन्य लोगों के लिए सीढ़ी बन जाएगा। यदि हमने गंगा पार कर ली तो नौका को तोड़ने या जलाने में मूर्खता होगी। अपनी मुक्ति के पश्चात् अन्य जीवों के समुचित मार्गदर्शन के लिए शुभ कर्म की परम्परा जारी रखनी चाहिए।

पारमार्थिक स्तर पर एक आत्मा ही है अन्य कुछ नहीं। व्यावहारिक स्तर पर अनेक जीवात्मा अपना-अपना अहंकार लपेटे हुए एक-दूसरे से संघर्ष एवं क्रिया-प्रतिक्रिया कर रहे हैं। जिस आततायी को मारने का आदेश मनु भगवान् ने दिया है वे भी तत्त्वतः आत्मा ही हैं। दूसरे शब्दों में वे मैं ही है। तात्त्विक दृष्टि से यह प्रश्न उठता है कि मैं ही मैं को कैसे मारे? इस समस्या का समाधान यह है कि मैं अपने सच्चे मैं को नहीं मार रहा हूं। मैं अपने उस कल्पित झूठे मैं को मार रहा हूं जो गजनी, गोरी आदि आततायी का अहंकारी चोला पहनकर मेरे असली मैं को दबाने के लिए आया है। इस प्रकार अपने अहंकार की हत्या करना पाप नहीं एक महत्त्वपूर्ण पुण्य कृत्य है। उसी प्रकार जो आत्मा लोकव्यवस्था एवं लोकसंग्रह का नाश करने के लिए आततायी का वेश पहनकर संसार के रंगमंच के नाटक पर आया है, वह एक दृष्टि से हमारे कर्तव्य की परीक्षा लेने आया है कि क्या हम सज्जन-दुर्जन को पहचानने का विवेक रखते हैं और क्या हम लोकसंग्रह हेतु स्वधर्मपालन करने हेतु आततायी को दण्ड देते हैं या नहीं। जैसे नाटक में पात्र वास्तव में जानते हैं कि सभी पात्र (नायक और खलनायक) एक ही नाटक मण्डली के सदस्य और परस्पर भाई-भाई हैं। किन्तु रंगमंच पर व्यावहारिक मर्यादा के पालन के लिए, रंगमंच की सफलता के लिए तथा नाटक को दर्शकों के मनोरंजन, बुद्धिरंजन एवं नैतिक शिक्षण के लिए आततायी को प्रत्यंचा चढ़ाकर तीर से मार डालते हैं। किन्तु नाटक का पर्दा गिरने के पश्चात् नायक और खलनायक बढ़िया खेल के लिए एक-दूसरे को बधाई देते हैं, एक-दूसरे को गले लगाते हैं। दर्शकों की प्रशंसा भी प्राप्त करते हैं और रंगमंच के निर्देशक से पुरस्कार भी पाते हैं। इसी प्रकार यदि

हम सबको आत्मारूप जानते हुए भी स्वधर्मपालन करते हुए आततायी को दण्ड देते हैं तो इसमें नैतिकता की रक्षा, लोकशिक्षण, लोकसंग्रह, जीवन के नाटक की सफलता, हमारा विकास एवं आततायी के रूप में जीवात्मा का उद्धार, इतिहास में यश और प्रभु का आशीर्वाद सभी लाभ एक साथ मिल जाते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण ने स्वयं भगवान् के अवतार का हेतु भी यही बताया है—

परित्राणाय साधूनां, विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्म-संस्थाप-नार्थाय, सम्भवामि युगे युगे।। 4/8

सज्जनों का परित्राण और दुष्टों का विनाश, धर्म के संरक्षण या धर्म की संस्थापना के लिए मैं युग-युग में प्रकट होता हूं। जो धर्म की संस्थापना में सहायक है वह सज्जन है, जो बाधक है वह दुष्ट है। धर्म की संस्थापना हो ही तब सकती है जब धर्म के साधकों को बचावें और बाधकों को हटावें। इसलिए जो आततायी को दण्ड देता है और सज्जनों की रक्षा करता है वही धर्म संस्थापना में सहायक है। वह ईश्वरीय कार्य करता है। वह ईश्वरीय न्याय का यंत्र बन भागवत कर्म का निमित्त बन भगवान् का ही कार्य पूरा करता है। इसलिए भगवान् अर्जुन को गीता में कहते हैं—

तस्मात्त्व-मुत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रून् भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्त-मात्रं भव सव्यसाचिन्।। 11/33

इसलिए तू उठ, यश को प्राप्त कर और शत्रुओं को जीतकर समृद्धिसम्पन्न राज्य को भोग। ये (सब वीर) मेरे ही द्वारा पहले ही मारे गए हैं। सव्यसाचिन्! तू केवल निमित्तमात्र बन जा।

इसमें राष्ट्र के परम वैभव की सारी साधना बीजरूप में कह दी गई है।

(क) **तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ**—हे अर्जुन! तुम खड़े हो जाओ, कर्तव्यपथ पर डट जाओ, सदा आशावान रहो, सदा आगे बढ़ने के लिए सिद्ध हो।

(ख) **यशो लभस्व**—यशस्वी जीवन जीओ। अपयश से बचो। सफलता के लिए पुरुषार्थ करो। जो राष्ट्र सम्मानित जीवन नहीं बिताता वह मिट जाता है।

(ग) **जित्वा शत्रून्**—शत्रुओं को जीतो। चिर विजय की कामना ही राष्ट्र का आधार है। निरन्तर विजय की साधना करो। पराजय, पराधीनता जीवन की सबसे बड़ी लानत है। बाहर के शत्रुओं को भी जीतो और भीतर के शत्रुओं (देशद्रोही तत्त्वों) को भी जीतो। इसके अतिरिक्त मन के शत्रु—काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार को भी जीतो। जो स्वयं को जीत नहीं सकता वह जगत् को क्या जीतेगा?

भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्—समृद्धिशाली, वैभवशाली राज्य को भोगो। राष्ट्र

को परम वैभव की महत्त्वाकांक्षा रखनी चाहिए। व्यक्तिगत वैभव विलासिता है। राष्ट्रीय वैभव ऐतिहासिक गौरव का मानबिन्दु है। राष्ट्र का वैभव राज्य के वैभव से अधिक मूल्यवान है। राष्ट्र समृद्ध होगा तो राज्य के बदलने पर भी समृद्धि बनी रहेगी। केवल राज्य शान-शौकत में रहे और राष्ट्र कंगाल रहे तो न राज्य बचेगा और न राष्ट्र। कंगाल राष्ट्र वैभवशाली सत्ताधीशों के विरुद्ध विद्रोह करेगा और सत्ताधीश राष्ट्र के जन-गण की छाती पर गोली चलाएगा।

मयैवैते निहताः पूर्वमेव—ये सब पहले से ही मेरे द्वारा मार दिए गए हैं। ईश्वरीय न्याय से कोई बच नहीं सकता। चाहे मानवीय न्याय में कुछ देर के लिए भले ही बच जाए।

...ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे—हे अर्जुन! तेरे बिना भी ये सब योद्धा नहीं बचेंगे। अतः व्यक्ति को कर्तापन का अहंकार नहीं होना चाहिए। क्योंकि जिसको ईश्वर ही मारना चाहे उसे कौन बचा सकता है?

निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्—हे अर्जुन! तुम निमित्तमात्र बन जाओ। व्यक्ति को ईश्वरीय संकल्प को पूरा करने में निमित्तमात्र बन जाना चाहिए।

ईश्वरीय संकल्प तो पूरा होकर ही रहेगा। यदि हम उसके अनुकूल संकल्प करें तो हमें ईश्वरीय शक्ति एवं ईश्वरीय आशीर्वाद मिलेगा। कर्म में सफलता भी मिलेगी, कर्म में दिव्यता भी आएगी और मुफ्त में लोकयश भी मिल जाएगा। इसके विपरीत चलने से भागवत संकल्प हमें कुचल डालेगा। वह कालरूप बनकर हमें ही खा जाएगा। स्वधर्म पालन न करने से लोक में अपयश भी मिलेगा। अतः हमें उस महान् यंत्री का यंत्र, ईश्वरीयन्याय का निमित्त और भागवत संकल्प का सेनानी बनकर अपना कर्तव्य प्रभु प्रीति के लिए करके कर्मों का फल भी भगवान् के चरणों पर नैवेद्य के रूप में चढ़ा देना चाहिए।

जो भगवान् आत्मारूप से सबके अन्तर में विराजमान है वे ही हमें आदेश देते हैं कि सज्जनों का परित्राण करो और दुष्टों का विनाश करो। क्योंकि सब आत्मा मूलतः एक है इसलिए वास्तव में दुष्ट या अन्य कोई है ही नहीं। परन्तु ये ऊंचा पारमार्थिक ज्ञान प्रत्येक व्यक्ति के लिए नहीं है। केवल संन्यासी के लिए है जो लोकसंग्रह से दूर है, जैसे—रमण महर्षि। यह विवेकानन्द के लिए भी नहीं है। वे तो बाहु चढ़ा लेते थे। इसलिए ये व्यावहारिक स्तर पर कर्म सिद्धान्त (विश्वव्यापी न्याय के सिद्धान्त) की विजय देखना चाहते हैं। इसके बिना उनका नैतिकता में विश्वास नष्ट हो जाएगा और नैतिक अराजकता से व्यावहारिक जगत् एवं जीवन नरक बन जाएगा। व्यावहारिक स्तर पर ऋतम् की अप्रतिष्ठा हो जाने से उन्हें सत्य का दर्शन कभी नहीं हो सकेगा। विश्व मानवता की नैतिक निष्ठा की रक्षा के लिए

वे स्वयं ही नाटक रचते हैं। वे एक से अनेक बन जाते हैं। स्वयं ही एक रूप में राम और एक रूप में रावण बन जाते हैं और रावण की अनैतिकता का कलेजा चीरने के लिए स्वयं ही वक्षस्थल पर तीर चलाते हैं। स्वयं ही अपनी विजय मानते हैं और स्वयं ही अनेक दर्शकों के रूप में अपनी नैतिक निष्ठा की रक्षा करते हैं।

गांधीजी एक संत थे कुशल राजनीतिज्ञ नहीं थे। वे नैतिकतावादी अवश्य थे किन्तु सामाजिक दृष्टि से वे समझौतावादी एवं अतिशय शान्तिवादी थे। मुसलमानों द्वारा की जाने वाली हिंसा, हत्या से वे दुःखी अवश्य थे किन्तु बुद्ध और महावीर के समान वे यही मानते थे कि क्रोध से क्रोध शांत नहीं होता। हिंसा के प्रति हिंसा करने से हिंसा शांत नहीं होती। आग को आग से ठण्डा नहीं किया जा सकता। इसलिए प्रतिहिंसा रोकने और शान्ति बनाए रखने के लिए उन्होंने रोष भरे शरणार्थी बन्धुओं से ये वचन कह दिए। यह वास्तव में गीता के दर्शन का सही व्याख्यान नहीं है, बल्कि गीता के आत्मज्ञान का दुरुपयोग ही है। इसके पीछे गांधीजी की कोई दुष्टभावना नहीं थी क्योंकि वे स्वयं बड़े कट्टर हिन्दू थे। किन्तु समझौतावादी और अतिशय शान्तिवादी होने के कारण उन्होंने ऐसा कह दिया। उनके इसी तर्क का दुरुपयोग यदि कोई नादिरशाह, तैमूरलंग, हिटलर, ईचमैन, याहया खां आदि करे तो महान् अनर्थ हो जाएगा। गांधीजी अहिंसावादी, शान्तिकामी संत थे। किन्तु उनकी अहिंसा के सद्गुण विकृति का कुफल देश को विभाजन के रूप में भोगना पड़ा। और आज पुनः वही स्थितियां उत्पन्न हो गयी हैं। अहिंसा दर्शन गांधीजी के व्यक्तिगत जीवन में हो सकता है। पर राष्ट्र के संदर्भ में अहिंसा दर्शन नहीं हो सकता। सम्राट अशोक व्यक्तिगत रूप से अहिंसक हो सकता है सेना पर अहिंसा को लादना गलत था। पृथ्वीराज अपने किसी व्यक्तिगत दुश्मन के क्षमादान के अधिकारी हो सकते हैं, पर राष्ट्र के शत्रु को राजा हैसियत से क्षमादान के अधिकारी नहीं हो सकते। विगत हजार वर्ष से हम धर्माभास में जी रहे हैं इसी का परिणाम 1000 वर्ष का अंधकार युग! और आज भी मतिभ्रम में जी रहे हैं। अहिंसा-अहिंसा इसका क्या दुष्परिणाम हिन्दू समाज पर हो रहा है, कैसे नपुंसक जैसा बनता जा रहा है? यह अहिंसा हमें कहां ले जा रही है? राष्ट्र स्तर पर विचार करने को कोई तैयार नहीं है। गांधी-नेहरू ने देश को अहिंसा-अहिंसा की जो गलत दिशा दे दी उसके दुष्परिणाम पर हमें विचार करना चाहिये।

आज सत्संग के नाम पर, भक्ति के नाम पर, शरणागति के नाम पर, ज्ञान के नाम पर मतिभ्रम उत्पन्न किया जा रहा है। सबको वैराग्य की, संन्यास की दीक्षा दी जा रही है। तितिक्षा व्यक्ति का धर्म हो सकता है, राष्ट्र का नहीं। क्षमा, दया, माया, ममता, करुणा जो हमारे भूषण हैं वह विवेक के ढांचे नहीं ढले होने से दूषण सिद्ध हो, समाज एवं राष्ट्र को पतन की ओर ले जा रहे हैं।

स्वधर्म-मपि चावेक्ष्य, न विकम्पितु-मर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्-छ्रेयोऽन्यत्, क्षत्रियस्य न विद्यते।। 2/31

अपने स्वधर्म को देखकर भी तुझे विचलित नहीं होना चाहिये, क्योंकि क्षत्रिय के लिए धर्मयुद्ध से बढ़कर दूसरा कुछ भी कल्याणकारक नहीं है।

जिस प्रकार स्वरूप निष्ठा से, स्वरूप बोध से शोक-मोह की निवृत्ति होती है। वैसे ही स्वधर्म निष्ठा से उसके बोध से भी शोक-मोह की निवृत्ति होती है। इसलिए भगवान् आत्म-अनात्म विवेक विज्ञान के सन्दर्भ में उपदेश कर देने के पश्चात् स्वधर्म के सन्दर्भ में उपदेश करते हैं।

अर्जुन में जो संशय निर्माण हो गया था—जीवन-मृत्यु के विषय में अपनों के प्रति राग-परायों के प्रति द्वेष, कर्तव्य (धर्म), अकर्तव्य (अधर्म) के विषय में संशय आदि इन सबका समाधान स्वरूपबोध से, आत्मा की अनश्वरता, अमरता, अखण्डता से हो जाता है। आत्मा अमर होने से मृत्यु का प्रश्न ही नहीं, वहां तो शाश्वत जीवन है। एक ही आत्मा सब में होने से अपने-पराये का प्रश्न ही नहीं उठता और शरीर नित्य परिवर्तनशील-मरणधर्मा है, कर्मफलों के अधीन है तो प्रयास करके भी उसे बचाया नहीं जा सकता। अतः हर स्थिति में अपना कर्तव्य पालन आवश्यक है।

पर अर्जुन व्यवहार जगत् में, राजनीतिक क्षेत्र में कर्म करने वाला होने से तात्त्विक जगत् का, अध्यात्मिक जगत् का या संन्यासी या ब्राह्मण धर्म का तो व्यक्ति है नहीं, पर इसका लबादा अवश्य ओढ़ना चाहता है अतः उसको ये सब बातें पूरी तौर पर समझ में नहीं आती। लगता है उसके सिर के ऊपर-ऊपर से निकल गयी हैं। अच्छे शिक्षक का लक्षण है कि उनकी बात शिष्य के गले उतरे। जब शिष्य मनोयोगपूर्वक, श्रद्धा से सुन रहा है, फिर भी उसे समझ में नहीं आ रहा है, तो यह शिष्य की जड़ता नहीं, गुरु की जड़ता मानी जायेगी कि वह अपनी बात को शिष्य को समझा नहीं पा रहा है। गुरु को शिष्य के स्तर पर उतर कर उसे समझाना होगा।

अवतार का अर्थ अवतरण, ऊपर से नीचे उतरना। तो क्या भगवान् ऊपर है, नीचे नहीं। अगर भगवान् ऊपर है, नीचे नहीं तो भगवान् कहीं नहीं है। भगवान् तो सर्वत्र हैं। अवतार की संगति जीव के उद्धार के साथ है। जीव अपने को पतित मानता है भगवान् को पतित पावन। क्योंकि जीव के द्वारा दुराचार, व्यभिचार, मिथ्याचार हुआ है। उसने चोरी की है, कुकर्म किये हैं तब अपने को पतित कैसे नहीं माने? अपने को गिरा हुआ कैसे नहीं माने? अतः वह अपने को पतित मानता है। भगवान् का अवतार इन पतितों के उद्धार के लिए होता है। जीव अपने को

नीचा माने। जीव अपने को जिस स्तर पर रखता है, जहां अपने को माना है, प्रभु वहां उसी स्तर पर उतरकर आयेंगे और उसे अनुभव करायेंगे कि उनके स्पर्श मात्र से तुम्हारे सारे पाप नष्ट हो गये हैं। अतः भगवान् अर्जुन के स्तर पर उतर आते हैं—आत्मा की अमरता की बात भी उसे समझ में आयेगी और स्वधर्म की बात उसे तुरन्त समझ में आयेगी। क्योंकि यह उसकी वृत्ति के अनुकूल बात है।

प्रथम में जीवन का लक्ष्य घोषित होना चाहिये। भारतीय शास्त्र की परम्परा कहती है पहले अपने जीवन लक्ष्य को ही घोषित कर दो। इसलिए प्रथम स्वरूपबोध का आख्यान। फिर शिष्य जिस स्तर पर है उस स्तर से उसे उसके कर्तव्य का, जीवन लक्ष्य का बोध स्वधर्म के आधार पर कराते हैं।

बहुत से विचारकों ने इस प्रसंग को लौकिक माना है। प्रथम में आत्मा की अमरता का प्रसंग बड़ा ही तात्त्विक, अध्यात्मिक, ऊँचा प्रसंग है। बाद में निष्काम कर्मयोग का प्रसंग भी अध्यात्मिक एवं तात्त्विक है। पर इसके बीच का प्रसंग स्वधर्म का प्रसंग लौकिक है जहां भगवान् ने अर्जुन को स्वधर्म के आधार पर युद्ध के लिए प्रेरित किया है। अतः यह लौकिक प्रसंग है थोड़ी कम ऊँची बात है। कम ऊँची बात लोगों के लिए हो सकती है। प्रश्न है किसको समझा रहे हैं? अर्जुन को। शंकराचार्य, रामानुजाचार्य को नहीं, रामकृष्ण परमहंस को या विनोबा भावे को नहीं, अर्जुन को समझाने के लिए कह रहे हैं। पहले तो वास्तविक स्वरूप क्या है, जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य क्या है, यह बता दिया, जीवन का नक्शा दे दिया। अब जैसा अधिकारी है, पात्रता है उस स्तर पर उतर कर उपदेश देंगे स्वधर्म का। फिर एक-एक कदम आगे उठायेंगे स्वधर्म का पालन सकाम भाव से, फिर निष्काम भाव से कर्म का उपदेश देंगे। 6 अध्याय तक मुख्यतः कर्मयोग, फिर उससे ऊँची सीढ़ी सातवें से बारहवें अध्याय तक भक्तियोग फिर उससे ऊँची स्थिति शेष 6 अध्याय में ज्ञानयोग का उपदेश देंगे। इस तरह क्रमशः उसे ऊँची स्थिति में ले जायेंगे। भगवान् चाहे कुछ भी प्रतिपादित करें, चाहे आत्मा की अमरता के विषय में, कर्मयोग, चाहे भक्तियोग का, चाहे ज्ञानयोग की, सर्वत्र अर्जुन को स्वधर्म की ही प्रेरणा देते हैं। क्षत्रिय धर्म की ही प्रेरणा देते हैं। भगवान् की कृपा से उसने विराट रूप का दर्शन किया, फिर चतुर्भुज रूप का, निर्गुण-निराकार आत्म स्वरूप की थोड़ी झलक उसे अवश्य मिली है पर उसकी उसमें स्थिति नहीं बनी है। फिर वर्तमान परिस्थिति, उसका स्वभाव, प्रवृत्ति, प्रशिक्षण सब दृष्टि से क्षत्रिय कर्तव्य पालन ही उसके लिए आवश्यक है। इसलिए वह भगवान् के पूछने पर स्पष्ट रूप से कहता है मेरे सारे संशय दूर हो गये हैं। अब मैं युद्ध करने के लिए तत्पर हूं।

इसका वैराग्य सतोगुणी तो है पर विशुद्ध सत्त्व का नहीं है। और उसे जो आत्म ज्ञान हुआ है उसमें दृढ़ता या गति लायक स्थिति नहीं बनी है। यहां पर

स्वामी विवेकानन्दजी पर भी विचार कर सकते हैं वे ईश्वर दर्शन चाहते हैं पर रामकृष्ण परमहंस के स्पर्श को सह नहीं पाते। फिर पुनः रामकृष्णजी उसकी स्थिति जानने के लिए स्पर्श कर उसकी स्थिति जानी। फिर एक बार वे निर्विकल्प समाधि में चले गये, तीन दिन उसमें रहे, पर रामकृष्ण देव ने कहा—यह अभी ताले में बन्द रहेगी। आगे जिस कार्य के लिए आये हो वह पूरा करोगे तब यह स्वतः खुल जायेगी। इस कारण वे उसमें दृढ़ स्थितिलाभ नहीं कर सके। इसलिए उन्हें लगा वे गुरुदेव से पूर्णता लाभ नहीं कर पाये। अतः परिव्राजक काल में पवहारी बाबा से दीक्षा लेने को प्रस्तुत हुए पर कुछ बाधाओं के कारण ले नहीं पाये। स्वयं रामकृष्णजी ने इससे विरत किया। तुझे जो पाना था सब मिल गया है, समय होने पर वह स्वतः प्रकट हो जायेगा। अभी अपना नियत कार्य करो। यहां बिचारे अर्जुन को भी जो भगवान् की कृपा से आत्मा की एक झलक मिली है उसमें गति या स्थिति की अवस्था नहीं बनी है। वह तो साधना सापेक्ष होगी। वर्तमान स्थिति में तो युद्ध करना ही उसका कर्तव्य है। यही कारण है कि भगवान् जिस तत्त्व का भी उपदेश क्यों न करें, बार-बार युद्ध की प्रेरणा अवश्य देते हैं कि इस दृष्टि से भी युद्ध करना तेरा कर्तव्य है। शोक त्यागकर युद्ध करो। और वह स्वयं भी अपने को निष्काम भाव से स्वधर्म पालन का ही अधिकारी मानता है तभी तो कहता है—मेरे सब संशय दूर हो गये, स्मृति लाभ हो गयी। अब मैं कर्तव्य कर्म करने को प्रस्तुत हूं। विषाद के वशीभूत जो अपने स्वरूप को भूल गया था और विजय उसी की होगी ऐसा उसे अनेकों से वरदान प्राप्त था पर विषाद के कारण भूल गया। जैसे—हनुमानजी को अभिशाप के कारण अपनी शक्ति का विस्मरण हो गया जामवंत के स्मरण कराने पर पुनः स्मृति हुई वैसे अर्जुन को भगवान् के उपदेश से पुनः अपने स्वरूप का स्मरण हुआ, भ्रम छूट गये और वह युद्ध के लिए सन्नद्ध हो गया।

द्वितीय अध्याय के 31 से 38वें तक स्वधर्म का प्रकरण है। इस प्रकरण में श्रीकृष्ण अर्जुन के साथ समभूमि में विराजमान हैं। भगवान् ने अर्जुन के प्रश्नों का सामान्य उत्तर ही दिया विशेष नहीं। क्योंकि अधिक ऊँचे स्तर से निम्नस्थ बातों का उत्तर नहीं दिया जा सकता अतः इस समय भगवान् स्वयं ही समान भूमि पर उतर आए हैं क्योंकि लौकिक प्रश्न का लौकिक ही उत्तर होगा। अर्जुन ने युद्ध न करने के पक्ष में जो-जो युक्तियां दी हैं उन सभी बातों का यथोचित उत्तर अब देंगे। शिशु को शिशु स्तर पर, बालक को बालक के स्तर पर, प्रौढ़ को उसके स्तर पर एवं पण्डित को उसके स्तर पर समझाने पर ही वह बात ग्राह्य होती है। पण्डित को हलके स्तर से समझायेंगे तो वह आपकी बात पर ध्यान ही नहीं देगा।

अर्जुन के युद्ध करने के पीछे मुख्य युक्ति है—युद्ध श्रेयस्कर नहीं है।

न च श्रेयोऽनु-पश्यामि। 1/31

इसको सिद्ध करने के लिए वह कई युक्तियां देता है। जीव की सभी प्रवृत्ति के मूल में सुख की खोज होती है। सुख की आशा से ही वह किसी कर्म में प्रवृत्त होता है। पर इस युद्ध से सुख प्राप्ति की कोई सम्भावना नहीं है। वह कहता है—'स्वजनं हि कथं हत्वा, सुखिनः स्याम माधव। 1/37 अर्थात् हे माधव! स्वजनों का वध करके सुखी किस प्रकार बनूंगा। पुनः 2/5वें श्लोक में कहता है—

हत्वार्थ-कामांस्तु गुरूनिहैव भुञ्जीय भोगान् रुधिर-प्रदिग्धान्।।2/5

अर्थात् गुरुजनों को मारकर भी आखिर इस संसार में मैं रक्त से सने हुए अर्थ और काम रूपी भोगों को ही तो भोगूंगा।

नैतिक दृष्टि से भी युद्ध करना पाप प्रथम अध्याय के 36वें श्लोक में कहते हैं 'पापमेवाश्रयेदस्मान्'। क्योंकि स्वजनों की हत्या से कुलनाश, उससे कुलधर्म नष्ट होगा, स्त्रियां असमय वैधव्य को प्राप्त होंगी, संयम का पालन न कर पाने के कारण स्त्रियां स्वैरिणी होगी, उससे वर्ण शंकर सन्तान होगी। अतः धर्म का नाश होगा। युद्ध में चार पीढ़ी खड़ी हैं उनका नाश, पितरों का नाश पिण्ड-दान के अभाव में। इसका उपसंहार करते हुए कहता हैं—

अहो बत महत्-पापं, कर्तुं व्यवसिता वयम्। 1/45

हाय रे! राज्य सुख के लोभ में पड़कर हम आत्मीय स्वजनों का विनाश करने के लिए उद्यत होकर महापाप करने के लिए उतारू हो गये हैं।

फिर परिणाम की दृष्टि से पता नहीं युद्ध में कौन विजयी होंगे 'न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीय': (2/6) वे जीतेंगे या हम जयी होंगे। इतनी हानि झेलकर भी विजय की कोई निश्चित सम्भावना भी नहीं है।

इस सब दृष्टियों का उसके शरीर पर प्रभाव पड़ता है। जैसे विचार हमारे अन्दर उठते हैं उसका परिणाम शरीर पर होता है। वह शोक और भय से अभिभूत हो जाता है। फलतः उसके सारे अंग अवसन्न हो रहे तथा मुख भी सूख रहा है, शरीर में कम्प और रोमाञ्च हो रहा है, गाण्डीव (धनुष) भी गिर रहा है और त्वचा जल रही है, खड़ा रहने में भी असमर्थ सिद्ध हो रहा, मन भ्रमित हो रहा है। फलतः प्रथम अध्याय के शेष में बाण सहित धनुष को छोड़कर रथ के पिछले भाग में बैठ गया।

इन सबका उत्तर भगवान् अब एक-एक करके देंगे—

अर्जुन की पहली एवं मुख्य उक्ति है 'युद्ध श्रेयस्कर नहीं है।' भगवान् इसके विपरीत कहते हैं क्षत्रिय के लिए धर्मयुद्ध से बढ़कर अन्य कुछ भी श्रेयस्कर नहीं है।

अतः स्वधर्म को देखते हुए तेरा धर्मयुद्ध से विचलित होना उचित नहीं है। युद्ध के नाम पर तुम्हारा शरीर, मन, बुद्धि विचलित हो रही है वह उचित नहीं है।

अर्जुन की समस्या है भीष्म, द्रोण जैसे पूज्य एवं धर्मात्माओं को मारना शुभ श्रेयस्कर कैसे हो सकता है। यह तो पाप-पूर्ण ही कृत्य होगा। इस पर भगवान् का कथन है स्वधर्म का पालन पाप का कारण नहीं बनता। क्षत्रियों के लिए सबसे बड़ा कल्याणकारी तो धर्मयुद्ध होता है। तुमने तो युद्ध चाहा नहीं। तुम पर तो यह युद्ध अधर्म पूर्वक थोपा गया है, उसका प्रतिकार धर्मयुद्ध कहलाता है। ऐसा युद्ध सदैव अधर्म के विरुद्ध ही हुआ करता है।

अब प्रश्न उठता है धर्म क्या है, स्वधर्म क्या है और यह युद्ध धर्मयुद्ध कैसे है?

भारतीय ऋषियों ने मानव स्वभाव का सूक्ष्म अध्ययन करके मनुष्य के सर्वाङ्गीण विकास के लिए उसके प्राप्तव्य चार लक्ष्य रखे जिसके अन्तर्गत मानव जीवन की सभी उपलब्धियां एवं जीवन-मूल्य आ जाते हैं। वे चार पुरुषार्थ हैं— धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष। यह हमारे ऋषियों की महत्ता है सूत्र में सारी बातों को गूंथ देते हैं। इन चारों पुरुषार्थों में धर्म का महत्त्व सर्वाधिक होने के कारण और इसकी आवश्यकता चारों पुरुषार्थ में होने के कारण इसका नाम सबसे पहले लिया जाता है।

धर्म हमारा नैतिक आदर्श है जिसके अन्तर्गत शरीर से लेकर ब्रह्मपर्यन्त सभी कर्तव्यों की विधिवत परिपूर्ति पर बल दिया गया है। इसमें शरीर, परिवार, समाज, राष्ट्र, पूरी मानवता, पूरी सृष्टि सब आ जाते हैं।

अर्थ हमारा आर्थिक एवं राजनैतिक आदर्श है जिसके अन्तर्गत धर्म पर चलते हुए धन-धान्य व अर्थ की प्राप्ति, सदुपयोग एवं राज्य की समृद्धि पर बल दिया गया है।

काम हमारा मनोवैज्ञानिक आदर्श है जिसके अन्तर्गत धर्म पर चलते हुए सांसारिक कामनाओं की परिपूर्ति पर बल दिया गया है। मोक्ष हमारा अध्यात्मिक आदर्श है जिसके अन्तर्गत धर्म पर चलते हुए शरीर व मन के बन्धनों से मुक्त होकर आत्मस्वरूप की प्राप्ति पर बल दिया गया है।

धर्म एक वैदिक शब्द है। इसके समतुल्य या पर्यायवाची शब्द विश्व की किसी भी भाषा में नहीं है। इसका बड़ा व्यापक अर्थ है इसकी विस्तृत विवेचना हमारे मनीषियों ने की है। धर्म उन शाश्वत नियमों को कहते हैं जिसके कारण व्यक्ति की, समाज की, वस्तु की धारणा होती है। यानी जो धारण करे वह धर्म है। धर्म का सम्बन्ध धारणा से है। धर्म 'धार्यते इति प्रजा' धर्म के आधार पर ही व्यक्ति, समाज, वस्तु अपने वास्तविक स्वरूप को कायम रख पाता है। ताप ने

ही अग्नि को धारण कर रखा है। ताप के अभाव में अग्नि को अग्नि नहीं कहा जा सकेगा। मनुष्यत्व ने मनुष्य को धारण कर रखा है, इसके अभाव में मनुष्य मनुष्य नहीं होगा। वरन् वह पशु की श्रेणी में आ जायेगा।

धर्म का सरल अर्थ कर्तव्य है। गीता में आश्रमोचित वर्णोचित कर्तव्य को ही धर्म कहा गया है। व्यक्ति अपने जीवन में चारों पुरुषार्थों धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष को प्राप्त कर सके इसके लिए जीवन को चार आश्रमों (विभागों) में बांट दिया गया है। ब्रह्मचर्याश्रम चारों पुरुषार्थों की प्राप्ति के लिए शक्ति संचय का काल है। गृहस्थाश्रम धर्म पर चलते हुए अर्थ और काम की प्राप्ति एवं सदुपयोग का काल है। वानप्रस्थ एवं संन्यास धर्म पर चलते हुए मोक्ष प्राप्ति का काल है।

हमारा प्रत्येक व्यवहार परमार्थ बन जाये, प्रभु की अर्चना बन जाये। हमारी आजीविका भी, हमारा प्रत्येक कर्म भी प्रभु की पूजा बन जाये, मोक्ष प्राप्ति का साधन बन जाये। इसके लिए वर्ण व्यवस्था बनाई गई, जिससे प्रत्येक व्यक्ति अपने स्वभाव, प्रवृत्ति के अनुकूल कर्म करके अपना सर्वोच्च विकास कर सके और उसका लाभ पूरे समाज को भी समर्पित कर सके इसके लिए वर्ण व्यवस्था बनी। व्यक्ति जीवन के गठन के लिए आश्रम व्यवस्था एवं समाज जीवन का गठन एवं सन्तुलित रूप से संचालित हो इसके लिए वर्ण व्यवस्था। वर्ण व्यवस्था का आधार गुण और कर्म है।

भगवान् ने गीता में कहा है—

चातुर्-वर्ण्यं मया सृष्टं, गुण-कर्म-विभागशः। 4/13

मैंने गुण कर्म के विभाग से चातुर्वर्ण्य की सृष्टि की। सारे जीवन के गुण और कर्म एवं सारे जीवन अभ्यास के अनुरूप मृत्यु के अव्यवहित पूर्व क्षण में जो भाव बनते हैं, उठते हैं उन्हीं भावों व संस्कार के अनुरूप वैसे ही माता-पिता की ओर आकृष्ट होकर परिवार विशेष में जन्म होता है। उस परिवार विशेष के गुण, संस्कार भी बीज रूप से वंश परम्परा से पिता से पुत्र, पुत्र से पौत्र में आ जाते हैं। अतः गुण-कर्म के साथ-साथ जन्म परम्परा का महत्त्व भी कम नहीं है। फिर उसकी शिक्षा की दिशा, संस्कार की दिशा, उसकी प्रवृत्ति (Effort) किस दिशा में है। इन सभी दृष्टियों से अर्जुन क्षत्रिय है। वह जन्मना भी क्षत्रिय, कर्मणा भी क्षत्रिय, उसकी सारे जीवन दिशा—अभ्यास, संस्कार, प्रवृत्ति—सब क्षत्रियत्व की ओर है। और आश्रम की दृष्टि से भी वह गृहस्थाश्रम में है। अतः अर्जुन का क्षत्रियत्व उसका स्वभावजः कर्म है, सहज कर्म है, स्वकर्म है। जो उसे जन्म से ही प्राप्त है। जो जिस वर्ण और आश्रम में है उसके अनुकूल अपने-अपने कर्तव्य हैं। यानी अपने-अपने स्व के अनुरूप कर्तव्य है। यह जन्मजात होता है। आज चुनाव

का युग है। हम पत्नी, मंत्री आदि सभी का चुनाव करते हैं। पर हम माता का चुनाव नहीं कर सकते। माता ने ही हमें चुनकर धारणं किया है। स्वधर्म भी माता के तुल्य है। अपनी माता कुरूप और निर्धन होते हुए भी उसके मन में हमारे लिए जैसे कल्याण की भावना निहित है वैसी किसी सुन्दर सजीली धनवान स्त्री के मन में कभी नहीं हो सकती। अतः जिस स्वधर्म में हमें भगवान् ने जन्म दिया है भगवान् उसी में हमारा कल्याण समझते हैं।

मछली का स्वधर्म जल में जीने का है। यदि कोई यह समझे कि हम बहुत धनवान हैं और जल बहुत सस्ती वस्तु है, इसलिए दूध में रखी जाये तो दूध में मछली को रखने से दूध भी बिगड़ जायेगा और मछली भी मर जायेगी। अतः दूध जल से श्रेष्ठ होते हुए भी मछली तो जल को ही श्रेष्ठ मानेगी और उसी में रहेगी।

निरज की एक कविता है—एक युवती सुन्दर लाल चुनड़ी पहनकर जा रही है उससे मोह होना स्वाभाविक है। निरज कहता है—

मन भले विवाह करे हर एक वस्त्र से
पर हर वस्त्र नहीं हर तन पर शोभा पाता है
हर घट से अपनी प्यास बुझा मत ओ प्यासे
प्याला बदले तो मधु भी विष बन जाता है
मत बदल-बदल कर राह सफर तय कर अपना
हर पथ मंजिल की दूरी नहीं घटाता है।

इसलिए भगवान कहते हैं—

स्वधर्मे निधनं श्रेयः, पर-धर्मो भयावहः।। 3/35

आज हमारी दुर्दशा इसलिए कि हमने अपने स्वभाव के अनुसार कार्य को नहीं अपनाया। हमारी सारी शिक्षा व्यवस्था तो अंग्रेजों ने नष्ट कर दी। इसमें स्वाधीनता के बाद सुधार होना चाहिये था, पर अंग्रेज अपने अनुकूल नेहरू को बैठा गये जो स्वयं को अन्तिम अंग्रेज शासक मानते थे। अपने को दुर्घटना से हिन्दू मानते थे। इसलिए दूषित शिक्षा व्यवस्था ही आज भी चल रही है, जिसके कारण किसी को भी Proper मार्गदर्शन, दिशा व संस्कार नहीं मिल रहे। सब बस कॅरिअर के पीछे अन्धी दौड़ में लगे हैं। मुझे किसी भी प्रकार से अनाप-शनाप धन चाहिये और मस्ती वाला जीवन चाहिये। हमें अपने स्वभाव की पहचान नहीं। अतः सब परधर्म में लगे हुए हैं। चारों वर्णों के बच्चे एक ही दौड़ में लगे हुए हैं। परम्परागत कार्य तो वही कर रहे कि जिनके बच्चे दुर्बल हैं या जिनके माता-पिता असमर्थ हैं उसे पढ़ाने में। कोई भी ब्राह्मण अपने बच्चे को संस्कृत नहीं पढ़ाना चाहता, न पुरोहित कर्म में ही लगाना चाहता। जो इसमें लगते हैं तो लाचारी से और कुछ नहीं कर पाने के कारण। वे अंग्रेजी पढ़े-लिखे से अपने को हीन समझते

हैं। संस्कृत पढ़ने वाले बच्चे अपने को हीन समझते हैं। अतः जो ब्राह्मण के बच्चे होशियार हैं वे तो अफसर बनेंगे। जो दुर्बल हैं वे मन्दिर में घण्टी डुलाने वाले बनेंगे ताकि किसी तरह अपने परिवार व स्वयं का पोषण कर लें। आज पुरोहित कर्म में न लोगों की ही श्रद्धा है अतः उस कार्य को अपनाने वाले को सम्मानित जीवन जीने योग्य न अर्थ ही प्राप्त होता है और न ही सम्मान। अतः इसमें लाचार व दुर्बलों की प्रवृत्ति बाध्यता से है योग्यों की नहीं। अतः इस क्षेत्र का निरन्तर ह्रास ही नहीं लोप होता जा रहा है।

अपना धर्म कम गुण वाला होने पर भी अधिक कल्याणकारी है, अपेक्षाकृत दूसरे के अधिक तड़क-भड़क वाले धर्म के। अपने स्वधर्म में मरना भी कल्याणकारी है, दूसरे का धर्म भय देने वाला। अतः अपना कर्तव्य छोड़कर दूसरे के कर्तव्य में टांग अड़ाना उचित नहीं है। असंख्य पूर्व जन्मों का फल यह शरीर है। असंख्य पूर्व-जन्मों का परिणाम हमारा स्वभाव है। हमारे अपने स्वभाव के अनुसार जो हमारी वृत्ति है उसमें चमक उत्पन्न करे तथा हमारे स्वभाव के अनुसार जो कर्म है उसे पवित्र कर दे वह स्वधर्म है।

किसी स्थिति, वस्तु, व्यक्ति की प्राप्ति के लिए किया गया परिश्रम कर्म है। कर्म और धर्म में अन्तर है। कर्म के साथ चित्त शोधन की प्रक्रिया जुड़ जाती है तो वह धर्म बन जाता है। चित्त शोधन की प्रक्रिया धर्म है। जिसकी जो आजीविका है, उसे वृत्ति के रूप में नहीं जीवन लक्ष्य के रूप में स्वीकारे कि इसके द्वारा प्रभु की पूजा कर रहा हूं तो उसे धर्म कहते हैं। मन्दिर में बहुत से लोग कार्य करते हैं। एक से पूछा तो कहा—मैं रोज बीस रुपया कमा रहा हूं। चाहे मन्दिर बने या मदिरालय इससे मेरा कोई मतलब नहीं। दूसरे से पूछने पर कहता है—मैं अपने इष्टदेवता का मन्दिर बना रहा हूं। बीस रुपया मजदूरी उसे भी प्राप्त होती है पर इसके कर्म के साथ चित्त शोधन की प्रक्रिया भी जुड़ गयी। इस भाव के अभाव में ही देश की दुर्दशा हो रही है। जब कर्म के साथ यह भावना जुड़ जाती है कि मैं भगवान् का काम कर रहा हूं तब गलत काम नहीं होगा, गलत फायदा नहीं उठायेंगे। मैं इष्टदेव का मन्दिर बना रहा हूं इस भावना से चित्त शुद्ध होता है। चित्त शोधन की प्रक्रिया कर्म को धर्म में रूपान्तरित कर देती है। अतः क्रिया के साथ चित्त की शुद्धि भी होवे तो वह क्रिया धर्म बन जाती है। वह कर्म भगवान् की पूजा बन जाता है। मैं अपने कर्म से भगवान् की पूजा कर रहा हूं तो वह धर्म हो जाता है। मैं अपने कर्म से प्रभु की अर्चना करता हूं यह वृत्ति आते ही तब आपके जीवन में, चरित्र में एक उदात्तता आती है और धर्म में परिवर्तित हो जाती है।

असंख्य पूर्वजन्म के आधार पर हमारी वृत्ति बनती है—वह किसी की सेवा की हो सकती है, किसी की शिक्षा की, किसी की युद्ध की, किसी की व्यवसाय

की। उस वृत्ति विशेष से, कर्म विशेष से प्रभु की अर्चना—'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य' (18/46)।

स्वकर्म से केवल रुपया कमाना धर्म नहीं है। अपने कर्म से प्रभु की अर्चना कर रहा हूं यह वृत्ति जुड़ती है तब उसमें पवित्रता आ जाती है वह धर्म है। अर्जुन जन्मजात योद्धा है अतः युद्ध करना उसका धर्म है। वह किसका पुत्र था। इन्द्र का पुत्र था। कौन्तेय! कुन्ती का पुत्र था। उसकी धमनियों के अन्दर एक क्षत्रिय कुल का प्रभाव था, प्रवाह था। क्षत्रिय का धर्म क्या है? 'शौर्यम्' एक शूरता। जब आपत्ति सामने आये खतरा सामने आये, उसके अन्दर से एक शौर्य प्रकट होता है जैसे शेर के अन्दर। शेर कभी दुम दबाकर नहीं चलता है। शेर हमेशा अपने मस्तक को ऊँचा करके सिंहावलोकन करता हुआ और अपनी प्रखरता को, प्रगल्भता को, शौर्य को, वीर्य को प्रकट करता हुआ चलता है तो ऐसा एक क्षत्रिय। 'शौर्यं तेजो' क्षत्रिय से एक तेज निकलता है जैसे अग्नि के अन्दर से तेज, जैसे सूर्य के अन्दर से एक तेज निकलता सामने तमिस्रा (यानी अंधकार) आ जाये सामने कोई शत्रु आ जाये, वह अपने तेज के द्वारा स्तम्भित कर देता है।

शौर्यं तेजो धृतिर्-दाक्ष्यं, युद्धे चाप्य-पलायनम्।
दान-मीश्वर-भावश्-च, क्षात्रं कर्म स्वभावजम्।। 18/43

शूरवीरता, तेज धृति (अर्थात् धारणा शक्ति), दक्षता (अर्थात् निपुणता), युद्ध से न भागना, दान, तथा ईश्वर भाव (अर्थात् दूसरों पर शासन करने की क्षमता)–ये क्षत्रियों के स्वाभाविक कर्म हैं। धृतिर्दाक्ष्य उसके अन्दर एक धृति धैर्य होता है। कैसी भी संकट की स्थिति आ जाये, कैसी भी विपरीत परिस्थिति आ जाये कैसी भी भयावह परिस्थिति आ जाये वह धैर्य रखता है और कैसी भी परिस्थिति आ जाये कार्य दक्षता से सम्पन्न करता है। 'युद्धे चाप्यपलायनम्' और वह क्षत्रिय नहीं है जिसके पीठ के अन्दर कोई घाव आ जाये, सामने छाती के ऊपर अपने शत्रु के बाण झेलता है। 'दान' वह दान देता है। अर्जुन तो अब दान के अन्न से पेट भरने की बात करता है। युद्ध छोड़कर चला जाऊँगा। अर्जुन के अन्दर सब कुछ विपरीत प्रकट हो गया था। इसलिए भगवान स्वधर्म की बात कहते हैं।

धर्म-स्वधर्म-परधर्म।

जीवात्मा परमात्मा का अंश है। परमात्मा की प्राप्ति में ही उसके स्व का कल्याण है। परमात्मा प्राप्ति के अनेक मार्ग हैं। जो परमात्मा प्राप्ति के अनुकूल तत्त्व है वह धर्म मार्ग है। जो परमात्मा की प्राप्ति के प्रतिकूल तत्त्व है वह अधर्म है, जैसे—चोरी, व्यभिचार, मिथ्याचार, हिंसा। ये परमात्मा प्राप्ति के बाधक तत्त्व होने से धर्म कदापि नहीं हो सकते। आत्मा को परमात्मा से मिलाने के कई मार्ग हो

सकते हैं, वे सभी रास्ते धर्म हैं। पर वे सभी रास्ते स्वधर्म नहीं हो सकते। भारतीय संस्कृति की विशेषता है—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते, तांस्-तथैव भजाम्यहम्। 4/11

जो लोग जिस प्रकार मेरी शरण लेते हैं, मैं उन्हें उसी प्रकार भजता हूं। अतः रामजी तक पहुँचने के अनेक मार्ग हैं। सब रास्ते सबके लिए विधेय नहीं हैं मैं अपने ही रास्ते पर चलूंगा। थोड़ी देर इस रास्ते, थोड़ी देर उस रास्ते तो हम कभी मंजिल पर नहीं पहुँच सकते। सब रास्ते सत्य होते हुए भी सभी रास्ते मेरे लिए नहीं है। मेरा जो रास्ता है वह मेरे लिए है औरों का जो रास्ता है औरों के लिए है। भारतीय संस्कृति अपि सिद्धान्त में विश्वास करती है मेरा रास्ता मेरे लिए ठीक है औरों का रास्ता औरों के लिए ठीक है। हम एकाधिक रास्तों की स्वीकृति देते हुए अपने रास्ते चलने का आग्रह करते हैं। पर दुनिया के अन्य सभी मजहब 'ही' सिद्धान्त को मानने वाले हैं 'अपि' को नहीं। मेरा ही एकमात्र रास्ता है। और उस पर जो न चले वह वध के योग्य है क्योंकि वे काफिर है या Hidden है या बुर्जुआ हैं उसके मन्दिर ध्वस्त होने योग्य है, उनकी पुस्तकें जलने योग्य है इसी कारण उनका सारा इतिहास रक्तरंजित है। प्रारम्भ से आज तक का उनका यही इतिहास है। उन्होंने अपने-अपने देश की पूर्व संस्कृति व इतिहास को नष्ट कर दिया तो विश्व को कहां बख्शेंगे। अपने पूर्व पुरुषों को, अपने पूर्वजों को ही नरक में डाल दिया। पर हम दूसरों को अपने रास्ते पर चलने के लिए पूरी छूट देते हुए हम अपने रास्ते पर ही चलेंगे। अतः हमने स्वधर्म और परधर्म, दोनों को ही मान्यता दी।

परधर्म आकर्षक लगे तो क्या हम अपने स्वधर्म को त्यागकर परधर्म स्वीकार कर लें? जब हम निष्ठा के साथ अपने स्वधर्म का पालन करेंगे तब बाधा आयेगी ही, प्रलोभन आये तो क्या करें? उस स्थिति में दूसरे धर्म को स्वीकार करने का स्पष्ट निषेध गीता करती है। निष्ठापूर्वक स्वधर्म के मार्ग पर चलने पर उससे विचलित करने वाले प्रलोभन तो आयेंगे, बाधा तो आयेगी ही। और यंह बात सभी वर्ण धर्म के साथ होगी। ऊपर से किसी को लग सकता ब्राह्मण धर्म तो अच्छा है बड़ा सम्मान मिलता है पर उनका तप पूर्ण जीवन है जो सबके वश का नहीं। वैसे किसी को क्षत्रिय धर्म अच्छा लग सकता है पर उसमें कितनी बलिदान की भावना, कष्ट सहने की क्षमता होनी चाहिये यह सबके वश की बात नहीं। तभी तो कर्ण पकड़ा गया तू ब्राह्मण नहीं हो सकता। ब्राह्मण में इतनी कष्ट सहने की क्षमता, रक्त देखने की क्षमता नहीं है। कर्ण के गोद में सिर रखकर परशुरामजी सोये हैं। पता नहीं संयोग से कहां से कीड़ा आकर कर्ण को डसने लगा। गुरु की नींद न उचट जाये वह हिला तक नहीं। पर उसका गरम-गरम रक्त गुरु को स्पर्श किया तो वे जग गये। कर्ण के समान ही दूसरी घटना है। एक नाई एक राजपूत

वीर की दाढ़ी बना रहा था, उसका चाकू थोड़ा लग गया तो आह भरी तो नाई ने ताना कस दिया, इतने से उफ करते हो तो युद्ध में शत्रुओं के वार कैसे सहोगे। तो उस समय राजपूत ने कुछ नहीं कहा। जब काम हो गया, पैसे दे दिये। वह जाने लगा तो उसको पकड़ा उसके पैर पर अपना पैर रखकर भाला मारा अपने पैर पर नाई तो छटपटाने लगा उसको कुछ नहीं फर्क पड़ा। तो बात अपने-अपने स्वभाव की है। जो असंख्य पूर्व जन्मों के संस्कार के आधार पर प्रकट होता है। वैसे ही किसी को वैश्य धर्म अच्छा लग सकता, पर सब धर्म में अपनी-अपनी कठिनाई है—दोष निहित हैं। कर्म मात्र में कुछ न कुछ दोष निहित है, इसे आगे भगवान् कहेंगे। प्रत्येक धर्म में प्रलोभन आयेंगे। अतः उन प्रलोभनों से युद्ध करना होगा। युद्ध क्या केवल बाह्य शत्रुओं से ही होता है। युद्ध क्या काम, क्रोध, लोभ, मोह से नहीं होता? अन्दर और बाहर काम, क्रोध, लोभ, मोह से निरन्तर युद्ध चलता रहता है। अपने धर्म से डिगा देने के लिए लोभ तो हर वर्ण-धर्म में आयेंगे ही। अतः अपने धर्म में स्थित रहते हुए उनसे युद्ध करते रहो। किसी ने संन्यास धर्म का उपदेश दिया कि वह सर्वोच्च धर्म है तो क्या वह तुम्हारा धर्म हो गया? मनुष्य के जीवन में संन्यास सबसे ऊँचा धर्म है यह बाहर से सुनने से क्या यह तुम्हारा धर्म हो जायेगा? कदापि नहीं।

यह युद्ध सामान्य युद्ध न होकर धर्मयुद्ध है। क्योंकि तुम्हारे वैध राज्य को धोखे से द्यूत क्रीड़ा में छल करके छीन लिया गया। पर द्यूत क्रीड़ा की शर्त भी पूरी कर दी अतः अब तुम्हारा राज्य वापस मिलना ही चाहिये। पर दुर्योधन सूई के नोक के बराबर भी जमीन वापस नहीं देना चाहता। अतः यह युद्ध तुम पर आरोपित है।

यह ठीक है कि भीष्म पितामह, द्रोणाचार्य आदि धर्मात्मा महापुरुष हैं। पूजनीय वंदनीय हैं। ये व्यक्तिगत दृष्टि से धर्मपरायण हैं पर उनकी धर्मपरायणता यदि अधर्म को, दुर्योधन को पोषण एवं संरक्षण देती है तो वह समाज के लिए हानिकारक है और उसका दमन होना चाहिये क्योंकि इनका विनियोग अधर्म के पोषण में, संरक्षण में हो रहा है। अतः ये भी वध के योग्य हैं।

अतः अर्जुन को अपने स्वधर्म को देखते हुए किसी भी दृष्टि से न शारीरिक, न मानसिक, न बौद्धिक और न नैतिक दृष्टि से विचलित होने की आवश्यकता है।

यदृच्छया चोपपन्नं, स्वर्ग-द्वार-मपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ, लभन्ते युद्ध-मीदृशम्।। 2/32

हे पार्थ! अपने आप प्राप्त हुए और खुले हुए स्वर्गद्वार की तरह इस प्रकार के युद्ध को भाग्यवान क्षत्रियगण ही पाते हैं।

अर्जुन ने प्रश्न उठाया था इस युद्ध से हम सुखी नहीं हो सकते क्योंकि स्वजनों के रक्त से सना होगा। पर भगवान् इसका उत्तर देते हुए कहते हैं यह तो धर्म युद्ध है जो बड़े भाग्य से ही क्षत्रियों को प्राप्त होता है। 'सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम्' अर्थात् उन्मुक्त स्वर्ग-द्वार के समान इस धर्म युद्ध का अवसर उपस्थित होने पर क्षत्रिय सुखी होते हैं। तुम क्षत्रिय कुमार हो।

प्राप्त युद्ध धर्मयुद्ध है। इसमें संदेह की तो कोई बात नहीं है। इसे टालने का भरसक प्रयास किया गया, फिर भी यह आ ही पड़ा है। इसने उस कगार पर तुम्हें खड़ा कर दिया है कि इसे न तुम टाल ही सकते हो, न उससे मुँह मोड़ सकते हो। युधिष्ठिर महाराज भगवान् श्रीकृष्ण को यही बात कही थी। नहीं तो मुझे कोई क्षत्रिय नहीं मानेगा। ऐसी स्थिति में देवयोग से अनायास प्राप्त यह युद्ध विजयश्री को कदाचित न भी दे तो भी स्वधर्म को अनावृत करने वाला होने से स्वर्ग का खुला द्वार ही समझने योग्य है। सूर्य मण्डल को दो ही लोग भेद सकते हैं या तो योगी या फिर धर्मयुद्ध में सम्मुख मरने वाला।

तुम जानते ही हो समझौते के सारे मार्ग अवरुद्ध हो चुके हैं। युद्ध न हो इसके लिए सारे उपाय कर लिए गये हैं। भगवान् श्रीकृष्ण जीवन की, सत्य की, धर्म की कीमत पर युद्ध को बचाने के लिए राजी नहीं थे क्योंकि अब यदि युद्ध से पीछे हटते हैं तो अधर्म की विजय होगी तब लोगों की धर्म के प्रति आस्था ही उठ जायेगी। वे कहेंगे कि पाण्डव सदैव धर्म-न्याय मार्ग पर चले, स्वयं भगवान् भी उनके साथ थे, सहयोगी थे, उसके बाद भी वे न्याय नहीं पा सके। ऐसी स्थिति में लोगों की सदा के लिए धर्म के प्रति, न्याय के प्रति आस्था ही टूट जायेगी और मानवता का, समाज का सदा के लिए पतन हो जायेगा।

अतः यदि हमारी इच्छा न होते हुए भी युद्ध की बला सिर पर आ ही पड़े तो अन्याय-अनीति के सामने घुटने टेक देना एक बहुत बड़ा अनैतिक कर्म होगा क्योंकि इससे अत्याचार को बढ़ावा ही मिलेगा। अन्याय करना पाप है तो अन्याय सहना महापाप है। इसलिए अन्य सब उपाय व्यर्थ हो जाने पर अन्याय का प्रतिकार करना आततायी को दण्ड देना, धर्म है।

इसलिए जब अर्जुन प्रेम, दया और वैराग्य की बात करता है तो भगवान् उसे नपुंसक, कायर, अनार्य की उपाधि दे देते हैं। दया-वैराग्य की बात अपनी जगह ठीक है, पर अर्जुन के लिए इस विषम स्थल पर वह उचित नहीं, जैसे-विवाह के अवसर पर राम-नाम सत्य कहेंगे तो डण्डे पड़ेंगे, यद्यपि यह सत्य है। यह भगवान् का मन्तव्य है। यह ठीक है कि मनुष्य का अपने शरीर के अंगों के प्रति ममत्व होता है, पर यदि किसी अंग में गैंग्रीन हो जाये, अस्वस्थ हो जायें

तब तो उसे काटकर ही अलग करना श्रेयस्कर है। यदि व्यक्ति यह कहकर रोता रहे कि अरे मेरा प्यारा अंग कट जायेगा, तो उस रुदन को कोई बुद्धिमानी नहीं कहेगा। बुद्धिमानी इसमें है कि उस अंग को तुरन्त काटकर अलग कर दें ताकि बाकी शरीर स्वस्थ रहे। इसलिए भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को युद्ध के द्वारा अधर्म की बेल को काटने का उपदेश देते हैं। ताकि बाकी समाज धर्म पर चलता रहे, स्वस्थ रहे।

बड़े मज़े की बात है हमारे युद्ध न करने से युद्ध बन्द नहीं होता। हमने तो कभी किसी पर आक्रमण नहीं किया वरन् विश्व को धर्म व संस्कृति का, ज्ञान-विज्ञान का निःस्वार्थ भाव से दान दिया। हमारे युद्ध न करने से कोई और हम पर युद्ध जारी रखता है, हम लड़ने न जायें इससे लड़ाई बन्द नहीं होती, सिर्फ हम गुलाम बने हैं और फिर हम भी लड़ाइयों में घसीटे जाते रहे। यह बड़े मजे की बात है। हम नहीं लड़े। कोई हम पर हावी हो गया, हमें गुलाम बना लिया और फिर हम उसकी फौज में लड़ते ही रहे। लड़ाई तो कुछ बन्द नहीं हुई। हम कभी मुगल की फौज में लड़े, कभी तुर्क की फौज में लड़े, कभी हम हूण की फौज में लड़े। फिर हम अंग्रेजों की फौज में लड़े। लड़ाई तो बन्द नहीं हुई। इतना ही होता हम अपनी स्वतन्त्रता के लिए लड़ते, अपने जीवन के लिए लड़ते, वरन् हम अपनी परतन्त्रता के लिए लड़े कि हमारी परतन्त्रता सदा बनी रहे! इसके लिए भी हमारे युवक मरते रहे। मुहम्मद गजनवी को जयचन्द ने, अकबर को मानसिंह ने, औरंगजेब को जयसिंह ने विजय दिलाई, साम्राज्य दिलाया एवं कायम रखा।

नरसंहार से बचने के लिए महात्मा गांधी, पं. नेहरू, पटेल आदि बड़े-बड़े नेतृत्व वर्ग ने द्विराष्ट्रवादी जिन्ना के सामने आत्मसमर्पण कर दिया। इससे देश का विभाजन भी हुआ और नरसंहार से भी नहीं बच सका।

हमने रक्त तो दिया पर कायरता का रक्त दिया, पांच लाख हिन्दू पाकिस्तान में मारे गये, 5 हजार हिन्दू ललनाओं के नग्न जुलूस निकाले गये और नारे लगे हंसकर लिया पाकिस्तान, लड़कर लेंगे हिन्दुस्तान। आर.सी. मजूमदार ने लिखा है हम इस आक्रमण का वीरतापूर्वक प्रतिरोध करते तो पांच लाख हिन्दुओं को प्राण नहीं गंवाने पड़ते। माता-बहनों के नग्न जुलूस नहीं निकलते वरन् स्वाभिमानपूर्वक आज जीवित रहते, देश का विभाजन भी रुक जाता। पर अतिरेक अहिंसा पर बल देने के कारण न देश बचा और न हम हिंसा से बचे। कहां तो भगवान् ने कहा धर्म की स्थापना के लिए स्वजनों के रक्षण के लिए दुष्टों का विनाश पर हमने उलटा कर दिया और आज भी यही स्थिति बनी हुई है श्रीकृष्ण जैसे नेता के अभाव में। देश की स्वाधीनता के बाद भी। इस देश का जो मूल पुत्र रूप राष्ट्रीय हिन्दू समाज है उन्हीं का संहार, उन्हीं को मति भ्रमित किया जा रहा है, उन्हीं के संगठन को तोड़ा

जा रहा है, उन्हीं को समझाया जा रहा है, उन्हीं में भेद डाला जा रहा है, उन्हीं को दण्डित किया जा रहा है यानी जो व्यवहार शत्रु के लिए अपेक्षित है वह हम पर किया जा रहा है, जो हम पर अपेक्षित है वह राष्ट्र, धर्म एवं संस्कृति के शत्रु के साथ किया जा रहा है, उन्हें सब प्रकार से पोषण और सुरक्षा प्रदान की जा रही है। शत्रु को ठीक करने के चार उपाय साम, दाम, दण्ड और भेद यह उन पर प्रयुक्त न होकर हिन्दू समाज के साथ स्वाधीनता के पूर्व भी और स्वाधीनता के बाद तो खुलकर किया जा रहा है। उदाहरण के लिए रामजन्मभूमि के लिए हिन्दुओं को ही समझाया जा रहा है, उनकी मति भ्रमित की जा रही है, उन्हीं में भेद डाला जा रहा है, फूट पैदा की जा रही है, उन्हें ही डराया जा रहा है, उन्हें ही फंसाकर दण्डित किया जा रहा है—चाहे आडवानीजी या विनय कटियार या तोगड़ियाजी हो।

तो इसका अर्थ क्या हम हिंसा के समर्थक हैं नित्से आदि की तरह। नित्से ने युद्ध को एक आवश्यक अच्छाई के रूप में स्वीकारा है जिससे व्यक्ति, समाज एवं राष्ट्र का द्रुत गति से विकास होता है। पर नित्से से हमारी दृष्टि में एक मौलिक अन्तर है। हमने युद्ध को एक आवश्यक बुराई के रूप में, लाचारी के रूप में, अन्तिम हथियार के रूप में स्वीकारा है। चाहे आप रामायण को पढ़ लेवें, चाहे महाभारत, चाहे पुराण कथाओं को पढ़ लेवें सबमें युद्ध को अन्तिम अप्रिय साधन के रूप में अपनाया है, जब युद्ध के अलावा सारे मार्ग अवरुद्ध हो गये हैं। क्योंकि जिनके मस्तिष्क विकृत हो गये हैं, हृदय शुष्क ऐसे आसुरी प्रकृति के लोग विवेक एवं प्रेम की भाषा नहीं समझते, विवेक एवं प्रेम का शासन उन पर कारगर नहीं होता, वे क्षमा, उदारता को दुर्बलता समझते हैं। जिनको यह लगता है संसार तो उनकी सेवा के लिए है, उनके आनन्द के लिए है, मौज-मस्ती के लिए। सारे संसार का दायित्व है कि उन्हें कष्ट यहां तक मृत्यु भी स्वीकार कर उन्हें आनन्दित करें। कोई भी सुन्दर स्त्री-सुन्दर वस्तु प्रथम उनके उपभोग के लिए है, ऐसा उनका मानस होता है। ऐसे लोगों के दमन के लिए, समाज की सुव्यवस्था बनाये रखने के लिए ताकि धर्म, नैतिकता सुरक्षित रहे, युद्ध या दण्ड ही एकमात्र उपाय अवशिष्ट रहता है।

युद्ध को आवश्यक बुराई मानने के कारण हम युद्ध मात्र को प्रशस्त नहीं मानते। जो युद्ध द्वेष की भावना से प्रेरित हो, अपनी व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए हो, ईर्ष्या से प्रेरित हो वह धर्मयुद्ध नहीं अधर्म युद्ध है। इन युद्धों में लोभ की वृत्ति, लूट की वृत्ति, अहम् की वृत्ति काम करती है। अतः अधर्म युद्ध है। ऐसा युद्ध दूसरों पर थोपा जाता है। जिस युद्ध के पीछे लोभ, लूट, स्वयं व्यक्ति की महत्त्वाकांक्षा प्रबल प्रेरणा के रूप में है वह अधर्म है। इसलाम में युद्ध की प्रेरणा दी गयी है। अन्यों के सत्त्व, स्वराज्य का अपहरण कर बलात् अपना मत थोपने की

प्रेरणा दी है। इसको धर्मयुद्ध कहा गया है। इसके लिए मनुष्य की निम्न वृत्तियां— लोभ, लूट और काम भोग को उत्तेजित किया है। लूट का धन और स्त्रियां सैनिक, सेनापतियों को बांट दी जाती है और युद्ध में मरने पर शहीद का दर्जा, तुरन्त जन्नत कयामत तक प्रतीक्षा नहीं, और 72 हूरें मिलेंगी। इस प्रकार मनुष्य की निम्न वृत्तियों को प्रोत्साहित कर युद्ध में प्रवृत्त किया जाता है। मरने पर उनके शरीर से दुर्गन्ध नहीं सुगन्ध निकलेगी, उनका शरीर विकृत नहीं होगा आदि-आदि।

अथ चेत्त्व-मिमं धर्म्यं, सङ्ग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च, हित्वा पाप-मवाप्स्यसि।। 2/33

और यदि तू इस धर्ममय युद्ध को नहीं करेगा तो अपने धर्म और कीर्ति को त्यागकर पाप को प्राप्त होगा।

अर्जुन प्रथम अध्याय के 36वें श्लोक में कहते हैं युद्ध करना पाप होगा। भगवान् इस बात का उत्तर देते हुए कहते हैं युद्ध करने से पाप नहीं होगा, युद्ध न करने से ही पाप होगा।

अर्जुन के कह देने मात्र से तो युद्ध पाप नहीं हो सकता। इस धर्मयुद्ध को नहीं करेगा तो वह पाप का, अधर्म का भागी होगा। टाल्सटाय ने अपनी पुस्तक 'धर्म और सदाचार' में बड़ी अच्छी बात लिखी है जो धर्म को नहीं स्वीकारते हैं, वे धर्म को छोड़ देते हैं। धर्म का विरोध करते हैं वे धीरे-धीरे असुरत्व अधर्म की शरण में चले जाते हैं। यहां अर्जुन धर्म युद्ध को छोड़ देगा तो वह धर्म से च्युत हो जायेगा। धर्म से च्युत होना भी अधर्म है। फिर वह अपने पोषणार्थ परधर्म को स्वीकारेगा यह दूसरा अधर्म होगा। फिर वह जब धर्मयुद्ध को छोड़ देगा तो दुष्ट कौरवों को और बल मिल जायेगा। उनका सफल प्रतिरोध नहीं होने से और अधिक शक्ति प्राप्त हो जायेगी और उनकी दुष्टता बढ़ती जायेगी। स्वयं भी गर्त में जायेंगे, पूरे राष्ट्र को भी गर्त में ले जायेंगे। इसलिए श्यामाप्रसाद मुखर्जी ने कहा है कि अन्याय का प्रथम में प्रतिकार, प्रतिवाद करना चाहिये, उससे काम न चले प्रतिरोध करें यानी उसके विरुद्ध डटकर खड़ा होना चाहिये, उससे भी काम न चले तो प्रतिशोध लेना चाहिये।

भगवान् श्रीकृष्ण का भी यही कहना है कर्तव्य का निर्णय एकांगी नहीं होता है। दुर्योधन आदि अत्याचार करते रहें और हम सज्जनता से सहते रहें। वे देश, धर्म को व्यक्तिगत जागीर की तरह उपभोग करते रहें और हम चुपचाप देखते ही रहें, पिसते रहें। अतः कर्तव्य का निर्णय एकांगी नहीं होता। सामने वाले की मनःस्थिति और गतिविधियों को देखते हुए कर्तव्य पर पुनर्विचार करने के लिए व्यक्ति बाध्य होता है। उदाहरणार्थ भरत जैसे शीलनिधि मातृभक्त को भी माता कैकेयी की करतूत से खिन्न होकर कटु वचन कहने के लिए बाध्य होना पड़ा। विभीषण को

अपने भ्राता का, प्रह्लाद को अपने पिता का, बलि को अपने गुरु का विरोध करना पड़ा, अवज्ञा करनी पड़ी। घर का भेदिया घर ढावे का लांछन विभीषण पर लगाना सरासर नासमझी है, गलत है। फिर तो कोई सत्य न्याय का पक्षधर हो नहीं सकता। मीरा बाई के कष्ट निवारण के लिए तुलसीदासजी ने उत्तर दिया—

जाके प्रिय न राम-बैदेही।

तजिये ताहि कोटि बैरी सम, यद्यपि परम सनेही।।

स्वजन स्नेह के पक्षधर अर्जुन को भी दुर्योधन की मनःस्थिति और गतिविधि को देखते हुए स्वजन संघार के लिए बाध्य होना पड़ेगा।

गृहस्थ का धर्म अलग है, संन्यासी का धर्म अलग है। स्वामी विवेकानन्द कहते हैं गृहस्थ को कोई एक थप्पड़ लगावे तो वह प्रतिवाद में उसे दस थप्पड़ लगावे। गांधीजी ने भी थक-हार कर भारत विभाजन के समय कहा था कोई मुसलमान एक हिन्दू को मारे तो हिन्दू भी बदले में एक मुसलमान को मारे उससे अधिक नहीं।

हां, जो घर गृहस्थी से उपराम मोक्षपरायण लोक संग्रह से सुदूर तितिक्षु संन्यासी हो तो केवल उसी का दायित्व होता है कि वे दूसरों के व्यवहार की ओर ध्यान न देकर अपने व्रत का पालन करें। अभिप्राय यह है कि गाली के बदले गाली न दे, अपमान के बदले अपमान न करे, पिटाई के बदले पिटाई न करे। पर वे भी विश्वामित्र की तरह उपद्रवी तत्त्वों का राज्य शक्ति के सहयोग से संहार करा सकते हैं। अपनी तप शक्ति का क्षय न हो इसलिए वे स्वयं क्रोध नहीं करते पर राज्य शक्ति का आश्रय लेकर उसे दूर कर सकते हैं।

यहां तो अर्जुन सद्गृहस्थ है फिर देश-धर्म की रक्षा का दायित्व उस पर है। उसकी उदारता ही उसे जला रही है। वैराग्य से, उदारता से तो चित्त प्रसन्न-प्रफुल्लित होता है। जब हम एक बन्धन से, आसक्ति से मुक्त होते हैं तो चित्त बहुत हलका एवं आनन्द से मग्न हो जाता है। जब सर्व बन्धन से मुक्त होते हैं तो उसकी प्रसन्नता, चित्त की प्रफुल्लता का क्या कहना। चित्त एकदम हलका हो जाता। कबीर दास को याद करें—न लेना, न देना, मगन रहना।

अर्जुन को भगवान् श्रीकृष्ण जैसा गुरु मिला अन्यथा अर्जुन भी अशोक की तरह भिक्षु बनकर देश को आततायियों के हाथों सुपुर्द कर देता। ऐसा ही जाने-अनजाने में गांधीजी एवं हमारे नेताओं के द्वारा हुआ है। उनकी अहिंसा का प्रभाव केवल हिन्दुओं पर ही है। हिन्दू ही अहिंसा के नाम पर मतिभ्रम के केवल शिकार हैं।

अतः अर्जुन यदि धर्म से पलायन करेगा तो अधर्म को बल प्राप्त होगा और उनको सारे देश को अपना चरागाह बनाने का अवसर मिलेगा। इससे अधर्म को तो बढ़ावा मिलेगा ही और अर्जुन की आज तक जो कीर्ति बनी थी वह भी खोकर

पाप का भागी बनेगा। बड़ा वीर बनता था, समय आया तो भाग खड़ा हुआ, ऐसी अपकीर्ति होगी। अतः युद्ध करना ही धर्म है।

अकीर्तिं चापि भूतानि, कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्।
सम्भावितस्य चाकीर्तिर्,-मरणा-दतिरिच्यते।। 2/34

फिर (सब) प्राणी तेरी स्थायी रहने वाली अपकीर्ति को कहते रहेंगे और सम्मानित व्यक्ति के लिए अपकीर्ति मृत्यु से भी अधिक (कष्टदायक) होती है।

भयाद्रणा-दुपरतं, मंस्यन्ते त्वां महारथाः।
येषां च त्वं बहुमतो, भूत्वा यास्यसि लाघवम्।। 2/35

महारथी लोग तुझे भय के कारण युद्ध से विरत हुआ मानेंगे। जिन लोगों में तू बहुत माननीय था, उन्हीं लोगों के सामने अब तू तुच्छता को प्राप्त हो जायेगा।

अवाच्य-वादांश्-च बहून्, वदिष्यन्ति तवाहिताः।
निन्दन्तस्-तव सामर्थ्यं, ततो दुःखतरं नु किम्।। 2/36

तेरे शत्रु लोग तेरे सामर्थ्य की निन्दा करते हुए अनेक न कहने योग्य बातें कहेंगे। फिर उससे अधिक दुःख की बात और क्या होगी? प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में एक श्रद्धा का केन्द्र होता है, उसको यदि योग्य व्यक्ति द्वारा योग्य रीति से स्पर्श कर दिया जाये तो उसका सोया हुआ स्वाभिमान जाग जाता है। भगवान् इन तीन श्लोकों में यही कार्य करेंगे। अब भगवान् श्रीकृष्ण ऐसी बातें कह रहे हैं जो अर्जुन के मर्म को सीधे छुएगी। क्योंकि अर्जुन स्वाभिमानी क्षत्रिय वीर है। भिक्षु होने की तो बात कह रहा है। यह तो बात की बात, ऊपर-ऊपर की बात है। उसकी क्षत्रिय वृत्ति पर चोट लगने वाली बात कहेंगे तो वह उसे बहुत जल्दी समझ में आ जायेगी क्योंकि वह उसकी वृत्ति के अनुकूल होगा। अतः अब वे अपकीर्ति का भय विस्तार से वर्णन करेंगे—

अर्जुन अपने युग का सर्वश्रेष्ठ वीर है। उसके विषय में प्रसिद्धि थी कि जो उसके 12 नाम लेकर युद्ध भूमि में जाता है वह विजयश्री लाभ करता है। साक्षात् शिव से जो अपराजित रहा है, ऐसी उसकी अक्षय कीर्ति है, यश है, वह इस यश को खो देगा।

शत्रुपक्ष और स्वपक्ष में भी बहुत से महारथी योद्धा इस रणक्षेत्र में उपस्थित हैं और वे सभी एक महापराक्रमी योद्धा के रूप में तुम्हारा सम्मान करते हैं। एक नहीं अनेक बार युद्धों में अपने पराक्रम को प्रकटकर तू ने सदैव विजय प्राप्त की है इसलिए तुम्हारा एक नाम विजय भी महारथियों में प्रसिद्ध है। युद्ध में अपने पराक्रम से भगवान् शंकर को सन्तुष्ट कर तू ने महान् कीर्ति का अर्जन किया है। अकेले रथारूढ़ तू ने इन्द्र के शत्रु निवातकवचों का वध किया है। इतना ही नहीं, तू ने

गन्धर्वों को परास्त कर दुर्योधन को उनके बन्धन से मुक्त कराया है और एकाकी रथारूढ़ हो भीष्म, द्रोण, कृप, कर्ण, अश्वत्थामा सहित सभी धृतराष्ट्र पुत्रों को परास्त कर महाराज विराट के गोधन की रक्षा की है। ऐसे ही अनेकों अद्‌भुत कार्य अब तक तुम्हारी कीर्ति की वृद्धि करते रहे हैं। किन्तु इस समय तुम अकारण ही शोक संतप्त हो धर्म से विरत हो रहे हो।

ऐसी स्थिति में ये सभी महारथी योद्धा यही मानेंगे कि तुम भीष्म, द्रोण, कृप आदि महारथी वीरों के भय से भयभीत हो युद्ध से उपरत हुए हो। इस भय में जिन कारणों को वे मानेंगे वे भी युक्तिसंगत ही कहें जाएंगे। भीष्म, द्रोण, कृप और अश्वत्थामा, ये सभी अजेय हैं। भीष्म केवल महारथी ही नहीं हैं, उन्हें इच्छामृत्यु का वरदान भी प्राप्त है और आचार्य द्रोण के हाथ में शस्त्र रहते हुए त्रिलोकी में ऐसा वीर नहीं जो उन्हें पराजित कर सके। आचार्य कृप भी उसी प्रकार से दिव्य अस्त्रों से युक्त हैं। अश्वत्थामा महाबली योद्धा और चिरंजीवी है। कर्ण के पास भी इन्द्र की दी हुई अमोघ शक्ति है और जयद्रथ भी भगवान् शंकर और अपने पिता के वरदान से युक्त होने से अजेय है। सभी महारथी यह मानेंगे कि सर्वत्र विजय प्राप्त करने वाला अर्जुन रणक्षेत्र में इन अजेय योद्धाओं को देख अपनी विजय की आशंका से निराश व भयभीत हो युद्धभूमि से भाग गया है और वीर क्षत्रिय के लिए इससे अधिक अपकर्म की व निंदित कर्म की कल्पना भी नहीं की जा सकती। उसके लिए तो धर्म रक्षार्थ युद्धभूमि में उपस्थित होने पर केवल दो ही विकल्प रह जाते हैं—एक विजय और दूसरी मृत्यु। तीसरा कोई विकल्प नहीं रहता। गोस्वामी तुलसीदासजी लिखते हैं—

छत्रिय तनु धरि समर सकाना।
कुल कलंकु तेहि पावँर आना। (रा. 1/284-3)

जो क्षत्रिय कुल में जन्म ले व क्षत्रिय का शरीर धारण कर समर भूमि में शंकित व भयभीत होता है, वह कायर अपने कुल को कलंकित करने वाला होता है। श्रीभगवान् कहते हैं कि वे सभी महारथी और मैं भी यह जानता हूं कि तू कायर नहीं, शौर्य, तेज युक्त महापराक्रमी वीर है किन्तु इस समय यदि तुम युद्ध से विमुख हुए तो सब महारथी तुम्हें भयभीत हुआ, युद्ध से पलायन करने वाला ही मानेंगे।

हम साहसपूर्ण, जोखिमभरा या बड़ा भारी काम या कठिन काम जय हनुमानजी की या हर-हर महादेव या माँ दुर्गा या शिवाजी-राणा प्रताप का नाम लेकर करते हैं तो हममें जोश आ जाता है। हमारे अन्दर सोयी हुई शक्ति जाग जाती है। अर्जुन के प्रति भी समाज की ऐसी मान्यता है? पर अब वह स्वयं ही युद्ध से पलायन करेगा तो क्या यह मान्यता रह जायेगी?

व्यक्ति तो आते-जाते रहते हैं यश एवं अपयश ही जीवित रहता है। राम से रमण महर्षि किसी का भी शरीर नहीं उनका यश ही तो अमर बना हुआ है। यशस्वी व्यक्ति के आधार पर धर्म की, समाज की, जाति की, राष्ट्र की पहचान होती है। यशस्वी व्यक्ति के आधार पर अन्य देश के लोग उस देश को, उसके धर्म को, उसके समाज को याद करते हैं, सम्मान देते हैं। इस देश की पहचान हम-आप से नहीं है, राम-कृष्ण से है, व्यास-वशिष्ठ से है, कालिदास-तुलसीदास से है, पाण्डवों से है, गांधी, तिलक, सुभाष से है। ये नाम आपको घर-घर में मिलेंगे, पर कौरवों के नाम, रावण का नाम कहीं नहीं मिलेंगे, कहीं भूल से अपवाद स्वरूप भले ही मिल जाये। राम-कृष्ण, व्यास-वशिष्ठ के नाम श्रवण मात्र से श्रद्धा से सिर झुक जाता है और जब तक यह देश रहेगा तब तक पूजे जायेंगे। और रावण, कंस, कौरवों के नाम लेने मात्र से मन के भाव घृणा से भर जाते हैं और जब तक पृथ्वी है यानी युग-युग तक धिक्कारे जाते रहेंगे।

अर्जुन भी इस प्रकार का सम्मानित व्यक्ति है।

यश की प्राप्ति होती है स्वधर्म के पालन से। बिना परिश्रम के, बिना तप के, स्वधर्म पालन के किसको वास्तविक यश मिला है! तुम्हारे परिश्रम एवं तप ने ही तुझे यशस्वी बनाया है। अपने गुरुकुल व तापसवेश के समय को स्मरण करे। शस्त्र अभ्यास के काल में गुरु को प्रसन्न किया रात्रि के अन्धेरे में ही अभ्यास से। एक बार भोजन के समय हवा के झोंके से दीपक बुझ गया पर देखा हाथ का कौर तो मुख में ही जाता है अभ्यासवश बिना प्रकाश के भी। तब से शस्त्र अभ्यास भी रात्रि में तभी निद्राजयी कहा जाता है। तापसवेश में अंगूठे के बल पर खड़े होकर तपस्या कर शिवजी को, स्वर्ग में इन्द्र को प्रसन्न किया। तो आज जो उसका यश है वह उसके तप का परिणाम है। आजकल के नेताओं की बात अलग है। उनके सामने तो लोग उनका यश गाते हैं और पीठ पीछे गाली देते हैं। अर्जुन धर्मपरायण होने से, स्वधर्म पालक होने से सम्मानित व्यक्ति रहा है पर अब स्वधर्मच्युत होने से वह अपने सम्मान को खोकर अक्षय अपकीर्ति का भागी होगा और असम्मानित बनेगा। व्यक्ति के लिए अपयश मृत्यु से भी बढ़कर है। अतः मरण से भी अधिक यातना पाकर जीवित रह पाओगे। जीवित रहते हुए भी शोकाकुल ही रहोगे। जिनके लिए सदा माननीय रहा है वे महारथी लोग भी यही सोचेंगे कि तू भय से युद्ध से पलायन कर गया।

अर्जुन! तू भले ही ऐसा मानता हो कि तू युद्ध से घबराकर नहीं भाग रहा, बल्कि तू पूज्यजनों के प्रति पितामह भीष्म, आचार्य द्रोणाचार्य के प्रति पूज्य बुद्धि के कारण उनसे युद्ध नहीं करना चाहता, पर तेरी यह बात उभय पक्ष के योद्धा नहीं मानेंगे। वे कहेंगे कि अर्जुन को तो पहले से ही पता था कि ये दोनों तुम्हारे विरुद्ध

युद्ध में खड़े हैं। वे तो यही सोचेंगे कि तू कौरवों की विशाल सेना एवं शूरवीरों को देखकर डर गया है क्योंकि भीष्म, द्रोण, कृप, कर्ण आदि अजेय हैं और अब उनसे डरकर बहानेबाजी कर रहा है। तेरी यह कायरता को देखकर तेरे प्रति उनका दृष्टिकोण बदल जायेगा। वे अब तक तुझे वीर, गाण्डीवधारी, महादेव से अपराजित रहने वाले योद्धा के रूप में देख रहे हैं। उनके हृदय में तेरे शौर्य के लिए बड़ा आदरभाव है। पर अब वे तुच्छ दृष्टि से देखेंगे और कायर समझेंगे। यानी जिनकी दृष्टि में तू बहुमानप्रद था उन्हीं की दृष्टि में लघुता को प्राप्त होकर कल कुशल जीवित नहीं रह पाओगे।

तुम्हारी धर्मनिष्ठा और शूरतादि के कारण हृदय से नतमस्तक दुर्योधनादि क्लीव, कायर, दुरात्मा आदि अपशब्दों का प्रयोग कर तुम्हारे सामर्थ्य की निन्दा करते हुए अघायेंगे नहीं। इससे बढ़कर तुम्हारे लिए भला क्या दुःख होगा। जो दुर्योधन तेरे से डरा हुआ है अब चिढ़ायेगा। दुर्योधन भी तो अन्दर से डरा हुआ है, दुःखी है। जानता है उनका पक्ष अधर्म का है। जिसे स्पष्ट रूप से श्रीकृष्ण के सामने स्वीकारता है पर स्पष्ट कह देता है मेरी धर्म में प्रवृत्ति नहीं और न अधर्म से निवृत्ति। अतः मुझे समझाकर अपना समय बर्बाद मत करो, न मेरा समय।

तेरे वैरी लोग तेरी निन्दा में बढ़ा-चढ़ाकर बातें कहेंगे। जिन बातों की तू ने सपने में भी कल्पना न की होगी, तेरे प्रति वे सब बातें कही जायेगी। यह तो मृत्यु से भी बदतर है। ऐसा जीना भी किस काम का, जहां जीवन में केवल अपकीर्ति ही अपकीर्ति हो। तू कहता है कि तू भिक्षा के द्वारा आजीविका चलाना पसन्द करेगा, पर क्या तू ने कभी इस पर विचार किया, अर्जुन कि जब तू भिक्षा पात्र लेकर निकलेगा, तो लोग तेरी प्रशंसा नहीं करेंगे, ऐसा नहीं कहेंगे कि अर्जुन कितना अहिंसा प्रिय है, बड़ों को कितना मान देता है, बल्कि वे तो तेरी खिल्ली उड़ाते हुए कहेंगे कि अर्जुन कायर और नपुंसक निकला, वह क्षत्रिय की सन्तान नहीं है। वे कहेंगे कि हम जो अर्जुन की वीरता की गाथायें सुनते आ रहे थे सब मिथ्या है। अर्जुन, सोच तो सही, जब तू भिक्षा के लिए जायेगा और तेरे पीछे बच्चों के झुण्ड तुझ पर ताने कसते चलेंगे, तब तुझे कैसा लगेगा? वे कहेंगे बड़ा वीर बनता था, समय आया वीरता दिखाने का तो भाग खड़ा हुआ।

तुम्हारी घोर अरण्य में भी तुम्हारी कोई निन्दा करेगा तो तू सह नहीं पाओगे। अर्जुन! तुम जंगल में भी चले जाओगे सब कुछ छोड़ छाड़ करके वहां पर तुमको कोई बुरे शब्द कहेंगे, ये देखो बड़ा बनता है, कुन्ती का पुत्र बनता है, बड़ा महावीर बनता है, बड़ा गाण्डीवधारी बनता है और उस समय तुमको आयेगा रोष। उस समय तुमसे और कुछ नहीं होगा, तुम लकड़ी लेकर, पत्थर लेकर उससे लड़ने

के लिए उछल पड़ोगे। यह तुम्हारा स्वभाव है। इस प्रकार तुम अपने स्वभाव का अतिक्रमण नहीं कर सकते।

अर्जुन अपने प्रातःस्मरणीय, वन्दनीय बड़े भ्राता की, गाण्डीव के प्रति धिक्कार को भी नहीं सह पायेगा, उनके वध के लिए भी तैयार हो जायेगा। भाग्य से श्रीकृष्ण होने से युधिष्ठिर महाराज की रक्षा हो सकेगी? अर्जुन की यह प्रतिज्ञा है जो गाण्डीव को धिक्कारेगा उसे नहीं छोड़ेगा। युधिष्ठिर महाराज को कर्ण ने घायल कर दिया। वे अपने शिविर में विश्राम कर रहे थे। युधिष्ठिर को लगा, अर्जुन कर्ण को मारने का शुभ-सम्वाद लेकर आया है। पर जाना ऐसी बात नहीं तो उन्होंने कह दिया धिक्कार है तेरे गाण्डीव को। तो अर्जुन ने तलवार निकाल ली तब भगवान् ने कहा मारने के अनेक तरीके हैं बड़ों को तू-ता कहना ही मृत्यु तुल्य है और जब तू-ता कह दिया तो आत्मग्लानि से भर गया, स्वयं आत्महत्या करने को उद्यत हो उठा। मैंने ज्येष्ठ को, पूज्यवर को, वन्दनीय जिनके सामने कभी मुख नहीं खोला, उन्हें तू कह दिया। अब मेरा शरीर जीवित रहने योग्य नहीं तब भगवान् ने कहा अपनी आत्म प्रशंसा कर। आत्म प्रशंसा मृत्यु तुल्य होती है। यह सब बातें सद्गृहस्थ की दृष्टि से, वीर पुरुष की दृष्टि से कही जा रही है। अर्जुन वास्तविक संन्यासी भावापन्न होता तो इन बातों की बिना परवाह किये संन्यासी बन जाता। पर उसने तो मात्र संन्यासी का लबादा ओढ़ा है भीतर तो क्षत्रियत्व भरा पड़ा है। सद्गृहस्थ का लक्षण है अच्छे लोगों के लक्षण है विपत्ति में धैर्य, उदर में क्षमा, सभाओं में वाक्पटुता, युद्ध में विक्रम, यश में अभिरुचि, अध्ययन में ज्ञान की प्राप्ति का व्यसन।

यह बात सबके लिए नहीं है। संन्यासी के लिए अष्टावक्र गीता में कहा है—

प्रतिष्ठा सूकरी विष्ठा, गौरवं घोर रौरवम्।
मानं चैव सुरापानं त्रयं त्यक्त्वा सुखीभव।।

संन्यासी के धर्म अलग हैं, सद्गृहस्थ के धर्म अलग हैं। मृत्यु केवल श्वास रुकने से नहीं होती, सम्मानित की मृत्यु तो अपयश से होती है। सभी तुम्हारे मर्दपने का छेदन करेंगे। अतः धर्म युद्ध कर।

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं, जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मा-दुत्तिष्ठ कौन्तेय, युद्धाय कृत-निश्चयः।। 2/37

हे अर्जुन! तू प्राप्त युद्ध में मर जाने पर स्वर्ग लाभ करोगे। विजयश्री लाभ कर राज्योपभोग करोगे। ऐसी स्थिति में कौन्तेय कृतसंकल्प होकर युद्ध के लिए कटिबद्ध हो जाओ। दोनों ही स्थिति तुम्हारे लिए लाभकर है। तेरे दोनों हाथों में लड्डू है। तुम विजयश्री लाभ करोगे तो समृद्ध राज्य के साथ-साथ, मरने पर परलोक

के अधिकारी बनोगे और वीरगति को प्राप्त हुए तो स्वर्ग। और लोक में धवल यश फैलेगा कि तुमने यथोचित वीरोचित, क्षत्रियोचित कर्तव्य का पालन किया है। इसलिए इस धर्मयुद्ध में तुम्हारी हानि तो कुछ भी नहीं है, केवल तुम्हें लाभ ही लाभ मिलने वाला है।

शत्रु पक्ष की तो हानि ही हानि है क्योंकि वे जीतेंगे तो कुछ समय के लिए अपने साम्राज्य को स्थिर मात्र कर पायेंगे, लोक निन्दा के साथ। बाद में पुनः उन्हें चुनौती मिलेगी।

पर तुम्हें तो कुछ खोना नहीं है, जो खोना था वह तो तुम पहले ही खो चुके हो। इस धर्म युद्ध में तो तुझे सिर्फ पाना ही पाना है। जीतने से राज्य भी, यश भी, मरने पर स्वर्ग और हारने पर यश के साथ-साथ स्वर्ग। अतः स्वधर्म बुद्धि से धर्म युद्ध करो। तुझे खोना कुछ नहीं पाना ही पाना है।

सुख-दुःखे समे कृत्वा, लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व, नैवं पाप-मवाप्स्यसि।।2/38

सुख और दुख, लाभ और हानि, जय और पराजय को समान समझते हुए युद्ध में प्रवृत्त हो जा। इससे तुझे पाप छू न सकेगा।

अर्जुन का प्रश्न था परिणाम की दृष्टि से कि पता नहीं युद्ध में कौन जयी होगा। (2/6)। वे जीतेंगे या हम जीतेंगे। भगवान् श्रीकृष्ण इसका उत्तर देते हुए कहेंगे कि धर्म युद्ध जो कर्तव्य बुद्धि से किया जाता है उसमें परिणाम का विचार करके नहीं किया जा सकता। ऐसे युद्ध (कर्म) समत्व बुद्धि से ही सम्पादन हो सकते हैं।

जो युद्ध स्वार्थ से प्रेरित होकर किया जाता है परिणाम का विचार कर किया जाता है।

पर धर्मयुद्ध परिणाम का विचार कर नहीं किया जाता। यह तो मात्र कर्तव्य बुद्धि से अपने चित्त को जय-पराजय, लाभ-हानि सम रखकर किया जाता है। जितने भी स्वातंत्र्य समर हुए उसके पीछे यही भाव था। चाहे अकबर के विरुद्ध राणा प्रताप का स्वातंत्र्य समर हो या मुगलों के विरुद्ध शिवाजी का हो या वर्तमान भारत में अंग्रेजों के विरुद्ध विप्लवी बन्धुओं का हो या गांधीवादियों का हो।

अतः सामान्य युद्ध एवं धर्मयुद्ध में अन्तर है—सामान्य युद्ध लोभ की भावना से प्रेरित होकर जय की सम्भावना से होता है। इसमें स्वार्थ की भावना, व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षा की भावना ही मुख्य होती है। अतः हार की सम्भावना से उत्साह भंग हो जाता है।

पर धर्मयुद्ध तो, स्वातंत्र्य समर तो जय-पराजय की भावना में सम भाव रखते हुए केवल कर्तव्य बुद्धि से किये जाते हैं। अंग्रेजों के विरुद्ध विप्लवी बन्धुओं के संघर्ष केवल कर्तव्य की भावना से प्रेरित थे, प्रथम में तो विजय की आशा नहीं के बराबर। निश्चित विजय की भावना को लेकर चलने से तो अंग्रेजों के विरुद्ध स्वातंत्र्य समर प्रारम्भ ही नहीं हो सकता था क्योंकि उनके विषय में कहावत थी अंग्रेजों के राज्य में सूर्य अस्त नहीं होता। इतना बड़ा उनका साम्राज्य था। 70 देशों में उनका राज्य था। यहां सूर्यास्त हुआ तो अन्य देशों में सूर्योदय। तो इतने शक्तिशाली एवं बड़े साम्राज्य से टकराना अपने देश की रक्षा के लिए वह बहुत सीमित साधनों से अतः प्रथम में विजय की सम्भावना हो ही नहीं सकती। केवल कर्तव्य बुद्धि से जन-जागरण की बुद्धि से गुरिल्ला युद्ध कर सकते थे जैसा कि उधमसिंह ने स्पष्ट रूप से ब्रिटिश साम्राज्य को चुनौती दी थी। चाहे शिवाजी हो, चाहे राणा प्रताप हो बहुत ही सीमित साधन से अपने से बहुत बड़े शक्तिशाली साम्राज्यों से टकराये तो केवल कर्तव्य बुद्धि से, जन-जागरण की दृष्टि से, न कि विजय की आशा से। विप्लवी बन्धु भी इसी भाव से अंग्रेजों से टकराये। चाहे वह भगतसिंह और आजाद हो, चाहे खुदीराम बोस और प्रफुल्ल चाकी हो, चाहे वह विनय बादल दिनेश हो, चाहे रामप्रसाद बिस्मिल उशाउल्ला खां हो, चाहे रासबिहारी बोस एवं सुभाष हो।

यही कारण 1857 से स्वातंत्र्य युद्ध प्रारम्भ हुआ पर सफलता 1947 में मिली। समत्व भूमि में स्थित होकर द्वन्द्वातीत भूमि पर स्थित होकर कार्य करने से किसी को पाप नहीं लगता।

अर्जुन द्वेष बुद्धि से युद्ध करने आया था। तो भगवान् द्वेष बुद्धि से युद्ध करने नहीं देंगे। और स्वजनों के प्रति राग उत्पन्न होने पर भागने लगा था। तो भगवान् राग बुद्धि के कारण युद्ध से पलायन भी नहीं करने देंगे। भगवान् ने तो युद्ध को भी योग बना दिया। विषाद जैसा गर्हित भाव सच्चे मन से भगवान् को समर्पित कर देने से योग बन जाता है। यह प्रथम अध्याय के नाम एवं पुष्पिका से ही स्पष्ट है तब युद्ध योग क्यों नहीं बन सकता।

अब प्रश्न उठता है युद्ध योग कैसे हो सकता है?

यहां सामान्य युद्ध योग नहीं बन सकता। सामान्य युद्ध ईर्ष्या से, लोभ से, अपमान का बदला चुकाने की भावना से, स्वार्थ से, वासना से प्रेरित हो सकता है। सामान्य युद्ध तो जीतने पर ही सुखी हो सकता है क्योंकि जीतने पर राज्य लाभ होगा। और राज्य लाभ से सुख। युद्ध में पराजय से राज्य का अलाभ रहेगा और उससे दुःख होगा। अतः सामान्य युद्ध जय-पराजय, लाभ-अलाभ, सुख-दुःख

से ग्रसित होता है। पर धर्मयुद्ध मात्र कर्तव्य निर्वाह के लिए किया जाता है। इसमें जय-पराजय, लाभ-अलाभ, सुख-दुःख में चित्त को सम रखकर किया जाता है। अतः धर्मयुद्ध में ही योग की भावना सन्निहित होती है। युद्ध को इतने ऊँचे स्तर पर आज तक कोई प्रतिष्ठित नहीं कर पाया। गीता ने, भगवान् ने युद्ध को भी योग बना दिया। क्योंकि यह युद्ध मन को जय-पराजय, लाभ-अलाभ, सुख-दुःख में सम रखकर मात्र कर्तव्य निर्वाह के लिए किया जाता है।

सच्चे समत्व में तो हम तभी स्थित हो पाते हैं जब आत्म तत्त्व की उपलब्धि हो जाती है क्योंकि वही एक सम है, निर्दोष है बाकी सबमें विषमता है 'निर्दोषं हि समं ब्रह्म।' 5/19 (गीता) तब अपना-पराया कोई नहीं रहता फलतः किसी के लिए न मोह होगा, किसी के लिए न शोक होगा। सर्वत्र एक ही आत्मा विराजती है, यह बोध हो जाता है तब वास्तविक जय-पराजय, लाभ-हानि, सुख-दुःख शेष रहता ही नहीं। जब आत्मतत्त्व की उपलब्धि होती है तब आत्मतत्त्व या चेतन का ही एक मात्र अस्तित्व शेष रहता है। जैसा कि रामकृष्ण परमहंसजी के स्पर्श से विवेकानन्दजी को अनुभूति हुई, तो वे घबरा गये। नाम-रूपात्मक जगत् तो उस चेतना में उठी हुई कल्पित लहर है जिसकी वास्तविक सत्ता नहीं है। जब जगत् ही कल्पित है तो जगत् के द्वन्द्व कहां पे सत्य होंगे। अतः आत्मोपलब्धि से चित्त स्वतः ही द्वन्द्वों में सम रहता है उससे प्रभावित नहीं होता। उस समय अध्यारोपित जय-पराजय, लाभ-हानि, सुख-दुःख की सत्ता शेष रहती है, अतः आत्मवान व्यक्ति का उसमें चित्त स्वाभाविक रूप से सम रहता है। यह स्थिति आत्मवान व्यक्ति ही, लब्ध व्यक्ति ही उपलब्ध कर सकता है—अनात्मवान व्यक्ति, अलब्ध व्यक्ति नहीं। समत्व बोध में विवेक तभी स्थित रहता है जब उसको यह उपलब्धि हो जाती है सबमें एक ही आत्मतत्त्व विलसित हो रहा है। इस एकत्व की उपलब्धि से ही जीवन समत्व में प्रतिष्ठित हो सकता है और स्वधर्म का पालन भी तभी ही हो सकता है। इसके पूर्व यानी आत्मोपलब्धि के पूर्व समता अभ्यासजन्य है आत्मोपलब्धि के पश्चात् यह समता स्वाभाविक रूप से होती है। अतः समता का अभ्यास करे इसकी चर्चा पहले की जा चुकी है। उसका स्मरण करे। स्वधर्म पालन में मृत्यु आये तो वह भी श्रेयष्कर है। मृत्यु से डरकर, परधर्म स्वीकारना उचित नहीं है यानी हर स्थिति में स्वधर्म पालन होना चाहिये।

(1) स्वधर्म अपने-पराये के भेद के ऊपर है। न्याय में सब समान है।

(2) परिस्थिति निरपेक्ष। प्रत्येक परिस्थिति में स्वधर्म का पालन होना चाहिये। यदि जंगल में ब्रह्म ज्ञान वरेण्य है तो युद्ध में भी लागू होना चाहिये। शान्ति में क्रान्ति में यानी सब स्थितियों में।

(3) धर्म व्यक्तिगत, कुलतन्त्र, जातिगत इच्छा-अनिच्छा से ऊपर है। तभी प्रह्लाद ने अपने पिता को, भरत ने अपनी माता को, विभीषण ने अपने भ्राता एवं जाति को, बलि ने अपने गुरु को, मीरा ने अपने परिवार को त्याग दिया। युयुत्सु ने भी अपने भ्राता दुर्योधन का त्याग किया।

(4) धर्म अच्छे-बुरे फल, अनुकूल-प्रतिकूल परिणाम से मुक्त है। अच्छे कर्म द्वारा प्रतिकूल परिणाम भी मिले (भगतसिंह को फांसी भी मिले) तो वरेण्य है, बुरे कर्म द्वारा यदि अनुकूल परिणाम मिले (Black market) द्वारा धन मिले तो भी बुरा। इसलिए स्वधर्म पालन निष्काम कर्मयोग की भावना से होना चाहिये।

अतः स्वधर्म सर्वोच्च है देश-काल, पात्र, परिस्थिति निरपेक्ष है। सभी अवस्थाओं में अनिवार्य रूप से पालन योग्य है।

Dharm 'Duty' should not be at the mercy of

A. Circumstances.

B. Personal like dislike.

C. Favours & Prejudice. (राग-द्वेष)

D. Kinsmen or Aliens. (अपना-पराया)

E. Favourable or unfavourable fruit of consequence.

आत्मोपलब्धि के पूर्व यह स्थिति अभ्यासजन्य है, आत्मोपलब्धि के पश्चात् यह स्थिति स्वाभाविक रूप से हम में होती है। जैसे नाटक में, स्वप्न में। स्वप्न के उत्थान के पश्चात् स्वप्न के पात्रों एवं दृश्यों के प्रति बुद्धि सम हो जाती है। तो यह स्थिति कब सम्भव है जब यह हमें स्पष्ट अनुभूति हो जाये कि वास्तविक रूप से जय-पराजय, लाभ-हानि, सुख-दुःख, अपने-पराये, कुछ है ही नहीं। वास्तविक सत्ता, आत्मा की है जो सदा एक-सी ही अवस्था में रहती है, ये जय-पराजय, लाभ-हानि, सुख-दुःख वास्तविक या पारमार्थिक स्थिति नहीं मात्र व्यावहारिक स्थिति मात्र है। जैसे की नाटक में, स्वप्न में होता है। नाटक में भी आत्मविलास है और स्वप्न में चिद्विलास की सत्ता ही रहती है। फलतः नाटक के पात्रों के व्यवहार में हम सम रहते हैं, स्वप्न के व्यवहार में हम जागने पर सम हो जाते हैं। नाटक में चाहे नट का विवाह हो या नट की मृत्यु, दोनों ही मिथ्या है। नट के विवाह से सुख और नट की मृत्यु से दुःख होने का नाटक करते हैं, वास्तविक नहीं। पर हम दोनों स्थिति में सम रहते हैं या नहीं। वैसे ही स्वप्न में हम राजा बन जाते हैं कभी रंक, पर जागते ही दोनों स्थिति मिथ्या है। यह बोध होने से हम राजा बनें या रंक, दोनों से हम प्रभावित न होकर सम रहते हैं या नहीं। इसी प्रकार जीवन में जब सर्वत्र आत्मानुभूति हो जाती है, एकत्व की अनुभूति हो जाती है, तब हमारे

सारे व्यवहार लोकवत् लीला कैवल्यम् होते हैं। अवतारों के सारे व्यवहार लीला कहलाते हैं। ऐसी स्थिति उपलब्ध हो जाने पर ही जय-पराजय, लाभ-हानि, सुख-दुःख, दोनों में हमारी समता बनी रहती है।

पिछला प्रसंग स्वधर्म का था। इसको समाप्त करते हुए, समेटते हुऐ भगवान् कहते हैं—

एषा तेऽभिहिता साङ्ख्ये, बुद्धिर्-योगे त्विमां शृणु।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ, कर्म-बन्धं प्रहास्यसि।।2/39

हे पार्थ! यह तुझे सांख्य सम्बन्धी बुद्धि बतलायी गयी, पर अब तू योग सम्बन्धी बुद्धि सुन, जिस बुद्धि से युक्त होकर तू कर्मबन्धन को काट लेगा।

यह श्लोक एक विषय का समाहार है, समापन है और दूसरे विषय का आरम्भ है, उद्बोधन है। यह सन्धि का श्लोक है। इसके पूर्व अभी तक जो कहा गया वह सांख्य है। सांख्य का क्या अर्थ है इसे भी देख लेना चाहिये। गीता में सांख्य शब्द का अर्थ कपिल दर्शन, षड् दर्शनों में से एक से अभिप्रेत नहीं है। गीता सांख्य दर्शन से परिचित है। पर गीता सांख्य शब्द का प्रयोग अपने ढंग से करती है। गीता शब्द तो प्राचीन शास्त्रों से स्वीकारती है पर उसमें अपना नया आयाम जोड़ देती है। जैसे-यज्ञ शब्द कर्म शब्द लिया पर आयाम अपना जोड़ देती है। कर्म के साथ निष्कामता का आयाम गीता का अपना है। यज्ञ के साथ इदम न मम का आयाम जोड़ कर सारे जीवन को ही यज्ञमय बनाने का आह्वान करती है। वैसे ही सांख्य शब्द को परम्परागत अर्थ में नहीं स्वीकार करती है। यही गीता की विशेषता है। वह प्राचीन शब्दों का उपयोग तो करती है, पर उनका वह एक मौलिक अर्थ रखती है, जो व्यावहारिक और जो गीता के भावों के अनुकूल है। गीता 'सांख्य' शब्द का उपयोग गीता 'सांख्य दर्शन' के रूप में न कर ज्ञान के रूप में करती है।

यहां 'सांख्य' का अर्थ 'सांख्य दर्शन' नहीं लिया जा सकता क्योंकि सांख्य दर्शन प्रकृति को स्वतन्त्र मानता है और ईश्वर को न मानता हुआ, पुरुष को स्वीकार करता है और उसे अकर्ता मानता है। जैसे—गाय बछड़े को देखकर रम्भा जाती है, वैसे ही प्रकृति-पुरुष के संयोग से सृष्टि होती है। पर गीता में प्रकृति को स्वतन्त्र नहीं माना गया है। प्रकृति भगवान की शक्ति है। स्वयं भगवान् कहते हैं—मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्। (9/10) मेरी अध्यक्षता में प्रकृति चराचर जगत् की सृष्टि करती है; 'प्रकृतिं स्वा-मधिष्ठाय, सम्भवा-म्यात्म-मायया'। (4/6) अपनी प्रकृति को वश में करके अपनी योगमाया से मैं अपने आपको प्रकट करता हूं; दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया। (7/14) 'यह मेरी त्रिगुणमयी अलौकिक माया दुस्तर है कठिन है, आदि-आदि। फिर सांख्य में

पुरुष अकर्ता है, जबकि गीता में भगवान् सम्पूर्ण कर्तृत्व अपने ऊपर लेते हैं। यथा- 'अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते'। (10/8) मैं सबकी उत्पत्ति का कारण हूं, मुझसे सब कुछ निकला है; 'अहं कृत्स्नस्य जगतः, प्रभवः प्रलयस्-तथा'। (7/6) मैं ही समस्त जगत् की उत्पत्ति और विनाश का कारण हूं, आदि। अतएव यह तो निश्चित है कि विवेच्य श्लोक का 'सांख्य' शब्द 'सांख्य' दर्शन की अर्थ व्यंजना नहीं करता। तब 'सांख्य' का अर्थ क्या है?

भगवान् भाष्यकार 'सम्यक् ख्यायते इति संख्या, तदेव सांख्यम्' ऐसी व्युत्पत्ति मानकर सांख्य शब्द का अर्थ 'परमार्थ-वस्तु विवेक करते हैं। यानी जिसके द्वारा सम्यक् रूप से वस्तु तत्त्व ख्यायते अर्थात् प्रकाशित होता है उसको सांख्य अर्थात् सम्यक ज्ञान कहा जाता है। उस सम्यक् ज्ञान के द्वारा जो प्रकाशित होता है उस आत्मतत्त्व को 'सांख्य' कहा जाता है। स्वयं गीता इस शब्द का अर्थ अन्यत्र स्पष्ट कर देती है—

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा, पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञान-योगेन साङ्ख्यानां, कर्म-योगेन योगिनाम्।। 3/3

हे निष्पाप अर्जुन! इस लोक में मेरे द्वारा पहले दो निष्ठायें कही गयी हैं, ज्ञानयोग के द्वारा सांख्यों की और कर्मयोग के द्वारा योगियों की।

रामानुज ने भी सांख्य शब्द का अर्थ बुद्धि किया है। जिस बुद्धि के द्वारा आत्मतत्त्व को ग्रहण किया जाये वह सांख्य है। गीता के सांख्य का प्रयोग है ज्ञान के रूप में, बुद्धि के रूप में। गीता में सांख्य शब्द का प्रयोग है सम्यक् बुद्धि द्वारा गृहित आत्मतत्त्व के रूप में। सांख्य के दो पक्ष हैं एक है विचार पक्ष- दूसरा है, आचरण पक्ष, व्यवहार पक्ष। सांख्य के द्वारा जो कुछ निरूपित हुआ है उसका पहला अंश है आत्मा की अमरता, आत्मा का अकृतित्व, आत्मा का अप्रेरकत्व। यह जो आत्मा कुछ नहीं करती, आत्मा के अकृतित्व, आत्मा के अप्रेरकत्व, अखण्डत्व, अमरत्व को निरूपित करने वाले जो गीता के श्लोक हैं वे सांख्य हैं। और उस आत्मा की अमरता, अखण्डता के निरूपण के बाद स्वधर्म का आचरण भी सांख्य के अन्तर्गत है। तत्त्व की दृष्टि सांख्य को प्रथम में सुपाच्य नहीं होगी फिर इसका दुरुपयोग भी हो सकता है, अतः भगवान् ने तुरन्त बाद आचरण पक्ष के रूप में स्वधर्म की महिमा का बखान किया। फिर ब्रह्म विद्या के दो पक्ष हैं—एक सिद्धान्त पक्ष, दूसरा व्यवहार या आचार पक्ष या साधना पक्ष जैसा कि गीता पुष्पिका 'ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे' से भी स्पष्ट है। सांख्य शब्द के द्वारा गीता में दो बातों को समझाया गया कि दृष्टि, विचार और ज्ञान तो वेदान्त का होना चाहिये और लोक में व्यवहार स्वधर्म के अनुसार होना चाहिये। रामकृष्ण परमहंस देव कहा करते थे अद्वैत वेदान्त की गांठ बांधकर सारे संसार में विचरण

करो एवं व्यवहार करो। दर्शन सम पर वर्तन तो गुण के आधार पर ही होता है (ताकि किसी के प्रति अन्याय न होवे) वैसे ही दृष्टि तो सांख्य की, ज्ञान की, पर वर्तन तो स्वधर्म के अनुसार ही होगा। यदि कोई अन्यायी है, दुराचारी है तो दृष्टि सांख्य की होते हुए भी स्वधर्म के आधार पर उसे दण्डित करना अर्जुन का कर्तव्य है। कौरवों के अन्याय के लिए दण्ड देना या युद्ध करना क्षत्रिय अर्जुन का स्वधर्म है। और इस स्वधर्म के पालन से अपना एवं समाज का भला होगा और उसका अपना अध्यात्मिक विकास भी सम्पन्न होगा एवं दुरात्मा का उद्धार होगा। उन्हें आगे विकास का अवसर मिलेगा।

यहां योग शब्द का अर्थ भी पातंजलकृत अष्टांग योग दर्शन से नहीं है वरन् कर्मयोग से है।

भगवान् ने अर्जुन को शोक और मोह से बचने के लिए आत्मा के तत्त्व ज्ञान का उपदेश दिया। पर जब भगवान् को लगा इससे काम नहीं बन रहा है। अर्जुन की बुद्धि में नहीं बैठ रहा तब उन्होंने कर्मयोग का उपदेश दिया।

सांख्य की इसलिए पहले बात कर ली अगर सांख्य काम में आ जाये, तो फिर और कोई आवश्यकता नहीं। सांख्य काम में न आ सके, तो फिर कोई और आवश्यकता है।

सुकरात का बहुत ही कीमती वचन है, जिसमें उसने कहा है— 'Knowledge is virtue.' ज्ञान ही सद्गुण है। वह कहता था, जान लेना ही ठीक हो जाना है। उससे लोग पूछते थे कि हम भलीभांति जानते हैं कि चोरी बुरी है, लेकिन चोरी छूटती नहीं। तो सुकरात कहता है तुम जानते ही नहीं कि चोरी क्या है। अगर तुम जान लो कि चोरी क्या है, तो छोड़ने के लिए कुछ भी न करना होगा। जब हम जान जाते लड्डू में विष है तो लेने की प्रवृत्ति नहीं होती। उस अर्थ में हम काम, क्रोध, लोभ, मद-मत्सर को बुराई है, नहीं जानते। लड्डू में विष है, जानते ही खाने की प्रवृत्ति नहीं होती है, क्योंकि जानते हैं खाने का परिणाम मृत्यु है। पर लोभ, मद, हिंसा, झूठ, अस्तेय को हम मृत्यु न मानकर जीवन मानते हैं। बिना झूठ के, बेईमानी के हमें लगता है न मेरा जीवन चलेगा, न परिवार, न मेरा व्यवसाय, न मेरी नौकरी और न उसमें Permotion प्राप्त होगा। तब उसे छोड़ें कैसे? अतः यह नहीं जानना ही हुआ। जब हम मर्ज को ही, रोग को ही दवा मान लेवें तो इलाज कैसे हो।

हम कुएं में गिरे हुए हैं, गड्ढे में गिरे हुए प्रभु से प्रार्थना भी करते हैं, हमें उबारो और प्रभु भी उबारना चाहते हैं पर हम गड्ढे को ही, कुएं को ही आश्रय मानें, जीवन मानें तो उससे कैसे उबर सकते हैं। जब हम सिगरेट, गुटका, पान पराग, पान

मसाला, शराब को जीवन मान लेते हैं स्फूर्ति देने वाले मान लेते हैं तब उनसे कैसे उबरें। जब तक उसको जहर या मीठा जहर जो हमें धीरे-धीरे नष्ट कर रहा है—न मानें तो उससे उबर नहीं सकते। जब डॉक्टर चेतावनी देता है अब और सिगरेट पीओगे तो समझ लो चाइना की सीमा पर खड़े हो और किसी भी समय गोली के शिकार हो सकते हो तो जो उसके पूर्व चेन स्मोकर थे, इसके बिना मैं जी नहीं सकता, इसके बिना मैं कार्य नहीं कर सकता, तुरन्त सिगरेट छूट जाती है—मृत्यु के भय से। अतः जब तक झूठ, बेईमानी, कपट को-दवा, जीवन, उन्नति में साधक मानते रहेंगे तब तक वे छूट नहीं सकते।

ऐसे ही हम जानते हैं क्रोध बुरा है, हम जानते हैं भय बुरा है; हम जानते हैं काम बुरा है, वासना बुरी है, लोभ बुरा है, मद्-मत्सर सब बुरा है; सब जानते हैं। सांख्य या सुकरात वे सब कहेंगे कि वास्तव में नहीं जानते। सुना है कि क्रोध बुरा है, जाना नहीं है। किसी और ने कहा है कि क्रोध बुरा है, स्वयं जाना नहीं। और जानना कभी उधार नहीं होता। जानना सदा स्वयं को होता है, फर्क है दोनों बातों में। एक बच्चे ने सुना है कि आग में हाथ डालने से हाथ जल जाता है, और एक बच्चे ने आग में हाथ डालकर देखा है कि हाथ जल जाता है। इन दोनों बातों में जमीन आसमान का फर्क है।

जिस जानने की सांख्य बात करता है वह वही जानना है, जो उधार नहीं है। इसे जानने से क्या होगा इसे एक कथा से समझें—

दूसरे महायुद्ध में एक आदमी युद्ध स्थल पर आहत हो गया, जब होश में आया, बेहोशी से, तब पता चला उसे कि वह सब स्मृतियां खो चुका है; वह अपना सब अतीत भूल चुका है, उसे यह भी पता नहीं कि उसका नाम क्या है? उसका नम्बर भी खो गया युद्ध स्थल पर।

अब वह कौन है? अब क्या करे; उसे कहां भेजें; उसका घर कहां है, उसके माँ-बाप कहां हैं? बहुत कोशिश की, खोजबीन की, कुछ पता नहीं चल सका। फिर आखिर किसी ने सुझाव दिया कि एक ही रास्ता है कि उसे इंग्लैण्ड के गांव-गांव में घुमाया जाये। शायद कहीं उसे देखकर याद आ जाये कि यह मेरा घर है, यह मेरा गांव है। फिर उसे ले गये। स्टेशनों पर उसे उतार कर खड़ा कर देते, वह देखता ही रहता, कुछ याद न आता। फिर तो जो ले गये थे वे भी थक गये। एक छोटे स्टेशन पर, जिस पर उतर कर देखने का इरादा भी नहीं है और गाड़ी खड़ी है, चलने को है। उस आदमी ने खिड़की से झांककर देखा और उसने कहा, 'मेरा गांव, उतरा, बताना भी भूल गया जो साथ थे उनको। भागा सड़क पर आ गया। चिल्लाया, मेरा घर! दौड़ा, गली में पहुँचा। दरवाजे के सामने खड़ा होकर कहा,

मेरी मां। लौटकर पीछे देखा, साथी पीछे भागकर आये हैं। उनसे बोला, 'यह रहा मेरा नाम। याद आ गया।'

सांख्य कहता है आत्मज्ञान सिर्फ 'रिमेम्ब्रेन्स' है सिर्फ स्मरण है, कुछ खोया नहीं, कुछ मिटा नहीं, कुछ गया नहीं, कुछ नया बना नहीं, सिर्फ स्मृति खो गयी है। और जिसे हम जानने जा रहे हैं, अगर वह नया जानना है तब तो फिर कुछ और करना होगा। लेकिन वह भूला हुआ ही है जिसे पुनः जानना है, तब कुछ करने की जरूरत नहीं, जान लेना ही काफी है। तुम ही दसवें हो। तुममें से प्रत्येक दसवां है। इस वेदान्त की कथा को स्मरण करें। दस मित्र थे, गंगा स्नान को गये। गंगा स्नान बाद नेता ने सबको गिना तो नौ ही हुए, तब अन्यों ने भी बारी-बारी से गिना तो नौ ही हुए। सब बड़े दुःखी, रोने लगे कि एक साथी या दसवां साथी गंगा में ही डूब गया। उधर से एक सज्जन आये, इनके दुःख का कारण जाना, पर देखा तो दस ही है। उनको इनकी भूल समझ में आ गयी। सबने अपने को गिना ही नहीं। तब इन्होंने प्रत्येक बार गिनकर के बताया कि तुम ही दसवें हो। ऐसे ही राजीवजी भी अपने को गिनने से भूल गया। शंकराचार्यजी ने कहा—जाओ बस की टिकट ले आओ तो एक ही टिकट लाया। तब महाराजजी ने पूछा, तुम्हारी टिकट। तब होश आया मैंने तो अपने को गिना ही नहीं। ऐसे चारों महावाक्य—तत्त्वमसि, अहम् ब्रह्मास्मि, अयमात्मा, प्रज्ञानं ब्रह्म में केवल स्मरण। जैसे गले में ही हार, पॉकेट में ही चाबी है, आँख पर ही चश्मा है, गोदी में ही बच्चा है, सिर पर ही मोढ है सिर पर ही टोपी। पर भ्रान्ति से हम खोजते हैं या नहीं?

कृष्ण ने कहा जो मैंने तुझसे कहा अर्जुन, वह सांख्य की दृष्टि थी। इस पूरे वक्त श्रीकृष्ण ने सिर्फ स्मरण दिलाने की कोशिश की, कि आत्मा अमर है; न उसका जन्म है, न उसकी मृत्यु। स्मरण दिलाया कि अव्यक्त था, अव्यक्त होगा, बीच में व्यक्त का थोड़ा-सा खेल है। स्मरण दिलाया कि जो तुझे दिखाई पड़ते हैं वे पहले भी थे, आगे भी होंगे। स्मरण दिलाया कि जिन्हें तू मारने के भय से भयभीत हो रहा है, उन्हें मारा नहीं जा सकता। इस पूरे समय श्रीकृष्ण क्या कह रहे हैं? श्रीकृष्ण अर्जुन को, जैसे उस सिपाही को घुमाया जा रहा है इंग्लैण्ड में, वैसे ही उसे भी किसी विचार के लोक में घुमा रहे हैं कि शायद कोई विचार कण, कोई स्मृति चोट कर जाये और अर्जुन कहे कि 'ठीक' यही है। ऐसा ही है। लेकिन ऐसा वह नहीं कह पाता।

अर्जुन शिथिल-शांत अपने गाण्डीव को रखे, उदास मन वैसा ही हताश-विषाद से घिरा बैठा है। वह श्रीकृष्ण की बातें सुनता है; श्रीकृष्ण ने उसे पूरा इंग्लैण्ड घुमा दिया-हर स्टेशन, हर जगह। कहीं भी उसे स्मरण नहीं आता कि वह दौड़कर कहे, कि यह रहा मैं, ठीक है, बात बन्द करो, पहचान आ गयी।

प्रत्यभिज्ञा हुई, स्मरण आ गया है। ऐसा वह कहता नहीं। वह बैठा है। वह रीढ़ भी सीधी नहीं करता, न सीधा ही बैठता है, उसे कुछ भी स्मरण नहीं आ रहा है।

एक छोटी कथा से विषय और स्पष्ट हो जायेगा। एक आदमी ने शराब पी ली। शराब पीकर आधी रात को अपने घर पहुँचा। भीतर नशा है बाहर अन्धेरा है। टटोल-टटोल कर किसी तरह अपने दरवाजे तक पहुँच गया और फिर थक गया। बहुत देर से भटक रहा है। फिर जोर-जोर से चिल्लाने लगा कि कोई मुझे घर पहुँचा दो। मेरी मां राह देखती होगी।

पास-पड़ोस के लोग आये। उन्होंने कहा, 'पागल तो नहीं हो गये हो। तुम अपने ही घर के सामने खड़े हो, अपने ही घर की सीढ़ियों पर। यही तुम्हारा घर है। लेकिन वह आदमी बड़ी परेशानी में चिल्ला रहा है कि मुझे मेरे घर पहुँचा दो, मुझे मेरे घर जाना है, मेरी बूढ़ी माँ राह देख रही होगी। लेकिन सुने कौन, सुनने के लिए भी तो चुप होना जरूरी है। वह आदमी चिल्ला रहा है, पास-पड़ोस के लोग कह रहे हैं, यही तुम्हारा घर है।

यही उसका घर है, पर वह भीतर कैसे प्रवेश करे? वह आदमी तो चिल्ला रहा है कि मेरा घर कहां है। शोरगुल सुनकर उसकी बूढ़ी माँ भी उठ आयी, जिसकी तलाश में वह है। दरवाजा खोला, उसके सिर पर हाथ रखा और कहा, 'बेटा तुझे क्या हो गया है।' उसने उसके ही पैर पकड़ लिए उससे ही कहा, 'मेरी बूढ़ी माँ राह देखती होगी; मुझे रास्ता बताओ कि मेरा घर कहां है? अब तो पड़ोस में मजाक करने वाले लोग एक बैलगाड़ी लेकर आ गये और उन्होंने कहा, 'बैठो, हम तुम्हें तुम्हारे घर पहुँचा देते हैं। वह आदमी बड़ा प्रसन्न हुआ। उसने कहा, तुम एक भले आदमी हो। अन्य सारे लोग मुझे पहुँचाने का कोई उपाय नहीं करते। कोई उपाय नहीं करता, न कोई बैलगाड़ी लाता, न कोई घोड़ा लाता, न मेरा कोई हाथ पकड़ता। तुम एक भले आदमी हो। उसने उसके पैर पकड़े। वह आदमी हँसता रहा। उसे बैलगाड़ी में बिठाया, दस-बारह चक्कर लगाये। फिर द्वार के सामने उतारा। वह शराबी कहने लगा, 'धन्यवाद।' बड़ी कृपा की मुझे मेरे घर पर पहुँचा दिया।

अब श्रीकृष्ण अर्जुन पर कोशिश कर चुके पहले वाली (सांख्य की) कि यही तेरा घर है। अर्जुन नहीं मानता, तो श्रीकृष्ण बैलगाड़ी जोतते हैं। अब वे कहते हैं योग के मार्ग से चल। योग का अर्थ 'योगश्च चित्त वृत्ति निरोध रूप पातंजल योगशास्त्र नहीं। गीता में योगशास्त्र का तात्पर्य कर्मयोग से है। केवल दो-तीन स्थानों पर (विशेषकर छठे अध्याय में) योग का तात्पर्य पातंजल योग दर्शन से है। साधक का जो अपना वास्तविक स्वरूप है उस स्वरूप की उपलब्धि के लिए अलग-अलग रास्ते हैं। हमारे देश की अद्भुत संस्कृति है। हमने प्राप्तव्य तो एक

माना है पर साधन अनेक। साधन की अनेकता की स्वीकृति क्यों अपने देश में है? तथा अन्य देशों में अनेकता, साधनों को समान मान्यता, समान गौरव नहीं दिया गया। हमारी मान्यता है सभी की रुचि, प्रवृत्ति और विकास की अलग-अलग स्थिति में है। स्टेशन तो एक है पर सबके घर अलग-अलग मुहल्ले में स्थित हैं अतः सबको अपने-अपने रास्ते से ही स्टेशन पहुँचना पड़ेगा। वैसे ही सबका शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, नैतिक एवं अध्यात्मिक विकास का स्तर अलग-अलग है। अतः जो जिस स्थिति में है वहीं से उसे अपनी यात्रा प्रारम्भ करनी होगी।

यहां भगवान् कहते हैं कि सांख्य का उपदेश तेरी बुद्धि में अभी नहीं बैठता है, तो कर्मयोग और यम-नियम आदि पातंजल योग का अभ्यास कर। इससे बुद्धि स्वच्छ होगी जिससे उसमें आत्मज्ञान के धारण की क्षमता आयेगी। यद्यपि आत्मज्ञान की प्राप्ति के प्रमुख साधन श्रवण-मनन, निदिध्यासन है, तथापि यदि मन मैला हो तो श्रवण में प्रवृत्ति नहीं हो पाती, श्रवणादि साधन अन्तरंग है और कर्मयोग बहिरंग साधन है। अन्तरंग साधनों में मन तभी उन्मुख होता है, जब उसमें सत्त्वगुण की प्रधानता होती है। चित्त को सत्त्वगुणी बनाने के लिए कर्मयोग का अभ्यास आवश्यक है। उससे बुद्धि निर्मल होती है और उसका झुकाव आत्मज्ञान की ओर होता है। इस प्रकार गीता का मुख्य प्रतिपाद्य आत्मज्ञान है और कर्मयोग का उपदेश इस ज्ञान में अधिकार प्राप्त कराने के उपाय के रूप में प्रदत्त हुआ है। गीता में अन्यत्र (4/33) कहा भी है—'सर्वं कर्माखिलं पार्थ, ज्ञाने परि-समाप्यते'—हे पार्थ, सारे कर्मों की परि-समाप्ति ज्ञान में होती है।

इस विवेचन का तात्पर्य यह है कि यद्यपि श्रीभगवान् ज्ञान को ही जीवन का लक्ष्य मानते हैं, तथापि वे यह भी समझते हैं कि ज्ञान की पात्रता सभी में नहीं रहती। इस पात्रता को अर्जित करने के लिए व्यक्ति को कर्मयोग के रास्ते से जाना पड़ता है। आत्मज्ञान का रास्ता सामान्यतः संन्यास का, निवृत्ति का रास्ता है और कर्मयोग का पथ संसार में से, प्रवृत्ति में से जाता है। अर्जुन संन्यास की बात करता तो है, पर संन्यास जिस ज्ञान पर खड़ा होता है, उस ज्ञान की उसके जीवन में कोई प्रतिष्ठा नहीं है। यह उसके व्यवहार से स्पष्ट है। तभी तो भगवान् ने उसे 'प्रज्ञावादी' कहकर तिरस्कृत किया। भगवान् का तात्पर्य यह है कि अर्जुन, तुझ में यदि संन्यास की पात्रता होती, तो ज्ञान का यह विरोध तेरे जीवन में नहीं दिखाई देता। और देख, ज्ञान की पात्रता एकदम से, चट से नहीं आ जाती, उसे वह पात्रता कर्मयोग के द्वारा अर्जित करनी पड़ती है। तुझ में उस पात्रता का अभाव है। तू संन्यास की ओर जाने से पहले इस पात्रता को कर्मयोग के द्वारा अर्जित कर।

यही विवेच्य श्लोक में 'तू' शब्द का तात्पर्य है 'तू' कहकर भगवान् ने दोनों रास्तों को अलग कर दिया। एक है सांख्य का रास्ता और दूसरा है योग का रास्ता। अभी अर्जुन के लिए 'योग' का रास्ता ही लाभदायक होगा। कर्मयोग के द्वारा जब कर्म का दोष कटता है, चित्त का मल दूर होता है और तब उसमें आत्मा को झलकाने की पात्रता आती है। शंकराचार्य इस क्रम को गीता पर अपनी 'भूमिका' में यों रखते हैं—अभ्युदय यानी सांसारिक उन्नति के लिए जो प्रवृत्ति रूप धर्म वर्णाश्रम को देखते हुए निर्दिष्ट हुआ है, वह यद्यपि स्वर्ग की प्राप्ति में कारण बनता है, तथापि जब उसका अनुष्ठान फल की आकांक्षा न करते हुए ईश्वरार्पित बुद्धि से किया जाता है, तो वह सत्त्व की शुद्धि का कारण बनता है। शुद्ध सत्त्व व्यक्ति ज्ञाननिष्ठा की योग्यता प्राप्त करता है और यह ज्ञाननिष्ठा उसमें ज्ञानोत्पत्ति का हेतु बनती है, जिसके फलस्वरूप वह अन्त में निःश्रेयस् यानी अध्यात्मिक कल्याण का अधिकारी होता है। इस प्रकार शंकराचार्य कर्मयोग की सार्थकता अपने भाष्यों एवं अन्य ग्रन्थों में प्रतिपादित करते हैं। उनके अनुसार जब कर्म अनासक्त होकर भगवत्समर्पित बुद्धि से किया जाता है तो वह कर्मयोग बनता है। यह कर्मयोग चित्त का शोधन करता है। ऐसे शुद्ध चित्त में ज्ञान में निष्ठित रहने की योग्यता जन्म लेती है। यह ज्ञान निष्ठा क्रमशः ज्ञान में परिपक्व होती है, जिसके फलस्वरूप व्यक्ति अन्त में आत्मतत्त्व का साक्षात्कार कर धन्य हो जाता है। तब उसके सारे कर्मबन्धन छिन्न हो जाते हैं।

शंकराचार्य तथा तिलक के मतों की विवेचना

इसका तात्पर्य यह है कि शंकराचार्य मुक्ति में कर्मयोग की सामर्थ्य नहीं देखते। मुक्ति की यह सामर्थ्य केवल ज्ञान में है। उनके अनुसार कर्मयोग चित्त को शुद्ध कर ज्ञान अर्जन की पात्रता दे सकता है, बस यहीं तक उसकी गति है। अतएव जिसने ज्ञान लाभ कर लिया, उसके लिए शंकराचार्य की दृष्टि में, कर्म का महत्त्व नहीं रह जाता। इसके विपरीत लोकमान्य तिलक यह मानते हैं कि व्यक्ति को ज्ञान लाभ के पश्चात् भी लोकसंग्रह के लिए कर्म करना चाहिये। गीता भी वस्तुतः इसी अर्थ को ध्वनित करती है। श्रीभगवान् कहते हैं—

कर्मणैव हि संसिद्धि,-मास्थिता जनकादयः।
लोक-सङ्ग्रह-मेवापि, सम्पश्यन् कर्तु-मर्हसि।। 3/20

सक्ताः कर्मण्य-विद्वांसो, यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्-विद्वांस्-तथा-सक्तश्, - चिकीर्षुर्-लोक-सङ्ग्रहम्।।3/25

जनक आदि लोगों ने कर्म के द्वारा ही सिद्धि प्राप्त की थी। फिर, लोकसंग्रह को देखते हुए भी तुझे कर्म करना चाहिये।

हे भारत! जैसे अबुध-अज्ञानी लोग कर्मों में आसक्त होकर कर्म करते हैं, वैसे ही आत्मवेत्ता विद्वान् को आसक्ति से रहित होकर लोकसंग्रह करने की इच्छा से कर्म करना चाहिये।

लोकमान्य तिलक 'ज्ञानमूलक भक्ति प्रधान कर्मयोग' को गीता का प्रतिपाद्य मानते हैं। वे इस बात में शंकराचार्य से सहमत हैं कि मोक्ष केवल ज्ञान से प्राप्त होता है, पर वे कर्मयोग को केवल ज्ञान का उपायभूत ही नहीं, बल्कि ज्ञान के बाद भी जीवन पर्यन्त अनुष्ठेय मानते हैं। ज्ञान लाभ के पहले कर्मयोग भले ही थकावट का कारण बनता हो, पर ज्ञान लाभ के पश्चात् तो वह स्फूर्ति और ताजगी प्रदान करने वाला रसायन बन जाता है। जैसे, जब हम तैरना सीखते हैं, तो तैरने की क्रिया हममें थकावट और अवसन्नता लाती है, पर जब हम तैरना सीख जाते हैं तो तैरकर थकावट दूर किया करते हैं। यदि हम कभी बहुत थक गये, अवसन्न हो गये, तो कहते हैं—चलो जरा तैर आये। कर्मयोग भी ठीक ऐसा ही है। जब तक शरीर में प्राण है, तब तक कर्म भी बने रहते हैं—ज्ञान लाभ के पूर्व साधना के रूप में और तत्पश्चात् लोकसंग्रह के रूप में। कर्म को छोड़ा नहीं जा सकता। जब तक हममें छोड़ने की बुद्धि होती है, तब तक कर्म नहीं छूटते।

श्री रामकृष्ण का मत : गर्भिणी और घाव के उदाहरण। श्रीरामकृष्ण से जब भक्त पूछते थे, 'महाराज, कर्म और कब तक करें? वे कब छूटेंगे?' तो वे इसके उत्तर में कहते थे, 'कर्म को छोड़ने की चिन्ता तुम क्यों करते हो? तुम उनकी (ईश्वर की) ओर बढ़े जाओ। प्रयोजन समझकर वे तुम्हारे कर्म कम करते जायेंगे।' वे गर्भवती बहू का उदाहरण देते थे, जिसकी सास धीरे-धीरे उसके कामकाज कम करती जाती है। जब प्रसव काल समीप आता है, तो सास उसका काम एकदम कम कर देती है और प्रसव के बाद तो बहू अपने बच्चे को लेकर ही व्यस्त रहती है। इसी प्रकार जब व्यक्ति ईश्वर की ओर जाता है, तो ईश्वर उसके कर्म के परिमाण में कमी करते जाते हैं, जिस परिमाण में उसकी साधना की तीव्रता होती है और जब वह केवल भगवान् को ही लेकर डूब जाता है, तब भगवान् उसके सांसारिक कर्मों का भार अपने ऊपर ले लेते हैं।

श्रीरामकृष्ण इस कर्मत्याग की बात को समझाने के लिए एक दूसरा दृष्टान्त देते थे। जैसे-घाव सूख रहा है, उस पर पपड़ी जम गयी है। पपड़ी को जबरदस्ती निकालने की जरूरत नहीं। और यदि कोई बलपूर्वक पपड़ी को निकाल दे तो घाव सूखेगा नहीं बल्कि हरा हो जायेगा। घाव के सूखने पर पपड़ी को निकालने की आवश्यकता नहीं होगी। वह अपने आप झड़ जायेगी। सोते में या चलते में कब पपड़ी झड़ गयी इसका पता न चलेगा। इसी प्रकार कर्मों की पपड़ी को जबरदस्ती जो उतारने जाता है, वह कभी कर्म से मुक्त नहीं हो पाता। हम जब कर्मयोग का

अभ्यास करते हुए ईश्वर की ओर आगे बढ़ चलेंगे, तो एक दिन कर्मों की पपड़ी अपने आप झड़ जायेगी। ऐसे ही कबीरदासजी कहते हैं कच्चे पत्ते को तोड़ेंगे तो उसमें रस बना रहेगा। अतः उसे तोड़ो मत वह अपने आप सूखकर झड़ जायेगा।

नेहाभिक्रम-नाशोऽस्ति, प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्प-मप्यस्य धर्मस्य, त्रायते महतो भयात्।।2/40

इस निष्काम कर्मयोग में आरम्भ किये कर्म का नाश नहीं है और कर्म का उलटा परिणाम भी नहीं होता। इस कर्मयोग रूप धर्म का थोड़ा-सा अनुष्ठान भी बहुत बड़े भय से रक्षा कर देता है।

इस श्लोक पर विचार करने से पूर्व दो-तीन बातों पर विचार कर लेवें। कर्म होता कैसे है? कर्म के प्रकार कितने हैं, कौन से कर्म का विवेचन यहां अपेक्षित है। कर्म कैसे होता है कर्म शुद्ध चैतन्य से नहीं हो सकता। जो शुद्ध, निर्गुण, निराकार, आत्मस्वरूप चेतन तत्त्व है वह तो अक्रिय है। वह स्वयं कुछ नहीं करता और जो जड़ तत्त्व है वह भी कुछ नहीं करता। जड़ तत्त्व में क्रिया नहीं है। जड़ में विक्रिया-विकृति तो हो सकती है, लेकिन जड़ तत्त्व अपने-आप में क्रिया नहीं कर सकता। वातावरण के परिवेश के प्रभाव से उसमें क्षरण हो, उसमें धूल जम जाये, उसमें विकृति तो आ सकती है। विक्रिया जड़ का लक्षण हो सकता है क्रिया जड़ का लक्षण नहीं हो सकता। अब शुद्ध चेतन तत्त्व भी क्रिया नहीं करता और जड़ तत्त्व भी क्रिया नहीं करता तो क्रिया होती कैसे है?

क्रिया चित्त-जड़ ग्रन्थि से होती है। जड़-चेतन की ग्रन्थि पड़ गई। तुलसीदासजी कहते हैं—चित्त जड़ ग्रन्थि पड़ गई यद्यपि मृषा छूटति कठिनाई से है। जड़ की ग्रन्थि जड़ से हो सकती है। चैतन्य का मिलाप चैतन्य से हो सकता है। जड़ से चेतन का मिलाप नहीं हो सकता। पर यह माया का अद्भुत चमत्कार है कि चित्त जड़ ग्रन्थि पड़ गई। चित् जड़ ग्रन्थि का क्या मतलब है? चित् जड़ ग्रन्थि का मतलब हुआ कि हम शुद्ध बुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्म तत्त्व है पर वह अपने इस शरीर को अपना-आपा मान लेता है और जब चेतन इस जड़ शरीर को अपना आपा मान लेता है तो आभास के द्वारा कार्य होता है। आत्मा सदा मुक्त है, शुद्ध है, बुद्ध है। आत्मा में कुछ लिप्त नहीं होता। तब लिप्त किस में होता है। लिप्त आत्मा के करणों में होता है। शुद्ध आत्मा के जो करण है वह पांच ज्ञानेन्द्रिय एवं पांच कर्मेन्द्रिय इसका सम्मिलित नाम बाह्य करण या औजार है। इसी तरह अन्तःकरण है। अन्तःकरण का अर्थ भीतरी औजार। अन्तःकरण मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार की समष्टि है। एक ही अन्तःकरण के चार भाग हैं। अन्तःकरण का एक भाग जब संकल्प-विकल्प करता है तब वह मन कहलाता है। जब वह निर्णय करता है तब बुद्धि कहलाता है। जब वह सारे अनुभव कोष में संचित विचारों के आधार पर चिंतन करता है तब वह चित्त कहलाता

है। जब वह अपने पृथक् अस्तित्व को क्षुद्र अहं को अपना-आपा मान लेता है तो अहंकार है। मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार की समष्टि अन्तःकरण है। इस अन्तःकरण में शुद्ध चैतन्य आत्म तत्त्व का प्रतिबिम्ब पड़ता है और उससे जड़ अन्तःकरण में चैतन्य होता है। छुटपन में हम सब एक खेल खेलते हैं। धूप में सूर्य की रश्मियों में शीशे को ले जाते हैं। दर्पण में जो सूर्य का प्रतिबिम्ब पड़ता था तब वह प्रकाशमान होता है। अब जो ज्योति दर्पण से निकल रही है, यह ज्योति न दर्पण की है, न प्रत्यक्ष सूर्य की है वरन् सूर्य के प्रतिबिम्ब की है। दर्पण में सूर्य के पड़े हुए प्रतिबिम्ब की ज्योति है। अब जिसको परेशान करने की इच्छा होती है उसके आंख में, उसकी त्वचा पर रोशनी डालते हैं।

दर्पण जड़ है। उसका अपना प्रकाश नहीं है पर सूर्य के प्रतिबिम्ब से प्रकाशित होकर उससे अंधेरा कमरा भी प्रकाशित हो जाता है। जड़ होते हुए भी दर्पण में प्रकाश आ जाता है। वैसे ही जड़ अन्तःकरण में चैतन्य आ जाता है। लोहे के गोले को लम्बे समय तक आग में डालने पर वह दहकता हुआ लाल-लाल हो जाता है, प्रकाशित हो जाता है, ताप आ जाता है। लोहे के गोले में दाहकता है न प्रकाशकता है। लोहे का गोला काला-कलूटा, ठण्डा। लेकिन लोहे के गोले में अब जो दाहकता आ गयी, प्रकाशकता आ गयी, उसमें अंगुली लगाते ही जल जायेगी। प्रकाशकता, दाहकता लोहे का गुण नहीं। यह अग्नि का गुण है। और अग्नि में गोलाई का गुण होता है क्या? अग्नि का तो कोई आकार नहीं। अग्नि में लोहे का गुण आ गया गोलाई, और लोहे में अग्नि का गुण आ गया दाहकता एवं प्रकाशकता। अब लोहे का गोला किसी को जला सकता है। इसी तरह हमारा जड़ अन्तःकरण है जो जन्म-जन्मान्तर के संस्कारों को साथ लेकर चल रहा है। उस पर जब चैतन्य आत्मा की रश्मियां पड़ती हैं तब हमारा अन्तःकरण चैतन्यवत् काम करने लगता है तो इसी चैतन्य विशिष्ट अंतःकरण से कार्य होता है। जब हमारा अन्तःकरण दूषित होता है मलीन होता है। उस दूषित अन्तःकरण के अहंकार से जब कार्य होता तो वह बंधनकारी होता है।

स्पष्ट है शुद्ध आत्मा कर्म नहीं करता। जड़ भी कर्म नहीं करता न शरीर कर्म करता है और न आत्मा कर्म करता है। कर्म चित्त-जड़ ग्रन्थि से होता है। अहम् विशिष्ट अन्तःकरण ही कर्ता और भोक्ता है। क्योंकि जो कर्म करेगा वही भोगेगा भी। अतः कर्तृत्व और भोगतृत्व इस मलीन अन्तःकरण की उपाधि से आत्मा में आता है। मलीन अन्तःकरण की उपाधि से आत्मा में कर्तृत्व आया तब भोगतृत्व भी आया। मैंने किया तो मैंने भोगा। मैंने क्या किया? पुण्य कार्य किया तो अच्छा कार्य किया, पाप कार्य किया तो बुरा कार्य किया। पुण्य कार्य किया तो सुखी हुआ, पाप कार्य किया तो दुःखी हुआ। पाप-पुण्य करना, पापी-पुण्यात्मा होना कर्ता

हुआ। सुखी-दुःखी होना भोक्ता हुआ। तो कर्मबंधन जो चित्त जड़ ग्रन्थि के कारण हमारे शुद्ध आत्मस्वरूप को ग्रस लेता है। हमारे अन्तःकरण की मलीनता से हमारा शुद्ध आत्म तत्त्व भी अपने को कर्ता-भोक्ता मानता है। तव कर्म के जकड़न में, कर्म के बंधन में आ जाता है। अब प्रश्न उठता है इससे छूटने का उपाय क्या है? इससे छूटने के लिए दो निष्ठा बतायी। प्रथम में सांख्य निष्ठा बतायी। अपना शुद्ध स्वरूप, आत्मा स्वरूप का प्रतिपादन किया। फिर अपने आत्मस्वरूप की शुद्धता के बावजूद जब तुम शरीर लेकर पैदा हुए हो तब तुम्हारे अन्तःकरण की बनावट के अनुसार अपनी वृत्ति के अनुसार तुम्हारा अपना वर्ण एवं आश्रमोचित अपना स्वधर्म है। स्वधर्म का तात्पर्य हिन्दू, मुस्लिम या ईसाई धर्म नहीं वरन् यह प्रत्येक व्यक्ति का अपना धर्म है। प्रत्येक व्यक्ति जिन-जिन वृत्तियों का धारक है, जिन-जिन स्थितियों में जिन-जिन वृत्तियों का विकास उसमें हुआ है, वृत्तियों के अनुरूप उसका अपना स्वधर्म, वर्ण धर्म होता है। इस स्वधर्म में मृत्यु भी श्रेयस्कर है परधर्म भयावह है। अपनी वृत्तियों के अनुरूप प्राप्त सहज धर्म, सहज करणीय धर्म है उसी में डटे रहना चाहिये इसी में मृत्यु तक वरण करना चाहिये। लेकिन अपने धर्म को छोड़कर केवल आपात रमणीय केवल बाहर से आकर्षक लगने वाले दूसरे धर्म में नहीं जाना चाहिये। पानी की मछली दूध को पानी से ज्यादा श्रेष्ठ मानकर दूध में जायेगी तो मर जायेगी एवं दूध भी बिगड़ जायेगा। अब प्रश्न उठता है आत्मा तो शुद्ध बुद्ध मुक्त है। पर वह स्वधर्म का पालन करे और बंधे, क्या भगवान् श्रीकृष्ण का यही अभिप्राय है? नहीं, भगवान् श्रीकृष्ण के अनुसार धर्म तो करे पर बंधे नहीं वरन् मुक्ति का हेतु बने इसी का रास्ता बताया है। इसके लिए जैसे सांख्य की बुद्धि है मैं अकर्ता हूं। गुण-गुण से वर्त रहे हैं। गुणों से ही अन्तःकरण बना है इसी से कर्म हो रहा है। वैसे ही योग की बुद्धि है जिसे आगे स्पष्ट करेंगे।

अब विचार करें कर्म के प्रकार कितने हैं और कौन से कर्म बन्धन और कौन से कर्म मुक्ति के हेतु बनते हैं उसके पूर्व—

विचारें कौन सा कार्य कर्म की श्रेणी में आता है—

गति, क्रिया और कर्म

(क) गति—किसी निर्जीव वस्तु मशीन का हिलना-डुलना गति कहलाता है Motion। गाड़ी का चलना, घड़ी के पेंडुलम का हिलना, पंखा चलना ये गति है क्रिया नहीं।

(ख) क्रिया—किसी सजीव वस्तु का बिना संकल्प के गति करना चलना-फिरना क्रिया कहलाता है Activity। जैसे हृदय का धड़कना, सांस का चलना, आंख की पलकों का गिरना आदि।

(ग) कर्म—किसी सजीव चेतन प्राणी का जानबूझकर संकल्प से कुछ भी करना कर्म कहलाता है। जैसे चालाकी से आंख मारना, श्रद्धा से आंख बंद करना, नमस्कार में हाथ उठाना अथवा ताड़ना के लिए हाथ उठाना।

गति + जीवन = क्रिया

क्रिया + संकल्प = कर्म।

संकल्प की दृष्टि से कर्म के प्रकार—

प्रत्यक्ष	परोक्ष	अपरोक्ष	साक्षात् अपरोक्ष
टेबल-चेयर देखकर	स्वर्ग-नरक सुन पढ़कर	अन्तर के सुख-दुःख मन से	आत्मा यह बिना इन्द्रियों की सहायता से Intution (अन्तःप्रज्ञा) से ऋतम्भरा प्रज्ञा से

ये तीनों इन्द्रियों की सहायता से जानते हैं। यानी पांच ज्ञानेन्द्रिय एवं अन्तःकरण चतुष्टय द्वारा

1. Reflex Action : सहज शारीरिक-क्रिया

इसमें मस्तिष्क काम नहीं करता। रीढ़ की हड्डी (मेरुदण्ड) से ही प्रतिक्रिया होती है। आंख की पलक का हिलना, धूप में आंख का तनिक बंद होना, सुप्तावस्था में मच्छर उड़ाना, खुजली करना, करवट बदलना।

2. Accidental Action : आकस्मिक घटना

अपघटना के कर्म जैसे मार्ग चलते किसी महिला से टकरा जाना, किसी भीड़ में पांव के नीचे आकर बच्चे का दब जाना, कुंभ के मेले में किसी का दब जाना।

3. Hypnotic Action : सम्मोहन कर्म

जब मनुष्य के मन को सम्मोहित कर दिया जाता है और जब मनुष्य

संकल्पित कर्म वह है जिनमें जानबूझकर अपने होश हवास में किसी स्पष्ट भावना के साथ कर्म करता है।

उदाहरण—

1. भूखे को अन्न, प्यासे को जल, वस्त्र विहीन को वस्त्र देना।
2. राजा हरिश्चन्द्र द्वारा राज्य दान करना।
3. राजा शिवि का कबूतर की रक्षार्थ अपने हाथ का मांस देना।

भावुक कर्म और भावनामय कर्म—Centimental Action and Devoted action :

(क) भावुकता मन की एक लहर है जो स्थायी नहीं होती। इसकी लहर में किया हुआ कर्म अधिक महत्त्व नहीं रखता। ऐसे कर्म के लिए कर्ता की बाद में रुचि पलट जाती है तथा कई बार पछताना भी पड़ जाता है। भावुकता में

स्वतंत्र संकल्प नहीं कर सकता उस अवस्था में किये जाने वाले कर्म को सम्मोहन कर्म कहते हैं। जैसे आनन्दमार्गी बाबा द्वारा अपने चेलों को सम्मोहित करके हत्याएं करवाना, पाखण्डी साधुओं द्वारा स्त्रियों एवं बच्चों से अनुचित कर्म करवाना। भड़का कर करवाने वाले कार्य।

4. Forced Action : बाध्य कर्म

वह कर्म जिसमें मनुष्य का अपना संकल्प न हो किन्तु किसी दूसरे के संकल्प द्वारा मजबूर होकर उसे कर्म करना पड़े। जैसे—राजनीतिक बंदियों को जेल में भूखा-प्यासा, सता कर माफीनामा लिखवाना, झुकाना आदि। हिटलर द्वारा Eachman को मजबूर कर, भय दिखाकर उसके द्वारा यहूदियों का सर्वसंहार कराना।

5. क्षणिक आवेश में कर्म

ये ऐसे कर्म हैं जो किसी क्षणिक आवेश में कर दिये जाते हैं। किन्तु उसमें स्पष्ट भावना का अभाव ही रहता है। जैसे—क्षणिक जोश में आकर हत्या या आत्महत्या कर बैठना, क्षणिक आवेग में घर छोड़कर साधु बन जाना, क्रोध में कुछ अनुचित कर बैठना। जिनके संवेग वश में नहीं रहते वे ऐसे कर्म करते हैं। संवेगों पर विवेक, विचार का अंकुश रहने से मनुष्य ऐसे कर्मों से बच जाता है।

क्रान्ति के नारे लगाना पर पुलिस का डण्डा देखकर भाग खड़ा होना। भावुकता में सम्पत्ति दान करना बाद में केस लड़ना।

(ख) भावनामय कर्म अच्छी प्रकार सोच विचार कर सुस्पष्ट दृढ़ भावना के साथ किया जाता है। ऐसे कर्म के लिए न स्वयं को पछताना पड़ता है और न समाज को ऐसे कर्म की प्रतिक्रिया में ग्लानि होती है तथा न की हुई तपस्या का नाश होता है।

1. JP आंदोलन में सहभागी होना।
2. देश की मांग पर सुभाष बोस का सर्वस्व त्याग। राणा प्रताप का अकबर के विरुद्ध स्वाभिमान और स्वधर्म की रक्षार्थ आजन्म संघर्षरत रहना।

3. Habitual action : अभ्यस्त कर्म

ये ऐसे कर्म हैं जो प्रारम्भ में किसी संकल्प से आरम्भ किये जाते हैं पर धीरे-धीरे स्वभाव बन जाते हैं तथा संकल्पहीन कर्मों की तरह बिना प्रयास के स्वत: अपने आप होने लगते हैं। Habit are willed actions in beginning and become unwilled later on. जुआ खेलना, शराब पीना Eachman द्वारा प्रथम में कठिनाई से 1-2 यहूदियों को मारना। बाद में स्वभाव बन जाने से लाखों की हत्या करना।

लोकमान्य तिलक द्वारा प्रारम्भ में निष्काम सेवा प्रयत्नपूर्वक करते-करते निष्काम सेवा का स्वभाव बन जाना।

संकल्पित कर्म दो प्रकार से किये जा सकते हैं—सकाम भाव से और निष्काम भाव से। सकाम कर्म बंधन के हेतु बनते हैं और निष्काम कर्म मुक्ति के हेतु बनते हैं। यहां भगवान् निष्काम कर्म की व्याख्या के पूर्व उसकी महिमा को निरूपित कर रहे हैं। क्योंकि महिमा के निरूपण से कर्मयोग की बुद्धि को ठीक-ठीक समझने और उस बुद्धि को समझकर उसके अनुकूल आचरण करने की प्रेरणा मिले। जिस कर्मयोग की, बुद्धि का उपदेश दे रहे हैं उस बुद्धि को योग बनाना है। बुद्धि को जीविका का साधन नहीं बनाना है। बुद्धिजीवी शब्द अच्छा शब्द नहीं है। जिसकी बुद्धि से जीविका चले वह बुद्धिजीवी और बुद्धि से जीविका चले वह क्या नहीं कर रहे हैं। एक उदाहरण से देखें। तीर्थों में हम जाते हैं तो पण्डे होते हैं। पण्डों के लिए दो शब्द हैं एक सम्मानसूचक शब्द है एक अवज्ञासूचक शब्द है। सम्मानसूचक शब्द क्या है तीर्थ पुरोहित। क्या होता है तीर्थ पुरोहित? आप जब तीर्थ में जाते हैं तो उसकी महिमा आपको नहीं मालूम इसमें क्या-क्या कर्म करना चाहिये, आपको नहीं मालूम। कहां किसकी पूजा करनी चाहिये आपको नहीं मालूम, तो जो पण्डा है वह वहां का पुरोहित है। वह आपसे धर्म कार्य करवाता है। यह सम्मानसूचक शब्द है। बहुत कम लोगों को मालूम है कि पण्डों के लिए एक अवज्ञासूचक शब्द भी है। तीर्थजीवी। तीर्थजीवी का क्या मतलब हुआ? जिसकी जीविका तीर्थ से चलती है। तीर्थजीवी कितना अत्याचार करते हैं। हमारे अत्यन्त श्रद्धेय दीनदयाल उपाध्याय भगवान् पर विश्वास करने वाले, मूर्ति पूजा पर विश्वास करने वाले थे। उनको जगन्नाथ मन्दिर में पण्डों ने सताया, बिना दर्शन किये लौट आये। तीर्थजीवी का तो आचरण होना चाहिये जिससे हमारी श्रद्धा भक्ति बढ़े। हम श्रद्धा भक्ति से मन्दिर गये। पण्डों के आचरण से बिना दर्शन किये हम लौट आये। यानी उसने हमारी श्रद्धा भक्ति को खण्डित कर दिया। जीविका यदि तीर्थ से चलेगी तो अधिक से अधिक रुपया तुमसे चूसने का, लूटने-खसोटने का कर्म चलेगा। जैसे तीर्थजीवी वैसे बुद्धिजीवी। भगवान् हमको तुमको मनीषी ही बनाना चाहते हैं, हमको तुमको बुद्धिजीवी नहीं बनाना चाहते हैं। भगवान् हमको व आपको बुद्धियुक्त बनाना चाहते हैं—**बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ, कर्म-बन्धं प्रहास्यसि।**2/39 यह जो बुद्धि योग है इसमें बुद्धि भी योग बन जाती है। बुद्धि भी भगवान् प्राप्त करने का साधन बन जाती है। ऐसी बुद्धि, ऐसी पद्धति, ऐसी विधा जिससे हम सब कुछ करते हुए भी कुछ नहीं किया का भाव। यह सम्भव है। और इस बुद्धियोग की प्रशंसा करते हुए भगवान् कहते हैं—

नेहाभिक्रम-नाशोऽस्ति, प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्प-मप्यस्य धर्मस्य, त्रायते महतो भयात्।। 2/40

इस (कर्मयोग) में आरम्भ (किये हुए कर्म) का नाश नहीं है और प्रत्यवाय (अर्थात् कर्म न करने से होने वाला विपरीत फलरूप दोष) भी नहीं। इस (कर्मयोग रूप) धर्म का थोड़ा भी आचरण (जन्म-मरण रूप) महान् भय से रक्षा करता है।

उपनिषदों तथा गीता के काल में कर्म का अर्थ उस समय प्रचलित वैदिक कर्मकाण्ड से था। जिसकी अवहेलना करते हुए उपनिषद् में लिखा है—प्लवा ह्यते अदृढ़ा यज्ञरूपाः ये कर्मकाण्ड के पचड़े जीवन रूपी नदी को पार कराने वाले असुरक्षित बेड़े हैं। अर्जुन को कर्मयोग से कर्मकाण्ड का अन्तर समझाते हुए पहले कर्मकाण्ड की निस्सारता दिखाकर तब 'कर्मयोग' का प्रतिपादन करते हैं। कर्मकाण्ड यानी सकाम कर्म जो फल देकर शान्त हो जाते हैं। ऐहिक एवं स्वर्ग का सुख अल्प ही सिद्ध होता है। कर्मकाण्ड जिसका तात्पर्य यज्ञ-यज्ञादि और जिसका लक्ष्य है इहलोक में ऐश्वर्य भोग प्राप्ति तथा परलोक में स्वर्ग-सुखास्वादन। 'कर्मयोग' कर्म के पीछे की वह बुद्धि है जो हमें परमात्मा से संयुक्त करती है। इस कर्मयोग को निष्काम कर्म भी कहते हैं, उसमें आत्म-समर्पण होता है अर्थात् हम कर्म का कर्तृत्व और उसके फल का भोक्तृत्व अपने ऊपर न ले भगवान् को समर्पित करते हैं। इस प्रकार कर्मयोग हमारे लिए अहं नाश का और फलस्वरूप, कर्म बंधन को काटने का एक सक्षम साधन बन जाता है।

अर्जुन की शंकाओं का निराकरण

कर्म करते समय कुछ शंकायें उठा करती हैं। जैसे मान लीजिये कि हमने कर्म प्रारम्भ किया और उसके समाप्त होने के पूर्व ही हमारी मृत्यु हो गयी, तो ऐसी दशा में वह अधूरा कर्म निष्फल तो नहीं हो जायेगा, या फिर बीच में ही कुछ विघ्न आ गये, तो क्या उसका विपरीत परिणाम तो नहीं होगा? अथवा कर्म थोड़ी-सी मात्रा में ही हो पाया, बीच में बाधा पड़ी और फिर से उसे हमने हाथों में लिया, तो क्या उसका नैरन्तर्य खण्डित होने के कारण कर्मफल भी खण्डित तो नहीं हो जायेगा? ये तीनों शंकाएं अर्जुन के मन में पैदा होती है और प्रस्तुत श्लोक में श्रीभगवान् उनका निराकरण करते हैं।

पहली शंका के उत्तर में वे कहते हैं कि निष्काम कर्मयोग में अभिक्रम नाश नहीं होता। अभिक्रम वह है, जो आरम्भ कर दिया गया है। लौकिक और कामनापूर्वक किये जाने वाले जो कर्म हैं, वे यदि समाप्ति से पूर्व ही छोड़ दिये जाये तो उनका कोई भी फल नहीं होता; वे कर्म नष्ट हो जाते हैं। जैसे कृषि कर्म को लें। बीज बोने से लेकर खेती पक जाने तक जितना क्रम है वह जब तक सारा का सारा पूरा नहीं होता तब तक फल नहीं मिलता। इसमें आवश्यक सिंचन, कीड़े-मकोड़े से खेती की रक्षा आदि कर्म नहीं किये तो कृषि का फल प्राप्त नहीं

होगा। हम भोजन के लिए रसोई बनाना शुरू करें और रसोई को बीच में ही छोड़ दें तो वह काम नहीं आती। इसी प्रकार जो वैदिक कर्म हैं उनको आरम्भ करने के बाद यदि विधान के अनुसार उनकी समाप्ति तक हम उनमें लगे न रहें, तो उन कर्मों का कोई फल नहीं होगा। इन कर्मों का फल तभी प्राप्त होगा, जब प्रारम्भ से अन्त तक वे विधि-विधानपूर्वक अनुष्ठित हों।

पर जो कर्मयोग है, बिना कामना के किया जाने वाला कर्म है, उसके सम्बन्ध में उपर्युक्त बात लागू नहीं होती। जितनी भी मात्रा में यह निष्काम कर्म किया जाय, उसका फल चित् शुद्धि के रूप में हमें अवश्य प्राप्त होगा। कर्मयोग हमारे चित् को शुद्ध करता है। अतः इसका अनुष्ठान जितनी मात्रा में हो, वह व्यर्थ नहीं होता, वह उतनी मात्रा में हमारे चित् को शुद्ध कर ही देता है। इसलिए भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को आश्वस्त करते हुए कहते हैं—'इह अभिक्रमनाशः न अस्ति' इस (निष्काम कर्मयोग) में आरम्भ किये हुए कर्म का नाश नहीं है।

अर्जुन की दूसरी शंका विघ्न के सम्बन्ध में है। वैदिक काम्य कर्मों में प्रत्यवाय का बड़ा डर रहता है। 'प्रत्यवाय' उस पाप या हानि या विपरीत परिणाम को कहते हैं जो कर्म में विघ्न होने से उत्पन्न होता है। यदि कर्म में बीच में कोई बाधा आ गयी और विधान के अनुसार पूरा नहीं हुआ, तो उसका फल मिलना तो दूर रहा, उलटा पाप हो जाता है। जिससे विपरीत फल मिलने की सम्भावना हो जाती है। जैसे वैदिक क्रियाओं में थोड़ी-सी गड़बड़ी हो गयी—दायें घुटने की जगह बायां घुटना रख दिया, तो प्रत्यवाय लग गया। उच्चारण में थोड़ी भूल हो गई तो प्रत्यवाय लग गया। यानी लाभ के बजाय हानि होने की सम्भावना हो गयी। धर्म ग्रन्थों में इसके अनेक उदाहरण पाये जाते हैं। कथा आती है कि त्वष्टा ने इन्द्र को मारने के लिए एक पुत्र पैदा करने की कामना से यज्ञ किया। उस यज्ञ में 'इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व' इस कल्पित मंत्र में स्वर का व्यतिक्रम हो गया, इसलिए यज्ञ का फल उलटा हो गया। फलस्वरूप जो पुत्र हुआ, वह वृत्रासुर ही इन्द्र के हाथों मारा गया। तो वैदिक कर्म में इस प्रकार की यदि विगुणता पैदा हो जाये, तो ऐसा प्रत्यवाय जन्म लेता है। इसको टाला नहीं जा सकता। इसलिए वैदिक कर्मों में बड़ी सावधानी बरतनी पड़ती है। पर निष्काम कर्मयोग में ऐसे प्रत्यवाय का भय नहीं रहता। कर्मयोग कहीं पर विधान के अनुसार यदि न भी हुआ तो उलटा परिणाम नहीं हो पाता। कर्मयोग का अनुष्ठान हम केवल चित्त शुद्धि का उद्देश्य लेकर करते हैं, इसलिए वह जितनी मात्रा में किया जाये, उतनी मात्रा में चित्त को शुद्ध करता है। लौकिक जीवन में भी देखा जाता है कि यदि दवा में किसी प्रकार की त्रुटि हो गयी तो उससे रोगी का अच्छा होना तो दूर, हानि की सम्भावना बनी रहती है। वैदिक कर्म औषध के समान है, अतः अत्यन्त सावधानीपूर्वक उसका अनुष्ठान करना पड़ता है।

अर्जुन की तीसरी शंका कर्म के खण्डित होने के कारण कर्मफल के भी खण्डित हो जाने से सम्बन्धित है। हम कर्म कर रहे हैं, बीच में विघ्न उपस्थित हुआ और हमने उसे छोड़ दिया। या हमारी मृत्यु ही हो गयी और हम कर्म का थोड़ा-सा ही अनुष्ठान कर पाये। ऐसी दशा में क्या कर्मफल नष्ट नहीं होगा? भगवान् श्रीकृष्ण इसका उत्तर देते हुए कहते हैं—'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्'—इस निष्काम कर्मयोग रूप धर्म का अति अल्प अनुष्ठान भी महान् भय से रक्षा करता है। वैदिक कर्म यदि खण्डित हुए, तो उनका फल नष्ट हो जाता है। फिर, ऐसे काम्य कर्मों में कर्मफल का तारतम्य भी रहता है। कोई इष्टि मात्र करे तो उसे स्वर्ग में सामान्य सुख मिलेगा और वह भी अल्पकाल के लिए। यदि कोई सोमयज्ञ करे, या उसमें भी अश्वमेध आदि बड़े यज्ञों का अनुष्ठान करे, तो उसे बड़ा स्वर्ग मिलेगा तथा दीर्घकाल तक वहां का सुख भोग प्राप्त होगा। इस प्रकार ये वैदिक काम्यकर्म अपनी अल्पाधिक मात्रा के अनुसार कर्ता को अल्पाधिक मात्रा में फल प्रदान करते हैं और वह भी तभी करते हैं, जब ये कर्म समुचित रूप से पूरी तरह अनुष्ठित होते हैं। यदि बीच में बाधा आयी और कर्म समापन न हो पाया तो ऐसा नहीं होता कि जितनी मात्रा में कर्म किया गया फल तदनुरूप मात्रा में प्राप्त हो जाये, बल्कि फल एक बारगी नष्ट हो जाता है। किसी ने दीर्घकाल व्यापी अश्वमेध यज्ञ किया और अन्त में कोई बाधा आ गयी, तो उसका समूचा फल ही एकदम नष्ट हो जाता है। किन्तु निष्काम कर्मयोग के साथ ऐसी बात नहीं। वह जितनी मात्रा में सम्पन्न हो, चित्त शुद्धि रूप अपना फल उतनी मात्रा में दे ही देता है। मृत्यु भी इस निष्काम कर्मयोग के फल को नष्ट नहीं कर पाती। जैसे, कोई मनुष्य आज सायंकाल तक कार्य करता है, रात्रि में सो जाता है, और जब कल उठता है तो आज के अधूरे कार्य को लेकर पूरा करने के लिए सचेष्ट होता है, उसका अधूरा कार्य नष्ट नहीं होता, दूसरे दिन सुबह उठकर उसी को लेकर आगे बढ़ाता है, वैसे ही यह निष्काम कर्मयोग रूप धर्म है। मनुष्य इस धर्म का पालन करते हुए अचानक काल-कवलित हो भी गया, तो इससे वह धर्म नष्ट नहीं होगा। जब वह मृत्यु रूपी महानिद्रा से जागेगा, अर्थात् फिर से जन्म ग्रहण तब वह धर्म की छूटी हुई कड़ी को पकड़कर उसे आगे बढ़ायेगा। यही कर्मयोग की विशिष्टता है। उसका स्वल्प मात्रा में अनुष्ठान भी महान् भय से रक्षा करता है।

महाभय क्या है? महाभय चार हैं—

मृत्यु का भय,

अज्ञान का भय,

दुःख का भय,

शत्रु से कष्ट पाने का भय।

ये चारों भय बुद्धियोग से दूर हो जाते हैं। क्योंकि बुद्धियोग तुमको अद्वैतता की उपलब्धि कराता है। बुद्धियोग से तुम सच्चिदानन्द अद्वय स्वरूप का अनुभव करते हो। अगर तुम सत् हो तो बराबर रहोगे तुम्हारी मृत्यु नहीं हो सकती। किसी की कभी मृत्यु नहीं हुई। मृत्यु हमारी नहीं होती। मृत्यु हमारे अनुभव क्षेत्र में नहीं आई। जन्म हमारे अनुभव क्षेत्र में नहीं आया है। किसी को अनुभव है अपनी मृत्यु का। कोई कह सकता है मैं मर गया। अगर मर गया तो हमको-आपको अपने अस्तित्व का अनुभव कैसे हो रहा है। हम अनुभव कर रहे हैं तो मरे कैसे? मृत्यु का अनुभव किसी को नहीं हो सकता। जन्म का अनुभव किसी को नहीं हो सकता, नहीं हुआ। हम देखते हैं शरीर पैदा हुआ, हम देखते हैं शरीर मर गया। शरीर के जन्म और मरण को देखकर उस शरीर के साथ एकात्म करके अपने जन्म-मरण की बात कहते हैं। मृत्यु का अनुभव किसी को नहीं हुआ। मृत्यु का अनुभव हमारे अधिकार क्षेत्र के बाहर की बात है। अगर हम सत् है तो त्रिकालाबाधित सत्य हम हैं। हमेशा है, हमेशा थे, आज भी हैं, और हमेशा रहेंगे। अतः मृत्यु का भय नहीं।

चित्त स्वरूप हम हैं अतः अज्ञान का भय नहीं।

आनन्द स्वरूप हम हैं अतः दुःख का भय नहीं।

अद्वय तत्त्व हम हैं अतः कोई शत्रु है ही नहीं, अतः शत्रु का भय नहीं।

जैसे-जैसे निष्काम कर्मयोग में हमारी प्रवृत्ति-प्रगति होती है। चित्त शुद्ध होने लगता है और अपना वास्तविक स्वरूप प्रकाशित होने लगता है तब इन चारों भयों से हम मुक्त होते जाते हैं। अतः कर्मयोग का थोड़ा-सा भी पालन लाभदायक होता है।

इस प्रकार अर्जुन के मन में यह जो भय था कि यदि मैं श्रीकृष्ण के निर्देशानुसार युद्ध करूं और कहीं मारा जाऊं तो जो कुछ मैंने धर्म का पालन किया वह क्या नष्ट हो जायेगा, उस भय को इस श्लोक के द्वारा दूर करने का प्रयास किया।

यही कर्म बन्धन से मुक्त होने की अवस्था है। प्रस्तुत श्लोक में भगवान् श्रीकृष्ण इसी प्रकरण का उत्थापन करते हैं और अर्जुन से कहते हैं—अब तक तो तुझे मैंने सांख्य की बुद्धि दी, आत्मज्ञान का उपदेश दिया, पर अब योग की बुद्धि देता हूं, जिससे युक्त होकर तू कर्म बन्धन को काटने में समर्थ हो सकेगा। और पाप से मुक्त हो जायेगा। वास्तव में यह कर्मयोग पाप से मुक्त करने का अमोघ रसायन है, जिसका उपदेश श्रीभगवान् प्रस्तुत श्लोक से प्रारम्भ करते हैं।

व्यवसायात्मिका बुद्धि,-रेकेह कुरु-नन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्-च, बुद्धयोऽव्यव-सायिनाम्।। 2/41

हे कुरुवंशी! इस (कर्मयोग) में निश्चयात्मिका बुद्धि एक ही होती है; किन्तु अनिश्चयी मनुष्यों की बुद्धियां अनेक भेदों वाली और अनन्त प्रकार की होती है।

इस श्लोक में भगवान् निष्काम एवं सकाम कर्म का तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत करते हैं।

यहां व्यवसाय का अर्थ निश्चय है। आजकल व्यवसाय का अर्थ व्यापार रूढ़ हो गया है। एवं व्यवसायी का अर्थ व्यापारी। पर यहां पर गीता में व्यवसायात्मिका बुद्धि का तात्पर्य निश्चयात्मिका बुद्धि से है। व्यवसायात्मिका बुद्धि वह बुद्धि है जो निश्चयात्मक होती है जो निश्चय करती है, जो दृढ़ होती है और जो अपने करणीय कार्य के आरम्भ से अन्त तक जो विभिन्न स्तर है, विभिन्न स्तरों पर क्या-क्या करना हो सकता है इन सबका बोध जिसको होता है वह निश्चयात्मक है, एक है क्योंकि लक्ष्य एक है। निश्चयात्मक बुद्धि वह है जो किसी कार्य के आरम्भ से अन्त तक की प्रक्रिया को देख ले। निष्काम कर्मयोगी या बुद्धियोगी का प्राप्तव्य केवल परमात्मा है। गीता में जिस कर्मयोग का निरूपण हुआ है वह साधारण कर्मयोग नहीं। उस कर्मयोग का लक्ष्य रुपया-पैसा कमाना नहीं है, उस कर्मयोग का लक्ष्य यश प्राप्त करना नहीं है, भोग भोगना नहीं है। यह सब होते हुए भी परमात्मा को प्राप्त करना है। ये सब प्रक्रियाएं हो सकती हैं। उसका प्राप्तव्य एक परमात्मा है जो अपना-आपा ही है अतः उसकी बुद्धि भी एक है, स्थिर है, और जो अव्यवसायी है जो बहुत से भोग पाना चाहते हैं ऐसे सकामी व्यक्ति की बुद्धि भी अनेक होगी। किसी को काम की प्राप्ति, किसी को यश की प्राप्ति, तो किसी को धन की प्राप्ति अनेक-अनेक प्राप्तियों की अनेकता के कारण बुद्धि भी अनेक। और जब प्राप्तव्य एक तो बुद्धि भी एक।

वास्तव में हम सब के पास कामनाओं की एक बड़ी सूची होती है, यह भी चाहिये, वह भी चाहिये। यानी बड़ा अच्छा सुन्दर आलीशान घर चाहिये आधुनिकतम सुविधाओं से युक्त, सुन्दर पत्नी चाहिये यानी प्राप्तव्यों की बड़ी सूची होती है। फलतः उसकी बुद्धि भी अनेक होती है। उसी के साथ यह बुद्धि अस्थिर भी होती है क्योंकि वे लोग अव्यवसायी होते हैं। वे आज एक कार्य करेंगे, उसमें थोड़ा-सा कष्ट होने पर कल दूसरा प्रारम्भ कर देंगे, उसमें थोड़ी हानि की सम्भावना हुई तो परसों तीसरा शुरू कर देंगे। इस प्रकार किसी भी प्रयत्न में स्थिर वृत्ति से कार्य नहीं करेंगे। तथा एक ही कार्य में एक रीति का अवलम्बन करके सबेरे कार्य करेंगे, दूसरी रीति से दोपहर को करेंगे और तीसरी पद्धति से शाम को करेंगे परन्तु किसी मार्ग पर स्थिर नहीं रहेंगे।

इस प्रकार कर्मयोग एवं सकाम कर्म, या कर्मकाण्ड में अन्तर स्पष्ट है। पूर्व श्लोक में हमने देखा कि कर्मकाण्ड में अभिक्रम नाश तथा प्रत्यवाय दोष तो है ही,

साथ ही इसमें व्यवसायात्मिका बुद्धि भी नहीं है। कर्मयोग में न 'अभिक्रमनाश' है, न 'प्रत्यवाय' है साथ ही इसमें व्यवसायात्मिकता बुद्धि है।

श्रीकृष्ण ने 40वें और 41वें श्लोकों में कर्मकाण्ड तथा कर्मयोग—इन दोनों के भेद को स्पष्ट किया है। कर्मयोग सिद्धान्त का थोड़ा संकेत ईशोपनिषद् में है, पर इसकी स्पष्ट एवं विस्तृत व्याख्या भगवान् श्रीकृष्ण ने ही की है। अतः कहा जा सकता है 'कर्मयोग' का सिद्धान्त श्रीकृष्ण का अपना सिद्धान्त था, एक नवीन सिद्धान्त और कर्मकाण्ड उस समय वेद के नाम से चल रहा मार्ग था जिसमें यज्ञों द्वारा स्वर्ग आदि का प्रलोभन दिया जा रहा था, इसलिए इन दोनों में भेद करना आवश्यक था।

प्राचीन युग आस्था प्रधान युग होने से शास्त्र एवं ईश्वर में निष्ठा होने के कारण हमारी कामनायें लौकिक एवं वैदिक शास्त्रों की मर्यादा की सीमा में पलती थी। फलतः कामनायें शनैः-शनैः विचार के आलम्बन से सद्गति में हेतु होती थी। यानी मर्यादा की सीमा में आबद्ध होने पर विनाश में पर्यवसित न होकर स्वर्गादिलोक से उत्क्रमण और पुनर्जन्म में पर्यवसित होती थी।

पर आज के आधुनिक युग में शास्त्र एवं ईश्वर में उतनी दृढ़ आस्था का अभाव होने से हमारी कामनायें वैदिक एवं लौकिक मर्यादाओं का अतिक्रमण करके चलती है फलतः अधोगति की ओर जाने वाली ही होती है।

सकामी व्यक्ति कभी सन्तुष्ट नहीं हो पाता। एक कामना की पूर्ति दस नयी कामनायें उत्पन्न कर देती है। कामना की पूर्ति होती है तो लोभ बढ़ता है, और कामनां की पूर्ति में बाधा अपने से दुर्बल व्यक्ति या शक्ति से आती है तो क्रोध उत्पन्न होता है और अपने से सबल व्यक्ति या शक्ति से आती है तो भय उत्पन्न होता है यानी हर स्थिति में वह विक्षिप्त ही बना रहता है। फिर एक ही कामना दस नयी कामनाओं को जन्म देती है। पुत्र हो जाये तो पुत्र के लिए दूध, दूध के लिए गाय, गाय दूहने के लिए ग्वाला, ग्वाले के लिए वेतन, वेतन के लिए पैसे चाहिये। बाबाजी की कहानी आपको याद होगी। एक ने उनको लंगोटी दे दी। लंगोटी को चूहा काट जाता तो बिल्ली पाली, बिल्ली के लिए गाय, गाय के लिए घास चाहिए। बेचारे फंस गये। और कहा, यह लंगोटी को भी लेते जाओ।

इस श्लोक पर एक अन्य दृष्टि से भी विचार कर सकते हैं। प्रश्न उठता है कामनायें ही क्यों उत्पन्न होती है?

जब जीवात्मा मोहवश अपने शुद्धात्मा स्वरूप को भूल बैठता है तब देहात्मभाव से उसमें देह, मन, चित्त, अहंकार में मैं और मेरा भाव पैदा हो जाता है। देह इन्द्रिय मन आदि अपने शुद्ध आप्तकाम, पूर्णकाम रूप को भूलकर

सांसारिक विषयों की कामना करने लगते हैं। इस प्रकार मोह (अज्ञान, अविद्या) से काम पैदा होता है। जैसे चक्रवर्ती सम्राट का पुत्र अपने राज्याधिकार को भूलकर तथा अपने जेब में पड़े हुए 10 हजार रुपये के नोट भूलकर अज्ञानवश गली-कूचे में भीख मांगने लगे। उसी प्रकार सर्वशक्तिमान निखिल ब्रह्माण्ड स्वामी परमपिता परमेश्वर के अमर साम्राज्य का उत्तराधिकारी होते हुए भी वह यह जीव अज्ञानवश, मोहवश अपने निज के शरीर के लिए और निज के सम्बन्ध से मेरा कहलाने वाले परिवारजनों या मित्रजनों के स्वार्थ के लिए कामना का भिक्षा पात्र लिए दर-दर भटकता रहता है।

जब जीव अपने वास्तविक स्वरूप को विस्मृत कर देता है तब उसमें अभाव का बोध जागृत होता, फलतः नाना-कामनायें उत्पन्न होने लगती हैं। कामनायें हमको कंगाल बनाती है, कामनायें हमको सीमित करती है, कामनायें हमको छोटा बनाती है। कामना जिसकी होगी अन्तःकरण में वही प्रतिबिम्बित होगा। जिसकी भी हम कामना करेंगे चाहे किसी स्त्री की, चाहे किसी पुरुष की, चाहे धन या पद की। वह पद, वह धन, वह स्थिति, वह पुरुष, वह स्त्री हमारे अन्तःकरण में फलित होगा। अन्तःकरण में जब क़ाम का विषय फलित होगा तब आनन्द प्रतिफलित नहीं होगा। तब ब्रह्म प्रतिफलित नहीं होगा। तब हमारी दृष्टि सीमित होगी, हम कंगाल बने रहेंगे, छोटे बने रहेंगे।

पाश्चात्य सभ्यता काम और अर्थ की अनन्त भूख को जगा देती है। उसे पिशाच बना देती है। इसलिए गांधीजी ने पश्चिमी सभ्यता को पैशाचिक सभ्यता कहा है।

एक परिवार में स्वामीजी गये। गृह स्वामी दुःखी। एक ही रोना 5 लाख का नुकसान लग गया। पर देखते गृहस्वामिनी प्रसन्न है। उससे पूछा, क्या माजरा है। आपके पतिदेव को कैसे घाटा लग गया। तब उसने बताया घाटा नहीं व्यापार में 5 लाख का लाभ हुआ है। तब पतिदेव से पूछा। तब उसने कहा, उसे क्या पता। वह तो मूर्ख है। मुझे तो 10 लाख से 15 लाख का लाभ होने वाला था। 5 लाख का तो निश्चित घाटा हो गया। अब यह सकाम बुद्धि है, यह सदा असफल होती है, लाभ हो तो भी हानि ही होती है सकाम बुद्धि में। क्योंकि अपेक्षा का कोई अन्त नहीं है। जो भी मिलता है, सदा छोटा पड़ता है। जो भी सफलता मिलती है वह बड़ी सफलता के सामने फीकी लगने लगती है। कुछ भी हो जाये तृप्ति नहीं होती।

अपेक्षायें अन्तहीन होती है उसके सामने हमारी उपलब्धियां, हमारे पूर्व के सारे संग्रह छोटे लगने लगते हैं। फलतः सदैव कुछ-न-कुछ संग्रह के लिए अपने

को लगाये रखता है। और विषाद को उपलब्ध होता रहता है, पर गरीब आदमी ज्यादा विषाद को उपलब्ध नहीं होता है। क्योंकि गरीब आदमी अनन्त अपेक्षा की हिम्मत नहीं जुटा पाता। वह जानता है अपनी सीमा, वह जानता है क्या हो सकता है, क्या नहीं हो सकता है। अपने वश के बाहर है बात, वह अनन्त-अपेक्षा की रेखा नहीं बनाता। इसलिए विषाद को उपलब्ध नहीं होता। अमीर आदमी, जिसके पास सुविधा है, सम्पन्नता है, अपेक्षा की रेखा को अनन्त गुणा बड़ा करने की हिम्मत जुटा लेता है। बस, उसी के साथ विषाद उत्पन्न हो जाता है।

पाल गुडमेन ने अमेरीका के सम्बन्ध में एक किताब लिखी है—'ग्रोइंग अप एब्सर्ड'। उसमें उसने एक बड़े मजे की बात कही है। उसने कहा है कि मनुष्य जाति ने जिन-जिन सुविधाओं की आकांक्षा की थी, वे सब पूरी हो गई है अमेरीका में। मनुष्य जाति ने जो-जो सपने देखे थे, उनसे भी आगे अमेरीका में सफलता मिल गयी। लेकिन अमेरीका में दुःखी आदमी हैं आज, उससे दुःखी आदमी बस्तर के जंगल में भी नहीं है। हो क्या गया? यह 'एब्सर्डिटी' कहां से आयी? यह अजीब बात है कि जो-जो आदमी करोड़ों साल से अपेक्षा कर रहा था, वह सब फलित हो गया। सब सपने पूरे हो गये। यह क्या हो गया? हुआ क्या? हुआ यह कि सब शक्ति हाथ में होने से अपेक्षायें एकदम अनन्त हो गयी। इसलिए जो भी पास में है, एकदम छोटा पड़ गया। बस्तर के आदिवासी की बहुत बड़ी अपेक्षा की सामर्थ्य नहीं है, जो भी हाथ में है, काफी बड़ा है। इसलिए दुनिया में गरीब आदमी कभी बगावत नहीं करते। गरीब आदमी अपेक्षा ही नहीं कर सकते कि बगावत करें। दुनिया में बगावत शुरू होती है जब गरीब आदमी के पास अपेक्षायें दिखाई पड़ने लगती हैं।

जोसुआ लिएबमेन ने अपने संस्मरण लिखे और किताब को नाम दिया है 'Peace of Mind' पुस्तक में कहता है जब मैं जवान था, विश्वविद्यालय से पढ़कर लौटा था, तो मेरे मन में हुआ कि अब जीवन का एक नक्शा बना लूं कि जीवन में क्या-क्या पाना है। स्वभावतः जीवन का एक नक्शा होगा तो जीवन को सुव्यवस्थित चलाया जा सकता है। अतः एक सूची बनायी—उसमें धन चाहिये, सुन्दर पत्नी चाहिये, यश चाहिये, सदाचार चाहिये। कोई बीस-बाईस बातों की सूची तैयार की—उसमें वह सब आ गया, जो-जो आदमी चाह सकता है। जो भी चाहा जा सकता है, वह सब आ गया, जो भी विषय की मांग हो सकती है, वह सब आ गया। जो भी कामना निर्मित कर सकती है, वे सब सपने आ गये। सूची को बार-बार पढ़ता है और सोचता है कि इसमें और कुछ तो नहीं जोड़ा जाना है; क्योंकि वह जीवनभर का नक्शा बनाना चाहता है। बार-बार विचार आता है कुछ छूट तो नहीं गया। इसलिए गांव के बूढ़े फकीर के पास गया और कहा—

आपने सबसे ज्यादा जिन्दगी देखी है, अतः आपको बड़ा अनुभव है गृहस्थ एवं संन्यासी, दोनों प्रकार के जीवन का। इसे देखकर बतायें कि इसमें और कुछ जोड़ने की आवश्यकता है क्या? वह पूरी सूची देखकर हँसा और उस पूरी सूची को काट दिया और उस पर बड़े-बड़े अक्षरों में तीन शब्द लिख दिये—'Peace of Mind' मन की शान्ति। और उसने कहा, बाकी सबकी फिक्र छोड़ दो तुम यह एक चीज पा लो, बाकी सब मिल सकता है। और यदि तुमने बाकी सब भी पा लिया तो ये तीन शब्द मैंने जो लिखे हैं, ये कभी मिलने वाले नहीं। उस समय तो बूढ़े फकीर की बात जंची नहीं, पर जिन्दगी के अन्त में लिएबमेन कहता है कि आज मैं जानता हूं कि उस बूढ़े ने सूची काटकर ठीक ही किया था? काश, उस दिन मैं समझ जाता कि मन की शान्ति ही सब कुछ है तो शायद आज तक वह पाया भी जा सकता था। लेकिन जिन्दगी उसी सूची को पूरा करने में बीत जाती है सबकी।

आज की आधुनिक पाश्चात्य शिक्षा भी अनन्त कामनाओं को जागृत करने वाली है। अतः आज की शिक्षा, शिक्षा नहीं कुशिक्षा है। आज मनुष्य का जीवन आवश्यकताओं के अनुसार नहीं चल रहा है वरन् इच्छाओं के अनुसार। आवश्यकता की पूर्ति प्रकृति के वश की बात है पर इच्छाओं की पूर्ति करना प्रकृति के वश की बात नहीं। फिर आज अर्थशास्त्र में मांग एवं पूर्ति का सिद्धान्त नहीं चलता वरन् अतिशय लाभ के लोभ में नित्य नये भोग की वस्तु निर्माण की जाती है फ़िर उसका चित्ताकर्षक विज्ञापन एवं प्रचार कर कृत्रिम भूख निर्माण की जाती है, क्रेता और विक्रेता को कभी सन्तुष्टि नहीं होती और यह क्रम जीवनभर चलता रहता है। एक इच्छा की पूर्ति होने पर अन्य कितनी इच्छा जाग जाती है। व्यक्ति का जीवन जिन्दगीभर किसी भी तरीके से साधन जुटाते-जुटाते काम करते-करते बीत जाता है और जीवन इतना व्यस्त हो जाता है कि उसके पास जीवन जीने का समय ही नहीं होता। वह सारा जीवन वैभव एवं साधन जुटाने में लगा रहता है क्योंकि आज उन्नति का, सभ्यता का मापदण्ड यही बन गया है और बाजार में भी नित्य नयी वस्तुएं आती रहती है, परिणाम यह होता है वह आखिर तक जीवन जी नहीं पाता। क्योंकि जीवन में केन्द्रीय महत्त्व मनुष्य को नहीं बल्कि सामग्रियों को प्राप्त हो गया है। फिर आज काम की स्पर्धा और ईर्ष्या, दोनों ही बहुत है। इस कारण व्यस्तता इतनी अधिक है कि उन्हें जीवन जीने का समय ही नहीं मिल पाता। यही आधुनिक जीवन की सबसे बड़ी ट्रेजेडी है जिसे टी.एस. इलियट ने बड़े सुन्दर ढंग से तीन प्रश्नों के रूप में रखा है—

जिन्दगी जीने में हम जीवन कहां खो देते हैं?

ज्ञान प्राप्त करते-करते हम कौन सी बुद्धि खो चुके होते हैं?

संकल्प करते-करते कौन सा ज्ञान हम खो चुके होते हैं?

फ्रांस के दार्शनिक फेनेलो ने कहा था, 'ऐसी कोई वस्तु नहीं जिसे मनुष्य ईश्वर से अधिक महत्त्व न देता हो। एक ईश्वर को छोड़कर शेष वस्तु की वह उपेक्षा नहीं करता, यही आज की सबसे बड़ी विडम्बना है। त्रासदी है। समस्या है।'

आधुनिक मानव जीवन की इस कथा को विश्व कवि रवीन्द्रनाथ टैगोर ने गीतांजलि के एक गीत में बड़े सुन्दर ढंग से अभिव्यक्त किया है—

यहां जो गीत गाने मैं आया था, उन्हें नहीं गा सका

आज केवल वीणा के तारों का स्वर साधता रहा।

गाने की मन में ही रह गई।

मानव जीवन की इस मर्म व्यथा को अपनी एक सुप्रसिद्ध कहानी में टाल्सटाय ने बड़े ही सुन्दर ढंग से दर्शाया है। कहानी है मनुष्य को कितनी जमीन चाहिये। राजा ने व्यक्ति से कहा, सूर्योदय से तुम जितनी जमीन पर दौड़ कर यहीं वापस आ जाओगे सूर्यास्त तक उतनी जमीन तुम्हारी हो जायेगी। अच्छा अवसर है। वह सूर्योदय के इन्तजार में रात को ठीक से सो भी नहीं पाया। सूर्योदय से दौड़ना प्रारम्भ कर दिया। हर समय मन में यही विचार रहता था कि एक ही दिन तो उसे दौड़ना है, बाद में सारी जिन्दगी के लिए जमीन उसकी हो जायेगी। सुख से रहेगा। वह आगे और आगे दौड़ता ही रहा। फेफड़े में तकलीफ होने लगी। शरीर थकने लगा, दम उखड़ने लगा। फिर शाम होने लगी तो उसने अपनी गति और तेज कर दी। जब सूर्यास्त दिखाई देने लगा तो सोचा कि अब तो समय बहुत ही कम रह गया है और तेज दौड़ना चाहिये। वह इतना तेज दौड़ा कि हांफते-हांफते दम उखड़ गया। और गिरकर खत्म हो गया। टाल्सटाय ने लिखा है कि उसके समाप्त होने के बाद जब उसको गाड़ने के लिए जमीन की नापजोख की गई तो साढ़े तीन गज जमीन में काम हो गया। टाल्सटाय ने लिखा है कि मनुष्य को केवल साढ़े तीन गज जमीन चाहिये लेकिन उसके लिए दौड़ते-दौड़ते सारा जीवन समाप्त कर दिया।

महाभारत में एक श्लोक है, उसका अर्थ इस प्रकार है—मान लेवें एक चक्रवर्ती सम्राट है। सारी पृथ्वी पर उसका राज्य है, पर उसका राजभवन तो किसी एक प्रदेश में होगा। प्रदेश के किसी नगर में, नगर के किसी मोहल्ले में, राजभवन में अनेक कक्ष में से एक कक्ष होगा, उस कक्ष के एक हिस्से में उसका पलंग होगा, पलंग में भी आधा हिस्सा उसकी रानी के लिए होगा। इस प्रकार मनुष्य की आवश्यकता सीमित है। पर अज्ञान से उसे असीम बना लेते हैं और जीवन भर अशान्त-अतृप्त ही रह जाते हैं।

इस सन्दर्भ में सिकन्दर की कथा—साधु और सिकन्दर। सिकन्दर की अरथी में उसका हाथ बाहर।

एक मुगल बादशाह भारत को लूट-लूट कर धन इकट्ठा करते रहे और अन्त समय में धन को देखते रहे लाचार दृष्टि से और रो रहे थे पर प्राण नहीं निकल रहे हैं।

नगर सेठ—नानक और सूई।

इस जीवन के साथ दूसरी ट्रेजेडी यही जितना ही बाहर धन इकट्ठा करता है उतना ही अन्दर से खोखला हो जाता है। प्रो. गालब्रेथ जैसे अर्थशास्त्री विचारक ने इस समस्या का वर्णन करते हुए कहा है—सम्पत्ति इकट्ठी होती है और मनुष्य भीतर से ध्वस्त होता जाता है। वह स्वयं अपने भोग कर नहीं सकता और दूसरों को दे नहीं पाता व्यर्थ में कमीना बनता है। इस विषय में नानकदेव ने बहुत ही सुन्दर कहा है—

दीन गवाया दुनि से और दुनि न चली साथ
पाव कुल्हाड़ा मारया, नानक अपने हाथ।

संसार के लिए धर्म, नैतिकता, ईश्वर छोड़े किन्तु संसार मरने पर मनुष्य के साथ जा नहीं सकता। इस प्रकार जीव अपने हाथ से ही अपने पांव पर कुल्हाड़ी चला रहा है।

क्या निष्काम भावना से हमारी प्रगति रुक जाती है?

प्रगति का क्या मतलब होता है? अगर प्रगति से मतलब हो कि बहुत धन हो, बड़ा मकान हो, जायदाद हो, जमीन हो, तो शायद थोड़ी रुकावट पड़ सकती है। लेकिन अगर प्रगति से अर्थ शान्ति हो, आनन्द हो, प्रेम हो, जीवन में प्रकाश हो, ज्ञान हो तो रुकावट नहीं पड़ती, वरन् बड़ी गति मिलती है। इसलिए आपकी प्रगति का क्या मतलब है इस पर निर्भर करेगा।

बाहर सब कुछ भी मिल जाय। सारा जगत्, सम्पदा और भीतर एक भी किरण शान्ति की न फूटे, तो मैं तुमसे कहता हूं कि अगर कोई तुम्हें एक किरण शान्ति की देने को राजी हो जाये और कहे कि छोड़ दो यह सब राज्य और यह सब धन और यह सब दौलत, तो छोड़ पाओगे? एक छोटी-सी शान्ति की लहर भी इस जगत् के पूरे साम्राज्य से अधिक है।

निष्काम कर्म पर चलने वाला दीन और दरिद्र हो जायेगा ऐसा नहीं है। मन शान्त हो तो दरिद्र होने की कोई अनिवार्यता नहीं। क्योंकि शान्त मन, जिस दिशा में भी कोई काम करेगा, ज्यादा कुशल होगा। उसके पास ज्यादा शक्ति होगी,

ज्यादा समझ होगी, भीतर तो समृद्धि होगी ही। भीतरी समृद्धि ही बाहर समृद्धि लाने का आधार बनती है।

इस प्रकार प्रगति का अर्थ सिर्फ दौड़ना है तो अलग बात है। निष्काम कर्म प्रगति में, समृद्धि में बाधक होने के बजाय साधक है।

इस प्रकार स्पष्ट निष्कामकर्मी की बुद्धि एक एवं निश्चयात्मक होती है जबकि सकामकर्मी की अनन्त कामनाओं के कारण उसकी बुद्धि अनेक, चंचल बनी रहती है।

विज्ञान की उपलब्धि के कारण

हम आकाश में पक्षियों की तरह विचरण करने में समर्थ है, जल में मछली की तरह, पर धरती पर चलना नहीं आया। वह आयेगा निश्चयात्मिका बुद्धि से, गीता की इस दृष्टि को स्वीकार करके ही।

इस प्रकार जब तक हम परमश्रेय को, पूर्णता की प्राप्ति को, प्रभु प्राप्ति को, आत्मसाक्षात्कार को नहीं स्वीकारते तब तक बुद्धि निश्चयात्मक नहीं हो सकती। कामना से, इच्छाओं से युक्त जीवन की बुद्धि सदैव अनिश्चय वाली एवं असंख्य भेदों वाली होती है क्योंकि इच्छाओं का अन्त नहीं है। इस क्षेत्र में बड़ी से बड़ी उपलब्धि भी हमारे लिए छोटी बनी रहती है, सदैव हम बौने और कंगाल बने रहते हैं यानी बड़ी से बड़ी समृद्धि भी हमारे अभाव को पूर्ण करने में अक्षम होती है। मृत्यु, दुःख, अज्ञान एवं शत्रु का भय सदा ही बना रहता है। अतः जीवन को कृत-कृत्य, धन्य-धन्य करना चाहे, अभावों को सदा के लिए मिटाना चाहे, ज्ञात-ज्ञातव्य हो ताकि कुछ जानना शेष न रहे। प्राप्त प्राप्तव्य ताकि कुछ पाना शेष न रहे तो हमें निष्काम कर्मयोग स्वीकारना पड़ेगा।

यामिमां पुष्पितां वाचं, प्रवदन्त्य-विपश्चितः।
वेद-वाद-रताः पार्थ, नान्य-दस्तीति वादिनः।। 2/42

कामात्मानः स्वर्ग-परा, जन्म-कर्म-फल-प्रदाम्।
क्रिया-विशेष-बहुलां, भोगैश्वर्य-गतिं प्रति।। 2/43

भोगैश्वर्य-प्रसक्तानां, तयापहृत-चेतसाम्।
व्यवसायात्मिकां बुद्धिः, समाधौ न विधीयते।। 2/44

हे पार्थ! जो अविवेकी जन हैं वे केवल वेदोक्त काम्य कर्मों की प्रशंसा में रत रहते हैं। वे इस मत के पोषक हैं कि स्वर्ग प्रदान करने वाले कर्मों के अतिरिक्त जीवन में और कुछ भी कर्तव्य नहीं है। वे कामना से भरे हुए तथा स्वर्ग-लाभ को ही परम पुरुषार्थ मानने वाले लोग सदैव ऐसी वाणी बोलते रहते हैं, जो सुनने में

बड़ी आकर्षक और लुभावनी लगती है तथा जो अनेक प्रकार की ऐसी क्रियाओं का ही वर्णन करती रहती है, जिनका उद्देश्य जन्म रूप फल देना तथा सुख-भोग और ऐश्वर्य प्रदान करना होता है। उस वाणी से जिनका चित्त हर लिया जाता है, ऐसे भोग और ऐश्वर्य में आसक्त लोगों का कार्य-अकार्य का निश्चय करने वाली बुद्धि चित्त में एकाग्र नहीं हो पाती अर्थात् ऐसे लोगों को व्यवसायात्मिका बुद्धि नहीं प्राप्त होती है।

कामनाओं की पूर्ति के लिए हमारे शास्त्र दैवीय उपाय बताते हैं।

अतः जिनकी आस्था स्वर्ग-नरक और शास्त्र में है। देह पृथक् कोई जीवात्मा है जो स्वर्ग-नरक जाता है इसमें आस्था है उन्हीं के लिए यह श्लोक है।

आज तो हमारी आस्था स्वर्ग-नरक में नहीं है। अंग्रेजों ने हमारी धर्म के प्रति आस्था को तोड़ दिया। फलतः हमने यज्ञोपवीत धारण करना, चोटी रखना, तिलक लगाना आदि छोड़ दिया। अंग्रेजों ने शिक्षा के आधार पर हमारी ऐसी मति भ्रमित की जो आंज तक यथावत जारी है।

आज कोई स्वर्ग प्राप्ति के लिए अनुष्ठान करता हुआ बहुत कम दिखाई देता है। पर महाभारत काल या अंग्रेजों से पूर्व का काल आस्था प्रधान, अतः स्वर्ग-नरक में विश्वास था।

तो ये श्लोक, स्वर्ग-नरक में आस्था रखने वालों, स्वर्ग की कामना रखने वालों के लिए यह श्लोक है। हम कामना को पाप नहीं मानते। हमने कामना को बुरा नहीं माना, न दबाया वरन् उसे पकाने के लिए कहते हैं। 'एकोऽहम् बहुस्याम' में आद्य काम पड़ा हुआ है। एक से अनेक हो जाऊं।

अनुचित विधि से कामना पूर्ति करने वाले को पामर कहते हैं।

वैध विधि से कामनाओं की पूर्ति करता है उसे विषयी कहा गया है।

विषयी भी दो प्रकार के—

एक केवल लौकिक यानी इस लोक में अभ्युदय चाहता है। दूसरा लोक के साथ परलोक में भी अपना अभ्युदय चाहता। वह लौकिक वाले से श्रेष्ठ है क्योंकि इसमें बहुत से नियम, संयम का पालन अनिवार्य होता है। आज तो हम लौकिक अभ्युदय में लगे हैं क्योंकि परलोक में विश्वास ही नहीं है।

अलग-अलग कामनाओं के लिए अलग-अलग अनुष्ठान का विधान है। यथा पुत्र प्राप्ति के लिए पुत्रेष्टि यज्ञ.. इस प्रकार अनेकों अनुष्ठानों का विधान वेद में है।

स्वर्गीय सुखों को बहुत बढ़-चढ़ कर वेदों में बताया गया है और जो इसकी ही चर्चा में लगे रहते हैं, इसे ही जो जीवन के सर्वोच्च सुख के रूप में प्रतिपादित

करते हैं उसको गीता पुष्पिता वाणी कहती है। पुष्पिता वाणी उसको कहते हैं जिसको वास्तविकता से अधिक बढ़-चढ़कर बताया जाता है। जिसे रमणीय बताया जाता है वह आपात रमणीय होता है, वस्तुतः रमणीय नहीं होता है क्योंकि 'क्षीणे पुण्ये मर्त्य-लोकं विशन्ति।' 9/21 गीता

पुष्पिता का एक अर्थ बन्ध्या होता है जिसके पुष्प तो बहुत आकर्षक-सुन्दर लगे पर किसी उपयोग का न हो जैसे—पलाश। टेसू का फूल खिलता है तो पूरा वृक्ष लाल हो जाता है पर उसका फल कड़वा होता है वैसे समेर का फूल। इस प्रकार जो वाणी सुनने में बड़ी मधुर लगे पर उसका अन्तिम परिणाम कष्टकर हो वह पुष्पिता वाणी है। क्योंकि जब पुण्य क्षय हो जाता है तब हमें वापस पृथ्वी में आना पड़ता है। उस समय बड़ा कष्ट होता है। जब स्वर्ग की देवदूती घोषणा करती है (जैसे हवाई जहाज में करती है) अब अमुक का पुण्य क्षय हो गया है। वहां का शरीर द्रव्य सूक्ष्म विपात्मक होता है। जब यह सुनते हैं तो मन में एक ताप उत्पन्न होता है। अपना पुण्य क्षय सुनकर उससे वह देह गलकर अब जिस योनि में जाना है उसका भावात्मक शरीर प्राप्त होता है।

इस प्रकार स्वर्गीय सुख सुनने में ही अच्छा लगता है, रमणीय, सुन्दर, लुभावना लगता है पर वास्तव में लुभावना नहीं होता, कष्टदायी ही सिद्ध होता है।

पुष्पिता का एक अर्थ रजस्वला स्त्री भी होता है, जो पुण्य कार्य में, शुभ कर्म में अधिकृत नहीं होती।

स्वर्गीय सुखों की इस क्षणभंगुरता को अस्वीकार कर जो इसको ही वेद का सर्वोच्च सुख, श्रेष्ठ स्थिति के रूप में, जीवन के सिद्धान्त के रूप में प्रस्तुत करता है उसे गीता वेदवादरता कहती है। तो ऐसे लोग कामना में अंधे हुए, स्वर्ग से बढ़कर कुछ है ही नहीं, स्वर्ग ही परम पुरुषार्थ है—उससे ऊपर उनकी दृष्टि जाती ही नहीं और सदैव अमुक-अमुक फल पाने के लिए कुछ-न-कुछ अनुष्ठान में लगे रहते हैं। ये सदैव जन्म-मरण के चक्र में घूमते रहते हैं—पुनरपि जननं पुनरपि मरणं जननी जठरे शयनम्।

तो गीता पामर और ऐसे विषयी लोगों के लिए नहीं है। गीता इससे ऊंची कक्षा वालों के लिए है। क्योंकि ऐसे लोग असंख्य कामनाओं से युक्त होते हैं और उनकी बुद्धि अव्यवसायी होती है।

गीता काम्य कर्मों को स्वीकृति देते हुए उसकी सीमा बताकर उससे ऊपर उठने के लिए प्रेरित करती है, निन्दा नहीं करती। उसे एक कक्षा के रूप में स्वीकार करती है, पर सदैव उसी में बने न रहें।

उपनिषद् भी काम्य कर्मों को जो सर्वस्व मानते हैं उस पर तीखा प्रहार करती है। मुण्डकादि उपनिषद् में कहा—मनुष्य अल्प सुख के फेर में भूमा से वंचित न हो जाये।

वासनायुक्त, शास्त्रविहीन कर्म सबसे नीचे की सीढ़ी। ऐसा मन निरंकुश होता है। इसे अंकुश लाने के लिए शास्त्रविहीत कर्म अपेक्षित। भोग सुख चाहिये कोई बात नहीं इसे शास्त्र का आधार लेकर पूर्ति करो। शास्त्रीय कर्म से जब कामना की पूर्ति होती है तब शास्त्र के प्रति आस्था बढ़ेगी और ऊंची कक्षा में जाने का भाव बनेगा फिर उसे यह बोध होगा काम्य कर्म में बुद्धि अव्यवसायी चंचल बनी रहती है। अतः यहां अटकें नहीं, इससे ऊंची कक्षा में आरोहण करें। वह निष्काम कर्मयोग की, पर जो निष्काम कर्म को धारण करने में असमर्थ हैं तो वह शास्त्रयुक्त काम्य कर्म ही करें। तब कभी न कभी इससे ऊपर उठने का भाव भी आयेगा।

वेद की मातृ दृष्टि है जैसे-माता अपने बच्चों की आवश्यकता को देखकर किसी के लिए खिचड़ी, दलिया या अधिक पौष्टिक भोजन की व्यवस्था करती है।

ऐसे ही वेद माता है अपने सन्तानों की प्रवृत्ति एवं अधिकार को देखकर यथोचित व्यवस्था करती है—भोगियों के लिए कर्म-काण्ड, ज्ञानियों के लिए ज्ञान काण्ड।

फिर जब साधक देख लेता है कामनाओं की पूर्ति कामनाओं के उपभोग से यथार्थ सुख यथार्थ तृप्ति प्राप्त नहीं होती है तब वह ययाति की तरह उसमें उपराम होकर ऊपर की सीढ़ी चढ़ने का प्रयासी होता है और समिधा लेकर गुरु की शरण में जाता है।

स्वर्ग हमारा चरम तात्पर्य कभी नहीं रहा। उपनिषद् वेद के ही अन्तिम भाग हैं। अतः यह भ्रान्ति फलती पश्चिमी चिन्तन के कारण वेद तो स्वर्ग की ही चर्चा करता, उपनिषद् मोक्ष की ही चर्चा करता है।

यह भ्रान्ति तब पलती है जब हम पश्चिमी विचारकों के प्रभाव में आकर वेद को अपौरुषेय के स्थान पौरुष मान लेते हैं—ऋषियों के विचारों का संकलन मान लेते हैं। तब हम वेद को अलग कर देते हैं, उपनिषद् को अलग कर अलग-अलग उनकी काल मीमांसा करते हैं।

पर वेद अपौरुषेय होने से भगवान् का सहज श्वास-प्रश्वास है। वेद अनन्त है। उसका अल्प अंश ही सृष्टि रचना के पूर्व ब्रह्माजी को दिया गया। उसका भी अल्प अंश ब्रह्माजी से ऋषियों को मिला। जो हमारे लिए पर्याप्त है।

अतः वेद उतने ही प्राचीन हैं जितना प्राचीन स्वयं ईश्वर व उनकी सृष्टि है। अतः जो सृष्टि का काल है वही वेद का काल मान सकते हैं।

इस प्रकार वेद ईश्वर एवं सृष्टि की तरह अनादि होने से पश्चिम के विद्वानों द्वारा वेदों के लिए की गई कालगणना, चाहे भाषा शास्त्र के आधार, चाहे भू-गर्भ शास्त्र, चाहे नक्षत्र के आधार पर सफल नहीं हो सकी।

तो कहने का तात्पर्य है पश्चिमी विचारकों के प्रभाव के कारण ही हम उपनिषदों को वेदों से अलग करके उसके दर्शन पर विचार करते हैं। तब कहते हैं वेद में तो स्वर्ग-नरक की ही चर्चा है। मोक्ष की चर्चा तो उपनिषदों में है। पर उपनिषद् को वेद से अलग करना भूल है। सत्य की क्रमिक अभिव्यक्ति के अनुसार तो पहले लोक फिर परलोक फिर निःश्रेयस की चर्चा आयेगी जो विकास की अन्तिम सीमा है। पहले प्रथम कक्षा, फिर दूसरी, फिर तीसरी यही तो क्रम रहेगा।

वेद सकाम कर्म बताता है और उसकी स्वयं सीमा बताते हुए निःश्रेयस की बात भी करता है।

इसी प्रकार गीता में काम्य कर्म की सीमा बताते हुए निष्काम कर्म की चर्चा हुई है। इसका बीज इशोपनिषद् में पाते हैं जिसका विस्तार से खुलासा गीता में हुआ है।

अतः हम वेद-उपनिषद्-गीता को अलग करके नहीं देख सकते। क्योंकि गीता स्वयं उपनिषदों का सार है।

और न स्वर्ग और नरक अनन्त हो सकता है। जैसा कि सेमिटिक परम्परा मानती है। अनित्य शान्त कर्म के द्वारा अनन्त स्वर्ग-नरक प्राप्त नहीं हो सकता। स्वर्ग तो-Five star Hotel की तरह है वहां जितनी पूंजी ले जाओगे उतने सुख के अधिकारी बनोगे। ऐसे ही पाप के क्षय होने पर नरक से छूट जाता है। अतः अनन्त स्वर्ग और नरक की अवधारणा त्रुटिपूर्ण है।

सेमिटिक परम्परा जिसमें यहूदी, ईसाई एवं इसलाम धर्म आता है, स्वर्ग से परे की स्थिति का चिन्तन करने में असमर्थ है। स्वर्ग से परे का चिन्तन केवल हिन्दू धर्म ही करता है।

वेद का चरम-परम तात्पर्य कर्म (यानी कर्मकाण्ड) एवं उपासना में निहित नहीं है। वेद का चरम तात्पर्य वेदान्त में निहित है। सत्य की क्रमिक अभिव्यक्ति के आधार पर फिर अधिकार भेद के आधार पर पहले कर्म फिर उपासना की चर्चा निहित है। पर परम तात्पर्य के रूप में ज्ञानकाण्ड ही वेदान्त या उपनिषद् ही प्रतिपाद्य विषय है। इसी में वेद का सार व परम तात्पर्य सन्निहित है। सत्य की क्रमिक अभिव्यक्ति के आधार पर उपनिषद् की चर्चा तो शेष में ही आयेगी।

त्रैगुण्य-विषया वेदा, निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्य-सत्त्वस्थो, निर्योग-क्षेम आत्मवान्।। 2/45

'हे अर्जुन! वेद सत्त्व, रज और तम इन तीनों गुणों को अपना विषय बनाते हैं अर्थात् इन तीनों गुणों से उत्पन्न संसार का ही प्रतिपादन करते हैं, तू तो इन तीनों गुणों से ऊपर उठ जा। सुख-दुःखादि द्वन्द्वों से अतीत हो सदैव सत्त्व अर्थात् नित्यवस्तु में स्थित रह। योग और क्षेम की चिन्ता का त्याग कर आत्मा में प्रतिष्ठित हो।'

अन्ततः वेद जो अपौरुषेय वाणी है उसमें ऐसा अर्थवाद ऐसी पुष्पिता वाक् क्यों है जो लोगों का चित्त हरण करके भोग तथा ऐश्वर्य में आसक्त बना देती है? ऐसी वाणी का प्रयोजन क्या है?

'त्रैगुण्यविषया वेदा। वेद तीन गुणों को प्रकाशित करने वाले हैं सत्त्व, रज और तम। ये तीनों गुण मिले-जुले रहने से त्रैगुण्य कहलाते हैं। हम-आप भी त्रिगुणों से युक्त हैं।

मूल प्रकृति अव्यक्त (रूपविहीन) है तथा इसमें तीन गुणों का समन्वय है—सत्त्व, रज और तम। तम=अंधेरा। निद्रा, आलस्य, प्रमाद तमोगुण के लक्षण हैं। प्राचीन प्रतीक है कुम्भकर्ण। रजोगुण—कामनाओं से प्रेरित होकर खूब कर्म करना। जैसे—रावण, अर्जुन आदि। सतोगुण—परिश्रम, संघर्ष, साधना, तपस्या के उपरान्त ज्ञानबोध से प्राप्त होने वाली शान्ति। जैसे—रामकृष्ण परमहंस।

ये तीनों गुण प्रायः बिल्कुल अलग-अलग तथा अन्य गुणों से अलिप्त नहीं रह सकते। वे परस्पर एक-दूसरे से मिले-जुले रहते हैं।

एक ही व्यक्ति के जीवन में प्रातःकाल सतोगुण का आधिक्य होता है। मध्याह्न में रजोगुण का आधिक्य एवं रात्रि में तमोगुण का आधिक्य रहता है। उसी व्यक्ति में सत्त्व गुण की प्रकृति विशेष होने से वह दिन में परिश्रम काल में भी स्वाध्याय करता है। रात्रि के तमोगुण के काल में भी आध्यात्मिक चिन्तन, ध्यान करता है। बाह्य प्रकृति (परिस्थिति) भी मनुष्य को प्रभावित करती है और मनुष्य की अंतःप्रकृति (अंतःस्थिति) बाह्य प्रकृति को प्रभावित करती है और तमोगुण प्रवृत्ति का व्यक्ति ब्राह्ममुहूर्त में आलस्य में, दिन के कर्म के समय प्रमाद में और रात्रि को निद्राधीन रहता है।

सत्त्वोन्मुखी रजोगुण—वीरों में, महापुरुषों में, इतिहास निर्माताओं में, अवतारों में। रजोगुणी कर्म महान् आदर्श (ज्ञान, शान्ति, आनन्द) की ओर लगा हुआ निष्काम कर्मयोगी बन जाता है। उदाहरणार्थ—शिवाजी, राणा प्रताप, गुरु गोविन्दसिंह आदि।

तमोभिमुखी रजोगुण—तमोगुण (निद्रा, आलस्य, प्रमाद) की ओर ले जाने वाला कर्म व्यक्ति को स्वार्थी, सकामी, संघर्षशील, ईर्ष्यालु, द्वेषी और क्रोधी बना डालता है। जैसे कंस, दुर्योधन, रावण आदि।

रजोगुण (कर्म) कर्म करने को प्रेरित करता है
- सत्त्व (ज्ञान-शांति-आनन्द) की ओर जाने से सत्कर्म, निष्काम कर्म।
- तम (निद्रा, आलस्य, प्रमाद, भोग) की ओर ले जाने वाला हीन कर्म।

ऐसा कोई भी नहीं है जिसमें सिर्फ तमोगुण हो या रजोगुण या सतोगुण। मनुष्य में तीनों गुणों का समावेश होता है, पर जिस गुण का आधिक्य होता है उसी के नाम से पुकारा जाता है। प्रकृति के तीनों गुण मनुष्य को अपनी ओर आकर्षित करते हैं। वह जिस ओर खिंच जाता है, वैसे ही गुणों का विकास उसके जीवन में होता है।

मनुष्य के सतोगुणी होने पर उसे समाज में प्रतिष्ठा, उच्चपद प्राप्त हो जाता है तो उसमें अहंकार का प्रवेश हो जाता है और समाज की अधिक से अधिक प्रतिष्ठा प्राप्त कर सके और सतोगुणी के नाम पर समस्त ऐश्वर्य भोग कर सके इसके लिए आश्रम की स्थापना, युवक-युवतियों को शिष्य बनाना आदि। यानी सतोगुणी के माध्यम से संसार के भोगों एवं प्रतिष्ठा के लिए सतोगुण को व्यवसाय बना लेते हैं।

इस तरह प्रकृति के तीनों गुण सदैव पुरुष को तमाचा मारने का अवसर देते रहते हैं।

अतः तमोगुण रूपी कुम्भकर्ण को समाप्त कर देवें, रावण रूपी रजोगुण को चीर देवें एवं विभीषण रूपी सतोगुण को राम के चरणों में समर्पित कर दें ताकि उसमें अहंकार का प्रवेश न हो पाए।

यह तीन गुण बाह्य प्रकृति में भी हैं, अन्तःप्रकृति में भी हैं। बाह्य प्रकृति और अंतःप्रकृति की क्रिया-प्रतिक्रिया चलती रहती है। अन्तःस्थिति दुर्बल होने से मनुष्य परिस्थिति का दास बन जाता है। अन्तःस्थिति सुदृढ़ होने से वह अपने अनुकूल ढाल लेता है। यह तीनों गुण अलग नहीं हो सकते। सदा इकट्ठे रहते हैं। इनका प्रभुत्व घटता-बढ़ता रहता है।

वेद इन सात्त्विक, राजस और तामस अधिकारियों के लिए है। वेद की इन पुष्पिता वाणियों के अधिकारी सात्त्विक, राजस या तामस पुरुष हैं। इस वाणी का तात्पर्य भी किसी को भोगैश्वर्य में प्रसक्त करना नहीं है। इसका तात्पर्य भी पुरुष को क्रमशः निवृत्ति की ओर ही ले जाना है।

जैसे—एक पुरुष तमोगुणी है। वह आलस्य-प्रमाद में पड़ा है। उसे श्रुति कहती है—उठो, कुछ काम करो। यानी यदि तमोगुण प्रधान है चेष्टा करो कि रजोगुण में जाओ। इसलिए विवेकानन्द ने कहा, गीता पढ़ने से फुटबाल खेलना अच्छा है। क्योंकि तमोगुणी जड़ता और सतोगुणी शान्ति बाहर से एक जैसे हैं। भीतर तमोगुण भरा है उसने ऊपर सतोगुण की रामनामी ओढ़ ली, तो सतोगुणी नहीं है। तमोगुणी जड़ता सतोगुणी शान्ति की भ्रान्ति उत्पन्न करती है। उस तमोगुणी जड़ता को खत्म करने के लिए विवेकानन्द ने कहा, जाओ फुटबाल खेलो। कम से कम तमोगुण से रजोगुण में तो जाओ।

जो पुरुष राजस अधिकारी है और काम करने में लगा है तो उससे कहा जाता है—काम को ठीक रीति से करो, व्यवस्थापूर्वक करो। जो व्यवस्थापूर्वक काम कर रहा है, उससे कहा जाता है काम को समझो। इसका रहस्य जानो। यानी रजोगुण से सतोगुण में जाओ।

वेद तीन गुणों का बखान करते हैं। तीन गुणों का वर्णन वेद में है, इसका सारांश यह है—

सत्त्व	रज	तम
देव पूजा	राक्षस पूजा	प्रेत पूजा
स्निग्ध भोजन	रुक्ष भोजन	अपवित्र भोजन
कर्तव्यपरायणता	दांभिकता	श्रद्धाहीनता
देशकालोचित दान	प्रत्युपकार की इच्छा से दान	देश काल के अयोग्य दान
अविभक्त भाव	पृथक् भाव	तुच्छ भाव
निष्काम कर्म	सकाम कर्म	मोहमय कर्म
निर्विकार	विकारी	स्तब्ध
अहिंसक	हिंसक	आलसी
यथार्थ बुद्धि	अयथार्थ बुद्धि	विपरीत बुद्धि
उच्च गति	मध्य स्थिति	अधोगति

श्रीपाद दामोदर सातवलेकर कहते हैं वेदों का अध्ययन मनुष्य को तमोगुण से रजोगुण और रजोगुण से सतोगुण में स्थित करता है, फिर सतोगुण से नित्य सत्त्वगुण में प्रवृत्ति होती है। वेद में तमोगुण के प्रतिनिधि असुरगण, वृत्रासुर आदि। इनका अन्त में नाश एवं अधोगति को प्राप्त होते हैं। फलतः असुरों का नाश देखने से कौन मनुष्य तमोगुण को अपनाने का यत्न करेगा? अर्थात् इस प्रकार वेद का उपदेश श्रवण करने से सुनने वाले की प्रवृत्ति अपने में से तमोगुण को दूर करने की होती है।

तमोगुण को दूर करके मनुष्य अधोगति से बचता है और भोग प्रधान रजोगुण अपनाता है। इस समय इसके सामने इन्द्रदेव आते हैं। रजोगुण के कारण इन्द्र परम पुरुषार्थ करते हैं, असुरों का नाश करते हैं, और श्रेष्ठ ऐश्वर्य प्राप्त करते हैं पर ऐश्वर्य के साथ भोग बढ़ते हैं, भोगों के कारण रोगों से व्याप्त होना पड़ता है और राजपद से पतन का भय सताता है तथा अनेकों बार सत्ताच्युत होते हैं। तब उसके मन में आना निश्चय होता है कि यह रजोगुण का वैभव किसी काम का नहीं है। जहां इस प्रकार का दुःख नहीं वह स्थान प्राप्त करना चाहिये। ऐसा निश्चय कर रजोगुण से विरक्त सत्त्वगुण की प्राप्ति में यत्नवान होता है। शुद्धात्मा, परमात्मा आदि के मंत्र की ओर आकृष्ट होता है वहां उसे मृत्यु का भय नहीं सताता, पतन का भय नहीं सताता इससे उसमें सत्त्वगुण का प्रकाश होता। इससे उसे रजोगुण और तमोगुण के दोष और सत्त्वगुण का महत्त्व विदित होता है तब वह नित्य सत्त्वगुण में स्थिर रहने का यत्न करता है।

वेद में इस प्रकार सत्त्व, रज और तमोगुणों का वर्णन है और इन वेद मंत्रों के पढ़ने से मनुष्य तमोगुण से ऊपर चढ़कर क्रमपूर्वक सत्त्वगुण में आकर स्थिर होता है। वेद मंत्रों के यथायोग्य अध्ययन से इस प्रकार मनुष्य तमोगुण से सत्त्वगुण और सत्त्वगुण से नित्य सत्त्वगुण में प्रवेश करता है।

इसलिए अर्जुन को इससे ऊपर उठकर 'नैस्त्रैगुण्यो भव' का उपदेश भगवान् श्रीकृष्ण करते हैं।

वेद के दो भाग हैं। एक है कर्मकाण्ड, दूसरा है ज्ञानकाण्ड। कर्मकाण्ड अंश जो है वह त्रिगुणात्मक है। तमोगुणी, रजोगुणी व्यक्तियों के लिए अनेक काम्य कर्मों का प्रतिपादन है। पर जो सतोगुणी है उनके लिए ज्ञानकाण्ड का औपनिषदिक ज्ञान का अधिकारी है। उन्हें भगवान् वेदों में इन तीनों गुणों से परे निस्त्रैगुण्य होने का भगवान् उपदेश देते हैं। अर्जुन भी सतोगुणी होने से उसे निस्त्रैगुण्य होने को कहते हैं। निस्त्रैगुण्य का अर्थ शंकराचार्य ने निष्काम किया है।

काका कालेलकर निस्त्रैगुण्य की व्याख्या करते हुए कहते हैं—वेद के दो विभाग माने गये हैं : कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड। ज्ञानकाण्ड में उपासना और ज्ञान द्वारा मोक्ष प्राप्ति का रास्ता बताया है। उसमें जहां कर्मों का विधान है वह केवल निष्काम कर्म है। वेद के कर्मकाण्ड में सकाम कर्मों का विधान है। सत्त्व, रजस, तमस जिन गुणों के अनुसार मनुष्य की जो कामनायें होती है, उनकी प्राप्ति के लिए यज्ञ-यागादि सकाम कर्म बताये गये हैं। भगवान् कहते हैं, कर्मकाण्डी त्रैगुण्य विषय है यानी तीन गुणों की बातें ही करते हैं। अर्जुन को अगर मोक्ष मार्ग में जाना है तो उसे चाहिये कि वह इन तीन गुणों की झंझट से परे जाकर निस्त्रैगुण्य बने।

जो संसार के भव बंधन में पड़ा रहना चाहते हैं उन्हीं के लिए वेद के कर्मकाण्ड हैं पर जो संसार के भव बंधन से मुक्त होना चाहते हैं उनके लिए 'निस्त्रैगुण्य' यानी निष्काम होना है तभी चित्त शुद्ध होगा। फलतः परमात्म ज्ञान फलित होगा और भव बंधन से सदा के लिए मुक्त हो जायेगा। कबीरदासजी का प्रसिद्ध दोहा है—

चलती चक्की देख के दिया कबीर रोय,
दो पाटन के बीच में साबुत बचा न कोय।

यानी जो काम्य कर्मों में ही पड़े रहते हैं वह प्रकृति के दोनों पाटों में पीसे जाते हैं और भव बंधन में पड़े रहते हैं। दो पाट द्वैत के हैं। प्रत्येक गुण का विरोधी गुण भी है। सुख-दुःख, हानि-लाभ, जय-पराजय, मित्र-शत्रु, सर्दी-गर्मी, अपना-पराया। जहां प्रकृति, वहां द्वैत।

चलती चक्की देख के दिया कमाल हंसाय,
कीली से जो लग रहे सो नहीं पीसा जाय।

तब कबीर का पुत्र कमाल कहता है जो निष्काम कर्म के फलस्वरूप चित्त शुद्ध होने से परमात्मा के सन्निकट आ जाने से वह साबुत बचा रहता है यानी भव चक्र से मुक्त हो जाता है।

त्रैगुण्य का अर्थ संसार और विषय का अर्थ प्रकाश। वेदों के द्वारा संसार प्रकाशित होता है। वेद पूरे संसार को प्रकाश देने वाले हैं। संसार में जो जिस विषय का प्रकाश चाहता है, वेद उसे उस विषय में प्रकाश देते हैं। धन कैसे मिले, पुत्र कैसे उत्पन्न हो, धनुष कैसे बने, शत्रुनाश कैसे हो, रोग कैसे छूटे—ये सब वेद बतलाते हैं और जो इस संसार से मुक्त होना चाहते हैं उसका भी उपाय बताते हैं। जैसा कि भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को बता रहे हैं। अतः वेद माता के तुल्य है जो अपनी सभी संतानों की रुचि, प्रवृत्ति, पाचन क्षमता एवं अधिकार के अनुरूप साधन देकर धीरे-धीरे उस अवस्था से उठाकर सर्वोच्च स्थिति में ले जाने का प्रयास करती है।

यह वेदों का अधिकार भेद है जो जिसके लायक है, उसे वही दो। किसी प्रकार व्यक्ति को अपनी ओर खींचो तो सही, एक बार यदि वह आकर्षित हो गया, तो धीरे-धीरे उसे ऊपर उठाने की व्यवस्था हो सकती है—यह वेदों की दृष्टि है। तमोगुणी व्यक्ति तो धर्म की ओर झुकना ही नहीं चाहता, पर उसे भी उठाना आवश्यक है। अतः क्या किया जाये? तमोगुणी की मारण-तारण आदि निम्न कार्यों में रुचि रहती है। ठीक है, उसे वही दो। उसके लिए तो वह वेद के पास आयेगा और जब देखेगा कि वेद ने उसकी तामसी रुचि को सन्तुष्ट करने के लिए 'श्येनयाग' जैसे जो उपाय बताये हैं, वे सफल होते हैं, तो वेद पर उसकी

श्रद्धा बढ़ेगी। इस श्रद्धा के कारण वह वेद के अन्यान्य उपदेशों पर भी ध्यान देने लगेगा। इस प्रकार आज जो सर्वथा शास्त्र-विमुख है, सम्भव है एक दिन वह धीरे-धीरे धार्मिक बन जाये।

तो वेद माता का यह अपनी असमर्थ संतानों के प्रति कारुण्यपूर्ण दृष्टिकोण है। श्रीरामकृष्णदेव भी अपने अलग-अलग शिष्यों के लिए उनकी क्षमता और रुचि देखकर अलग-अलग व्यवस्था करते थे—जब नरेन्द्र (स्वामी विवेकानन्द) आते तो 'अध्यात्म रामायण' या अष्टावक्र संहिता जैसे गूढ़ ज्ञानपरक ग्रन्थ पढ़कर सुनाने के लिए कहते; जब राखाल (स्वामी ब्रह्मानन्द) आते तो उनसे 'भागवत' जैसा भक्तिपरक ग्रन्थ सुनाने को कहते थे। जब लाटू (स्वामी अद्भुतानन्द) को पंचवटी में ध्यान करते देखते, तो कहते, 'अरे लाटो, तू जिसका ध्यान कर रहा है, वह तो रसोई में चूल्हा फूंक रही है, जा उसकी सहायता कर। इसी प्रकार वेद माता भी अपनी सन्तानों की सामर्थ्य देखकर अलग-अलग व्यवस्था करती है। यही वेद का अधिकारवाद है। पर बाद में इस अधिकारवाद का लोगों ने मनमाना अर्थ लगाया और यहां तक कहा कि 'यदि शूद्र वेद सुन ले, तो उसके कानों में पिघला हुआ शीशा डाल दो, नारी को वेदपाठ और उपनयन का अधिकार नहीं है; आदि-आदि'। ये हमारी कमजोरियां थीं कि हमने अधिकारवाद के नाम पर ऐसा शोषण किया और वेद के अर्थ का अनर्थ किया। इसके लिए वेद दोषी नहीं, हम दोषी हैं। अधिकारवाद तो व्यक्ति की प्रकृति के अनुकूल साधना की व्यवस्था करने का एक सक्षम उपाय था।

यह अधिकारवाद भारतीय संस्कृति की विशेषता है जो कि अन्य धर्मों, सम्प्रदायों में इसका अभाव है। अतः वे साधन के मार्ग में कंगाल हैं। अन्यों के यहां एक ही देवता, एक ही मंत्र, एक ही ग्रन्थ, एक ही उपासना पद्धति, एक ही पैगम्बर। इनमें व्यक्ति के रुचि-भेद एवं अधिकार भेद का विचार ही नहीं। फलतः ये अध्यात्म के मार्ग में आगे भी नहीं बढ़ पाये। इनके धर्म के नाम पर नरसंहार एवं शोषण ही ज्यादा हुआ है।

गीता के इस श्लोक में वेद की निन्दा या विरोध नहीं है जैसा कि अनेक लोगों की इस विषय में भ्रान्ति है। यहां भगवान् वेद में प्रतिपादित कर्मकाण्ड की सीमा रेखा बताकर ज्ञान में हमारी प्रवृत्ति हो इसलिए ज्ञानकाण्ड की प्रशंसा एवं समर्थन किया है। सत्य सहिष्णुता की क्रमिक अभिव्यक्ति के लिए पहले कर्मकाण्ड का फिर ज्ञानकाण्ड का प्रतिपादन हुआ है। ज्ञानकाण्ड में हमारी पहुंच सहसा नहीं हो सकती है। वैसे तो वेद का प्रतिपाद्य विषय प्रपंचातीत परमात्मा ही है। इसलिए गीता के 15वें अध्याय के 15वें श्लोक में भगवान् कहते हैं 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो' अर्थात् सब वेदों से जानने योग्य मैं ही हूं।

तब प्रश्न उपस्थित होता है भगवान् ने संसार में ऐसे विषयों की रचना ही क्यों की जो हमारे परमात्मा प्राप्ति में बाधक होते हैं? या संसार की रचना क्यों की? तब इससे निवृत्त होने का प्रश्न ही नहीं उठता। इसका उत्तर यह है कि यह भगवान् की लीला है। उन्होंने त्रिगुणात्मक संसार ऐसा रचा है, जिसमें जीव अपनी-अपनी भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियों को लेकर फंसा हुआ है। फिर वे ही यह उपाय भी बता देते हैं कि जीव इस फांस से कैसे छूटेगा। यही उनका कौतुक है। वे कौतुकी जो हैं। बांग्ला में एक गीत है, जिसमें भक्त जगन्माता को सम्बोधित कर कहता है—

परीक्षार अनल जेले ताते दाओ मां आमाय फेले।
आबार दाओ मा उपाय बोले जे भाबे जार बांचे जीवन।।

मां! तुम परीक्षा की आग जलाती हो और मुझे उसमें झोंक देती हो। फिर तुम ही वह उपाय भी बता देती हो, जिससे जीवन बच जाये। यही प्रभु की लीला है। वे अपनी त्रिगुणात्मक प्रकृति के सहारे लीला करते रहते हैं। जो लीला में फंस गया, वह लीलामय को नहीं पा सकता। लीलामय को एक बार किसी तरह पकड़ लेने से लीला स्वतः वश में आ जाती है। जादू में भूल जानें से जादूगर तक हम नहीं पहुंच पाते। हम जादू में इतने रम जाते हैं कि जादूगर का भान ही नहीं होता। यदि हम किसी प्रकार जादूगर से मित्रता कर लें और जादू का राज जान लें तो फिर हम कभी भी जादू के वश में नहीं होंगे। इसीलिए भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन से इस त्रिगुणात्मक प्रकृति से परे जाकर उस गुणातीत अवस्था को प्राप्त करने की प्रेरणा देते हैं, जो भगवान् का अपना स्वरूप है और चूंकि वेद केवल इस त्रिगुणात्मक प्रकृति का ही प्रकाशन करते हैं, इसलिए वेदों के ऊपर उठने का निर्देश देते हैं।

'निस्त्रैगुण्यो भव' साधन का निश्चय गुरु ही कर सकता है। जो तत्त्वज्ञ भी है, शास्त्रज्ञ भी, वही अधिकारी के अनुरूप साधन निर्देश करने में समर्थ है। अतः श्रीकृष्ण अर्जुन के लिए निर्देश भी कर रहे हैं कि तुम निस्त्रैगुण्य हो जाओ। त्रिगुण के कार्य में कहीं भी अहंकार मत करो।

तामस अहंकार का कार्य है यह पंचभूतात्मक शरीर। इस देह में अभिमान मत करो। इससे देह और उसके जो सम्बन्धी हैं, उनमें 'मेरा' पना नहीं रहेगा।

'मातुलाः श्वसुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा।' इस प्रकार के विचार जो तुम्हारे मन में आते हैं—यह देह को 'मैं' मानने से आते हैं। देह को 'मैं' मत मानो—इससे संसार में कोई 'मेरा' नहीं रह जायेगा।

राजस अहंकार का कार्य है देह में क्रिया शक्ति। इस क्रिया शक्ति में भी अहंकार मत करो। इससे तुम किसी क्रिया के कर्ता नहीं रह जाओगे।

'अहो वत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्'

यह भाव क्रिया शक्ति में अहंकार होने से ही आया है। राजस अहंकार को छोड़ दो तो कर्तृत्व छूटने से भोक्तृत्व अपने आप छूट जायेगा।

सात्त्विक अहंकार का कार्य है चित्त में दया, कृपा आदि का आना। इससे भी ऊपर उठो। त्रिगुण में किसी से तादात्म्य मत करो। व्यष्टि देह में और समष्टि में जो कुछ भी सत्त्व, रज या तमोगुण का कार्य है, वह तुम्हारा 'मैं-मेरा' नहीं है। तुम नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्त चेतन हो और तुम्हारे चेतन स्वरूप में त्रैगुण्य मिथ्या है। तुम अपने स्वरूप में स्थित हो जाओ।

यह स्थिति कैसे प्राप्त हो। तमोगुण और तामस अहंकार रजोगुण और राजस अहंकार, सत्त्वगुण और सात्त्विक अहंकार से मुक्त होकर महत् (बुद्धि) और प्रकृति भी अपने में अध्यस्त मालूम पड़े, यह कैसे हो? इसका उत्तर भगवान् ने दिया कि यदि तुम्हारा अन्तःकरण शुद्ध हो जाये, योग में तुम्हारी स्थिति हो जाये तो यह स्थिति शीघ्र प्राप्त हो जायेगी। मात्र इशारे से ज्ञान मुद्रा से सनक, सनातन, सनत्कुमार व सनन्दन को ज्ञान। उनको महावाक्य के श्रवण से—

तत्त्वश्रवणमात्रेण शुद्धबुद्धिर्निराकुलः।
आजीवमपि जिज्ञासुः परस्तत्र विमुह्यति।।

शुद्ध अन्तःकरण व्यक्ति को श्रवण मात्र से बिना मनन-निदिध्यासन के ही तत्त्व ज्ञान हो जाता है; नहीं तो मनन से, उसके बाद निदिध्यासन से। सनत्कुमार ब्रह्माजी के मानस पुत्र थे सृष्टि कार्य में सहयोग मांगा तो उन्होंने ज्ञान सम्बन्धी कुछ प्रश्न पूछे—हम कौन हैं, सृष्टि क्या है आदि। इसका उत्तर स्वयं ब्रह्माजी ने दिया नहीं और उत्तर दिशा में जाने का आदेश दिया वहां दक्षिणामूर्ति भगवान् ने ज्ञान मुद्रा दिखाई, उन्हें ज्ञान हो गया। किन्तु जिस जिज्ञासु का अन्तःकरण शुद्ध नहीं है, वह जीवनभर भटकता रहता है—पूछता रहता है। कहीं वृत्ति स्थिर नहीं, कहीं तदाकारता नहीं, कहीं स्मरण नहीं, इस प्रकार जीवनभर ग्लानि का हेतु बना रहता है। आवरण भंग नहीं होता। विद्या अधिकारी के पास आती है—अनधिकारी के पास नहीं।

महाभाष्यकार ने श्रुति उद्धृत की—

'विद्या हवै ब्राह्मणभाजगाम गोपाय मां शेषधिस्तेऽहमस्मि।'

विद्या ब्रह्मज्ञानी के समीप आकर बोली—मेरी रक्षा करना, मैं तुम्हारी निधि हूं। जो सेवापरायण न हो, सरल न हो, उसे मेरा उपदेश मत करना। इससे मैं प्रभावोत्पादिनी रहूंगी।

जो शुद्धान्तःकरण है, जिसने चित्त के दोषों को त्याग दिया है, उसमें यह विद्या सफल होती है। अतः प्रश्न उठा कि यह स्थिति अर्जुन को (या हमको-आपको) कैसे प्राप्त हो।

तब भगवान् अर्जुन से कहते हैं वेद तो तीन गुणों वाले पुरुषों के लिए है, किन्तु तुम में इन तीन गुणों से ऊपर उठने की क्षमता है। अतः तू विचारपूर्वक इस त्रिगुण समुदाय से ऊपर उठ जा। देख, त्रिगुण प्रकृति का धर्म है, आत्मा का नहीं। आत्मा को पाना तेरा लक्ष्य है। उस ओर मुड़, त्रिगुणात्मक प्रपंच से ऊपर उठकर निस्त्रैगुण्य बन जा। निस्त्रैगुण्य बनने के लिए या उसमें स्थित होने के लिए चार गुण चाहिये—निर्द्वन्द्व, नित्यसत्त्वस्थ, निर्योगक्षेम और आत्मवान।

सर्वप्रथम निर्द्वन्द्व बन। निर्द्वन्द्व द्वन्द्वों से रहित होने की स्थिति है। द्वन्द्व यानी जोड़ा। संसार में दो प्रकार के द्वन्द्व अर्थात् जोड़े हैं। एक है 'सपक्ष-द्वन्द्व' यानी परस्पर सम्बन्धी वृत्तियों के जोड़े—जैसे अहंता-ममता, लोभ-मोह, काम-क्रोध, मद-मात्सर्य आदि। दूसरा है प्रतिपक्ष द्वन्द्व यानी परस्पर विरुद्ध वृत्तियों के जोड़े—जैसे सुख-दुःख, शीत-उष्ण, मान-अपमान आदि। ये सब प्रकृति के ही गुणों के प्रपंच हैं। ये द्वन्द्व मनुष्य को बांध देते हैं। द्वन्द्वों से वही रहित हो सकता है, जो त्रिगुणात्मक प्रकृति से ऊपर उठ निस्त्रैगुण्य हो जाता है।

पर निर्द्वन्द्व और निस्त्रैगुण्य का अर्थ यह नहीं कि मनुष्य जड़ या पागल के समान हो जाये। कोई कह सकता है कि पागल भी तो निर्द्वन्द्व और निस्त्रैगुण्य होता है, उसे भी योगक्षेम की परवाह नहीं होती तो क्या अर्जुन को पागल होने का उपदेश दिया जा रहा है, ऐसी बात नहीं है तभी तो भगवान् निर्द्वन्द्व के बाद नित्यसत्त्वस्थ का प्रयोग करते हैं।

'नित्यसत्त्वस्थो' नित्य सत्त्वगुण में स्थित रहो। अनित्य सत्त्व तो सबके जीवन में आता है। बुरे से बुरा-दुष्ट से दुष्ट मनुष्य भी जब किसी को पीड़ा से तड़पता देखता है तो एक बार उसके चित्त में दया, सहानुभूति जाग जाती है। पर वह भाव स्थिर नहीं रहता है। सत्त्व दो प्रकार का होता है। एक वृत्तिपरक दूसरा शान्त। वृत्ति का मतलब ही होता है कोई भी वृत्ति दीर्घकाल तक नहीं रहती। कोई बीमार कोढ़ी रास्ते में पड़ा है। आपके अन्दर सत्त्व वृत्ति जागी, आपके अन्दर दया जागी, करुणा जागी, आप उसे उठाकर घर ले आये। आपने एक दिन सेवा की। फिर आपके अन्दर अहंकार जागेगा कि मेरे जैसा उदार कौन है? मेरे जैसा सेवा परायण कौन है? कोढ़ी को घर लाकर आश्रय दिया। सत्त्व तो तिरोहित रजोगुण बढ़ा। कब तक उसे पालोगे। एक दिन मेहमान, दो दिन मेहमान फिर तो तीसरे दिन जान का जंजाल। फिर फेंक आओगे। वृत्ति का मतलब ही बदलना। वर्तनशील, परिवर्तनशील जो सत्त्ववृत्ति है वह नित्य नहीं रहेगी। वह सत्त्वगुण, रजोगुण एवं तमोगुण में परिवर्तित हो जायेगी। भगवान् यहां नित्य सत्त्वस्थ में स्थित रहना, नित्य करुणा, कृपा का अनुभव करना। संसार में नित्य सत्त्वगुण रहता नहीं, केवल ईश्वर में रहता है। अतः अन्तर्यामी ईश्वर के प्रति समर्पित हो जाओ। जैसे-ग्रन्थ साहब में कहा है—

'जो प्रभु कीन्हो सो भला मानो'

प्रभु ने तुम्हारे लिए जो विधान किया है, उसे अपने लिए कल्याणकारी समझे। जो ईश्वर चाहे, उसी में सन्तुष्ट रहो। गुरुनानक ने कहा है— 'उसके हाथ से कुछ बुरा होता नहीं और दूसरा कोई करने वाला नहीं है।'

'उस ते होय नहीं कुछ बुरा, और कहौ किनै कुछ करा?'

यह संसार तो ईश्वर की दुकान है। यहां तुम जो ढूंढ़ने जाओगे, वह तुम्हें मिलेगा। अतः तुम 'नित्यसत्त्वस्थ' रहो। तमोगुण के अंधकार, रजोगुण की आंधी और सत्त्वगुण के प्रकाश में तुम अपने नेत्रों को केवल अच्छाई में लगाओ। सर्वत्र अच्छाई देखो। सर्वत्र ईश्वर का दर्शन करो।

चित्त का स्वभाव है वह अपने समान गुण से मित्रता कर लेता है। अतः तुम्हारे भीतर अच्छाई होगी तो तुम्हें सर्वत्र अच्छाई दीखेगी। और तुम्हांरे भीतर बुराई होगी तो सर्वत्र बुराई दीखेगी। युधिष्ठिर महाराज को सर्वत्र अच्छाई ही दिखती थी, वे एक भी बुरा व्यक्ति ढूंढ़ नहीं पाये। दुर्योधन को सर्वत्र बुराई ही दिखती थी वह एक भी भला आदमी ढूंढ़ नहीं पाया। तब गुरु महाराज ने याद दिलाया तेरे घर में ही तो दुष्ट दुर्योधन है और तुम कहां-कहां ढूंढ़ने गये, तो युधिष्ठिर ने कहा उसमें तो कई अच्छांई भी है। यही बात दुर्योधन को कही तेरे ही घर में तो युधिष्ठिर है, तो कहा उससे बड़ा कोई ढोंगी नहीं है।

जब मनुष्य प्रयत्नपूर्वक दीर्घकाल तक साधना में जागृत रहता है तब सत्त्वगुण उसका स्वभाव बनता है। उसे सत्त्व सिद्धि कह सकते हैं। जब सत्त्व सिद्धि प्राप्त हो जाती है और सत्त्वगुण से कभी नहीं गिरता उसे ही नित्यसत्त्वस्थ कहते हैं। ऐसे व्यक्ति में रजोगुण एवं तमोगुण शरीर रक्षार्थ जितना आवश्यक होता है उतना ही मात्र रह जाता है।

तीसरा विशेषण भगवान् ने लगाया निर्योगक्षेम—यानी योगक्षेम से मुक्त। अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति को योग कहते हैं तथा प्राप्त वस्तु के संरक्षण को क्षेम। जो योगक्षेम की चिन्ता में लगा है वह 'निस्त्रैगुण्य' कैसे हो सकता? योग और क्षेम तो त्रिगुणात्मक संसार की बात है। उनमें लगा रहने वाला व्यक्ति न 'निस्त्रैगुण्य' न निर्द्वन्द्व हो सकता है, और न नित्यसत्त्वस्थ। अतः कहा गया योगक्षेम की भी चिन्ता मत करो। जो कुछ स्वतः प्राप्त हो जाये, उसी में सन्तुष्ट रहो। दूसरे शब्दों में इसी को 'यदृच्छालाभ-सन्तुष्ट' कहते हैं। यही कर्मयोग का चरम लक्ष्य है और ज्ञान का भी। इसमें भगवान् पर अटूट विश्वास कि शिशु के जन्मते ही मां के स्तन में दूध देता है, तो क्या दांत आने पर अन्न नहीं देगा। मेरा पालन नहीं करेगा। विनोबाजी कहते हैं घोड़े पर बैठने के बाद अपना सामान घोड़े पर ही रखना चाहिये अपने

मस्तक पर नहीं। वैसे ईश्वर के मार्ग पर चलने से सारे योग-क्षेम की व्यवस्था भगवान् पर छोड़ देनी चाहिये और भगवान् जो देवे उसी में सन्तोष होना चाहिये।

जो आने वाला है, वह काल के प्रवाह में स्वयं आयेगा। तुम श्वेत केशों को, शरीर पर पड़ी झुर्रियों को, रोगों को बुलाने तो नहीं गये थे? जो तुम्हारे अशुभ कर्मों का फल देने में तत्पर है, वह तुम्हें शुभ कर्मों का फल नहीं देगा, ऐसा अविश्वास मत करो। जैसे अब तक योग-क्षेम होता आया है, वैसे ही आगे भी होते रहेगा। परमात्मा जब सबका पालन करता है तब क्या शरणागत का पालन नहीं करेगा?

यह निर्योगक्षेम कोई निषेधात्मक स्थिति नहीं है, वह दृढ़ विश्वास से उपजने वाली मन की एक विधेयात्मक वृत्ति है। इसमें ऐसा विश्वास रहता है कि जब एक सामान्य राजा भी किसी को कारावास में डालता है तो उसके भोजन आदि का प्रबन्ध अवश्य कर देता है, तब फिर महाराजाओं के भी महाराजा उस परमात्मा ने जब कर्मवश जीव को संसार रूप कारागार में भेजा तो वह उसके भोजन का प्रबन्ध कैसे नहीं करेगा? इस सम्बन्ध में शिवाजी की (किले बनाने वाली) कथा प्रसिद्ध है।

बालकोवा भावे ने निर्योगक्षेम का एक दूसरा अर्थ भी किया है। योग यानी अप्राप्त वस्तु को प्राप्त करना और क्षेम यानी प्राप्त वस्तु का रक्षण करना। योग-साधना करने वाले साधक का लक्ष्य मोक्ष प्राप्त करना है। मोक्ष अप्राप्त वस्तु है, उसे प्राप्त करना है, तो वह कब प्राप्त होगा, इसकी चिन्ता साधक को हो सकती है। वैसे ही जो योग-भूमिका हासिल हुई जो निष्कामता प्राप्त हुई वह कैसे टिक सकेगी, इसकी चिन्ता भी साधक को हो सकती है। तो भगवान् बता रहे हैं कि योग-साधना करने के विषय में भी चिन्ता छोड़ देनी चाहिये। सब ईश्वर पर छोड़कर निश्चिंत हो जाना चाहिये। और अपना प्रयास जारी रखना चाहिये।

चूंकि भगवान् ही सबका पोषण करते हैं। अतः साधक को योगक्षेम की चिन्ता छोड़ देनी चाहिये। तब प्रश्न होता है कि साधक फिर क्या लेकर रहे? वह त्रिगुणों से अतीत हो जाये, निर्द्वन्द्व हो जाये, निर्योगक्षेम हो जाये तो रहे किसको लेकर? भगवान् कहते हैं—आत्मा को लेकर—'आत्मवान।' अर्जुन, तू आत्मवान बन। शंका हो सकती है कि क्या हम आत्मवान नहीं हैं? प्रत्येक प्राणी ही तो आत्मावाला है, तब फिर 'आत्मवान' बनने के उपदेश का क्या अर्थ? तात्पर्य यह है कि हम आत्मवान होते हुए भी आत्मा के अस्तित्व का अनुभव नहीं करते। आत्मा हमें या तो देह के रूप में दिखाई देती है या मन के रूप में। देह-मन से भिन्न आत्मा की प्रतीति हम नहीं कर पाते। इस सन्दर्भ में श्रीरामकृष्ण देव का वह डाब (कच्चा नारियल) वाला उदाहरण स्मरणीय है। जब तक नारियल कच्चा होता है, उसमें रस भरा होता है, तब तक उसका गूदा छिलके के साथ एकरूप हो जाता है,

पर जब रस सूख जाता है तो उसका भेला नरेली से स्वयं अलग हो जाता है तथा हिलाने पर गड़-गड़ आवाज करता है। इसी प्रकार अभी हमारे भीतर वासना रस भरा हुआ है, इसलिए आत्मा देह-मन रूपी छिलके के साथ एकरूप दिखाई देता है। जब ज्ञान की आग में वासना रस ओंट कर सूख जायेगा तो आत्मा रूपी भेला इस देह-मन रूपी नरेली से अलग हो जायेगा और अपनी प्रतीति करा देगा।

शंकराचार्य 'आत्मवान' का अर्थ 'अप्रमत्त' करते हैं। अप्रमत्त का अर्थ जागृत होना, सावधान होना है। जो पुरुष परमात्मा में निष्ठा रखता है वह अखण्ड जागृत, सावधान अप्रमत्त रहता है। पर जो देह और मन को ही आत्मा समझ बैठा है वह विषयों में आसक्त होने से अनेक कामनाओं के कारण प्रमादी होते हैं, सोये रहते हैं। सनत्-सुजातीय सम्वाद में सनतकुमार, धृतराष्ट्र को बताते हैं—प्रमाद ही मृत्यु है। जब हम अपनी सत्ता से अपने आत्मस्वरूप ब्रह्मस्वरूप से च्युत हो जाते हैं तभी प्रमादी बनते हैं। अतः सनतकुमार ने प्रमाद को ही मृत्यु कहा है। इस सम्बन्ध में आचार्य गौड़पाद ने कहा है—

अनादिमायया सुप्तो यदा जीवः प्रबुद्ध्यते।
अजमनिद्रमस्वरनमद्वैतं बुद्ध्यते तदा।।

अर्थात् जब अनादि काल से चली आ रही माया के प्रभाव से सोया हुआ जीव जागृत हो जाता है तब जिसमें जन्म नहीं है, जिसमें निद्रा नहीं है, जिसमें स्वप्न नहीं है उस अद्वैत यानी परमात्मा को जान लेता है।

इस प्रकार अर्जुन के निमित्त भगवान् हम सबको उपदेश देते हैं कि वेद तीनों गुणों के व्यापार में ही संलग्न हैं, अतः हम निस्त्रैगुण्य बनें। इसके लिए हमें द्वन्द्वों से ऊपर उठना पड़ेगा और सत्त्वगुण में स्थित होना होगा। इसे साधने के लिए योगक्षेम की चिन्ता भगवान् पर छोड़ देनी होगी और आत्मा की प्रतीति के द्वारा आत्मबल जगाना होगा।

वेद के सब विधि-विधान तुम्हारे ही लिए नहीं है। अतः जो तुम्हारे लिए है उतने को तुम ग्रहण करो। निस्त्रैगुण्य हो जाने पर वेद के अधिकार की निवृत्ति हो जाती है। जिसने वस्तु के स्वरूप को ठीक-ठीक जान लिया है, उसके लिए प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। जो मार्ग नहीं जानता उसे मार्ग बताने और मार्ग का नक्शा देने की आवश्यकता होती है। जो मार्ग जानता है, उसे बताने की आवश्यकता नहीं होती।

इसलिए जो सत्त्व, रज, तम—इन तीन गुणों के कार्य में 'मैं-मेरा' करके फंसे हैं, वेद उनको इससे निकलने का मार्ग बतलाते हैं। भोगासक्त हैं, उन्हें वेद कहते हैं कि वे केवल विहित भोग का ही सेवन करें। इस प्रकार की भोगवासना

नियंत्रित करते हैं। जो विहित भोग का सेवन करते हैं, उन्हें वेद कहते हैं—इस लोक के नश्वर भोगों का मोह छोड़कर स्वर्ग के दिव्य भोग की प्राप्ति का उद्योग करो। जो स्वर्ग प्राप्ति के प्रयत्न में लगे हैं, उन्हें वेद निष्काम कर्म करने को कहते हैं। उससे चित्त शुद्ध होकर आत्मज्ञान प्रकाशित हो जाता है। अतः उपदेश देने की आवश्यकता नहीं रही।

अतएव जब तक सुख-दुःख, शान्त-घोर मूढ़ अवस्थाओं में तुम्हारा 'मैं-मेरा' पन है, तब तक तुम्हें वेदाज्ञानुसार चलना पड़ेगा। जब इनमें तुम्हारा 'मैं-मेरा-पन' नहीं रहेगा, तुम इनसे ऊपर उठ जाओगे, तब वेद से भी ऊपर उठ जाओगे। कर्मकाण्डात्मक वेद के विधि-निषेध अपने को कर्ता मानने वाले के ही लिए हैं। जब तक देह-इन्द्रिय अन्तःकरण की उपाधि मानते हो, तभी तक वेद के अनुशासन में हो। उपाधि छोड़ दी गयी तो विधि-निषेध की उपाधि भी नहीं रहती।

अपने देश में अनेक विदेशी आते हैं। वे यदिं यहां कोई अपराध भी करें तो उनके साथ वैसे ही कानून का व्यवहार नहीं किया जा सकता, जैसे-अपने देश के नागरिकों के साथ किया जाता है। इसी प्रकार जो प्रकृति के राज्य में 'मैं-मेरा-पन' मान बैठा है उस पर ये कानून लागू होते हैं, जो प्रकृति से ऊपर उठ गया उस पर वेद के कानून लागू नहीं होते। वह विधि-निषेधरूप वेद से ऊपर उठ जाता है।

यावानर्थ उदपाने, सर्वतः सम्प्लुतोदके।
तावान् सर्वेषु वेदेषु, ब्राह्मणस्य विजानतः।।2/46

सब ओर से परिपूर्ण जलाशय के प्राप्त हो जाने पर छोटे जलाशय से होने वाले सारे प्रयोजन सिद्ध हो जाते हैं, तत्त्वज्ञ ब्राह्मण (साधन चतुष्टय युक्त साधक) के वेदोक्त सभी प्रयोजन सिद्ध हो जाते हैं।

जिसने उस परब्रह्म को जान लिया उसके लिए इस शास्त्र का क्या महत्त्व रह जाता है। जैसे जिसको मीठे जल का समुद्र उपलब्ध है उसको छोटे-मोटे ताल-तलैयों की क्या आवश्यकता रह जाती है। जल का एक बड़ा स्रोत मिल जाता है तो अलग चुल्लूभर जल की आवश्यकता नहीं रहती। उसी प्रकार जिसने ब्रह्म को जान लिया है उसके लिए वेद रूपी शब्दराशि का क्या महत्त्व रहेगा? कोई महत्त्व नहीं रहेगा।

शास्त्र ज्ञान प्राप्ति के पूर्व ज्ञान को प्राप्त करने के लिए एक नक्शा देते हैं पर जब वह उसको प्राप्त कर लेता है तब उस नक्शे की कोई आवश्यकता नहीं रहती। जिस प्रकार हम किसी नये स्थान या शहर में जाते हैं तो हम एक नक्शा प्राप्त कर लेते हैं, पर जब उससे परिचित हो जाते हैं तो उस नक्शे की कोई आवश्यकता नहीं रहती।

ऐसे ज्ञान प्राप्ति के पूर्व ज्ञान में प्रवृत्त करने के लिए और उसमें भटक नहीं जायें तो शास्त्र हमें एक नक्शा दे देता है ताकि हमारी साधना सही ढंग से चलती रहे। पर जब ज्ञान को, आत्मस्वरूप को, ब्रह्म स्वरूप को उपलब्ध हो जाते हैं तब स्वयं के लिए उस नक्शे की आवश्यकता नहीं रहती पर अन्यों के लिए आवश्यकता बनी रहती है।

जैसे रमण महर्षि ने ज्ञान लाभ करने के बाद भी शास्त्रों का पारायण किया स्वयं के लिए नहीं, अपने शिष्यों को प्रबोधित करने के लिए, उन्हें दिशा देने के लिए। क्योंकि वे तो एक दिशा में चलकर लक्ष्य को पा लिया पर शिष्य तो अनेक। उनको अधिकार भेद के अनुसार दिशा देने के लिए।

उसी प्रकार रामकृष्ण परमहंस भी अपने शिष्यों को प्रबोधित करने के लिए शास्त्र श्रवण करते थे स्वयं के लिए आवश्यक नहीं रह गया पर अन्यों की आवश्यकता से प्रेरित होकर।

ब्रह्मानन्द में अन्य आनन्दों की आवश्यकता समाप्त हो जाती है। काम्य कर्म एवं उपासना के फलस्वरूप जो आनन्द प्राप्त होता है वह ब्रह्मानन्द में समाविष्ट है अतः उसकी आवश्यकता नहीं रहती।

एक मात्र हिन्दू धर्म घोषित करता है तुम मेरे से पार चले जाओ। वेद कहता है, घोष करता है मेरे पार चले जाओ। वेद की ऋचाएं कहती हैं तुमने परमेश्वर को नहीं जाना तो मैं क्या करूं।

अन्य सभी धर्म बांधने वाले हैं एवं सदा-सदा बांधकर रखने वाले हैं। केवल हिन्दू धर्म मुक्त करने वाला है। वह बांधता है मुक्त करने के लिए।

धर्म तो एक ही होता है तो हिन्दू धर्म, वैदिक धर्म, सनातन धर्म यह विशेषण क्यों लगाते हैं। क्योंकि धर्म के नाम पर अनेक नकली धर्म चल पड़े हैं, उनसे पृथक् करने के लिए ये विशेषण लगाना पड़ता है। जैसे-घी तो शुद्ध गाय का ही होता है पर घी के नाम पर अनेक नकली घी चल पड़े हैं। अतः कहना पड़ता है गाय का शुद्ध घी। ऐसे ही देशी गाय का शुद्ध घी कहना पड़ता है।

वेद कहता है तुम तीनों गुणों से अतीत चले जाओ। तुम निर्द्वन्द्व हो जाओ। जब तक हम शरीर, मन एवं संसारी बने रहेंगे तब तक ये द्वन्द्व व्यापेंगे। जब हम आत्मा में स्थित हो जाते हैं तब द्वन्द्व प्राप्त तो होंगे क्योंकि प्रारब्ध पर्यन्त शरीर रहेगा पर व्यापेंगे नहीं जैसे-रमण महर्षि, रामकृष्ण परमहंस आदि की तरह।

जब तक शरीर और संसारी बने रहेंगे तब तक योगक्षेम की चिन्ता बनी रहेगी। पर जब हम आत्मवेत्ता बन जाते हैं दत्तात्रेय, शुकदेव आदि की तरह तब प्रभु के प्रति पूर्ण समर्पित हो जाते हैं और योगक्षेम प्रारब्ध पर छोड़ देते हैं। तो

आत्मवान होने की आत्मा में स्थिति की पहचान है निर्द्वन्द्व होना, नित्यसत्त्वस्थ होना, निर्योगक्षेम होना। यह स्थिति आने पर ही समझें हम आत्मा में स्थित हैं।

कर्मण्ये-वाधिकारस्-ते, मा फलेषु कदाचन।
मा कर्म-फल-हेतुर्-भूर्,-मा ते सङ्गोऽस्त्व-कर्मणि।। 2/47

अब आ रहा है गीता का विश्व प्रसिद्ध श्लोक जिसके कारण गीता की अलग पहचान सारी दुनिया में है। इसी श्लोक से गीता सारी दुनिया में पहचानी जाती है एवं श्रद्धा की दृष्टि से देखी जाती है। विश्व शान्ति एवं विश्व कल्याण की दृष्टि से राष्ट्रसंघ (U.N.O.) की प्रतिष्ठा। उसके उद्देश्य को लेकर राष्ट्रसंघ के प्राक्तन सेक्रेटरी जेनरल स्वर्गत दयाग् हयामारशिल्ड् बोलते हैं—फलाकांक्षा करके कर्म करने की अपेक्षा फलाशा त्याग कर कर्म करना बहुत अच्छा है। यह उपदेश सभी युग में सभी दर्शन की चूडान्त कथा है। राष्ट्रसंघ के प्रबल प्रचेष्टा से हम लोग यदि गीता का यह उपदेश अनुसरण कर चल सके तभी हम लोग सुखी होंगे।

The Bhagavad Gita echoes on experience of all ages and all philosophies when it says-work with anxiety about results is far inferior to work without such anxiety, an calm self-surrender. These words expressed deep faith and we will be happy if we can make that faith ours in all our efforts.

अर्जुन श्रेय का पथिक है वह अपने लिए भगवान् से निश्चित कल्याणकारी मार्ग चाहता है।

पर अभी वह ज्ञान निष्ठा का अधिकारी नहीं है इसे प्रथम उपदेश में स्पष्ट कर देते हैं। भाषा तो प्रज्ञावादियों की बोलते हो पर व्यवहार उसके अनुसार नहीं है। क्योंकि अभी वह विवेक वैराग्य से प्रेरित नहीं—अज्ञान व मोह से प्रेरित है। उसका वैराग्य सशर्त है। विवेक से उत्पन्न वैराग्य नहीं है इसलिए वह विषण्ण है, दुःखी है।

वह प्रेय का भी पथिक नहीं है वह आत्मीयजनों को मारकर त्रिभुवन का राज्य भी नहीं चाहता, वह भिक्षा के द्वारा जीवनयापन कर लेगा, आवश्यक हुआ तो मृत्यु को भी वरण कर लेगा, पर वह आत्मीयजनों पर प्रहार नहीं करेगा। अतः वह सकाम कर्म का भी अधिकारी नहीं उससे ऊंची स्थिति है।

तो वह किसका अधिकारी है? निष्काम कर्मयोग का अधिकारी है अभी उसमें ज्ञान निष्ठा की पात्रता नहीं कि वह समाधि में सदैव डूबा रह सके, ऐसी तीव्र मुमुक्षा का अभाव है। जब तक मन में यह संकल्प-विकल्प उठता हो कि घर छोड़ू या नहीं तब तक घर नहीं छोड़ना चाहिये। घर में रहकर ही साधना करनी चाहिये। अर्जुन की यही स्थिति है न वह युद्ध में स्थिर रह पा रहा है और न ही युद्ध से भाग पा रहा है।

घर में रहकर साधना करने का अर्थ है किले में रहकर साधना करना, किले में रहकर शत्रु से युद्ध करना। माता-पिता, पत्नी-बच्चे रक्षा कवच बनते हैं, दुर्ग का कार्य करते हैं। गृहस्थ किले का, दुर्ग का कार्य करता है।

संन्यासी की साधना खुले मैदान में रहकर शत्रु से लड़ना है। इसमें विवेक, वैराग्य, दृढ़ मुमुक्षा, षड् सम्पत्ति चाहिये।

गृहस्थ के भी दो भेद हैं। एक सकामी प्रेय के पथिक, धर्म-कर्म तक ही सीमित, मोक्ष का विचार नहीं। दूसरे निष्काम कर्मयोगी, श्रेय के पथिक मोक्षकामी। इसे तो ईश्वर चाहिये उसके अलावा कुछ नहीं। इसमें यज्ञ, दान, तप सब ईश्वर की प्राप्ति के लिए, नित्य नैमित्तिक, प्रायश्चित्त, कर्म शास्त्र की आज्ञा से करता है, निष्काम भाव, ईश्वर समर्पित बुद्धि से।

आत्मज्ञान प्राप्ति के मार्ग दोनों ही हैं। गृहस्थ में रहकर भी आत्मज्ञान प्राप्त किया जाता है, बस इसकी गति थोड़ी धीमी होती है। जनकादि ने कर्म के द्वारा ही गृहस्थ में रहकर ही आत्मज्ञान प्राप्त किया। गृहस्थ आश्रम भी आत्मज्ञानपूर्वक ही चलाया जाना चाहिये। राज्य भी आत्मज्ञानपूर्वक चलाते थे। प्रसिद्ध दृष्टान्त जनक-महल में अग्निकांड का।

संन्यास आश्रम तो आत्मज्ञान प्राप्ति का मार्ग है ही। यह आश्रम आत्मज्ञानपूर्वक चलाया जाता है। इसमें विवेक, वैराग्य एवं तीव्र मुमुक्षा चाहिये। इसमें कर्म आदि को छोड़कर शुद्ध ब्रह्म चिन्तन, आत्म चिन्तन, तपस्या, साधना आदि की जाती है।

पहले ब्रह्माजी के चार मानस पुत्र सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार आदि निवृत्ति-परायण बने।

फिर भृगु, मरीचि, अत्रि, पुलस्त्य, पुलः, कृतु और वशिष्ठ—ये सात प्रमुख मानस पुत्र कर्म मार्गी प्रवृत्ति परायण बने। ये दोनों ही मार्ग स्वयं भगवान् द्वारा सृष्टि के प्रारम्भ से चलाये गये हैं।

याज्ञवल्क्य पहले प्रवृत्तिमार्गी—दो पत्नियां, गुरुकुल के कुलपति जहां 10,000 विद्यार्थी पढ़ते थे। वेदव्यास प्रारम्भ में प्रवृत्ति बाद में निवृत्ति। वामदेव, शुकदेव प्रारम्भ से ही निवृत्ति ऐसे ही गौडपादाचार्य, गोविन्दाचार्य, शंकराचार्य, ज्ञानेश्वर महाराज आदि इसी परम्परा में आते हैं।

अर्जुन में ज्ञान निष्ठा जितनी पात्रता नहीं है।

सकाम कर्म से उसकी ऊंची स्थिति है। इसलिए भगवान् कहते हैं तू निष्काम कर्मयोग का अधिकारी है। निष्काम कर्म बंधन का हेतु न बनकर मुक्ति का साधन बन जाता है।

कर्मण्ये-वाधिकारस्-ते, मा फलेषु कदाचन।
मा कर्म-फल-हेतुर्-भूर्,-मा ते सङ्गोऽस्त्व-कर्मणि।। 2/47

कर्म में ही तेरा अधिकार है, उसके फल में कभी नहीं, (अतः) तू कर्मफल का हेतु (अर्थात् कर्मफल की इच्छा रखने वाला) मत हो तथा कर्म न करने में भी तेरी आसक्ति न हो।

कर्मण्येवाधिकारस्ते—हमारा आपका अधिकार कर्म में है। बराबर याद रखिये केवल मनुष्यों का अधिकार कर्म में है। 84 लाख योनियों में 83 लाख 99 हजार 9 सौ 99 योनियां भोग योनि हैं। केवल मानव योनि भोग योनि के साथ कर्म योनि है। इसको ही कर्म करने की स्वतन्त्रता है। हमको कर्म करने की स्वतन्त्रता है। हमको कर्म करने का अधिकार है। पशु को कर्म करने की स्वतन्त्रता नहीं है, वह वृत्ति से परिचालित होता है। वनस्पति को कर्म करने की स्वतन्त्रता नहीं है, वह प्रकृति से परिचालित होती है। देवताओं को भी कर्म करने की स्वतन्त्रता नहीं है। Five Star Hotel में जितना रुपया जमा कराया है उतने ही दिन रह सकते हैं। जितने दिन का पुण्य है उतने ही दिन स्वर्ग में रह सकते हैं। बाद में स्वर्ग से विदा। केवल मनुष्य योनि ही कर्म योनि है। इसलिए हम कर्म करने में स्वाधीन हैं। काम करने का हमारा अधिकार है। कितने स्वाधीन हैं यह बात अलग है। इस पर लम्बी बहस है कि हमारी कितनी स्वाधीनता है। यहां प्रारब्ध एवं पुरुषार्थ का संघर्ष आ खड़ा होता है। वैदिक दृष्टि प्रारब्ध एवं पुरुषार्थ के समन्वय की है। हमें परिस्थितियां प्रारब्ध के अनुसार प्राप्त होती हैं पर प्राप्त परिस्थितियों का किस प्रकार सदुपयोग करना हमारे पुरुषार्थ पर निर्भर है। हमारी स्वाधीनता प्राप्त परिस्थितियों का उपयोग करना है। परिस्थितियां दी हुई है। परिस्थितियां प्रारब्ध के अनुसार प्राप्त होती हैं। जिस परिवार में हमने जन्म लिया है उसमें जन्म लेने के लिए हमने क्या किया? कब हमारी मृत्यु हो जाये, हमको मालूम, किसी को मालूम? घर जाते-जाते मैं जीऊंगा या मरूंगा। मृत्यु किसी को मालूम नहीं कब होगी। जन्म हमारे अधिकार की बात नहीं। हजारों-लाखों आदमी का काम हमको सुख पहुंचाता है। हजारों-लाखों आदमी का काम हमें दुःख पहुंचाता है। अपने देश को जब स्वर्ण पदक मिलता है, देश जीतता है तो सुखी होते हैं, पार्टी जीतती है तो सुखी होते हैं। हारते हैं तो दुःखी होते हैं। बेटा अच्छा काम करता है तो सुखी होते हैं, बेटा बुरा काम करता है तो दुःख होता है। केवल अपने आचार से हम सुखी-दुःखी नहीं होते। ये सारी परिस्थितियां दी हुई हैं। फिर भी हम कर्म करने में स्वाधीन हैं एक सीमा तक। कितनी स्वाधीनता है। जितनी ताश खेलने में स्वाधीनता है। हम ब्रिज खेलते हैं। ताश के पत्ते बंट गये। दिये हुए पत्तों के अनुसार अच्छे ढंग से खेलना आपके हाथ में है। पत्ते प्राप्त

करना हमारे हाथ में नहीं है। पत्ते दिये हुए हैं। आपने देखा होगा अच्छे पत्ते पाकर लोग हार जाते हैं और बुरे पत्ते पाकर लोग जीत जाते हैं। अर्थात् प्राप्त पत्ते को अच्छे ढंग से खेलना हमारे हाथ में है।

नाटक में भी अभिनय की भूमिका हमारे हाथ में नहीं है। भूमिका दी हुई है। दी हुई भूमिका का निर्वाह करना हमारे हाथ में है। नायक की भूमिका में रहकर अभिनय खराब हो सकता है। खलनायक की भूमिका में रहकर स्वर्ण पदक प्राप्त किया जा सकता है। आपको याद होगा नील दर्पण का नाटक था। साहब का अभिनय था। विद्यासागर को साहब पर क्रोध आ गया। विद्यासागर ने चप्पल उतार कर मार दी। उसने अपने ड्राइंग रूम में सबसे बड़ा पुरस्कार विद्यासागर की चप्पल को माना।

इस प्रकार प्राप्त परिस्थितियों का उपयोग करना ही हमारे अधिकार में, यही हमारा पुरुषार्थ है। यही, हमारी कर्म करने की आंशिक स्वाधीनता ही, हमारा कर्म करने का अधिकार है।

मा फलेषु कदाचन—कर्मफल पर तेरा कोई अधिकार नहीं। परीक्षार्थी स्वयं परीक्षक बन जाए तो मूल्यांकन में न्याय कभी नहीं होगा। कर्मफल नियंता परमेश्वर है। सूर्य प्रकाश दूसरों के लिए देता है। नदियां जल तथा वृक्ष फल दूसरों के लिए देते हैं। उनका कर्मफल पर अधिकार नहीं। शरीर के अन्दर भी आँख शरीर की भलाई के लिए देखती है। कान शरीर की भलाई के लिए सुनते हैं स्वयं के लिए नहीं। यदि पेट सारा अन्न रस अपने लिए ही रख ले और उसका रस पूरे शरीर को न भेजे तो रोग से शरीर मरने लगेगा। अतः मानव का कर्मफल पर अधिकार नहीं है। यदि पेट अन्न को मात्र अपने लिए रखना चाहे तो अन्न विष बन जाएगा। यदि वृक्ष फल को अपने लिए ही रखना चाहे तो फलों में कीड़े पड़ जाएंगे। यदि मनुष्य कर्म का फल मात्र अपने स्वार्थ के लिए चाहे तो वह कर्मफल ही उसके लिए फांसी बन जाएगा जिससे उसे 84 लाख योनियों में भटकना पड़ेगा।

(3) मा कर्म फल हेतु र्भू—फल की वासना से कर्म करने वाला मत बन। फल के लोभ में किया हुआ कर्म स्वार्थ कर्म है, यज्ञार्थ कर्म नहीं। जब फल पर अपना अधिकार ही नहीं तो उसकी अभिलाषा करना पागलपन है।

(क) परीक्षार्थी (उत्तीर्ण होने की आशा से) — सफलता प्राप्त (प्रसन्न)
— असफलता (आत्महत्या)

(ख) परीक्षार्थी (कर्तव्य भाव से परीक्षा) — सफलता (गम्भीर)
— असफलता (पुनः कर्म में लगना)

Duty should not be weighed in the balance of fruit फल की तुला पर कर्तव्य को कभी नहीं तौलना चाहिए। Duty is for the duty not for some gain.

'मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि'—अकर्म में भी तू संग मत रख। आलस्य या निकम्मापन जीवन में पतन का कारण है। अग्नि यदि जलाने का स्वभाव ही छोड़ दे तो उसे अग्नि कौन कहेगा? मनुष्य यदि कर्म करने का स्वभाव एवं अधिकार छोड़ दे तो वह मनुष्यता से च्युत हो गया।

	कर्म	कर्म से पहले फल की चर्चा	कर्म के बाद फल की चर्चा
तमो निकम्मा	×	×	×
रजो 1 दलाल	×	✓	✓
रजो 1 व्यापारी	✓	×	✓
सतोगुणी निष्काम कर्मयोगी	✓	×	×

महात्मा गांधी कहते हैं जो कर्म को त्यागता है वह नीचे गिरता है और जो कर्मफल को त्यागता है वह ऊपर उठता है।

जो कर्मफल को त्यागता है वह ऊपर उठता है पर जो कर्म को त्यागता है वह नीचे गिरता है। वास्तव में कर्म का त्याग होता नहीं। कर्म का मूल कारण वासना है। वासना जब तक है तब तक कर्म त्याग नहीं हो सकता है। भले ही हम बाह्य रूप से कर्म का परित्याग कर दें पर हमारी वासना का नाश नहीं होने के कारण हम अपने मन में ही कर्मों, विषयों का चिन्तन करने लग जाते हैं। बाहर से तो हम कर्म नहीं कर रहे हैं पर अन्तर से कर्म चल रहा है। इसी को गीता में मिथ्याचारी कहा गया है—

इसमें निम्न हानियां हैं—

1. कर्म से जो कर्तव्य कर्म करते हैं उससे च्युत हो जाते हैं।

2. कर्म से जो समाजसेवा होती है। वह रुक जाती है।

3. भीतर में कर्मों का चिंतन करते रहने के कारण चित्त मलिन का मलिन ही रह जाता है। वरन् और अधिक मलिन हो जाता है।

4. कर्म से हमारी वासनाओं की तृप्ति होती है वह रुक जाती है। कुंठित हो जाती है। वासना समाप्त नहीं होने के कारण वे गलत-अश्लील रूप में प्रकट होती हैं जिसकी पूर्ति लोग छिप-छिप कर करते हैं। अतः गीता इस प्रकार के कर्म त्याग की कठोर निंदा करती है।

अतः हमारी अकर्म में रुचि न हो। कर्तव्य कर्म अवश्य करें। कर्म निष्फल न हो किन्तु कर्म निष्काम अवश्य हो। यदि कर्म निष्फल होगा तो सारा श्रम व्यर्थ चला जायेगा। अतः कर्म का फल अवश्य निकलना चाहिये। समाज के लिए कल्याणकारी अवश्य होना चाहिये पर हमें उस फल की रत्ती भर इच्छा न हो। उदाहरणार्थ—पानी का बिलोना निष्फल है। यह सारे परिश्रम को बेकार नष्ट करना है। यदि पानी बिलोने वाला ये कहे कि मेरे परिश्रम का कोई फल नहीं तो चिन्ता नहीं क्योंकि भगवान् ने कहा है फल की फिक्र न करें तो उसके कथन को पागलपन कहा जायेगा। जो परिश्रम न करे वह आलसी है, जो परिश्रम को वृथा नष्ट करे वह मूर्ख। जो परिश्रम का दाम पहले ले लेवे वह दलाल। जो परिश्रम के बाद पारिश्रमिक मांगे तो वह व्यवसायी है और जो परिश्रम के फल को भगवान् के चरणों में समर्पित कर दे वह निष्काम कर्मयोगी है।

इसको एक अन्य प्रकार से समझें—

एक प्रिंसिपल

कर्मयोग के परिणामस्वरूप

Pessimistic निराशा

कर्म से दूर

पलायनवादी बनते हैं।

कर्म करो फल की आशा मत करो। तब निराशा के अलावा है ही क्या? फल की प्रेरणा से ही कर्म होते हैं।

प्रश्न—घुड़दौड़ में Gold Medal जीतने के लिए लोग सालभर से अभ्यास करते हैं। फल बिना incentive, बिना Salary के सब प्रोफेसर टा-टा करके चले जाएंगे।

उत्तर—मजदूर को मजदूरी मिलनी ही चाहिए नहीं तो निर्वाह भी नहीं होगा और अत्याचार भी होगा। अतः निर्वाह हो और अत्याचार से बचने के लिए मजदूर को मजदूरी मिलनी चाहिए। पर ऐसे लोग मजे से दूर रहते हैं इसलिए मजदूर कहलाते हैं। इसमें जीवन का मजा नहीं है। कोई कलम का, कोई वाणी का, कोई शास्त्रों को ढोने वाला आदि-आदि।

मजदूर है वह जीवन के वास्तविक मजे से दूर है।

तब उस प्रोफेसर ने कहा—कि मजदूर ही अच्छे हैं। हम मजदूर ही बने रहेंगे।

उत्तर—आपका बच्चा नहर में डूब गया। चार आदमी आते हैं—

A. परम आलसी मार्ग में नशे में चूर हैं। लोग कहते हैं बच्चा डूब रहा है। उसे निकालो—कोई उत्तर नहीं—बच्चों को बचाने पर भरपूर इनाम है तो वह कहता है श्रीकृष्ण ने कहा है कर्म तो करो पर फल की आशा मत करो—पर वास्तव में उसमें फल की लालसा नहीं, ऐसी बात नहीं पर वह आलसी है। कर्म करना नहीं चाहता है। यह व्यक्ति कर्म नहीं करता है। ऊपर-ऊपर से कहता है फल की इच्छा नहीं, फलाशा नहीं, ऐसा व्यक्ति तमोगुणी।

B. पहले सौदा करता है मुझे क्या फल मिलेगा। बिना फल के कर्म भी नहीं करता है। फल का Promise होने पर कर्म। ऐसा व्यक्ति दलाल है। रजोगुण तमोन्मुखी है।

C. कपड़े उतारे, छलांग लगायी, बच्चे को निकाला, फिर कर्म के तुरन्त बाद फल मांगता है। फल नहीं मिलने पर बच्चे को पुनः नहर में फेंक देता है। ऐसा व्यक्ति कठोर व्यापारी है।

D. कपड़े उतारे, छलांग लगायी, बीच भंवर से बच्चे को वापस लाया। बच्चे का पानी निकाला। बच्चे को होश में लाया। बच्चे को स्वस्थ किया और फिर अपनी साइकिल पर चढ़ा और चलता बना। इसने फल की चर्चा न पहले की, न बाद में चर्चा की। कर्म आया तो तुरन्त किया और अपने रास्ते लग गया।

तब प्रिंसिपल से पूछा—चारों आदमियों में से तुम किसको मांगोगे। तब उत्तर मिला D को मांगूंगा। इसी तरह निष्काम कर्मयोगी को दुनिया का हर कोई व्यक्ति चाहता है।

माँ की सेवा कर्तव्य भावना से न कि फल की आशा से। या माँ बूढ़ी हो गई है इसलिए नहीं वरन् माँ की सेवा शुद्ध कर्तव्य भाव से। इसी प्रकार भूखे को अन्न, प्यासे को जल, वस्त्रहीनों को वस्त्र देना शुद्ध कर्तव्य भाव से। कर्तव्य-कर्तव्य के लिए।

फलाशा की कामना करना तुच्छता है, कमीनापन है, कृपणता है।

(1) कर्म का अधिकार है—उदाहरण-परीक्षा में सादी कापी मिली। 3 घंटे के लिए छात्र को अधिकार है कि वह उसमें लिखे या खाली छोड़ दे। शिक्षक की प्रशंसा लिखे या गाली दे। उस पर थूके या उपयोग करे चाहे उसका जिस तरह उपयोग करे। 3 घंटे के लिए कर्म का अधिकार है।

(2) मा फलेषु कदाचन्—फल पर तुम्हारा अधिकार नहीं है। इसमें B अधिकारी नहीं है। C कर्म के बाद फल का सौदा करने वाला। कर्म अच्छा करें या बुरा करें हमारी मर्जी पर फल का विधान हमारे हाथ में नहीं है। नहीं तो हर कोई अपने आपको First class first कर दे। अतः फल का विधान हमेशा दूसरा ही करता है।

(3) अतः कर्मफल की ओर हमारी प्रवृत्ति न हो।

(4) और न कर्म न करने की ओर ही प्रवृत्ति हो। क्योंकि चलो फल नहीं चाहना है तो कर्म ही मत करो। जिससे फल के झंझट से बच जाएंगे। फल का सवाल ही नहीं उठेगा। अतः भगवान् कहते हैं—अकर्म की ओर भी हमारी प्रवृत्ति न हो।

इस सबका अधिकारी D है। जिसको कर्मयोगी बनना है। तब कर्म में फल मिश्रित नहीं होने देना चाहिए।

गीता तो हमारे समक्ष आदर्श व्यक्ति, महान् व्यक्ति बनने के लिए एक आदर्श रखती है। अतः गीता हमारे लिए नीचे नहीं आएगी। गीता के लिए हमें ऊँचा उठना होगा।

हम एकाएक गीता के महान् आदर्श तक नहीं पहुँच सकते हैं। इसके लिए गीता ने इस आदर्श तक पहुँचने के लिए सीढ़ी बनाई है—

सकाम कर्म करो पर अच्छे कर्म करो, बुरे नहीं।

फिर कर्मफल-त्याग का अभ्यास।

फिर कर्म संग त्याग का अभ्यास।

और फिर कर्तापन का अहंकार त्याग दो। तब सच्चे अर्थ में पूर्ण सिद्ध कर्मयोगी।

यज्ञ तत्त्व से ही सृष्टि अभी तक बची हुई है। नहीं तो सृष्टि अभी तक ध्वस्त हो जाती।

तिलक-सुभाष-मालवीयजी—ऐसे निष्काम कर्मयोगी नहीं होते तो सृष्टिं कब की समाप्त हो गई होती। इन महापुरुषों के पास भौतिक सुख-सम्पदा का अतुल भण्डार सामने पड़ा था। पर इन्होंने उसकी ओर दृष्टिपात तक नहीं किया।

कर्म में मजदूर भावना और कर्मफल त्याग की भावना में बड़ा अन्तर है। एक स्वार्थ भावना है दूसरी यज्ञार्थ भावना। एक सकाम कर्म साधना है दूसरी निष्काम कर्म साधना है। दोनों के दो भिन्न स्तर हैं। कोई भी धर्म यह उपदेश नहीं करता कि कर्ता को फल और मजदूर को मजदूरी नहीं मिलनी चाहिए वरन् सभी धर्म एवं मजहब यही उपदेश करते हैं—

कर्म प्रधान विश्व करि राखा।
जो जस करहिं सो तस फल चाखा।।
अवश्यमेव हि भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।

नैतिक न्याय की तुला में कर्म और उसका फल बराबर तौलना चाहिए। किसी मजदूर को मजदूरी से वंचित करना निश्चय ही शोषण एवं अन्याय है। किन्तु मानव का, मानव के विकास का एक मजदूर से भी ऊंचा स्तर है। उसमें कोई उसे मजदूरी से वंचित करने के लिए नहीं कहता। किन्तु वह नैतिक परिपक्वता में यह स्वयं अनुभव करता है कि उसके कर्मों का फल केवल उसके अपने स्वार्थ के लिए ही न होकर यज्ञार्थ भाव से सारे समाज के कल्याण के लिए होना चाहिए। अत: जब उसकी मानवता इस स्तर तक विकसित हो जाती है तब वह स्वेच्छा से अपने समस्त कर्मों का फल विश्व कल्याण के लिए समर्पित करने को प्रस्तुत हो जाता है। मानव की इस देवोपम त्याग भावना को शोषण कहना बुद्धि का दिवालियापन है। शोषण आततायी द्वारा अन्यायपूर्वक मजदूरी छीनकर किया जाता है। यज्ञार्थ समर्पण कर्ता की स्वेच्छा से उसके सहज आनन्द के साथ अपने सुख को अनेक लोगों में बांटकर अनेक गुणा आनन्दित होकर किया जाता है।

मजदूर मजे से दूर, कर्मयोगी आनन्द से भरपूर।

सच्चा धर्म मनुष्य को अकर्मण्य नहीं बनाता। भगवान् श्रीकृष्ण ने अकर्मण्य अर्जुन को शस्त्र उठाकर कर्म करने का उपदेश दिया। समर्थ स्वामी रामदासजी ने शिवाजी को, गुरु गोविन्द सिंह ने बंदा वैरागी को धर्मोपदेश से कर्मवीर बनाया। मध्यकालीन संतों में कुछ अकर्मण्यता का भाव आ गया था किन्तु वह धर्म का स्वस्थ रूप न होकर रुग्ण रूप ही था।

निष्काम कर्मयोग का केवल दार्शनिक पक्ष ही नहीं व्यावहारिक पक्ष भी रहा है। हमारे यहां दर्शन मात्र बौद्धिक विलास नहीं जीवन में जीवन्त व्यवहार की वस्तु रहा है इस दृष्टि से पश्चिम के दार्शनिकों एवं भारतीय दार्शनिकों में अन्तर है। हमारे व्यक्ति जीवन की रचना, समाज की रचना, राष्ट्र जीवन की रचना में जिसमें निष्कामता के संस्कार हमें प्राप्त होते रहे हैं। प्रत्येक हिन्दू परिवार में माता-पिता पुत्री को जन्म देकर अच्छे-से-अच्छा पालन-पोषण कर उसे दूसरे परिवार को सौंप देता है। पुत्री से पिता का, भाई से बहन का सम्बन्ध निष्काम सम्बन्ध है। जहां केवल समर्पण ही समर्पण है। गांव में किसी बेटी की शादी होती थी, पूरा गांव उसे अपनी पुत्री मानकर सहयोग करता था। उसके गांव में जाने से जरूर मिलकर आता था और भेंट देकर आता था।

अतिथि का देव की तरह सत्कार करते थे। तभी तो नचिकेता तीन वर का अधिकारी बना। हमारे यहां अनाथालय की, विधवाश्रम की, वृद्धाश्रम की कोई कल्पना नहीं है। अनाथ बच्चे किसी-न-किसी रिश्तेदार के यहां पल जाते थे। फिर वानप्रस्थ जीवन तो निष्कामता का ही जीवन था जिसमें अपनी सारी सेवा देश, समाज या भगवान् के प्रति ही समर्पित होती थी।

निष्कामी होने से भारतीय संस्कृति कर्तव्य प्रधान होने से त्याग प्रधान है। हम तो मानते हैं जन्म से ही हमें तीन ऋण प्राप्त हैं—देव ऋण, पितृ ऋण एवं ऋषि ऋण। इसके लिए नित्य पंच महायज्ञ का विधान है।

सकामी होने से पश्चिमी सभ्यता भोग प्रधान अधिकार प्रधान है, अधिकार प्रधान होने से, अकेले खाने की प्रवृत्ति होने से संघर्ष प्रधान, युद्ध प्रधान है सारे विश्व में युद्ध थोपा—अपने वैभवकाल में। पश्चिम का अधिकारों के लिए संघर्ष रक्तिम क्रान्तियों के इतिहास से भरा पड़ा है। जबकि हमारी मान्यता अपने-अपने कर्तव्य पालन से एक-दूसरे के अधिकार स्वतः सुरक्षित हो जाते हैं। कर्तव्य प्रधान होने से त्याग प्रधान, त्याग प्रधान होने से मिल-बांट कर खाने वाले होने से शान्ति प्रधान। हम अपने यहां भी शांत रहे और विश्व में भी शान्ति बिखेरी। हमने सारे विश्व को अपनी श्रेष्ठताओं—धर्म एवं दर्शन का, सभ्यता एवं संस्कृति का, ज्ञान-विज्ञान का, कला और कौशल का दान विश्व मंगल की भावना से निःस्वार्थ भाव से, अपने निष्कलंक चरित्र और निर्मल ज्ञान के द्वारा दिया। हमने अपने ज्ञान का पेटेंट नहीं करवाया, उसे बिकाऊ माल नहीं बनाया।

निष्कर्ष स्वरूप कह सकते हैं शरीर को बेचने वाली, शरीर का व्यापार करने वाली वेश्या कहलाती है। वैसे ही जो अपनी विद्या को, कला को, योग्यता को, हुनर को बेचता है तो यह भी एक प्रकार से वेश्या वृत्ति ही है। इसलिए जो अपना आध्यात्मिक विकास चाहते हैं। वे इसके द्वारा समाज की निष्काम सेवा करें और अपना योगक्षेम सिद्ध हो सके उतना मानधन स्वीकारना चाहिए। ऐसा अनेक महापुरुषों के जीवन में जैसे अरविन्द घोष, डॉ. राजेन्द्र प्रसाद, लाल बहादुर शास्त्री, गांधीजी आदि में पाते हैं। या फिर जो आय होती है अपने योगक्षेम जितना रखकर बाद बाकी समाज सेवा में लगा देना चाहिए जैसा ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, लोकमान्य तिलक, देशबन्धु चितरंजनदास, स्वामी रामतीर्थ, साधु वास्वानी आदि में पाते हैं।

स्वधर्म पालन के लिए समत्व सबसे बड़ा योग है। भगवान कहते हैं—

योगस्थः कुरु कर्माणि, सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्ध्य-सिद्ध्योः समो भूत्वा, समत्वं योग उच्यते।। 2/48

हे अर्जुन! तुम आसक्ति त्यागकर, सिद्धि-असिद्धि में समान बुद्धि वाले होकर योग में स्थित होकर कर्म करो। क्योंकि समत्व ही सच्चा योग है।

इन्द्रियों द्वारा विषयों की जो शीत-उष्ण, अनुकूल-प्रतिकूल, प्रिय-अप्रिय, सुखद-दुःखद अनुभूति होती है, उससे मन चंचल हो उठता है। कर्तव्यपरायणता के लिए यह अत्यावश्यक है कि इन सब विपरीत अनुभूतियों के मनोविकारों

में कर्तव्यपरायण व्यक्ति अपने मन को सम बनाए रखे। यदि राजस्थान के मरुस्थल में और लद्दाख की बर्फीली चोटी में मन को सम रखकर कर्तव्य पालन हो सकता है तभी कर्ता कर्मयोगी कहलाता है। यदि अनुकूल जलवायु और प्रतिकूल जलवायु हमारे कर्तव्यपालन में कोई अन्तर नहीं डाल सकता तभी सच्चा कर्मयोग है। यदि महलों के राजसी भोग और जंगलों में घास की रोटी दोनों में सम रहकर मेवाड़ की स्वाधीनता के लिए संघर्ष चालू रहता है तभी सच्चा कर्मयोग है। अनुकूल के कर्मी और प्रतिकूल परिस्थिति के कामचोर सच्चे कर्तव्यपरायण नहीं हो सकते।

मात्रा-स्पर्शास्-तु कौन्तेय, शीतोष्ण-सुख-दुःखदाः।
आगमा-पायिनोऽनित्यास्,-तांस्-तितिक्षस्व भारत।। 2/14

यं हि न व्यथयन्त्येते, पुरुषं पुरुषर्षभ।
सम-दुःख-सुखं धीरं, सोऽमृतत्वाय कल्पते।। 2/15

अतः तितिक्षु सुख-दुःख में सम, धैर्यवान ही सच्चा कर्मयोगी बनने का पात्र है।

सुख-दुःख में समता—अनुकूल प्रतीति से मन को सुख और प्रतिकूल प्रतीति से मन को दुःख होता है। लाभ से मनुष्य को उसी कार्य को पुनः करने का लोभ बढ़ता है, हानि से कर्म में निराशा हो जाती है। जय से उत्साह बढ़ता है, पराजय से उत्साह भंग हो जाता है। सच्चे कर्मयोगी को सुख-दुःख, हानि-लाभ, जय-पराजय में सम रहना चाहिए—

सुख-दुःखे समे कृत्वा, लाभालाभौ जयाजयौ। 2/38

यदि देशभक्ति के कार्य में फूलमालाओं से सत्कार हो अथवा फांसी की डोरी पहन कर मरण का त्योहार मनाना पड़े तो भी सच्चा देशभक्त दोनों परिस्थितियों में कर्तव्यपालन की आन्तरिक प्रसन्नता से मुसकराता रहता है।

प्रज्ञा का स्थिर एवं सम रहना

स्थितप्रज्ञता—कर्तव्यपरायण के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण मानसिक स्थिति स्थितप्रज्ञ की मनोभूमिका है। मन जब इन्द्रियों के वश में होकर विषयों की ओर भटकता है तब सांसारिक विषय क्षणिक, अनित्य, परिवर्तनशील एवं नश्वर होने के कारण अपने अनुकूल-प्रतिकूल प्रभाव के साथ मन को नचाते हैं। कभी हंसाते हैं, कभी रुलाते हैं, कभी उत्साह से भर देते हैं, कभी निराशा में पटक देते हैं, कभी भयभीत करते हैं, कभी चिन्तातुर कर देते हैं, कभी लोभ में वेग से दौड़ाते हैं, कभी हानि में गर्दन तोड़ देते हैं, कभी मनोरंजन कर नचाते हैं, कभी वियोग में छाती फाड़ डालते हैं। सामान्य मनुष्य की बुद्धि उसके मन के वश में रहती है,

मन इन्द्रियों के वश में चला जाता है, इन्द्रियां विषयों के वश में चली जाती है और विषयों के परिवर्तन एवं क्षणभंगुरता से बुद्धि चंचल हो उठती है। जिसकी बुद्धि एक क्षण में एक निश्चय करती है और दूसरे क्षण में मन की चंचलता के कारण विपरीत निश्चय करने लग जाती है उसकी बुद्धि विषम है, सम नहीं। चंचल है, स्थिर नहीं। विचलित है, अविचलित नहीं। भ्रष्ट है, पुष्ट नहीं। ऐसा व्यक्ति दीन, दुर्बलप्रज्ञ है, स्थितप्रज्ञ नहीं। जब उसकी बुद्धि ही स्थिर नहीं तो वह स्वधर्मपालन में दृढ़तापूर्वक कैसे डट सकता है। उदाहरण—यदि घंटाघर की विशाल घड़ी से हम अपनी घड़ियों का मिलान करना चाहें तो यह अनिवार्य है कि घंटाघर की घड़ी दायें-बायें के झंझावातों से अथवा पक्षियों के नृत्य-कलरव से चलायमान होने वाली न हो। यदि अभी घड़ी तीन बजा रही है और पक्षी के सूई पर बैठने से छह बज जाए, पुरवा की हवा चलने से नौ बज जाए और पछवा हवा के चलने से चार बज जाए तो उस घड़ी का भरोसा नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार जिस व्यक्ति की बुद्धि इतनी चंचल है कि कभी कहता है कि देश के लिए सर्वस्व बलिदान कर देना चाहिए, और पुलिस की लाठी देखकर कहता है व्यर्थ में सिर फुड़वाना मूर्खता है। पकड़े जाने पर नाक रगड़कर माफी मांगता है और कहता है अंग्रेज सरकार हमारी माई-बाप है और आजादी मिलने पर कहता है, हम भी पुराने स्वाधीनता सेनानी हैं। अतः ताम्रपत्र मिलना चाहिए। तो ऐसे चंचल बुद्धि व्यक्ति का क्या भरोसा किया जा सकता है और उससे समाज का क्या कल्याण हो सकता है। इसलिए कर्मयोगी के लिए बुद्धि का सम रहना परम अनिवार्य है।

भारत के अंतिम मुगल सम्राट्, 1857 के क्रान्तिवीर बहादुरशाह जफर ने गीता के इसी भाव को अपनी कविता की लड़ी में पिरो दिया है—

जफर आदमी उसको न जानियेगा
चाहे कितना हो इल्मो-फहमो बका
जिसे ऐश में यादे खुदा न रही
जिसे तैश में खौफे खुदा न रहा
चाहे कितना ही विद्वान्, सुज्ञ पण्डित हो, ज्ञानी
ऐश्वर्य भोग में जिसको प्रभु का सिमरन भूले,
क्रोध में प्रभु का भय त्याग करे निष्ठुर मनमानी।

इल्म = विद्या

फहम = ज्ञान

बका = रहस्यज्ञान

ऐश = ऐश्वर्य

तैश = क्रोध

खौफ = भय

हम सब ही एक ईश्वर की संतान हैं, हम सब में एक ही आत्मा का वास है के आधार पर ही समत्व या जीवन में समता आती है। अतः समता आध्यात्मिक आधार पर आती है भौतिक आधार पर कभी नहीं। समता आत्मा में ही है। संसार में तो विषमता ही विषमता है। क्योंकि सृष्टि तीन गुणों से बनी है। तीन गुणों के तारतम्य, विषमता से सृष्टि बनती है, विषमता पर्यन्त सृष्टि रहती है। तीनों गुणों की साम्यावस्था में प्रलय-महाप्रलय हो जाता है। सृष्टि लय हो जाती है। अतः समता ईश्वरीय, आत्मीय आधार पर सम्भव होती है। रामकृष्ण परमहंस देव कहा करते थे कि अद्वैत की गांठ बांध कर ही संसार में व्यवहार करेंगे तभी जीवन में समता आयेगी।

समत्व बुद्धि भगवत् बुद्धि है। समता भगवान् लक्षण है। प्रकृति में विषमता और विषमता में ही सृष्टि। समता भगवान का, आत्मा का लक्षण 'निर्दोष ही समं ब्रह्म'।

समता में स्थित होने का अर्थ भगवान् के निकट, आत्मा के निकट पहुंचना या उनमें स्थित होना है।

अतः जैसे-जैसे समता (का गुण) हमारे जीवन में आता जाता है वैसे-वैसे हम भगवान् के निकट होते जाते हैं। भगवान् में, आत्मा में स्थित होते जाते हैं। योग से युक्त होते जाते हैं, योगस्थ होते हैं। इसलिए भी कहा 'समत्वं योग उच्यते'।

समता में स्थित होने का अर्थ भगवान् से जुड़ जाना है। जो भगवान् से जोड़े या मिला देवे उसे ही योग कहा गया है।

यह श्लोक विशेष महत्त्व का है। हमारी साधना को सही दिशा देने वाला है।

39वें श्लोक में भगवान् कहते हैं—अभी तक मैंने सांख्य की दृष्टि से बताया अब कर्मयोग की दृष्टि से बता रहा हूं। कर्मयोग के लिए बुद्धियोग शब्द का प्रयोग किया। एवं बुद्धि से युक्त हुआ कर्म कर्म-बंधन को नष्ट कर देता है।

41वें श्लोक में बताया कर्मयोगी की बुद्धि व्यवसायात्मिक (निश्चयात्मिका) होती है। पर सकामी की बुद्धि अव्यवसायी होती है, अनिश्चयात्मिका होती है, और बहुशाखा वाली होती है।

44वें में अव्यवसायी बुद्धि समाधि में ठहर नहीं पाती, उसकी समाधि में स्थिति नहीं हो सकती।

अब यहां पर भगवान् कह रहे हैं—

दूरेण ह्यवरं कर्म, बुद्धि-योगाद्-धनञ्जय।
बुद्धौ शरण-मन्विच्छ, कृपणाः फल-हेतवः।। 2/49

हे धनंजय! जो सकाम कर्म है वह अवर है, वो श्रेष्ठ नहीं है और यह जो बुद्धियोग है, निष्काम कर्म है, ये अत्यन्त ही श्रेष्ठ है। अतः बुद्धि की शरण ग्रहण कर, कर्मफल का हेतु न बन। जो कर्मफल के हेतु बनते हैं वे कृपण हैं।

कार्पण्य-दोषो-पहत-स्वभावः। 2/7

यहां पर कहा गया कृपणता के दोष से मेरा स्वभाव दब गया है। यहां पर कहते हैं जो कर्मफल के हेतु बनते हैं वे कृपण हैं। ऐसा क्यों कह रहे हैं भगवान्? क्यों कृपण शब्द को ला रहे हैं—

तुम्हारे घर के अन्दर अरबों-खरबों की सम्पत्ति पड़ी हुई है और तुम बाहर जाकर के ढूंढ़ते हो मेरे को कोई नौकरी चाहिये, मेरे को कुछ पैसे चाहिये। अरबों-खरबों की सम्पत्ति पड़ी हुई है हमारे हृदय के अन्दर ही साक्षात् परमेश्वर छिपा हुआ है, वो आत्मधन जहां सब कुछ अन्दर पड़ा हुआ है, वहां आनन्द का समुद्र हमारे अन्दर लहलहा रहा है, उछल रहा है और हम बाहर सुख के लिए भटक रहे हैं। भगवान् कहते हैं—'कृपणाः फलहेतवः'। अरे तुम फल के हेतु क्यों बनते हो कि ये फल चाहिये। एक राजा के पास जाकर एक मुट्ठी चावल या एक पाव आटा मांगना मूर्खता है। परमेश्वर के सामने जाकर तुम परमेश्वर को मांगो। पर हम उससे कुछ चीज मांगते हैं। कुछ धन मांगते हैं। यह गलती क्यों होती है, क्योंकि हम बुद्धि की शरण में जाते नहीं।

हमें प्रभु से शरीर मिला, मन मिला, धन मिला, ऐश्वर्य मिला, भोग मिला, पर इसका उपयोग न हम स्वयं के उत्थान के लिए करते हैं, न समाज उत्थान के लिए कर पाते हैं और न साथ ले जा पाते सब यहीं छीन लिए जाते हैं। तब अफसोस होता है इसका भोंग न हम स्वयं कर सके, न समाज के हित के लिए दे सके अब सब छूट रहा है। व्यर्थ में कमीने बनते हैं यह कृपणता की स्थिति है। प्रभु ने मानव शरीर दिया, पर उससे न हमने अपना कल्याण किया न समाज का अब शरीर छूट रहा है तो यह कृपणता की स्थिति है।

यह स्थिति इसलिए आती है क्योंकि हम बुद्धि का प्रयोग नहीं करते हैं। भगवान् कहते हैं इस स्थिति से बचने के लिए बुद्धि की शरण में जाओ।

हमने तो बुद्धि को ढक करके रख दिया, दबा करके रख दिया। हम तो भगवान् की शरण में जायेंगे। भगवान् कहते हैं दूर हट। मेरी शरण में नहीं, पहले बुद्धि की शरण में जाओ। रहस्य समझ में आ रहा है? कहां गड़बड़ी हो रही है—भगवान् की शरण ले लो। भगवान् कहते हैं—मेरी शरण में मत जा तू पहले बुद्धि की शरण में जा। बुद्धि को तो हम देखते नहीं और सीधे कहते हैं भगवान् की शरण में चले जायें—'सर्व-धर्मान् परित्यज्य, मामेकं शरणं व्रज'। 18/66 बस इसको रटते रहते हैं, बुद्धि की शरण में नहीं जाते।

पर भगवान् स्वयं कह रहे हैं पहले बुद्धि की शरण में जाओ। बुद्धि को परिष्कृत करो। बुद्धि के अन्दर शरण तत्त्व को ढूंढ़ो। बुद्धि का परित्याग करके हम साधना में आगे बढ़ना चाहें तो आगे बढ़ नहीं सकते। न कोई हमारी डोरी खींचेगा, न हम पर कोई कृपा करेगा।

यही कारण हम देखते हैं कोई बीस वर्ष से साधना कर रहा, कोई तीस वर्ष से, पर कोई विकास नहीं, जहां पर था वहीं पर है। न कोई तेज, ओज, उत्साह, स्फूर्ति ही दिखाई देती है? क्योंकि हम बुद्धि से विचार करते नहीं। बुद्धि युक्त उपासना होनी चाहिये। इसलिए यहां भगवान् बुद्धि की बात कह रहे हैं। साधना यंत्रवत् नहीं बुद्धियुक्त होनी चाहिये।

शरण या शरणागति का अर्थ आश्रय लेना। हम वर्षा से बचने के लिए छाते का आश्रय लेते हैं। शीत-उष्ण से बचने एवं लज्जा निवारण के लिए वस्त्र का आश्रय लेते हैं। भूख से बचने के लिए अन्न का आश्रय लेते हैं। अज्ञान को दूर करने के लिए गुरु का, सत्संग का, शास्त्र का आश्रय लेते हैं। हम अपने सर्वोच्च विकास के लिए भगवान् का आश्रय लेते हैं। पर भगवान् का आश्रय लेने के पूर्व बुद्धि का आश्रय लेवें तब भगवान् का आश्रय ग्रहण करने की पात्रता आयेगी।

अब बुद्धि कहां से मिलेगी? बुद्धि गायत्री मंत्र से मिलती है, बुद्धि गुरु से मिलेगी, बुद्धि सत्संग से मिलेगी, बुद्धि शास्त्र से मिलेगी। इन सबकी शरण में जायें तब बुद्धि मिलेगी, उससे हमको सारी साधना का रहस्य प्राप्त हो जायेगा।

बुद्धि से विचारेंगे तो देखेंगे कि सारा ब्रह्माण्ड एक ऋत के अनुसार चल रहा है, एक नियम से चल रहा है। फूल का खिलना, सूरज का उगना, पृथ्वी का घूमना, सौर मण्डल का नाचना, सारी नीहारिकाओं का, आकाशगंगाओं का नाचना, मातृकुक्षि में गर्भ का बढ़ना, एक चैतन्य का स्पन्दित होना, बाहर निकलना, शिशु के लिए मातृ-वक्ष के अन्दर स्नेह की धवल धारा का प्रकट हो जाना, इस प्रकार सम्पूर्ण सृष्टि में एक नियमबद्धता—एक लयबद्धता प्रकट होती है, इसको ऋत कहते हैं।

सृष्टि में एक नियमबद्धता है, लय है, समन्वय है, तो नियमबद्ध करने वाला, समन्वय करने वाला कोई एक नियामक अवश्य है। उसका सृष्टि प्रकट करने के पीछे प्रयोजन क्या है? हम क्या हैं? हमारा उससे सम्बन्ध क्या है? हमारा सृष्टि से सम्बन्ध क्या है? जड़-जगत, वनस्पति एवं पशु जगत् जिस नियम से चल रहा है क्या उसी नियम से मनुष्य भी चल रहा है या उसमें कुछ अन्तर है, विशिष्टता है। मनुष्य का परमलक्ष्य क्या है? ईश्वर के साथ हमारा सम्बन्ध क्या है? कर्म का सिद्धान्त क्या है? पुनर्जन्म क्या है? बंधन क्या है? मुक्ति क्या है? इसमें अगर त्रुटि होगी तो हमारी साधना भी त्रुटिपूर्ण होगी। कर्म के सिद्धान्त, ईश्वरीय न्याय में दृढ़ आस्था होनी चाहिये।

बुद्धि के अन्दर इन सब बातों का स्पष्ट स्पष्टीकरण होना चाहिये। बुद्धि के अन्दर इन सब तत्त्व का साक्षात्कार होना चाहिये। यदि बुद्धि की शरण न लेकर सीधे ईश्वर की शरण लेने जायेंगे तो क्या हो जायेगा? हम धर्माभास के शिकार हो विगत हजार साल से अन्धकार के अन्दर जी रहे हैं। हम गीता को अपनाने वाले, गायत्री की उपासना करने वालों के जीवन में—दरिद्रता, निर्धनता, निर्बलता, जड़ता, तमोगुण के अन्दर, अंधविश्वास-रूढ़िवादिता के अन्दर, जीवन से पलायन, भाग्यवादिता—ये सारे के सारे दोष क्यों आ रहे हैं?

अरे बुद्धि ठीक हो तो इस लौकिक जीवन के अन्दर भी नव-नव आविष्कार, नूतन-नूतन ऐश्वर्य, नूतन-नूतन उपलब्धियां आनी चाहिए थी, पर हमने बुद्धि की उपासना कहां की? और अपने-आपको बहुत बड़ा धार्मिक और आस्तिक समझते हुए हम अगर भगवान् की शरण में जाना चाहते हैं और भगवान् प्रत्यक्ष गोचर तो है नहीं फलतः जड़ता आयेगी, भाग्यवाद आयेगा, पलायन आयेगा और यह सब हमको दिखाई दे रहा है। विगत एक हजार वर्ष में देख लें हमारे भारत के इतिहास में हमको यही दृष्टिगोचर होगा।

जब देश पराधीन हुआ, क्या उस समय में मन्दिरों की संख्या घट गयी थी? उनमें घंटे-घड़ियाल नहीं बज रहे थे? हमारे इतने मन्दिरों में इतनी उपासना होते हुए हम गुलाम क्यों हुए? और आज स्वाधीनता के बाद भी स्थिति निरन्तर गिरती क्यों जा रही है। ऐसी दुर्दशा विगत एक हजार वर्ष से चली आ रही है। एक हजार वर्ष के इतिहास को उठाकर देख लेवें।

बुद्धिहीन उपासना का गलत मंत्र—

जाहि विधि राखे राम ताहि विधि रहिये।
राम राखे गुलाम तो गुलाम बने रहियो।
राम राखे गरीब तो गरीब बने रहियो।

हमने यह नहीं सीखा—

जाहि विधि रहे राम ताहि विधि रहिये।

हम तो ऊपर परमात्मा, नीचे प्रारब्ध के नाम पर हम सब प्रकार के अत्याचार-अन्याय का प्रतिकार न करके सहते आ रहे हैं। गाय को आगे कर दिया तो हमने आत्मसमर्पण कर दिया। मुल्तान की शिव पिण्डी को आगे कर दिया और हमने आत्म समर्पण कर दिया। इससे न गाय की रक्षा हो सकी, न देश की, न शिव पिण्डी की रक्षा हो सकी। देश गुलाम हो गया। कुएं में डबल रोटी या गोमांस डाल दी तो हम सब मुसलमान या ईसाई हो गये। हमारा धर्म रसोई घर तक सीमित नहीं होना चाहिए। मल-मूत्र त्यागने पर कितनी बार हाथ धोने तक सीमित नहीं होना चाहिए जैसा कि दुर्भाग्य से मध्य काल में देखते हैं। वेद उपनिषद् में कहीं छुआछूत की चर्चा नहीं है, फिर सब में एक आत्मा का एक ही प्रभु का वास देखने वाले न जाने कहां से छुआछूत ले आये। हिन्दू धर्म छुई-मुई का धर्म नहीं बन जाना चाहिए। अण्डमान की जेल में मुस्लिम कैदी हिन्दुओं का भोजन छू देते हैं और हिन्दू कैदी भूखे रह जाते और उन्हें मुस्लिम बनने के लिए प्रेरित करते हैं। ये दुष्ट कृत्य देखकर वीर सावरकर ने हिन्दू कैदियों को समझाया धर्म का स्थान पेट नहीं हृदय है। अतः आप मुस्लिमों का भी भोजन छीनकर खा जाओ तब जाकर ये हरकतें बन्द हुई। वेद का तो उद्घोष है—'कृण्वन्तोविश्वार्यम्' उसके स्थान पर हमने धर्म से बाहर जाने के सब रास्ते खोल दिये वापस आने का एक भी रास्ता नहीं रखा। इसी कारण कश्मीर समस्या खड़ी हुई। सबके सब वापस हिन्दू होना चाहते थे पर हमने स्वीकार नहीं किया।

हमीदा ढाका के नवाब की लाडली और इकलौती सन्तान है। वह जितनी रूपवती है, उतनी ही मृदुल स्वभाव की भी। बड़े-बड़े घरानों के कई युवकों ने उससे विवाह करने की इच्छा प्रकट की और नवाब के पास शादी के पैग़ाम भेजे, कितने मनचले प्रेमियों ने अपना हृदय उसको भेंट करना चाहा, पर हमीदा ने किसी की ओर आंख उठा कर भी न देखा। परन्तु एक दिन एक साधारण काफ़िर युवक को स्नान के लिए नदी की ओर जाते हुए देख कर उसका संयम टूट गया। वह उसे अपना दिल दे बैठी। वह भाग्यवान् (वास्तव में अभागा) युवक नगर के प्रसिद्ध और सम्मानित व्यक्ति पं. नीलकांत का पुत्र कलानिधि है। लंबा कद, तेजस्वी मुद्रा, कुंदन का-सा रंग, देवताओं का-सा रूप, गठी हुई देह, मुख से एक ज्योति-सी स्फुरित हो रही है। कोई राजकुमार मालूम होता है। उसका सौम्य रूप हमीदा की आंखों में बस गया, हृदय पर खिंच गया। धीरे-धीरे यह बात नवाब के कानों तक पहुंची। पहले तो वह बहुत लाल-पीला हुआ, नाक-भौं सिकोड़ी, परन्तु जब उसने देखा कि पुत्री पर प्रेम का ऐसा गाढ़ा रंग चढ़ा है कि वह किसी उपाय

से नहीं उतरता है तो कुछ ढीला पड़ा। उसने युवक को प्रलोभन दिया—'यदि तुम इसलाम धर्म स्वीकार कर लो तो मैं तुम्हें अपनी राजकुमारी का हाथ सौंप दूंगा। मेरे पश्चात् ढाका के नवाब हो जाओगे। तुम्हारी मान-मर्यादा और पद बढ़ जाएगा।' उसका बाण लक्ष्य तक नहीं पहुंचता है। उसने धमकी का प्रयोग आरम्भ कर दिया। जब इस शस्त्र से भी काम न निकला तो वह कलानिधि को मृत्यु के घाट उतारने का विचार करने लगा। परन्तु इस विचार को वह निश्चय में परिणत नहीं कर पाता। हमीदा की म्लान मूर्ति सामने आ जाती और वह विचलित हो जाता। हमीदा कलानिधि के प्रेम में पागल हो रही है। वह अपने प्रीतम को पाने के लिए अपनी कुल-मर्यादा को तिलांजलि दे कर हिन्दू बनने को भी तैयार हो गयी। नवाब हिन्दुओं की मूर्खता को जानता है। वह समझता है कि वे काठ के उल्लू हमीदा को किसी अवस्था में भी हिन्दू धर्म में दीक्षित नहीं करेंगे। इसलिए उसने युक्ति से काम लिया। उसने कलानिधि को बुला कर कहा, 'यदि तुम हमीदा को हिन्दू बना कर भी पत्नी रूप में ग्रहण कर लो तो मुझे कोई आपत्ति नहीं होगी। वह तुम्हें सच्चे दिल से प्यार करती है।' हमीदा के दिव्य अनुराग और विशुद्ध प्रेम ने कलानिधि के मन पर विजय पायी। गीली लकड़ी ने भी प्रज्वलित अग्नि में पड़ कर आग पकड़ ली। युवक की बुद्धि और प्रेम ने नवाब के प्रस्ताव को उचित ठहराया। वह हमीदा को लेकर घर की ओर चला। अब वे एक दूसरे के प्रेम में पगे हुए हैं। ढाका के हिन्दुओं में खलबली मच गयी। ब्राह्मणों में हलचल मची। उन लोगों ने चिल्ला-चिल्ला कर आकाश सिर पर उठा लिया—'कलजुग है, कलजुग! धर्म रसातल को चला जाएगा। कहीं गदहे धुल कर घोड़े बन सकते हैं?' बंगाल के ब्राह्मणों से हताश होकर वह युगल जोड़ी काशी पहुंचती है। वहां के धर्माचार्यों से मुसलमान से हिन्दू बनने की व्यवस्था मांगी। उनसे अनुनय-विनय की, उनकी चिरौरी-विनती की। घुटने टेक कर धरती पर सिर रख दिया। तीन दिन और तीन रात भूखे और प्यासे गंगा-घाट की सीढ़ियों पर पड़े रहे। परन्तु हिन्दू धर्म के ठेकेदारों के पत्थर के हृदय नहीं पसीजे। उन्होंने उनकी प्रार्थना अस्वीकार कर दी और कहा—'मुसलमान से हिन्दू होना असम्भव है, यह कार्य शास्त्र-विरुद्ध है।' यह सुनते ही कलानिधि का मुख क्रोध की ज्वाला से तमतमा उठा; आंखों से अंगारे बरसने लगे। दोनों मुट्ठियां बंध गयीं, दांत पीस कर बोला—'तुम हिन्दू समाज में हिंसक पशु, खून चूसने वाली जोंक, और वृक्षों की चोटी पर फलने वाला बंझा हो। तुम्हारी बुद्धि तो भांग खा गयी है। जिस पारस को छूकर कितनी लौहरूप विदेशी जातियां सोना हो गयीं और पारस लोहा नहीं बना, उसी पारस रूप हिन्दू धर्म को तुमने मिट्टी में मिला दिया है।' उसने हमीदा का हाथ पकड़ कर कहा—'चलो, सामने मसजिद है। वहां चल कर निकाह पढ़ा लेवें।' दोनों

का विवाह हो गया। कलानिधि कलमा पढ़ कर हमीदा का पति हामिद हो गया, और नवाब ने उसे अपना उत्तराधिकारी बनाया। हिन्दुओं के दुर्व्यवहार से वह इतना चिढ़ गया कि उसने अपने जीवन का उद्देश्य ही यह बना लिया कि हिन्दुओं को मारो-काटो, और उन्हें बलात् मुसलमान बनाओ। उसके हाथ में शक्ति है, हिन्दू असंगठित और निर्बल हैं। इसलिए वह अपने उद्देश्य को पूरा करने में खूब सफल हुआ। वह जिधर से निकल जाता हिन्दुओं में भगदड़ मच जाती। लोग 'काला पहाड़! काला पहाड़!' चिल्लाते हुए इधर-उधर भागने लगते। इतिहास में कलानिधि हामिद न कहला कर 'काला पहाड़' के नाम से प्रसिद्ध है।

वेदों की घोषणा है कि संसार को आर्य बनाओ और हम धर्माभास के शिकार होकर एक पवित्र नारी को भी आर्य न बना सके। इस प्रकार हमारी मूर्खता के कारण काला पहाड़ का निर्माण किया और अभी भी समझने को तैयार नहीं हैं। हम सब मोथे हो गये हैं। हम सब बुद्धि का प्रयोग ही नहीं करते हैं। मोथे बन हम कुण्ठित, लुण्ठित हो गये हैं। मूढ़ता को ही धर्म समझ लिया है। शत्रु को दण्ड देने के स्थान पर न केवल क्षमा करते आ रहे हैं वरन् उनको संरक्षण, उनको बढ़ावा, पोषण, उनके सब प्रकार के दुराचार, राष्ट्रद्रोह आदि को सहते आ रहे हैं। शत्रु का सामना करना है पर मोथे बनकर नहीं। यह बोध होना चाहिये कि किस स्थिति में कहां तक आगे बढ़ें, कब पीछे हटें, कहां अकड़कर सीना तानकर खड़े होवें और कहां झुक जायें। न मोथे बनकर आगे बढ़ें और न मोथे बनकर पीछे हटें। भगवान् श्रीकृष्ण की तरह, शिवाजी की तरह बोध होना चाहिये कब आगे बढ़ना है और कब रणछोड़ बनना है, कब प्रकट होना है और कब गायब हो जाना है। इसका विवेक रखें। मोथे बनकर इस आग में कूदोगे तो झुलस जाओगे। अतः बहुत कुशलता से काम करना है। हम धर्माभास में जी रहे हैं। कोई भी कार्य बुद्धि सम्मत, विचार युक्त होना चाहिए। वैसे ही उपासना भी विचार युक्त होनी चाहिये। पहले बुद्धि को ठीक करें, उसकी शरण में जायें तब भगवान् की शरण प्राप्त होगी।

आज अध्यात्म के नाम पर दुकानदारी चल रही है। बिना पूंजी के, बिना Investment का सबसे अच्छा उद्योग है। इसमें लोग पैर भी पूजते हैं और बढ़िया भोजन भी करवाते हैं। ऐसे दुकानदारी वालों से बचे। आज शास्त्र के नाम पर, शंकराचार्य के नाम पर, अध्यात्म के नाम पर, भगवान् के नाम पर मूढ़ता-जड़ता आ गयी है इससे बचे। आज जो कहते हैं छुआछूत का शास्त्रीय आधार है, तो उसे समझें। हम जब पूजा कक्ष में होते हैं तब अपने बच्चों को भी बिना नहाये नहीं आने देते। पर नहाने के बाद बाधा नहीं। वैसे ही अछूत बन्धु जब वे अपने कार्य से निवृत्त होकर, शुद्ध होकर आते हैं उस समय निषेध क्यों मन्दिर में

प्रवेश से। माता अपने बच्चे का मल-मूत्र उठाती है वह तो अपवित्र न होकर और पूज्य हो जाती है तब जो समाज का मल-मूत्र उठाने वाले अपवित्र कैसे हो गये? ऐसे ही वर्ण व्यवस्था है वर्ण भेद नहीं। जाति व्यवस्था है जाति भेद नहीं, दहेज व्यवस्था है दहेज प्रथा नहीं। गुरुकुल से पढ़कर स्नातक-स्नातिका आये हैं। अब एक नया परिवार बन रहा है अतः दोनों पक्ष के माता-पिता अपनी सामर्थ्य के अनुसार सहयोग करते थे। अतः दहेज व्यवस्था थी पर अब विकृत होकर प्रथा का रूप ले लिया। बुद्धिपूर्वक चिन्तन युक्त कार्य करें, उपासना करें। पहले बुद्धि की शरण, फिर भगवान् की शरण लेवें।

वास्तविक शरण तो प्रभु है। 9वें अध्याय के 18वें श्लोक में स्वयं को शरण बताते हुए भगवान् अपने कई नामों को गिनाते हैं—'गतिर्-भर्ता प्रभुः साक्षी, निवासः शरणं सुहृत्।' 9/18 प्र.प. मैं गति हूं, मैं भर्ता हूं, मैं साक्षी हूं, मैं प्रभु हूं, मैं निवास हूं, मैं शरण हूं और मैं सुहृत् हूं।

पर हम सीधे-सीधे भगवान् की शरण में नहीं जा सकते। क्योंकि हममें वह पात्रता नहीं है। भगवान् की शरण में जाने के लिए कर्तापन-भोक्तापन छोड़ना पड़ेगा। कर्तापन, भोक्तापन छोड़ना सहज नहीं है क्योंकि हमारे अन्दर इच्छायें, कामनायें, वासनायें, षड् विकार, विकृतियां, रूढ़ियां पड़ी हुई हैं।

इसलिए बिना पात्रता अर्जित किये भगवान् की शरण जायेंगे तो भगवान् कोई प्रत्यक्ष गोचर और प्रत्यक्ष मार्ग देने वाला तो है नहीं। और जीवन में अभी इतनी शुद्धता है नहीं कि उसकी अनुभूति कर सकें। क्योंकि भगवान् तो सृष्टि के कण-कण में समाया हुआ है। वह पृथ्वी में गंध रूप से, जल में रस रूप से, पर उसकी अनुभूति के लिए जितनी शुद्धि चाहिये वह हममें है नहीं। फलतः जीवन में शुष्कता आ जायेगी, निकम्मापन, निठल्लापन आ जायेगा आलस्य प्रमाद में यानी तमोगुण में चले जायेंगे और राम नाम की सतोगुणी चादर ओढ़ लेंगे। और नकली अध्यात्मवादी बन जायेंगे, पाखण्डी बन जायेंगे।

जिस प्रकार बालक की शरण मां होती है। मां उसकी सबसे श्रेष्ठ शरण है। वहां उसे गोद भी मिलेगी, दूध भी मिलेगा, उष्णता भी मिलेगी, प्यार भी मिलेगा, लोरी भी मिलेगी। पर वह बालक अनजाने ही मां के स्थान पर डाकिन के पास चला जाये तो डाकिन उसे खा जायेगी। वैसे बिना बुद्धि की शरण जाये, प्रभु की शरणागति योग्य पात्रता अर्जित किये बिना जब हम निकल जाते हैं घर से तब हम नकली अध्यात्म की शरण में चले जाते हैं। यानी पूर्व तैयारी किये बिना सीधे भगवान् की शरण में चले गये, भगवान के प्रति अव्यभिचारिणी भक्ति है नहीं तो सतोगुण के नाम पर हम तमोगुण में, आलस्य-प्रमाद में या अनावश्यक Activity

में चले जायेंगे, जीवन में शुष्कता आ जायेगी। वह ओज और तेज प्रकट नहीं होगा। नकली अध्यात्मवादी बन जायेंगे। स्वयं भी गड्‌ढ़े में पड़े रहेंगे और समाज को भी गड्‌ढ़े में ढकेलने वाले सिद्ध होंगे।

अतः आवश्यक है भगवान् की शरण में जाने के लिए पहले पात्रता अर्जित करने के लिए बुद्धि की शरण में जावें।

कर्तापन को हटाने के लिए बुद्धि से विचारें कि इस एक शरीर के निर्माण में, उत्पन्न करने में कितने शरीरों का योगदान, कितनों की कृपा का परिणाम यह शरीर है।

फिर हमें शिक्षा मिली माता-पिता से, बड़े भाई-बहन से, आचार्य से, पास-पड़ोस, इष्ट-मित्रों से।

फिर किसी भी कार्य के सम्पादन में अनेकों की मदद, सहयोग प्राप्त होता है। इन सब बातों को विचारेंगे तो अपने कर्तापन के अहंकार के लिए कोई स्थान ही नहीं बचता। इन सब बातों पर जितना-जितना हम मनन करेंगे उतना ही उतना अहंकार हमारा गलता जायेगा। जब मैं कर्ता ही नहीं तब भोक्तापन का आग्रह भी घटता जायेगा कि इसका फल मुझे ही मिलना चाहिये। इतने घटकों में मैं भी एक घटक हूं। यह भाव आयेगा। मैं भी एक अंश हूं, सर्वस्व नहीं। अतः सारे फल में से एक अंश का ही अधिकारी हूं। पर हम सारा फल स्वयं के लिए चाहते हैं तभी गड़बड़ी होती है। हम तो माता-पिता को भी अपने फल से वंचित कर देते हैं जिनकी कृपा से हमारा निर्माण हुआ। अतः पहले बुद्धि की शरण लेवें। फिर अपने आपको सही ढंग से स्वीकारने लगेंगे। उसे लगने लगेगा मैं शरीर नहीं, इन्द्रिय नहीं, मन नहीं, बुद्धि नहीं। मैं आत्मा हूं। और आत्मा सबका एक है। उसमें भेद नहीं है।

क्रियायें तो प्रकृति में, तीन गुणों में हो रही है। अन्तःकरण भी तीन गुणों से बना हुआ है। गुण-गुण में वरत रहे हैं। मैं तो साक्षी मात्र हूं, द्रष्टा मात्र हूं।

इसके बाद की स्थिति है मैं तो एक यंत्र हूं, प्रभु यंत्री हैं। वही सबको चला रहे हैं, मुझे भी चला रहे हैं, वे ही करने और कराने वाले हैं, मैं तो निमित्त मात्र हूं। जैसा वह प्रेरणा देता है करवाता है वैसा मैं करता हूं। पात्रता अर्जित करने से पूर्व इस वचन का दुरुपयोग दुर्योधन की तरह कर सकते हैं। वह भी तो यही कहता है। हमारे मन में जो भाव दृढ़ होता है वही चित्त में प्रतिफलित होता है। दुर्योधन अहंकार, कामना, स्वार्थ, वासना, विकार का शिकार है, और उसी से परिचालित है उसी के अनुसार चल रहा है; उसी से प्रेरित है पर उसे लगता है मेरे अन्दर देव बैठे हैं उससे प्रेरित है। वह देव है उसका काम विकार। अतः यहां सावधानी बरतें। जैसे-जैसे निमित्त मात्र का भाव दृढ़ होता जायेगा वैसे-वैसे कर्तापन का अहंकार

और भोक्तापन नाम-मात्र का शेष रह जायेगा। एक हलकी-सी अहंकार की परत रह जायेगी। तब जाकर सबसे अन्त में यह स्थिति आती है—

सर्व-धर्मान् परित्यज्य, मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्व-पापेभ्यो, मोक्षयिष्यामि मा शुचः।। 18/66

सब धर्मों का त्याग कर तू मेरी शरण में आ जा। मैं तुझे सब पापों से मुक्त कर दूंगा। तू शोक मत कर।

तमेव शरणं गच्छ, सर्व-भावेन भारत।
तत्-प्रसादात् परां शान्तिं, स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्।।18/62

हे भारत! तू सब प्रकार से उसी (ईश्वर) की शरण में जा। उसकी कृपा से तू परम शांति तथा शाश्वत स्थान (अर्थात् नित्य परमधाम) को प्राप्त होगा।

अतः बुद्धि की शरण में जाकर पहले ईश्वर की शरण प्राप्त करने योग्य पात्रता अर्जित करने के पश्चात् ही ईश्वर की शरणागति ग्रहण कर सकते हैं। सर्वत्र ईश्वर का दर्शन कर सकते हैं। पहले अपने अन्दर ईश्वर का दर्शन करेंगे फिर वही दर्शन सर्वत्र होगा जैसा तुलसीदासजी कहते हैं—

सीयराम मय सब जग जानी करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी।

जो हमारी कामना का विषय होता है वही अन्तर में फलित होता है और जो अन्तर में फलित होता है वही बाहर दिखाई देता है।

इसकी पात्रता अर्जित करने के लिए पहले बुद्धि की शरण, यंत्रवत् उपासना न करके बुद्धि युक्त उपासना करें, तब हमारे जीवन में वह तेजस्विता प्रकट होगी जो भगवान् के भक्तों में प्रकट हुआ करती है।

राष्ट्र बनता है व्यक्तियों से और व्यक्ति बनता है विचारों से और विचार बनते हैं सद्ग्रन्थों के स्वाध्याय से। स्वाध्याय ही, विचार ही, बुद्धि ही राष्ट्र की सत्ता का आधार है।

हिन्दू धर्म तर्काश्रित धर्म है। हिन्दू धर्म ने बुद्धि को जितना महत्त्व, जितनी गरिमा दी है वह और किसी ने नहीं दिया। अन्य धर्म (सेमिटिक परम्परा) विश्वास समर्पित धर्म हैं। वहां प्रश्न उठाना गुनाह है। जो प्रश्न उठाता है वह शैतान से प्रेरित है। पापी Hidden है, काफिर है, अतः वध के योग्य है। उनके धर्म जो भी कहते हैं उस पर पूर्ण विश्वास कर लो। तर्क की गुंजाइश नहीं। हिन्दू धर्म बुद्धि को इतना महत्त्व देता है स्वयं भगवान् कह रहे हैं—पहले बुद्धि की शरण लो। फिर मेरी शरण लेना। पहले अपनी विवेक दृष्टि को खोलो। प्रज्ञा को बुद्धि को प्रकाशित करो, कुण्ठित नहीं। प्रज्ञायुक्त बुद्धि से मेरी शरण ग्रहण करो। इसलिए कर्मयोग का

एक नाम बुद्धियोग दिया है। क्योंकि इसमें कर्म करने की युक्ति बतायी गयी है। जिससे कर्म बन्धन का कारण नहीं बनकर मुक्ति का हेतु बन जाए।

बुद्धि-युक्तो जहातीह, उभे सुकृत-दुष्कृते।
तस्माद्-योगाय युज्यस्व, योगः कर्मसु कौशलम्।। 2/50

सम बुद्धियुक्त निष्काम कर्मयोगी इस लोक में पुण्य और पाप दोनों से अलिप्त रहता है। इसलिए तू इस योग का आश्रय ले। (पाप-पुण्य से बचकर) कर्म करने की कुशलता या युक्ति को ही योग कहते हैं।

कर्म से संसार का व्यवहार चलता है। बिना कर्म के संसार में क्षणभर टिकना भी असम्भव हो जाता है। अतः कर्म अनिवार्य है, किन्तु कर्म का सबसे बड़ा दोष यह है कि यह चार प्रकार से व्यक्ति को बंधन में बांध देता है—

(1) कर्म कर्ता को रंग देता है।

(2) कर्मासक्ति या कर्म का संग करा देता है।

(3) फलासक्ति से बांधता है।

(4) कर्तापन का अहंकार होने लगता है।

(क) कर्म कर्ता को रंग देता है—कर्म करते हुए कर्म का परिणाम तो आगे होता है किन्तु कर्म का छींटा पीछे कर्ता पर पड़ता है। जैसे बंदूक चलाते हुए गोली तो आगे निकलती है पर धक्का पीछे पड़ता है। इस प्रकार कर्म कर्ता को रंगता जाता है। यदि क ने ख की हत्या की तो तात्कालिक आगे का परिणाम ख की मृत्यु एवं तात्कालिक पीछे का परिणाम 'क' का हत्यारा बन जाना है। हत्या कर्म ने ही 'क' को हत्यारा बनाया। चौर्य कर्म किसी को चोर बना देता है। साधु कर्म कर्ता को साधु बना देता है। अन्यथा चोर, डाकू, हत्यारा, किसी के माथे पर लगा हुआ नामपट्ट नहीं है। पर कर्म उसके मन पर जो रंग फेंकता है उसी से वह सज्जन या दुष्ट बन जाता है। कर्म की रंगत ज्यों-ज्यों गहरी होती जाती है त्यों-त्यों आदत बन जाती है। आदत धीरे-धीरे चरित्र बन जाती है और चरित्र मनुष्य का भाग्य बन जाता है।

Saw a thought, it becomes an act.
Saw an act, it becomes a habit.
Saw a habit, it becomes a character.
Saw a character, it becomes a destiny.

इस प्रकार सद्विचार से सत् कर्म, सत् कर्म से अच्छा स्वभाव, अच्छे स्वभाव से अच्छा चरित्र और अच्छे चरित्र से अच्छा भाग्य बनता रहता है। इसी प्रकार बुरे विचारों से बुरे कर्म, बुरे कर्म से बुरी आदत, बुरी आदत से बुरा चरित्र

और बुरे चरित्र से बुरा भाग्य बनता रहता है। आदतें जीवनभर तो पीछा नहीं छोड़ती, अपने कर्म के संस्कार से अगले जन्मों में भी स्वभाव या प्रवृत्ति बनकर नचाती रहती हैं।

कुकर्म करके समाज की नजर से या पुलिस के फंदे से भले ही बच जाएं पर कर्म की रंगत, आदत के फंदे से नहीं बच सकते और वह अन्ततः फांसी के फंदे तक ले ही जाती है। Eachman जो हिटलर का साथी था, एक खून करने से भी डरता था, आदत लग जाने से संसार का सबसे बड़ा हत्यारा बन गया।

(ख) कर्म का दूसरा बंधन कर्म का संग है—यदि मनुष्य कर्म करे और अपने कर्म पर स्वयं आसक्त हो जाए तो वह आसक्ति ही बंधन बन जाती है। यह मेरा कार्य है, यह मेरी कृति है, इस कर्म से मेरे परिवार का सम्बन्ध है। यह मैंने बनाया है, रचा है, मेरी देन है आदि सब आसक्ति के बंधन हैं। इससे बुद्धि मोहयुक्त हो जाती है और मनुष्य कुछ नए कर्म करने के बजाय अपने पिछले किए हुए कर्मों की ओर बार-बार झांकता रहता है और उन्हीं का प्रदर्शन करने में सुख मानता रहता है। इसे ही कर्मासक्ति या कर्म का संग कहा जाता है।

(ग) कर्म फल की वांछा के सूक्ष्म तंतु से मन को बांध लेता है। इससे ध्यान कर्म की अपेक्षा फल पर चला जाता है। वर्तमान कर्म भी बिगड़ जाता है और फल को अधिक महत्त्व देने से भावी कर्म में रुचि कम होने लगती है। यदि फल के लिए ही कर्म करना है तो बिना कर्म किए ही फल मिल जाए तो इससे सस्ता सौदा और क्या हो सकता है। अतः बिना कर्म का कष्ट उठाए फल पाने की चेष्टा करता है। बिना परिश्रम के पैसा कमाना चाहता है, बिना उचित तपस्या के लाभ लूटना चाहता है, बिना परीक्षा दिए प्रमाण पत्र लेना चाहता है। इस प्रकार फल के लोभी कर्मसाधना त्यागकर फलसाधना के पीछे पड़ जाते हैं। इस प्रकार रिश्वतखोरी, भ्रष्टाचार, लोभ, लाभ आदि सामाजिक पाप का धंधा चल पड़ता है। फल का लोभ वर्तमान को निष्क्रिय करता है। भविष्य के लिए सारा ध्यान फल पर केन्द्रित कराता है। फल की वांछा उसे इस जन्म में भी उतावला-बावला बनाकर नचाती रहती है और वह फल की अधूरी इच्छा लेकर मरता है तो कर्मफल की वांछा उसे अगले जन्मों में भी भटकाती रहती है। इसलिए जो सकामकर्मी है वह कर्म करते हुए कर्म के चक्र में बंधता जाता है और कर्मफल की दलदल में गहरा फंसता जाता है।

(घ) कर्तापन का अहंकार—कर्म का सबसे बड़ा बंधन कर्तापन का अहंकार है। पांचों तत्त्वों में सबसे स्थूल पृथ्वी, उससे सूक्ष्म जल, उससे सूक्ष्म अग्नि, उससे सूक्ष्म वायु, फिर आकाश। आकाश से सूक्ष्म मन, मन से सूक्ष्म बुद्धि, बुद्धि से सूक्ष्म

चित्त, चित्त से भी सूक्ष्म अहंकार है। अहंकार मलिन जीवात्मा का नाम है। जब तक जीव अपने को विश्व से, विश्वरूप से अथवा विश्वम्भर से पृथक् एक इकाई मानता रहता है तब तक वह अपने को कर्ता मानता रहता है। जब तक कर्ता बना रहता है तब तक उसे भोक्ता बनकर अपने कर्मों का फल भी भोगना पड़ता है। यह बहुत बड़ा सूक्ष्म बंधन है जो बड़े-बड़े त्यागियों तक को अपने लपेटे में ले लेता है।

लोग प्रायः संसार के बंधन में बंधे रहते हैं। कुछ भाग्यवान लोकहितार्थ अपने धन, जन, भवन, परिवार का त्याग करते हैं। किन्तु त्याग करने वाले अधिकांश त्यागियों के मन में अपने त्याग करने का अहंकार सूक्ष्म रूप से बना रहता है और अपने त्याग की गाथा सुनाकर अथवा त्याग की चर्चा करके उनके अहंकार की तृप्ति होती है।

कंचन तजना सहज है सहज प्रिया का नेह।
मान बड़ाई ईर्ष्या दुष्कर तजना एह।।

सारा घर-बार त्यागकर, संन्यासी बनकर गंगा में स्नान करते हुए एक साधु दूसरे साधु से लंगोटी पर झगड़ा करता है। एक-दूसरे को ईर्ष्या से कहता है तू नहीं जानता मैं लाखों की सम्पत्ति छोड़कर संन्यासी बना हूं, तेरे जैसे लाखों भिखमंगों को मैंने वस्त्र दान में दिए हैं। वास्तव में यह साधु संसार के बहिरंग का त्यागी है किन्तु सारा संसार उसके सूक्ष्म अहंकार से बंधा हुआ उसकी लंगोटी में सिमटकर जंगल में भी पहुंच गया है। जब कर्तापन का अहंकार बड़े-बड़े दानवीरों और त्यागियों को भी आता रहता है तो सामान्य गृहस्थी को यह कैसे छोड़ सकता है? यह विश्व प्रपंच के दारुण जंजाल का अन्तिम सूक्ष्मतम बंधन है। कोई अच्छे से अच्छा कर्म करके अपना अहंकार बखानने लगता है तो वह वैसा ही है जैसे उत्तम से उत्तम मोहनभोग (हलवा) बनाकर उसमें मुट्ठी भर रेत डाल दी जाए। यह क्षुद्र अहंकार ही मनुष्य को स्वार्थी, समाजद्वेषी एवं ब्रह्म से वियुक्त करने वाला कारण है। समाज में स्वार्थ के संघर्षों की अपेक्षा अहंकार के संघर्ष अधिक चल रहे हैं। दो कुत्ते हड्डी के लिए लड़ते हैं पर दो नेता अहंकार की लड़ाई, प्रतिष्ठा की लड़ाई, ईर्ष्या की लड़ाई में कुत्तों से ज्यादा भयंकर लम्बी लड़ाई लड़ते हैं।

इस प्रकार कर्ता कर्म की रंगत में रंगता जाता है। उसकी आदत में बंधता जाता है। कर्म की आसक्ति में मोहित होता जाता है। फल की वासना में बावला बना रहता है। अहंकार के स्थूल हो जाने से ईश्वर से बिछुड़कर अन्य कार्यकर्ताओं से संघर्ष करता है। तो ऐसा कर्मी जन्म-जन्मान्तरों में कर्मबंधन में ही बंधा रहता है। कर्मबंधन का चक्र चलता रहता है।

कर्म के इन चार बंधनों से मुक्त होना जीवन की सबसे बड़ी कला है इसलिए भगवान् गीता में कहते हैं—

योगः कर्मसु कौशलम्।। 2/50

भगवान् कहते हैं कि कर्मयोग कर्मों की ऐसी कुशलता है जिसमें कर्म तो अच्छे से अच्छे, भरपूर शक्तिसम्पन्न और परम कल्याणकारी हों किन्तु कर्मबंधन की एक रज्जु भी हमें बांध न सके।

कर्मयोग कर्म की वह कला है जिससे कर्म भी न छूटे और कर्मबंधन से भी बचे रहें। सांप भी मर जाए और लाठी भी न टूटे। संसार में रहें पर संसार हमारे अन्दर न प्रवेश करे।

कर्मयोग में फलासक्ति, कर्मासक्ति एवं अहंकृति को शिथिलकर अति उत्साहपूर्वक ईश्वरप्रीत्यर्थ कर्म किया जाता है। फलतः कर्मबंधन का हेतु न बनकर मुक्ति का द्वार बन जाता है।

इसकी तीन सीढ़ियां हैं—

(1) सकाम सत्कर्म—अच्छे पुण्य की प्राप्ति के लिए शास्त्रविहित सत्कर्म करना। पर इसमें फलासक्ति, कर्मासक्ति एवं अहंकृति बनी रहने से जन्म-मृत्यु का चक्र बना रहता है।

(ख) निष्काम कर्मयोग—सत्कर्म करते हुए फल की वांछा का त्याग करना। यह सकाम सत्कर्म की अपेक्षा ऊंची सीढ़ी है।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि।। 2/47

इसमें युक्ति यह है कि कर्म निष्फल तो न हो पर निष्काम अवश्य हो। यदि कर्म निष्फल होगा तो सारा प्रयत्न व्यर्थ चला जाएगा। अतः कर्म का फल तो अवश्य निकलना चाहिए। समाज के लिए कल्याणकारी अवश्य होना चाहिए चाहे हमें उस कर्म से उत्पन्न फल की रत्ती भर भी इच्छा न हो। उदाहरण—पानी को बिलोना निष्फल है। यह सारे परिश्रम को बेकार नष्ट करना है। यदि पानी बिलोने वाला यों कहे कि मेरे परिश्रम का कोई फल नहीं तो कोई चिन्ता नहीं। क्योंकि भगवान् ने कहा है कि फल की फिक्र न करें तो उसके कथन को पागलपन कहा जाएगा। जो परिश्रम न करे वह आलसी। जो परिश्रम को वृथा करे वह मूर्ख। जो परिश्रम का दाम पहले चुकवाये वह दलाल, जो परिश्रम के बाद पारिश्रमिक मांगे वह व्यवसायी और जो परिश्रम करके फल भगवान् के चरणों पर समर्पित कर दे वह निष्काम कर्मयोगी है।

(ग) कर्म संन्यास—निष्काम कर्मयोग द्वारा कर्मों के फूल और कर्मफल का नैवेद्य भगवान् के चरणों पर चढ़ाते-चढ़ाते धीरे-धीरे चित्त शुद्ध हो जाता है। कर्तापन के अहंकार की मैल धुल जाती है और व्यक्ति को यह अनुभूति होने लगती है कि मैं कर्मों का कर्ता हूं ही नहीं। प्रभु के दिए तन से, प्रभु के दिए धन

से, प्रभु की दी हुई ज्ञानेंद्रियों से, प्रभु की दी हुई कर्मेन्द्रियों से, प्रभु की दी हुई बुद्धि से, प्रभु के दिए हुए चित्त से, प्रभु के दिए हुए मैं (अहम्) के भाव से, प्रभु के रचे हुए जगत् में, प्रभु के रचे हुए जीवों के प्रति प्रभु की प्रेरणानुसार, प्रभु के दिए हुए साधनों से जो कर्म हो रहा है वह समस्त कर्म प्रभु का ही है। उसमें मेरा क्या? प्रभु ही प्रभु का कार्य कर रहे हैं। अतः मैं कुछ नहीं कर रहा हूं। तत्त्वतः प्रभु अकर्ता ही हैं। उन्हें सर्वकर्ता कहें अथवा अकर्ता कहें बात एक ही है क्योंकि वे समस्त कर्मों के स्वामी होकर भी कर्मों से अलिप्त हैं। जो कर्ता बनेगा उसे भोक्ता भी बनना पड़ेगा। तत्त्वतः प्रभु न कर्ता हैं न भोक्ता हैं। उनकी आज्ञानुसार प्रकृति ही सब कर्मलीला कर रही है जिसे देखकर वे आनन्दित हो रहे हैं। इस प्रकार कर्मसंन्यास में कर्तापन का अहंकार भी गल जाता है। तब व्यक्ति कर्म में अकर्म को और अकर्म में कर्म को देखता है। यह कर्म-अकर्म की समता है।

कर्म की बहिरंग चेष्टा + कर्तापन का अहंकार = कर्म का स्थूल बंधन।

कर्म की बहिरंग चेष्टा + कर्तापन का अभाव = कर्म में अकर्म दर्शन—विवेकानन्द (कर्मयोगी का)।

कर्म की बहिरंग चेष्टा का लोप + कर्तापन का सूक्ष्म आरोपण (अहंकार) = अकर्म में कर्म दर्शन—रामकृष्ण देव (संन्यासी का)।

कर्मण्यकर्म यः पश्ये,-दकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु, स युक्तः कृत्स्न-कर्म-कृत्।। 4/18

योग-युक्तो विशुद्धात्मा, विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्व-भूतात्म-भूतात्मा, कुर्वन्-नपि न लिप्यते।। 5/7

नैव किञ्चित् करोमीति, युक्तो मन्येत तत्त्व-वित्।
पश्यञ्-शृण्वन्-स्पृशञ्-जिघ्रन्-नश्नन्-गच्छन्-स्वपञ्-श्वसन्।। 5/8

प्रलपन्-विसृजन्-गृह्णन्, -नुन्मिषन्-निमिषन्-नपि।
इन्द्रिया-णीन्द्रियार्थेषु, वर्तन्त इति धारयन्।। 5/9

स्वामी रामतीर्थ—

तमाशा देखने वाला तमाशा खुद न बन जाना।
तमाशाई बने रहना, तमाशा ही देखते रहना।

संसार के दृश्य को देखने के लिए हम निर्लिप्त द्रष्टा बने रहें स्वयं दृश्य न-बन जाएं।

न कर्तृत्वं न कर्माणि, लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्म-फल-संयोगं, स्वभावस्तु प्रवर्तते।। 5/14

अधिष्ठानं तथा कर्ता, करणं च पृथग्-विधम्।
विविधाश्च पृथक्-चेष्टा, दैवं चैवात्र पञ्चमम्।। 18/14

शरीर-वाङ्-मनोभिर्-यत्, कर्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरीतं वा, पञ्चैते तस्य हेतवः।। 18/15

तत्रैवं सति कर्तार,-मात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्य-कृत-बुद्धित्वान्,-न स पश्यति दुर्मतिः।। 18/16

यस्य नाहङ्-कृतो भावो, बुद्धिर्-यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमांल्-लोकान्, न हन्ति न निबध्यते।। 18/17

कर्मजं बुद्धि-युक्ता हि, फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्म-बन्ध-विनिर्मुक्ताः, पदं-गच्छन्-त्यनामयम्।। 2/51

क्योंकि समबुद्धि से युक्त मनीषी कर्मों से उत्पन्न होने वाले फल को त्यागकर (ईश्वर को समर्पित करके) जन्मरूप बंधन से मुक्त होकर विकार-रहित परमपद (ब्रह्मात्मैक्य) को प्राप्त हो जाते हैं।

50वें श्लोक में बताया कर्मों की कुशलता इस बात में है कर्म बन्धन का हेतु न बनकर मुक्ति का हेतु बन जाए। इसके लिए जब हम कर्मासक्ति, फलासक्ति, अहम्-कृति को शिथिल कर उत्साहपूर्वक भगवान् की प्रसन्नता के लिए कर्म करते हैं तो वह बन्धन का हेतु न बनकर मुक्ति का द्वार बन जाता है। और 51वें श्लोक में बताया इसके फलस्वरूप जन्म रूप बंधन से रहित हमें परमपद, अनामयपद (मोक्ष) प्राप्त होता है।

कर्मयोग से मोक्ष कैसे

यहां प्रश्न उठेगा कि कर्मयोग से सीधे मोक्ष कैसे मिल सकता है? कहा गया है—ऋते ज्ञानात न मुक्तिः। ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं मिल सकती। मोक्ष जब ज्ञान का फल है तो वह कर्म के फल के रूप में कैसे प्राप्त हो सकता है? कर्म के चार परिणाम होते हैं—उत्पाद्य, विकार्य, आप्य और संस्कार्य। मोक्ष तो आत्मा का शुद्ध स्वरूप है। मोक्ष कोई वस्तु नहीं है जो आत्मा को पहले से प्राप्त न हो और जिसे उसे किसी व्यापार-विशेष के द्वारा प्राप्त करने की आवश्यकता हो। इसलिए मोक्ष आप्य नहीं है। अर्थात् यह कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो हमें प्राप्त न हो और जिसे हम प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील हो। आत्मा में किसी प्रकार का विकार नहीं है। इसलिए मोक्ष भी किसी विकार का परिणाम नहीं है। आत्मा के स्वभावतः शुद्ध होने से मोक्ष आत्मा में विद्यमान किसी दोष या मल का परिमार्जन नहीं करता। आत्मा का शुद्ध स्वरूप मल के निवारण तथा गुण के आधान का विषय नहीं हो सकता।

इसलिए मोक्ष संस्कार्य भी नहीं है। मोक्ष उत्पत्ति का विषय भी नहीं है। आत्मा नित्य पदार्थ है जिसकी उत्पत्ति नहीं होती इसलिए मोक्ष उत्पन्न नहीं होता। मोक्ष उत्पत्ति, प्राप्ति, विकार और संस्कार इनमें से किसी का भी यह विषय नहीं बन सकता। उत्पत्ति, प्राप्ति, विकार और संस्कार से आत्मा सर्वथा शून्य है। कर्म इन चारों के लिए ही किये जाते हैं। अतः मोक्ष के लिए कर्म की कोई आवश्यकता नहीं है।

फिर कर्म अनित्य है अतः उसका फल भी अनित्य ही होगा। नित्य नहीं। जो क्रिया का परिणाम होता है, उसका नाश अवश्य होता है। अतः कर्म के द्वारा अनामयपद, मोक्ष उत्पन्न नहीं हो सकता है।

आत्मा तो स्वभाव से ही शुद्ध, बुद्ध मुक्त है। पर हमारे चित्त के मलीन होने के कारण उस पर अज्ञान का आवरण चढ़ जाता है। इसलिए हमें अपने वास्तविक शुद्ध आत्मस्वरूप का बोध नहीं हो पाता। पर जैसे-जैसे हम कर्मयोग के द्वारा फलासक्ति, कर्मासक्ति, अहम्कृति को शिथिल कर के बुद्धियोग (सम बुद्धि) में स्थित धृत्युत्साह-पूर्वक ईश्वरप्रीत्यर्थ कर्म के सम्पादन से चित्त शुद्ध होता है फलतः ज्ञान धारण करने की पात्रता उत्पन्न होती है और शुद्ध अन्तःकरण में ब्रह्मज्ञान प्रकाशित हो जाता है। अतः कर्मयोग के द्वारा अपने अज्ञान रूपी मल को पोंछता है तो यह ढका हुआ, अनामयपद अनावरित हो जाता है। जैसे—एक दर्पण को लें, जो धूल से ढक गया है। पोंछन रूपी क्रिया दर्पण को उत्पन्न नहीं करती, बल्किं दर्पण के धूल रूप आवरण को हटा भर देती है और जो दर्पण पहले से है, वह प्रकट हो जाता है। इसी प्रकार अनामयपद कर्मयोग से उपजता नहीं, अपितु अप्रकट से प्रकट हो जाता है। चित्त के मलीन होने से जो आत्मज्ञान अवरुद्ध हो जाता है कर्मयोग के द्वारा चित्त शुद्ध होते ही वह अवरुद्ध आत्मज्ञान स्फुरित हो जाता है। इस सन्दर्भ में सत्यकाम जाबाल की कथा विचारणीय है।

यदा ते मोह-कलिलं, बुद्धिर्-व्यति-तरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं, श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च।।2/52

जिस काल में तेरी बुद्धि मोह-रूप दलदल को भली-भांति पार कर जाएगी, उस समय (तू) सुने हुए और सुनने में आने वाले (इस लोक और परलोक-संबंधी) सभी भोगों से वैराग्य को प्राप्त हो जाएगा।

श्रुति-विप्रतिपन्ना ते, यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधा-वचला बुद्धिस्,-तदा योग-मवाप्स्यसि।।2/53

नाना प्रकार की फल-श्रुतियों (को सुनने) से विक्षिप्त हुई (सी) तेरी बुद्धि जब समाधि में (आत्मस्वरूप में) अचल (और) स्थिर होकर ठहर जाएगी, तब तू योग को प्राप्त हो जाएगा।

पूर्व श्लोक में देखा योग कर्म के द्वारा परम पद (मोक्ष) प्राप्त करते हैं। यानी कर्मासक्ति, फलासक्ति, अहम्कृति को शिथिल कर ईश्वर की प्रसन्नता के लिए कर्म करते हैं तो वह बन्धन का हेतु न बनकर मुक्ति अर्थात् परमपद प्राप्ति का हेतु बन जाता है। पर यह बात सहज में समझ में नहीं आती है क्योंकि हमारी बुद्धि में कीचड़ भरा है। मोह से आच्छन्न है। जब तक तेरी बुद्धि मोह के कीचड़ में फंसी हुई है, तेरे मन में कर्मफल के प्रति आसक्ति, कर्म के प्रति आसक्ति, कर्तापन का भाव बना रहेगा तब तक तू कार्यों का मूल्यांकन उनके फल के द्वारा करता रहेगा, तेरे मन में कर्मफल के सम्बन्ध में ऊहापोह बना रहेगा; जो ग्रन्थ कर्मफल की बात बतलायेंगे कि अमुक कर्म अमुक फल को जन्म देता है, उनके प्रति तेरा आकर्षण बना रहेगा; और तब तक तू बुद्धियोग से दूर रहेगा।

वास्तव में जब तक मोह बुद्धि को घेरे रहता है तब तक असत्य ही सत्य दिखाई देता है और सत्य असत्य। साधारण जीव शरीर और आत्मा में कोई भेद नहीं देख पाता।

मोह शब्द संस्कृत की 'मुह्य' धातु से बना है जिसका अर्थ है मोहित करना, मुग्ध करना, बेहोश करना, जादू करना, इन्द्रजाल करना, मूर्च्छित करना, बुद्धि को अर्ध-सुषुप्तावस्था में डाल देना, Hypnotism करना, चेतन मन को सुलाना Mesmerize करना (दूसरों के मन को अपने नियंत्रण में करके इच्छानुसार नाच नचाना)। विवेकशक्ति को धूमिल कर मनचांही बात मनवा लेना।

अत: मोह ऊपर लिखे सभी परिणाम पैदा करता है। मोह में बुद्धि कुण्ठित होकर कुछ विपरीत भावना अथवा असत्य वस्तु को सत्य मानकर ऐसा पकड़ बैठती है, उसी के आकर्षण में अंधी हो जाती है तथा उसके लिए सब कुछ त्यागने के लिए प्रस्तुत हो जाती है। दूसरे शब्दों में मोह ऐसी विचित्र माया है जो अपना अलग कल्पित संसार रचकर अपने इन्द्रजाल में जीव को फंसाकर उससे मनमाने नाच नचाकर, उसे हंसाकर, रुलाकर अन्त में शोकसागर में धकेल कर छोड़ देती है।

ईश्वर की सर्जक शक्ति का नाम माया है। इसके द्वारा ईश्वर अपने संकल्प के बल से ही **'एकोऽहं बहु स्याम्'** भाव की पूर्ति के लिए एक से ही इतनी विराट् सृष्टि पैदा कर देते हैं। ये प्रभु की बहुत बड़ी जादूगरी है कि वे बिना माल मसाले के अपने संकल्प के भीतर से इतनी विराट् और अद्भुत सृष्टि कैसे पैदा कर देते हैं। भगवान् गीता में कहते हैं—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।। 7/14

'हे अर्जुन! मेरी यह देवी गुणमयी माया अगम्य है, इसका पार पाना कठिन है, किन्तु जो मेरी शरण में आ जाते हैं वे माया के पार हो जाते हैं।' ईश्वरीय माया जीवों को तो मोहित करती है किन्तु स्वयं अपने स्रष्टा ईश्वर को तनिक भी प्रभावित नहीं कर सकती। उसी प्रकार जैसे जादू देखने वालों को मुग्ध करता है किन्तु स्वयं जादूगर को मुग्ध नहीं कर सकता। श्रीरामकृष्ण परमहंस दृष्टान्त स्वरूप में कहते हैं कि सांप के दांतों का विष अन्य प्राणियों को मार सकता है किन्तु स्वयं विषधर सर्प को नहीं मार सकता।

जैसे ईश्वर अपने संकल्प से माया द्वारा सृष्टि करता है उसी प्रकार जीव अपने संकल्प से मोह द्वारा अपना संसार रच लेता है। वह स्वप्न में अपनी कल्पना द्वारा स्वप्न जगत् रचता है और जाग्रत् में अपने मोह सम्बन्धों से लगभग स्वप्न के समान ही अपना माना हुआ जगत् रच लेता है। जिसे वह अपना मान लेता है उसी के अज्ञानजनित आकर्षण में अंधा हो जाता है। संसार में अनेक जीव-जन्तु जीते-मरते रहते हैं। किन्तु बाजार के जिस आवारा कुत्ते को घर में पालतू बना लेते हैं उसे अपना मान लेने से उससे अपना मोह हो जाता है फिर उसके सुख-दुःख में हंसने-रोने लगते हैं। इसी मोह के माने हुए कल्पित रिश्तों का नाम संसार है। यह पुत्र, मित्र, यह शत्रु, यह पराया, यह अपना है आदि सब मोह के रिश्ते हैं। यह मोह ही शोक का कारण है।

जीव का मोह दो प्रकार से प्रकट होता है।

यही दो माया के प्रमुख माध्यम हैं—

(1) अहंता,

(2) ममता।

अहंता का अर्थ है अपने वास्तविक मैं को भूलकर गलत मैं को मैं समझ बैठना और उसके आकर्षण में ऐसा अंधा हो जाना कि अपने वास्तविक मैं को पूर्णतया अथवा प्रमुखतया विस्मृत और तिरस्कृत करते रहना। यह अनात्म को आत्म समझ बैठना, यह शरीर को आत्मा समझ बैठना है। शरीर के आकर्षण में अंधे होकर इसी के नहाने-धोने, सजाने-संवारने, वस्त्रालंकार पहनाने, खाने-पीने, रहने, रक्षा करने, इसी के मान-अपमान की चिन्ता करते रहने, इसी के सौन्दर्य और बल का घमण्ड करने, इसी को ही असली मैं समझकर वास्तविक मैं (आत्मा) का तिरस्कार करते रहने का नाम शरीर मोह, देहासक्ति, देहबुद्धि, देहाध्यास, अहंता, अहंकार, अहंभाव आदि कहा जाता है। यही अहंता शरीर और शरीर से सम्बन्धित अन्य अनात्म पदार्थों में भी फैल जाती है। किसी को धन का अहंकार, किसी को तन का अहंकार, किसी को सूक्ष्म बुद्धि का अहंकार, किसी

को कला का अहंकार, किसी को विद्वत्ता का अहंकार, किसी को योगसिद्धियों का अहंकार है। ये अहंकार स्थूल शरीर से शुरू होकर धीरे-धीरे सूक्ष्म मन, बुद्धि, चित्त और अहं भाव तक बना रहता है। जब तक जीव यह मानता है कि जो कुछ वह करता है वह उसके देह पिण्ड तथा उससे सम्बन्धित उसका व्यष्टि मैं कर रहा है जो समष्टि या सर्वात्मा से भिन्न है या विश्वात्मा से भिन्न है तब तक उसका अहंता का मोह बना रहता है।

सर्वात्मभाव से सर्व के हित के लिए किया गया कोई भी संकल्प भागवत संकल्प बन जाता है और उस संकल्प से किया हुआ कर्म भागवत कर्म, दिव्य कर्म, ईश्वरीय कार्य, राम काज, विश्वमंगल का कर्म बन जाता है।

व्यष्टि ने व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए या सीमित हितसाधना के लिए व्यक्तिगत या वर्गगत ईर्ष्या-द्वेष के भाव से अपने कर्तापन के अहंकार को रखकर कर्म के प्रति संग रखते हुए यह मेरा कर्म है अतः इससे मुझे पुरस्कार या प्रतिष्ठा मिलनी चाहिए यह सूक्ष्मभाव मन में रखकर जो कर्म किया वह जीवात्मा को अहंकारयुक्त कर्मबंधन में बांधने वाला कर्म है। व्यष्टि भाव से कृत कर्म अहंकार का पोषण करते हैं, जीव को संसार से बांधते हैं और परमेश्वर से विलग कर देते हैं। समष्टि भाव से किए हुए कर्म अहंकार का विलय कर देते हैं, जीव को बंधन मुक्त करके भगवान् से मिला देते हैं। वह अपने तुच्छ मैं को त्यागकर अपने सच्चे अमर अविनश्वर विराट् मैं को प्राप्त कर लेता है।

मोह का दूसरा माध्यम ममता है—यदि अहंता गलत मैं है तो ममता गलत मेरा है। Me is false I. Mum is false my. गलत मेरा का मूल आधार गलत मैं ही है। यदि मैं को पहचानने में गलती नहीं होगी तो मेरा की भूल हो ही नहीं सकती। प्रायः मानव जब शरीर को मैं कहता है तो शरीर के सम्बन्ध से अन्य वस्तुओं और व्यक्तियों को मेरा मान बैठता है। जैसे वेश मेरा, ताज मेरा, मेरा आभूषण, मेरा घर, मेरा धन, मेरा मकान, मेरा वाहन, मेरा मित्र-शत्रु, मेरा सम्बन्धी, मेरा अपना, मेरा पराया! ये सब भ्रान्त मान्यताएं उस मूलभ्रान्ति पर टिकी हैं कि मैं शरीर-मन-बुद्धि-चित्त और अहंकार का समूह हूं। स्थूलरूप से शरीर को मैं कहते रहते हैं किन्तु शरीर से आगे प्राणों तक सब सम्बन्ध माने जाते हैं। जिस पति को मेरा पति कहकर सम्बोधन किया जाता है उसके प्राण निकल जाने पर पत्नी छाती पीटकर विलाप करती है—हाय! मेरा पति चला गया। यदि शरीर ही पति होता तो वह तो सामने ही पड़ा रहता है, किन्तु वह कहती है नहीं वो तो मुझे छोड़कर चले गए। यदि शरीर ही माता-पिता, गुरु-आचार्य होते तो माता-पिता, गुरुजनों के मरने पर उनके शरीर का अग्निसंस्कार करने वाले प्रत्येक व्यक्ति को मातृहत्या, पितृहत्या, गुरुहत्या का पाप लगता। इससे स्पष्ट है कि

शरीर वास्तविक मैं नहीं है तथा उस पर टिके हुए सारे मेरे के सम्बन्ध भी भ्रामक हैं। यदि मैं सही हो तो मेरा भी सही हो। और यदि मैं गलत है तो मेरा कभी सही हो ही नहीं सकता। जिस शरीर के निमित्त से अन्य वस्तुओं को मेरा कहा जाता है वह शरीर यदि मेरा होता तो मैं अपने साथ लाता और संसार से वापस जाते समय अपने साथ ले जाता। शरीर की कहानी माता के गर्भ में शुक्र के सूक्ष्मातिसूक्ष्म कीड़े से प्रारम्भ होती है। शुक्र से भ्रूण, भ्रूण से शिशु, शिशु से बाल, बाल से बालक, बालक से किशोर, तरुण, युवक, प्रौढ़, वृद्ध, रोगी, मृत्यु और फिर, श्मशान भूमि का रज-कण। इसमें आखिर, किसको मैं कहा जाए?

जिस धन को मेरा-मेरा कहकर संसार में कलह, संघर्ष, छीना-झपटी, चोरी-डकैती और मारकाट मची हुई है क्या वह धन मेरा है! कोई व्यक्ति एक कौड़ी लेकर आया नहीं और एक छदाम लेकर जा नहीं सकता।

श्रीरामकृष्ण परमहंस कहते हैं कि भगवान् दो बार हंसते हैं। एक तो तब जब दो भाई हाथ में रस्सी लेकर जमीन को मापते हैं और कहते हैं यह भूमि का टुकड़ा मेरा है यह तेरा, तो भगवान् हंसते हैं कि अपने तन की मिट्टी पर तो तुम्हें अधिकार है नहीं और धरती की मिट्टी पर व्यर्थ मेरा-मेरा कहकर अहंता जता रहे हो। दूसरे जब कोई डॉ. छाती पर हाथ रखकर गर्व से कहता है मैं इस रोगी को बचा लूंगा तो भगवान् उस भोले डॉक्टर पर हंसते हैं, डॉक्टर! जब तेरी फूंक निकल जाएगी तो अपने आपको बचा लेना। यह डॉक्टर का मिथ्या अहंकार है। वास्तव में Doctor treats God saves मानव की अहंता और ममता रूपी मोहमयी मूर्खता पर भगवान् हंसते हैं।

किन्तु मानव कांचन और कामिनी के लाभ-लोभ में पागल बना हुआ सब प्रकार के पाप, अनर्थ और अपराध करने में तनिक भी लज्जित नहीं होता। संसार का समस्त ऐश्वर्य ईश्वर का ही है, सारा वैभव विभु का ही है, समस्त लक्ष्मी नारायण की है अत: मेरेपन के लिए कोई स्थान ही नहीं है।

जिन सम्बन्धियों को हम ममतावश इदं मम (यह मेरा है) कह-कहकर अपने हृदय के प्रेम बंधन में बांधने का प्रयास करते हैं, वे सभी हमारे जीवन में किसी दिन अकस्मात् आ गए थे और किसी दिन अकस्मात् ही छोड़कर हमें वियोग के गर्त में डालकर, हमें धोखा देकर, हमारे संग से दूर अथवा संसार से दूर चले जाते हैं। यदि वे सचमुच हमारे होते तो तीनों काल में हमारे ही रहते। जो अभी मेरा है कुछ क्षण बाद नहीं रहेगा, वह वास्तव में धोखा ही है।

महर्षि वेदव्यास जब अपने ब्रह्मज्ञानी पुत्र शुकदेव के जन्मते ही संसार से विरक्त होकर जंगल की ओर भागने पर उनके पीछे-पीछे हे पुत्र! हे पुत्र! पुकारते हुए दौड़ते जा रहे थे, तब जंगल के वृक्षों ने भी हे पुत्र! हे पुत्र! की प्रतिध्वनि करना

प्रारम्भ किया। वृक्ष मानो वेदव्यासजी का उपहास करते हुए कह रहे थे कि इस विराट् विनाशी विश्व में कौन किसका पिता है और कौन किसका पुत्र है। अनेकों बार तुम किसी के पुत्र बने और अन्य जन्मों में उसके पिता बन गए। जैसे नाटक में पर्दे के पीछे वेश बदलकर कभी किसी का पुत्र, कभी किसी का पिता बन जाता है। पति-पत्नी का नाटक खेलने लगता है, किन्तु वास्तव में वह इन सब सम्बन्धों से अलिप्त होता है। उसी प्रकार यह निर्लिप्त वीतरागी बाल ब्रह्मचारी शुकदेव किसी का पुत्र नहीं है।

इस संसार में हमारे हजारों माता-पिता हुए, सैकड़ों पुत्र-स्त्री आदि हुए और इस प्रकार काल के चक्र में हमारे अनेक सम्बन्ध बने और मिटे। इन सम्बन्धों से मूढ़ व्यक्ति ही प्रभावित होता है, विचारवान नहीं।

अहंता और ममता में परस्पर अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। इन दोनों में अधिक आधारभूत अहंता ही है। यदि अहंता की भूल न हो तो ममता को टिकने का स्थान ही न मिले। किन्तु अहंता से उपजी हुई ममता अहंता का पोषण कर उसे इतना बलवान बना देती है कि उस अहंकार को जीतना बड़े-बड़े साधकों के लिए अति दुष्कर कार्य बन जाता है। कई बार साधक व्यक्तिगत अहंकार को मिटाने, उसको कम करने, उसको धीरे-धीरे समाप्त करने का सफल प्रयत्न भी करता है किन्तु अहंता का किला जब आधा या तीन-चौथाई जीता जा चुका होता है तब अचानक ममता की चतुरंगिणी सेना उसकी मदद के लिए पहुंच जाती है और इससे हारता हुआ अहंकार पुनः विजय का डंका बजाने लगता है। जैसे पिता से उत्पन्न पुत्र पिता पर आधारित होता है किन्तु पिता के दुर्बल होने पर पिता का आधार बन जाता है। उसी प्रकार ममता, अहंता के आधार पर अहंता से पैदा होती है। किन्तु अहंता के दुर्बल या नष्टप्राय होने पर पुनः उसकी सहायता कर उसको प्रबल रूप में बढ़ा देती है। इसलिए बड़े-बड़े वीतरागी साधक का भी अपने पूर्व आश्रम के सम्बन्धों की स्मृति चर्चा, प्रासंगिक दर्शन-स्पर्शन से पुनः मिटा हुआ अहंकार, जाग उठता है। कई बार मरी-मिटी हुई ममता, अहंता के कारण फिर से जी-उठती है। जैसे कपूत को उसकी करतूतों के कारण घर से निष्कासित कर देने पर भी उसको देखते ही मां की ममता पुनः जाग उठती है। जब तक मैं बनी हुई है तब तक त्यागा हुआ मेरा भी पुनः मेरा बनकर मन पर आक्रमण कर बैठता है। इस प्रकार अहंता और ममता परस्पर एक-दूसरे का पोषण करती रहती है। दोनों में से किसी एक के दुर्बल होने पर दूसरा तुरन्त सहायता कर देता है। यह अहंता और ममता का विषमचक्र बड़ा विचित्र है। एक के छूटते-छूटते मनुष्य दूसरे में फंस जाता है और दूसरा पुनः पहले को अपने पास घसीट लाता है। इन दोनों से बचने का उपाय भगवद्गीता बताती है।

मोह से शोक—मोह अहंता और ममता के माध्यम से जीव को मुग्ध करके सत्य के प्रति अंधा या बेहोश बना देता है।

(क) जीव जब यह मान बैठता है कि मैं शरीर ही हूं तो उसे शरीर के पोषण की चिन्तायें आ घेरती हैं। हाय! संध्या का भोजन कैसे मिलेगा? हाय! कल क्या होगा? भावी दु:खों की कल्पना से चिन्ता होने लगती है। ये शोक से पहले शोक को आमंत्रण है।

(ख) शरीर देश से परिच्छिन्न है। अत: एक ही समय में यत्र-तत्र सर्वत्र नहीं हो सकता। यह देश की सीमा भी उसे शोकसंविग्न कर देती है। काश! मैं वहां पहुंच सकता। अफसोस कि मैं आपसे शरीर से दूर हूं। मुझे शोक है कि एक ही समय में मैं रांची, मुंबई और जोधपुर में नहीं हो सकता।

(ग) शरीर क्षण-क्षण परिवर्तनशील है। इसकी अवस्थायें बदलती रहने से भी शोक होता है। जवान रोता है कि हाय! बचपन चला गया, वृद्ध कहता है हाय, जवानी छिन गई, रोगी रोता है कि स्वास्थ्य छिन गया। मरणासन्न व्यक्ति रोता है कि प्राण छीना जा रहा है। इस प्रकार शरीर को मैं मान लेने से शोक से छुटकारा नहीं है।

(घ) गीता में भगवान् ने कहा है कि शरीरधारी को जन्म-मृत्यु, जरा-व्याधि में दु:ख और दोष का दर्शन होता रहता है।

जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधि,-दु:ख-दोषानु-दर्शनम्।। 13/8

रोग और मृत्यु शोक के दो बड़े हेतु हैं। इन दोनों की कल्पना से भी जीव शोक में डूब जाता है।

(ङ) मनुष्य जिन वस्तुओं को मेरा समझता है वस्तुत: वे उसकी पूंजी नहीं है। और सदा उसकी रहने वाली भी नहीं है। उन वस्तुओं के नाश की आशंका से भी शोक होता है। उन वस्तुओं के वास्तविक नाश पर व्यक्ति को ऐसा अनुभव होता है जैसे किसी ने उसे ही मार डाला।

(च) जिन व्यक्तियों को हम अज्ञानवश मेरा-मेरा कहते रहते हैं उनके रोग और मृत्यु की आशंका से भी शोक होता है और वास्तविक व्याधि और मरण पर भीषण शोक होता है।

मोह और प्रेम में अन्तर—किसी व्यक्ति या वस्तु के प्रति अज्ञानजनित अंधा आकर्षण ही मोह है। किसी व्यक्ति या तत्त्व के प्रति ज्ञानयुक्त नि:स्वार्थ, आत्मीय भाव ही प्रेम है। संसारी जन संसार के व्यक्ति और वस्तु के प्रति जिसे प्रेम कहते रहते हैं वह वास्तव में मोह ही है। मोह ही शोक का कारण है। प्रेम भक्ति का हेतु है और मुक्ति का कारण है। सच्चा प्रेमी वस्तुत: शोक में नहीं डूबता। मोही के शोक में जो आंसू गिरते हैं वह मन को व्यथित करने वाले, चित्त को अशांत करने वाले, हृदय को भीषण पीड़ा पहुंचाने वाले, मस्तिष्क को मरणांतक व्यथा देने वाले होते हैं। जैसे माता जवान बेटे की मृत्यु पर शोक में विलाप करती हुई स्वयं अधमरी हो जाती है।

इसकी तुलना में सच्चा प्रेमी या भक्त ज़ब प्रभु के वियोग में आंसू बहाता है तो प्रेम के आंसू बड़े शीतल होते हैं। मन-मस्तिष्क को शांत करने वाले होते हैं। हृदय को अपार आनन्द देने वाले होते हैं। इसलिए मीरा बाई के भजन गा कर या रामायण की कथा सुनकर जो प्रेमाश्रु निकलते हैं वे सुख की अपार अनुभूति के प्रतीक हैं। राम वनवास की कथा में आंसू बहाकर भी हर श्रोता यही कहता है कि आज कथा में बड़ा आनन्द आया।

मोह में कुछ काल के लिए स्वार्थ का रिश्ता रहता है। स्वार्थ पूरा होने-न-होने पर अथवा विपरीत भावना हो जाने पर वह मोहजनित प्रेम घृणा या वैर में बदल जाता है। सच्चा प्रेमी कभी भी किसी भी परिस्थिति में विकृत नहीं हो सकता। मोहजनित आकर्षण परिस्थिति सापेक्ष होता है। जब तक पुरुष कमाता है उसका घर के सभी लोग आदर करते हैं। वही जब वृद्ध, रोगी, असहाय हो जाता है तो घर की पत्नी, बच्चों के लिए बोझा बन जाता है। सच्चा प्रेम परिस्थिति निरपेक्ष होता है वह सदा एकरस रहता है। दु:ख में, सुख में, हानि में, लाभ में सदा एकसमान रहता है।

मोहजनित प्रेम स्वार्थ पर आधारित होने के कारण भय से दब जाता है और प्रलोभन पर बिक जाता है। सच्चा प्रेम न भय से कांपता है न प्रलोभन पर अपना ईमान बेचता है—

धरा में धंसा दो सूली फांसी पर चढ़ा दो चाहे
मिट्टी में मिला दो या गिरा दो गगन से
तेग तलवार तेज तीर से तराशो तन्न
छूटेगी न लगी जो लगन प्राणधन की।

मोहजनित आकर्षण बहिरंग या मानस आकर्षण होता है। सच्चा प्रेम अंतरंग, आध्यात्मिक प्रेम होने के कारण स्थायी होता है।

मोहजनित आकर्षण मर्त्य का मर्त्य से मर्त्य प्रेम होता है। आत्मिक प्रेम अमर का अमर वस्तु से अमर सम्बन्ध होता है।

मोह से शोक की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया—मोह द्वारा किस प्रकार शोक पैदा होता है इसको समझने के लिए शोक उत्पत्ति की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया को जान लेना चाहिए। भागवत संकल्प से सृष्टि होती है। जीव के संकल्प से उसका अपना मित्र-शत्रु, सम्बन्ध का संसार रचा जाता है। जैसे महाप्रलय में सारी सृष्टि लय हो जाती है उसी प्रकार प्रतिदिन जीव के सुषुप्तिकाल में उसका संकल्प रुक जाने पर उसकी अपनी रची हुई मित्र-शत्रु सम्बन्धों की सृष्टि भी लय हो जाती है। गहरी निद्रा में न अहंता बचती है न ममता। अहंता-ममता का संसार लुप्त हो जाता है।

योगी जब समाधिवस्था में होता है तब उसकी वृत्तियां रुक जाती हैं। उसके लिए भी संसार का लय हो जाता है किन्तु समाधि खुलने पर पुनः संसार अपने द्वन्द्वों सहित मन पर आक्रमण करता है। इसकी तुलना में जो ब्रह्मज्ञान की ज्ञानसमाधि में रहता है, ब्राह्मी स्थिति में स्थितप्रज्ञ हो जाता है उसे चलते-फिरते, उठते-बैठते नाम-रूपात्मक संसार के पीछे सर्वत्र ब्रह्म तत्त्व का दर्शन होता है। अतः वह मोह-ममता से मुक्त हो जाता है।

ईश्वर की माया स्वयं ईश्वर को मुग्ध नहीं करती किन्तु जीवों को मुग्ध करती है। जीव की माया, ममता स्वयं जीव को मुग्ध करती है, उससे सम्बन्धित अन्य जीवों को भी प्रभावित करती है। किन्तु ईश्वर को प्रभावित नहीं कर सकती।

ईश्वर न माया के वश में है न मोह के वश में। जीव ईश्वर की माया के वश में भी है और अपनी माया (मोह) के वश में भी है। जब ज्ञानसमाधि में वह परमेश्वर के साथ अपने मन के तार को जोड़ लेता है तब वह ईश्वरीय माया और व्यक्तिगत मोह-ममता, दोनों से मुक्त हो जाता है।

ईश्वर के रचे हुए संसार में अनेक घटनाएं घटती रहती है। अनेक मिलन-वियोग होते रहते हैं। जन्म और मृत्यु, विकास और विनाश की अनवरत लीला चलती रहती है। किन्तु उससे जीव को कोई हर्ष या शोक नहीं होता। जंगल के वृक्षों ने महर्षि वेदव्यास को यह भी संकेत दिया कि हमारे फल हमारे पुत्र के समान हैं, उन्हें लोग तोड़कर ले जाते हैं या वे गिर जाते हैं तो हम उनके लिए शोक नहीं करते। प्रतिदिन मिटने वाले बुलबुलों के लिए कौन शोक करता है। प्रतिदिन संसार में हजारों जीव जन्म ले रहे हैं और हजारों मर भी रहे हैं। किन्तु उनका हमारे मन पर कोई प्रभाव नहीं होता।

जब हम ईश्वर की सृष्टि के भीतर उससे पृथक् अपनी माया-ममता की अपनी एक अलग सृष्टि रच लेते हैं और उस सृष्टि में किसी को अपना पुत्र, पति, मित्र, बंधु मान लेते हैं तो हमारी मानसिक सृष्टि में मोह की दुनिया निर्मित हो जाती है। हम अपने उस चुने हुए परिचित ममता के घेरे में आने वाले लोगों, व्यक्तियों या वस्तुओं को अपना या तेरा-मेरा मानने लगते हैं। ईश्वर की सृष्टि में कोई व्यक्ति या वस्तु नष्ट हो जाए और हमें सूचना न मिलने के कारण हमारी ममता की सृष्टि में वह व्यक्ति या वस्तु बनी रहे तो हमें कभी शोक नहीं होता। हमें शोक तब होता है जब हमारी मानसिक सृष्टि में हमारी ममता से रची हुई उस व्यक्ति या वस्तु की काल्पनिक मूर्ति टूटती है। उदाहरण—एक स्त्री का पति महायुद्ध में मारा गया, किन्तु दस साल तक उसे कोई सूचना नहीं मिल सकी। वह निरन्तर अपने आपको सुहागिन मानकर मांग में सिंदूर भरती रही और सब व्रत-नियम, खुशी-खुशी करती रहती है। दस साल पश्चात् उसे पत्र मिलता है कि बहुत खोज के बाद यह अन्तिम

पुष्ट सूचना दी जा रही है कि उसका पति दस साल पूर्व अमुक स्थान पर युद्ध में मारा गया था। सूचना मिलने पर वह भीषण शोक से ग्रस्त होकर छाती पीटने लगती है। चूड़ियां तोड़ देती हैं, मांग पोंछ डालती हैं और भयंकर विलाप करती है। वास्तव में वह जिस पति के लिए विलाप कर रही है वह तो भगवान् की सृष्टि में दस वर्ष पूर्व ही नष्ट हो चुका था। किन्तु पत्नी की मानसिक सृष्टि में, उसके ममता के संसार में जीवित था। पत्र मिलते ही उसके मन की कल्पना से निर्मित पति की मोहमयी मूर्ति टूट गई। इसलिए शोक भगवान् की सृष्टि में मृत्यु से नहीं हुआ बल्कि स्वयं अपनी निजी मानसिक सृष्टि में मोह की मूर्ति के टूटने से हुआ।

कई बार भगवान् की माया सृष्टि में व्यक्ति या वस्तु का नाश नहीं होता और व्यक्ति की मोहरचित सृष्टि में काल्पनिक विनाश हो जाता है और जीव अकारण ही प्राणान्तक शोक में डूब जाता है। श्री अरविन्द के इंग्लैण्ड से भारत लौटते समय उनके पिता कृष्णघन घोष को जब यह उड़ती हुई अफवाह सुनाई गई कि जिस जहाज से श्री अरविन्द आ रहे थे, वह दुर्घटनाग्रस्त हो गया है तो पुत्र के प्रति असीम मोह के कारण पिता के मन में बनी हुई पुत्र की ममतामयी मूर्ति खंडित हो गई और पिता का प्राणान्त हो गया! जबकि वास्तव में श्री अरविन्द पूर्णतया सुरक्षित थे। इस प्रकार शोक या दुःख का वास्तविक कारण मोह ही है। भागवत सृष्टि में जन्म या मृत्यु से न भगवान् को दुःख-सुख होता है और न जीव को। जीव अपने ही मोह के कारण सुख-दुःख भोगता है। गोस्वामी तुलसीदासजी ने लिखा है—

काहु न कोउ सुख दुःख कर दाता।
निज कृत करम भोग सब भ्राता।।

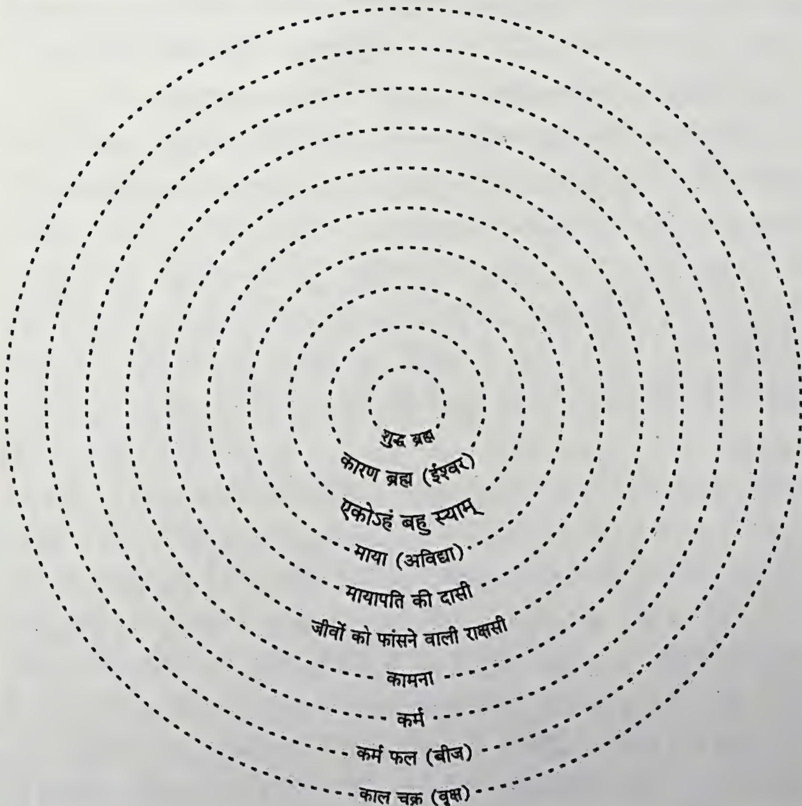
वनवास काल में श्री लक्ष्मणजी ने निषाद को लक्ष्मणगीता के नाम से यही उपदेश दिया है कि मनुष्य स्वयं ही अपने सुख-दुःख का कारण है।

गली में खेलता हुआ बच्चा अंधेरे में रस्सी को सांप समझकर जब चिल्ला उठता है हाय मां बचाओ तो तीन मंजिल पर मां तड़प कर बच्चे से भी अधिक वेदना से चीख उठती है, कभी तीन मंजिल से छलांग लगा देती है या कभी बेहोश होकर गिर पड़ती है। अब विचार कर देखा जाय तो बच्चे को वास्तविक सांप ने तो डसा नहीं। उसे तो केवल रस्सी के सांप ने डसा था। किन्तु मां को कौन-से सांप ने डस लिया। निश्चय ही मोह के सांप ने डस लिया।

इस प्रकार मोह ही शोक का वास्तविक कारण है। जो मोह मुक्त है वह शोकमुक्त है। सारी महाभारत में अनेकानेक लोगों के मरने पर अनेकों ने आंसू बहाए किन्तु भगवान् श्रीकृष्ण का मंद-मंद मुस्कराता हुआ मुखारविंद सदा प्रफुलित रहा। जिसको मोह नहीं उसको शोक कैसे हो सकता है?

मोह के नाना रूप—मोह अज्ञान का ही दूसरा नाम है। अतः मोहांध व्यक्ति अज्ञानतिमिर से अंधा कहा जाता है। जिस प्रकार उलूक को दिन का उज्ज्वल प्रकाश दिखाई नहीं देता उसी प्रकार मोहांध धृतराष्ट्र, गांधारी, दुर्योधन आदि को न भगवान् श्रीकृष्ण का भागवत रूप दिखाई देता है, न वेदव्यास का धर्मोपदेश या विदुर एवं भीष्म का न्याय नीति का उपदेश ही रुचता है। पश्चिम के भौतिकवादियों को आत्मा-परमात्मा का सहज विश्वास ही नहीं होता। पूर्व के आध्यात्मिक देशों के भी बहुसंख्यक लोग भौतिक सुख-भोग, ऐश्वर्य के मद में इतने अंधे हैं कि उन्हें भी स्वयं अपना आप (आत्मा) न अनुभव होता है न दिखाई देता है। अज्ञान का दूसरा नाम ही अविद्या है।

(ख) ईश्वर के दृष्टिकोण से माया उसकी सर्जना शक्ति है किन्तु जीव की दृष्टि से माया महाठगिनी है। मोह-ममतामयी, अज्ञान अविद्यारूपिणी, देहाध्यास-कारिणी, देह-गेह-नेहबंधनकारिणी परमेश्वर से विलग करने वाली अवांछनीय यवनिका (पर्दा) है।



जीवात्मा जब मोहवश अपने शुद्धात्मा स्वरूप को भूल बैठता है तब देहात्म-भाव से उसके देह, मन, चित्त, अहंकार में मैं और मेरा का भाव पैदा हो जाता है। देह, इन्द्रिय, मन आदि अपने शुद्ध आप्तकाम पूर्णकाम रूप को भूलकर सांसारिक विषयों की कामना करने लगते हैं। इस प्रकार मोह से (अज्ञान से, अविद्या से) काम पैदा होता है। जैसे चक्रवर्ती सम्राट् का पुत्र अपने राज्याधिकार को भूलकर तथा अपनी जेब में पड़े हुए 10 हजार के नोट को भूलकर अज्ञानवश गली-कूचे में भीख मांगने लगे। उसी प्रकार सर्वशक्तिमान निखिल ब्रह्माण्ड के स्वामी परमपिता परमेश्वर के अमर साम्राज्य का उत्तराधिकारी होते हुए भी यह जीव अज्ञानवश मोहवश अपने निज के शरीर के लिए और निज के सम्बन्ध से मेरा कहलाने वाले परिवारजनों या मित्रजनों के स्वार्थ के लिए कामना का भिक्षापात्र लिए दर-दर भटक रहा है।

(घ) कामना की पूर्ति होते जाने से लोभ बढ़ता जाता है। लोभ काम का साझीदार और उत्तेजक है। काम में बाधा आ जाने पर क्रोध पैदा हो जाता है। क्रोध काम का अधिक उग्र भयंकर भाई है। यदि काम दुर्योधन है तो क्रोध दुःशासन है। भगवान् ने गीता में काम, क्रोध, लोभ इन तीनों को नरक का द्वार माना—

त्रिविधं नरकस्येदं, द्वारं नाशन-मात्मनः।
कामः क्रोधस्-तथा लोभस्,-तस्मा-देतत् त्रयं त्यजेत्।। 16/21

'काम, क्रोध और लोभ तीन नरकद्वार हैं, जो आत्मा का नाश करने वाले हैं। इसलिए हे अर्जुन! इन तीनों को त्याग दो।'

(ङ) भगवान् ने पांच महान् शत्रु (काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार) में से यहां तीन ही प्रमुख विकारों को गिनाया है। इसका कारण यह है कि अहंकार (अहंता) और मोह (ममता) के बिना कोई कामना पैदा ही नहीं हो सकती। पंच-शत्रुओं में अहंकार सबसे सूक्ष्म और चार अन्दर की इन्द्रियों (अंतःकरण चतुष्टय) में से अहंकार सबसे सूक्ष्म इन्द्रिय भी है। जब जीव कहता है मेरी हार्दिक कामना है तो वह अहंकारयुक्त जीवात्मा की ही कामना है। जब वह कहता है कि मैं दुःखी हूं तो अहंकार ही दुःख अनुभव कर रहा है। जब कहता है मुझे और धन-ऐश्वर्य चाहिए, अहंकार ही लोभ कर रहा है। जब कहता है हाय, मेरे बच्चों का क्या होगा, अहंकार ही ममता का विस्तार कर रहा है। अहम् एक ओर अपने सुख-दुःख को पहचान रहा है तब ज्ञानेन्द्रिय का कार्य कर रहा है। वहीं अहम् जब कामना से प्रेरित होकर कर्म करता है तब कर्मेन्द्रिय के रूप में कार्य कर रहा है। इस अहम् से भय पैदा होता है इसलिए अहंता से ममता पैदा होती है। कुछ लोग मोह को ही ममता कहकर उसे पंच-महारिपुओं में गिनते हैं।

किन्तु मोह वास्तव में मूल अज्ञान या अविद्या है जो अहंता-ममता के माध्यम से प्रकट होता है।

(1) मोह (ममता के अर्थ में) पांच-महारिपुओं में से एक।

(2) मोह (मूल अविद्या, अज्ञान, माया के अर्थ में) सभी रिपुओं, सभी सम्बन्धों, समग्र संसारचक्र का मूल कारण।

(च) जिस वस्तु या व्यक्ति के प्रति मोहजनित आकर्षण हो जाता है उसके प्रति लगाव, राग या ममत्वभाव हो जाता है। उसे हम अपना समझकर उसके दोषों, अपराधों और पापों पर आंख बंद कर लेते हैं या मोह के कारण हमारी आंखें अपने आप बंद हो जाती हैं। धृतराष्ट्र को अंधा होने के कारण पापी बेटों के कुकर्म प्रत्यक्ष आंखों से तो दिखाई नहीं देते थे, पर मन और अन्य इन्द्रियों द्वारा वह सब जानता था कि मेरे बेटे कैसे-कैसे भीषण पाप कर रहे हैं। किन्तु वह मोहांध पिता तन का अंधा होने के साथ वह नीति, मन, बुद्धि और विवेक का भी अंधा था। इसी प्रकार गांधारी मोहांध माता अपने दुष्ट दुराचारी बेटों के सब कुकर्मों पर जान-बूझकर आंखें बंद कर लेती थी और भगवान् श्रीकृष्ण जैसे धर्म-धुरीण दिव्य पुरुष को शाप दे बैठती है।

(छ) जिस व्यक्ति या वस्तु के प्रति अज्ञानजनित विकर्षण हो जाता है उसके प्रति द्वेषभावना जाग उठती है। उसके गुण भी दुर्गुण दिखाई देने लग जाते हैं। राग से मनुष्य प्रेमांध हो जाता है। द्वेष में क्रोधान्ध हो जाता है। राग से कुछ लोगों को कुछ सीमित व्यक्तियों को अपना मानकर उनके प्रति अनुचित रियायत करने लगता है और द्वेष से अपनों के अतिरिक्त अन्य जनों को पराया समझकर उनसे भेद करने लगता है। धृतराष्ट्र जब पूछता है, 'मामकाः पाण्डवाश्चैव' तो निश्चय ही वह केवल अपने बेटों को मामका कह रहा है और सगे भतीजों (पांडवों) को मेरे की परिधि से बाहर, पराया समझ रहा है। इस प्रकार मोह व्यक्ति को न्याय-नीति से अंधा बना देता है।

(ज) जब मैं कहने से शरीर, इन्द्रिय, मन आदि का बोध हो तो मानना चाहिए कि मैं मोहग्रस्त तथा अहंकार से बंधा हुआ है। जब मैं शब्द बोलने से सर्व के अन्तर के मैं का बोध हो तो मानना चाहिए कि ये अहंकारमुक्त है। सभी मानव अपने को मैं शब्द से ही सम्बोधन करते हैं। दूर वाला व्यक्ति जिसे 'वह' कहकर संकेत करता है सामने वाला व्यक्ति जिसे 'तुम' कहकर पुकारता है वह स्वयं अपने को 'मैं' कहकर परिचय देता है। अन्य प्राणी जो मूक हैं या जिनकी वाणी हम समझते नहीं उनमें भी मैं ही पिरोया हुआ है। चिड़िया स्वयं गाने लगी, घोड़ा स्वयं दौड़ने लगा, सर्प स्वयं फुफकारने लगा, मक्खी स्वयं

भिनभिनाने लगी आदि सब जीव मात्र में स्वयं पिरोया हुआ है। सब नाम और रूप, सब पृथक्-पृथक् हैं परन्तु सबमें स्वयं समान है। जिसका स्वयं सारे विश्व का स्वयं बन गया है, जिसका मैं सर्व का मैं बन गया हो वह सर्वात्मभाव से विश्वात्मभाव से बोलता, चलता और कर्मचेष्टा करता है। वह अहंकारमुक्त है। उसका मैं सारे विश्व के मैं में मिल चुका है। अहंकार को ग़लाने में ज्ञानयोग उपयोगी है।

आत्मदर्शी संत लखासिंह के शब्दों में—

धूल से गंदली हुई यह नहीं है तेरी मैं,
भूल से बदली गई यह नहीं है तेरी मैं,
तेरी मैं में सबकी मैं और सबकी मैं में तेरी मैं,
जब तक नहीं बनती वह मैं तब तक बनी रहती यह मैं!

(झ) गलत मैं के समान गलत मेरा का चक्र बड़ा विचित्र है। विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर कहते हैं कि संसार की वस्तुओं को बांधने-बटोरने के लिए मैं प्रतिदिन शृंखला की कड़ियां बनाता गया और जब शृंखला बन गई तो देखा कि मैं स्वयं बंदी हो गया। संसार के सब सम्बन्ध उस शृंखला की कड़ियां हैं। यह मेरा पुत्र, मित्र, शत्रु, अपना-पराया सब कड़ियां हैं। इस ममता की शृंखला की कड़ियों से जीव बुरी तरह जकड़ा जाता है। वह संसार से छूटने के लिए जितना प्रयास करता जाता है उतना ही और उलझता जाता है।

दलदल में फंसे हुए हाथी के समान जितनी जोर से पांव मारकर दलदल से बाहर निकलना चाहता है उतना और गहरे ही गहरे धंसता जाता है। अहंता से भी अधिक व्यापक जाल ममता का है। ममता का उपचार यज्ञभाव से होता है। यज्ञ के मंत्रों में हम अनेक बार दोहराते हैं—'इदं न मम, इदं न मम' यह मेरा नहीं है यज्ञभाव है। जब मेरा कुछ नहीं है तो सब कुछ प्रभु का ही है। तो प्रभु की वस्तु में स्वामित्व भाव रखने का स्थान कहां है?

त्वदीयं वस्तु गोविन्दं तुभ्यमेव समर्पये।
गृहाण सम्मुखो भूत्वा प्रसीद परमेश्वर।

इस प्रकार के समर्पण से ममता नष्ट होती है।

कर्मयोग द्वारा—विनम्रता से सेवा करके कर्मों के फूल, कर्मफल का नैवेद्य, कर्मासक्ति एवं कर्तापन का अहंकार सभी कुछ भगवान् के चरणों में समर्पित करना। एक दार्शनिक मान्यता यह है कि सब कुछ प्रभु कर रहा है, मैं कुछ नहीं कर रहा हूं।

दूसरी दार्शनिक मान्यता यह है कि प्रभु के आदेशानुसार प्रकृति सब कुछ कर रही है। प्रभु केवल निर्लिप्त द्रष्टा हैं।

साधकावस्था में प्रकृति के चक्र में प्रकृति के साथ घूम रहा है और सिद्धावस्था में द्रष्टा बनकर प्रकृति की लीला का दर्शन कर आनन्द पा रहा है।

तीसरी दार्शनिक मान्यता यह है कि भगवान् यंत्री है मैं उनका यंत्र हूं। भगवान् रथी है, मैं उनका रथ हूं। भगवान् प्रेरक हैं, मैं उनका निमित्तमात्र हूं और उन अन्तर्यामी के आन्तरिक आदेशानुसार उन्हीं की प्रीति के लिए कर्मों की लीला कर रहा हूं।

श्रीमद्भगवद्गीता में मानव को अहंकार मुक्त करने के लिए यथा स्थान तीनों मान्यताओं को उचित महत्त्व दिया गया है।

इस प्रकार जब हम योग कर्म को अपनाते हैं तो मोह के दलदल से, कीचड़ से निकल जाते हैं और वैराग्य लाभ करते हैं। शास्त्रीय प्रवृत्ति को अपनाते हैं तो उसका पर्यवसान निवृत्ति में होता है। अगर प्रवृत्ति का पर्यवसान प्रवृत्ति में हो तो समझें हम कहीं त्रुटि पर हैं। विवेकयुक्त कर्म, निष्काम कर्म का परिणाम निर्वेद में, गुणातीत में नित्य सत्त्व की स्थिति में होता है। वैराग्य में यथार्थ स्थिति को पकड़ने की ताकत आ जाती है। यानी असत् को छोड़ एवं सत् को पकड़ने की ताकत आती है। संसार की असारता का बोध हो जाता है, उसकी वास्तविकता का बोध हो जाता है। अतः असत् को छोड़ने और सत् को पकड़ने की ताकत आ जाती है। तब देखे-सुने हुए लोक व परलोक दोनों के विषयों के प्रति वैराग्य उत्पन्न होता है, उनको छोड़ने की ताकत एवं आत्मा रूपी सत्य को पकड़ने की ताकत आ जाती है। और आत्मा में स्थित होने लगते हैं।

संसार वास्तव में असार है। स्वयं भगवान् गीता के नवें अध्याय के 33वें श्लोक में संसार के विषय में कहते हैं 'अनित्यमसुखं लोक'। तो जो संसार स्वयं अनित्य और असुखम् है वह शाश्वत सुख कैसे दे सकता है। पर हम परम्परा से इसमें सुख मान लेते हैं। इसलिए शास्त्रीय रीति से बुद्धिपूर्वक संसार में प्रवेश करेंगे तो उससे उपराम स्वाभाविक रूप से हो जाएंगे। क्योंकि हमारा-सबका अनुभव है शरीर-संसार अन्त तक टिकता नहीं और इसमें प्राप्त सुख अल्पकालिक है। इसलिए संसार की तुलना पागल गीदड़ी से की जाती हैं जिसके कान परम्परा से पिता पुत्र को पकड़ा देता है। वास्तव में संसार में वास्तविक सुख नहीं है। पर, इसके लिए सबको स्वयं के अनुभव से गुजरना पड़ता है दूसरे के अनुभव से काम नहीं चलता। अतः चाहे-न-चाहे पिता को पुत्र को कान पकड़ाना पड़ता है नहीं तो कहीं गलत दिशा में न चला जाए! उसके पतन का मार्ग न खुल जाए।

अतः शास्त्रीय रीति से विवेकयुक्त होकर संसार में प्रवेश करते हैं, प्रवृत्ति धर्म को स्वीकारते हैं तो उसका पर्यवसान निवृत्ति में होता है और सुने हुए और देखना-सुनना बाकी है उन सब विषयों में उपरामता आ जाती है।

अर्जुन उवाच

स्थित-प्रज्ञस्य का भाषा, समाधिस्थस्य केशव।
स्थितधीः किं प्रभाषेत, किमासीत व्रजेत किम्।।2/54

अर्जुन ने पूछा—हे केशव! समाधि में स्थित, स्थितप्रज्ञ के लक्षण क्या हैं? वह स्थिर बुद्धिवाला पुरुष किस प्रकार बातें करता है, कैसे बैठता है और कैसे चलता है?

श्लोक की पहली पंक्ति में स्थितप्रज्ञ के आन्तरिक स्वभाव के विषय में प्रश्न है, तो दूसंरी पंक्ति में बाह्य जगत् में उसके व्यवहार को जानने की जिज्ञासा है।

किसी भी वस्तु या व्यक्ति का परिचय कराने की दो विधि है। पहले अपना नाम, पता, योग्यता और क्या करता है वगैरह बताना। दूसरा तरीका है कि अमुक का पुत्र है ये-ये मेरे रिश्तेदार हैं। यह दो विधि है परिचय की। इसी दृष्टि से अर्जुन की स्थितप्रज्ञ के विषय में जिज्ञासा है कि वह स्वयं की दृष्टि से क्या है? और उसका जगत् के प्रति व्यवहार कैसा है। यानी प्रथम में स्थितप्रज्ञ की स्वयं अपनी दृष्टि से परिभाषा फिर दूसरों की दृष्टि से यानी जगत् में उसका व्यवहार कैसा होता है। इसमें स्थितप्रज्ञ यानी सिद्ध पुरुष के लक्षण के साथ-साथ साधक पुरुष का क्रम भी बतलाया है। ये जो लक्षण हैं यह साधक पुरुषों के द्वारा आचरणीय है, स्वीकारणीय है, साधना में उतार लेने योग्य हैं। इनको अपने जीवन में जोड़कर साधक सिद्धि की ओर अग्रसर हो सकता है। और ये लक्षण महापुरुष को पहचानने में सहायक होते हैं। सिद्ध पुरुष की पहचान होते हैं और जो साधक है वह इन लक्षणों के द्वारा साधना से सिद्धि की ओर अग्रसर होता है। इस श्लोक में स्थितप्रज्ञ के साथ समाधिस्थ शब्द का प्रयोग हुआ है। यह योग की समाधि नहीं योग की समाधि यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान के बाद समाधि आती है। यहां समाधि का अर्थ सम+धि यानी समता में स्थित बुद्धि से है। ज्ञानी पुरुष के लक्षण न रटने के लिए बताये जा रहे हैं, न दूसरों पर परीक्षण करने के लिए कि वह ज्ञानी है या नहीं वरन् अपनी उन्नति के लिए, अपने में लाने का प्रयास करने के लिए बताये जा रहे हैं जिससे हम भी उस स्थिति में पहुंच सकें।

अर्जुन पहली बार अपने से ऊपर उठकर प्रश्न पूछ रहा है। पहली बार अर्जुन, अर्जुन की तरह नहीं पूछ रहा है, पहली बार श्रीकृष्ण को छूने का प्रयास कर रहा है। पहली बार श्रीकृष्ण के निकट होकर पूछ रहा है। अब तक के जो भी प्रश्न

थे, अत्यन्त रोगग्रस्त चित्त से उठे प्रश्न थे। अब तक जो प्रश्न थे, वे अर्जुन के 'जस्टिफिकेशन' के लिए थे। वह जो चाहता था उसके ही समर्थन के लिए थे। अब तक जो प्रश्न थे, उनमें अर्जुन ने चाहा था कि श्रीकृष्ण, वह जैसा है, वैसे ही अर्जुन के लिए कोई 'कंसोलेशन', कोई सांत्वना दे।

इस प्रश्न से अर्जुन की वास्तविक जिज्ञासा शुरू होती है। अब तक अर्जुन जिज्ञासा नहीं कर रहा था। अब तक अर्जुन श्रीकृष्ण को ऐसी जगह नहीं रख रहा था, जहां से उसे कुछ सीखना-जानना है। अब तक अर्जुन श्रीकृष्ण का उपयोग एक 'जस्टिफिकेशन' में एक 'रेशनलाइजेशन' में युक्तियुक्त हो सके उसका अपना ही खयाल उसके लिए कर रहा था।

आवश्यक नहीं हमारे प्रश्न सदैव जिज्ञासा से प्रेरित हों। बहुत बार हमारे प्रश्न सिर्फ 'कन्फर्मेशन' के लिए आते हैं, किसी दूसरे के प्रमाण को अपने साथ जोड़ लेने के लिए आते हैं। महात्मा बुद्ध एक दिन गांव में प्रविष्ट हुए। एक आदमी ने पूछा, ईश्वर है? बुद्ध ने कहा, 'नहीं, कहीं नहीं है, कभी नहीं था, कभी नहीं होगा।' स्वभावतः वह आदमी कांप गया। उसने कहा, क्या कहते हैं आप! ईश्वर नहीं है? बुद्ध ने कहा, 'बिलकुल नहीं है।'

दोपहर एक आदमी आया और पूछा कि मेरी दृष्टि में ईश्वर नहीं है, आपका क्या अभिमत है, बुद्ध ने कहा, ईश्वर ही है। इसके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं। उस आदमी ने कहा—क्या कहते हैं, मैं तो यह सोचकर आया था कि बुद्ध नास्तिक है।

सांझ एक और आदमी आया और उस आदमी ने बुद्ध से कहा कि मुझे कुछ भी पता नहीं, ईश्वर है या नहीं। आप क्या कहते हैं? बुद्ध ने कहा, मैं भी कुछ न कहूंगा। मैं भी चुप रहूंगा। उसने कहा, नहीं-नहीं, कुछ तो कहें। बुद्ध ने कहा, मैं कुछ न कहूंगा।'

तीनों समय पास में आनन्द भी था। तीन बार के तीन उत्तरों से विचलित हो गया। भगवान् बुद्ध ने कहा, प्रश्न तुम्हारे नहीं थे अतः ये उत्तर भी तुम्हारे लिए नहीं। फिर भगवान् बुद्ध ने स्पष्ट किया, वे जिज्ञासा के लिए नहीं, वे तो अपनी धारणा बनाकर आये थे, उसमें मेरी स्वीकृति भर चाहते थे, मेरा उपयोग करने आये थे, मुझसे सीखने या जानने नहीं। वे तो सिर्फ एक सर्टिफिकेट चाहते, प्रमाण-पत्र चाहते थे कि जो मैं कहता हूं, वही बुद्ध भी कहते हैं।

अर्जुन भी ऐसे ही बोलता रहा इस प्रश्न के पहले तक। जैसे उसे पता है कि क्या ठीक है, क्या गलत है? चाहता था इतना कि श्रीकृष्ण हामी भर दे, गवाह बन जाये तो कल वह जगत् को कह सके कि मैं ही नहीं भागा, श्रीकृष्ण ने भी

कहा था। मैंने युद्ध नहीं छोड़ा, श्रीकृष्ण से पूछो। 'रिस्पांसबिलिटि' बांटना चाहता था, दायित्व बांटना चाहता था। उसके भीतर कम्पन है। सबका पता उसको भी नहीं था, इसलिए दूसरे का, श्रीकृष्ण का सहारा चाहता है। लेकिन यह बताना भी नहीं चाहता कि मुझे पता नहीं है। यह अहंकार भी छोड़ना नहीं चाहता कि मुझे पता नहीं है। अर्जुन पूरे समय ऐसे बोल रहा है, जैसे उसे भली-भांति पता है—धर्म क्या है? अधर्म क्या है? पाप क्या है, पुण्य क्या है, श्रेयस क्या है, जगत् का किससे लाभ होगा, किससे नहीं होगा, कौन मरेगा, कौन नहीं मरेगा; सब उसे पता है। पता बिलकुल नहीं है, लेकिन अहंकार कहता है, पता है। इसी अहंकार में वह भगवान् श्रीकृष्ण की भी मुहर लगवा लेना चाहता था, तुम भी बन जाओ लंगड़े की बैसाखी, यह वह चाहता था।

अब वह पहली बार श्रीकृष्ण से जिज्ञासा कर रहा है, जिसमें अपने लिए समर्थन नहीं मांगता है। जहां विनय है, वहीं जिज्ञासा है। और जहां विनय है वहां ज्ञान का द्वार खुलता है। जहां अपने अज्ञान का बोध है, वहीं से मनुष्य ज्ञान की तरफ यात्रा शुरू करता है। इस वचन में श्रीकृष्ण ज्ञानी और अर्जुन अज्ञानी, ऐसी अर्जुन की प्रतीति पहली बार स्पष्ट है। इसके पहले अर्जुन भी ज्ञानी था। श्रीकृष्ण भी ज्ञानी पर वह उनकी दृष्टि में दो नम्बर के ज्ञानी, भले ही संसार में प्रसिद्धि प्रथम ज्ञानी के रूप में हो।

एक बार गांधीजी 'गोलमेज कांफ्रेंस' के लिए लंदन गये। उनका एक भक्त बर्नाड शा को मिलने गया। और उन्होंने गांधीजी के विषय में पूछा—वे महात्मा हैं या नहीं? बर्नाड शा जैसे लोग शिष्टाचार नहीं पालते, सत्याचार पालते हैं। बर्नाड शा ने कहा, पहले नम्बर का महात्मा मैं हूं, गांधीजी को अधिक से अधिक मेरे बाद दूसरे नम्बर पर रख सकता हूं। नम्बर एक तो तय ही है। उसकी कोई बात मत करो। बर्नाड शा व्यंग्य कर रहे थे पूरी मनुष्य जाति पर।

अरबी में एक कहावत है कि परमात्मा जब भी किसी आदमी को बनाता है, तो दुनिया में धक्का देने के पहले उसके कान में एक मजाक कर देता है, उससे कह देता है कि तुमसे अच्छा आदमी कभी नहीं बनाया। उसी मजाक में सभी आदमी जीते हैं।

अभी जो प्रश्न पूछे जा रहे थे श्रीकृष्ण से, श्रीकृष्ण भी समझते हैं कि अर्जुन अभी तक नम्बर एक है। इस बीच पूरे समय उसके एक नम्बर को गिराने की उन्होंने सब तरह से कोशिश की है, श्रीकृष्ण ने चाहा वह अपनी वास्तविक स्थिति को समझे व्यर्थ में अपने को एक नम्बर का न माने। अब पहली बार अर्जुन को अपने वास्तविक स्तर का बोध हुआ है और भगवान् श्रीकृष्ण से भगवान् श्रीकृष्ण

के स्तर का प्रश्न कर रहा है। अब अर्जुन वास्तविक शिष्य की हैसियत से जिज्ञासा करता है और भगवान् भी अपनी हैसियत से उत्तर देते हैं।

प्रारम्भ से ही हम गुरु के प्रति पूर्ण समर्पित नहीं हो पाते हैं, न गुरु की बात पूरी तौर पर स्वीकार कर पाते हैं क्योंकि हमारी स्वयं की अवधारणा होती है उससे छूटने में समय लगता है। अतः हम प्रथम में गुरु के प्रति ऊपर-ऊपर से ही समर्पित हो पाते हैं। कालान्तर में धीरे-धीरे गुरु के प्रति अन्तर (हृदय से) पूर्णतया समर्पित हो जाते हैं।

स्वयं यह प्रसंग विवेकानन्दजी के जीवन में देख सकते हैं कि वे भी रामकृष्ण परमहंस के प्रति सहजता से समर्पण नहीं कर पाये। अंत तक संशय बना रहा। मूर्ति पूजा भी बहुत बाद में स्वीकार की। उनके जाने के बाद भी वह पहवारी बाबा का शिष्यत्व स्वीकार करने के लिए सचेष्ट हुए। ऐसी स्थिति क्यों आयी—उन्होंने निर्विकल्प समाधि का स्पर्श पा लिया था? पर गुरु ने कहा—यह ताले में बंद रहेगी। मां का कार्य पूरा हो जाने पर मां स्वयं ताला खोल देगी। फिर तुम अपने आपको जान लोगे तब फिर इस संसार में नहीं रह पाओगे। ताला बन्द होने से उन्हें लगा मेरी साधना अपूर्ण है। जैसे ही दीक्षा लेने प्रवृत्त हुए कोई-न-कोई बाधा खड़ी हो गई, पर बार-बार प्रयास करने पर स्वयं रामकृष्ण ने प्रकट होकर उन्हें बोध करवाया।

यही बात भगिनी निवेदिता के सम्बन्ध में पाते हैं। वह भी बहुत बाद में पूरी तौर पर समर्पित हो पाती हैं।

यही स्थिति अर्जुन के साथ भी है। और जो भी परिपक्व अवस्था में गुरु के पास जाते हैं उन सबकी यही स्थिति होती है। जीवन जब एक दिशा में ढल चुका होता है तब दूसरी दिशा में ढालना सहज नहीं होता है।

हां, जो प्रारम्भ से ही गुरु की शरण में आ जाता है तो वह अपेक्षित दिशा में ढल जाता है। यदि उसके पूर्व के संस्कार बाधक नहीं हैं तो।

प्रजहाति यदा कामान्, सर्वान् पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्ये-वात्मना तुष्टः, स्थित-प्रज्ञस्-तदोच्यते।। 2/55

श्रीभगवान् बोले—हे अर्जुन! जब (साधक) मन में रहने वाली संपूर्ण कामनाओं को भली-भांति त्याग देता है और आत्मा से आत्मा में ही संतुष्ट रहता है, तब वह स्थितप्रज्ञ कहा जाता है।

वेदान्त की घोषणा है—

श्रृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा—श्वेताश्वतरोपनिषद् 2/5

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवणं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।।

वही 3/8

हे विश्व के अमृत पुत्रो! सुनो, मैंने उस महान् ज्योतिर्मय पुरुष का पता लगा लिया है जो अंधकार से, अज्ञान से नितान्त परे है। उसको ही जानकर पुरुष मृत्यु का अतिक्रमण कर जाता है। इसके सिवा परमपद की प्राप्ति का दूसरा कोई मार्ग या उपाय नहीं है।

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।

केनोपनिषद्- 2/5

वास्तविक तत्त्व को यदि इसी जन्म में (मृत्यु के अव्यवहित पूर्व क्षण तक) तुमने जान लिया तब ही परम लाभ है। पर इसी जन्म में उसे नहीं जाना तो बहुत बड़ी हानि है।

उतिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।

कठ. उ. 3/14

हे मुमुक्षुओ! उठो, जागो। श्रेष्ठ पुरुषों के पास पहुंचकर आत्मज्ञान प्राप्त करो।

इसलिए वेद कहता है—चरैवेति-चरैवेति (लक्ष्य न प्राप्त होने तक) चलते रहो। चलते रहो।

स्पष्ट है सारी मानवता के ऊपर मानव की समस्त उपलब्धियों के शिखर पर एक जीवन्-मुक्त पुरुष है। वेदान्त का अद्भुत दर्शन कहता है जीते-जी शरीर छूटने के पहले, इसी जन्म के अन्दर शरीर के रहते-रहते उस परब्रह्म को पाया जा सकता है, परब्रह्म के साथ एक हुआ जा सकता है। संसार के अन्य किसी मजहब के अन्दर ये अवधारणा नहीं है। ऐसा ऊंचा दर्शन, ऊंचा लक्ष्य संसार के कहीं भी किसी भी मत-मतान्तर दर्शन ने प्रस्तुत नहीं किया है। इसको जीवन्-मुक्ति कहते हैं, जीते-जी मुक्त। शरीर छूटने के बाद कई लोग आश्वासन देते हैं ऊंचे लोक में चले जाओगे यथा कैलास, बैकुण्ठ, साकेत, गोलोक आदि कई लोक हैं। अनन्त ब्रह्माण्ड में पता नहीं कितने लोक हैं। परन्तु कहीं पर जाओगे वापस आना पड़ेगा। इसलिए वेदान्त हमारे सामने एक लक्ष्य रखता है जीते-जी परब्रह्म का अनुभव कर लेना जो हमारा आत्मस्वरूप है। 'ब्रह्मविद ब्रह्मैव भवति'। हम ब्रह्म को जानकर ब्रह्म ही हो जाते हैं।

जब तक लक्ष्य हमारे सामने नहीं है, उस लक्ष्य को प्राप्त किये हुए पुरुष हमारे सामने नहीं तो प्रेरणा हमको केवल शास्त्र प्रदान कर सकें उसमें थोड़ा संदेह

है। जीता-जागता व्यक्ति चाहिये। चाहे जीवन का कोई भी क्षेत्र हो, ज्ञान का कोई भी क्षेत्र हो, आदर्श का कोई भी क्षेत्र हो, हमारे सामने एक आदर्श पुरुष चाहिये। एक महापुरुष-प्राज्ञपुरुष चाहिये।

यहां ध्यान रहे पतंजलि का योगी जब समाधिवस्था में होता है तब तक के लिए उसकी वृत्तियां रुक जाती हैं। उसके लिए संसार लय को प्राप्त होता है किन्तु समाधि खुलने पर पुनः संसार अपने द्वन्द्वों सहित मन पर आक्रमण करता है। इसकी तुलना में ब्रह्मज्ञानी ज्ञान समाधि में रहता है। वह ब्राह्मी स्थिति में स्थितप्रज्ञ हो जाता है। उसे चलते-फिरते, उठते-बैठते ब्रह्म तत्त्व का दर्शन होता है। अतः वह मोह-ममता से मुक्त रहता है।

आत्मा की अमरता (सांख्य योग) और कर्मयोग का समन्वय ही स्थितप्रज्ञ दर्शन है। गीता से पूर्व लोग योग समाधि एकान्त में बैठकर करते थे। पर श्रीकृष्ण ने गीता में जिस समाधिस्थ पुरुष का वर्णन किया है वह चलते-फिरते, उठते-बैठते, खाते-पीते, सोते-उठते, युद्ध-शान्ति, कोलाहल-शांत स्थान में! यानी सब अवस्थाओं में! बुद्धि के सम होने के कारण समाधिस्थ माना जाता है।

निष्काम कर्मयोग की साधना करते-करते साधक आया है। निष्काम कर्मयोग की साधना से चित्त शुद्ध हो जाता है। चित्त शुद्ध होने पर ब्रह्मज्ञान प्रकाशित हो जाता है। अतः जहां राम वहां काम नहीं, कामनाएं स्वतः छूट जाती हैं, झर जाती है सूखे पत्ते की तरह।

कामना के तीन रूप हैं। स्थूल, सूक्ष्म, कारण (बीज रूप)। स्थूल कामनाएं प्रकट हैं। सूक्ष्म और बीज रूप छिपी हुई है। मन की गहराइयों में अप्रकट है जैसे छोटा नन्हा बच्चा, नन्हा-मुन्ना कितना प्यारा लगता है, ये तो भगवान् का ही रूप है। उसकी तुतली बोली काकली बोली कितनी अच्छी लगती है। हर कोई का जी होता है उसे खिलाने का। बच्चों को देखकर खूंखार डकैत भी पिघल जाते हैं। अपना स्वभाव छोड़ देते हैं। नन्हा फरिश्ता Picture में इसे बहुत सुन्दर रीति से चित्रित किया गया है। तो नन्हा शिशु बहुत प्यारा लगता है, अभी भगवान् का ही रूप है, थोड़ा जवान होने दो तब पता लग जायेगा कि कौन-कौन सी वासनायें कहां-कहां प्रकट होती हैं। अभी भोला-भाला लगता है, जवान होने पर सारी कामनायें प्रकट हो जाती है। जैसे—बीज सूक्ष्म होने से पता नहीं लगता पर वही पौधा, फसल का आकार ले लेता है तो प्रकट हो जाता है। मन के अन्दर 84 लाख योनियों की अच्छी-बुरी वासनायें संग्रहित रहती हैं।

अब प्रश्न उठता है कामनायें कहां रहती हैं। आत्मा में कामना मानेंगे तो आत्मा विकारी हो जायेगा। और आत्मा में ही कामना मानेंगे, मूल में ही कामना

मानेंगे तो इसकी दासता से, बन्धन से कभी मुक्त नहीं हो सकते, उसे निकाल नहीं सकते। इसलिए वेदान्त सिद्धान्त है सारी कामनायें यथा काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर आदि षड्रिपु सब कुछ मन के अन्दर रहता है और मन ही कल्पित है। अतः कामनाएं हटायी जा सकती है। मन ही अस्तित्व में आया चित्त जड़ ग्रन्थि के कारण। ईश्वर में जब ईक्षण क्रिया होती है 'एकोऽहम् बहुस्याम' तब अनादि माया के कारण चिद्-जड़ ग्रन्थि पड़ जाती है। और कर्मयोग की साधना से चिद्-जड़ ग्रन्थि ढीली पड़ जाती है और ब्रह्मज्ञान प्रकाशित होते ही ज्ञानाग्नि में सारे कर्म, सारी कामनायें-वासनायें जड़-मूल से भस्म हो जाती हैं, नष्ट हो जाती हैं। इस प्रकार कामनायें स्वतः छूट जाती हैं। आत्मा का जो मूल स्वरूप है, आप्तकाम-पूर्णकाम उसमें स्थित हो जाता है। आत्मा सहज आनन्द स्वरूप है, उसमें रम जाता है।

विषयों में जो सुख मिलता है वह प्रतिबिम्बित सुख होता है और हमें लगता है विषय से रस, सुख प्राप्त हो रहा है। विषयों में स्वयं का रस नहीं है। उसमें हम ही स्वयं आत्मा का रस डाल देते हैं और हमें लगता है विषयों से रस प्राप्त हो रहा है। जैसे कुत्ता सूखी हड्डी चबाता रहता है, आप श्मशान में जाकर देखो अपने ही मुख के खून को उसका खून समझकर चूसता रहता है।

वास्तव में जब आत्मरस मिलने लगता है तब संसार के सब रस फीके पड़ जाते हैं उस ओर प्रवृत्ति नहीं होती।

वो रस आवत यह रस नहीं भावत—गुरुनानक

रमण महर्षि जब साढ़े सोलह वर्ष के थे, उन्हें रहस्यमय ढंग से आत्म-साक्षात्कार हुआ। इस अद्भुत अनुभव के बाद सर्वथा बदल गये, न उनकी पढ़ाई में खेल-कूद में, न मित्रों में रुचि रही। भोजन के विषय में भी कोई पसन्द-नापसन्द नहीं रही। उन्हें स्वादिष्ट या स्वादहीन जो कुछ भी मिलता था, उन्हें नितान्त तटस्थता में निगल लेते थे। समाधि के अभ्यास के बाद दूध फीका लगा विनोबा भावेजी को। अतः ऊंचे रस की प्राप्ति से छोटे रस स्वतः ही छूट जाते हैं। विषयों के प्रति सम्यक् बुद्धि, सम्यक् कल्पना का अभाव हो जाता है। विषयों के प्रति महत्त बुद्धि, शोभन बुद्धि, सुख बुद्धि का अभाव हो जाता है। अतः मन के विषय स्वतः ही छूट जाते हैं।

तो प्रश्न है क्या यह स्थिति सम्भव है? भारतीय दार्शनिकों के अनुसार, भारतीय मनोविज्ञान के अनुसार सम्भव है। पर पश्चिम का मनोविज्ञान उसे अस्वीकार करता है। उनके अनुसार मनुष्य इच्छाओं का, वासनाओं का बंडल मात्र है, उसकी अवश्य पूर्ति होनी चाहिये नहीं तो उसका चित्त कुण्ठित हो जायेगा। कामनायें हटाने या दबाने से दबती या नष्ट नहीं होती। वे मन के तीन भेद करते हैं।

चेतन, अवचेतन और अचेतन। जब भी हम कामनाओं को किसी कारण से चाहे वह सामाजिक प्रतिष्ठा के कारण या स्वयं के नैतिक बोध या असमर्थता के कारण या स्वयं के संस्कारों के कारण दबाने से वह अवचेतन, अचेतन में चली जाती है। शुभ वासना चेतन में, जाग्रत में रहती है। अशुभ वासना अवचेतन और अचेतन में रहती है स्वप्न में प्रकट होती है। अतः कामनाओं की अवश्य पूर्ति होनी चाहिये, उसके पार नहीं जा सकते। उसको दबाने से अनेक शारीरिक, मानसिक बीमारियों एवं कुण्ठाओं के शिकार हो जाते हैं।

भारतीय मनोविज्ञान पश्चिम के मनोविज्ञान को आधा-अधूरा, एकांगी मानता है। भारतीय विचारक मन के तीन स्तर को अस्वीकार नहीं करते। पर उसके साथ एक चौथा भेद भी मानते हैं। भारतीय मनोविज्ञान में चेतन, अवचेतन, अचेतन के अलावा अतिचेतन भी मानते हैं। इसलिए वह कामनाओं के पार जा सकता है। वह अपने जीवन, जगत् और विषयों का विश्लेषण करके उसके पार जा सकता है, यही मनुष्य की विशेषता है। वह मात्र इच्छाओं, वासनाओं का बंडल नहीं है, वह मात्र विषयों का गुलाम नहीं, उसका मालिक है। अतः कामनाओं के पार जा सकता है।

पश्चिम में न तो कामनाओं के पार जाने की चेष्टा करता है और पार जाने की चेष्टा को ही वह पागलपन, रुग्णचित्त का घोषित कर दिया चाहे वह रामकृष्ण परमहंस हो या रमण महर्षि, स्वामी रामतीर्थ, विवेकानन्द आदि कोई भी हो।

बर्ट्रेंड रसेल ने भी संस्कारों के विरुद्ध बहुत आग उगली है। इनके विचार से विज्ञान के प्रकाश में भविष्य में धर्म नष्ट हो जायेगा।

पश्चिम का मनोविज्ञान भौतिकवादी है, वह आत्मा की सत्ता को नहीं मानता। अतः मानव में केवल पशु प्रवृत्ति, आसुरी प्रवृत्ति को ही मानता है। इसलिए इससे ऊपर उठा नहीं जा सकता।

भारतीय मनोविज्ञान इसे अपूर्ण, एकांगी, दोषपूर्ण मनोविज्ञान मानता है। भारतीय मनोविज्ञान आत्मा की सत्ता मानता है इसलिए अध्यात्मवादी है। कामनायें मन में रहती है, आत्मा में नहीं। आत्मा शुद्ध, बुद्ध, मुक्त आप्तकाम-पूर्णकाम है। अतः वह जब आत्मा में स्थित हो जाता है तो कामनायें स्वतः छूट जाती है। क्योंकि मन कल्पित है। चित्त-जड़ ग्रन्थि का परिणाम है। जैसे वृक्ष का पत्ता सूख जाने पर स्वतः ही झड़ जाता है, वैसे ही ज्ञानाग्नि से सारे काम भस्म हो जाते हैं '**ज्ञानाग्नि-दग्ध-कर्माणं**' गीता 4/19 अतः उनकी सत्ता शेष नहीं रहती। उदाहरणार्थ—बाल ब्रह्मज्ञानी शुकदेव नग्नावस्था में जा रहे थे और स्नान करती हुई व्रजगोपियों को देखकर भी उनके मन में न कोई विकार हुआ और न गोपियों के

मन में शंका-लज्जा जागी। स्वामी रामतीर्थ प्रतिदिन लाहौर में अनारकली बाजार से होकर रावी नदी में स्नान करने जाते थे। एक दिन कुछ लोग हस्ताक्षर संग्रह कर रहे थे कि अनारकली बाजार से वेश्याओं को उठाया जाए। जब वे स्वामी रामतीर्थ से हस्ताक्षर के लिए आग्रह करने लगे तब स्वामीजी को यह जानकर अचम्भा हुआ कि उनके दैनिक आने-जाने वाले मार्ग में दोनों ओर वेश्याओं के चौबारे हैं जिसका उन्हें अभी तक भान ही न था। श्रीरामकृष्ण देव वेश्याओं को देखकर भी मां-मां कहकर पुकारने लगते थे। स्वयं अपनी विधिवत परिणीता (पत्नी) में भी वे भगवती के दर्शन करते थे। यहां स्वस्थ युवा शरीर भी है, स्वस्थ इन्द्रियां भी हैं, इन्द्रियों के भोग विषय भी हैं, एक ही मन्दिर में निकट वास भी है किन्तु विषयचिन्तन नहीं है और विषय के प्रति संगदोष भी नहीं है क्योंकि अचेतन मन में भी कोई कामना का बीज या अंकुर नहीं बचा है।

पूर्व और पश्चिम में दृष्टिभेद के कारण ही दोनों सभ्यताओं में जमीन-आसमान का अन्तर है। गांधीजी ने पश्चिम की आधुनिक सभ्यता को पैशाचिक सभ्यता कहा है क्योंकि यह अनन्त काम और अर्थ की भूख को जगा देती है। आधुनिक जीवन पर व्यंग्य करते हुए विश्व कवि रवीन्द्रनाथ टैगोर कहते हैं—सारा जीवन बिछौना बिछाते-बिछाते ही बीत गया। सारी रात बिछौना बिछाते रह गये। चाह में निहित है कि ऐसा बिछौना हो, ऐसा पलंग हो, ऐसा डनलप-पिलो हो, ऐसा मकान हो, ऐसी पत्नी हो। इस तरह साधन जुटाते-जुटाते ही सारा जीवन बीत जाता है—'कबहुं न नाथ नींद भर सोये' नींद भर कभी सोया ही नहीं, सुख मिला ही नहीं।

तुलसीदासजी ने कहा—

कबहुँ मन विश्राम न मान्यो।
निसिदिन भ्रमत बिसरि सहज-सुख, तहं-तहं इन्द्रिन तान्यो।
अर्थात् मेरे मन को कभी विश्राम की प्राप्ति हुई ही नहीं।

स्वामी विवेकानन्दजी पश्चिम के विषय में कहते हैं—जो खेल-तमाशे, आमोद-प्रमोद है, हास्य है, वह ऊपर-ऊपर ही है—भीतर, अन्दर हाय! हाय! व्यथा ही व्यथा, रुदन ही रुदन समाया है। भारत में ऊपर में तो रुदन है, गरीबी है, मार है पर अन्दर आमोद-प्रमोद और निश्चिंतता है। स्वामी विवेकानन्द के समय भारत अंग्रेजों की मार के कारण गरीबी का दंश झेल रहा था।

भारतीय संस्कृति सम्पन्नता को, वैभव को अस्वीकार नहीं करती। वरन् भारत में वैभव व सम्पन्नता की संस्कृति रही प्राचीन काल से अंग्रेजों के शासन के पूर्व तक। सादा जीवन उच्च विचार का घोष भारतीय संस्कृति का पूर्ण प्रतिनिधित्व

नहीं करता। सादा जीवन उच्च विचार—ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी, संन्यासी एवं ब्राह्मण का धर्म है। युवाओं और गृहस्थों का धर्म नियन्त्रित वैभव-ऐश्वर्य का रहा है। इसलिए भारत कृषि प्रधान के साथ उद्योग प्रधान भी, ग्राम प्रधान के साथ-साथ नगर प्रधान भी रहा है। भारतीय का आदर्श है युवावस्था में विषयैषणा और वृद्धावस्था में मुनिव्रत धारण करना।

शैशवेम्यस्त विधानां यौवने विषयैषिनाम्।
वार्धक्ये मुनिवृत्तीनां योगोनान्ते तनुस्त्यजाम्।।

महाकवि कालिदास

अतः हमारे व्यक्ति जीवन, परिवार जीवन, समाज जीवन की रचना ही ऐसी की गयी है कि हम धर्म के आधार पर कामनाओं की पूर्ति कर उससे ऊपर उठ जायें, मुक्त हो जायें।

स्थितप्रज्ञ की कामनायें छूट जाती हैं। आत्मा में रस आने लगता, उसमें ही रम जाता है, उसमें ही सन्तुष्ट रहता है।

हम देखते हैं जब महात्मा बुद्ध को बोध प्राप्त हुआ तो उनकी इच्छा हुई वे सदैव समाधि में ही डूबे रहें, पर जीवों पर करुणा, लोक जीवन के दुःख निवारणार्थ 'बहुजन हिताय बहुजन सुखाय' के लिए पुनः समाज जीवन में लोक संग्रह के लिए आये। स्वामी विवेकानन्द भी निर्विकल्प समाधि में डूबे रहना चाहते थे, पर गुरु के आदेश से समाज जीवन में आये।

दुःखे-ष्वनुद्विग्न-मनाः, सुखेषु विगत-स्पृहः।
वीत-राग-भय-क्रोधः, स्थित-धीर्-मुनि-रुच्यते।। 2/56

(तथा) दुःखों में जो उद्वेगरहित है, सुखों में जो पूर्णतः निःस्पृह है, (तथा जिसके) राग, भय और क्रोध नष्ट हो गये हैं, (ऐसा) मुनि स्थिर-बुद्धि कहा जाता है।

जब आत्मरस आने लगता है तो बहिर्विषय स्वतः ही छूट जाते हैं, कामनायें स्वतः ही विगलित हो जाती हैं और वह आत्मा में ही रमण करता है और उसी में सन्तुष्ट रहता है, उसी में डूबा रहना चाहता है। यह स्थिति भगवान् बुद्ध, स्वामी विवेकानन्दजी के जीवन में पाते हैं। इस स्थिति में पूर्व संस्कारवशात कोई तो लोक जीवन में आता ही नहीं। प्रारब्ध पर्यन्त अपने शरीर धारण करने तक ही चेष्टा सीमित हो जाती, अत्यल्प भोजन और नित्य कर्म तक ही प्रवृत्ति रहती है। और कोई पूर्व संस्कार एवं अभ्यास के फलस्वरूप लोक संग्रहार्थ लोक जीवन में आते हैं जैसे महात्मा बुद्ध स्वयं की प्रेरणा से और स्वामी विवेकानन्द गुरु की आज्ञा से।

इस प्रकार स्थितप्रज्ञ की बाहर की यात्रा समाप्त हो जाती है और वह अपनी आत्मा में ही रमता है, कामनायें नष्ट हो जाती हैं, समाप्त हो जाती है। प्रारब्ध के

अनुसार सुख-दुःख आते हैं। दुःख आते हैं तो उसका मन उद्वेलित नहीं होता। सुखों के प्रति स्पृहा नष्ट हो जाती है। वह राग, भय, क्रोध रहित हो जाता है और वह अपने अन्तर में ही स्थित रहता है। ऐसा व्यक्ति स्थितप्रज्ञ कहलाता है। यह तो सिद्ध की बात हुई। साधकों को ये गुण अर्जित करने हैं उसके लिए विवेक करना, विचार करना आवश्यक। वह इस प्रकार—साधक की अभी बाहर की यात्रा जारी है। हमारी तो देश-काल, वस्तु, पात्र-परिस्थिति में सुख प्राप्त करने की यात्रा जारी है। यह जब तक जारी है तब तक हम विषाद में हैं, प्रसाद से दूर हैं। यदि प्रसाद को पाना है तो इस यात्रा को विराम देकर अन्तर में झांकना आवश्यक है। अन्तर में प्रवेश का रास्ता बनाना पड़ेगा नहीं तो अंधकार या कुछ नहीं दिखेगा—बाहर में विषय और अन्तर में अंधकार या कुछ नहीं। इसके लिए यम-नियम के अधिष्ठान पर धारणा, ध्यान, समाधि के अभ्यास के द्वारा अन्तर में झांकने का रास्ता बनाना पड़ता है। बहुत प्रयास एवं तपपूर्वक, तब जाकर अन्तर में, आत्मा में झांकने में स्थित होने में समर्थ होते हैं। और वह स्थिति बनी रहे सभी अवस्था में इसके लिए योग-समाधि के साथ-साथ ज्ञान-समाधि, वैदान्तिक-समाधि का अभ्यास आवश्यक है जिसमें सभी अवस्थाओं में हमारी प्रज्ञा सम बनी रहती है। साधक को समत्व को हृदयंगम करने के लिए कुछ बातों को समझ कर ध्यान में रखना आवश्यक है।

सृष्टि तीनों गुणों की विषमता में होती है और सृष्टि पर्यन्त द्वन्द्व (सुख-दुःख, लाभ-हानि, मान-अपमान आदि के जोड़े) बने रहते हैं। अतः समता भौतिकता के आधार पर नहीं, आत्मा के आधार पर ही सम्भव है। क्योंकि सबकी आत्मा एक ही है। द्वन्द्व सदा जोड़े से ही रहते हैं। संसार में मीठा-मीठा हब और कड़वा-कड़वा थू—यह नहीं चल सकता।

सृष्टि का चक्र ऋतु के अनुसार चलता है। इसमें सर्दी-गर्मी, शीत-उष्ण, वर्षा-आंधी, तूफान आयेगा ही। इसे न साधनों के अम्बार से, न विज्ञान की सहायता से जीता जा सकता है। शीत-उष्ण-वर्षा के लिए यथायोग्य उपाय कर और कुछ सहने का अभ्यास आवश्यक है।

जब तक देह-इन्द्रिय संघात है उनका विषयों से सम्पर्क होगा ही उससे सुख-दुःख, अनुकूल-प्रतिकूल द्वन्द्व उत्पन्न होंगे ही।

द्वन्द्व मूलतः दो प्रकार के हैं। एक मां के गर्भ से ही लेकर आते हैं, यथा—भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी। कुछ शरीर, मन, बुद्धि के विकास के साथ उत्पन्न होते हैं, यथा—पुत्रैषणा, वित्तैषणा, लोकैषणा। इनका शमन शास्त्रीय उपाय से करें और कुछ द्वन्द्व अविवेक के कारण उत्पन्न होते हैं, उसे विवेक का स्तर बढ़ाकर दूर कर सकते हैं, जैसे—मान-अपमानादि।

अतः जीवन की यात्रा में सभी को सुख-दुःख आते हैं। कोई भी अपवाद नहीं है। प्रभु राम के जीवन में दुःख आये। राजगद्दी के स्थान पर वनवास, स्वजनों का वियोग, वन में पत्नी का हरण और राज्य मिलने पर सीता का त्याग, फिर लक्ष्मण का त्याग। लीला पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण के जीवन में भी दुःख ही दुःख आये! कारागृह में जन्म, उसके पूर्व सात भाई-बहनों की हत्या, उन्हें भी जन्म से ही मारने का लगातार प्रयास। ब्रज के परम प्रियजनों का सदा के लिए वियोग, मथुरा का परित्याग तथा अपने सामने ही अपने सम्पूर्ण कुल का विनाश देखना।

ऐसे दोनों के जीवन में सुख के प्रसंग भी आये। अतः सुख-दुःख, दोनों चक्के के पहिये की तरह ऊपर-नीचे होते रहते हैं। सदा किसी को न सुख रहा है और न सदा दुःख। दुःख आते तो कम हैं पर व्याप्त हो जाते हैं अधिक। हम स्वयं अपनी कल्पना द्वारा उसे चक्रवृद्धि ब्याज की तरह बढ़ा लेते हैं। जैसे—राम का वनवास 14 वर्षों का और राज्य उससे कई गुणा अधिक किया। वैसे ही पाण्डवों को 12 वर्ष का वनवास और एक वर्ष का अज्ञातवास पर राज्य किया 36 वर्षों तक। सबको भ्रान्ति है कि मुझे ही सबसे अधिक दुःख प्राप्त है।

एक दुःखी व्यक्ति था। उसने एक रात परमात्मा से प्रार्थना की कि मैं तुमसे यह नहीं कहता कि मुझे मेरे किये का दुःख न दे, मेरी तो सिर्फ इतनी प्रार्थना है कि मुझे सबसे ज्यादा दुःख न दे। संसार के सब लोग हंसते-खेलते दिखलाई देते हैं, लेकिन मैं ही अकेला इतना दुःखी हूं कि और अधिक सहा नहीं जाता। अगर दूसरे भी दुःखी हैं और फिर भी हंसते-फिरते हैं तो दूसरों का दुःख मुझे दे दे और मेरा दुःख दूसरों को देकर अदला-बदली कर दे।

जब रात को वह सोया तो उसने एक सपना देखा। एक बहुत बड़ा भवन है, जिसकी दीवार पर अनगिनत खूंटियां गड़ी हैं। यह घोषित किया जा चुका है कि सब लोग अपने-अपने दुःखों की पोटली बांधकर जिस खूंटी पर चाहें लटका दें उनके दुःखों की पोटलियों को दूसरे के दुःखों की पोटलियों से अदला-बदली कर दी जायेगी। सभी व्यक्ति अपने-अपने दुःखों की पोटली बांधे चले आ रहे थे। जिनको वह हंसता-खेलता देखता था, इस स्वप्न में वे भी अपने दुःखों की पोटली बांधे और उसे पीठ पर लटकाये चले आ रहे थे। उसे देखकर आश्चर्य हुआ कि जितनी बड़ी उसके दुःखों की गठरी थी उतनी ही अन्य सबकी थी। किसी की बड़ी-छोटी न थी सबकी समान थी। उसका पड़ोसी जो रोज हंसता-खेलता-मुसकराता था जिसे वह पूछता था—कहो, क्या हाल है, वह कहता था बड़े ठाठ मजे में कट रही है, वह भी अपने दुःखों की गठरी लिए चला आ रहा था। नेता भी गठरी लिए चले आ रहे थे, अनुयायी भी, गुरु भी, चेले भी, चोर भी, महात्मा भी।

सबने अपने-अपने दुःखों की पोटली जिस खूंटी में चाही लटका दी। इस सपने वाले दुःखी व्यक्ति को यह देखकर आश्चर्य हुआ कि जिन्हें वह सुखी समझता था वे भी अपने दुःखों की पोटली बांधे उन्हीं खूंटियों पर लटका रहे थे।

इतने में घोषणा हुई कि जो जिसकी दुःखों की पोटली चाहे चुन ले। इतने में क्या देखता हैं कि दुःखों की पोटली टांगने वाले भागे-भागे आये और सबने अपनी ही पोटली उठाई, किसी दूसरे की नहीं उठाई। इसका कारण यह था कि सबको अपने दुःखों का तो पता था, दूसरों के दुःखों का पता नहीं था। सब यह सोचने लगे कि अपने दुःख तो ज्ञात हैं, दूसरे की पोटली उठा लेने पर न जाने कितने और दुःख पल्ले पड़ जायें! अपने दुःखों को सहन करने की शक्ति आ गई है, दूसरों के न जाने कितने गहरे दुःख होंगे। हम दुःखी इसलिए रहते हैं क्योंकि दूसरे हमें सुखी दिखलाई देते हैं। असल में कोई-न-कोई दुःख सबके साथ लगा है। गुरुनानकजी ने ठीक ही कहा है—'नानक दुखिया सब संसार'। हमें दूसरे का दुःख दीखता नहीं, इसलिए हम दूसरों को सुखी समझते हैं।

मन के अनुकूल प्रतीति को सुख कहते हैं। मन के प्रतिकूल प्रतीति को दुःख कहते हैं। इन्द्रिय सहिष्णुता की सीमा में जो प्राप्त होता है वह सुखदायी है। इन्द्रिय सहिष्णुता की सीमा का अतिक्रमण दुःख का कारण बन जाता है। जो जल जीवन है, सुख है वही सीमा के बाहर होने पर दुःख का कारण, यहां तक की मृत्यु का कारण बन जाता है।

एक ही विषय एक परिस्थिति में सुखदायी, दूसरी परिस्थिति में दुःखदायी हो जाता है। जैसे सिनेमा में दूर बैठना सुखदायी है और नाटक में पास बैठना अच्छा लगता है।

मन की एक वृत्ति में जो व्यक्ति, घटना या वस्तु अच्छी लगती है मन की वृत्ति बदलते ही वही व्यक्ति, वस्तु या घटना से घृणा हो जाती है, अप्रिय हो जाती है।

अब दुःख को स्वीकारने की युक्ति—

सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता
परोददातीति कुबुद्धिरेषा।

कोई दूसरा दुःख दे रहा है, यह कुबुद्धि है। सब अपने पूर्वकृत कर्मों का फल प्रारब्ध बनकर सामने आया है।

काहु न कोउ सुख दुख कर दाता।
निज कृत करम भोग सबु भ्राता।।

जब निषादराज प्रभु राम के वनवास के लिए कैकेयी को दोषी ठहरा रहे थे। इसके उत्तर में लक्ष्मण कहते हैं—हे भाई! कोई किसी को सुख-दुःख का देने वाला नहीं है। सब अपने ही किये हुए कर्मों का फल भोग़ते हैं।

स्पष्ट है हमारे स्वयं के प्रारब्ध से सुख-दुःख आते हैं। स्वयं का ही कर्मफल आ रहा है।

ब्राह्मणी गौतमी की कथा। उसके पुत्र को सांप ने डस लिया। सर्प को व्याध ने पकड़ लिया। सर्प ने कहा—मैं निर्दोष हूं, मुझे यम ने प्रेरित किया डसने के लिए। यम ने कहा—मुझे काल ने, काल ने कहा—मुझे कर्मफल ने, कर्मफल ने कहा—मुझे कर्म ने। अतः अपने कर्म ही सुख-दुःख के कारण बनते हैं।

अपने परम प्यारे परमहितैषी भगवान् के द्वारा अपनी चिकित्सा के लिए दुःख-कष्ट आ रहा है। जैसे-मां बच्चे को रगड़-रगड़ कर नहलाती है तो बच्चा रोता है। अतः दुःख उपचार के लिए आ रहा है। हमको पकाने के लिए, हमारी पूर्णता के लिए आ रहा है।

पाप-पुण्य क्षय करने के लिए सुख-दुःख आ रहा है। सुख-दुःख मन के अन्दर बैठे हैं, मन तक सीमित हैं। जब तक मन की सत्ता रहती है तभी तक सुख-दुःख। आत्मा तक इसकी पहुंच नहीं है। सुषुप्ति में मन की सत्ता नहीं रहती। अतः दुःख भी नहीं रहता। सुख तो आत्मा का स्वरूप होने से रहता है। पर अविद्यावृत्ति के कारण उसका बोध नहीं रहता। सुषुप्ति में हम आत्मा की गोद में चले जाते हैं, पर उसका बोध नहीं रहता।

शीत-उष्ण ऋतु के अनुसार प्रकृति के नियम से भूगोल के नियम से आयेंगे और चले जायेंगे। अतः इन्हें सहन करें उसके अनुकूल वस्त्र धारण कर। उसके अभाव से अपना बचाव करें। संसार में कांटे बिछे पड़े हैं अतः पैर में चप्पल डालकर उससे अपनी रक्षा करें।

सुख-दुःख का प्रथम वेग में ही जोर ज्यादा रहता है फिर तो हम उसे सहने के अभ्यस्त हो जाते हैं।

सुख-दुःख आते हैं क्योंकि जब तक प्रारब्ध शेष है ये सृष्टि में बने ही रहेंगे। अतः दुःख में स्थितप्रज्ञ कराह सकता है, सूं-सां कर सकता है पर अन्दर से अविचलित है। जैसा रामकृष्ण परमहंस, रमण महर्षि के जीवन में पाते हैं।

दुःख आता है तो हमारा मन उद्विग्न होता है कि जल्दी चला जाये पर वह तो अपने हिसाब से जायेगा। अतः ज्ञानी उससे उद्विग्न या व्यथित नहीं होता।

सुख आता है तो हम चाहते हैं वह सदा नहीं तो अधिक से अधिक समय तक बना रहे पर वह भी अपने नियत समय तक ही रहता है। अतः ज्ञानी सुख सदा बना

रहे इसकी आकांक्षा नहीं रखता। वह विगत स्पृहा हो जाता है। सिद्ध को यह बात सहज प्राप्त हो जाती है। हम साधकों को यह बात अभ्यास से अर्जित करनी है।

राग

राग का अर्थ है चित्त का रंग जाना। जो वस्तु, व्यक्ति, घटना हमें सुख देती है उससे हमारा राग हो जाता है। और राग में यह भावना रहती है, यह सदा मेरे पास बनी रहे, मेरे अनुकूल रहे, मेरे को सुख देती रहे पर ज्ञानी इससे वीतराग हो जाता है। उसके अन्दर वैराग्य उत्पन्न हो गया है।

वैराग्य के दो अर्थ हैं—विगत राग को वैराग्य कहते हैं। दूसरा विशेष राग को भी वैराग्य कहते हैं—उसका संसार के प्रति राग छूट जाता है, ईश्वर के प्रति उदित हो जाता है। वह संसार से विमुख होकर ईश्वर की ओर मुड़ जाता है।

भय

हमारे सुख या कामना पूर्ति में हमसे बड़ी शक्ति बाधक बनती है तो उससे भय होता है। और जब तक दूजेपन का भाव है, हमारे अलावा अन्य की सत्ता है तब तक भय बना रहता है। वस्तु को लेकर, पद को लेकर ज्ञान को लेकर विद्वत्ता को लेकर भय हो सकता है। अपने से अधिक विद्वत्ता वाले से भय कि कहीं मुझे पराजित न कर देवे। धनवान है तो इनकम टैक्स की रेड न पड़ जाये, उसे चोरी, डकैती का भय है, प्राकृतिक दुर्घटना, अग्निकाण्ड आदि न हो जाये। अतः भर्तृहरि वैराग्य शतक में कहते हैं सब में भय है एक मात्र वैराग्य में अभय है।

स्थितप्रज्ञ वीतरागी होता है, वह अपनी अहंता-ममता False I और False My को छोड़ चुका है अतः उसके जीवन में भय नाम की वस्तु शेष नहीं रहती।

आचार्य शंकर कहते हैं जो अद्वैत को नहीं मानता और साधना करते-करते समाधि की स्थिति में पहुंचता है और जब व्यक्तिगत अहम् लीन होने लगता है तो वह भय से कांप उठता है, जिसे हम नरेन्द्र में एवं अर्जुन के प्रसंग में पाते हैं। नरेन्द्र साधारण साधक नहीं है जिसे रामकृष्ण देव कहते थे जन्म से ही ध्यान सिद्ध है। उसे जब रामकृष्ण परमहंस ने अपने पाद से उसके छाती को स्पर्श किया और उसका व्यक्तिगत अहम् लीन होने लगा तो घबरा कर चिल्ला उठा, अरे यह क्या कर दिया, मेरे तो माता-पिता हैं। ऐसे ही अर्जुन भगवान् के विराट रूप को देखकर, उसमें अपने अहम् को लीन होता देख कर डर जाता है, सह नहीं पाता है और चतुर्भुज रूप, सौम्य रूप धारण करने की प्रार्थना करता है।

क्रोध

हमारी कामना पूर्ति में जो व्यक्ति, वस्तु, घटना, समाज या देश, धर्म या पंथ बाधक बनता है उसके प्रति क्रोध उत्पन्न होता है। राग और भय से क्रोध

अधिक घातक है। राग और भय स्वयं से सम्बन्धित हैं। पर क्रोध दूसरे पर आता है, उस पर हाथ चल जाता है, उसमें हिंसा पर हम उतारू हो जाते हैं। क्रोध द्विविष है जो पहले स्वयं को जलाता है फिर क्रोध के पात्र को जलाता है। क्रोध आश्रय पर तो अवश्य कारगर होता है विषय पर हो भी सकता है, नहीं भी। क्रोध पहले हमारे स्वयं के चित्त को जलाता है फिर विषय को। जैसे—दीयासलाई की तीली पहले स्वयं को जलाती है फिर दूसरे-तीसरे को।

बड़ों का क्रोध शिक्षण के लिए, हमारी चिकित्सा के लिए, हमारी गलती सुधारने के लिए होता है। जैसे-माता-पिता का क्रोध पुत्र-पुत्रियों पर इसी दृष्टि से होता है। गुरु का क्रोध शिष्य को सुधारने, उसको पूर्णता प्रदान करने के लिए होता है। ऐसे ही नारदजी का क्रोध, दुर्वासाजी का क्रोध लोककल्याण के लिए होता है।

महान् पुरुषों के क्रोध से अपने क्रोध को उचित या वैध नहीं ठहरायें। पहले उनकी तरह महानता प्राप्त करने की चेष्टा करें।

अतः जो दुःख से उद्विग्न नहीं होता सुख की स्पृहा नहीं करता कि मुझे पुनः-पुनः प्राप्त हो, जिसके राग, भय, क्रोध नष्ट हो गये हैं उनको स्थिर बुद्धि कहा जाता है उनको ही मुनि भी कहा जाता है।

जो मौन धारण करता है वह मुनि होता है। मुनि यानी मौन धारण कर जो मनन करता है। वाणी से तो हम सब मौन हो जाते हैं पर मन से मौन नहीं हो पाते हैं। मन में विचार का प्रवाह चल रहा है। मन से गाली दिये जा रहे हैं। वाणी से तो मौन हो गये पर मन में राग-द्वेष की धारा बह रही है। बहुत से वाणी से तो नहीं बोलते, नाक से बोलने का अभ्यास कर लिया। बहुत समय तक नहीं बोलने से कहीं वाणी ही अवरुद्ध न हो जाये अतः इस विषय में सावधानी आवश्यक है।

मौन में मन शान्त होना चाहिये तभी हम ध्यानमग्न हो सकते हैं। हम मौन रहकर ही मनन कर सकते हैं।

वाणी बोलने से हमारी अपार शक्ति नष्ट हो जाती है। वह शक्ति नष्ट होने से बच जाती है। जब हम बोलते रहते हैं तब बहिर्मुखी बने रहते हैं। सांसारिक व्यवहार में लगे रहते हैं। अतः अन्तर्मुखी होने का अवसर नहीं मिलता। मौन होने पर अन्तर्मुखी होने का अवसर मिलता है तब आत्मचिन्तन का अवसर होता है, अन्तर की आवाज सुनने को मिलती है। मैं कौन हूं, कहां से आया हूं, कहां जाना है?

मुनि मौन होकर साधना करते हैं। वाणी के संयम से विराट शक्ति उत्पन्न होती है। जिसकी वाणी संयम सिद्ध हो जाती है उसका वाक्, वाक नहीं होकर

मंत्र हो जाता है। वे मंत्र द्रष्टा बन जाते हैं। रामकृष्ण परमहंस देव के एक ही वचन—हां, मैंने ईश्वर को देखा है और चाहो तो तुम्हें भी दिखा सकता हूं। इस वचन ने नरेन्द्र के जीवन को बदल दिया। इस एक वचन ने कितनों को तृप्त किया और ईश्वर के मार्ग पर लगा दिया। उस वाणी के प्रसाद से मानव रूपान्तरित हो जाता है, मानव से महामानव की ओर चल पड़ता है, तो वाक् संयम का ऐसा प्रभाव मानव जीवन पर पड़ता है।

संसार में जितने कलह, द्वेष, अन्याय-अत्याचार हैं वह वाणी के असंयम के कारण ही हैं।

मौन रहने से वाणी में शक्ति आ जाती है, उनकी वाणी मिथ्या नहीं होती। मौन वाणी का संयम है। वाणी का संयम होने से मन संयमित हो जाता है। मौन साधक जब वाणी खोलता है तब शब्द नहीं रहकर मंत्र हो जाते हैं जो कभी मिथ्या नहीं होते। उससे मिथ्या-अनावश्यक शब्द निकलते ही नहीं। उसके शब्द नपे-तुले होते हैं।

यः सर्वत्रा-नभिस्नेहस्,-तत्-तत्-प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि, तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।। 2/57

जो (पुरुष) सर्वत्र (अर्थात् सभी विषयों में सब प्रकार से) आसक्ति रहित हुआ उस-उस शुभ या अशुभ (वस्तु) के प्राप्त होने पर न प्रसन्न होता है और न ही द्वेष करता है, उसकी बुद्धि स्थिर है।

स्नेह का मतलब सबके प्रति चित्त का पिघलना, प्रेम का भाव, वात्सल्य का भाव, मृदुता का भाव। अभिस्नेह का अर्थ किसी अमुक के प्रति विशेष प्यार अन्यों की अपेक्षा। किसी विशेष के प्रति चित्त का पिघलना। जैसे एक ही परिवार के अन्दर यदि माता एक बालक को अधिक प्यार करे, दूसरे को कम प्यार करे किसी भी कारण या निमित्त से। स्पष्ट किसी को विशेष रूप से प्यार करना इसी को अभिस्नेह कहते हैं। स्नेह कहते हैं किसी को भी विशेष रूप से प्यार नहीं करना, सबको प्यार करना।

आत्मज्ञानी सबको प्यार करता है, उसका स्नेह, उसकी करुणा, उसकी कृपा सबके प्रति है। आत्मज्ञानी का अर्थ यह नहीं कि उसका हृदय पत्थर का हो जाता है, कठोर हो जाता है, सबके प्रति मुंह कड़ा करके रखता है, किसी को भी प्यार नहीं करता। वह तो सबको प्यार करता है। वह तो सबके अन्दर अपनी आत्मा को, अपने प्रभु को देखता है—

आत्मवत्सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः।

जैसे सूरज सबको रोशनी देता है, नदियां सबको पानी देती हैं, चांद सबको शीतलता देता है, वृक्ष सबको फल देते हैं, अग्नि सबको ताप देती है। आत्मज्ञानी सबसे प्रेम करता है, वह किसी एक से बंधकर नहीं रहता। ऐसे ही संत, महात्मा प्रेम की मूरत होते हैं उनके पास जाने वाले सबको प्रेम मिलता है। वह जब तक जहां जिसके पास रहता है प्रेमपूर्वक रहता है और जब जाने का समय आता है तो सबको बाय-बाय करके चला जाता है। यदि महात्मा के पास जाकर किसी को प्रेम नहीं मिला तो समझो हममें कोई अवश्य पूर्वाग्रह है जिससे हम वहां स्नेह का अनुभव नहीं कर सके।

वे सब में एक आत्मा देखते हैं, दर्शन सम होगा, सबके प्रति स्नेह-प्रेम बहेगा पर वर्तन गुणों के आधार पर ही होगा। योग्यता पद के आधार पर ही होगी। अगर कोई राजा आ गया, मंत्री-मुख्यमंत्री या कलक्टर आ गया तो व्यवहार के अन्दर अन्तर दिखाई देगा। अन्दर से जो प्रेम निकलेगा वह सब तरफ एक जैसा बहेगा पर व्यवहार में अन्तर होगा। कोई बुजुर्ग आ जायेगा, कोई माता आ जायेगी कोई नन्हा बालक आ जायेगा तो उनके साथ व्यवहार में अन्तर होगा।

संसारी पुरुष अपने धन, स्त्री, पुत्रादि से जैसा स्नेह करते हैं ऐसे वह किसी एक से बंधता नहीं। परिवार में पिता का वारिस तो पुत्र ही बनेगा अन्य नहीं। पर संन्यासी के पास कोई भी जाकर अपनी योग्यता प्रदर्शित कर उनका वारिस बन सकता है।

गीता हमें स्नेह से मना नहीं करती अभिस्नेह से आसक्ति से मना करती है। स्नेह सबके साथ करें पर अभिस्नेह किसी के साथ नहीं।

वेद का उद्घोष है—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद दुःखभाग्भवेत्।
हे ईश सब सुखी हों, कोई न हो दुखारी,
सब हो निरोग भगवन्! धन-धान्य के भण्डारी,
सब भद्र-भाव देखें, कल्याण के व्रती हों,
दुखिया न कोई होवे जगती में प्राणधारी।।

पर किसी एक का भला हो और सबका बुरा हो यह अभिस्नेह है। आसक्ति है। और सब जहन्नुम में जायें मेरा बेटा तो करोड़पति, अरबपति होना चाहिये। मेरा बेटा प्रधानमंत्री होना चाहिये, भले ही देश लुट जाये, पिट जाये यह अभिस्नेह है। इसी कारण आज देश में अव्यवस्था है, देश की अधोगति हो रही है।

तो स्नेह सबके प्रति अभिस्नेह किसी के प्रति नहीं। यह सनातन वैदिक आर्य हिन्दू धर्म की वेदान्त की, गीता की विशेषता है। हम सबको सुखी देखकर सुखी होते हैं, सबको खिलाकर खाना चाहते हैं। भारत ने सारे विश्व को धर्म और दर्शन का, ज्ञान-विज्ञान का, सभ्यता और संस्कृति का, कला और कौशल का दान, अपनी श्रेष्ठताओं का दान निःस्वार्थ भाव से, विश्व मंगल की भावना से अपने निष्कलंक चरित्र, निर्मल ज्ञान के द्वारा बिना किसी देश की स्वाधीनता छीने, बिना किसी देश के अर्थ पर डाका डाले, बिना किसी देश की मां-बहनों के शील पर आघात किये, बिना किसी देश के सांस्कृतिक जीवन-मूल्यों को तहस-नहस किये और बिना अपने देश का अहित किये हुए दिया।

हम अपने भले के साथ सबका भला सोचते हैं। हम अपनी समस्याओं का समाधान करते समय सारे विश्व की समस्याओं को सामने रखते हैं, यह भारत की विशेषता है। भारत ने तो सारे विश्व का भला किया पर सारा विश्व इसके बदले में भारत को आग-आतंक, घुसपैठ, अलगाव, धर्मान्तरण, राष्ट्रान्तर, तस्करी, नशीली मादक वस्तुएं एवं अपराध दे रहा है।

इस दृष्टि से सेमिटिक परम्परा (यहूदी, ईसाई, इसलाम) की और पश्चिम की दृष्टि भिन्न है—

डॉ. पितृम ए. सोरोकिन (डाइरेक्टर हार्वर्ड सेन्टर इन क्रिएटिव अल्ट्रइज्म) अपनी पुस्तक—रिकन्स्ट्रक्शन आफ ह्यूमैनिटी (पृष्ठ 47) में ईसाई मिशनरियों के कार्यों का मूल्यांकन करते हुए लिखते हैं—'विगत कुछ शताब्दियों में मानव समाज का वह वर्ग जो सर्वाधिक युद्धपिपासु, सर्वाधिक आक्रामक, सर्वाधिक बलात्कार परायण तथा सर्वाधिक सत्तामदोन्मत्त रहा है, वह निश्चय ही पाश्चात्य ईसाई जगत् है। इन शताब्दियों में पाश्चात्य ईसाइयत ने सभी दूसरे महाद्वीपों पर आक्रमण किया है। इनकी सेनाओं ने जिनके पीछे-पीछे इनके पादरी और व्यापारी चलते हैं, अधिकांश गैर ईसाई राष्ट्रों को गुलाम बनाकर लूटा-खसोटा है। पूर्णतया अशिक्षित आदिम जातियों से आरम्भ कर गैर ईसाई राष्ट्रों तक के प्रति उनका यह अत्याचार रहा है। आदिम अमरीकावासी, अफ्रीकावासी, आस्ट्रेलियावासी तथा एशियाई जनसमूह—सभी इस विचित्र प्रकार के ईसाई प्रेम के शिकार हुए हैं, जिनके सामान्य लक्षण रहे हैं—निर्दयतापूर्ण सर्वनाश, पराधीनता, बलात्कार, सांस्कृतिक जीवन मूल्यों का क्षरण, सामाजिक संस्थाओं का तथा ईसाई प्रेम के शिकार हुए व्यक्तियों की जीवन पद्धति का विनाश, शराबखोरी, यौन रोगों व व्यावसायिक हृदयहीनता आदि सामाजिक पापों का प्रसार, आदि-आदि।

इसलाम का इतिहास भी कम दर्दनाक नहीं। उन्होंने गैर मुस्लिम (काफिर) देश के विरुद्ध जिहाद बोलकर भयंकर रक्तपात किये। नारी जाति का घोर अपमान किया। धन और इज्जत को लूटा। नन्हे-नन्हे बच्चों को दीवारों में चुनवाया। विधर्मियों की आँखें निकलवायी, बोटी-बोटी नुचवायी, आरे से चिरवाया, चर्खियों पर कटवाया, दो-दो पैसों में सिर बिकवाये, जलते हुए तवों पर जलवाया, उबलती हुई देग में जलवाया, खून के खांखरे जलवाये, मन्दिरों-मठों को तोड़ा, पुस्तकालयों-विश्वविद्यालयों को जलाया, देव प्रतिमाओं को अपने शौचालयों में औंधे मुख लगवाया। दुर्लभ ग्रन्थों को जलाकर अपने हमाम गर्म करवाये और गुलाम देश के नर-नारियों को विदेश में गुलाम बनाकर बेचा। यह सब दुर्भाग्य से धर्म के विस्तार के लिएं घोर अधर्म होते रहे।

पश्चिम सबका शोषण कर केवल अपना ही भला चाहता है। ब्रिटेश ने 70 देशों का शोषण कर, उनको श्मशान बनाकर अपना वैभव खड़ा किया है। पश्चिम ने कमजोर अविकसित देशों का शोषण कर उसे अपना बाजार बनाकर अपना उपनिवेश बनाकर अपना विकास किया है और आज भी यही दृष्टि है। शोषण के रोज नये-नये लुभावने जाल रचते हैं। पश्चिमी दुनिया के लोग सारे सुखों पर, सारे भोगों पर अपना अधिकार समझते हैं। उनका भाव है सारी दुनिया हमारी सेवा के लिए है। अन्यों को तो हमारे सुख के लिए अपनी सेवा प्रस्तुत करनी चाहिये। इसी दृष्टि से उनकी अर्थ नीति है, विदेश नीति है। अमेरीका आदि यूरोपीय देशों की यही दृष्टि है। हम उनको कच्चा माल पानी के भाव देते रहे और उनके पक्के माल को हम कई गुणा दामों में खरीदते रहे। सबको कंगाल बना करके अपने को वैभव-सम्पन्न बनाना, यही उनकी दृष्टि है। इसी दृष्टि से उनकी बहुराष्ट्रीय कम्पनियां भारत में कार्यरत हैं। ये हमारे राजनेताओं को खरीद कर अपने अनुकूल सरकार और कानून बनवाते हैं। ईसाई मिशनरियां भी इस काम में उनकी सहयोगी हैं, परस्पर की सहायता करते हैं। ईसाई मिशनरी धर्मान्तरण से उन बहुराष्ट्रीय कम्पनी का बाजार बनाती है। वे देश की खनिज सम्पदा की जानकारी उनको देती है और बहुराष्ट्रीय कम्पनियां अपने लाभांश का एक हिस्सा ईसाई मिशनरियों को धर्मान्तरण के लिए देती है। इस प्रकार दोनों मिलकर देश को लूट रहे हैं, शोषण कर रहे हैं।

उनकी दृष्टि है हम ही सब कुछ हैं और सब हमारी सेवा के लिए हैं। यह अभिस्नेह है। इससे हमें दुनिया को बचाना है। जो अपना अध्यात्मिक विकास चाहता है उसे धीरे-धीरे विवेक से प्रयासपूर्वक तोड़ना चाहिये।

भगिनी निवेदिता को भी अपनी जाति-देश पर बहुत अभिमान था। उसे स्वामी विवेकानन्दजी ने धीरे-धीरे तोड़कर उससे ऊपर उठाया तभी वह भारत के

साथ एकाकार हो सकी और यह तभी सम्भव है जब अपने देश के प्रति अभिस्नेह टूटे और अन्य सभी देशों से स्नेह जुड़े। और यह हुआ तभी भारतीय बनकर भारत की सब प्रकार की सेवा के लिए अपने को समर्पित कर सकी। इस प्रकार स्नेह सभी के प्रति अभिस्नेह किसी के प्रति नहीं।

इसके साथ-साथ शुभ और अशुभ, दोनों में सम रहता है। न शुभ का अभिनन्दन या स्वागत करता है और न अशुभ से द्वेष करता है, तिरस्कार करता है। पर यह बहुत कठिन स्थिति है। यहां साधक का नहीं स्थितप्रज्ञ का लक्षण बताया जा रहा है। साधारणतः जब शुभ होता है तो मन फूलकर कुप्पा हो जाता है और अशुभ होता है तो मन सूखकर छुहारा हो जाता है, आंखों से अश्रु बहने लगते हैं। पर संत अशुभ में भी प्रभु का मंगलमय विधान ही देखते हैं। स्वामी अखण्डानन्दजी के गुरु उड़िया बाबा थे। उड़िया बाबा की हत्या हो गई। एक पागल अन्तेवासी ने नाराज होकर लाठी मारी, सिर फट गया और मृत्यु हो गई। उस समय अखण्डानन्दजी अमृतसर में थे। उनको लगा कि उनके गुरु उड़िया बाबा की हत्या हो गई है। जाने का कोई साधन नहीं मिल रहा था। स्वामीजी ने अपने शिष्यों से बताया उस समय मेरे मन में गुरु नानकजी की एक पंक्ति स्फुरित हुई—

उतते हो ही नहीं कुछ बुरा,
और कहो किन्हें कुछ करा।

उससे तो कुछ बुरा हो ही नहीं सकता है। वह परमात्मा जो करता है वह मंगल के लिए करता है और बताओ करने वाला दूसरा कौन है? अगर उसी ने किया है तो इसमें भी कुछ उद्देश्य होगा। स्वामी ने बताया कि इस पंक्ति को दोहराने से मेरे मन को शान्ति आयी।

ऐसे ही मान-अपमान में भी समता बनी रहती है। कोई उनका अपमान करता है तो वह उससे रुष्ट नहीं हो जाता है क्योंकि वह जानता है वह अज्ञानी है वह मेरा उचित मूल्यांकन कर सके, मुझे ठीक से समझ सके, इसका सामर्थ्य उसमें नहीं है। इसका जितना स्तर है उसी के आधार पर तो वह व्यवहार करेगा। जैसे बच्चे कुछ भी बोल देते हैं तो उसका कोई बुरा नहीं मानता है, कोई शराब के नशे में अपशब्द बोलता है तो उसका कोई बुरा नहीं मानता है। उसी प्रकार अपमान वही कर सकता है या तो जो बालक के समान अबोध है या अज्ञान के नशे में या अंधकार में है, नहीं तो वह उसका अपमान कर ही नहीं सकता। अतः वह न तो अपमान से क्षुब्ध ही होता है, और न अपमान करने वाले से द्वेष ही करता है। क्योंकि वह जानता है यह अज्ञानी है। इसका बड़ा प्रसिद्ध उदाहरण संत तुकाराम का है, गौतम बुद्ध का है। एक बार गौतम बुद्ध को एक व्यापारी ने जी-भर कर गाली दी कि तुमने

बड़ा ढोंग रचा है, सबको संन्यासी बनाकर उनके घरों को उजाड़ रहे हो आदि। नाना प्रकार की गाली देता रहा। पर गौतम बुद्ध शान्ति से सुनते रहे और उनके साथ उनका शिष्य भी चुप रहा। जब वह गाली देकर थक गया और गौतम बुद्ध को शान्त पाया तो वह चुप हो गया। और गौतम आगे बढ़ गये। तो उनके शिष्य ने कहा—आपकी आज्ञा हो तो उसको मजा चखा दूं। तब बुद्ध ने कहा, मैंने तो उससे कुछ लिया नहीं तुम यदि लिए हो तो वापस कर आओ।

एक बार शरणानन्दजी अपने शिष्य के साथ टहलते-टहलते किसी के बगीचे में प्रवेश कर गये। अनधिकृत प्रवेश से माली गाली बकने लगा। शरणानन्दजी को उनके भक्त ने बताया कि माली आपको गाली दे रहा है। शरणानन्दजी ने ध्यान नहीं दिया तो माली और जोर-जोर से अपशब्द कहने लगा। शिष्य को बहुत बुरा लगा, उसने पुनः स्वामीजी से कहा। तब स्वामीजी ने कहा, कह दो, हम नहीं लेते। यह सुनकर माली लज्जित हुआ और उसे लगा यह कोई साधारण व्यक्ति नहीं कोई संत-महात्मा है। उसे ग्लानि हुई और क्षमा मांगने लगा। तब शरणानन्दजी ने कहा, अरे भलेमानस! तू तो इतनी दूर से बोल रहा था मैं तो अपनी ही बात अपने तक नहीं पहुंचा पाता हूं, सुन नहीं पाता हूं, तू तो इतनी दूर से बोल रहा था।

भारतीय की विशेषता है बुराई में भी अच्छाई ढूंढ़ते हैं। उसी को ग्रहण करते हैं। उसी की चर्चा करता है, उसी का प्रसार करता है। पर सेमिटिक परम्परा, पश्चिम की परम्परा अच्छाई में भी बुराई ढूंढ़ती है, सत्य को तोड़-मरोड़कर असत्य प्रमाणित करने की चेष्टा करती है। इस मौलिक भेद को सदा ध्यान में रखना चाहिये।

अधिकांशतः पाश्चात्य विद्वान भारत का बुरा देखने के लिए ही भारत के अध्ययन में प्रवृत्त होता है। ये अच्छाई में बुराई ढूंढ़ते हैं, अच्छाई को भी तोड़-मरोड़कर बुराई की तरह पेश करते हैं। मैकाले के अनुसार भारत का ज्ञान एक अलमारी में समा जाता है। वेद-गड़रियों के गीत हैं जो पुरानी बाइबिल से चुराये गये हैं, गीता नयी बाइबिल से चुरायी गयी। रामायण, महाभारत, गीता Myth हैं (गपोड़ है)। भारत में कोई राष्ट्र-जीवन नहीं था। भारतीय इतिहास लिखना नहीं जानते थे।

मेरा स्वयं का चर्च के प्रति अनुभव। भगवान् श्रीकृष्ण, रामकृष्ण परमहंस देव को किस तरह तोड़-मरोड़कर प्रस्तुत कर रहे थे। भगवान् श्रीकृष्ण और रामकृष्ण देव ईसा के प्रकाश से प्रकाशित हैं। पुरुलिया में ईसा मसीह और भगवान् श्रीकृष्ण पर नाटक खेला गया जिसमें ईसा मसीह और भगवान् श्रीकृष्ण में पहले वाक् युद्ध होता है जिसमें भगवान् श्रीकृष्ण पराजित हो जाते हैं फिर द्वन्द्व युद्ध, उसमें भी भगवान् श्रीकृष्ण पराजित हो जाते हैं। इसकी अध्यक्षता

High School का हिन्दू हेडमास्टर कर रहा था। स्वयं परम पूज्य गुरुदेव स्वामी संवित् सोमगिरिजी महाराज को एक चर्च के कार्यक्रम में बुलाया गया। वहां एक नाटक खेला गया—जिसमें यमराज का अभिनेत्री से प्यार हो जाता है। इस प्रकार हिन्दू देवों को विकृत रूप में प्रस्तुत करना और वह भी महाराजजी की उपस्थिति में, इसे क्या कहा जाये?

इस प्रकार सेमिटिक परम्परा और पश्चिम के मनीषी भारत की अच्छाई में भी बुराई देखते हैं। इसके विपरीत हिन्दू विरोधी में भी, शत्रु में भी सत्य को ढूंढ़ता है, बुराई में अच्छाई को, विविधता में एकता को, एकात्मता को ढूंढ़ता है। यह दोनों में मौलिक अन्तर है।

वास्तव में जिनके पास विष ही विष है तो अमृत कहां से देंगे? जिनके पास दुर्गन्ध ही दुर्गन्ध है तो वह सुगन्ध कहां से देंगे—इसलिए भारत के दान के बदले में ये आग, आतंक, अलगाव, तस्करी, गुलामी, अपराध दे रहे हैं।

स्थितप्रज्ञ न तो शुभ का अभिनन्दन करता है, न अशुभ का तिरस्कार। संत तो दंश करने वाले बिच्छू को भी अपनी करुणा ही देते हैं। वे शुभ-अशुभ के प्रति साक्षी भाव रखते हैं। किसी को अपने से नहीं चिपकाते।

शुभ भी बुलबुला है अशुभ भी बुलबुला है। दोनों ही जाने वाले हैं, कोई रहने वाला नहीं है। शुभ-अशुभ से कोई बच नहीं सकता चाहे प्रभु राम हो, भगवान् श्रीकृष्ण हो। अतः वह उसे सहता है, उससे स्वयं को असंग कर लेता है, केवल द्रष्टा बना रहता है।

पूर्ववर्ती श्लोक में कार्य रूप सुख-दुःख की चर्चा है। इस श्लोक में कारण रूप शुभ-अशुभ की चर्चा है। शुभ ही सुख में, अशुभ ही दुःख में रूपान्तरित होता है।

यदा संहरते चायं, कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रिया-णीन्द्रियार्थेभ्यस्, तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।। 2/58

और कछुआ सब ओर से (अपने) अंगों को जैसे समेट लेता है, (वैसे ही) जब यह (पुरुष) इन्द्रियों के विषयों से इन्द्रियों को सब प्रकार से (अच्छी तरह) हटा लेता है (तब) उसकी बुद्धि स्थिर होती है।

भारत की मान्यता है जहां से भी सत्य, ज्ञान की सीख मिले ग्रहण करना चाहिये। यह सारी सृष्टि सारी प्रकृति खुला विश्वविद्यालय है। अतः हमारे यहां ज्ञान का, सत्य का द्वार सब प्रकार से खुला रहा। यही कारण है कि पशुओं से बहुत सी सीख ग्रहण की। इसलिए बहुत से आसन हमने पशुओं से सीखे और

वे आसन उन्हीं के नाम से हैं। हमारे साहित्य में जानवरों के व्यवहार का कितना निरीक्षण मिलेगा। अपने रामायण, महाभारत, पंचतंत्र जानवरों के व्यवहार से भरे हुए हैं, हम उनके व्यवहार से बहुत-कुछ सीख सकते हैं। हमारे साहित्य में जानवरों की अनेक कथाएं हैं। ये अब भारत से अनेक देशों में पहुंच गई हैं, जो समस्त विश्व के सभी बच्चों को प्रेरणा देती है, वयस्कों तक को भी।

भारत में दर्शन बुद्धि का विलास नहीं, प्रत्यक्ष व्यवहार में चरितार्थ करना है। इस श्लोक में भगवान् अद्भुत उदाहरण कछुए का देते हैं। सम्भवतः भगवान् कूर्मावतार को स्मरण कर रहे हैं। भगवान् के कई अवतार हैं। उसमें पहला मत्स्यावतार है, दूसरा कूर्मावतार है, समुद्र मंथन करते समय जब मंदराचल नीचे धंसने लगा तो भगवान् ने कूर्म बन करके उसको सहारा दिया।

कछुओं में अद्भुत सामर्थ्य होती है वह जब चाहे अपनी इन्द्रियों को विषय में प्रवृत्त कर देता है, जब कोई खतरा नहीं आनन्द से विचरण करता रहता है और जब उसे खतरा महसूस होता है तब विषय से अपनी इन्द्रिय को समेट लेता है। उसकी छह इन्द्रियां होती हैं। चार पैर, एक मुंह और एक पूंछ। जब उसे खतरा लगता है तो छहों इन्द्रियों को अपने अन्दर समेट लेता है, अपने अन्दर दुबक जाता है। इस प्रकार जब चाहे वह इन्द्रियों को फैला देता है और चाहे जब इन्द्रियों को समेट लेता है।

जिसमें यह क्षमता विकसित हो जाये जब चाहे जहां चाहे इन्द्रियों को विषय में प्रवृत्त करा दे और जब चाहे इन्द्रियों को विषय से समेट ले उसकी प्रज्ञा स्थिर है, वह स्थितप्रज्ञ है। अर्जुन ने स्थितप्रज्ञ का लक्षण पूछा था कि वह कैसे उठता है, बैठता है, संसार में कैसे विचरता है, कैसे व्यवहार करता है। तो भगवान् यहां कछुए का उदाहरण देकर कहते हैं स्थितप्रज्ञ में कछुओं की तरह सामर्थ्य होती है, जहां अभय है वहां विषयों में अपनी इन्द्रिय को प्रवृत्त कर देता है और जहां भय है वहां वह इन्द्रियों को विषय से समेट लेता है।

कछुए की कुछ विशेषता है जो साधक के जीवन में होनी चाहिए।

(1) कछुए को थोड़ा ध्यान से देखें तो वह ऊपर से कठोर होता है और अन्दर से मुलायम। उसका ऊपरी भाग अत्यन्त कठोर होता है, उसे पत्थर पर गिरा दो, हथोड़ा मार दो तो उसका कुछ नहीं बिगड़ेगा। जो हमारी ढाल बनाई जाती थी उसमें गेंडे की खाल लेते थे या कछुए की। ऊपर से बहुत कठोर अन्दर से बहुत मुलायम। माता तो अन्दर और बाहर मुलायम होती है। पर पिता, गुरु, महापुरुष कैसे होते हैं? ऊपर से बहुत कठोर होते हैं, पर अन्दर से मुलायम। गुरु के जीवन को, महापुरुष के जीवन को देखने से लगता है इनके जीवन के अन्दर कैसी कठोरता है। किसी भी प्रकार के सुख के प्रति, कामिनी, कंचन, कीर्ति के

प्रति कठोर दृष्टि रखते हैं। कुछ पता ही नहीं लगता. कब-किस प्रकार से वे कठोर होकर के वर्षों के सम्बन्ध को काटकर रख देते हैं। मेरे गुरुदेव बड़े महाराजजी के विषय में बता रहे थे। मायावती के अन्दर बड़े महाराजजी गये हुए थे, और वहां पर रामकृष्ण परमहंस आश्रम में एक बहुत ही श्रेष्ठ विद्वान महात्मा थे और उस समय बड़े महाराजजी ब्रह्मचारी अवस्था के महात्मा थे। वहां कई महीनों तक रहने के पश्चात् बड़े महाराजजी उनके पास में गये तो वो उस समय पुस्तक पढ़ रहे थे और अत्यन्त ही प्रेम का सम्बन्ध था इनके साथ। बड़े महाराजजी ने कहा, मैं जाना चाहता हूं यहां से तो सिर बिना उठाये अंग्रेजी में पूछा, कुछ समय के लिए या सदा के लिए। बड़े महाराजजी ने कहा, सदा के लिए। बिना सिर उठाये कहा कि जाओ। क्यों जा रहे हो, कहां जा रहे हो, क्या तकलीफ है, कुछ नहीं पूछा। इसलिए सावधान हो जाना। दिखाने को तो बहुत प्रेम दिखा रहे हैं और कब छोड़ देंगे पता नहीं। अतः बाहर से कठोर अन्दर से मुलायम। और आवश्यकता होने पर वे दोनों की अभिव्यक्ति कर देते हैं।

दूसरा, कूर्म आलस्य रहित होता है। बिलकुल आलस्य नहीं करता। हम सब खरगोश और कछुए की कहानी जानते हैं। दोनों में तय हुआ कि वहां पर पहुंचना है। खरगोश ने कहा, ये कछुआ है, इसकी चाल धीमी है। अतः में थोड़ी झपकी ले लेता हूं और उसने नींद ले ली। क्या है बाद में कर लेंगे। आज करे सो काल करे और काल करे सो परसों! इतनी जल्दी क्या पड़ी है, अभी जीयेंगे बरसों! खरगोश ने सोचा—मैं एक मिनट में छलांग लगाकर आगे निकल जाऊंगा तो वो सो गया तो सो ही गया। कछुआ धीरे-धीरे चलता हुआ वहां पर पहुंच ही गया। कछुआ आलस्य रहित होता है। उसमें आलस्य एकदम नहीं होता। पर हड़बड़ी नहीं करता—शनैः पन्था शनैः कन्था। हड़बड़ी नहीं करता बस जल्दी-जल्दी पार कर लूं। ऐसा साधक लड़खड़ा कर गिर जायेगा। इसलिए उसके अन्दर बताया धीरे-धीरे करके नियमित रूप से करना। नियमित रूप से रोज सौ माला फेरूंगा।

शनैः पन्था शनैः कन्था शनैः पर्वतमस्तके।
शनैः विद्या शनैः वित्तम् पंचैतानि शनैः शनैः।।

मार्ग चलना, कम्बल बनाना, पर्वतारोहण, विद्या और धन—पांचों धीरे-धीरे आते हैं।

धीरे-धीरे रे मना, धीरे सब कुछ होय।
माली सींचे सौ घड़ा ऋतु आए फल होय।।

आपने बीज बोया है। सींचा है। ऋतु आने पर फल प्राप्त होगा।

धीरे-धीरे निरन्तर चलना कछुए का गुण होता है। वह हड़बड़ी नहीं करता। बड़ा धैर्यवान होता है। जब तालाब के अन्दर पानी सूख जाता है तो वह बाहर

निकलता है। उसके अन्दर ऐसी शक्ति होती है उसकी स्पर्शेन्द्रिय इतनी ज्यादा संवेदनशील होती है इतने मील दूर पानी का कोई स्रोत हो, तालाब हो, तो उसे पता लग जाता है और उस दिशा के अन्दर चलता ही जाता है, चलता ही जाता है। ऐसा धैर्य साधक के अन्दर होना चाहिये।

कई कहानियां आपने सुनी हैं नारदजी की। नारदजी बैकुण्ठ जा रहे थे तो एक तपस्वी उनसे पूछता है कि नारदजी आप कहां पर जा रहे हैं? कहा कि मैं तो बैकुण्ठ जा रहा हूं। कहा कि पूछकर के आइये कि मुझको दर्शन कब होंगे? कहा, ठीक है। थोड़ी दूर जाकर एक दूसरा तपस्वी मिला। कहा कि नारदजी कहां जा रहे हैं? कि बैकुण्ठ जा रहा हूं। कहा कि पूछकर के आना कि दर्शन कब होंगे? नारदजी लौटकर के आये वहां से और एक तपस्वी को बताया कि तेरे को तो तीन जन्म लग जायेंगे तीसरे जन्म में दर्शन होगा। वहीं पर जपना छोड़ दिया माला को। कहा कि तीन जन्म के अन्दर फिर इस जन्म का क्या होगा? सब-कुछ छोड़-छाड़ करके और वापस चला गया। भगवान् क्या इतना भी ध्यान नहीं रखते? मैं ऐसे ही तपस्या कर रहा हूं। आगे जो दूसरा साधक था उसके पास में गये नारदजी और कहा कि भई इस पीपल के पेड़ में जितने पत्ते हैं उतने जन्म के बाद में तुम्हें भगवान् के दर्शन होंगे। वो वहीं पर नाचने लगा और कहा दर्शन तो होंगे, भगवान् ने ये तो आश्वासन दे दिया। कहा, दर्शन तो होंगे धैर्य चाहिए अपने अन्दर। दर्शन तो होंगे मेरे को। ऐसा धैर्य उस कछुए के अन्दर उसका यहां पर संकेत करते हैं। कछुआ चलता कैसा है? जब एक तालाब में पानी सूख जाता है तो दूसरे तालाब की ओर कछुआ जाता है तो जो पगडण्डी बनी हुई होती है उससे दूर हटकर के चलता है पगडण्डी पर नहीं चलता। छिप-छिप करके चलता है और साधक को क्या करना चाहिए? दिखा-दिखा करके साधना करनी चाहिए हम यही तो करते हैं। क्यों भई? दिखा-दिखा करके साधना करनी चाहिए या छिप करके साधना करनी चाहिए? रामकृष्ण परमहंस कहते थे कि भोजन और भजन एकान्त के अन्दर करना चाहिए। जाकर के बिस्तर के ऊपर मच्छरदानी लगाकर लेट जाओ। जब सब लेट जाएं तो उठकर के बैठ जाओ और माला फेरनी शुरू कर दो।

हमारे एक साधक गुरुभाई थे। नये-नये आये थे वो। ढलती हुई अवस्था में गुरुदेव से उनका सम्पर्क हुआ था। मन्त्रदीक्षा वगैरा ली आश्रम में रहे थे। श्रावण का महीना चल रहा था तो अपने कमरे के अन्दर बैठकर वो पूजा करते थे बड़े शिवभक्त थे वो। उनके साथ हमेशा शिवलिंग रहता था। केदारनाथ में गुरुदेव से उनका मिलन हुआ था। तो वो अपने कमरे के अन्दर पूजा कर रहे थे और वहां पर वो सहस्रनाम से अर्चना कर रहे थे। दरवाजे को खोलकर के रखा था ताकि हम लोगों को पता लग जाए आते-जाते साधकों को पता लग जाए कि वो कमरे

में बैठ करके साधना कर रहे हैं। गूढ़चारिता होनी चाहिए। आप कहोगे कि इससे क्या होगा? बिना गूढ़चारिता के चाख लग जायेगी क्यों भाई! चाख लग जाती है न। द्वेष उत्पन्न हो जायेगा कोई कटाक्ष कर सकता है। मन में विक्षेप हो जायेगा और कुछ नहीं तो आपके अन्दर जो बहिर्मुखता है वह पड़ी हुई रहेगी। इसलिए गूढ़चारिता इसका बहुत महत्त्व है। और फिर बताया लक्ष्य में दृढ़ता होनी चाहिए। एक लक्ष्य कि हमको वहां पर पहुंचना है। हमारा वो लक्ष्य सामने रहना चाहिए निरन्तर लक्ष्य सामने रहना चाहिए।

कछुआ जब जाता है एक तालाब से दूसरे तालाब की तरफ। एक महात्माजी ने उसका साक्षात् अनुभव किया कुछ बच्चों ने देख लिया कछुए को तो उसको पकड़ करके ले जाकर के उसको दूर छोड़ दिया जिधर से वो आ रहे थे उधर छोड़ दिया थोड़ी देर में वो वापस जा रहा है उसको पकड़ करके फिर उसका मुंह मोड़ दिया फिर घूम करके वापस उसी तरफ जा रहा है कितना भी उसको मोड़ दो वापस मुड़-मुड़ करके उसी तरफ जा रहा है। कैसी भी परिस्थिति आ जाए आपको जब-जब धकेल दे पीछे की तरफ। वह कभी भी समझौता नहीं करता इन परिस्थितियों के साथ के अन्दर।

जीवन के अन्दर एक वियोग आ गया। जवान लड़का मर गया। सारी पूजा को उठाकर के छोड़ दी। घाटा लग गया सारी पूजा को उठाकर के छोड़ दिया ऐसा नहीं करना। लक्ष्य की तरफ बढ़ते चले जाना। चाहे हम कटते जाएं लेकिन लक्ष्य की तरफ बढ़ते जाएं। एक कूर्म का चलना ऐसा ही होता है और साथ ही उसके अन्दर एक सजगता चाहिए। ये कछुआ आगे बढ़ता है तो इधर-उधर देखता हुआ। सजग रहकर के चलना चाहिए। साधक को यदि अपने लक्ष्य की तरफ आगे बढ़ना है तो निरन्तर सजग रहना चाहिए। पता नहीं किस रूप में और कैसे आकर के हमला हो जाए। एक इन्द्रिय को रोक लिया ऐसा नहीं। पांचों की पांचों इन्द्रियों को रोककर रखना है। सभी कर्मेन्द्रियों को, सभी ज्ञानेन्द्रियों को और मन को सावधान। चौबीसों घण्टे सावधान रहना है। तब जाकर के बढ़ेगा। तो आप लोगों ने सुना होगा हरिण पकड़ा जाता है शब्द के अन्दर आसक्ति के कारण। और स्पर्श में आसक्ति के कारण हाथी पकड़ा जाता है। रूप में आसक्ति के कारण पतंगा पकड़ा जाता है। और रस में आसक्ति के कारण मछली पकड़ी जाती है। गन्ध में आसक्ति के कारण भँवरा पकड़ा जाता है। और मनुष्य को पकड़ने के कारण हैं पांचों के पांचों—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये पांचों ज्ञानेन्द्रियां और पांचों कर्मेन्द्रियां। बन्धुओ! कभी भी कर्मेन्द्रियां, ज्ञानेन्द्रियों के बिना काम कर नहीं सकती। एक इन्द्रिय जिसको हम कहते हैं त्वग्इन्द्रिय वो सारे शरीर के अन्दर व्याप्त है वो जीभ के अन्दर भी है वो हर कर्मेन्द्रिय के अन्दर बैठी हुई है। कहीं पर

ज्यादा प्रकट है कहीं पर कम प्रकट है। इसलिए इससे सावधान रहना। और सबसे खतरनाक कौनसी इन्द्रिय है? ये जीभ। यह कर्मेन्द्रिय भी है ज्ञानेन्द्रिय भी है। दो-दो ज्ञानेन्द्रिय यहां पर बैठी हुई हैं एक तो उसके अन्दर स्पर्श इन्द्रिय भी काम करती है और उसके अन्दर रसनेन्द्रिय भी काम करती है और इसके अन्दर वाणी की इन्द्रिय भी काम करती है? तीन-तीन इन्द्रियां एक साथ काम करने वाली जीभ के ऊपर—जिते रसम् जिते सर्वम्। जिह्वा को जीत लिया तो सब-कुछ जीत लिया। ऐसा यहां पर बताया। ये यहां पर कछुआ बहुत सावधान होता है। जरा भी खतरा आया झट से इन्द्रियों को अन्दर खींच लिया साधक को भी ऐसा होना चाहिए जरा भी खतरा आया चाहे कोई भी इन्द्रिय हो चाहे कोई भी आकर्षण दिखाई दिया झट से उस इन्द्रिय को अन्दर खींच लिया। सारी इन्द्रियों को खींच लिया मन को अन्दर की तरफ खींच लिया ऐसा यहां पर कूर्म के दृष्टान्त से बताया। घण्टों-घण्टों तक पानी के अन्दर बैठा हुआ रहता है सबसे लम्बी आयु इस पृथ्वी पर किसी की है तो कछुए की है। कहते हैं सैकड़ों वर्षों तक पुराणों में तो हजारों वर्षों का दृष्टान्त आता है। क्यों? प्राणायाम का अभ्यास करता है? योगी लोग प्राणायाम का अभ्यास करके अपनी उम्र को दो सौ साल तीन सौ साल कर लेते हैं तिब्बत के अन्दर हजार साल से ज्यादा उम्र के लोग भी रहते हैं। ऐसे हठयोग का अभ्यास करने वाले। इसलिए कूर्म का दृष्टान्त देकर के प्राणायाम का भी उल्लेख कर दिया भगवान् ने। इन्द्रियों को खींचकर के रखता है इसको प्रत्याहार कहते हैं। प्रत्याहार का भी उल्लेख कर दिया, धारणा, ध्यान और समाधि का भी उल्लेख कर दिया। कछुए के बारे में यह प्रसिद्धि है उसका अपने अण्डों को चिन्तन के द्वारा सेना। दूर बैठी रहती है जो कछवी होती है वो अण्डों को देने के पश्चात् में। ऊपर बैठकर के उनको नहीं सेती है वो संकल्प के द्वारा सोच-सोच करके मन को एकाग्र करके उन अण्डों को सेती है और उसके बाद में उसके अन्दर से उसके बच्चे प्रकट होते हैं। ऐसी शक्ति होता है धारणा और ध्यान में। लोगों ने प्रयोग करके देखा कि अण्डे देने के पश्चात् में वो कछुवी पकड़ी जाती है, मर जाती है तो उन अण्डों के अन्दर से बच्चे नहीं निकलते हैं। ऐसा एक आन्तरिक सम्बन्ध होता है।

कछुआ आक्रामक लड़ाई नहीं लड़ता वह तो सुरक्षात्मक लड़ाई लड़ता है। वैसे साधक विषयों से कितना लड़ेगा तो जिन्दगी गुजर जायेगी। अतः उसे सुरक्षात्मक लड़ाई लड़नी चाहिये। विषयों से बचना चाहिये। विषयों को देखा, खतरा है, सावधान हो जाये। देखने में कोई दोष नहीं है, देख ले। जब देख ले तो अच्छा पास रहने में भी कोई दोष नहीं है। पास बैठे। बात करने में तो कोई दोष है ही नहीं। अच्छा छू लेने में, स्पर्श करने में। फिर दोष किसमें है। फिर क्या होता है नहीं मालूम। खतरा है खतरा। जहां खतरा दिखे वहां कछुए की तरह अपनी

इन्द्रियों को समेटो। इसको कहते हैं प्रत्याहार। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार। प्रत्याहार का मतलब-विषयों से इन्द्रियों को वापस बुला लेने की क्षमता। जहां-जहां सांसारिक विषयों के आक्रमण की सम्भावना है वहां-वहां से इन्द्रियों को समेटना है। यही प्रत्याहार है। मन को विषयों से हटाकर परमात्मा में स्थिर करे।

निग्रह और संयम

इन्द्रियों को विषयों से खींचने के दो प्रकार हैं—निग्रह और संयम। जो अस्थायी होता है उसको निग्रह कहते हैं और जो जीवन का तत्त्व ज्ञान बनता है, स्थायी होता है उसको संयम कहते हैं।

कुछ लोग श्रावण महीने में पकौड़ी खाना छोड़ देते हैं, परन्तु ये लोग भादों की प्रतिपदा की राह देखते रहते हैं और श्रावण महीना समाप्त होते ही तुरन्त भरपेट पकौड़ी खाते हैं। इसको अस्थायी संयम कहते हैं।

निग्रह आवश्यक है। जीवन में आग्रह होगा तभी निग्रह आता है। जिसके जीवन में आग्रह नहीं होता उसके जीवन में निग्रह नहीं आता। निग्रह का क्रमशः संयम में रूपान्तर होना चाहिये। जीवन में निग्रह लाना कठिन होता ही है, परन्तु संयम लाना उससे भी कठिन होता है।

अमुक समय के लिए वस्तु को खाना छोड़ देना शक्य है। इस प्रकार निग्रह कठिन नहीं है। परन्तु भोजन करने पर दो ही पकौड़ी खाऊंगा तीसरी नहीं खाऊंगा यह निश्चित करके वैसा आचरण किया गया तो उसको संयम कहते हैं। इस संयम का पालन कठिन होता है। इसी को युक्ताहार-विहार कहा गया है। दो पकौड़ी खाने प्र अधिक के लिए कितना भी आग्रह हुआ, पकौड़ी अच्छी लगती है, रुचिकर बनी हुई है, तो भी संयम पालन करने वाला व्यक्ति तीसरी पकौड़ी नहीं खाता। मनुष्य एक बार बेशुमार पकौड़ी खा सकता है, या बिलकुल भी नहीं खा सकता, भूखा भी रह सकता है परन्तु तौल कर उचित मात्रा में खाना नहीं सधता। दोनों सिरे सध जाते हैं, दोनों अतियां सध जाती हैं परन्तु मध्यम अवस्था नहीं सधती। कठिन है। संसार त्याग कर जगत् में रहना शक्य है परन्तु संसार में रहकर भगवान् की ओर मन मोड़ना कठिन है।

अंग्रेजी में एक कथा है। एक सियार ने अंगूर के मंडप पर अंगूर देखे और उसका मन ललचाया। अंगूर खाने के लिए उसने खूब उछलकूद की परन्तु उसको अंगूर की प्राप्ति नहीं हुई। अन्त में कहा, 'ये अंगूर खट्टे हैं, मुझे नहीं चाहिये।' इसको संयम नहीं कहते हैं। लाचारी को संयम नहीं कहा जाता। इन्द्रियां विषयों में जाने पर उसको खींचने की क्षमता को संयम कहा जाता है।

संयम जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में आवश्यक है—एक समय में माता-पिता का अपने लड़कों पर अधिकार चलता था। लड़का कहीं जाने को निकला और मां-ब़ाप की इच्छा न हो तो पिता की आंख के इशारे से ही लड़का वापस लौटता था। आज कल तो माता-पिता का बच्चों पर नियंत्रण नहीं है।

व्यवहार में संयम की अत्यन्त आवश्यकता है। किसे, किसके साथ, कितना बोलना है यह समझना चाहिये। ऐसा संयम परिवार में भी अपेक्षित है। परिवार में बोलने के लिए संयम पालन नहीं किया जाता, इसलिए देवरानी-जेठानी, सास-बहू, भाई-भाई, पिता-पुत्र में झगड़े होते हैं। मनुष्य के पास कितना बोलना और कितना नहीं, इसका विवेक होना चाहिये।

सामाजिक संयम—जहां-तहां नहीं थूकना, ऐसी जोर-शोर से चर्चा नहीं करना कि अन्य की पढ़ाई में, सत्संग में या कार्य में असुविधा होवे। जोर से रेडियो नहीं बजाना। सभा या सत्संग के बीच में नहीं उठना।

संयम का पालन करने वाला मनुष्य अपनी इन्द्रियों को कछुए के समान विषयों से खींच सकता है। विषयों के साथ झगड़ता नहीं। विषय तो रहने वाले हैं। वे अपनी बुद्धि को आघात नहीं करें, इतना ही मनुष्य को देखना है। आज की भाषा में यह रक्षात्मक लड़ाई Defensive war है। विषय आघात करते हैं तब अपनी इन्द्रियों के अन्दर समेट लेने की कला कछुए से सीखें। कछुए की इस कला को जो सीख लेता है और जीवन में चरितार्थ करता है उसकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित होती है। प्रज्ञा प्रतिष्ठित होने पर भी उसमें एक दोष रह जाता है। उस दोष को कैसे दूर करे यह अगले श्लोक में भगवान् कहते हैं।

इस श्लोक में अर्जुन के उस प्रश्न का भी उत्तर दे दिया गया, जिसमें उसने पूछा था कि स्थितप्रज्ञ 'किमासीत'—कैसे बैठता है। स्थितप्रज्ञ कछुए के समान बैठता है, व्यवहार करता है।

किसी-किसी व्याख्याकार ने इसे साधना अवस्था माना है और किसी ने सिद्धि अवस्था। हम इसे साधना अवस्था ही मानते हैं। क्योंकि इसमें एक दोष रह जाता है। यह ठीक है कि हम कछुओं की तरह इन्द्रियों को विषयों से खींच लेते हैं इससे इन्द्रियों को आहार नहीं मिलता। परन्तु इन्द्रियों में अपने आहार के प्रति लालसा बनी रहती है। आंख रूप को देखना छोड़ दे, कान मधुर संगीत को सुनना छोड़ दे, जिह्वा खट्टे-मीठे स्वादु भोजन छोड़ दे, परन्तु इससे क्या होता है, इससे इन्द्रियों के विषय दूर हो गये, परन्तु इन विषयों के प्रति लालसा, उनके प्रति चाह तो दूर नहीं हुई। जब तक मन में इन्द्रियों के विषयों के प्रति लालसा चाह बनी हुई है, तब तक प्रज्ञा स्थिर कैसे हो सकती है। इसी का उत्तर भगवान् श्रीकृष्ण अगले श्लोक में दे रहे हैं।

विषया विनिवर्तन्ते, निराहारस्य देहिनः।
रस-वर्जं रसोऽप्यस्य, परं दृष्ट्वा निवर्तते।। 2/59

निराहारी (अर्थात् इन्द्रियों द्वारा विषयों को न ग्रहण करने वाले) पुरुष के (भी केवल) विषय (तो) निवृत्त हो जाते हैं, (परन्तु उनमें रहने वाली) आसक्ति निवृत्त नहीं होती। इस स्थितप्रज्ञ पुरुष की (तो) सूक्ष्मतम आसक्ति भी परब्रह्म का साक्षात्कार करके निवृत्त हो जाती है।

इसके पूर्व श्लोक में देखा कछुए की तरह हम विषयों से इन्द्रियों को हटा लेते हैं। यह अवस्था जाने-अनजाने में भी बहुत बार आती है।

हम निर्जला एकादशी का पालन करते हैं। इससे आहार से तो दूर हो जाते हैं पर आहार के प्रति मन में जो रस है वह तो बना ही रहता है। फलतः मन में तो सुस्वादु भोजन का उपभोग करते हैं। हॉस्टल में जब हम रहते हैं तो बड़े अनुशासन में रहते हैं। शान्त-शिष्ट बने रहते हैं पर घर आते ही उपद्रव प्रारम्भ हो जाता है। बहुत बार हम मौनव्रत का पालन करते हैं पर मन में क्या न क्या बोलते रहते हैं। शरीर अस्वस्थ होने से भोगों में मन की प्रवृत्ति नहीं होती, पर स्वस्थ होते ही पुनः भोगों में प्रवृत्ति हो जाती है, जब वृद्धावस्था में हमारा शरीर इन्द्रियां असमर्थ हो जाती है तब भी भोग छूट जाते हैं, पर मन में उसके प्रति लालसा बनी रहती है। विषयों की स्मृति, पर विषयों का रस हमें व्याकुल, अशान्त करता रहता है। उसके लिए छटपटाहट बनी रहती है। बुढ़ापे में जिह्वा की स्वाद शक्ति नष्ट हो जाने से बढ़िया भोजन में भी उनको स्वाद आता नहीं तब उनको झुंझलाहट होती है। शरीर निराहार रहने से इन्द्रियां एवं मन भी दुर्बल हो जाते उस अवस्था में वे विषय भोग में प्रवृत्त नहीं होती है, पर पुनः भोजन के द्वारा शरीर थोड़ा भी पुष्ट होते ही पुनः विषयों में प्रवृत्ति होने लगती है।

इस प्रकार जाने-अनजाने बहुत बार इन्द्रियां विषयों से तो हट जाती हैं पर विषयों का चिन्तन नहीं छूटता। इसका कारण यह है कि विषयों के प्रति जो मन में रस है, आसक्ति है वह तो नष्ट नहीं होती, बनी रहती है। श्री रामकृष्णदेव एक कथा कहा करते थे कि कैसे एक बाजीगर जब लोगों को अपने करतब दिखाकर पैसे की मांग कर रहा था, तब उसकी जिह्वा उलटकर तालु से सट गयी और उसे जड़ समाधि लग गयी। लोगों ने समझा कि उसे यथार्थ ही समाधि लग गयी है और वे उसे पूजने लगे। दीर्घकाल तक वह बाजीगर उसी प्रकार जड़वत् पड़ा रहा। अचानक एक दिन उसकी जीभ तालु से हट गयी और वह सामान्य स्थिति में आ गया। वह तुरन्त उठकर फिर से करतब दिखाने लगा और पैसे की मांग करने लगा। हठयोगी साधक प्राणायाम के सहारे प्राणों का नियमन कर भूमि के भीतर लगातार

कई दिनों तक समाधि लगाकर बैठ जाता है, तो क्या ऐसी समाधि स्थितप्रज्ञता की समाधि कहलायेगी?

एक नट की कथा आती है जो छह महीने की समाधि लगा सकता था। एक राजा ने ऐसी समाधि लगाने पर 5 गांव व एक हाथी पारितोषिक देने को कहा। उसको महल की एकान्त कोठी में ताले में बंद कर दिया गया। पांच माह उसमें पड़ा रहा। इस बीच एक अन्य राजा ने उस राजा के राज्य पर चढ़ाई की और पराजित करके उस राज्य पर अधिकार कर लिया। उसने निरीक्षण करते समय महल की एक कोठरी में सुदृढ़ ताला देखकर उसको तुड़वाया तो एक पुरुष को समाधि अवस्था में पाया। राजा उसे कोई बड़ा योगी समझकर नित्य धूप और पुष्प चढ़ाकर दर्शन करने लगा। छह महीने बीतने पर जब समाधि खुली तो राजा वहीं थे और बड़े प्रसन्न हुए। लेकिन नट ने समाधि खुलते ही दीनता के स्वर में कहा—'अन्नदाता! अब मेरा पारितोषिक 5 गांव और एक हाथी मिलना चाहिये।' राजा पहले तो चौंका परन्तु बाद में समस्त वृत्तान्त जानकर उसकी असलियत जान गया। इस प्रकार 5 गांव व एक हाथी की वासना छह माह की समाधि के बाद भी वैसी ही रही, निवृत्ति न हुई परन्तु सच्चे स्थितप्रज्ञ की ज्ञान समाधि होती तो अखिल ब्रह्माण्ड का आधिपत्य भी उसको तुच्छ ही दीखता।

आत्मानन्दजी अपने साधनाकाल की अवस्था का स्वयं अनुभव बता रहे हैं। हठयोग की क्रियायें केवल भौतिक हैं। तो, ये जो प्राणायाम-आसन आदि क्रियायें हैं, वे भौतिक हैं। उनका ईश्वर से कोई सम्बन्ध नहीं है, उनसे ब्रह्मोपलब्धि नहीं होती। एक बार जब वे हिमालय में वास कर रहे थे, तब मन की निश्चलता के लिए हठ योग का अभ्यास कुछ अधिक मात्रा में कर रहे थे। एक दिन देवयोग से एक पहुंचे हुए महात्मा से उनकी भेंट हो गयी। उनसे वार्तालाप के प्रसंग में उन्होंने अपनी साधना की चर्चा की। उन्होंने कहा कि प्राणायामादि के अभ्यास से मन कुछ समय के लिए निश्चल तो अवश्य हो जायेगा पर वह निश्चलता क्षणिक ही होगी। कुछ देर बाद मन पुनः विक्षेप का शिकार हो जायेगा। उसका कारण बताते हुए कहा—मन दो प्रकार से उत्तेजित होता है—एक तो बाहर के कारणों से, दूसरा भीतर के कारणों से। बाहर के इन्द्रिय विषय सतत मन को अपनी ओर खींच कर इन्द्रियों को उत्तेजित करते रहते हैं। उसी प्रकार भीतर की स्मृतियां भी मन को उद्वेलित करती रहती है। मन में इन्द्रिय भोगों के लिए जो रस समाया हुआ है, वही इस बाहरी और भीतरी उत्तेजना का मूल कारण है। जब तक यह रस नहीं सूखेगा, तब तक प्राणायाम आदि के अभ्यास से प्राप्त मन की स्थिरता क्षणिक ही होगी। प्राणायाम आदि क्रियायें मन में समाये हुए उस रस को नहीं सोख सकतीं। केवल विवेक, वैराग्य और ज्ञान की साधना ही उस रस को सुखा सकती है।

तो क्या, उन्होंने उनसे पूछा, 'प्राणायाम आदि का अभ्यास किसी प्रकार सहायक नहीं होता? उन्होंने उत्तर देते हुए कहा, होता है पर तब, जब उसका अभ्यास विवेक-वैराग्य और ज्ञान की साधना के साथ जुड़ा हो। इसके बिना हठयोग केवल भौतिक व्यायाम है। उसका अतिरेक मनुष्य को देह-केन्द्रित बना देता है। इसलिए हठयोग का अभ्यास भी सावधानी के साथ करना चाहिये—यह ध्यान देते हुए कि हमारा मन किसी भौतिक शक्ति की उपलब्धि को तो कहीं अपना लक्ष्य नहीं बना रहा है।'

महात्माजी का उपदेश उनको बड़ा सार्थक लगा। उन्होंने जब आत्मनिरीक्षण किया तो पाया कि हठयोग के अभ्यास से मन को कुछ समय के लिए शून्य तो कर लेता हूं पर यह शून्यता अधिक देर टिकती नहीं है। यह तो कुत्ते की पूंछ के समान है, जब तक उसे दोनों हाथों से सीधा करके रखा जाये, तब तक सीधी दिखती है और छोड़ते ही पहले के समान टेढ़ी हो जाती है। उनके उपदेश के आलोक में उनको गीता के विवेच्य श्लोक का अर्थ हृदयपटल पर उद्भासित हो उठा। तब उनकी समझ में आया कि सारी साधना का प्रयोजन उस 'रस' को सुखाने में है। अध्यात्म के राज्य में हठयोग की क्रियाएं वहीं तक उपयोगी है जहां तक वे उस रस को सोखने में सहायक होती है। यह रस ही उस परमतत्त्व की उपलब्धि में प्रत्यवाय है, बाधा है।

इस प्रकार जाने-अनजाने में अनेकों बार हम विषय से तो दूर हो जाते हैं, हठयोग के द्वारा भी कुछ काल के लिए विषय तो दूर हो जाते हैं, पर चूंकि विषय का रस मन में बना रहता है। फलतः हम पुनः सांसारिक विषय-भोगों में लिप्त हो जाते हैं। विषयों से तो दूर हो गये पर विषयों के प्रति रस या स्मृति हमें व्याकुल-अशान्त करती रहती है। फलतः मन में विषयों को भोगने लगते हैं, यह धोखा है। इस स्थिति के निवारण के लिए भगवान कहते हैं परम तत्त्व के दर्शन से विषयों के प्रति-रस भी चला जाता है। जब तक परमात्म दर्शन, ब्रह्मज्ञान नहीं होगा तब तक संसार के विषयों में गुप्त, सुप्त रस बना ही रहता है। यही कारण है कि बहुत से साधक आगे बढ़ने के पश्चात् भी फिसल जाते हैं। क्योंकि गुप्त-सुप्त रस बना रहता है। विश्वामित्र आदि इसी कारण पतित हुए थे। अतः गीता का कथन है कि इन विषयों में रस है, परन्तु परब्रह्म का रस सबसे बड़ा है, उसे 'रसानां रस' कहा गया है, वह रसों का रस है, मूल रस है, परम रस है। जब मनुष्य के सम्मुख वह रस आ जाता है, तब वह विषयों के रस को भूल जाता है।

गुरुनानक देवजी कहते हैं—

वो रस आवत यह रस नहीं भावत।

जिन्होंने उस रस को चख लिया है उनकी प्रवृति फिर विषय रस में नहीं हो पाती है। ऐसा हम रामकृष्ण परमहंसदेवजी के जीवन में, स्वामी विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ, साधु वास्वानी के जीवन में, गौतम बुद्ध के जीवन में पाते हैं।

एक भक्त ने रामकृष्णदेव को वेश्या की कोठी में ले जाकर छोड़ दिया उनकी परीक्षा लेने की दृष्टि से। रामकृष्णदेव 'मां! इस रूप में नहीं, इस रूप में नहीं' कहते-कहते समाधि में चले गये। विवेकानन्द को बदनाम करने के लिए पादरियों ने एक षोडशी को विवेकानन्द के पास भेज दिया। वह सीधे उनकी गोद में जाकर बैठ गयी। तब विवेकानन्द ने कहा—पिता को पुत्री से कितना आनन्द आता है, इसकी अनुभूति मैंने आज की।

आज का मनोविज्ञान भी यह कहता है कि विषयों को अगर न भोगा जायेगा तो उनकी लालसा मन के भीतर पड़ी-पड़ी बेचैनी पैदा करती रहेगी। मनोविश्लेषणवादी की यह धारणा है कि जो लोग ब्रह्मचर्य, तपस्या, संयम आदि पर बल देते हैं वे यह नहीं जानते कि इन बातों से मानसिक-विकृति उत्पन्न हो जाती है, व्यक्ति कुण्ठित हो जाता है। गीता के लिए यह बात नयी नहीं है। गीता भी कहती है कि इन्द्रियों को विषयों का भोग न मिलना ही संयम नहीं है। इस प्रकार के संयम में लालसा, राग तो बना ही रहता है। असली समस्या यह नहीं है कि हम इन्द्रियों को भोग न दें, असली समस्या यह है कि हम लालसा को कैसे मिटाये। इसका उत्तर मनोविश्लेषणवादी तो यह देते हैं कि इन्द्रियों को भोग भोगने देना चाहिये। इससे लालसा मिट जाती है, मनोविकार नहीं होता। व्यक्ति कुण्ठित नहीं होता। इनके यहां विषयों की दासता से व्यक्ति कभी मुक्त नहीं हो सकता। हम जानते हैं विषयों के उपभोग से विषयों से निवृत्त नहीं होते। विषयों का तो क्षय नहीं होता, हम ही क्षय को, भोग को प्राप्त हो जाते हैं। लालसा की सामयिक निवृत्ति ही (अधिक से अधिक) होती है आत्यन्तिक नहीं। यहां गीता का उत्तर है इन्द्रियों को इन्द्रियों के रस से भी ऊंचे रस, परब्रह्म के रस में, लगा देना चाहिये। जब इन्द्रियां विषयों से ऊंचे रस में डूब जायेंगी तब न कुंठा होगी और न मनोविकार, न कोई शारीरिक रोग या विकृति होगी। तब व्यक्ति ऊंचे रस में डूबकर स्थितप्रज्ञ हो जायेगा।

इसकी अनुभूति हमको-आपको, सबको है थोड़ी-बहुत। जब हम शिशु थे तब खिलौने प्रिय थे—उससे बड़े होने पर खेलकूद, उससे बड़े होने पर कहानी में, अध्ययन में रुचि, किसी की कविता में, किसी को शोध में, किसी को विज्ञान के आविष्कार में तब इसके पूर्व की वासनाएं स्वतः छूट जाती हैं। इन सबसे ऊंचा रस परब्रह्म का है। उस परम रस को ही उधार लिए हुए छिट-पुट रस विषयों में होता है। अतः परम रस मिलते ही वे सब छोटे-छोटे रस छूट जाते हैं। यहां पश्चिम

का मनोविज्ञान फ्रायड का कोई काम नहीं आता। यहां फ्रायड बेकार हो जाता है फ्रायड का वश तो 'विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः' तक चलता है। फ्रायड यहीं रुक जाता है। अध्यात्म इसके आगे जाता है। 'परं दृष्टवा निवर्तते' में फ्रायड हार मान जाता है।

परम तत्त्व के दर्शन से विषय का रस भी चला जाता है। इसलिए गीता कहती है केवल निराहार मत रहो। उसकी जड़ जो है विषयासक्ति का रस। उस रस को उखाड़ दो। बस। परं दृष्टवा निवर्तते। रस व्याख्यान से नहीं जाता, रस तोता रटन्त से नहीं जाता है। रस तो भगवान् की कृपा से, भगवान् के साक्षात्कार से जाता है। जिन्होंने साक्षात्कार के परिणामस्वरूप रस को जीत लिया, रस को जीतने वाला सारी सृष्टि को जीत लेता है। वहां फ्रायड बेकार है। कहां तक फ्रायड की काम-ग्रन्थि काम करती है जहां तक निराहार रखकर भीतर रस का बना रहना, उसका चिन्तन करना। यह तो बेईमानी है। कामाचार है। अतः केवल निराहार से काम नहीं चलेगा, उसके साथ-सौथ परमात्मा के साथ परम लक्ष्य के साथ, ज्ञान के साथ जुड़ा हुआ भी होना चाहिये। तभी विषयों का रस भी चला जाता है।

इस श्लोक की बड़ी सुन्दर व्याख्या डॉ. हरवंशलाल ओबरायजी ने की है, जो इस प्रकार है—

कई बार जिस वस्तु की हम कामना करते हैं उस वस्तु के छिन जाने या दृष्टिपथ से हट जाने पर उसकी कामना ढीली पड़ जाती है या विस्मृत हो जाती है। किन्तु अचेतन मन में वह कामना अवसर की घात लगाए पड़ी रहती है और अनुकूल अवसर आने पर पुनः प्रखररूप में प्रकट हो जाती है। राख के नीचे दबी हुई चिनगारी के समान वह अनुकूल वायु के झोंके से पुनः भड़ककर पूरे भवन को आग लगा सकती है। गीता में भगवान् ने कहा है—

विषया विनिवर्तन्ते, निराहारस्य देहिनः।
रस-वर्जं रसोऽप्यस्य, परं दृष्ट्वा निवर्तते।। 2/59

इन्द्रियों को विषयरूपी भोग न मिलने से विषय छूट जाते हैं और इन्द्रियां निराश होकर सूख जाती हैं किन्तु विषयों का रस नहीं छूटता। वह अचेतन मन में विषयों के शिकार की प्रतीक्षा करता रहता है। जैसे बिल्ली को बहुत दिन तक चूहा न मिलने से वह दुर्बल निराश हुई एक कोने में घात लगाए पड़ी रहती है और चूहे के निकलने पर पुनः झपट्टा मारकर अपनी कामना की पूर्ति कर लेती है। बदरीनारायण की यात्रा में हिमालय की बर्फीली ठण्डक में कई सर्प मिलते हैं जो बर्फ में जमे हुए मृतप्राय से पड़े रहते हैं। उन्हें छूने, गले में लपेट लेने या इधर-उधर फेंकने से वे नहीं काटते। किन्तु जो बालक खेल हेतु उन सबको घर में उठा लाता

है और अंगीठी के पास आग तापने के लिए बैठता है तो वह सर्प भी आग के ताप से पुनः चेतन होकर उस बच्चे को ही काट लेता है।

जैन दर्शन में बंधन दो प्रकार के माने गए हैं—द्रव्य बंध और भाव बंध। द्रव्य बंध विषय-भोगों या वस्तुओं का बंधन है। जैसे शराबी को शराब की बोतल का बड़ा विचित्र आकर्षण पागल बना देता है किन्तु जब बहुत समय तक परिस्थितिवश शराब न मिले, शराबी निर्धन हो जाए, शराब की भट्ठी बंद हो जाए या सरकार की ओर से मद्यनिषेध का अध्यादेश आ जाए या शराबी गंभीर रूप से रुग्ण हो जाए या ऐसी परिस्थिति में फंस जाए जहां वर्षों तक शराब का दर्शन-स्पर्शन न हो सके तो यह नहीं कहा जा सकता कि शराबी सुधर गया है। इसने पिछले 20 वर्ष से शराब नहीं पी है। वास्तव में उसके अचेतन में शराब के प्रति आकर्षण बना रहता है। मन से विषयों का चिंतन करते रहना भाव बंध है। वह व्यक्ति प्रत्यक्ष बोतल की शराब न पी सकता हो किन्तु मन की शराब रोज पीता है। वह शराब और शराबियों के किस्से सुनता है, शराब की महिमा में कविता पढ़कर या सुनकर झूमने लगता है। उसके अचेतन या अवचेतन में शराब की लालसा बोतलप्राप्ति के लिए भूखी बिल्ली के समान घात लगाए पड़ी रहती है।

हमने समझा था कि वर्षात में वर्षेगी शराब,
आयी बरसात तो बरसात ने दिल तोड़ दिया।

इस प्रकार का विषयों का मानसिक बंधन, विषयों के रस का बने रहना मानव के भावी पतन का कारण बन जाता है। यह लेश मात्र भी बचा रहे तो भी बहुत बड़े विकार का कारण बन जाता है। दही जमाने वाले मिट्टी के बर्तन में छिद्रों में दही की कुछ लाग बच ही जाती है। इसलिए बरतन को साफ कर लेने पर भी उसमें डाला हुआ दूध बिना जामन के भी दही बन जाता है, छेना का थोड़ा सा रस कड़ाही भर दूध को फाड़ देता है। (अचेतन और अवचेतन) मन में छिपा हुआ विषयों का रस मानव के व्यक्तित्व को कब फाड़ देगा यह कहना कठिन है। किन्तु वह विषयरस पूर्णरूप से निकले बिना मानव का कल्याण नहीं है। भगवान् कहते हैं कि वह विषयरस तभी जाता है जब मनुष्य ब्रह्मानन्द रस को चख लेता है। अश्वत्थामा को उसके निर्धन पिता द्रोणाचार्य प्रतिदिन आटे का घोल दूध कहकर पिला देते थे। एक बार जब वह अपने मामा के घर गया तो वहां कपिला गाय का बढ़िया दूध पीकर बड़ा आनन्दित हुआ। उसने विस्मय से उस अमृत पेय का नाम जाना कि यही दूध होता है। असली दूध को पीने के बाद जब वह पुनः घर लौटा और पिता ने प्रतिदिन के समान उसे आटे का घोल पीने को दिया तो अश्वत्थामा बोला, 'पिताजी! अब नहीं, अब नहीं। अब मैंने असली दूध को चख लिया है। अब नकली दूध में कोई रुचि नहीं रही।' गुरु नानकदेव ने कहा है—

'वो रस आवा यह रस नहीं भावा।'

ब्रह्मानन्द रस चख लेने के बाद विषयरस तनिक भी मन को मोहित नहीं कर सकते। अतः मन को विषयरस से मुक्त करने, भावबंध से छुड़ाने का यह उपाय है कि मन को उससे श्रेष्ठ, उससे ऊंचा कोई अमर रस पिला दो। शिशु को खिलौने से प्रेम होता है। उसके सम्मुख खिलौना और दस हजार रुपए की गड्डी रखी जाए तो उसे खिलौने में ही रस है, रुपये में नहीं। बालक को लट्टू बिल्लौर (कांच की गोलियां) में और खेलकूद में रस आने लगता है। उसे शैशव की गुड़िया में रस नहीं रहा। किशोर को पतंगों में रस आने लगा है, युवक को जीवनसंगिनी में रस आने लगता है। उसे गुड़िया, पतंग, लट्टू में कोई रस नहीं। प्रौढ़ गृहस्थ को अर्थोपार्जन में रस मिलने लगता है। वह अपनी पत्नी, अपने भोजन तथा संतानों की भी उपेक्षा करके दूर-दूर के स्थानों पर विकट मार्गों में अर्थोपार्जन के लिए जाता है। जिस प्रकार बड़े रस के आने पर छोटा रस अपने आप छूटता जाता है उसी प्रकार धर्म की पुकार पर अर्थ का आकर्षण भी छूट जाता है। भामाशाह ने जीवनभर की और पूर्वजों की सारी कमाई राणा प्रताप के चरणों पर चढ़ा दी। भारतीय संस्कृति में अर्थ ने सदा धर्म को नमस्कार किया है। बड़े-बड़े चक्रवर्ती सम्राट् अपनी चतुरंगिणी सेना लेकर जंगल में जाते और अपना स्वर्णकिरीट, मणिमुकुट के साथ चतुरंगिणी सेना के सहित नितांत अकिंचन् कौपीनधारी ऋषि के चरणों में लेटकर साष्टांग दण्डवत प्रणाम करते। यह अर्थ का धर्म को नमस्कार है। धर्म का अर्थ मोटे तौर पर कर्तव्यपालन ही होता है। यह तभी तक सम्भव है जब तक कि मनुष्य जगत् में है। किन्तु जब जीव को जगत् से जाना है और जगत् को भी एक-न-एक दिन लय हो जाना है, तब जीव को ऐसा स्थान खोजना है जहां काल का पंजा न पड़ सके, जहां मृत्यु की छाया तक उसे न छू सके। जहां पूर्ण अमृतरस, ब्रह्मानन्द का सुधासिन्धु लहराता हो। जहां अखण्ड-अविनश्वर आनन्द का एकछत्र साम्राज्य हो, ऐसे पद का नाम मोक्ष या ब्रह्मप्राप्ति है। सारे धर्मों का अन्तिम लक्ष्य वही है। इसलिए धर्म को मोक्ष के चरणों में नमस्कार करना चाहिए। इसी अर्थ में भगवान् अर्जुन को कहते हैं—

सर्व-धर्मान् परित्यज्य, मामेकं शरणं व्रज। 18/66

यततो ह्यपि कौन्तेय, पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि, हरन्ति प्रसभं मनः।। 2/60

हे अर्जुन! क्योंकि ये प्रमथनशील इन्द्रियां प्रयत्न करते हुए बुद्धिमान् पुरुष के मन को भी बलपूर्वक हर लेती हैं (अर्थात् विषयों में खींच कर ले जाती हैं)।

यह श्लोक ज्ञान के मार्ग पर चलने वाले हैं उनको सावधान करने के लिए है। वे हड़बड़ी में इस मार्ग पर नहीं चलें वरन् इस मार्ग में आने वाली बाधाओं को

ठीक प्रकार से समझकर सावधानीपूर्वक इस मार्ग पर चलें। क्योंकि प्रत्येक मार्ग की कोई-न-कोई कठिनाई अवश्य होती है। उन बाधाओं को जानकर उसके प्रति सावधान होने के लिए यह श्लोक है, डराने के लिए नहीं। जैसे-रास्ते पर लिखा होता है यहां गाड़ी धीरे कर लेवें क्योंकि आगे Road Breaker है। यह डराने के लिए नहीं लिखा होता है वरन् सावधान करने के लिए।

इन्द्रियां जब विषयों को देखती है तो मन को हिला देती हैं, मथ डालती है और जबर्दस्ती मन को हर लेती है। ये इन्द्रियां डाकू के समान हैं, चोर या ठग के समान नहीं। चोर वह है जो हमारे सोते में सामान चुराकर ले जाये। ठग वह है जो जागते में हमें चकमा दे दे। डाकू वह है जो सामने आकर, मार-पीट कर हमारा सब कुछ लूट ले। इन्द्रियां चोर नहीं हैं, वे सोते में कोई छेड़छाड़ नहीं करतीं। वे ठग भी नहीं हैं, वे हमें चकमा नहीं देतीं। वे तो जानबूझकर अपना इरादा प्रकट करती हुई सामने आकर डट जाती है और बलपूर्वक, डंके की चोट पर मन का हरण करके ले जाती है। वे लुक-छिपकर हम पर घात नहीं करतीं। जैसे दही में से मक्खन निकालने के लिए दही को मथ डालते हैं वैसे ही इन्द्रियां भी विषयों को देख कर मन को मथ डालती हैं यानी ध्येय से हिला देती है, गिरा देती है और मन को हर कर विषय रूपी गड्ढ़े में ले जाती हैं।

असंख्य जन्म-जन्मान्तरों से विषयों को भोगते-भोगते इन्द्रियां इतनी अभ्यस्त हो गयी हैं कि बार-बार विवेक द्वारा बुद्धि को समझाने पर भी थोड़ी सी भी असावधानी होने पर क्षणभंगुर दोषयुक्त विचारों से इन्द्रियां मन को हर कर ले जाती हैं। हम इन असंख्य जन्मों के विषय-भोगों के संस्कार को दूर करना चाहते हैं। पर प्रयत्न कें बावजूद भी फिसल जाते हैं। क्योंकि जन्म-जन्मान्तर का दबाव है। जैसे-चालीस वर्षों से खैनी का, चाय पीने या सिगरेट का अभ्यास है। पर अब हम उसे छोड़ना चाहते हैं, पर न चाहते हुए भी अपने समय पर इन सब वस्तुओं पर मन का ध्यान चला जाता है, स्वतः हाथ उस ओर बढ़ जाते हैं। क्योंकि ये सब वस्तु छोड़ने का निर्णय चेतन मन ने लिया है। और यह दबाव चालीस साल का अचेतन मन के गहरे कोने तक पहुंच गया है। इसकी बड़ी ताकत है। और वह जल्दी बदलने को राजी नहीं होता है।

एक आदमी चालीस साल तक अपनी स्त्री से प्रेम करता रहा है। अब जरा-सा गुस्सा आता है तो वह कहता है छोड़ देंगे। लेकिन कोई छोड़ता-वोड़ता नहीं, क्योंकि चालीस साल जो पकड़ा है, उसका वजन ज्यादा है। और ऐसा छोड़ना होने लगे तो जिन्दगी एकदम अस्त-व्यस्त हो जाये। अतः जिसे चालीस वर्षों से पकड़ा है, उसे धीरे-धीरे ही छोड़ सकते हैं।

विलियम जेम्स एक बहुत बड़ा मनोवैज्ञानिक अमेरीका में हुआ। वह संस्कार पर काम कर रहा था। एक दिन होटल में बैठा एक मित्र से बात कर रहा है और उसने कहा, 'इतना अजीब जाल है संस्कार का जिसका कि कोई हिसाब नहीं। तभी उसने देखा, सामने, पिछले महायुद्ध का रिटायर हुआ मिलिट्री का एक सैनिक चला आ रहा है। अण्डों की एक टोकरी लिए हुए हैं। उसे सूझा कि ठीक उदाहरण है। विलियम जेम्स ने होटल के भीतर से चिल्लाकर उससे कहा, 'अटेंशन'। वह मिलिट्री का आदमी अण्डे छोड़कर 'अटेंशन' खड़ा हो गया। रिटायर्ड हुए भी वर्षों हो गये उसे, लेकिन 'अटेंशन' ने बिलकुल बंदूक के ट्रिगर की तरह काम किया। 'गोली' चल गयी। वह आदमी बहुत नाराज हुआ कि 'तुम किस तरह के आदमी हो, यह कोई मजाक है? सारे अण्डे फूट गये। लेकिन विलियम जेम्स ने कहा कि तुमसे किसने कहा कि तुम अटेंशन हो जाओ। हमें 'अटेंशन' कहने का हक है। तुमसे ही कहा, यह तुमने कैसे समझा? और तुमसे कहा भी हो तो तुम पर होने की मजबूरी किसने लाद दी? उस आदमी ने कहा, 'यह सवाल कहां है, यह सोचने की बात है। इन पैरों ने वर्षों तक अटेंशन सुना है और अटेंशन हुए हैं। इसमें गैप ही नहीं है बीच में। उधर अटेंशन कहा गया कि इधर अटेंशन घटित हो जाता है। यही कारण है कि विश्वामित्र फिसल जाते हैं। विल्लमंगल की भी ऐसी कथा आती है।

वेदव्यासजी ने एक ग्रन्थ लिखा। वह ग्रन्थ उन्होंने शिष्य जैमिनी को पढ़ने के लिए दिया। जैमिनी पूर्व मीमांसा का प्रणेता। वह कोई सामान्य व्यक्ति नहीं था। जैमिनी ने सम्पूर्ण ग्रन्थ को पढ़ा और वेदव्यास से कहा, 'ग्रन्थ का सब लेखन ठीक है। परन्तु एक बात तनिक-सी अखरती है। आपने लिखा है, बलवानिन्द्रयग्रामो विद्वांसमपि कर्षति... इन्द्रियां सामान्य व्यक्ति को खींचती हैं, यह ठीक है परन्तु विद्वान को भी खींचती है, यह ठीक नहीं लगता।' कुछ दिन पश्चात् चमत्कार हुआ। वर्षा का समय संध्या के समय अकस्मात् बादल, बिजली और थोड़ी देर में वर्षा उतर आयी। अकस्मात् वर्षा होने से जैमिनी बाहर देखने आये तो देखा-बाहर वृक्ष के नीचे एक षोडशी सुन्दरी वर्षा में भीगी हुई ठण्ड से कांप रही है। उसे पर्णकुटी में बुलाया। एक कक्ष दिया स्वयं अपने कक्ष में चले गये। मन विचलित हुआ, उसके कक्ष में गये, उसे वस्त्र बदलने को कहा। उसके पास वस्त्र नहीं होने से वल्कल दिये पहनने और अपने कक्ष में भेज दिया जहां अंगीठी भी थी जिससे वह अपने शीत का वारण कर सके। वल्कल पहनने पर सुन्दरता और निखर गयी। वार्ता के क्रम में जाना अविवाहिता है अतः विवाह का प्रस्ताव रखा। उसने विवाह की शर्त बतायी बड़े संकोच के साथ कि जो व्यक्ति भूमि पर हाथ टेककर घोड़ा बनेगा, उस घोड़े पर मैं बैठूंगी फिर उसी अवस्था में अग्नि की चार परिक्रमा करना, प्रत्येक परिक्रमा पूर्ण होने पर उस व्यक्ति का गधे जैसी आवाज करना। जो इस

शर्त को पूरा करेगा उसी से मैं विवाह करूंगी। यहां तो देखने वाला कोई है नहीं। अतः शर्त पूरी की। अन्तिम परिक्रमा पूर्ण होने पर गधे जैसी आवाज निकालकर शर्त पूर्ण करने के आनन्द में गर्दन उठाकर देखा तो पीठ पर वेदव्यासजी बैठे हैं!

नारदजी भगवान् के भक्त थे। तपस्यारत थे। कामदेव उनको हराने आया, तब नारदजी उसके वश में नहीं हुए। कामदेव हार गये और वापस चले गये। तब नारदजी को अहंकार हो गया मैंने काम को जीत लिया। भगवान् की कृपा से काम को जीता यह बात वे भूल गये और फिर किस प्रकार पतन हुआ यह हम जानते हैं।

यह तथ्य और ये उदाहरण डरने या डराने के लिए नहीं है। क्योंकि जब हम इस मार्ग पर चलते हैं तो यह बाधा उपस्थित होती है इसलिए इसके प्रति सावधान हो जाना चाहिये। परन्तु लोग इससे डर जाते हैं और कहते हैं जब ज्ञानी पुरुष को ही इन्द्रियां हर लेती हैं तब हम अज्ञानी की क्या हालत होगी? अतः वे इस मार्ग को Reject कर देते हैं। और वे उदाहरण देते हैं जब इतने बड़े ऋषि विश्वामित्र भी गिर गये तो हम किस खेत की मूली हैं परन्तु अंक्सर लोग अधूरी कहानी बताते हैं। वास्तव में विश्वामित्र ने ब्रह्मर्षि पद को नहीं पा लिया तब तक अपनी साधना नहीं छोड़ी। परन्तु वे तो कहते हैं भाई हमलोगों के लिए तो अधूरी कहानी ही ठीक है। आगे की कहानी हमारे लिए नहीं है वरन् ज्ञानियों के लिए है। यही बात अन्य उदाहरणों के साथ कही जा सकती है। सभी ने अपने लक्ष्य तक पहुंचकर ही दम लिया।

जो आदमी गिरने से डरता है वह कभी चढ़ नहीं सकता। विवेकानन्द कहते हैं—हजार बार गिरे तो कोई बात नहीं, फिर उठकर खड़े हो जाओ।

यानी किसी मार्ग पर चलने के पहले उस मार्ग को समझ लेना चाहिये। उस मार्ग में आने वाली बाधाओं का भी विचार कर लेना चाहिये जैसे कि समुद्र के नाविक की योग्यता केवल इसी में नहीं है कि वह नाव खे लेता है वरन् उसमें आंधी-तूफान के पूर्व लक्षणों को पहचानने की भी योग्यता होनी चाहिये। गांवों में लोग वायुमण्डल की अवस्था को देख समझ लेते हैं कि थोड़ी ही देर में जोरों की आंधी आने वाली है और वे अपने इस ज्ञान के द्वारा अपनी रक्षा कर लेते हैं। इसी प्रकार साधक को इसका ज्ञान होना चाहिये कि कब इन्द्रियों में वेग उत्पन्न हो रहा है, अपने भीतर इन्द्रियादि के वेगों को पहचानने की क्षमता होनी चाहिये जिससे वह उनके आक्रमण से अपने मन की रक्षा करते हुए साधना-मार्ग में आगे बढ़ सके।

तानि सर्वाणि संयम्य, युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि, तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।। 2/61

(अतः) उन सभी इन्द्रियों को वश में करके समाहित चित्त वाला तथा मेरे परायण होकर स्थित रहे। क्योंकि जिस (पुरुष) की इन्द्रियां वश में होती हैं उसी की बुद्धि प्रतिष्ठित (सुस्थिर) होती है।

पूर्व श्लोक में देखा कि विषय से इन्द्रियों को हटा देने के बाद असंख्य जन्मों के विषय वासना के संस्कार के कारण विषयों के प्रति रस मन में बना रहता है जिसका परिणाम होता है हठात् विषयासक्त इन्द्रियां मन को हर कर ले जाती है इसके नियमन का उपाय भगवान् इस श्लोक में बता रहे हैं।

द्वितीय अध्याय को आचार्यों एवं संतों ने बीज अध्याय कहा है। द्वितीय अध्याय सम्पूर्ण गीता के सम्पूर्ण शास्त्र का बीज तत्त्व कहा है। यानी आगे जितने भी उपदेश आने वाले हैं उनका संकेत दे दिया गया है। द्वितीय अध्याय में जो कुछ कहा गया है उसी को अन्य अध्याय में पल्लवित किया गया है, विकसित किया गया है।

इसमें जीवन का शास्त्र यानी आत्मा की अमरता का प्रतिपादन तत्पश्चात् जीवन की कला उसे समभाव, सुख-दुःख, लाभ-हानि में समभाव। स्वधर्म का पालन निष्काम भाव से यानी कर्मयोग की चतुःसूत्री, अब स्थित-प्रज्ञ दर्शन में सांख्य योग एवं कर्मयोग का समन्वय बताया जा रहा है। अन्त में स्थितप्रज्ञ का अन्तिम परिणाम ब्राह्मीस्थिति या ब्रह्म निर्वाण या ब्रह्म प्राप्ति भी बताया जायेगा।

इस श्लोक में 'युक्त आसीत' के द्वारा ध्यान योग 'मत्परः' के द्वारा भक्तियोग का बीज रूप में विवेचन किया जा रहा है।

60वें श्लोक में इन्द्रियों के स्वभाव का वर्णन हुआ है—वे अत्यन्त बलवान होती हैं, प्रबल रूप से मन को मथ देती है। इन्द्रियों को उनके विषय-भोगों से दूर रखकर थोड़ी देर के लिए मनुष्य भले ही आत्मसंतोष कर ले कि इन्द्रियों को वश में कर लिया पर जब तक विषयों के प्रति मन में रस का भाव विद्यमान है, यह आत्म संतोष बहुधा छलना साबित होता है। मन पर विश्वास करने के कारण ही भगवान् शंकर को मोहिनी के पीछे-पीछे भटकना पड़ा था। और केवल अपनी शक्ति से मैंने इन्द्रियों को जीत लिया है यह अहंकार भी नहीं आना चाहिये अन्यथा नारदजी का कैसे पतन हुआ यह हम सब जानते हैं। संत तुलसीदासजी ने बड़ी रोचक कथा कही है कि नारद को काम-मोह ने कैसे पछाड़ा? नारदजी तो भगवान् के भक्त थे। कामदेव उनको हराने आया। तब नारदजी उसके वश में नहीं हुए। कामदेव हार गये और वापस चले गये। तो नारदजी के मन में अहंकार पैदा हुआ; मैंने कामदेव को जीत लिया, ऐसा उन्हें लगने लगा। भगवान् की कृपा से काम को जीता यह बात वे भूल गये। भगवान् ने देखा, नारद के मन में विशाल

गर्वरूपी पेड़ का बीज अंकुरित हो गया है। भक्त का अभिमान भगवान् रहने नहीं देते। इसलिए भगवान् ने ऐसी रचना की कि नारदजी सारी साधना भूल गये, मन का काबू खो बैठे। जिस 'काम' को उन्होंने हटाया था और विजय पा ली थी उसी 'काम' के जाल में फंस गये और कहने लगे—

जप तप कुछ न होई तेहि काला।
हे बिधि मिलइ कवन बिधि बाला।। 1/130/8 (मानस)
अति प्रचण्ड रघुपति कै माया।
जेहि न मोह अस को जग जाया।। 1/127/8 (मानस)

रघुपति की माया अतिप्रचंड है, उस माया ने जिसको मोहित नहीं किया, जिसको नहीं पछाड़ा, ऐसा जगत् में कौन जनमा है? तो, इस तरह भगवान् कहते हैं यह इन्द्रिय-समुदाय इतना बलवान है कि विवेकीपुरुष हो, विद्वान हो, अति-बुद्धिमान हो और इन्द्रियों के अधीन न होकर उन पर विजय पाने का, काबू पाने का सतत प्रयत्न करता हो तो भी इन्द्रियां उसके मन को पछाड़ देती हैं।

अतः इन्द्रिय विजय पर आत्मसंतोष करके विषय से मित्रता भी घात का कारण बनती है। और, मैंने काम को जीत लिया है यह अहंकार भी, पतन का कारण बनता है।

61वें श्लोक में इस इन्द्रिय वेग को प्रशमित करने का उपाय प्रदर्शित हुआ है। 60वें श्लोक में इन्द्रिय-वेग की तीव्रता का आभास दिया। प्रकारान्तर से सूचित किया गया कि जब मन में विषयों के प्रति रस विद्यमान है, तब तक इन्द्रियों से बहुत सावधान रहना चाहिये। पूर्व में यह भी बताया गया इस रस के सूखने पर ही परम तत्त्व का साक्षात्कार होता है। अब 61वें श्लोक में इस रस को सुखाने की प्रक्रिया प्रदर्शित हुई है। इस प्रक्रिया के तीन सोपान बताये गये हैं—

(1) इन्द्रियों का नियमन (तानि सर्वाणि संयम्य)

(2) मन की सावधानी, योग युक्त होना (युक्त आसीत) और

(3) भगवत्परायणता (मत्परः)

पहला सोपान कहता है—सभी इन्द्रियों का नियंत्रण करो। किसी एक इन्द्रिय को भी ढील न देवें। और यह न सोचें देखने में क्या दोष है, फिर बोलने में क्या दोष, फिर छूने में क्या दोष? तब इसका परिणाम पतन निश्चित है। यदि इन्द्रियां अनियंत्रित रहेंगी तो मन भी चंचल बना रहेगा। इन्द्रियां जब विषयों से हटेंगी तब मन का उद्वेलन भी कम होगा। जब तक इन्द्रियां विषयों के सेवन में रत रहेंगी, मन ईश्वर की ओर नहीं जा सकेगा। इसलिए इन्द्रियों के नियंत्रण के लिए योग का

सहारा लेवें—ध्यान योग का सहारा लेवें इसलिए 'युक्त आसीत' राज योग का बीज है।

दूसरा सोपान

युक्ताहार-विहारस्य, युक्त-चेष्टस्य कर्मसु।
युक्त-स्वप्नाव-बोधस्य, योगो भवति दुःखहा।। 6/17

योग तो यथायोग्य आहार-विहार करने वाले का, कर्मों में यथायोग्य प्रयत्न करने वाले का तथा यथायोग्य सोने और जागने वाले का ही (सिद्ध) होता है। साधन यह नहीं है कि एक ही दिन लाखों जप करने में लग गये। मनुष्य युक्त कब होता है?

यदा विनियतं चित्त,-मात्मन्येवा-वतिष्ठते।
निःस्पृहः सर्व-कामेभ्यो, युक्त इत्युच्यते तदा।। 6/18

जब चित्त समस्त कामनाओं से निःस्पृह होकर आत्मा में ही स्थिर रूप से स्थित है तब उसे युक्त कहा जाता है।

शक्नोती-हैव यः सोढुं, प्राक्-शरीर-विमोक्षणात्।
काम-क्रोधोद्-भवं वेगं, स युक्तः स सुखी नरः।। 5/23

जो मनुष्य इसी जीवन में, शरीर छूटने से पहले ही काम और क्रोध से उत्पन्न होने वाले वेग को सहन करने में समर्थ हो जाता है, वही योगी है और वही सुखी है।

कर्मण्यकर्म यः पश्ये,-दकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु, स युक्तः कृत्स्न-कर्म-कृत्।। 4/18

जो कर्म में अकर्म देखता है तथा जो अकर्म में कर्म देखता है, वह मनुष्यों में बुद्धिमान् है। वह योगी है और समस्त कर्मों को करने वाला है। इस प्रकार युक्त पुरुष के लक्षण गीता में अनेक स्थानों पर बतलाये गये हैं।

तीसरा सोपान कहता है दूसरा सहारा भक्ति का लेवें। सभी इन्द्रियों का संयमन करें। पर यह केवल हमारे बूते की बात नहीं है। अतः 'मत्परः' मेरा आश्रय लो। भगवान् कहते हैं मेरे परायण होओ। लेकिन कब आश्रय लोगे, अपनी तरफ से पूरी चेष्टा करने के बाद?'

वेद भगवान् की आज्ञा है महत्त-श्री की प्राप्ति करो। भगवान् से बढ़कर महत्त-श्री क्या हो सकती है? तुम श्री प्राप्त करना चाहते हो—दुनिया का धन, विद्या, ब्रह्मज्ञान। परमार्थ की श्री बिना, थक के चूर-चूर हुए बिना, उद्योग पूरा किये बिना, श्री की प्राप्ति नहीं होती ऐसा हमने पूर्वजों से सुना है। वह व्यक्ति पापी है,

जो अपने परिवार के आश्रय में छिपा रहता है। वेद भगवान् निकम्मों का समर्थन नहीं करते। गीता निकम्मों का समर्थन नहीं क़रती। केवल अपने परिवार में अपने मां के आंचल में छिपा हुआ है वह पापी है। आओ! संसार में करो, परिश्रम। चूर-चूर हो जाओ। भगवान् चलने वालों के सखा हैं, बैठने वालों के नहीं।

कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः।
उत्तिष्ठंस् त्रेता भवति कृतं संपद्यते चरंश्-चरैवेति।।

निद्रा में पड़े रहना कलियुग में वास है, जाग जाना द्वापर में वास है, खड़े हो जाना त्रेता में वास है, आगे बढ़ना सत्ययुग में वास है। इसलिए आगे बढ़ो, आगे बढ़ो।

आत्म कृपा के बाद ईश्वर कृपा बरसती हैं। परिश्रम करने वालों का भगवान् सखा है। कब भगवान् की शक्ति उतरेगी? जब तुम्हारी शक्ति समाप्त हो जायेगी। जब तक तुमने पूरी शक्ति का उपयोग नहीं किया, जब तक तुम्हारी शक्ति समाप्त नहीं हो जाती—हारे को हरिनाम। तुम थककर हार जाओ, तब भगवान् की शक्ति आयेगी। परिश्रम करने के बाद तुम भगवान् की सहायता मांगने के अधिकारी हो। जब मनुष्य का बल अपूर्ण साबित होता है वहां से भक्ति का आरम्भ होता है। अपना प्रयत्न कर चुकने पर हम दूसरे की सहायता के लिए बेचैन हो उठते हैं। इस व्याकुलता में से ही भक्ति का जन्म होता है। इससे पहले व्याकुलता नहीं होती अतः भक्ति नहीं होती। जब और जहां मनुष्य की पुरुषार्थ शक्ति कुण्ठित होती है, टूट जाती है, वहीं भक्ति आवश्यक हो जाती है। परिपूर्ण प्रयत्न किये बिना भक्ति के लिए गुंजाइश नहीं है। ईश्वर ने जो शक्ति हमें दे रखी है उसका पूरा-पूरा उपयोग करने के पश्चात् ही भगवान् की और शक्ति प्राप्ति के अधिकारी बनते हैं।

हम प्राप्त शक्ति का यदि पूरा-पूरा उपयोग न करें तो फिर अपनी शेष रखी हुई शक्ति ईश्वर हमें दे भी कैसे? बाप ने बेटे को व्यापार के लिए 10 हजार की पूंजी दी और उसने उसका उपयोग ही नहीं किया, तो बाप उसे एक लाख की पूंजी कैसे देगा? यदि पहली पूंजी का भलीभांति उपयोग करके दिखा देगा, तो बाप कहेगा—सब कुछ तुम्हारा ही है। हमारे और ईश्वर के बीच ऐसा ही सम्बन्ध है। वह अपने पास की सारी शक्ति हमें दे देने के लिए तैयार है, परन्तु उसकी आवश्यकता साबित करनी होगी।

अतः इन्द्रिय निग्रह के लिए ईश्वर की भक्ति का सहारा आवश्यक है। जहां हम हार जाते हैं वहां भगवान् के चरणों का आश्रय लो। तुम्हारी कृपा के बिना हम कुछ नहीं कर सकते।

भीतर-बाहर संसार भरा हुआ है। असंख्य जन्मों से हमने आंख से, नाक से, कान से, जिह्वा से संसार ही संसार भरा है। न जाने अन्दर क्या-क्या भरा है। बाहर भी संसार और आंख बंद करते हैं तो भीतर भी संसार। और रात-दिन हम संसार से युद्ध करते हैं। हम अकेले युद्ध कर रहे हैं। उस युद्ध में भगवान् सहारा देते हैं। मांगें सहारा, भगवान् सहारा देंगे। यह कार्य कठिन अवश्य है, पर हम लोग भी अमृत के पुत्र हैं, रामजी के शिष्य हैं, सेवक हैं, अतः कितना भी कठिन काम हो उसे रामजी का सहारा लेकर पूरा करेंगे ही। तभी प्रज्ञा स्थिर होगी।

इन्द्रिय निग्रह यह कोई स्वतन्त्र अथवा अन्तिम साध्य नहीं है। उद्देश्य तो प्रज्ञा को स्थिर करना है। इन्द्रिय निग्रह प्रज्ञा को स्थिर करने का साधन है। परन्तु 'प्रज्ञा स्थिर करना' यानी वह कहां स्थिर की जाये? सब ओर से उसे हटाकर स्थिर किस जगह किया जाये? उसे स्थिर होने के लिए कोई स्थान चाहिये न! इसका उत्तर है—उसे ईश्वर में स्थिर किया जाये। यहां यह नहीं कहा है—इन्द्रिय निग्रह के लिए मत्परायण होओ। कामना निवृत्ति के लिए मत्परायण होओ। यह तो निषेधक अर्थ हुआ। यह पूर्ण अर्थ नहीं है। इस वचन का विधायक अर्थ है—इन्द्रिय-निग्रह करके मत्परायण होओ। कामनायें यदि बाहर से निवृत्त हो तो फिर उन्हें ठहरने का, रहने का स्थान कौन-सा? आत्मा ही वह स्थान है। यही आत्मा यहां 'मत्परायण' शब्द में ध्वनित किया गया है। क़ामनारूपी आलम्बन यदि निकाल लिया तो निरावलम्ब खाली हो जायेगा। उस दशा में वह अधिक समय तक नहीं रह सकता। इसलिए उसे ईश्वर का आधार देकर ईश्वर चिन्तन से भर देना है। वह जब ईश्वर चिन्तन में मगन हो जायेगा तो फिर उस पर इन्द्रियों के आक्रमण की आशंका ही नहीं रह जायेगी।

पहले कहा गया कि इन्द्रिय-निरोध की पूर्णता के लिए ईश्वर भक्ति की सहायता लेना उचित है। परन्तु वह कथन भी पूर्ण नहीं है; क्योंकि बाद में ध्यान में आया कि ईश्वर भक्ति किसी का साधन नहीं, वरन् स्वयं ही स्वयम्भू साध्य है। ईश्वर भक्ति का कोई भी अवान्तर उद्देश्य नहीं हो सकता। ईश्वर भक्ति ईश्वर-भक्ति के लिए ही है। आज कल हम कला कला के लिए, विद्या विद्या के लिए, ज्ञान ज्ञान के लिए, ऐसी भाषा सुनते हैं, परन्तु यह टिकने वाला नहीं। सांख्यों ने इस विषय में पहले ही निर्णय दे रखा है। जड़ वस्तु स्वयं अपने लिए हो ही नहीं सकती। प्रकृति प्रकृति के लिए हो ही नहीं सकती। प्रकृति प्रकृति के लिए नहीं है, प्रकृति पुरुष के लिए है। कला आत्मा के लिए है। विद्या और ज्ञान मेरे लिए हैं। जड़ जड़ के लिए, यह भाषा ही गलत है; किन्तु यह भाषा और सब बातों में गलत साबित हो तो भी ईश्वर-भक्ति के विषय में सच है। ईश्वर-भक्ति के लिए ही ईश्वर-भक्ति यह भाषा गलत नहीं है; क्योंकि ईश्वर जड़ वस्तु नहीं, बाह्य वस्तु

नहीं, वह तो मेरा ही परिशुद्ध रूप है। अतः ईश्वर-भक्ति ही ध्येय है। और दूसरी सब साधनायें उसी के लिए हैं, ऐसा होना चाहिये।

आधुनिक मनोविज्ञान गीता के इस उपदेश को नहीं स्वीकारेगा। क्योंकि जर्मन मनोवैज्ञानिक सिगमण्ड फ्रायड के अनुसार वासनाएं मनुष्य की स्वाभाविक मूल प्रकृति हैं, जीवन प्रवृत्ति और उनके संयमित करने का अर्थ है उनका अप्राकृतिक दमन। जब हम मन की किसी विषय-वासना को दबाते हैं तब वह अवचेतना में जाकर बेचैनी पैदा कर देती है और वह बेचैनी तभी दूर होती है जब विषय का भोग भोग लिया जाता है। मनोविश्लेषणवादियों का यह विचार वर्तमान युग के भौतिकतावाद के अनुरूप है। गीता इस भौतिकवाद को नहीं मानती। गीता का कहना यह है कि इसमें संदेह नहीं कि इन्द्रियों का वेग बड़ा प्रबल है, संयम महाकठिन है, परन्तु अगर मन को परब्रह्म में लगा दिया जाए, उसमें जोड़ दिया जाए तो वह वेग अपने आप शिथिल पड़ जाता है। जैसे—ऊंचे शब्द में धीमा शब्द दब जाता है। जैसे कि सूर्य के प्रकाश में दीपक प्रकाश लुप्त-सा हो जाता है, वैसे परब्रह्म के रस में संसार के विषयों का रस फीका पड़ जाता है।

पाश्चात्य देशों में संयम का अर्थ दमन समझा जाता है। दमन शरीर और मन के स्वास्थ्य की दृष्टि से हानिकारक है इसे भारतीय मनीषा भी नहीं स्वीकारती। संयम और दमन में अन्तर है जिसे स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिये।

संयम का अर्थ होता है नियमन—यानी नियम के अनुसार चलना। दमन का अर्थ है हठपूर्वक जबर्दस्ती इन्द्रियों को रोकना। दमन—जब कोई कार्य स्वयं को अच्छा लगता है,. और मन की भी उसमें रुचि, प्रीति प्रवृत्ति होती है परन्तु उस कार्य को धर्मशास्त्र निषेध करता है, समाज के लोग भी बुरा मानते हैं, कानून भी बुरा मानता है। अतः धर्मशास्त्र, समाज और कानून के भय से उस इच्छा को चाहते हुए भी जबर्दस्ती दबा देना दमन है।

संयम—जब हमारी बुद्धि स्वयं यह निर्णय करती है कि यह कार्य बुरा है, अपने लक्ष्य के अनुकूल नहीं है, नैतिक दृष्टि से निन्दनीय है वह उस कार्य को स्वयं में बुरा समझता है और उसको संयमित करता है यानी विवेक बुद्धि से इच्छा का नियमन करता है।

दमन—दमन में कोई लक्ष्य नहीं होता। वह तो समाज एवं कानून के भय से इच्छा को दबा देता है।

संयम—इसमें लक्ष्य होता है, और लक्ष्य के विपरीत इच्छाओं को वह निन्दनीय समझता है और उसका संयम करता है। और मन को श्रेष्ठ लक्ष्य की प्राप्ति की ओर लगाता है। श्रेष्ठ वस्तुओं की प्राप्ति से निकृष्ट की इच्छा अपने

आप ही छूटने लगती है। वहां इच्छाओं का दमन नहीं, वरन् उससे ऊपर उठने की बात है।

दमन—इसमें जबर्दस्ती इच्छाओं को दबाया जाता है, दमन अधिक समय तक टिक नहीं पाता। शरीर और मन पर इसका बुरा प्रभाव पड़ता है, यह शरीर और मन-मस्तिष्क को रुग्ण कर देता है।

संयम—इसमें विवेकपूर्ण इच्छाओं का उदात्तीकरण किया जाता है। नियमन किया जाता है फलतः शरीर व मन-मस्तिष्क निरोग, अधिक कार्यक्षम, शुद्ध और पवित्र होता है। ब्रह्मचर्य के सुपरिणाम से शास्त्र भरे पड़े हैं। यह श्रेष्ठ लक्ष्य की प्राप्ति में सहायक होता है।

किसी भी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए साधना की जरूरत है। लक्ष्य प्राप्ति के दो साधन हैं।

पहला—विधेयात्मक Positive दूसरा—निषेधात्मक Negative है।

संयम—इसमें इन्द्रियों के व्यापार पर रोक नहीं लगायी जाती। इसमें यह विचार किया जाता है कि इन्द्रियों के कौन से कार्य लक्ष्य प्राप्ति में सहायक हैं यानी Positive है और कौन बाधक है यानी Negative है। फिर Positive का अनुसरण किया जाता है और Negative का नियमन।

पर दमन में ऐसा विवेक नहीं किया जाता। उसमें तो इन्द्रियों के कार्यों पर ही रोक लगा दी जाती है, हठपूर्वक रोक दिया जाता है।

भगवान् अर्जुन को कहते हैं कि जीवन का लक्ष्य सर्वश्रेष्ठ को ही बनाना चाहिये। और सर्वश्रेष्ठ वस्तु है पूर्णत्व की प्राप्ति या भगवान् की प्राप्ति जिसमें सारी छोटी वस्तुएं समा जाती हैं। छोटी-छोटी वस्तुओं की प्राप्ति का यह भिखारी-पन कब तक चलाओगे।

भगवान् कहते हैं जब लक्ष्य बनाना हो तो छोटी-छोटी वस्तु को लक्ष्य मत बनाओ। सबसे बड़ी वस्तु प्राप्त करने का लक्ष्य बनाओ। अपूर्ण वस्तु बार-बार शेष हो जाने के कारण बार-बार मांगना पड़ता है। इसलिए भगवान् को मांगो कि भगवान् आप ही आ जाओ कि फिर बार-बार मांगना न पड़े। उदाहरण के लिए कोई राजा से धन-दौलत मांगता है और एक है जो राजा को ही मांग लेता है तब उसकी धन-दौलत भी स्वतः ही प्राप्त हो जाती है।

साधारण मनुष्यों के पास इच्छाओं की एक लम्बी-चौड़ी सूची होती है उसमें First Preference प्राथमिकता—पत्नी। फिर बच्चे, मकान-कार और अन्त में भगवान् भी चाहिये। पर भगवान् घर, टेबुल, चेयर की तरह कोई वस्तु नहीं है।

यह तभी प्राप्त हो सकता है जब 'मी' हटाकर 'ही' लगा देंगे। यानी भगवान् ही चाहिये। इस प्रकार भगवान् की प्राप्ति का संकल्प और उसके साथ-साथ निश्चय होना चाहिये।

इससे इन्द्रियां स्वतः वश में हो जाती हैं, शांत हो जाती है। फलतः प्रज्ञा स्थिर हो जाती है।

ध्यायतो विषयान् पुंसः, सङ्गस्-तेषूप-जायते।
सङ्गात्-सञ्जायते कामः, कामात् क्रोधोऽभि-जायते।। 2/62

विषयों का चिन्तन करने वाले पुरुष की उन विषयों में आसक्ति हो जाती है, आसक्ति से कामना उत्पन्न होती है और कामना (में विघ्न आने से) से क्रोध उत्पन्न होता है।

क्रोधाद्-भवति सम्मोहः, सम्मोहात् स्मृति-विभ्रमः।
स्मृति-भ्रंशाद् बुद्धि-नाशो, बुद्धि-नाशात् प्रणश्यति।। 2/63

(और) क्रोध से सम्मोह (विपरीतदर्शन) उत्पन्न हो जाता है, सम्मोह से स्मृति में बड़ा भ्रम हो जाता है, स्मृति भ्रष्ट हो जाने से बुद्धि-(विवेक) का नाश हो जाता है (और) बुद्धि का नाश हो जाने से (यह मनुष्य अपनी स्थिति से) गिर जाता है।

युग पर युग बीत गए, युग पर युग बीत रहे हैं तथा युग पर युग बीतते चले जाएंगे पर भारत की मृत्युंजयी संस्कृति भूत-भविष्य तथा वर्तमान के लिए चुनौती बनी हुई आज तक जीवित है। काल और दुर्भाग्य के सभी प्रकार के थपेड़े खाकर भी आज न केवल जीवित है वरन् यशस्वी है। आज स्वतंत्र भारत में अपने देश के सत्ताधीशों एवं बुद्धिजीवियों द्वारा अपनी संस्कृति सब प्रकार से उपेक्षित एवं प्रताड़ित होने के बावजूद भी विश्व के सुलझे हुए मनीषियों के लिए आकर्षण का केन्द्र बनी हुई है। आज भी हमारी प्रेरणा के स्रोत—वेद, उपनिषद्, गीता ही हैं। श्रीराम भी इन्ही से प्रेरणा पाते रहे। उनके पितृपुरुष रघु, हरिश्चन्द्र भी प्रेरणा पाते थे।

रोम, यूनान, मिस्र, असीरिया, बेबिलोनिया, ग्रीक आदि की सभ्यताएं जिनने एक समय अपने साम्राज्य का विस्तार विश्व के बड़े भूभाग में स्थापित किया। ऐसी विश्वव्यापी सभ्यताएं कोई 20 वर्ष के थपेड़ों में तो कोई 50 वर्षों के थपेड़ों में तो कोई 100 वर्षों के थपेड़ों में हद-से-हद 200 वर्षों के थपेड़ों में सदा के लिए समाप्त हो गईं।

ऐसी कौन-सी विशेषताएं हैं जिससे भारतीय संस्कृति आज भी अक्षुण्ण बनी हुई है? जबकि विश्व की बड़ी-बड़ी विशाल सभ्यताएं नष्ट हो गई! एक अमेरीकन John B. Sparks ने एक विशाल मानचित्र 'The Histomap of history' The Rise and fall of peoples and nations four thousand

years में जन समाज एवं देशों का चार हजार वर्षों का उत्थान एवं पतन का इतिहास दर्शाया है। जिसमें प्राचीनतम सभ्यताओं का नक्शा बनाते हुए दिखाया गया है कि ग्रीक, यूनान, रोम व मिस्र, असीरिया, बेबीलोन की सभ्यताएँ उदित हुई, फली-फूली, विकसित हुई और अपने वैभव और राजनीतिक उत्कर्ष काल में राजनीतिक साम्राज्य के अन्तर्गत विश्व के अधिकांश देशों पर छा गयी। अपने अंक में ले लिया। इस प्रकार इनका इतना पेट फूला कि शेष में पेट फट कर वह सभ्यता सदा के लिए विलीन हो गई। पर भारत का पेट न इतना पिचका कि अनाहार से मर जायें और न इतना फूला कि पेट फट जाय।

ये बड़ी-बड़ी विशाल सभ्यताएँ आखिर नष्ट क्यों हो गई और भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति आज भी जीवित क्यों है? इसका रहस्यमय कारण है कि जो सभ्यता मात्र भौतिकता पर आधारित होती है वह नश्वर होती है और आध्यात्मिकता पर आधारित सभ्यता-संस्कृति चिरंजीवी होती है।

आज पुनः पश्चिम पतनोन्मुख है। इसके कारण का विश्लेषण करते हुए रूस के पूर्व राष्ट्रपति गोर्बाचेव इन्हीं दोनों श्लोकों को उद्धृत करते हैं। राजीव गांधी जब प्रधानमंत्री बने और भारत से परिचय कराने के लिए भारत उत्सव का आयोजन मास्को में किया जिसका उद्घाटन राष्ट्रपति गोर्बाचेव ने किया। उन्होंने अपने उद्घाटन भाषण में कहा आज दुनिया सर्वनाश की ओर जा रही है, उसे विनाश से बचाने के लिए अत्यन्त मूल्यवान सिद्धान्त, तत्त्व, जीवन-मूल्य भारत ही दे सकता है। इस अवसर पर उन्होंने गीता के दो श्लोक भी कहे—

ध्यायतो विषयान् पुंसः, सङ्गस्-तेषूप-जायते।
सङ्गात्-सञ्जायते कामः, कामात् क्रोधोऽभि-जायते।। 2/62

क्रोधाद्-भवति सम्मोहः, सम्मोहात् स्मृति-विभ्रमः।
स्मृति-भ्रंशाद् बुद्धि-नाशो, बुद्धि-नाशात् प्रणश्यति।। 2/63

जिसका अर्थ है कि जब मनुष्य का मन मोह में पड़ जाता है तो वह दानव बन जाता है। गुणों की सम्पत्ति नष्ट करने का प्रयास करता है। सबकी हत्या करने का प्रयास करता है। सब कुछ नष्ट हो जाता है। अतः मन को नियंत्रित करो। यदि मन नियंत्रित रहा तो सब कुछ ठीक रहेगा। यह कार्यक्रम दूरदर्शन में दिखाया गया था।

जब गांधीजी ने पहली बार गीता पढ़ी तो इन दोनों श्लोकों ने उन्हें अभिभूत कर दिया। गांधीजी के शब्दों में इन दोनों श्लोकों का मेरे दिल पर गहरा असर हुआ। बस कानों में इनकी ध्वनि दिन-रात गूंजा करती। तब मुझे प्रतीत हुआ कि भगवद्गीता तो अमूल्य ग्रन्थ है। यह धारणा दिन-दिन अधिक दृढ़ होती गई और अब तो तत्त्वज्ञान के लिए मैं उसे सर्वोत्तम ग्रन्थ मानता हूं। जो तथ्य मनोविज्ञान

की बड़ी-बड़ी पोथी में सन्निहित नहीं है उसे भगवान् श्रीकृष्ण ने मात्र दो श्लोकों में रख दिया।

भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में मानव के पतन की सात परिचायक सीढ़ी का संकेत दिया है—

ध्यायतो विषयान् पुंसः, सङ्गस्-तेषूप-जायते।
सङ्गात्-सञ्जायते कामः, कामात् क्रोधोऽभि-जायते।। 2/62

क्रोधाद्-भवति सम्मोहः, सम्मोहात् स्मृति-विभ्रमः।
स्मृति-भ्रंशाद् बुद्धि-नाशो, बुद्धि-नाशात् प्रणश्यति।। 2/63

(क) विषयों का ध्यान,

(ख) उससे पैदा होने वाला विषयसङ्ग,

(ग) उससे उत्पन्न काम,

(घ) काम में बाधा से उत्पन्न क्रोध,

(ङ) क्रोध से उत्पन्न बुद्धि का सम्मोह,

(च) सम्मोह से स्मृति में बिगाड़,

(छ) उससे होने वाला बुद्धिनाश,

इन सातों सीढ़ियों के बाद—सर्वनाश है अनिवार्य।

(क) विषयों का ध्यान—मन बहिर्मुखी होने पर इन्द्रियों के माध्यम से विषयों की ओर भागता है। विषय का अर्थ है वे वस्तुएं अथवा रस जो इन्द्रियों को अपनी ओर आकर्षित करते हैं। कठोपनिषद् (1-3-4) में इन्हीं को इन्द्रियरूपी घोड़े का चारा कहा गया है—

'विषयास्तेषु गोचरान्।'

इन भोग पदार्थों का वस्तुतः अपना कुछ रस तो होता नहीं किन्तु आत्मा का रस जो कुछ मात्रा में बुद्धि तक आता है, बुद्धि से मन में, और मन से इन्द्रियों के माध्यम से विषयों पर उड़ेला जाता है। उस अपने उड़ेले हुए रस को प्राप्त करने हेतु जीव ललचाने लगता है। राजा भर्तृहरि जब अपना चक्रवर्ती साम्राज्य त्यागकर 'संन्यासी' बनने जा रहे थे तब जाते-जाते उनको मार्ग में एक मुहर चमकती हुई दिखाई दी। ज्योंही उसको पकड़ने के लिए उन्होंने हाथ बढ़ाया तो पता चला जो धूप में मुहर के समान चमक रही थी वह किसी की फेंकी हुई थूक थी। भर्तृहरि को बड़ी ग्लानि हुई कि जब ऐसी कोटि-कोटि मुद्राओं को अपने हाथ से दान कर और सारा राज-पाट त्यागकर मैं 'संन्यासी' बनने जा रहा हूं तब भी थूक में मुहर की कल्पनाकर मेरा मन लुब्ध हो गया है! जैसे ऊपर सविस्तार विवेचना की गई है

विषयों में वस्तुपरक (Objective) अपना निजी रस होता तो सब देशों में, सब कालों में, सब परिस्थितियों में, सब पात्रों को समानरूप से उस रस की प्रतीति होती। किन्तु प्रत्यक्ष अनुभव में हम देखते हैं कि जो एक के लिए हलवा है वही दूसरे के लिए मलवा है।

अतः विषयों की ओर इन्द्रियों से बार-बार देखना, विषयों का बार-बार चिन्तन करना यह पतन की पहली सीढ़ी है। मन की यह विशेषता है कि वह जिसका चिन्तन करता रहता है उससे अपनी तदाकार वृत्ति बना लेता है। सामान्य मनुष्य आंखों से यदि सुन्दर वस्तु या व्यक्ति को देखता है, कान से मधुर संगीत का, नासिका से मोहक सुगंधि का, जिह्वा से स्वादिष्ट व्यंजन को चखता है, हाथों से कोमल वस्तु को स्पर्श करता है, मन से किसी सुन्दर वस्तु या स्थिति की कल्पना करता है, चित्त से उसी विषय का चिन्तन करता है, बुद्धि से उसी का विचार करने लग जाता है और अहंकार से उसी वस्तु का स्वामी बनने की कल्पना करता है। इस प्रकार बाहर की पांच ज्ञानेन्द्रियों तथा चार अन्दर की इन्द्रियों (अन्तःकरण चतुष्टय) से जब विषयों का चिन्तन करने लग जाता है तो कर्मेन्द्रियां भी उस वस्तु की प्राप्ति के लिए कर्मशील हो उठती हैं।

भगवान् शंकराचार्य ने आहार का बड़ा व्यापक अर्थ किया है—प्रायः सामान्य लोग आहार का अर्थ केवल भोजन के रूप में प्राप्त विषय ही लेते हैं। किन्तु शंकराचार्य का कथन है कि इन्द्रिय जिन-जिन विषयों का आहरण करती हैं वे सब उनके आहार हैं। अतः नेत्रों से जितने अच्छे-बुरे, शोभन-अशोभन दृश्य हम देखते हैं वे सब इन्द्रिय के आहार हैं। कानों से जो कुछ शोभन या अशोभन सुनते रहते हैं वह कानों का आहार है। नासिका से जो कुछ सूंघते हैं, वह घ्राणेन्द्रिय का आहार है। त्वचा से जो कुछ स्पर्श करते हैं वह स्पर्शनेन्द्रिय का आहार है। सब प्रकार के आहार मिलकर हमारे मन को प्रभावित करते हैं। जो व्यक्ति प्रायः महिलाओं के बीच में उठता-बैठता है, महिलाओं से अधिक वार्तालाप करता है, महिलाओं से अर्थव्यापार करता है, महिलाओं के वचन सुनता है, महिलाओं की महफिल, उनके संगीत और सुगंधि का रस लेता है, उनसे क्लबों में यत्र-तत्र हाथ मिलाता है, उनके साथ अधिक यात्रा करता है; वह व्यक्ति सब इन्द्रियों से नारी संस्पर्श का मानसिक भोग भोगने लगता है। इसे ही शास्त्रों में मानसिक मैथुन नाम दिया गया है। अष्टधा मैथुन में निम्नलिखित उपायों का नाम आता है—

श्रवणं कीर्तनं केलि स्मरणं गुह्यभाषणम्।
संकल्पोऽध्यवसायं च क्रियानिष्पत्तिरेव च।।

अर्थात् स्त्री के बारे में सुनना, कहना, उससे क्रीड़ा करना, स्मरण करना, एकान्त में उससे बातें करना, मैथुन करने के लिए संकल्प करना, मैथुन का निश्चय करना एवं अन्तिम क्रिया तक जाना—ये आठ प्रकार के मैथुन कहलाते हैं।

इन्द्रियों का विषयों की ओर मुड़ना ही नरक का प्रथम द्वार है। इसका बार-बार अभ्यास होने से विषयों के प्रति आकर्षण पैदा हो जाता है। जिस विषय का बार-बार ध्यान किया जाता है अथवा जिसके बारे में देखने-सुनने, स्पर्श करने का संयोग मिलता है; उसको पुन-पुनः देखने, सुनने, स्पर्श करने की आदत लग जाती है। जिस दिन वैसा इन्द्रिय अनुभव न प्राप्त करे तो कुछ दिन मन और इन्द्रियों को कुछ अभाव की प्रतीति होती है। प्रतिदिन हलवा-पूरी खाने वालों को यदि कुछ दिन सूखे चने चबाने को दिए जाएं तो उसे अप्रिय लगता है। प्रायः सिनेमा थियेटर देखने वाले व्यक्ति को यदि परिस्थिति से बाध्य होकर किसी ऐसे गांव में जाना पड़े जहां थियेटर न हो तो वह सपनों में चलचित्र-तारिकाओं का दृश्य देखता रहता है। संगत की रंगत अवश्य चढ़ती ही है। कठोपनिषद् में कहा गया है कि ब्रह्माजी ने ज्ञानेन्द्रियों को बहिर्मुखी बनाकर मानो इनकी हिंसा ही कर दी है। वास्तव में इन्द्रियां हमें बाहर के जगत् की सूचना देने वाली हमारे चौकीदार-पहरेदार के समान है जो मन को सूचित करे कि अमुक दिशा से आक्रमण करने के लिए विषयों की सेना आ रही है। दुर्भाग्यवश हमारे पहरेदार ही मनरूपी सेनापति को साथ लेकर विषयों का नाच-गान देखने में मस्त हो जाते हैं। इस प्रकार ज्ञानेन्द्रियां हमारे ज्ञान के यंत्र न रहकर हमारे अज्ञान एवं मोह बंधन का यंत्र बन जाती हैं।

(ख) **संग**—जिन विषयों का हम बार-बार चिन्तन करते रहते हैं उनके प्रति हमारे मन में संगदोष पैदा हो जाता है। संगत की रंगत एक सर्वविदित मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त है जिससे कोई भी बच नहीं सकता।

हियो होय जो हाथ के संगत बारो करे,
काला ऊपर कोय रंग न लागे राजिया।

एक साधक दूसरे साधक से कहता है—यदि हमारा मन वश में है तो दुर्जन संग हमारा कुछ नहीं बिगाड़ सकता है जिस प्रकार काले रंग पर दूसरा रंग नहीं चढ़ता?

इसके उत्तर में दूसरा साधक कहता है—यहां यदि लगा हुआ है कि मन वश में है तो पर कुसंगी के मिलने पर हृदय या मन हमारे वश में नहीं रहेगा। यह फूटे बिना नहीं रहेगा इसमें कोई मीन-मेख नहीं है—चित्त में लिख ले चकरिया। यानी इसमें कोई संदेह नहीं है, कोई त्रुटि नहीं है, कुसंगी के संग में मन या हृदय हमारे वश में नहीं रहेगा। इसे अच्छी तरह चित्त में लिख लो—

हियो जावती फूट कुसंगी मिलता थकां,
इणमें मीन ना मेख चित्त में लिख ले चकरिया।

हियो=हृदय या मन

बड़े-बड़े ऋषि-मुनि, तपस्वी, महात्मा एवं साधक भी संगदोष के कारण पथभ्रष्ट होते हुए देखे गए हैं। फिर सामान्य व्यक्ति की तो बात ही क्या है कि वह संगदोष से बच सके। भगवान् कहते हैं कि जिन विषयों का चिन्तन करते रहोगे उनके प्रति संगदोष अवश्य पैदा होगा। वह भोग वस्तु प्राप्त करने हेतु मनुष्य व्याकुल हो उठता है। उसके प्रति ममता का अंकुर फूटने लगता है। बार-बार उसके निकट जाने की इच्छा पैदा होती है। शराबी का शराब की बोतल में संग हो जाता है और कामी को काम के विषय, साहित्य, मनोरंजन, कामिनी में संग हो जाता है। जिस वस्तु के प्रति संग हो जाता है, उससे विलग रहने में भीषण व्याकुलता होने लगती है। यदि नवयुवक किसी नवयुवती को बार-बार देखता है तो उसके मन में बार-बार उसका ही ध्यान आने लगता है। ध्यान से उसके प्रति संग हो जाता है और उसके साथ घूमने-फिरने, बातचीत करने की चेष्टा होती है। इस संगदोष से फिर उसे अपना बनाने के लिए तीव्र कामना पैदा होती है। यदि विषयों का चिन्तन ही न हो तो संगदोष नहीं होगा। और संगदोष न होने पर उसकी प्राप्ति के लिए तीव्र कामना पैदा नहीं होगी।

(ग) **काम**—वास्तव में अचेतन मन की कामप्रवृत्ति से ही विषयों की ओर ध्यान जाता है। जिसके अचेतन मन से विषयों की कामना नष्ट हो चुकी है वह विषयों की ओर ध्यान ही नहीं देता। उसकी इन्द्रियां विषयों को देखते हुए भी मानो नहीं देखती। बाल ब्रह्मज्ञानी शुकदेव नग्नावस्था में जा रहे थे और स्नान करती हुई व्रजगोपियों को देखकर भी उनके मन में न कोई विकार हुआ और न गोपियों के मन में शंका-लज्जा जागी। स्वामी रामतीर्थ प्रतिदिन लाहौर में अनारकली बाजार से होकर रावी नदी में स्नान करने जाते थे। एक दिन कुछ लोग हस्ताक्षर संग्रह कर रहे थे कि अनारकली बाजार से वेश्याओं को उठाया जाए। जब वे स्वामी रामतीर्थ से हस्ताक्षर के लिए आग्रह करने लगे तब स्वामीजी को यह जानकर अचम्भा हुआ कि उनके दैनिक आने-जाने वाले मार्ग में दोनों ओर वेश्याओं के चौबारे हैं जिसका उन्हें अभी तक भान ही न था। श्रीरामकृष्ण देव वेश्याओं को देखकर भी मां-मां कहकर पुकारने लगते थे। स्वयं अपनी विधिवत परिणीता (पत्नी) में भी वे भगवती के दर्शन करते थे। यहां स्वस्थ युवा शरीर भी है, स्वस्थ इन्द्रियां भी हैं, इन्द्रियों के भोग विषय भी हैं, एक ही मन्दिर में निकट वास भी है किन्तु विषयचिन्तन नहीं है और विषय के प्रति संगदोष भी नहीं है। क्योंकि अचेतन मन में भी कोई कामना का बीज या अंकुर नहीं बचा है। चेतन मन से निष्काम अनेक

लोग मिल जाएंगे किन्तु जिनके अचेतन मन में भी कोई कामना नहीं बची हो ऐसे सच्चे ब्राह्मीस्थिति वाले स्थितप्रज्ञ महापुरुष बहुत ही विरले हैं। अचेतन मन की कामना से मनुष्य विषयों की ओर बार-बार ध्यान देता है। जैसे कोई नवयुवक छिप-छिपाकर किसी नवयुवती की ओर बार-बार झांकता है किन्तु किसी के पूछने पर वह चेतन मन से अपनी कामना को स्वीकार करने के लिए उद्यत नहीं होता है। क्योंकि अचेतन मन की कामना का स्वयं उसे भान भी नहीं है किन्तु विषय का बार-बार चिन्तन करने से उस विषय के प्रति संग हो जाता है। यह अर्धचेतन मन के स्तर तक रहता है। जैसे कोई नवयुवक किसी नवयुवती से परिचय होने के पश्चात् यदा-कदा आधा छिपकर, आधा प्रकट नवयुवती के संग इधर-उधर घूमता है। क्लब, सिनेमा, सैर आदि से संग बढ़ाता है। उस अवस्था में वह उसे मित्र, सहकर्मी Girl friend या धर्म की बहन बताता रहता है क्योंकि उसे समाज की मर्यादा के अंकुश का कुछ भय रहता है। संग से प्रबल काम जाग उठता है जो चेतन में कामना का तूफान खड़ा कर देता है। इस अवस्था में नवयुवक खुलेआम घोषणा करता है कि मैं विवाह करूंगा तो इसी के साथ अन्यथा आत्महत्या कर लूंगा। अब अचेतन मन का कामबीज चेतन में बलवान वृक्ष बन गया। यह काम कामना के व्यापक अर्थ में सब जीवों को नचा रहा है। यह काम ही जीव को ब्रह्म से पृथक् कर भौतिक जगत् का बंदी बनाने वाला है—

जहां काम तहँ राम नहिं जहां राम नहिं काम।
तुलसी दोऊ न मिले रवि रजनी एक ठाम।।

अर्थात् जहां काम है वहां राम नहीं रहते और जहां राम है वहां काम नहीं। जैसे सूर्य और रात्रि एक साथ नहीं रह सकते। इसी अर्थ में काम मानव का सबसे प्रबल शत्रु माना गया है—काम को जीतना, तृष्णा पर विजय पाना व कामनाओं का शांत हो जाना निर्वाण या मोक्ष है।

(घ) **काम में बाधा से उत्पन्न क्रोध**—जब मन में रजोगुण की वृद्धि से काम का वेग बढ़ जाता है तो मन में भयंकर अशान्ति छा जाती है। किसी वस्तु या व्यक्ति की उत्कट कामना से मन पागल हो जाता है, विवेक की दृष्टि लुप्त हो जाती है तथा मन में संकल्प-विकल्प का भयंकर ज्वार-भाटा उठने लगता है। कामना में विरोध या रुकावट होने पर क्रोध उत्पन्न हो जाता है। क्रोध में आंखें लाल हो जाती है, दांत पीसते हैं, मुट्ठियां कस जाती है, नथुने फूल जाते हैं, चेहरा तपकर लाल हो जाता है, आवाज ऊंची हो जाती है, पूरे शरीर में ऐंठन आ जाती है, रोम खड़े हो जाते हैं, हृदय तेज धड़कने लगता है, श्वास और नाड़ी तेज चलने लगती है, श्वास गरम हो जाता है, कभी दूसरों पर प्रहार करने की इच्छा होती है, कभी क्रोध के आवेग से क्रोधी का अपना पूरा शरीर कांपने लगता है, कभी वह

क्रोध में अंधा होकर किसी निर्दोष को पीटने लगता है तथा कभी दूसरे को पीटने का अवसर या सामर्थ्य न होने पर स्वयं अपने आप पर ही प्रहार करने लगता है। क्रोध के भयंकर आवेग में मानसिक संतुलन बिगड़ जाने पर अनेक बार हत्या एवं आत्महत्या के भीषण काण्ड घटित हो जाते हैं।

(ङ) **क्रोध से उत्पन्न बुद्धि का सम्मोह**—क्रोध एक ऐसी भयंकर मानसिक आंधी है जो मनुष्य को पागल बना देती है। क्रोध के आवेश में मनुष्य अधीर, उतावला, बावला हो जाता है। उसकी बुद्धि पर पर्दा पड़ जाता है तथा वह अपना-पराया, भले-बुरे का विवेक भी खो बैठता है। क्रोध शराब के नशे से भी बड़ा नशा है जो मनुष्य के भीतर के राक्षस को जगा देता है तथा बिना होश के अंधे जोश में मन को सम्मोहितकर कई दुष्टकर्म करवा बैठता है। नवयुवक का नवयुवती के प्रति काम-भाव जागने पर यदि उसका पिता या भ्राता उसे रोके तो काम क्रोध में बदल जाता है। फिर भी पिता द्वारा रात्रि को प्रेमिका के घर जाने से रोकने पर क्रोधित प्रेमी सम्मोह में पिता को धक्का देकर भी प्रेमिका के घर जा पहुंचता है। मन का संतुलन तथा मन की मननशक्ति शान्ति में रह सकती है, अशान्ति में नहीं। क्रोध मन की सबसे भयंकर अशान्ति है। इसलिए सम्मोह होना अनिवार्य है। क्रोध एक प्रकार का अल्पकालिक पागलपन है। और पागलपन एक प्रकार का दीर्घकालिक क्रोध है। अल्पकालिक क्रोध में मन कुछ समय के लिए अपने आप में नहीं रहता। यदि यह मानसिक सम्मोह कई दिनों या मास तक बना रहे तो पागलखाने में भरती करना पड़ता है।

(च) **सम्मोह से स्मृति में भ्रम**—जब चित्त सम्मोहित हो जाता है तो श्रुति के तंतु बिखर जाते हैं और मनुष्य यह भूल जाता है कि मैं कौन हूं, कहां पर हूं, किससे झगड़ रहा हूं और, क्या मेरा आचरण ठीक है? या गलत क्रोध में अंधा प्रेमी अपने पिता को धक्का देकर इसलिए निकल जाता है क्योंकि उसे उस समय याद ही नहीं रहता कि रोकने वाला उसका अपना पूज्य पिता ही है। उस समय जो भी सामने आ जाए उसी पर प्रहार कर बैठता है। उत्तम स्मृति के लिए मन शांत होना चाहिए और ध्यान अन्तर्मुखी चाहिए। बहुत बार नेत्र बंद करके वृत्तियों को अन्तर्मुखी करने से भूली हुई बात या भूला हुआ पाठ पुनः स्मृति में आ जाता है। किन्तु क्रोध में जब मन में तूफान आया हुआ है तब पुनः स्मृति का तो प्रश्न ही नहीं, बल्कि जो कुछ पहले क्षण याद था वह भी स्मृति पर से फिसल जाता है। अतः क्रोध मन, स्मृति और बुद्धि तीनों का वैरी है।

(छ) **स्मृति भ्रष्ट होने से बुद्धि का नाश होता है**—बुद्धि का बहुत बड़ा भंडार स्मृति ही है। पिछले अनुभवों की स्मृतियां बनी रहने पर उनसे शिक्षा लेते हुए आगे का प्रकाश देना बुद्धि का काम है। बुद्धि विचार करके निर्णय तभी दे सकती

है जब उसके सामने स्मृति की फाइल या संचिका उपस्थित हो। जैसे मजिस्ट्रेट फाइल देखकर ही निर्णय दे सकता है। उसी प्रकार बुद्धि स्मृति की संचिकाओं को देखकर आगमन और निगमन तर्क का सहारा लेकर निर्णय देती है। जैसे कोई भुलक्कड़ व्यक्ति बुद्धि का कोई भी उत्तम कर्म नहीं कर सकता। उसी प्रकार क्रोध से स्मृति नाश होने पर बुद्धि का सर्वथा नाश भी हो जाता है, उसमें विवेक एवं विचार शक्ति बचती ही नहीं। जब बुद्धि जैसी लोक और परलोक को जोड़ने वाली दिव्य प्रकाशमयी ज्योति ही नहीं बची तो बुद्धि का कोई भी काम सम्भव नहीं होगा। तब आगे सर्वनाश ही सर्वनाश है। इस प्रकार ये नरक की सात सीढ़ियां हैं—अचेतन मन की कामना से विषय का ध्यान और विषय का संग और चेतन मन की कामना से क्रमशः क्रोध, सम्मोह, स्मृति-विभ्रम, बुद्धिनाश और अन्त में सर्वनाश हो जाता है।

राग-द्वेष-वियुक्तैस्-तु, विषया-निन्द्रियैश्-चरन्।
आत्म-वश्यैर्-विधेयात्मा, प्रसाद-मधि-गच्छति।।2/64

परन्तु अपने आधीन किये हुए अंतःकरण वाला साधक, अपने वश में की हुई राग-द्वेष से रहित इन्द्रियों द्वारा विषयों में विचरण करता हुआ आत्म-प्रसाद को प्राप्त होता है।

प्रसादे सर्व-दुःखानां, हानि-रस्योप-जायते।
प्रसन्न-चेतसो ह्याशु, बुद्धिः पर्यवतिष्ठते।।2/65

(आत्म) प्रसाद प्राप्त हो जाने पर इस (साधक) के संपूर्ण दुःखों का अभाव हो जाता है (और उस) प्रसन्न चित्त वाले साधक की बुद्धि शीघ्र ही (परमात्मा में) भली-भांति स्थिर हो जाती है।

62 व 63वें श्लोक में बुद्धि के पतन का क्रम, बुद्धि की अस्थिरता का कारण दर्शाया गया है। अब 64 व 65वें श्लोक में बुद्धि के उत्थान का क्रम, बुद्धि में कैसे प्रतिष्ठित हो, बुद्धि कैसे स्थिर हो सकती है, बुद्धि कैसे अपने लक्ष्य को प्राप्त हो सकती है इसका क्रम बताया जा रहा है। 62 व 63वें श्लोक में पतन से बचने, सावधान करने के लिए निषेधात्मक पक्ष बताया गया। 64, 65वें श्लोक में उत्थान के मार्ग पर, विकास के मार्ग पर चलने का सकारात्मक, विधेयात्मक पक्ष प्रस्तुत कर रहे हैं।

हमारी अध्यात्मिक साधना में बुद्धि को जितना महत्त्व दिया गया है उतना महत्त्व दूसरी किसी अध्यात्मिक साधना में नहीं दिया गया है। बुद्धि के नाश से सर्वनाश होता है, बुद्धि की स्थिरता से सर्वोच्च कल्याण होता है। यही बात स्थितप्रज्ञ दर्शन के मूल में है। बुद्धि शुद्ध हो, निर्मल हो, यह आवश्यक है। हानि

अशुद्ध बुद्धि से होती है। हानि राग-द्वेष ग्रस्त बुद्धि से होती है। इसलिए बुद्धि का गौरव तो स्वीकार है लेकिन बुद्धि की विकृति स्वीकार नहीं है। बुद्धि की विकृति से कैसे बचा जाये इसका कारगर उपाय बताया जा रहा है इन दोनों श्लोकों में।

बुद्धि की मलीनता, बुद्धि के राग-द्वेष के कारण ही पतन का क्रम चल पड़ता है। विषयों में राग होने के कारण ही विषयों का ध्यान, चिन्तन चलता है, उससे आसक्ति उत्पन्न होती है, आसक्ति से ही काम उत्पन्न होता है। काम में बाधा आने पर क्रोध, यहां से द्वेष की परम्परा चल पड़ती है। फलतः क्रोध से सम्मोह, सम्मोह से स्मृति विभ्रम, स्मृति विभ्रम से बुद्धि नाश, और बुद्धि नाश से सर्वनाश यानी मनुष्यत्व से च्युत हो जाते हैं।

संसार के सभी अनर्थों, अशान्ति के मूल में राग-द्वेष ही हैं। हमारा मनोनुकूल, वासना के प्रति या अपनों के प्रति स्वाभाविक राग होता है तथा मन के प्रतिकूल, वासना के प्रतिकूल दूसरों के प्रति द्वेष होता है। किन्तु सच्चे कर्मयोगी को न अपनों के प्रति राग में बह जाना चाहिये, न दूसरों के प्रति विद्वेष के विष से जलते रहना चाहिये। स्थितप्रज्ञ के लक्षणों में भी भगवान् ने कहा है कि जो राग-द्वेष से वियुक्त होकर अपने मन को वश में रखते हुए शरीर के उचित निर्वाह के लिए इन्द्रियों का विषयों से संसर्ग कराता है वह आत्मवशी पुरुष सदा प्रसन्नता को प्राप्त होता है।

नवम् अध्याय में भगवान् स्वयं कहते हैं मैं सब भूतों में सम हूं और मेरे लिए कोई भी राग-द्वेष का पात्र नहीं है।

समोऽहं सर्व-भूतेषु, न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या, मयि ते तेषु चाप्यहम्।। 9/29

राग एवं द्वेष एक-दूसरे के पूरक मनोविकार हैं। बिना राग के द्वेष और बिना द्वेष के राग हो ही नहीं सकता। एक के प्रति राग का अर्थ ही है अन्यों के प्रति द्वेष। चाहे व्यक्ति उसे स्वीकार करे या न करे किन्तु राग और द्वेष एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। यदि अध्यापक कक्षा में अपने किसी प्रिय पात्र छात्र को अवैध रूप से एक अंक अधिक दे देता है तो वह जाने-अनजाने शेष सभी छात्रों के प्रति द्वेष का व्यवहार कर रहा है क्योंकि एक के एक अंक द्वारा एक सीढ़ी ऊपर चले जाने से शेष सभी 49 छात्र क्रमशः एक-एक सीढ़ी नीचे हो जायेंगे। जिसका प्रथम स्थान बनता था उसका द्वितीय, द्वितीय का तृतीय, तृतीय का चतुर्थ, चतुर्थ का पंचम इस प्रकार सभी एक-एक दर्जा नीचे गिर जायेंगे। अतः एक को अनुचित रूप से ऊपर उठाना शेष सबको अनुचित रूप से गिराने के बराबर हो जायेगा। अतः राग में द्वेष गुप्त रूप से छिपा हुआ ही है। स्वामी रामतीर्थ जब अमेरीका में थे तो एक अमेरीकन महिला ने जिसका इकलौता पुत्र मर गया था, स्वामीजी के पास आकर कहा, मुझे शान्ति

दीजिये, मेरा इकलौता पुत्र मर गया है। स्वामीजी ने कहा, पुत्र को चिरनिद्रा में सोने दो, शान्ति हो जायेगी। उसने आक्रोश में चिल्लाकर कहा, ओ भारतीय स्वामी, आप एक जवान माता के मन को नहीं पहचानते मुझे मेरा पुत्र चाहिये। स्वामीजी ने कहा—यदि आपमें मातृत्व की लालसा शेष है तो उठा लो उस रोते हुए हब्शी बच्चे को और उसे अपने बेटे के समान लालन-पालन करो, तुम्हे शान्ति मिल जायेगी। इस प्रकार विदेशी महिला ने पुनः आक्रोश में भरकर कहा—यह असम्भव है। यह हब्शी बच्चा गन्दगी से भी अधिक गन्दा है। मैं उसको स्पर्श भी न करना चाहूंगी, उसे देखने से भी मुझे घिन्न आती है और आप मुझे उसे उठाकर चूमने, पुचकारने तथा बेटे के समान पालने की बात कहते हैं, यह असम्भव है। स्वामी, तुम एक जवान माता के मातृत्व से क्रूर मजाक कर रहे हैं। पर स्वामीजी ने मुसकराते हुए कहा—मां या तो अपने बेटे का राग छोड़ या पराये बेटों का द्वेष छोड़ दे। तुम्हें तुरन्त शान्ति मिल जायेगी। न तुम से अपने बेटे का राग छोड़ा जाता और न पराए बेटों का द्वेष। भगवान् ने तुम्हें इसी पाप का दण्ड दिया है। महिला ने रो-रोकर अन्त में और कोई उपाय न देखते हुए उस बच्चे को उठा लिया, उसे प्यार-पुचकार किया अपने बेटे की तरह पाला-पोसा, पढ़ाया। उसे शान्ति मिल गयी।

द्वेष दो तरह का जहर है। यह पहले अपने आश्रय यानी स्वयं को जलाता है फिर विषय यानी दूसरे को जलाता है। यह पहले स्वयं को नष्ट करता है, मारता है, फिर दूसरों की हानि जिसके प्रति द्वेष की बुद्धि है। उसकी हानि हो या न हो अपनी हानि तो अवश्य कर लेता है। सर्वप्रथम अपना मानसिक सन्तुलन बिगड़ जाता है, माथा भारी होने लगता है, दुःखने लगता है, डर लगने लगता है।

द्वेष के कारण घर में पांच अलग-अलग चूल्हे जलते हैं फिर द्वेष का जहर पड़ोस में फैलता है फिर जाति में, फिर राष्ट्र में, फिर संसार में। द्वेष के कारण मानव मन फटा रहता है। राधाकृष्णन् कहते हैं—'मानवता एटम बम फटने से उतनी दुःखी नहीं है जितनी कि मानव मन फटने से।'

द्वेष का कारण—द्वैतपन की भावना, दूसरेपन की भावना। दूसरेपन की, अपने से भिन्न की भावना से द्वेष उत्पन्न होता है। जो सर्वत्र आत्मा ही आत्मा देखता है वह द्वेष नहीं कर सकता। नानक कहते हैं—ना कोई बैरी न बेगाना।

आज मानवता राग और द्वेष की दो विषम अग्नि-ज्वालाओं के बीच में जल रही है। क्लबों एवं भोग भवनों में राग की अग्नि जकड़ रही है। कचहरी और युद्ध स्थलों में द्वेष की अग्नि भड़क रही है। यदि मानव पेट्रोल का एक ड्रम अपने सिर पर उड़ेल ले और दूसरा अपने पैर और कपड़ों पर उड़ेल ले और स्वयं अपने हाथ से आग लगा ले और चौराहे के बीच में छाती पीटकर रोये कि मुझे बचाओ, तो इसमें

दोष किसका है? आज मानव स्वयं ही राग और द्वेष की अग्नियों को अपने मन की स्वीकृति से भड़काकर उनके बीच में करुण क्रन्दन कर रहा है। गीता के समत्व दर्शन के अमृत जल के बिना उसे कौन बचा सकता है। किसी दूसरे द्वारा लगायी हुई आग को तो हम प्रयास करके बुझा सकते हैं किन्तु जो राग और द्वेष की आग हमारी ही सहमति से हम ही ने भीतर-भीतर छिपकर लगायी हो तो उसे बुझावे भी तो कौन?

राग-द्वेष के वशीभूत होकर ही हमारे पतन का क्रम चल पड़ता है। विषयों के प्रति महत् बुद्धि होने से उसके प्रति राग उत्पन्न होता है। राग होने से ही विषयों का चिन्तन, विषयों के चिन्तन के फलस्वरूप विषय के प्रति आसक्ति, फिर काम-बाधा आने पर क्रोध, फिर सम्मोह, फिर स्मृति विभ्रम, बुद्धिनाश। इसमें विषय इन्द्रियों को प्रभावित कर लेते हैं, आकर्षित कर लेते हैं, इन्द्रियां मन को वश में कर लेती हैं, मन बुद्धि को वश में कर लेता है। यही पतन का मार्ग है। और उत्थान का क्रम है—बुद्धि आत्मोन्मुख हो, मन बुद्धि उन्मुख हो और इन्द्रिय मन उन्मुख हो। यानी बुद्धि सत्-असत् विचार से नियंत्रित होगी, मन बुद्धि से नियंत्रित होगी, इन्द्रिय मन से नियंत्रित होती है तब विषय का उपभोग राग-द्वेष के वशीभूत नहीं होकर शरीर के निर्वाह के लिए होगा।

ध्यान रहना चाहिये कि विषय, इन्द्रिय, मन, बुद्धि स्वयं में हानिकारक नहीं है। भगवान् शंकराचार्य मणिरत्नमाला में स्वयं ही प्रश्न उठाते हैं और स्वयं ही उत्तर देते हैं। वे प्रश्न उठाते हैं कौन अपना शत्रु है? तो मन। कौन अपना मित्र है? तो जीता हुआ मन ही अपना मित्र है।

गीता के छठे अध्याय में भगवान् कहते हैं—

उद्धरे-दात्म-नात्मानं, नात्मान-मवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धु,-रात्मैव रिपु-रात्मनः।।6/5

अपने द्वारा अपना उद्धार करना चाहिये तथा अपने को नीचे नहीं गिराना चाहिये क्योंकि मनुष्य आप ही अपना मित्र है तथा आप ही अपना शत्रु है।

बन्धु-रात्मात्मनस्-तस्य, येनात्मै-वात्मना जितः।
अनात्मनस्-तु शत्रुत्वे, वर्ते-तात्मैव शत्रुवत्।।6/6

जिस आत्मा (अर्थात् जीव) के द्वारा आत्मा (अर्थात् शरीर-मन-बुद्धि) जीत लिया गया है उस आत्मा (अर्थात् जीव) का आत्मा मित्र है। किन्तु अनात्मा का (अर्थात् जिसके द्वारा आत्मा नहीं जीता गया उस जीव का) आत्मा ही शत्रु की भांति शत्रुता का व्यवहार करता है।

स्पष्ट है जीता हुआ शरीर मन-बुद्धि ही अपना मित्र है, अपने परम लक्ष्य तक पहुंचाने में सहायक है। हमारा आत्म-कल्याण करने वाला है। इसके विपरीत

अजित मन, बुद्धि, इन्द्रिय हमारे हत्यारे, गड्ढे में ले जाने वाले शत्रु हैं। जब विषयों के अधीन इन्द्रिय, इन्द्रिय के अधीन मन, मन के अधीन बुद्धि हो जाती है तब वह बुद्धि विषय के यथार्थ रूप को देखने में समर्थ नहीं होती है। विषय के बाहरी रूप की चकाचौंध में बह जाती है, उसे सत्य और रमणीय मान लेती है, उसकी अनित्यता, असारता एवं उसके पीछे जो दुःख की परम्परा है उसे देख नहीं पाती, जैसे-मछली आटे के पीछे कंटिया है इसे देख नहीं पाती। पतंगा रूप के पीछे ज्वाला को देख नहीं पाता। यही स्थिति हमारी आपकी होती है। हम विषय के बाह्य रंग-रूप के वशीभूत हो जाते हैं। जिसके प्रति राग होता है उसके दोष दिखाई नहीं पड़ते। और जिसके प्रति द्वेष होता है उसके गुण दिखाई नहीं पड़ते। जिन विषयों के प्रति अज्ञानजनित राग होता है, आकर्षण हो जाता उसके दोष, उसकी नश्वरता दिखाई नहीं पड़ती। पर विवेक का दीपक जलाने पर उनके नश्वर स्वरूप का ज्ञान होते ही उनके प्रति वैराग्य हो जाता है।

बाहर की चकाचक के नीचे अन्दर की रुलाई को देखा,
सोने के वर्क में लिपटी सी गोबर की मिठाई को देखा।

स्वामी विवेकानन्दजी प्रथम अमेरीका की यात्रा में वहाँ भौतिकता की चकाचौंध में, वहां मिथ्या लोकतंत्र के भुलावे में आ गये थे। पर दूसरी विदेश यात्रा में पाश्चात्य देशों के बाहरी सौन्दर्य, टीप-टाप, तड़क-भड़क के नीचे उनका ईर्ष्या-द्वेष से जलता हुआ परस्पर वैर और क्रोध में धधकता हुआ आन्तरिक जीवन भी देख लिया। ऊपर का बाह्य आकर्षण तुरन्त विकर्षण में, राग वैराग्य में, मोह घृणा में बदल जाता है। स्वामी विवेकानन्द ने ठीक ही कहा है 'पाश्चात्य सभ्यता क्या है? इन ज्वालामुखी पर टिकी हुई हलकी सी लिपस्टिक की कृत्रिम मुसकान। ज्योंही भीतर का ज्वालामुखी फूटेगा तो इस सभ्यता के चिथड़े हो जायेंगे।'

अतः सांसारिक विषयों के प्रति विवेक का दीपक जलाते हैं तब अज्ञान का पर्दा उठ जाने से उसका वास्तविक, नश्वर, असार स्वरूप सामने आता है तब राग-द्वेष के वशीभूत विषयों के उपभोग में प्रवृत्ति नहीं होती।

अतः इन्द्रिय मन-बुद्धि से किया गया आचरण असत्य की ओर, पतन की ओर ले जाने वाला है। उत्थान की ओर जाने वाला रास्ता बिलकुल इसका उलट है। शुद्ध बुद्धि के द्वारा किया गया निर्णय कठोर हो सकता है, कठिन हो सकता है, उसमें त्याग की अपेक्षा हो सकती है, उस कठोर एवं कठिन निर्णय को मन स्वीकार कर ले। मन उसके तदनुकूल इन्द्रियों से वह काम कराये। बुद्धि-मन इन्द्रिय के द्वारा परिचालित कर्तव्य-कर्म करते हुए निरन्तर उत्थान की ओर अग्रसर हो।

ये तीनों इन्द्रियों की विशेषता है। मन होना चाहिये विधेयक। मन पर होना चाहिये अपने विवेक का नियंत्रण। और विवेक द्वारा नियंत्रित मन के अधीन होनी चाहिये इन्द्रियां। आत्मवश्यै मन के अधीन इन्द्रियां राग-द्वेष से वियुक्त होकर विषयों में वर्ते। उन इन्द्रियों में विषयों के प्रति न राग हो और न द्वेष हो। इन्द्रियों का यह वैशिष्ट्य है कि वह विषयों के राग-द्वेष से मुक्त है। जो हमारी अपने में अनुशासित विवेक के द्वारा अनुशासित इन्द्रियां हैं वे इन्द्रियां निष्क्रिय न हो, कर्मयोग कर्म का निषेध नहीं करता। कर्म का निषेध न करता हुआ भी इस बात का आग्रह करता है कि हम न तो विषयों के प्रति आसक्त हों और न विषयों के प्रति विद्वेष का पोषण करते हों। राग-द्वेष से विनिर्मुक्त होकर वशीभूत इन्द्रिय व विवेक-सम्मत मन के द्वारा विषयों में बढ़ते हैं तब आत्मसंयमी प्रसाद को प्राप्त होते हैं।

यहां श्रीकृष्ण अर्जुन को कर्म करने की कल्याणकारी विधि सिखा रहे हैं क्योंकि बिना कर्म किये जीवन नहीं चल सकता तथा विषयों के सेवन की विधि भी सिखा रहे हैं क्योंकि बिना विषयों की सेवन विधि सीखे जीवन का निर्वाह नहीं हो सकता। मनुष्य न कर्म से बचकर भाग सकता है और न विषय-सेवन से ही पूर्णतः विमुक्त हो सकता है। कर्तव्य कर्म से पलायन करने वाले कायर होते हैं तथा विषयों से घृणा करने वाले पाखण्डी (अथवा कुण्ठित) होते हैं।

यहां भोग परायण एवं योग परायण व्यक्ति के तुलनात्मक विवेचन से दोनों का चित्र स्पष्ट हो जाता है। भोग परायण व्यक्ति कैसे पतन को प्राप्त होता है और योग परायण व्यक्ति राग-द्वेष मुक्त होकर विषयों का सेवन करके प्रसाद को पाकर मुक्ति लाभ करता है।

(1) भोग परायण मनुष्य आसक्ति के कारण इन्द्रियों के विषयों में फंस कर स्वयं ही भुक्त हो जाता है, नष्ट हो जाता है। क्योंकि भोगों से कभी तृप्ति नहीं मिलती तथा भोग की वासना अधिक ही अधिक तीव्र होकर मनुष्य को दुःख देने लगती है। विवेकहीन भोग द्वारा कामना अथवा वासना की शान्ति नहीं होती, बल्कि वह तीव्र हो जाती है। भोगासक्ति (विषयासक्ति) भगवत्प्राप्ति के मार्ग में बाधक होती है।

इसके विपरीत योग परायण मनुष्य जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक विषयों का सेवन करता है। भोगी विषयासक्त होकर विषय-वस्तुओं का भोग करता है तथा नष्ट हो जाता है, योगी अनासक्त होकर विषय वस्तुओं का सेवन करता है तथा प्रसन्न होकर परमात्मा की ओर उन्मुख होता है। योगी जागरण की अवस्था में रहता है, उसका विवेक आत्मा के आलोक से प्रकाशित रहता है। भोगी के लिए विषय-वस्तु का भोग विनाश का कारण बन जाता है तथा योगी के लिए विषय वस्तु का सेवन विकास का साधन बन जाता है।

(2) भोगी अतृप्त रहने के कारण सदैव अशान्त रहता है, योगी आत्म तृप्त होने के कारण सदैव शान्त रहता है। भोगी के भोग विष हैं तथा योगी के लिए आवश्यक आहार। अतएव भोगी निर्मर्याद होता है तथा योगी मर्यादामय। इन्द्रियों के लिए उनके विषय आहार होते हैं। भोगी लिप्त होकर उनका उपभोग करता है तथा योगी अनासक्त होकर उपयोग करता है।

(3) भोगी का मन विषयासक्त होता है, योगी का मन निर्विषयक होता है। भोगी असंयम के कारण पराधीन (विषयों के अधीन) रहता है, योगी विवेक द्वारा संयम रखता है तथा स्वाधीन रहता है। भोगी नेत्र मूंदकर 'अति' कर देता है, योगी नेत्र खोलकर विषयों से गुजरता है। भोगी विषय सागर में डूब जाता है, योगी पार उतर जाता है। भोगी विषयों के भोग में चंचल एवं उत्तेजना ग्रस्त हो जाता है, योगी शान्त रहता है। सांसारिक भोग से क्षणिक तृप्ति एवं सुख मिल सकते हैं, किन्तु आत्यन्तिक तृप्ति एवं अक्षय आनन्द की प्राप्ति तो योगी ही करता है, विषय भोगी कदापि नहीं करता।

(4) जिस प्रकार मछलियों के हलचल से समुद्र में क्षोभ उत्पन्न नहीं होता, उसी प्रकार योगी के मन में विषयों के सेवन से उत्तेजना नहीं होती। भोगी विषयों में आसक्ति के कारण चिन्तित रहता है, योगी अनासक्त होने के कारण मस्त रहता है।

विषयों से निवृत्ति विवेकपूर्वक विषय सेवन द्वारा ही होती है, क्योंकि विष से ही विष का शमन होता है। कांटे को कांटे से ही निकाला जाता है, मल को मल से ही धोया जाता है। इन्द्रियों को निराहार अथवा भूखा रखने पर मन की रुचि समाप्त नहीं हो सकती। विवेकपूर्वक विषय-सेवन अर्थात् आवश्यकता के अनुसार विषयों का आहार की भांति उपभोग (सेवन) करने से ही रुचि की तृप्ति तथा विषयों से निवृत्ति होती है। भगवद् भक्ति के रसपान द्वारा गहन तृप्ति तथा विषयों से पूर्ण निवृत्ति हो जाती है। कर्मयोगी विषयों का सेवन करते हुए उनका उपयोग करता है तथा वह प्रभु का चिन्तन करता है, विषयों का नहीं। उसकी वृत्ति भगवदाकार हो जाती है, विषयाकार नहीं रहती। विषय उसमें पतनकारक प्रमाद अथवा उन्माद उत्पन्न नहीं करते। कर्मयोगी विवेक के सहारे भुक्ति से मुक्ति, रति से विरति, राग से वैराग्य को प्राप्त कर लेता है। वह संकीर्ण एवं स्वार्थमय ममत्व को घटाता है तथा आत्मौपम्यता का विस्तार कर लेता है। कर्मयोगी के लिए गृहस्थावस्था साधनामयी होती है जिसके द्वारा वह विषय सागर को कुशलतापूर्वक तैर करके पार कर सकता है तथा परमात्मा को प्राप्त कर सकता है।

इस प्रकार स्पष्ट है भोग परायण व्यक्ति अविवेक द्वारा भोगों को भोगने के कारण अतृप्त भी रहता है और पतन को प्राप्त होता है जबकि योग परायण व्यक्ति

विवेक के द्वारा आवश्यक विषयों का सेवन कर उससे तृप्त हो, मुक्त हो प्रसाद को प्राप्त करता है।

यह प्रसाद शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। शंकराचार्य बताते हैं प्रसाद का अर्थ प्रसन्नता है। प्रसन्न का मतलब निर्मल होता है। प्रसाद का अर्थ है इन्द्रियों की निर्मलता। अधीनस्थ विवेक सम्मत मन राग-द्वेष वियुक्त इन्द्रियों के द्वारा विषयों में वर्त्तता रहेगा तो प्रसन्नता को, निर्मलता को प्राप्त करेगा। शंकराचार्य कहते हैं स्वास्थ्य में स्थित हो गया, स्वास्थ्य की प्राप्ति हो गई। स्वास्थ्य किसको कहते हैं? स्वस्थ होने के भाव को स्वास्थ्य कहते हैं। स्वास्थ्य का मतलब है अपने में स्थित होना। जो अपनी मर्यादा में, अपने रूप में, अपने स्वरूप में स्थित है वही स्वस्थ है। जो अपनी मर्यादा का उल्लंघन करेगा अतिक्रमण करेगा वही अस्वस्थ होगा। और जो अस्वस्थ होगा वही विकृत होगा, मलीन होगा, वही अस्वच्छ होगा, वही विकार को प्राप्त होगा।

प्रसाद को पाने का मतलब क्या है? हमारे मन का, हमारी इन्द्रियों का विकार क्या है? मल क्या है?

जैसा हमने पहले देखा, न इन्द्रियां और न विषय हमें कष्ट देते हैं। इन्द्रियां शत्रु हैं यदि वह स्वच्छन्द है, इन्द्रियां मित्र हैं यदि वे अधीन हैं। वशीभूत मन ही हमारा मित्र है। और मन जो कहेगा मानेंगे! दुनिया में हमारा मन ही तो है ऐसा मन शत्रु है। गड्ढे में ले जाने वाला है। मन का कहा मानेंगे! मन तो इन्द्रियों के माध्यम से बहिर्मुख ही होगा। मन तो अन्तर्मुख होकर आत्मा की ओर प्रत्यगात्मा की ओर जाना नहीं चाहेगा। मन के ऊपर बुद्धि का नियंत्रण और नियंत्रित मन का इन्द्रियों पर संयम यह विकास का रास्ता है। इससे मन को प्रसाद की, प्रसन्नता की, स्वस्थता की प्राप्ति होती है।

प्रसाद सहज गम्य नहीं है। विकार सहज गम्य है। संस्कार साधना गम्य है। हमें बराबर ध्यान रखना चाहिये। हम स्थान छोड़ देंगे तो धूल ही जमेगी। गन्दगी ही होगी। स्वच्छता निरन्तर परिश्रम से; जागरूकता से होती है। तो विकृति स्वाभाविक है। प्रसाद, स्वस्थता यह साधना लभ्य है। इसके लिए प्रयास करना पड़ता है। जब प्रसाद प्राप्त होता है तो निर्मलता आती है।

प्रसादे सर्व-दुःखानां, हानि-रस्योप-जायते।
प्रसन्न-चेतसो ह्याशु, बुद्धिः पर्यवतिष्ठते।। 2/65

प्रसन्नता प्राप्त होने पर दुःखों की हानि होती है। इसका मतलब हुआ जब हमारा मन अस्वच्छ है, जब हमारा मन विकृत है तभी वह खिन्न होता है। वह दुःख प्राप्त करता है। अस्वस्थ मन दुःखी होता है। स्वस्थ मन निर्मल मन,

स्थिर होता है, अविकृत होता है डिगता नहीं। न भय से, न प्रलोभन से। जल की निर्मलता तब है जब उसमें और किसी चीज की मिलावट न हो। आप उसमें केवड़े का शर्बत भी डाल देंगे तो जल स्वच्छ नहीं है। चीनी भी डाल देंगे तो जल स्वच्छ नहीं, नीबू और नमक भी डाल दोगे तो भी स्वच्छ नहीं। कीचड़ कादा होगा तब तो अस्वच्छ है ही। किसी दूसरी चीज की मिलावट न हो तब स्वच्छ है। मन चिन्मुख हो, चैतन्य की ओर हो। हम जड़ और चेतन के समन्वित आकार में रहते हैं। और उसमें जब हम जड़ की ओर जाते हैं तब विकार की ओर जाते हैं। जब हम चेतन की ओर आते हैं तब निर्मलता की ओर आते हैं।

यह बराबर की कसौटी है कि हमारा मन किधर जा रहा है जड़ विषयों से सुख पाने की चेष्टा कर रहा है, किसी रूप को देखकर, किसी गंध को सूंघकर, कुछ खाकर। आपका सुख उधार सुख है किसी दूसरे के पास। जड़ की ओर उन्मुख आपका मन दुःख की ओर जायेगा, दुःख प्राप्त करेगा। चैतन्य की ओर आपका मन सुख की ओर जायेगा, सुख प्राप्त करेगा। 'आत्मन्येवात्मना तुष्टः' जब इस भूमिका पर आयेगा तब वह स्थितप्रज्ञ होगा। हम किस दिशा में जा रहे हैं जड़ की ओर उन्मुख हैं कि चैतन्य की ओर उन्मुख। यह विचार बराबर चलता रहना चाहिये कि आप किससे अपने आपको कृतार्थ मान रहे हैं। इस बात का विवेक बना ही रहना चाहिये।

प्रसन्न-चेतसो ह्याशु

जब चैतन्य निर्मल होता है, जड़ की विकृति से मुक्त होता है। जब चैतन्य चैतन्य की ओर जाता है तब उसमें प्रज्ञा की बुद्धि की स्थिरता होती है।

प्रसन्न-चेतसो ह्याशु, बुद्धिः पर्यवतिष्ठते।।

अगर हम-आप अपनी बुद्धि को स्थिर करना चाहते हैं तो बराबर विवेकपूर्वक देखते रहना चाहिये। बराबर याद रखिये आप द्रष्टा हैं। और ये सब दृश्य है। दृश्य और द्रष्टा का विवेक कीजिये। शरीर दृश्य है दिखाई पड़ता है, इन्द्रियां दृश्य है दिखाई पड़ती हैं, मन दृश्य है, मन में क्या संकल्प-विकल्प चल रहे हैं दिखाई पड़ता है, बुद्धि कैसे निर्णय कर रही है दिखाई पड़ता है। अन्तःकरण दृश्य है इसलिए जड़ है। जो उसको देख रहा है वह द्रष्टा है, वह चैतन्य है, वह चैतन्य जितनी मात्रा में जड़ वस्तु को एक करेगा उतनी मात्रा में बंधेगा। जब वह चैतन्य अपने को शरीर से एक करके शरीर मानने लगता है तो दुःख पायेगा ही पायेगा। जब वह चैतन्य मन के साथ, बुद्धि के साथ एक करेगा, जितनी मात्रा में वह जड़ से आपका चैतन्य एक करेगा अपने को उतनी मात्रा में दुःख की ओर जायेगा। जितनी मात्रा में वह चैतन्य की ओर उन्मुख होगा उतनी मात्रा में वह आत्मवश रहेगा उतनी मात्रा में स्वाधीन रहेगा।

सर्वं परवशं दुःखं, सर्वं आत्मवशं सुखं

जितनी परवशता है वही दुःख है। जितनी आत्मवशता है वही सुख है।

नास्ति बुद्धि-रयुक्तस्य, न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्ति,-रशान्तस्य कुतः सुखम्।। 2/66

(और हे अर्जुन!) असमाहित अंतःकरण वाले पुरुष में आत्म-स्वरूपविषयक बुद्धि नहीं होती और (उस) अयुक्त (मनुष्य) में भावना (आत्मज्ञान विषयक अतिशय प्रीति) भी नहीं होती तथा भावनाहीन मनुष्य को शांति नहीं (मिलती, और) शान्तिरहित मनुष्य को सुख कैसे (मिल सकता है)?

अयुक्त (मनुष्य) में शुद्ध बुद्धि नहीं होती, शुद्ध बुद्धि के अभाव में शुद्ध भावना नहीं होती। अशुद्ध भावना वाले को शान्ति नहीं मिल सकती, अशान्त व्यक्ति सुखी कैसे हो सकता है?

61वें श्लोक में बीज रूप से योग की चर्चा आयी है। वहां युक्त शब्द का प्रयोग हुआ है। इस 66वें श्लोक में अयुक्त शब्द का प्रयोग हुआ है।

युक्त का अर्थ है जो भगवान् से, आत्मा से जुड़ गया है। अयुक्त यानी भगवान् से नहीं जुड़ा है। अतः उसकी न बुद्धि शुद्ध होगी, अशुद्ध बुद्धि वाले की भावना शुद्ध नहीं हो सकती। इसे हम दो दृष्टान्तों से समझने का प्रयास करें।

एक आदमी कहता है कि उसमें भावना बहुत है। पत्नी मर गई, रो रहा है। बेटा बीमार पड़ा है, आंसू गिरा रहा है। कहता है कि भावना बहुत है। यह भावना नहीं है। यह 'फीलिंग' नहीं है, यह सिर्फ 'सेन्टिमेन्टलिटि' है। फर्क क्या है? अगर यह भावना नहीं है, सिर्फ भावना का धोखा है, तो फर्क क्या है?

एक आदमी रो रहा है, अपने बेटे के पास बैठा हुआ। मेरा बेटा बीमार है और चिकित्सक कहते हैं कि बचेगा नहीं, मर जायेगा। रो रहा है; छाती पीट रहा है। उसके प्राणों को बड़ा संकट है। तभी हवा का एक झोंका आता है और टेबल से एक कागज उड़कर उसके पैरों पर गिर जाता है और उसे वह यों ही उठाकर देखने लगता है। पाता है कि उसकी पत्नी को लिखा हुआ किसी का प्रेम पत्र है। पता चलता है पत्र कों पढ़कर, कि बेटा अपना नहीं, किसी और से पैदा हुआ है। सब भावना विदा हो गई। कोई भावना न रही। दवाई की बोतलें हटा देता है। जहर की बोतलें रख देता है। रात के एकान्त में गरदन दबा देता है।

वही आदमी जो उसे बचाने के लिए कह रहा था, वही आदमी गरदन दबा देता है। भावना का क्या हुआ! यह कैसी भावना थी? यह भावना नहीं थी। यह भावना का मिथ्या भ्रम था। 'मेरा नहीं' तो बात समाप्त हो गई।

टाल्सटाय ने एक कहानी लिखी है। लिखा है कि एक आदमी का बेटा बहुत दिन से घर के बाहर चला गया। बाप ही क्रोधित हुआ था, इसलिए चला गया था। फिर बाप बूढ़ा होने लगा। बहुत परेशान था। अखबारों में खबर निकाली, संदेशवाहक भेजे। फिर उस बेटे का पत्र आ गया कि मैं आ रहा हूं। आपने बुलाया तो आता हूं। मैं फलां दिन, फलां-फलां ट्रेन से आ जाऊंगा।

स्टेशन दूर है, देहात में रहता है बाप। अपनी बग्घी सजा कर वह उसे लेने आया। मालगुजार है, जमींदार है। लेकिन पता चला कि ट्रेन आ चुकी है। वह सोचता था चार बजे आयेगी, वह दो बजे आ गई। तो धर्मशाला में ठहरना चाहा जाकर, ताकि अपने बेटे की तलाश करे कि वह कहां गया।

धर्मशाला में आया। कोई जगह खाली नहीं थी। धर्मशाला के मैनेजर को उसने कहा कि 'कोई भी जगह खाली करवाओ ही'। वह जमींदार है। मैनेजर ने कहा कि 'अभी एक कोई भिखमंगा-सा आदमी आकर ठहरा है उस कमरे में, उसको निकाल बाहर कर दो।' उसने भी कहा कि 'निकाल बाहर कर दो।' उसे पता नहीं कि वह उसी का बेटा है। उसे निकाल कर बाहर कर दिया गया। वह बैठा है अपने कमरे में आराम से। उसने आदमी भेजे कि गांव में बेटे को खोजो।

वह बेटा बाहर सीढ़ियों पर बैठा है। सर्द रात उतरने लगी। उस गरीब लड़के ने बार-बार कहा कि 'मुझे भीतर आ जाने दो, बाहर बर्फ पड़ रही है। और मुझे बहुत दर्द है पेट में।' मैनेजर ने कहा कि 'यहां गड़बड़ मत करो; भाग जाओ यहां से; रात में मेरी नींद खराब मत करना।' फिर रात में पेट की तकलीफ से वह लड़का चीखने लगा। तो उसने नौकरों से उठवाकर उसे सड़क पर फिंकवा दिया।

सुबह वह लड़का मर गया। फिर सुबह वह जमींदार उठा, तो लड़का मरा हुआ पड़ा था। लोगों की भीड़ इकट्ठा थी। लोग कह रहे थे कि 'कौन है, क्या है, कुछ पता लगाओ।' इतने में खीसे में ढूंढ़ने से एक चिट्ठी मिल गई। तब तो उन्होंने कहा कि 'अरे, वह जमींदार जिसको खोज रहा है, यह वही है। जमींदार को लिखी गई चिट्ठी-पत्री, यह अखबारों की कटिंग! यह उसका ही लड़का है।'

जमींदार बाहर बैठकर अपना हुक्का पी रहा है। जैसे ही उसने सुना कि मेरा लड़का है, एकदम भावना आ गई और वह छाती पीट रहा है, और वह रो रहा है। अब उस मरे लड़के को कमरे के अन्दर ले गया। जिंदे को वह नहीं ले गया! मरे को, रात मरे को दिन में कमरे के अन्दर ले गया। अब उस मरे बेटे की सफाई की जा रही है। नये कपड़े पहनाए जा रहे हैं। वह जमींदार का बेटा जो है। अब उसको घर ले जाने की तैयारी चल रही है। और रात उसने ही कई बार प्रार्थना की थी कि मुझे भीतर आने दो, तो उसको नौकरों से सड़क पर फिंकवा दिया गया था।

यह भावना है?—नहीं; यह भावना का धोखा है। भावना 'मेरे-तेरे' से बंधी नहीं होती, भावना भीतर का सहज भाव है।

अगर भावना होती तो उसे कमरे के बाहर निकालना मुश्किल होता। अगर भावना होती तो रात उसके पेट में दर्द है, सर्द रात है, बाहर बर्फ पड़ती है, उसे बाहर बिठाना मुश्किल होता। यह सवाल नहीं है कि वह कौन है। सवाल यह है कि क्या भाव है भीतर! ध्यान रहे, भावना स्वयं की स्फुरणा है। दूसरे का सवाल नहीं कि वह कौन है। बीमार है एक आदमी तो नौकरों से फिंकवा दिया उसको उठवा कर।

टाल्सटाय ने जब यह कहानी लिखी, तो उसने अपने स्मरणों में लिखा है कि मेरी यह कहानी एक अर्थ में 'आटोबायोग्राफी' भी है। यह मेरी आत्म-कथा भी है। क्योंकि खुद वह शाही परिवार का था।

उसने लिखा है कि मेरी मां, मैं समझता था, बहुत भावना-भरी थी। लेकिन बाद में उसका उद्घाटन हुआ कि भावना जैसी कोई चीज उसमें नहीं है। समझता था कि भावना थी, क्योंकि थियेटर में उसके चार-चार रूमाल भीग जाते आंसुओं से। जब नाटक चलता और जब कोई दुःखद दृश्य (ट्रैजेडी) होता तो वह ऐसी धुआंधार रोती कि नौकर रूमाल लिए खड़े रहते। शाही घर की लड़की थी। तत्काल रूमाल बदलने पड़ते थे। चार-चार, छह-छह, आठ-आठ रूमाल एक नाटक में भीग जाते थे। टाल्सटाय ने लिखा है कि मैं उसके बगल में बैठकर देखा करता था कि मेरी मां में कितनी भावना थी!

लेकिन जब मैं बड़ा हुआ, तो मुझे पता चला कि बग्घी छह घोड़ों में जुती खड़ी रहती थी और आज्ञा थी कि कोचवान बग्घी पर ही बैठा रहे क्योंकि कब उसका मन हो जाये थियेटर से जाने का! तो ऐसा न हो जाए कि एक क्षण को भी कोचवान को ढूंढ़ना पड़े! बाहर बर्फ पड़ती रहती और अकसर ऐसा होता कि जब तक वह थियेटर में नाटक देखती, तब तक एक या दो कोचवान मर जाते। उनको फेंक दिया जाता, दूसरा कोचवान तत्काल बिठा दिया जाता। वह औरत बाहर आकर देखती कि मुरदे कोचवान को हटाया जा रहा है और दूसरे जिन्दा आदमी को बैठाया जा रहा है। और वह थियेटर में रोती रहती, दुःखद दृश्यों को देखकर!

तो टाल्सटाय ने लिखा है कि एक अर्थ में यह कहानी मेरी, आटोबायोग्राफिकल भी है, आत्म-कथ्यात्मक भी है। ऐसा मैंने अपनी आंख से देखा है। तब मुझे पता चला कि भावना कोई और चीज होगी। जो देखा है वह भावना नहीं हो सकती।

जिसको हम भावना कहते हैं, श्रीकृष्ण उसको भावना नहीं कहते हैं। भावना उठती है उस व्यक्ति में, जो अपने में संयुक्त है, जो अपने में युक्त है।

66वें श्लोक का निष्कर्ष यह है कि सुख प्राप्ति के लिए व्यक्ति शम-दमादि साधनों का अभ्यास कर पहले युक्त बने; गुरु के समीप जाकर प्रणिपात, परिप्रश्न और सेवा के द्वारा उन्हें प्रसन्न कर श्रवण-मनन करते हुए बुद्धि (ज्ञान) को प्राप्त करे, फिर उसमें निदिध्यासन का योग करते हुए भावना की उपलब्धि करे। फलस्वरूप वह शान्ति को प्राप्त होगा और इस शान्ति की परिणति सुख की प्राप्ति में होगी।

इन्द्रियाणां हि चरतां, यन्मनोऽनु-विधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां, वायुर्-नाव-मिवाम्भसि।।2/67।।

क्योंकि जैसे जल में नौका को वायु हर लेती है (वैसे ही), विषयों में विचरती हुई इन्द्रियों में से, मन जिस (इन्द्रिय) के साथ रहता है, वह (एक ही इन्द्रिय) इस (अयुक्त) की बुद्धि को (हर लेती है)।

तस्माद्-यस्य महाबाहो, निगृहीतानि सर्वशः।
इन्द्रिया-णीन्द्रियार्थेभ्यस्,-तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।2/68

इसलिए हे महाबाहो (अर्जुन)! जिसकी इन्द्रियां इन्द्रियों के विषयों से सब प्रकार से वश में की हुई हैं, उसी की बुद्धि स्थिर है।

यहां पर विषयों के आकर्षण की भयावहता प्रदर्शित हुई है। अयुक्त व्यक्ति की इन्द्रिय विषयों में किस प्रकार फंसी रहती है, यह यहां पर दिखाया गया है।

इन्द्रियों का स्वभाव है गायों की भांति विषयों को चरना। जहां-जहां हरी घास दीखे, गायें उधर चल पड़ती हैं, वैसे ही अयुक्त व्यक्ति की इन्द्रियां विषयों की ओर चली जाती है, इन्द्रिय के पीछे मन चला जाता, मन जब उस विषय से समासक्त हो जाता है तो उसी में अटक जाता है। मन की शक्ति एवं साथ पाकर इन्द्रिय प्रबल हो जाती है, वह अपने साथ बुद्धि को भी भगा ले जायेगी। और यह है पतन का रास्ता, आत्मविनाश का रास्ता। इसलिए इन्द्रियों को बड़ी सावधानी के साथ विषयों के चरागाह में भेजना चाहिये। अवर्जनीय विषयों में ही इन्द्रियों को जाने देना चाहिये। यदि हमने इसमें सावधानी नहीं रखी तो इन्द्रियां मन को हर लेती हैं और मन बुद्धि को भगाकर ले जाता है। किस प्रकार भगाता है? जैसे वायु पानी में नौका को भगाकर ले जाता है। नाव नदी में है और अचानक आंधी आ जाये, नाव में लंगर न हो तो ऐसी दशा में नाव पूरी तरह वायु के वश में हो जाती है। चाहे तो वायु उसे उलट दे या विपरीत दिशा में बहाकर ले जाये या जिस किसी से टकरा दे, छिन्न-भिन्न कर देगी। वैसी ही स्थिति अयुक्त व्यक्ति की बुद्धि की होती है। वह पूरी तरह इन्द्रियों और मन के लपेटे में आ जाता है और उसकी मनमानी का शिकार होता है।

इन्द्रियों में आसक्ति के परिणाम पांच दृष्टान्त 'यन्मनोऽनुविधीयते' (जिस इन्द्रिय के साथ मन रहता है) कहकर सूचित किया कि मन को एक ही इन्द्रिय फंसाने में समर्थ है। जिस किसी इन्द्रिय के पीछे मन जाता है वही मन को फांस लेती है। इन्द्रियां कितनी प्रबल हैं। शंकराचार्य अपने 'विवेक चूड़ामणि' ग्रन्थ में (76) कहते हैं—

शब्दादिभिः पंचभिरेव पंच पंचत्वमापुः स्वगुणेन बद्धाः।
कुरंगमातंगपतंगमीनभृंगा नरः पंचभिरंचितः किम्।।

हरिण, हाथी, पतिंगा, मछली और भ्रमर—ये पांच जब पंचेन्द्रियों में क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध की एक-एक इन्द्रिय में आसक्त होकर पंचतत्त्व को प्राप्त हो जाते हैं तब भला उस संसारी की दुर्गति का क्या ठिकाना जो इन पांचों इन्द्रियों में एक साथ बंधा हुआ है। कहा भी तो है—

अलि पतंग मृग मीन गज, जरत एक ही आंच।
तुलसी वे कैसे जियें, जिन्हहिं सतावै पांच।।

हरिण वैसे तो ऐसी चौकड़ी भरता है कि कोई उसे नहीं पा सकता, पर वह 'शब्द' से ऐसा बंध जाता है कि प्राणों को खो बैठता है। वह शिकारी की बांसुरी की मधुर तान सुनकर ठिठक कर खड़ा रह जाता है और शिकारी उसे पकड़ लेता है। उसी प्रकार जंगल के हाथी को भला कौन पकड़ सकता है? पर वह स्पर्शेन्द्रिय में बंधकर अपना बल खो बैठता है। हाथी को पकड़ने के लिए जंगल में एक काठ की हथिनी को बनाकर खड़ा कर दिया जाता है। उसके पास एक बड़ा गड्ढ़ा खोदकर उसे पते से ढंक दिया जाता है, जिससे गड्ढ़ा दिखाई न पड़े। वह हथिनी का स्पर्श पाने के लिए आगे बढ़ता है और गड्ढ़े में गिर पड़ता है। वहां उसे कुछ दिन बिना भोजन-पानी के रखा जाता है जिससे दुर्बल पड़ जाता है, और बंधन स्वीकार कर लेता है। इसी प्रकार पतिंगा रूपासक्ति से बंधकर दीपक की लौ से जलकर प्राण त्याग देता है। मछली रसनेन्द्रिय से बंधी है। कांटे में फंसे चारे के रस के लोभ में पड़ अपना प्राण गंवा बैठती है। भ्रमर घ्राणेन्द्रिय से बंधा है। वैसे तो वह काठ को भी छेद सकता है, पर कमल की गन्ध में बंध कर उसकी कोमल पंखुड़ियों को नहीं छेद पाता और काल का ग्रास बन जाता है। किसी कवि ने लिखा है—

भौंरा कमल में बैठा हुआ जब गंध का आनन्द ले रहा था, तो इतने में सूर्यास्त हो गया और कमल की पंखुड़ियां बंद हो गयीं। भौंरा कमल में कैद हो गया। अगर वह चाहता तो कोमल पंखुड़ियों को काटकर बाहर निकल सकता था, पर वह मन में सोचने लगा—जब रात बीत जायेगी और सूर्योदय होगा तब कमल

फिर से खिल उठेगा और तब मैं बाहर हो जाऊंगा। पर ऐसा सोच ही रहा था कि इतने में एक हाथी आया और उसने एक झपट्टा मारकर सूंड से कमल को तोड़ अपने उदर के हवाले कर लिया। वह बेचारा भौंरा अपने प्राणों से हाथ धो बैठा।

तो यहां इन्द्रियों की जबरदस्त आकर्षण शक्ति का वर्णन कर यह बताया गया है कि एक इन्द्रिय में फंसने पर जीव नाश को प्राप्त होता है।

जैसे घड़े में एक भी छिद्र हो तो पानी बह जाता है। जिसने अपनी चार इन्द्रिय को तो वश में कर लिया पर एक इन्द्रिय उसके वश में नहीं है, वही इन्द्रिय मन को हर लेगी, मन-बुद्धि को हर लेगा परिणाम दुर्गति में पर्यवसान होगा। सर्दी है, आइसक्रीम खाने में दोष नहीं है। कम से कम एक आइसक्रीम तो खा ही सकते हैं। पेट खराब है। लेकिन रबड़ी तो रोज-रोज नहीं बनती, पकवान तो रोज-रोज नहीं बनते, एक बार देखने में कोई आपत्ति नहीं है। इस तरह मन किसी एक भी इन्द्रिय के साथ हो जाता है तो उसके ज्ञान का अपहरण कर लेती है। मन जुड़ने से इन्द्रिय को बल मिल जाता है। वह इन्द्रिय ज्ञान का भी अपहरण कर लेती है।

बहुत बार भौतिक बंधन को तोड़ना आसान होता है। लेकिन मन किसी के प्रति प्रेम या राग (चाहे वह मां हो, बहन हो, या पत्नी या भाई या अन्य किसी के प्रति) के बंधन में फंसा हुआ तो, इस भावना के बंधन को तोड़ना कठिन है। इसमें बड़े-बड़े समाज सुधारक, मनीषी भी हार जाते हैं। द्रोणाचार्य का अपने पुत्र अश्वत्थामा के प्रति, जयद्रथ के पिता का अपने पुत्र के प्रति, गांधारी का अपने पुत्र दुर्योधन के प्रति, जड़ भरत का मृग के प्रति आदि।

जब एक इन्द्रिय ही और किसी के प्रति भावना ही हमारी प्रज्ञा को हर लेती है तब उस मनुष्य की कैसी दुर्दशा होती होगी जो पांच-पांच इन्द्रियों में फंसा हुआ है। इन्द्रियों को स्वच्छन्द छोड़ देने पर वे मन और बुद्धि को भी भ्रष्ट कर देती हैं। 'कठोपनिषद्' में आत्मा को रथी और शरीर को रथ, इन्द्रियों को घोड़े, मन को लगाम और बुद्धि को सारथि एवं सांसारिक विषयों को घोड़ों के चरने योग्य घास-पात आदि कहा गया है। अब यदि लगाम और सारथि कमजोर हैं घोड़े बलिष्ठ तो वे लगाम और सारथि, दोनों को अपनी इच्छानुसार भगा ले जाते हैं। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि सवार जीवात्मा रथी की कैसे दुर्गति न होती होगी। इस स्थिति से बचने के लिए आवश्यक है आत्मा रूपी महारथी की आज्ञानुसार बुद्धि रूपी सारथि शरीर रूपी रथ का संचालन करे, इन्द्रिय रूपी वेगवान और चंचल घोड़ों पर मन रूपी सुदृढ़ लगाम रहे जो बुद्धि रूपी सारथि के हाथों में है। इन्द्रिय रूपी घोड़ों को संयमपूर्वक उचित आहार दिया जाये किन्तु रथ के दौड़ते समय मार्ग में इन्द्रिय रूपी घोड़े विषय रूपी हरी घास को दायें-बायें देखकर विचलित न हो जावें इसलिए घोड़ों की आंखों पर दोनों ओर चमड़े के खोपड़े (शंकु) लगाये जाते

हैं। इन्हें काबू में रखने के लिए तथा दिशा के संचालन के लिए लगाम लगायी जाती है और उन्हें सचेत करने और तेज दौड़ाने हेतु चाबुक प्रयोग में लायी जाती है तब जीवन रूपी रथ ठीक दिशा में लक्ष्य की ओर बढ़ता है।

अतः सर्वनाश से बचने और जीवन रूपी रथ को लक्ष्य पर पहुंचाने के लिए इन्द्रिय रूप घोड़ों पर नियन्त्रण करना है। भले ही यह कार्य आरम्भ में कठिन लगे पर अध्यवसायपूर्वक इन्द्रियों को स्वच्छन्द विचरने से रोकना होगा। यह वैसा ही दुस्साध्य है जैसे एक उच्छृंखल घोड़े को काबू में लेना। पर ऐसा दुष्कर कार्य करने वाला व्यक्ति ही स्थितप्रज्ञता को प्राप्त करने में समर्थ होता है।

तात्पर्य यह है कि संसार एक विशाल विषय-महासागर है। विषयानुगामी अथवा विषयलोलुप मनुष्य उसे पार नहीं कर पाता तथा अन्त में थककर एवं हताश और दुःखी होकर विलुप्त हो जाता है। विषय-रस में अलिप्त रहने वाला मनुष्य अविचल बुद्धि के सहारे विषयों के सागर को सरलतापूर्वक पार करके तट के दूसरी ओर दिव्यत्व का दर्शन कर सकता है। इन्द्रियों का संयम प्रज्ञा लाभ की प्राप्ति के लिए उत्तम साधन है तथा इन्द्रियों का असंयम अनर्थ का कारण होता है। विषयलिप्त मनुष्य की बुद्धि चंचल एवं भ्रमित रहती है तथा वह किसी उत्तम लक्ष्य की प्राप्ति नहीं कर सकता। अनासक्त मनुष्य विषयों को आवश्यकतानुसार सेवन एवं उपयोग करता है तथा अपने लक्ष्य की प्राप्ति कर लेता है।

मनुष्य विषयानुराग का त्याग करके इन्द्रिय-निग्रह करने में समर्थ होता है, क्योंकि विषयानुराग से मुक्त बुद्धि ही अविचल एवं स्थिर रहकर मन एवं इन्द्रियों पर नियन्त्रण कर सकती है। अतएव स्वाध्याय, सत्संग, चिन्तन, ध्यान, प्रार्थना आदि के द्वारा विषयों के सुख की नश्वरता एवं निस्सारता तथा अध्यात्मिक आनन्द की नित्यता एवं सारमयता को समझने का प्रयास करना इन्द्रिय निग्रह एवं मनोनिग्रह के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होता है।

58वें श्लोक में भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को महाबाहु (यानी बड़ी-बड़ी भुजाओं वाले) कह कर यह संकेत कर रहे हैं कि अर्जुन जैसे बाह्य शत्रुओं पर विजय प्राप्त करता रहा है, वैसे ही वह अपने अन्तर् के शत्रु इन्द्रिय पर विजय प्राप्त करने में समर्थ है। अर्जुन की प्रशंसा करके इन्द्रिय विजय रूपी दुर्गम कठिन कार्य को करने के लिए प्रेरित किया है।

55वें श्लोक से भगवान् श्रीकृष्ण ने स्थितप्रज्ञ के लक्षण का जो प्रकरण आरम्भ किया था, उसका इस श्लोक में समापन करते हैं। कहते हैं दुर्जय इन्द्रिय को अपने-अपने विषयों में जाने से सब प्रकार से रोक देना। इसका अर्थ यह नहीं इन्द्रिय की शक्ति को नष्ट कर देना। इसका तात्पर्य यह है कि इन्द्रियों में विषयों

की ओर जाने की सहज प्रवृत्ति होती है, उसके वेग को रोक कर उनका इच्छानुसार या अपने लक्ष्य के अनुसार संचालन करना है। जो यह करने में समर्थ है वही स्थितप्रज्ञ है। और यही यथार्थ में सुख प्राप्ति का मार्ग है।

या निशा सर्व-भूतानां, तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि, सा निशा पश्यतो मुनेः।। 2/69

(और हे अर्जुन!) समस्त प्राणियों के लिए जो (अवस्था) रात्रि के समान है, उसमें (स्वप्रकाश आत्मा में) संयमी (स्थितप्रज्ञ) जाग्रत् है और जिस (अवस्था) में सब प्राणी जागते हैं, आत्मा को देखने वाले मुनि के लिए वह रात्रि (के समान) है।

यह श्लोक स्थितप्रज्ञ, ज्ञानी या साधक और सामान्य संसारी व्यक्ति के बीच जीवन दृष्टि के भेद को स्पष्ट करता है।

जो दूसरों के लिए रात है वह साधक के लिए दिन है—इसका क्या अर्थ है? इसका अर्थ यह है कि जीवन का मूल्यांकन संसार में डूबे हुए व्यक्ति तथा संसार से उबरने वाले व्यक्ति—इन दोनों का अलग-अलग होता है। तुलसीदास अपनी पत्नी के मोह में इतने फंसे थे कि रात में गहन नदी को पार कर ससुराल पहुंच गये और सांप को रस्सी समझ कर उसके सहारे पत्नी के कमरे में जा पहुंचे। वे ही जब राम के भक्त हुए तब संसार के प्रति वे आंखें मींच बैठे और जिस भगवान् को भुलाये बैठे थे वे ही उन्हें कण-कण में दीखने लगे। मीरा महलों में रहने वाली, संसार के सुख-ऐश्वर्य में फूलों की तरह पलने वाली! उसकी आंखें जब श्रीकृष्ण के प्रति खुल गईं तब वह महलों के प्रति, संसार के सुख तथा ऐश्वर्य के प्रति सो गई, यह दुनिया उसके लिए निशा हो गई।

तुलसीदासजी जीव के जागने की कसौटी देते हैं—

जानिअ तबहिं जीव जग जागा।
जब सब विषय विलास विरागा।। 2/92/4 मानस

लक्ष्मणजी गुहराज को कहते हैं जीव को तभी जागृत मानना चाहिये जब तमाम विषयों और विलासों में से उसे अपने आप वैराग्य मिले। अपने आप ही अमुक वस्तुएं छूटने लगे। सामान्य ढंग से छोड़ने का प्रयास करेंगे तो अहंकार आयेगा कि 'मैंने' छोड़ा है। कबीरजी का एक नियम है, कबीरजी कहते हैं कि पत्ता तोड़ो नहीं, अपने आप टूट जायेगा। यदि हमने पत्ता तोड़ा है तो किसी और जगह हम फंस गये हैं। वैराग्य प्रयास का परिणाम नहीं होता है। जब भीतर साधना होगी तब वैराग्य का सीधा परिणाम आयेगा, संसार से स्वतः ही निवृत्त हो जायेंगे।

मनुष्य जब भी मोहनिशा के अन्धकार से जाग जाये तभी उसका सुप्रभात होता है। जब जागे तभी सवेरा। जागने पर जीवन के तत्त्वों के प्रति उसके मूल्य

बदल जाते हैं। जब तक विषय सुख से वैराग्य नहीं होता तब तक ब्रह्म सुख की ओर जागृत नहीं होता। तुलसीदासजी ने बार-बार गीता की इस उक्ति को दोहराया। मैं अब तक बार-बार विषयवासना की ओर दौड़ता रहा। इसी संसार सुख की भावना में व्याकुल होता रहा, कष्ट पाता रहा। अब नहीं। ये इन्द्रियां मुझ पर हंसती थीं क्योंकि वह जानती है कि मैं विषयासक्त हूं, भले ही स्थितप्रज्ञ दर्शन पर प्रवचन करूं। जो विषयासक्त है वह पराधीन है। जब मैं अपनी बुद्धि को अपनी इन्द्रियों को अपने आधीन करूंगा तब हास्यास्पद नहीं बनूंगा। पराधीन नहीं रहूंगा।

संसारी लोग जिस विषय में सोये रहते हैं, जिस परमात्मा के बारे में, निष्कामता के बारे में, फलासक्ति त्याग के बारे में, अनासक्ति के बारे में, वैराग्य के बारे में, सात्त्विकता का उत्कर्ष करने के बारे में बेफिक्र, लापरवाह रहते हैं, उस विषय में स्थितप्रज्ञ ज्ञानी पुरुष जाग्रत, दक्ष रहता है। सब लोग परमात्मा का ध्यान, स्मरण, भक्ति नहीं करते हैं लेकिन संयमी स्थितप्रज्ञ परमात्मा के स्मरण में, अपने वास्तविक स्वरूप में, भक्ति में तल्लीन रहता है। लोग निष्काम बनने का अभ्यास कभी नहीं करते, पर स्थितप्रज्ञ पूर्ण निष्काम रहता है। लोग फल के विषय में अनासक्त नहीं रह पाते, लेकिन स्थितप्रज्ञ कर्मफल के विषय में पूर्ण अनासक्त रहता है। लोग जगत् के बारे में अनासक्त नहीं रह पाते, स्थितप्रज्ञ जगत् के विषय में, जगत् के सारे व्यवहार में अनासक्त रहता है। लोग सात्त्विकता को बढ़ाने में शिथिल रहते हैं, स्थितप्रज्ञ हर कार्य में सात्त्विकता बनाये रखने में दक्ष रहता है। संसारी व्यक्ति को आत्मा आदि की बात उसे अंधेरे में टटोलने जैसी मालूम पड़ती है, जहां सत्संग होता है वहां उसे कोई रुचि नहीं मालूम पड़ती, उसे निरस समझ कर वह उससे दूर ही रहना चाहता है।

दूसरा लक्षण यह है जिस विषय में संसार के सब लोग जागरूक रहते हैं, प्रपंच के प्रति बहुत सचेत रहते, सांसारिक लाभ-हानि, राग-द्वेष के प्रति बहुत सतर्क रहते हैं, इन सब में स्थितप्रज्ञ सोया रहता है। लोग संसार की खटपट में बहुत जागरूक रहते हैं। संयमी व्यक्ति को सांसारिक चर्चा में कोई रस नहीं आता, वह समझ नहीं पाता कि संसार के लोग नाशवान् पदार्थों को पाने के लिए इतनी खटपट क्यों करते हैं। यदि कोई उसे संसार की उपादेयता समझाना चाहे, तो वह कुछ उसे समझ में नहीं आती, बल्कि वह तो संसार में शून्य ही देखता है। पर संसारी लोग विषय-भोगों की तृप्ति को ही परम सुख और अपने को सफल मानते हैं। इनकी कर्म की प्रेरणा का उत्स है—वित्तैषणा, पुत्रैषणा एवं लोकैषणा। इसी तीन के लिए परिश्रम करते हैं। कोई धन के लिए, कोई कामना-वासना के लिए, मान पाने के लिए पागलों की भांति दौड़ रहा है। पर इनमें सुख हो तब ही न

तृप्ति मिले! अतः तृप्ति के लिए जीवन भर दौड़ते रहते हैं। इन सांसारिक व्यक्ति का सुख उधार सुख है, क्योंकि इनका सुख बाह्य विषय भोगों पर, इन्द्रियों पर आधारित और निर्भर है।

किसी का सुख प्रिय के पास, तो किसी का प्रिया के पास, किसी का होटल में, किसी का सिनेमा में, किसी का Londry में तो किसी का Teller के पास तो किसी का नापित के पास होता है। अतः परम पराधीन होते हैं। संसारियों का सुख जड़ सुख है क्योंकि जड़ पर आधारित है, विषय भोग और इन्द्रिय, दोनों जड़ हैं। शंकराचार्य ने ऐसे लोगों के विषय में कहा है जैसे उल्लुओं को दिन में दिखाई नहीं पड़ता वैसे ही विषयासक्त जीवों को आत्मज्ञान का प्रकाश दिखाई नहीं देता। उसकी आंखें चौंधिया जाती हैं। वे केवल मोह के अंधकार में ही देख पाते हैं। उनकी दृष्टि में बुद्ध पागल है उलटा-पुलटा काम करने वाले हैं।

सांसारिक लोगों को स्थितप्रज्ञ, साधक, संयमी पागल सदृश लगते हैं। उनको लगता है भला-चंगा घर छोड़कर चला गया! स्वस्थ होकर भी काम नहीं करता, पैसा नहीं कमाता। उसके उम्र के कितनों ने अपने मकान खड़े कर लिए, कोई-कोई M.L.A. हो गया कोई M.P. हो गया और यह व्यर्थ अपनी उम्र गंवा रहा है। किसी काम का नहीं, पगला गया है। सामान्य व्यक्ति के लिए जो संसार, संसार के विषय भोग, संसार के पद सत्य मालूम पड़ते हैं वहां आत्मद्रष्टा मुनि को स्वप्न से अधिक सत्यता नहीं मालूम पड़ती। अतः इनके प्रति उदासीन रहता है, सोया रहता है, वह उसके लिए रात्रि है।

तुलसीदासजी ने ठीक ही कहा—

जहां राम वहां काम नहीं, जहां काम वहां राम नहीं,
तुलसी दोऊ न मिले रवि रजनी इक ठाम।

इस प्रकार दोनों की अलग-अलग जीवन दृष्टि है।

इसी अध्याय में 56वें श्लोक में स्थितप्रज्ञ को 'मुनि' कहा है। मुनि तथा साधारण व्यक्ति के जीवन के प्रति दृष्टिकोण में यहां भेद दिखलाया गया है। दोनों की दृष्टि एक-दूसरे से उलटी है। जिसे साधारण व्यक्ति जीवन-मरण का प्रश्न समझ बैठा है, उसे मुनि निरर्थक समझता है, जिसे मुनि निरर्थक समझता है, उसे सर्व-साधारण जीवन-मरण का प्रश्न समझता है। संसार के विषय हम लोगों के लिए जीवन का सर्वस्व है, मुनि के लिए ये तुच्छ से भी तुच्छ हैं—जागने तथा सोने का यही आलंकारिक अर्थ है।

आपूर्यमाण-मचल-प्रतिष्ठं, समुद्र-मापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत् कामा यं प्रविशन्ति सर्वे, स शान्ति-माप्नोति न काम-कामी।। 2/70

जिस प्रकार जल से परिपूर्ण अचल प्रतिष्ठा वाले समुद्र में किसी प्रकार का विकार (क्षोभ) उत्पन्न किये बिना ही विविध नद-निर्झर आदि के जल समा जाते हैं, उसी प्रकार विषय सङ्ग होने पर भी जिस पुरुष में समस्त इच्छायें किसी भी प्रकार का विकार उत्पन्न किये बिना प्रविष्ट कर जाती है—आत्मस्वरूपता को प्राप्त हो जाती है, वह शान्ति (मुक्ति) लाभ करता है, न कि भोगों की कामना वाला कोई अन्य।

आत्मद्रष्टा मुनि सागर के समान धीर और शान्त होता है। जैसे-सागर में वर्षा के दिन बहुतेरी नदियां सतत जल डालती रहती है और ग्रीष्म की नदियां स्वयं ही सूखी पड़ी हैं तब वे समुद्र में जल नहीं डालती। कभी नदियों में बाढ़ आ जाती है और कभी अकाल, सूखा पड़ा है तब नदियां भी सूख जाती हैं। इन दोनों ही स्थिति में समुद्र कभी अपनी मर्यादा का उल्लंघन नहीं करता, वह शान्त, गम्भीर, क्षोभ रहित बना रहता है। समुद्र में न अनुकूलता के समय बाढ़ आती है। समुद्र में बाढ़ आ जाये तो प्रलय का दृश्य उपस्थित हो जाये और प्रतिकूलता में न सूखता या घटता है। याऩी दोनों स्थिति में मर्यादा को बनाये रखता है, शान्त, गम्भीर बना रहता है। वैसे ही स्थितप्रज्ञ अनुकूलता से न अभिभूत होता और न प्रतिकूलता से विक्षुब्ध होता है। साधारणतः हम अनुकूलता में फूलकर कुप्पा हो जाते हैं, गर्दन अकड़ जाती है। प्रतिकूलता में सूखकर छुहारा हो जाते हैं, आत्महत्या करने तक के लिए प्रस्तुत हो जाते हैं। ऐसे लोगों की तुलना छोटे-छोटे गड्ढ़ों से की जा सकती है जो वर्षा के थोड़े से पानी से भर जाते हैं और फिर थोड़ी सी कड़ी धूप निकलने पर सूख जाते हैं। हम अनुकूलता के भक्त हैं—रामजी का प्रसाद मिल रहा है, पर प्रतिकूलता में भक्ति छोड़ देते हैं।

जय श्रीराम बोलने से प्रसाद मिलता है तो हर कोई बोलेंगे। बढ़िया प्रसाद मिलता है तो सब लोग मन्दिर में जाकर कीर्तन करेंगे। भादो में नाला भी नदी बन कर उमड़ता है। कबीरदासजी कहते हैं सरिता वही है जो जेठ मास में ठहरती है। जेठ के दुपहर की ज्वाला को झेल कर जो नदी रह जाती है, सूखती ऩहीं है वही सराहने योग्य है। अनुकूलता में भक्ति प्रतिकूलता में घर बैठ जाना भक्ति नहीं है। तुलसीदासजी कहते हैं हिरण्यकशिपु ने तलवार खींच ली। उसके मन में कृपा का भाव लेशमात्र भी नहीं कि प्रह्लाद मेरा बेटा है। यह पिता नहीं है, साक्षात् मृत्यु है काल-कराल बना हुआ है, तलवार खींच कर बढ़ता हुआ मृत्यु के समान है। उसको देखकर प्रह्लादजी डरे नहीं, हिरण्यकशिपु ने पूछा, राम कहां है? सब जगह है। इस खम्भे में है तेरा राम? हां है। प्रह्लाद की हां से खम्भे से नृसिंह प्रकट हुए। जो मृत्यु के सम्मुखीन होकर भी भक्ति से विचलित नहीं होता। गांधीजी कहते हैं मेरे सौ टुकड़े कर दिये जाये तो प्रत्येक टुकड़ा उठ-खड़ा होकर ईश्वर के अस्तित्व

की घोषणा करेगा। स्वामी रामतीर्थ—चाहे तेज तलवार से तराशो या सूली पर चढ़ा दो, विश्वास न हो तो आजमा कर देख लो! मीरा को कितना कष्ट दिया पर डिगी नहीं। बंदा वैरागी, गुरु गोविन्दसिंह के दोनों पुत्र, सिख गुरुओं यथा—अर्जुन देव, भाई मतिदास, तेगबहादुर के बलिदान को याद करें। ये भय और प्रलोभन के आगे झुके नहीं, मिट गये।

चारों तरफ से वर्षा ऋतु में नदियों से निरन्तर भरता हुआ जल अनुकूल स्थिति में और ग्रीष्म की नदियों से जल न भरा जाता हुआ एवं ग्रीष्म के दिनों में बड़वानल से खौलते हुए पानी के भाप बन कर उड़ता हुआ भी यानी प्रतिकूल स्थिति में भी समुद्र जैसे अविचलित रहता है। उसी तरह जिसमें समस्त कामनायें आकर भर जाती है, कभी पूर्ण होकर, कभी अपूर्ण होकर लेकिन जो विचलित नहीं होता, जो अपनी मर्यादा नहीं छोड़ता, जो स्थिर होता है। यानी कामनायें उसमें किसी प्रकार का क्षोभ उत्पन्न न करते हुए चुपचाप उसमें समा जाती हैं। उसी को शान्ति प्राप्त होती है। कामनाओं के पीछे दौड़ने वाला शान्ति को प्राप्त नहीं होता।

बिहार में महात्मा बुद्ध के दर्शन के लिए सम्राट श्रेणिक आए। वार्तालाप के दौरान उन्होंने पूछा—'भंते! राज्य के राजकुमार महलों में निवास करते हैं, दासों की जमात उनकी सेवा में लगी रहती है, बहुत ही स्वादिष्ट और पौष्टिक भोजन करते हैं, सभी तरह की सुख-सुविधाओं की व्यवस्था उनके लिए की जाती है, फिर भी वे प्रसन्न नहीं रहते हैं। दूसरी ओर आपके भिक्षुओं को मैं देखता हूं, इनको भिक्षा में जैसा भोजन मिल जाए, ग्रहण कर लेते हैं, निरन्तर पैदल भ्रमण करते हैं, घास-फूस की जैसी भी कुटिया रहने को मिल जाए, उसमें सहजतापूर्वक रह लेते हैं। इन सब अभावों के बावजूद वे हरदम प्रसन्नचित्त रहते हैं। ऐसा क्यों?'

महात्मा बुद्ध ने उत्तर दिया—'राजन्! प्रसन्नता साधनों की उपलब्धता या उनकी प्रचुरता में नहीं होती। प्रसन्नता तो जो उपलब्ध है, उसे पर्याप्त मानने से मिलती है। इन भिक्षुओं ने संकल्पपूर्वक साधनों का त्याग किया है। जिसने भी संकल्प के साथ छोड़ा हो, वही प्रसन्न रह सकता है।

एक भिखारी भी लगभग इन्हीं परिस्थितियों में जीता है लेकिन उसके पास इन भिक्षुओं के जैसी प्रसन्नता नहीं मिलेगी। क्योंकि वह इन कमियों को अपने जीवन का अभिशाप मानता है। उसने छोड़ा नहीं है बल्कि उसे मिला नहीं है। जबकि इन भिक्षुओं ने इन्हें वरदान के रूप में अपनाया है। छोड़ने और छूटने में रात-दिन का अन्तर होता है। जिसे प्राप्त नहीं है, वह त्यागी नहीं होता। त्यागी वह होता है, जो अपने मन से त्याग कर दे। वही प्रसन्न रह सकता है। अभावग्रस्त या साधन-सुविधा सम्पन्न व्यक्ति प्रसन्न नहीं रह सकता; क्योंकि अभावग्रस्त को

जरूरत के साधनों की प्राप्ति की तथा सुविधा-सम्पन्न को अन्य साधनों की प्राप्ति की आस लगी रहती है।'

सम्राट् ने प्राप्त समाधान से नतमस्तक हो महात्मा बुद्ध को प्रणाम कर महलों की ओर प्रस्थान किया।

जिस प्रकार समुद्र को नदी मिले या न मिले इसकी अपेक्षा नहीं होती है वैसे ही स्थितप्रज्ञ मुनि की सुख-शान्ति बाह्य वस्तुओं या कामनाओं की पूर्ति पर आधारित नहीं होती वह स्वयं पर ही आधारित होती है। दूसरों पर आश्रित नहीं होता वह स्वयं में आनन्द स्वरूप होता है। उसका आनन्द वस्तुओं पर निर्भर नहीं है।

कामनाओं के प्रति निरपेक्ष रहता है। कामनायें उसमें आकर शान्त हो जाती हैं। कामनाओं में यह क्षमता नहीं है कि वह संयमी पुरुष के मन को विचलित करे। वह तो उसमें आकर लीन हो जाती है। वही व्यक्ति शान्ति को प्राप्त होता है न कि काम-कामी। उसमें सारी सृष्टि की कामनायें, उसको सारी सृष्टि का धन भी मिल जाये तो भी कुछ नहीं। उससे सारी सृष्टि का धन चला भी जाये तो भी कुछ नहीं। राजा जनक ने कहा, जलती हुई मिथिला में मेरा कुछ नहीं जलता। क्या मेरा है? मेरा कुछ भी नहीं है। मेरा क्या बिगड़ेगा क्योंकि मेरा कुछ है ही नहीं। जो कुछ है वह तेरा है। तुम बिगाड़ो तो बिगड़ेगा, तुम बनाओ तो बनेगा। उसमें मेरा कुछ भी नहीं। यह वृत्ति जब मन में आती है तो कामनायें अपना प्रभाव डालने में असमर्थ हो जाती हैं वही व्यक्ति शान्ति को प्राप्त होता है। ऐसा व्यक्ति विषयों के बीच रहता हुआ, इन्द्रियों के द्वारा समस्त व्यवहार करता हुआ भी अपने स्वरूप से विचलित नहीं होता वही ज्ञानी है। संत है। स्थितप्रज्ञ है। ऐसा ही पुरुष वास्तविक शान्ति और आनन्द को प्राप्त करता है। मजे की बात है—लक्ष्मी, भी अकामी को वरती है। काम-कामी को नहीं। अतः भगवान् विष्णु को वरा। सब देव एवं नारदजी देखते रह गये। वस्तुतः जब हम संसार के पीछे भागते हैं तो संसार हम से दूर भागता है। पूरे जीवन में विवेकानन्दजी को सामान्य सी नौकरी नहीं मिली। पर जब उन्होंने संसार का, कामनाओं का त्याग कर दिया तब संसार उनके पीछे, सारे भोग उनके पीछे। बिना परिचय एवं पैसे-कौड़ी के सारी दुनिया घूम आये। हिन्दू धर्म की विजय-वैजयन्ती फहरा आये। इसलिए स्वामी रामतीर्थ कहते हैं जब हमने गुलिस्तां छोड़ दिया तो सारा गुलिस्तां हमारा बन गया। जब ईश्वर प्राप्त हो गया तो उसका वैभव भी स्वतः प्राप्त हो जाता है। राजा को ही पति रूप में वर लिया तब राज्य भी मिल गया।

पाश्चात्य मनोविज्ञान और गीता के भारतीय मनोविज्ञान के दृष्टिकोण में आधारभूत भेद है। पाश्चात्य दृष्टिकोण यह है कि हमें अपनी इच्छाओं को बढ़ाते जाना चाहिये, उन इच्छाओं को पूर्ण करने के साधन जुटाना ही उन्नति

का, सभ्यता का मापदण्ड है। जो सभ्यता मनुष्य की ज्यादा से ज्यादा इच्छाओं को पूर्ण कर सकेगी वही उन्नत सभ्यता है और दिनोदिन बढ़ती इच्छाओं को लगातार पूर्ण करती रहने वाली सभ्यता ही प्रगतिशील तथा उन्नतिशील सभ्यता है। गीता का दृष्टिकोण यह नहीं है कि इच्छाओं को पूर्ण नहीं करना चाहिये। गीता का दृष्टिकोण यह है किं जैसे समुद्र में नदी-नाले बहते हुए आकर उसमें समाते जाते हैं, परन्तु वह क्षुब्ध नहीं होता, अचल रहता है, इसी प्रकार संसार के विषयों को भोगता हुआ भी जो व्यक्ति सुख-दुःख से क्षुब्ध नहीं होता, संसार के विषय जिस पर चोट नहीं करते, जिसकी शान्ति भंग नहीं होती, जो इच्छाओं और कामनाओं के पीछे ही भागता नहीं रहता, उसका दास नहीं बन जाता वह सुखी है। उसी को शान्ति प्राप्त होती है। गीता वैभव को अस्वीकार नहीं करती, भारतीय संस्कृति वैभव की संस्कृति है, पर उसके पीछे पागल या दीवाना न हो, न ही सभ्यता को संस्कृति के सिर पर नाचने की अनुमति है। हम वैभव के पीछे नहीं भागते, वैभव हमारे पीछे आता है, लक्ष्मी नारायण के चरणों में रहती है तभी तो प्राचीन भारत के वैभव ने ही विश्व के आक्रांताओं को आकृष्ट किया जो व्यापक लूट के बाद भी अंग्रेजी शासन के पूर्वकाल तक विश्व का सबसे समृद्ध देश था। यह तो ब्रिटिश अभिलेखागार के आंकड़े बताते हैं कि हम कला-कौशल, उद्योग, व्यवसाय, विज्ञान, शिक्षा, चिकित्सा सब में आगे थे। पाश्चात्य दृष्टिकोण इच्छाओं को बढ़ाने पर बल देता है, भारतीय दृष्टिकोण इच्छा द्वारा मन के विक्षुब्ध न होने पर बल देता है। फिर वास्तव में भोग उसे ही प्राप्त होता है जो भोगों को छोड़ देता है। संन्यासी-त्यागियों के जीवन को देख लेवें।

पाश्चात्य दृष्टिकोण बाह्य जगत् पर बल देता है, भौतिक जगत् पर वह कामकामी है। भारतीय दृष्टिकोण आन्तरिक जगत् पर बल देता है—अध्यात्मिक-जगत् पर। वह आत्मकामी है—अकाम-कामी है।

पाश्चात्य दृष्टिकोण असन्तोष पर बल देता है—असन्तोष होगा तभी सभ्यता उन्नति करेगी। भारतीय दृष्टिकोण सन्तोष पर, सुख-शान्ति पर, इच्छाओं द्वारा विक्षुब्ध न होने पर बल देता है।

आत्मकामी एवं कामकामी में स्पष्ट अन्तर है इसे भी देख लेवें—

आत्मकामी	कामकामी
आप्तकामी	भोगकामी-विषयी
अकाम, निष्काम	सकाम
पूर्ण	अपूर्ण
स्थिर, अचल	अस्थिर, चंचल

प्रतिष्ठावान	अप्रतिष्ठित
परिपूर्ण	अपूर्णमान
इसके पास भोगों का आना	इसका भोगों के पास जाना
ब्राह्मी स्थिति	संसारी स्थिति
शान्त	अशान्त
तृप्त	अतृप्त।

विहाय कामान् यः सर्वान्, पुमांश्-चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहङ्कारः, स शान्ति-मधि-गच्छति।। 2/71

जो पुरुष संपूर्ण कामनाओं को त्यागकर, ममता-रहित, अहंकार-रहित और स्पृहा-रहित हुआ विचरता है, वही शान्ति को प्राप्त होता है (अर्थात् ब्रह्मरूप हो जाता है)।

भगवान् ने स्थितप्रज्ञ के वर्णन का प्रारम्भ अर्जुन के प्रश्नों से किया है। अर्जुन के प्रश्न थे—

स्थित-प्रज्ञस्य का भाषा, समाधिस्थस्य केशव।
स्थितधीः किं प्रभाषेत, किमासीत व्रजेत किम्।। 2/54

अर्जुन के इन प्रश्नों के उत्तर भगवान् ने दिये हैं—

प्रजहाति यदा कामान्, सर्वान् पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्ये-वात्मना तुष्टः, स्थित-प्रज्ञस्-तदोच्यते।। 2/55

यहां से भगवान् ने कहना प्रारम्भ किया इसलिए यह उपक्रम है और—

विहाय कामान् यः सर्वान्, पुमांश्-चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहङ्कारः, स शान्ति-मधि-गच्छति।। 2/71

यह उपसंहार वचन है। जहां से प्रारम्भ हुआ है वहीं उपसंहार करते हैं भगवान्! स्थितप्रज्ञ के लक्षणों की शुरुआत कामना त्याग से की गयी है। यहां उसका उपसंहार भी कामना त्याग से ही किया है। सब कामना छोड़कर जो निःस्पृह हो जाता है, उसे शान्ति मिलती है। यह अन्तिम वाक्य है।

काम का मूल उद्गम

कामना का अर्थ है—तृष्णा, इच्छा, आकांक्षा, भूख, मांग।

Want, Hunger, desire, craving.

प्रश्न है कि जीव में किसी प्रकार की कामना पैदा होती ही क्यों है? अंग्रेजी में Want शब्द के दो अर्थ हैं—कामना एवं अभाव। जब हम कहते हैं कि A

thirsty man wants water तब Want कामना के अर्थ में प्रयोग हो रहा है। जब हम कहते हैं Five thirsty men died in desert for want of water तब अर्थ यह है कि मरुस्थल में पांच व्यक्ति पानी के अभाव में मर गए, यहां Want का अर्थ अभाव है। वास्तव में प्रत्येक कामना अभाव से ही पैदा होती है। यह अभाव वास्तविक हो या कल्पित, यही कामना को पैदा करता है।

निर्धन व्यक्ति पैसे के वास्तविक अभाव से पैसे की कामना करता है और धनी व्यक्ति कल्पित अभाव से, अन्य धनियों की अपेक्षा अपने पास कम धन है इस भावना व लोभ से प्रेरित होकर धन की कामना करता है।

अभाव अपने सच्चे स्वभाव को भुला देने से ही पैदा होता है। मैं तत्त्वत: कौन हूं, किस का अंश हूं, मेरे स्वरूप में कौन-सी निधि गुम्फित है। वास्तव में राजा है या भिखारी, इसका विस्मरण हो जाने के कारण ही मनुष्य अपने भीतर अभाव अनुभव करने लगता है। मानव स्वयं वह नित्य चैतन्य तत्त्व है जो अपने आप में पूर्णकाम, आप्तकाम, निष्काम, नित्यतृप्त और नित्यानन्दस्वरूप है जिसमें किसी प्रकार का अभाव नहीं और जिसे कोई कामना नहीं। इसी स्वरूप को भूलकर अपने आपको शरीर, मन, इन्द्रिय आदि मान लेने पर अनेक अभावों की प्रतीति होने लगती है। तब शरीर की भूख, इन्द्रिय की भूख, मन की भूख को पूरा करने के लिए मनुष्य अनेक कामनाएं करता है। मानो चक्रवर्ती सम्राट् कामनारूपी भीख का कटोरा लेकर नश्वरता के बाजार में भौतिकता की भीख मांगने लगता है।

अविद्या से अभाव की प्रतीति, अभाव से कामना, कामना से कर्म, कर्म से कर्मफल और कर्मफल के परिपाक हेतु देश-काल का बंधन, काल का पाश— यही संसारचक्र है।

कामना का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण

कामना मनुष्य को भिखारी बना देती है। यह मनुष्य को अपने अन्तर की शान्ति एवं समृद्धि से वंचित कर बहिर्मुखी बनाकर बाहर का नाच नचाने लगती है। वास्तव में शान्ति और शक्ति तो जीव के भीतर है। किन्तु वह बहिर्मुखी होकर बाहर की वस्तुओं में सुख-शान्ति मानकर उन्हीं के पीछे अंधा-पागल बनकर दौड़ने लगता है। कुछ लोग समझते हैं कि कामना में बड़ी शक्ति है जो मनुष्य को तेज दौड़ने, जोखिम के काम करने तथा वस्तुओं की प्राप्ति हेतु परिश्रम करने में समर्थ बनाती है। वास्तव में यह शक्ति कामना में नहीं वरन् स्वयं हमारे भीतर है। जब हम कामना करते हैं तब हमारे भीतर की शक्ति कामना के माध्यम से व्यय होने लगती है। कामना न शक्ति पैदा करती है न शक्ति को बढ़ाती है। वरन् शक्ति को घटाती ही है। जिस प्रकार कुत्ता हड्डी को चबाता है और उसका

अपना मुख जख्मी होकर रक्त निकलने लगता है और भ्रमवश वह उसे ही हड्डी का रस मानकर चबाता रहता है। उसी प्रकार कामना के वशीभूत होकर जीव संसार की भौतिक वस्तु की ओर आकर्षित होता है। वे अपने भीतर का कुछ रस उस वस्तु पर आरोपित कर उसे अपने लिए रसीला मान लेते हैं और फिर उसी के रस के बंदी हो जाते हैं। यदि वस्तु में रस होता तो सदा सभी को सभी परिस्थिति में समान रूप से रस मिलता। किन्तु ऐसा नहीं होता। भिन्न-भिन्न लोगों को भिन्न-भिन्न देशों में, भिन्न-भिन्न कालों में, भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में एक ही वस्तु में समान रूप से रस नहीं प्राप्त होता। चित्त की प्रसन्नता में क्षुधा होने पर रसगुल्ले में रुचि होने पर जो स्वाद मिलता है वह शोक की अवस्था में, रोग की अवस्था में, व्रत-उपवास की अवस्था में, यात्रा की जल्दबाजी की अवस्था में, निद्रा की अवस्था में, बेहोशी की अवस्था में, अरुचि की, तिरस्कार की अवस्था में वही रस क्यों नहीं मिलता? रस वस्तुओं में नहीं है। कामना में भी नहीं है। रस तो व्यक्ति के अपने भीतर है। अपने ही रस के कुछ छींटे बाहर की वस्तुओं पर डालकर उन्हें रसीला मान लेते हैं। कोई कुरूप व्यक्ति पर अपना रस उड़ेलकर उसे ही सबसे प्यारा मानने लगता है। कोई कुत्ते से, पक्षी से प्रेम करने लगता है। कोई मदिरा को, अफीम को या अन्य विषैली मादक वस्तुओं को अमृत से ऊंचा मान बैठता है। कोई मुर्गी के गर्भ को (रज-वीर्य मिश्रित अण्डे को), कोई पशु के रक्त को, मांस को स्वादिष्ट मान लेता है। वास्तव में उन वस्तुओं में स्वाद होता तो सबको समान रूप से मिलता। जिस मदिरा के लिए शराबी बेचैन होकर कपड़े फड़वाकर पैसे लुटवाकर पुलिस के डण्डे खाकर घर को उजाड़कर भी रस मानता रहता है, उस मदिरा का पूरा भण्डार बिना पैसे का मिलने पर भी कोई चरित्रवान व्यक्ति उसे ठोकर मारकर नाली में फेंक देता है। Socraties Dissatisfied is better than a pig satisfied अर्थात् एक पेट भरे शूकर की अपेक्षा एक भूखा सुकरात श्रेष्ठ है। काम अभाव से पैदा होता है तथा पश्चात्ताप में समाप्त होता है। काम मनुष्य को व्यर्थ में जीवनभर नचाकर, उसे खूब दौड़ाकर, उसे थकाकर, उसकी समस्त इन्द्रियों का तेज हरणकर, उसकी मन की शक्ति को लूटकर और उसकी बुद्धि को व्यामोहितकर उसके आत्मस्वरूप को छिपाकर अन्त में उसे अपनी व्यर्थता प्रकट कर अपनी असारता-निःसारता दिखाकर पश्चात्ताप से भर देता है—

श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत् सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः।
अपि सर्वं जीवितमल्पमेव तवैव वाहास्तव नृत्यगीते।। 1/26, कठ. उ.

कल तक भोग कहां ठहरेंगे जीर्ण करेंगे इन्द्रिय प्राण।
जीवन अल्प छीन लोगे तुम छीनो नृत्य गीत वाहन।

भर्तृहरि ने लिखा है—

भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ताः
तपो न तप्तं वयमेव तप्ताः।
कालो न याता वयमेव याताः
तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः।

हमने न भोगे भोग, भोगों न हमें भुक्ता दिया
हमने न तापे ताप तापों ने हमें तपा दिया।
काल कुछ गुजरा नहीं उलटे हमें गुजरा दिया
जीर्ण तृष्णायें हुई न हो गये हम जीर्ण।

जिस प्रकार मनुष्य आम के फल को बार-बार उसका रस चूसकर उसका रस शोषणकर अन्त में रसहीन गुठली और छिलके को कूड़े के ढेर में फेंक देता है, उसी प्रकार भोग जीवन भर मनुष्य के जीवनरस का शोषणकर उसके वृद्ध, रोगी और बेकार हो जाने पर उसके सूखे कंकाल को मृत्यु के ढेर पर फेंक देते हैं। मनुष्य भूल से यह समझता रहता है कि मैं भोगों को भोग रहा हूं। किन्तु वास्तव में भोग ही उसको भोगते-भोगते बेकार बनाकर बाहर फेंक देते हैं।

अप्राप्त वस्तु को प्राप्त करने की इच्छा ही कामना है। कामना, जो चीज मुझे मिली नहीं है, जो मुझे अप्राप्त है, वह मुझे प्राप्त हो जाये। अप्राप्त को प्राप्त करने की वासना कामना है।

कामना अपने वास्तविक स्वरूप के विस्मरण से उत्पन्न होती है। अहंता और ममता के कारण उत्पन्न होती है—

अहंता का अर्थ है अपने वास्तविक मैं को भूलकर गलत मैं को मैं समझ बैठना और उसके आकर्षण में ऐसा अंधा हो जाना कि अपने वास्तविक मैं को पूर्णतया अथवा प्रमुखतया विस्मृत और तिरस्कृत करते रहना। यह अनात्म को आत्म समझ बैठना, यह शरीर को आत्मा समझ बैठना है। शरीर के आकर्षण में अंधे होकर इसी के नहाने-धोने, सजाने-संवारने, वस्त्रालंकार पहनाने, खाने-पीने, रहने, रक्षा करने, इसी के मान-अपमान की चिन्ता करते रहने, इसी के सौन्दर्य और बल का घमण्ड करने, इसी को ही असली मैं समझकर वास्तविक मैं (आत्मा) का तिरस्कार करते रहने का नाम शरीर मोह, देहासक्ति, देहबुद्धि, देहाध्यास, अहंता, अहंकार, अहंभाव आदि कहा जाता है। यही अहंता शरीर और शरीर से सम्बन्धित अन्य अनात्म पदार्थों में भी फैल जाती है। किसी को धन का अहंकार, किसी को तन का अहंकार, किसी को सूक्ष्म बुद्धि का अहंकार, किसी को कला का अहंकार, किसी को विद्वत्ता का अहंकार, किसी को योगसिद्धियों का अहंकार है। ये अहंकार स्थूल शरीर से शुरू होकर धीरे-धीरे सूक्ष्म मन-बुद्धि,

चित्त और अहं भाव तक बना रहता है। जब तक जीव यह मानता है कि जो कुछ वह करता है वह उसके देह पिण्ड तथा उससे सम्बन्धित उसका व्यष्टि मैं कर रहा है जो समष्टि या सर्वात्मा से भिन्न है या विश्वात्मा से भिन्न है तब तक उसका अहंता का मोह बना रहता है।

यदि अहंता गलत मैं है तो ममता गलत मेरा है। Me is false I. Mum is false my. गलत मेरा का मूल आधार गलत मैं ही है। यदि मैं को पहचानने में गलती नहीं होगी तो मेरा की भूल हो ही नहीं सकती। प्राय: मानव जब शरीर को मैं कहता है तो शरीर के सम्बन्ध से अन्य वस्तुओं और व्यक्तियों को मेरा मान बैठता है, जैसे—वेश मेरा, ताज मेरा, मेरा आभूषण, मेरा घर, मेरा धन, मेरा मकान, मेरा वाहन, मेरा मित्र-शत्रु, मेरा सम्बन्धी, मेरा अपना, मेरा पराया। ये सब भ्रान्त मान्यताएं उस मूलभ्रान्ति पर टिकी हैं कि मैं शरीर-मन-बुद्धि-चित्त और अहंकार का समूह हूं।

जिन सम्बन्धियों को हम ममतावश इदं मम (यह मेरा है) कह-कहकर अपने हृदय के प्रेम बंधन में बांधने का प्रयास करते हैं, वे सभी हमारे जीवन में किसी दिन अकस्मात् आ गए थे और किसी दिन अकस्मात् ही छोड़कर हमें वियोग के गर्त में डालकर, हमें धोखा देकर, हमारे संग से दूर अथवा संसार से दूर चले जाते हैं। यदि वे सचमुच हमारे होते तो तीनों काल में हमारे ही रहते। जो अभी मेरा है कुछ क्षण बाद नहीं रहेगा, वह वास्तव में धोखा ही है।

महर्षि वेदव्यास जब अपने ब्रह्मज्ञानी पुत्र शुकदेव के जन्मते ही संसांर से विरक्त होकर जंगल की ओर भागने पर उनके पीछे-पीछे हे पुत्र! हे पुत्र! पुकारते हुए दौड़ते जा रहे थे, तब जंगल के वृक्षों ने भी हे पुत्र! हे पुत्र! की प्रतिध्वनि करना प्रारम्भ किया। वृक्ष मानो वेदव्यासजी का उपहास करते हुए कह रहे थे कि इस विराट् विनाशी विश्व में कौन किसका पिता है और कौन किसका पुत्र? अनेकों बार तुम किसी के पुत्र बने और अन्य जन्मों में उसके पिता बन गए। जैसे नाटक में पर्दे के पीछे वेश बदलकर कभी किसी का पुत्र, कभी किसी का पिता बन जाता है। पति-पत्नी का नाटक खेलने लगता है, किन्तु वास्तव में वह इन सब सम्बन्धों से अलिप्त होता है। उसी प्रकार यह निर्लिप्त वीतरागी बाल ब्रह्मचारी शुकदेव किसी का पुत्र नहीं है।

इस संसार में हमारे हजारों माता-पिता हुए, सैकड़ों पुत्र-स्त्री आदि हुए और इस प्रकार काल के चक्र में हमारे अनेक सम्बन्ध बने और मिटे। इन सम्बन्धों से मूढ़ व्यक्ति ही प्रभावित होता है, विचारवान नहीं।

अहंता और ममता में परस्पर अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। इन दोनों में अधिक आधारभूत अहंता ही है। यदि अहंता की भूल न हो तो ममता को टिकने का स्थान

ही न मिले। किन्तु अहंता से उपजी हुई ममता अहंता का पोषण कर उसे इतना बलवान बना देती है कि उस अहंकार को जीतना बड़े-बड़े साधकों के लिए अति दुष्कर कार्य बन जाता है। कई बार साधक व्यक्तिगत अहंकार को मिटाने, उसको कम करने, उसको धीरे-धीरे समाप्त करने का सफल प्रयत्न भी करता है किन्तु अहंता का किला जब आधा या तीन-चौथाई जीता जा चुका होता है तब अचानक ममता की चतुरंगिणी सेना उसकी मदद के लिए पहुंच जाती है और इससे हारता हुआ अहंकार पुनः विजय का डंका बजाने लगता है। जैसे पिता से उत्पन्न पुत्र पिता पर आधारित होता है किन्तु पिता के दुर्बल होने पर पिता का आधार बन जाता है। उसी प्रकार ममता, अहंता के आधार पर अहंता से पैदा होती है। किन्तु अहंता के दुर्बल या नष्टप्राय होने पर पुनः उसकी सहायता कर उसको प्रबल रूप में बढ़ा देती है। इसलिए बड़े-बड़े वीतरागी साधक का भी अपने पूर्व आश्रम के सम्बन्धों की स्मृति चर्चा, प्रासंगिक दर्शन-स्पर्शन से पुनः मिटा हुआ अहंकार, जाग उठता है। कई बार मरी-मिटी हुई ममता, अहंता के कारण फिर से जी-उठती है। जैसे कपूत को उसकी करतूतों के कारण घर से निष्कासित कर देने पर भी उसको देखते ही मां की ममता पुनः जाग उठती है। जब तक मैं बना हुआ है तब तक त्यागा हुआ मेरा भी पुनः मेरा बनकर मन पर आक्रमण कर बैठता है। इस प्रकार अहंता और ममता परस्पर एक-दूसरे का पोषण करती रहती है। दोनों में से किसी एक के दुर्बल होने पर दूसरा तुरन्त सहायता कर देता है। यह अहंता और ममता का विषमचक्र बड़ा विचित्र है। एक के छूटते-न-छूटते मनुष्य दूसरे में फंस जाता है और दूसरा पुनः पहले को अपने पास घसीट लाता है। इन दोनों से बचने का उपाय भगवद्गीता बताती है।

अहंता और ममता के रथ पर चढ़ने पर ही कामनाओं का आक्रमण होता है। अहंता और ममता की भावना आते ही कामना उत्पन्न होती है कि मुझे और मेरे लोगों को, मेरे पुत्र को अमुक-अमुक वस्तु की आवश्यकता है उसके बिना काम नहीं चलेगा। जो व्यक्ति निरहंकार, निर्मम तथा निःस्पृह हो जाता है जिसमें मैं, मेरा, मेरे लिए—ये तीनों भाव नहीं रहते, वही सुखी होता है। वही स्थितप्रज्ञ होता है। यहां पर शान्ति पाने के लिए चार शर्तें रखी गयीं—

(1) समस्त कामनाओं का त्याग,

(2) निःस्पृह होकर व्यवहार करना,

(3) निर्मम हो जाना,

(4) निरहंकार होना।

अहंता और ममता के आधार पर कामना उत्पन्न होती है। फलतः स्पृहा (लगाव, आसक्ति) युक्त व्यवहार होता है। निरहंकार निर्मम बनने के उपाय—

(क) भक्तियोग द्वारा मैं और मेरा सब कुछ प्रभु के चरणों में समर्पित कर देना।
(ख) ज्ञान योग द्वारा अपने वास्तविक स्वरूप को पहचानना।

कर्मयोग द्वारा विनम्रता से सेवा करके कर्मों के फूल, कर्मफल का नैवेद्य, कर्मसंग एवं कर्तापन का अहंकार सभी कुछ भगवान् के चरणों में समर्पित करना।

भक्ति—भक्ति में सब कुछ प्रभु का है, मेरा कुछ भी नहीं। मेरा शरीर, मन, प्राण, सम्पत्ति, पुत्र, पत्नी, मित्र—सभी प्रभु के हैं, रामजी के हैं। मैं और मेरा सब आपके हैं।

क्या हमने इस बात पर ध्यान दिया कि प्रसाद कैसे होता है? हम लोग जो भोग लगाते हैं वह प्रसाद कैसे बन जाता है। भोग लगाते समय हम ममत्व बुद्धि का त्याग करते हैं तभी भगवान् का प्रसाद बनता है। जो चीज भगवान् को अर्पित कर दी, भगवान् की हो गई तभी प्रसाद है। जब तक चीज मेरी है तब तक प्रसाद नहीं बनता। प्रसाद तभी बनता है जब हम भगवान् को अर्पित कर देते हैं। त्याग, अर्पण एवं भगवान् के भगवदीय होने में अन्तर है। हम अपनी किसी वस्तु का त्याग कर सकते हैं, हम अपनी किसी चीज का दान कर सकते हैं।

पर जिस दिन यह बुद्धि उत्पन्न होती है कि मेरा क्या है जो अर्पित करूं? भक्ति में शरीर तेरा है, मन, बुद्धि, प्राण, चित्त यह सब तो प्रभु का ही है, सिर्फ तुम ही तो मेरे हो। और बाद बाकी सभी वस्तु शरीर, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, धन, पुत्र, पत्नी सभी तो प्रभु के हैं। केवल तुम्हीं तो मेरे हो। अब प्रभुजी बताओ तुम्हें क्या निवेदन करूं? पहला चरण, प्रभु मैं आपका हूं। दूसरा चरण, प्रभु आप मेरे हैं।

भक्ति जो है वह भगवान् को भी ममता की परिधि के अन्तर्गत ले आती है। ममता जल्दी मन से नहीं जाती। ठीक है अगर ममता नहीं छूटती तो ममता की परिधि के अन्तर्गत रामजी को ले आयें। बराबर ध्यान रहे बंधन छोटा पड़ेगा तो चटाक से टूट जायेगा। ममता की कोई डोरी इतनी बड़ी नहीं है कि रामजी से बड़ी हो जाये। इसलिए राम को यदि हम अपनी ममता की परिधि में ले आयें तो वह ममता, ममता नहीं रह जायेगी। हम फिर रामजी के हो जायेंगे। पहले हम रामजी के होते हैं फिर हम रामजी ही हो जायेंगे। भक्ति में वह अपने अहं को इतना विगलित कर लेता, छोटा कर लेता है कि रस्सी उसे बांध नहीं पाती, वह फिसल जाता है। बंधन के घेरे में आ नहीं पाता।

ज्ञान में सीमित अहम् को सर्वव्यापी अहं में परिवर्तित किया जाता है। अहंकार को अहम् ब्रह्मास्मि किया जाता है। भक्ति में ममता के भीतर प्रभु को लाया जाता है। ज्ञान में अहम् का जो परिच्छिन्न रूप, नाम और रूप से सीमित

जो मैं है, छोटा अहंकार, तुच्छ अहंकार, अन्तःकरण वाले अहंकार को नष्ट करके व्यापक अहम् के साथ एक रूप हुआ जाता है जिसमें सबका समावेश है और जो सबका होता है वह किसी एक का या कुछ का नहीं होता। सबमें मैं हूं, मुझमें सब हैं, मुझ से परे, मुझ से अलग कुछ भी नहीं। किस चीज की कामना की जाती है? जो मुझ से भिन्न होती है, अलग होती है। ज्ञान की अवस्था में कोई मुझ से अलग नहीं है। कुछ भी मुझको अप्राप्त नहीं है। तब कामना किसकी करना। अप्राप्त की कामना होती है, ज्ञान की अवस्था में सब कुछ प्राप्त है, कुछ भी अप्राप्त नहीं है। इस नाम रूप के भीतर एक ही सत्य है। और वह सत्य मैं ही हूं, इसलिए मेरा कुछ प्राप्तव्य नहीं, मेरे अतिरिक्त कुछ नहीं जो कामना के योग्य हो। यह अहं को इतना विस्तृत, व्यापक कर लेता है कि बांधने वाली रस्सी छोटी पड़ जाती है, वह बंधन के घेरे में नहीं आ पाता।

कर्म में सब कुछ रामजी ही है। उन्हीं की मैं सेवा कर रहा हूं। उन्हीं का कार्य कर रहा हूं। कर्तव्य ही पालन कर रहा हूं। मेरा कुछ नहीं है। यानी किसी भी दृष्टि से देखें जो कर्तव्य है उस सेवा में, कामना में, यही सेवा करूं यह कामना हो सकती है। रामजी वही सेवा करूंगा मैं अपनी इच्छा के अनुसार सेवा करूंगा तो मैं सेवक की मैं स्वामी? सेवा के चयन में हम स्वाधीन हैं क्या? हमको जो सेवा दी जायेगी वही करनी है। भरतजी के मन में हुआ कि सीताजी अपहृता, लक्ष्मणजी मूर्च्छित और मैं अयोध्या में। उनकी इच्छा हुई कि वे राम के बगल में खड़े होकर रावण से युद्ध करें। तो क्या वे सेवा चुनने में स्वतन्त्र थे? तुलसीदासजी ने अद्भुत पंक्तियां लिखी हैं—आज्ञा से बढ़कर कोई सेवा नहीं है। रामजी आप आज्ञा दीजिये वही मैं करूंगा। राम ने आज्ञा दी कि तुम चौदह वर्ष अयोध्या में रहो। एक तरफ आज्ञा है कि मैं चौदह साल तक अयोध्या में रहूं, उधर लक्ष्मण मूर्च्छित है, सीता अपहृता है, रामजी पर संकट है, भरतजी से कुछ करते नहीं बनता—क्या करूं, यहां रहूं कि वहां जाऊं? धोती फट जाये तो सी दें, कुर्ता फट जाये तो सी दें। आकाश फट गया! स्पष्ट है सेवा धर्म बड़ा गहन है। उस सेवा धर्म को बल देकर भरत लाल वहीं रहे, नहीं गये। इसलिए कर्तव्य कर्म में, उसमें क्या कामना हो सकती है, उसमें क्या राग-द्वेष हो सकता है? जो कर्तव्य कर्म सहज, सुलभ प्राप्त है वह कर्म करूंगा। भगवान् का दिया हुआ कर्म करूंगा। इन्द्रियां इन्द्रियों में वर्त रही हैं, गुण-गुण में वर्त रहे हैं। कर्ता-धर्ता स्वयं प्रभु ही है। प्रभु यंत्री हैं मैं उनका यंत्र मात्र हूं, निमित्त मात्र हूं।

किसी भी निष्ठा को अपनायें। किसी भी मार्ग से हमें आत्मज्ञान की ओर बढ़ना है। आत्मज्ञान की ओर उन्मुख होने के लिए विवेक-वैराग्य, षड् सम्पत्ति मुमुक्षा तब ही न आत्मज्ञान की ओर बढ़ेंगे? विवेक, वैराग्य, षड् सम्पत्ति, मुमुक्षा (मुक्ति पाने की इच्छा) तब तो सत-असत् का विवेक करेंगे और जो असत् है

उसके प्रति वैराग्य होगा तो उसके प्रति कामना कैसे होगी? आत्मज्ञान की दिशा में बढ़ने पर ज्ञान की दृष्टि से वैराग्य आवश्यक है। चाहे कोई भी निष्ठा हो ज्ञान, कर्म, भक्ति सबमें कामना के लिए स्थान ही कहां बचता है!

मुख्य बात यह है कि शान्ति तब प्राप्त होगी जब किसी भी निष्ठा में स्थित होकर हम भौतिक वस्तु की कामना से उबरें, समस्त कामनाओं को त्याग देवें। जो आना हो आए, सुख आये, दुःख आये, अनुकूल है, प्रतिकूल है, कठिन है, कठोर है, कुछ भी हो जो पुरुष समस्त स्पृहा, ममता और अहंकार से रहित हो व्यवहार करता है वही शान्ति को प्राप्त होता है।

ऐसी निष्काम अवस्था, जहां स्पृहा, ममता और अहंकार न रह जाये, ब्राह्मी अवस्था कहलाती है। यह मानव जीवन की परमोत्कृष्ट अवस्था है। इसका वर्णन करते हुए भगवान् कहते हैं—

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ, नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्या-मन्त-कालेऽपि, ब्रह्म-निर्वाण-मृच्छति।। 2/72

हे अर्जुन! यही ब्रह्मस्वरूप में अवस्थिति है। इस अवस्था को पाकर मनुष्य संसार में फिर मोह-भ्रम में नहीं पड़ता। मृत्यु के समय में भी ब्राह्मी स्थिति में प्रतिष्ठित रहकर वह ब्रह्म में लीनता को प्राप्त करता है।

अब अन्तिम श्लोक में फलश्रुति कही गयी है; परन्तु कई भारी-भरकम धर्म ग्रन्थों की फलश्रुति जैसे बेकार होती है, वैसी पद्धति गीता की नहीं है।

गीता में हर जगह अनुभव-सिद्ध, युक्तियुक्त और सुनिश्चित फलश्रुति बतायी गयी है। यहां भी वैसी ही शास्त्रीय फलश्रुति कही गयी है।

ब्रह्मस्वरूपता के लक्षण

मानव जीवन की यही सर्वोत्कृष्ट उपलब्धि है कि मनुष्य अपनी ब्रह्मस्वरूपता में स्थित हो जाये, तब वह मोहित नहीं होता है, अर्जुन जैसा कि तुम हो रहे हो। तब न वह अपने स्वजनों के प्रति आसक्त होकर रोता है, न अपनी देह के प्रति आसक्त होकर डरता है। ममता हमें अपने स्वजनों के प्रति आसक्त करती है और अहंकार अपने देह के प्रति आसक्ति को जन्म देता है। जिसने ममता, अहंता, दोनों बन्धन को काट लिया है उसकी समस्त कामनायें छूट जाती है, धुल जाती है। फलतः उसके अन्तःकरण का मल धुल जाता है और उसकी ब्रह्मस्वरूपता प्रकट हो जाती है। यही ब्रह्म को जानने की अवस्था है। ब्रह्म को जानना मानो ब्रह्म ही हो जाना है—'ब्रह्मविद ब्रह्मैव भवति'।

ब्राह्मी स्थिति समय सापेक्ष और चेष्टा सापेक्ष नहीं है। जब भी हम अहंता, ममता, कामना एवं स्पृहा से मुक्त हो जाते हैं ब्राह्मी स्थिति उपलब्ध हो जाती

है। जो वस्तु प्राप्त नहीं है उसके लिए समय और प्रयास की आवश्यकता होती है। मगर जो वस्तु जन्म से ही प्राप्त है, परन्तु हमें अज्ञान के कारण विस्मृति है, भूले हुए हैं। ब्राह्मी स्थिति अपना आत्मस्वरूप है जो सदैव से है पर हम अज्ञान के कारण भूले हुए हैं। ज्योंही अज्ञान दूर होता है, अहंता, ममता, कामना से मुक्त होते ही ब्राह्मी-स्थिति की उपलब्धि हो जाती है। जब भी अज्ञान का पर्दा हट जाता है तभी हम आत्मस्वरूप को उपलब्ध हो जाते हैं।

'अन्तकालेऽपि' कहकर दो अर्थों को ध्वनित किया। एक तो यह कि एक बार यदि यह ब्राह्मी स्थिति प्राप्त हो जाये, भले ही कोमल वह ब्रह्मज्ञान मृत्यु पर्यन्त बनी रहती है। ब्राह्मी स्थिति ऐसी नहीं है कि एक बार जीवन में आकर फिर चली जाये। कर्म और ज्ञान का यही अन्तर है, कर्मानुष्ठान, धर्मानुष्ठान यावज्जीवन करना पड़ता है। पर ज्ञान यदि जीवन में एक बार आ गया, तो फिर देहपात तक अखण्ड रूप से बना रहता है। पीतल के लोटे को चमकाने के लिए उसे मांजने की आवश्यकता है, पर सोने के लोटे को चमकाने के लिए मांजने की आवश्यकता नहीं होती। वह अपने स्वरूप भूत चमक से चमकता रहता है। इसी प्रकार एक बार भी ब्रह्म ज्ञान का संस्पर्श हो गया कि वह स्वरूप भूत बन जाता है, फिर उसका लोप कभी नहीं होता।

दूसरा अर्थ यह है कि यदि आखिरी समय भी यह स्थिति प्राप्त हो जाये, तो भी उसे ब्रह्म निर्वाण प्राप्त हो जाता है। यदि पहले प्राप्त हो, तो वह जीवन्मुक्त होकर व्यवहार करता है और देह छूटने के बाद ब्रह्म में लीन हो जाता है। विदेह मुक्त हो जाता है, पर यदि देह छूटने के समय भी ऐसी स्थिति प्राप्त हो जाये, तो भी वह ब्रह्म निर्वाण का ही अधिकारी होता है।

जीवन्-मुक्त यानी जीते-जी मुक्त। परलोक में स्वर्ग है या नहीं, परलोक में बैकुण्ठ है या नहीं? पता नहीं। गीता का कर्मयोगी उधार सुख प्राप्त नहीं करता। नगद सुख टनाटन सब काम करते हुए मौज-मस्त। उसे कहीं आना-जाना नहीं, यही जीवन्-मुक्त है और शरीर छूटने पर विदेह मुक्त।

जीते-जी मुक्त होना यह वैदान्तिक अवधारणा अन्य किसी मजहब या उपासना पद्धति में नहीं है। वहां तो उन्हें कयामत तक प्रतीक्षा करनी पड़ेगी, वह भी स्वर्ग और मुहम्मद या ईसा की साक्षी आवश्यक है उसके बिना आप कितने ही श्रेष्ठ, सदाचारी, पुण्यात्मा हों आप स्वर्ग के अधिकारी नहीं हो सकते।

ब्रह्म निर्वाण की व्याख्या

बौद्धों का निर्वाण अभावात्मक है, शून्याकार है, ध्वंसात्मक है। क्योंकि उनका तत्त्व अनात्मवाद पर आधारित है। न वे आत्मा की सत्ता मानते हैं और ईश्वर के विषय में भी मौन हैं। बुद्ध के अनुयायियों ने मौन का अर्थ निषेध के रूप

में ही स्वीकारा है। अतः उनके यहां निर्वाण का अर्थ बुझ जाना है। पर गीता के निर्वाण का अर्थ शाश्वत जीवन प्राप्त करना, सीमित से असीम, व्यापक अनन्त, सर्वमय हो जाता है। जीव जो अपने भीतर के जीवात्मा तक अपने को सीमित मानता था, परिच्छिन्न मानता था वह अब ब्रह्म से तदरूप हो गया, एक हो गया। वह ब्रह्म में लीन होकर ब्रह्म रूप हो जाता है। इसलिए गीता ब्रह्म निर्वाण शब्द का प्रयोग करती है। पर बौद्धों का निर्वाण अभावात्मक होने से ब्रह्म शब्द को हटाकर केवल निर्वाण शब्द लिया है। ब्रह्म निर्वाण गीता का अपना मौलिक शब्द है। जिसमें से ब्रह्म हटाकर केवल निर्वाण शब्द बौद्धों ने स्वीकार किया है।

शुद्ध बुद्धि से परिचालित मन इन्द्रिय के द्वारा कार्य करते-करते जब हम क्रमशः इस भूमिका पर पहुंचेंगे कि हमारी समस्त कामनायें छूट जायेगी, ममता छूट जायेगी, अहंता छूट जायेगी तो ब्राह्मी स्थिति में जाकर मोह मुक्त होकर ब्रह्म में तल्लीन हो जायेंगे।

निर्वाण—न पीड़ा, न मूर्च्छा, न सुषुप्ति, न मृत्यु वरन् सच्चिदानन्द स्वरूप हो जाना है। उससे एकरूप हो जाना है।

हम आज तो स्थितप्रज्ञ नहीं हैं, पर हमारी श्रद्धा तो है। हमारी भावना तो दृढ़ है। भगवान् से प्रार्थना तो करें कि प्रभु आप की कृपा से एक दिन जरूर आयेगा जब हम स्वस्थ, शुद्ध बुद्धि के द्वारा निग्रहित मन से वशीभूत इन्द्रियों के द्वारा विषयों में व्यवहार करते हुए उनसे अलिप्त रहकर कामना, स्पृहा, अहंता, ममता से मुक्त होकर हम आप में लीन होने की क्षमता प्राप्त करें। यानी ब्राह्मी स्थिति को प्राप्त करें।

एक बात पर और ध्यान देवें—सांख्य योग (ज्ञान योग) में ब्रह्म ज्ञान (ब्रह्म विद्या) भी बताया गया और योग शास्त्र भी। यह जो आत्मा की अमरता रूपी ब्रह्म विद्या और कर्मयोग रूपी तदनुकूल आचरण करने का गुर (रहस्य) बताया गया। इन दोनों की फलश्रुति है स्थितप्रज्ञता की प्राप्ति। इसलिए सांख्य योग के अन्त में स्थितप्रज्ञ है। जो वस्तुतः आत्मा की अखण्डता, अजरता, अमरता को अपने आत्मस्वरूप को उपलब्ध कर चुका है, निःस्पृह होकर फलाशा त्यागकर निरन्तर लोक संग्रह में रत रहता है वह स्थितप्रज्ञ होगा और स्थितप्रज्ञ होकर उस ब्राह्मी स्थिति को प्राप्त करेगा, ब्रह्म निर्वाण को प्राप्त होगा। ब्रह्म से तदाकार, एकाकार होकर ब्रह्ममय हो जायेगा इसलिए यह सांख्य योग है।

गीता का द्वितीय अध्याय गीता रूपी वृक्ष का बीज है। इसी बीज से गीता का समस्त तत्त्व ज्ञान विकसित हुआ है। इसलिए गीता के द्वितीय अध्याय को बार-बार पढ़ना एवं मनन करना चाहिये। हमने-आपने अपनी श्रद्धा के अनुसार पढ़ा-सुना भगवान् से प्रार्थना करें यह हमारे जीवन में उतरे।

द्वितीय अध्याय : सार संक्षेप

अर्जुन ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि वह मोह व भय के वशीभूत होकर युद्ध से पलायन नहीं कर रहा है वरन् वह एक महान् आदर्श से प्रेरित होकर, मानवता, धर्म व संस्कृति की रक्षा की भावना से वह युद्ध से उपरत होना चाहता है। पहले अध्याय में अर्जुन तर्क पर तर्क पेश कर रहा है और भगवान् श्रीकृष्ण मौन हैं। भगवान् श्रीकृष्ण तो साक्षात् परब्रह्म के अवतार हैं, जिसे अर्जुन जानता है इसलिए तो वह एक अक्षौहिणी सेना के स्थान पर निहत्थे भगवान् श्रीकृष्ण को स्वीकारता है। भगवान् श्रीकृष्ण तो अन्तर्यामी हैं। वे अर्जुन की दुर्बलता को जान रहे हैं, पर वह चालाक बन रहा है, शिष्य ज्यादा सयाना हो गया है। अतः देखूं तर्क की दौड़ कहां तक है? उसके बाद खबर लूंगा। इसलिए प्रथम अध्याय में भगवान् मौन हैं। जब युद्ध नहीं करूंगा कहकर आंसू बहाते हुए चुपचाप रथ में बैठ जाता है तब दूसरे अध्याय में भगवान् श्रीकृष्ण जोरदार फटकार के साथ ही अपना मुंह खोलते हैं।

असमय में यह क्लीवता, यह कश्मल (मोह, अज्ञान मैल) कहां से आ गया। जो न तो आर्यों के द्वारा सेवन के योग्य है, न जगत् में कीर्ति देने वाला है और न स्वर्ग ही देने वाला है। यह तेरे हृदय का ज्ञान नहीं अज्ञान है। यह तेरे हृदय की उदारता नहीं, हृदय की तुच्छ दुर्बलता है, यह तेरे हृदय की महानता नहीं तुच्छता है, वीरता नहीं, दुर्बलता है जो तुझ जैसे शूरवीर को, शत्रुओं को संतप्त करने वाले को शोभा नहीं देती।

यह तेरे हृदय का ज्ञान नहीं अज्ञान है, यह तेरे हृदय की उदारता नहीं, महानता नहीं दुर्बलता है, कायरता है। जो उदारता शास्त्र के, विवेक के सांचे-ढांचे में ढली होती है वही ऊपर उठाने वाली होती है, वही मनुष्यत्व से देवत्व और ब्रह्मत्व तक ले जाने वाली होती है। जो उदारता वैदिक सांचे-ढांचे में ढली नहीं होती है वह नीचे गिराने वाली होती है, पतन में ले जाने वाली होती है, पशुता में ले जाने वाली होती है, स्वयं को भी साथ में समाज एवं राष्ट्र को पराधीनता में ले जाने वाली सिद्ध होती है, यह इतिहाससिद्ध तथ्य है।

और आज हजार वर्षों से जो यह राष्ट्र अंधकार युग से गुजरा और अभी भी गुजर रहा है इसका यही कारण है। क्षमा, दया, ममता, शरण, अहिंसा जो सद्गुण हैं, ऊपर उठाने वाले गुण हैं पर उसका हमने अविवेकपूर्वक प्रयोग किया, जिसके कारण ये सद्गुण सद्गुण न रहकर सद्गुण विकृति बन गये, हमारे पतन का कारण बने। हजार वर्ष हमने अंधकार व गुलामी में काटे। और इस सद्गुण विकृति से अभी तक हम उबर नहीं पाये फलतः आज पुनः दुरवस्था निर्माण हो गयी है और निरन्तर दुरवस्था के गर्त में गिरते जा रहे हैं।

हमारी पराजय, हमारे पतन, हमारी वर्तमान दुरवस्था का कारण हमारा धर्म या तत्त्व ज्ञान नहीं वरन् उसको व्यावहारिक रूप से आचरण में न लाना है। जिसे स्वामी रामतीर्थ कहते—यथार्थ व्यावहारिकता का अभाव ही अतीत में पतन का और वर्तमान में दुरवस्था का कारण है। और आज हम जिस स्थिति में पहुंच गये हैं, जिस गलत-फहमी के शिकार हो रहे हैं उससे लगता है भगवान् श्रीकृष्ण जैसा युग पुरुष ही उससे उबार सकता है। जिनके कारण देश हजार वर्ष तक गुलाम व पददलित रहा और जिन्होंने सारे विश्व को त्रास दिया है, जब तक इनको चिह्नित करके इन्हें प्रतिबंधित व दमित नहीं करेंगे तब तक देश की सुख-शान्ति, अखण्डता, समृद्धि व विकास सम्भव नहीं है। हमारे देश के संविधान ने भी उलटी गंगा बहाकर इस नासूर को बढ़ने का अवसर दे रखा है। और हम ही समर्थक बनकर खड़े हैं। सवाल जम्मू-कश्मीर का नहीं है, उन्हें पूरा हिन्दुस्तान चाहिये, केवल हिन्दुस्तान ही नहीं पूरा विश्व चाहिये। इनकी मनोवृत्ति को समझें। यदि हम चाहते हैं, हमारा देश, धर्म, संस्कृति, जाति सुरक्षित रहे और सारी मानवता की सेवा करें तो इन्हें निरस्त करना पड़ेगा। जितना विलम्ब होगा यह नासूर, यह रोग कैंसर की तरह और-और फैलता जायेगा।

अर्जुन को तो लगा उसके तर्क अकाट्य हैं और उसने जो निर्णय लिया है उससे बड़ा धर्म, न्याय, मानवता, उदारता नहीं हो सकती। वह स्वयं के प्राणों की बलि देकर भी सारे विश्व को संहार से बचाना चाहता है। अतः उसे बड़ी शाबासी, साधुवाद मिलेगा पर उसे मिली एक जोरदार फटकार जिससे तिलमिला गया और गिरते-गिरते आत्मविश्लेषण के लिए प्रवृत्त हुआ। उसे लगा भगवान् श्रीकृष्ण तो अन्तर्यामी हैं इनके सामने चालाकी नहीं चलने वाली है तो अपनी व्यावहारिक असुविधा वर्तमान में अपनी मन की स्थिति और अपने दोष, त्रुटियों को स्वीकार करते हुए वह भगवान् के प्रति अपने को आत्मसमर्पित कर देता है।

अर्जुन स्पष्ट रूप से स्वीकार करता है कृपणता के दोष से उसका क्षत्रिय स्वभाव सम्पूर्णतया दब गया है, मैं अपने कर्तव्य कर्म के विषय में पूर्णतया विमूढ़ हो गया हूं, आपका मैं शिष्य, मुझे आप मेरे लिए निश्चित कल्याणकारी उपदेश देवें।

यहीं से गीता ज्ञान प्रारम्भ होता है। प्रपत्ति का यह श्लोक गीता ज्ञान की कुंजी है। यही हमारे शिक्षा दर्शन का आधार बिन्दु है। प्रपत्ति से गीता ज्ञान प्रारम्भ होता है और समाहार भी प्रपत्ति से होता है। यहीं से गीता ज्ञान का रहस्य खुलने वाला है।

यहीं विषाद योग में परिणत होता है।

हमारे यहां योग उसको कहा गया है जो साक्षात् या परम्परा से भगवान् से जोड़े। यद्यपि हमें प्रथम अध्याय में तीन बार के पट खुलने पर चार जनों के विषाद

का दर्शन होता है। पहले पट में धृतराष्ट्र को विषादग्रस्त पाते हैं, पर उसका विषाद प्रसाद या योग में परिणत नहीं हो पाता क्योंकि वह दुःखी है, कहीं उसके हाथ में आया हुआ छिन न जाये। और इसके लिए उसने उपाय किया, राज्य के वास्तविक उत्तराधिकारियों को ही समाप्त कर दो। और इस निश्चय में उन्हें किसी प्रकार का संशय नहीं है। अतः वह भगवान् के प्रति शरणापन्न नहीं हो पाता। फलतः उसका विषाद विषाद के रूप में ही शेष रह जाता है। धृतराष्ट्र का प्रारम्भ भी विषाद में, मध्य भी विषाद एवं अन्त भी विषाद में होता है।

दुर्योधन भी दुःखी इसलिए है कि कहीं अन्याय से संग्रह किया हुआ राज्य छिन न जाये, इसलिए वह प्रारम्भ से ही वास्तविक उत्तराधिकारियों को मारने का प्रयास करता रहा है और अभी वह अन्तिम निर्णायक युद्ध करने जा रहा है। उसे भी अपने इस कर्तव्य के विषय में कोई संशय नहीं है। अतः वह भी भगवान् के प्रति शरणापन्न नहीं हो पाता है।

द्रोणाचार्य, भीष्म पितामह भी यह जानते व मानते हुए भी पाण्डवों का पक्ष धर्म व न्याय का है, कौरवों का अन्याय का फिर भी वे अपने को कौरवों से अलग नहीं कर पाते। फलतः उनका भी विषाद विषाद के रूप में ही शेष रहता है।

पर अर्जुन के सामने दो कर्तव्य एक साथ उपस्थित हो जाते हैं। सत्य-न्याय की प्रतिष्ठा के लिए युद्ध करना क्षत्रिय धर्म है साथ ही पारिवारिकजनों, अपने गुरुजनों की रक्षा करना भी अपना कर्तव्य है। इन दोनों में से अर्जुन किसे चुने, यह निर्णय करने में अर्जुन स्वयं को असमर्थ पाता है। फलतः न वह युद्ध से पलायन कर पा रहा है, न भाग ले पा रहा है अतः वह भगवान् के प्रति शरणापन्न हो जाता है। उसका विषाद ही उसके भगवान् से जुड़ने का आधार बन जाता है। उसका विषाद ही योग बन जाता है। इसलिए प्रथम अध्याय का नाम अर्जुन विषाद योग है। तो गीता की कथा प्रारम्भ तो विषाद से होती है पर समाप्त होती है मोक्ष में, प्रसाद में। अतः जो गीता माता की शरण में जाता है वह प्रसाद को उपलब्ध होता है।

यहां तक गीता ज्ञान की भूमिका है। इसे समझे बिना हम आगे गीता में आने वाले उपदेशों को समझ नहीं पायेंगे। अतः गीता की पटभूमि और अर्जुन की मनःस्थिति को समझना आवश्यक है।

अब अर्जुन के सामने समस्या है परिवार की रक्षा की भावना से युद्ध से विरत रहे या सत्य व न्याय की प्रतिष्ठा के लिए क्षत्रिय धर्म की दृष्टि से युद्ध में स्थिर रहे।

उसे अपने स्वरूप के विषय में भी संशय हो गया। जीवन-मरण के विषय में भी संशय हो गया है।

स्व के अनुरूप कर्तव्य होता है। विषाद में अर्जुन अपने वास्तविक स्वरूप को भूल गया। जब शराब के नशे में अपने स्व को भूल जाते हैं, माता-पिता, पत्नी-पुत्र के प्रति क्या कर्तव्य है इसको भूल जाते हैं। विषाद में अर्जुन को अपने स्वरूप के विषय में संशय हो गया। अपनी जीत के विषय में संशय हो गया। यद्यपि उसे अनेकों से विजयश्री का वरदान मिल चुका है और अभी थोड़ी देर ही पूर्व भगवान् श्रीकृष्ण के आदेश से मां दुर्गा की आराधना कर उनसे भी विजयश्री का वरदान पा चुका है। वह वनवास काल में पांच वर्ष सशरीर स्वर्ग में वास कर दिव्य अस्त्र-शस्त्रों का अभ्यास कर चुका है। पर विषाद में इतना अभिभूत हो गया कि सब भूल गया।

चूंकि अर्जुन का प्रश्न है मेरा क्या कर्तव्य है? और कर्तव्य स्व के अनुरूप होता है। अतः भगवान् उसके तात्त्विक स्वरूप के प्रतिपादन से, आत्म तत्त्व के प्रतिपादन से अपना उपदेश प्रारम्भ करते हैं। फिर भारतीय दर्शन का प्रारम्भिक बिन्दु भी आत्म तत्त्व है, आत्म जिज्ञासा है—मैं कौन हूं?

और चूंकि वर्तमान परिस्थिति में वह क्षत्रिय धर्म को त्यागकर ब्राह्मण धर्म में स्थित होना चाहता है, अतः ब्राह्मण धर्म के स्वरूप का भी साथ ही साथ प्रतिपादन करके बताते हैं क्या तेरी पात्रता इसमें है? अतः ज्ञान योग से गीता का उपदेश प्रारम्भ करते हैं जो जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य है। अतः सर्वप्रथम अपने तात्त्विक स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए ब्राह्मण धर्म को भी बताते हैं, ज्ञान मार्ग को भी बताते हुए कहते हैं तेरी इसमें पात्रता नहीं है।

दूसरे अध्याय के 11वें श्लोक से 30वें श्लोक तक आत्मा का स्वरूप, ज्ञान मार्ग, ब्राह्मण धर्म (या निवृत्ति धर्म) का भी प्रतिपादन करते हैं। भगवान् कहते हैं बात तो तुम विवेकियों की सी करते हो पर विवेकिवृन्द जिनके प्राण चले गये, और जिनके प्राण हैं उसके लिए शोक नहीं करते हैं। क्यों शोक नहीं करते क्योंकि आत्मा तो अजर-अमर-अविनाशी है। जन्म-मृत्यु से रहित है। यह तो अजन्मा, शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वरूप है। आत्मा न तो मरता ही है और न ही मारा जा सकता। और शरीर नित्य परिवर्तनशील, क्षणिक एवं नाशवान है, आने-जाने वाला है। इसका आना-जाना कर्म के अनुसार होता है। अतः आत्मा को हम मार नहीं सकते और शरीर को सदा के लिए बचा नहीं सकते। सत् का कभी अभाव नहीं होता, असत् सदैव टिका नहीं रह सकता। आत्मा तो सदा रहने वाला है। ऐसा कभी समय नहीं जब मैं, तुम, यह राजा लोग नहीं थे और न ही भविष्य में नहीं होंगे ऐसी बात है। अवस्थायें शरीर की होती है। कौमार्य, यौवन, बुढ़ापा आदि अवस्थायें हैं वैसे ही मृत्यु भी एक अवस्था मात्र जिसमें जीर्ण वस्त्र रूपी शरीर को

बदल लेते हैं। आत्मा को तो न शस्त्र छेद सकते हैं, न जल गीला कर सकता है, न वायु सुखा सकता है, वह तो अदाह्य, अक्लेद्य, अशोष्य है। अचिन्त्य अप्रमेय और अव्यक्त, नित्य, सनातन व अविकारी है। और शरीर अनित्य, विकारी और आने-जाने वाला है। शरीर की तरह इन्द्रिय संयोग से उत्पन्न होने वाले सुख-दुःख, भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी ये सब भी अनित्य हैं। इनकी यथायोग्य व्यवस्था रखनी चाहिये और सहने का अभ्यास होना चाहिये।

तत्त्व-दृष्टि से कोई मरता नहीं किन्तु लोक मर्यादा हेतु संसार के रंगमंच पर दुष्टों का संहार करना अनिवार्य है। जैसे—नाटक में किसी के मारने पर कोई मरता नहीं। नाटक के पूर्व राम और रावण जीवित हैं। नाटक के मंच पर राम के धनुष-बाण से आहत रावण आहत होकर छटपटाते हुए मरता है। फिर खेल समाप्त होने पर दोनों आपस में अभिवादन करते हैं और परस्पर की प्रशंसा करते हैं—आह! आपने तीर कितने सुन्दर ढंग से चलाया, तो दूसरा, आपने मरने का कितना सुन्दर अभिनय किया। जिस प्रकार नाटक में रावण नहीं मरता। उसी प्रकार संसार रूपी नाटक में दुष्टों की दुष्टता का फल देकर समाज की व्यवस्था को बनाये रखना आवश्यक है।

यह तत्त्व दृष्टि प्रथम में सुपाच्य नहीं होगी। इसका दुरुपयोग भी साधारण लोग अपनी रक्षा के लिए कर सकते हैं। या इस तत्त्व के आड़ में अत्याचार-अनाचार भी कर सकते हैं। जैसे—डकैत द्वारा लोगों को सताया जाना, मारा जाना और फिर अपनी रक्षा के लिए मजिस्ट्रेट के सामने यह दलील पेश करना कि श्रीकृष्ण जैसे दार्शनिक का कहना है कि तत्त्व की दृष्टि से न कोई मर सकता है और न ही मारा जा सकता है, तब मैं हत्यारा कैसे? अतः श्रीकृष्ण ने तत्त्व-ज्ञान की बात कह कर तुरन्त बाद ही स्व धर्म की महिमा बताई, जिससे लोक मर्यादा बनी रहे। भगवद् गीता ने ऐसी गलत व्याख्या की सम्भावना को निर्मूल करने के लिए तत्त्व ज्ञान और नीति दर्शन का समन्वय प्रस्तुत किया। गीता की पुष्पिका में हम गाते हैं 'ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे' ब्रह्मविद्या गीता का तत्त्व दर्शन है और योगशास्त्र गीता का नैतिक दर्शन है। ब्रह्मविद्या सिद्धान्त है (Theory) और योगशास्त्र उसकी क्रिया-साधना है। यदि सिद्धान्त को कृति में न उतारा जा सके तो वह सिद्धान्त धोखे में डालने वाला है। सिद्धान्त प्रत्यक्ष साधना द्वारा सिद्ध होना चाहिये अन्यथा वह सिद्धान्त ही नहीं जिसको कृति में न उतार सकें।

ब्रह्मविद्या का आख्यान उपनिषदों में भी बहुत सुन्दर किया गया है किन्तु गीता की उपनिषदों से बढ़कर महत्ता इसी बात में है कि समस्या विहीन वातावरण में कहां तो प्रकृति के शान्त-एकान्त प्रांगण में निश्चिन्त एवं जगत् के कोलाहल से दूर जिस ब्रह्म ज्ञान का उपदेश उपनिषदों में किया गया इसी ब्रह्मज्ञान के महानतम

सिद्धान्त को जीवन की भीषणतम परिस्थिति में भी प्रत्यक्ष कृति में उतारने का दुर्लभ एवं दुष्कर कार्य गीता में किया गया है। गीता में आत्मज्ञान एवं स्वधर्म पालन का समन्वय है। ब्रह्मज्ञान मोक्षशास्त्र है कर्तव्य पालन धर्मशास्त्र है। अतः गीता मोक्षशास्त्र के साथ-साथ धर्मशास्त्र भी है। इसी दृष्टि से गीता में ज्ञान-कर्म-समुच्चय है समन्वय है।

इसलिए भगवान् श्रीकृष्ण ने आत्मा की तात्त्विक व्याख्या के तुरन्त बाद स्वधर्म की महिमा बताई कि दुष्टों को दण्ड देना अनिवार्य है और आवश्यक हो तो दुष्टों की दुष्टता करने का साधन रूप शरीर को छीन लेना चाहिये अन्यथा समाज की व्यवस्था नष्ट हो जायेगी और समाज में धर्म व न्याय के ईश्वरीय विधान के प्रति आस्था समाप्त हो जायेगी। अतः तत्त्व ज्ञान के साथ-साथ स्वधर्म पालन आवश्यक है। स्वधर्म का त्याग कभी नहीं होना चाहिये चाहे साधारण अवस्था हो। विपरीत स्थिति में तो और भी श्रेयष्कर है। उसे त्यागना किसी भी हालत में नहीं।

Duty supreme है—

(1) स्वधर्म अपने-पराये के भेद के ऊपर है। न्याय में सब समान है।

(2) परिस्थिति निरपेक्ष—प्रत्येक परिस्थिति में स्वधर्म का पालन होना चाहिये। यदि जंगल में ब्रह्मज्ञान वरेण्य है तो युद्ध में भी लागू होना चाहिये। शान्ति में क्रान्ति में यानी सब स्थितियों में।

(3) धर्म व्यक्तिगत, कुलतंत्र, जातिगत इच्छा-अनिच्छा से ऊपर है।

(4) धर्म अच्छे-बुरे फल, अनुकूल-प्रतिकूल परिणाम से मुक्त है। अच्छे कर्म द्वारा प्रतिकूल परिणाम भी मिले (भगतसिंह को फांसी भी मिले) तो वरेण्य है, बुरे कर्म द्वारा यदि अनुकूल परिणाम मिले Black Market द्वारा धन तो भी बुरा है। इसलिए स्वधर्म का पालन निष्काम कर्मयोग की भावना से होना चाहिये। कांट के अनुसार नैतिक नियम स्पष्ट रूप से पात्र, परिस्थिति, देश, काल निरपेक्ष आदेश है।

अतः भगवान् 31 से 38वें श्लोक तक स्वधर्म की महिमा बताते हैं। धर्म को देखकर भी तुझे विचलित नहीं होना चाहिये क्योंकि क्षत्रिय के लिए धर्म युद्ध से बढ़कर दूसरा कुछ भी कल्याणकारक नहीं है, क्षत्रिय के लिए खुले हुए स्वर्गद्वार की तरह है जिसे भाग्यवान क्षत्रिय ही पाते हैं। अगर तू धर्म युद्ध नहीं करेगा तो धर्म और कीर्ति को त्याग कर पाप का भागी बनेगा और सम्मानित व्यक्ति की अपकीर्ति मृत्यु से भी अधिक कष्टदायक होती है। लोग तो मानेंगे कि भय के कारण युद्ध से विरत हुआ। और तुम्हें न कहने योग्य बातें कहेंगे कि बड़ा वीर बनता था, समय आने पर

भाग खड़ा हुआ, इससे अधिक दुःख की क्या बात होगी। अगर तू मारा गया तो स्वर्ग को प्राप्त होगा और जीतेगा तो राज्य भोगेगा। अतः सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजय को समान समझकर युद्ध के लिए तैयार हो जा।

अभी तक तुझे सांख्य योग यानी ज्ञानयोग की दृष्टि से यह बातें बतायी। पहले आत्मा के तात्त्विक स्वरूप और फिर स्वधर्म की महिमा बताई। और यह भी स्पष्ट किया कि स्वधर्म रूप क्षत्रिय-धर्म पालन करने से पाप के नहीं पुण्य के भागी बनोगे, अपकीर्ति के नहीं सुयश के भागी बनोगे जैसी कि अर्जुन को शंका थी उसका निराकरण किया।

अब बताते हैं स्वधर्म का पालन कैसे करें कि वह बंधन का कारण न बनकर मुक्ति का हेतु बन जाये। क्योंकि कर्म बांधता है। और जो मुमुक्षु है, श्रेय पथ का पथिक है वह तो जन्म व मृत्यु के चक्र के पार जाना चाहता है। अतः कर्म करने की कला बताते हैं, युक्ति बताते हैं जो बन्धन का कारण न बनकर मुक्ति का साधन बन जाये। इस दृष्टि से कर्म योग की, निष्काम कर्म योग की प्रशंसा करते हैं। क्योंकि जिसमें प्रवृत्त कराना होता है उसकी प्रशंसा की जाती है और जिससे निवृत्त कराना होता है उसकी निन्दा की जाती है। तो अब भगवान् काम्य कर्म की सीमा बताकर उसकी निन्दा करते हैं क्योंकि काम्य कर्म, सकाम कर्म बान्धने वाले होते हैं तब जन्म-मृत्यु का चक्र अनवरत चलता रहता है।

अब कर्मयोग की प्रशंसा करते हुए कहते हैं इसमें किये हुए कर्म का नाश नहीं होता है, इसका सम्पूर्ण आचरण या पालन नहीं भी किया जा सका, थोड़ा-सा भी पालन किया तो उसका सुफल अवश्य मिलता है। इस में कर्म का प्रत्यवाय नहीं है, उलटा फल नहीं, पाप नहीं लगता है, इसमें विफलता नहीं है, विघ्न नहीं है, इसका थोड़ा-सा भी आचरण महान् भय से रक्षा करता है। इसमें प्राप्तव्य एक परमात्मा होने से बुद्धि भी एक होती है, पर सकाम-कर्मी के साथ यह बात नहीं उसकी कामनायें अनेक होती हैं यानी प्राप्तव्य एक परमात्मा न होकर अनेक प्रकार की सांसारिक कामनायें होने से बुद्धि भी अनेक फलतः अनिश्चयात्मिक होती है। फिर सामान्य तौर पर वैदिक क्रियायें जब तक पूरी नहीं होती तब तक फल नहीं देती। वैदिक क्रियाओं में जरा-सी भूल हो जाये, जहां बायां घुटना रखना चाहिये वहां दायां घुटना रख दिया जाये, मंत्रोच्चारण में भेद हो जाये तो प्रत्यवाय लगता है अर्थात् बुरा फल। सुफल की जगह पाप लग जाता है। फिर आरम्भ किया और पूरा न कर पाये तो सारा किया-कराया बेकार। पूरा किया और गलती हो गई तो पाप लग गया। फिर यह जन्म-मृत्यु के बंधन में बांधने वाली है। ये वैदिक सकाम-कर्म आपाततः रमणीय तो प्रतीत होते हैं पर वास्तव में कल्याणकारी नहीं हैं। क्योंकि उसकी गति अधिक से अधिक स्वर्ग तक ही है।

संसार में दो प्रकार के पथिक हैं एक प्रेय मार्ग के पथिक है, दूसरे श्रेय मार्ग के पथिक। जो प्रेय मार्ग के पथिक होते हैं वे धर्म, अर्थ, काम के वशीभूत होते हैं। वे पुत्रैषणा, लोकैषणा, वित्तैषणा से प्रेरित होते हैं, वे अहंता-ममता को लेकर शत्रु और मित्र को लेकर अनेक प्रकार के भोग चाहते हैं। दूसरे जो श्रेय पथ के पथिक हैं उनका प्राप्तव्य एक मात्र परमात्मा है।

वेद तो सबकी माता है। अतः सबको पोषण देने वाली है। वेद माता कहती है तेरे में कामनाएं हैं तो कोई बात नहीं, उसे पूरी करो पर उसे वैदिक सांचे-ढांचे में ढाल लो और विहित पद्धति से करो इसके लिए वेदों के कर्मकाण्ड हैं। अमुक यज्ञ करने से अमुक फल मिलेगा। पुत्र चाहिये तो पुत्रेष्टि यज्ञ करो, धन चाहिये तो लक्ष्मी सूक्त या श्रीसूक्त से हवन करो, यश चाहिये तो उसका अलग यज्ञ है, राज्य चाहिये तो राजसूय यज्ञ है। तो मनुष्य की जो अनेक कामनायें हैं चाहे वह इस लोक की हो या परलोक की हों उन सभी कामनाओं की पूर्ति का विधान वेद करते हैं। पर ये कर्म बांधने वाले हैं, आवागमन के चक्र में डालने वाले हैं—

पुनरपि जननं पुनरपि मरणं,
पुनरपि जननी जठरे शयनम्।

और गीता हमें जन्म-मृत्यु के दुःख से मुक्त करना चाहती है। अतः गीता सावधान करते हुए कहती है तुझको यदि सांसारिक सुखों की कामना है तो तुम उसी वेदवाणी में रमो। किन्तु यह पुष्पिता वाणी है, आपाततः रमणीय वाणी है, वास्तविक कल्याण करने वाली नहीं है। क्योंकि एक कामना की पूर्ति दस नयी कामनाओं को जन्म देती है। फिर कामना मनुष्य को कंगाल बनाती है, क्योंकि वह अभाव बोध से उत्पन्न होती है। वह तुमको सीमित करती है फिर जैसी कामना होगी अन्तःकरण में वही प्रतिबिम्बित होगा। हम धन की, स्त्री की, यश की या सुख की कामना करेंगे तो अन्तःकरण में वही प्रतिबिम्बित होगा और अन्तःकरण में जब कामना या विषय प्रतिफलित होगा तो उसमें ब्रह्म प्रतिफलित नहीं होगा।

अतः जो श्रेय पथ का जिज्ञासु है उसके लिए वेद माता ज्ञानकाण्ड विधान करती है। वेद का कर्मकाण्ड तीन गुणों से सम्बन्धित है। क्योंकि तीन प्रकार के मनुष्य हैं—तमोगुणी, रजोगुणी व सतोगुणी—इनका विधान वेद कर्मकाण्ड में करते हैं। और जो श्रेय पथ का पथिक है वह तीनों गुणों से ऊपर उठकर गुणातीत बने, नित्य सत्त्वस्थ, निर्योगक्षेम व आत्मवान बने जिसका विधान वेद का ज्ञानकाण्ड करता है जो गीता को भी अभिप्रेत है। अब जो ज्ञानकाण्ड में स्थित हो जाता है उसके लिए वेदों के कर्मकाण्ड का प्रयोजन शेष नहीं रहता या उतना ही प्रयोजन शेष रहता है जितना कि गंगा जल की प्राप्ति होने के बाद कूप का प्रयोजन शेष रह जाता है।

अतः कर्मयोग की चतुर्सूत्री बताती है—

(1) कर्म में ही तेरा अधिकार है।

(2) उसके फल में कभी नहीं।

(3) फल की वासना से कर्म करने वाला, मत बन।

(4) अकर्म में भी तू संग मत रख।

मनुष्य का कर्म में ही अधिकार है, इसलिए मानव की योनि को ही कर्मयोनि कहा गया है। कर्म फल में तेरा अधिकार नहीं है क्योंकि परीक्षार्थी स्वयं परीक्षक बन जाये तो मूल्यांकन में कभी न्याय नहीं होगा। अतः कर्म फल नियंता ईश्वर है। और फल की वासना से कर्म करने वाला मत बन। फल के लोभ में किया हुआ कर्म स्वार्थ कर्म है यज्ञार्थ कर्म नहीं।

(क) परीक्षार्थी उत्तीर्ण होने की आशा से < सफलता प्राप्ति (प्रसन्नता) / असफलता पर (आत्महत्या)

(ख) कर्तव्य भाव से परीक्षा < सफलता में (गम्भीर) / असफलता में (पुनः कर्म में लगा)

फल की तुला पर कर्तव्य को कभी नहीं तौलना चाहिये।

फल नहीं चाहिये तो—तो अकर्म में भी रुचि न हो। आलस्य या निकम्मापन जीवन में पतन का कारण है। अग्नि यदि जलाने का स्वभाव ही छोड़ दे तो उसे अग्नि कौन कहेगा। ऐसे ही जिस कर्म के आधार पर मनुष्य को कर्मयोनि कहा गया है कर्म के अभाव में वह मनुष्य कहां रह जायेगा?

दलाल जो होता है कर्म के पूर्व ही फल चाहता है। और व्यापारी कर्म के पश्चात् फल चाहता है। हम न कर्मों के दलाल बनें, न व्यापारी बनें और कर्म निष्फल नहीं होना चाहिए पर निष्काम अवश्य होना चाहिये। यानी फल तो सुन्दर से सुन्दर हो पर वह स्वयं के लिए नहीं चाहें वह अपने से बड़ी इकाई के प्रति समर्पित हो। परिवार, समाज, देश, विश्व एवं प्रभु के प्रति समर्पित हो।

स्वधर्म पालन के लिए समत्व सबसे बड़ा योग है। भगवान् कहते हैं सिद्धि-असिद्धि में सम होकर कर्म कर। यह समत्व भाव ही योग कहलाता है। समत्व भाव में स्थित होने पर ही निष्काम कर्मयोग का पालन हो सकता है। स्वधर्म अच्छे-बुरे फल, अनुकूल-प्रतिकूल परिणाम से मुक्त है। कर्तव्यपरायणता के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण मानसिक स्थिति समत्व की मनोभूमिका है—सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजय, शीत-उष्ण, अनुकूल-प्रतिकूल, प्रिय-अप्रिय में—अपने मन की स्थिति को सम बनाये रखना कर्तव्यपरायण व्यक्तियों के लिए अत्यावश्यक

है। महलों के राजसी भोग और जंगलों में घास की रोटी, दोनों में सम रहकर मेवाड़ की स्वाधीनता के लिए प्रताप संघर्ष चालू रखते हैं, तभी सच्चा कर्मयोगी है। अनुकूल के कर्मी और प्रतिकूल के कामचोर सच्चे कर्मयोगी या कर्तव्यपरायण नहीं हो सकते हैं। द्वन्द्वों में सम रहने वाला ही कर्मयोगी बन सकता है।

समत्व बुद्धि भगवद् बुद्धि है। समत्व भगवान् का लक्षण है।

निर्दोषं हि समं ब्रह्म 5/19 गीता

समदर्शिता भगवान् का लक्षण है। भगवान् के इस लक्षण को ध्यान में रखकर भी कहा गया है।

समत्वं योग उच्यते।। 2/48 गीता

निष्काम कर्म की प्रेरणा देकर भगवान् हमारी कार्यक्षमता को बढ़ाते हैं। कर्म करने की वृत्ति को सुदृढ़ करते हैं। भगवान् ने डंके की चोट पर कहा है, इस बुद्धियुक्त कर्म की तुलना में फलासक्त कर्म बहुत ही निकृष्ट है।

अब भगवान् कर्म करंने की युक्ति बताते।

'योगः कर्मसु कौशलम्' कर्म करें पर कर्म बंधन में फंसें नहीं। कर्म अपने स्वभाव से ही बांधने वाला होता है। कर्म के बंधन से सभी बंधते हैं। अब कौशल इसमें है कि कर्म भी करे और इसके बंधन में भी ना पड़े। एक गुरु ने शिष्यों से कुशा लाने को कहा। एक शिष्य कुशा के साथ हाथ भी फाड़ लाया। तो वह अनाड़ी शिष्य। दूसरा शिष्य भी कुशा लाया, हाथ नहीं कटा। वह कुशल शिष्य।

वह कुशा गुरु को दी गुरु ने यज्ञ में प्रयोग की। तो कर्म में कुशल है वह जो कर्म करे पर कर्म की फांसी यानी बंधन से बचे, कर्म के अहंकार से बचे।

कर्म प्रभु को समर्पित, गुरु को समर्पित करे। यज्ञ भावना से चढ़ा दे। जो कर्म करके उसके फल को पकड़ता है वह नीचे गिरता है जो कर्म के फल को छोड़ता है वह ऊपर उठता है।

योगः कर्मसु कौशलं—वह कौशल योग होता है जिससे कर्म का स्वभाव व्यर्थ हो जाये। कर्म हमें बांधे नहीं। सिर्फ अच्छी तरह से करने का नाम योग नहीं है। नहीं तो अच्छी चोरी भी योग हो जायेगा। नकल करने की कुशलता या चोरी-डकैती करने की कुशलता को योग नहीं कहा जा सकता। कर्म अपने स्वभाव से कुंठित हो जाये—हमें बांध न पाये ऐसा कौशल योग कहलांता है।

मनीषी लोग कर्म के फल का त्याग करते हैं। समत्व बुद्धि से कर्म करते हैं तभी जन्म-मरण एवं कर्म के बन्धन से मुक्त होते हैं। इस प्रकार से किये गये कर्म से निम्नलिखित लाभ होते हैं—

कर्म की रंगत नहीं चढ़ती।

कर्म फल की फांसी से बचा।

कर्तापन के अहंकार से बचा।

कर्म में प्रभु की विशेष कृपा, विशेष शक्ति का प्रवेश हो गया।

कर्म उत्तम एवं चमत्कारी हो गया। असम्भव को सम्भव कर लिया।

विश्व का भरपूर कल्याण हुआ।

अपने को मोक्ष (प्रभु प्राप्ति)

फल को त्यागा तो फलदाता प्रभु मिल गया।

खिलौने को त्यागा तो मालिक मिल गया।

यह सम्भव है फिर भी समझ में नहीं आती क्योंकि हमारी बुद्धि में कीचड़ भर गया है।

हमारी आपकी बुद्धि में लालसा और वासना का कीचड़ भरा है। हमारी बुद्धि में शास्त्रों का पूरा जंगल भरा पड़ा है, हमने उसे गुना नहीं, अपने जीवन में उतारा नहीं इसलिए हम भ्रान्त हैं। मन की सबसे बड़ी मलीनता—कामना है। इसे बराबर याद रखे।

निष्काम होना अन्तर्मुख होना है। निष्काम होना शुद्ध होना है। निष्काम कर्मयोग हमें कर्म बंधन से छुड़ाता है। अपने संशय के विपर्यय (विपरीत ज्ञान) से जो दिमाग में कीचड़ भर गया है उसे धोकर जब हम संयम, शान्ति और एकाग्रता से निष्काम कर्म करेंगे तो हमारी बुद्धि समाधि में स्थिर होगी।

अब तक जीवन का सिद्धान्त आत्मा की अमरता (सांख्ययोग) जीवन की कला कर्मयोग इसके पालन की विधि तकनीक समभाव और फल भी बता दिया ब्रह्म प्राप्ति। ये बातें जिनके जीवन में चरितार्थ हो गयी हैं उसको गीता में स्थितप्रज्ञ या आदर्श पुरुष कहा गया। स्थितप्रज्ञ, यह शब्द गीता का अपना है, यह गीता की अपूर्वता है। उस स्थितप्रज्ञ या समाधिस्थ पुरुष के लक्षण क्या हैं?

गीता केवल सिद्धान्त ग्रन्थ न होकर व्यवहार का ग्रन्थ भी है जो कि इसकी पुष्पिका से भी स्पष्ट है 'ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे'। गीता की समाधि न योग की समाधि है और न उपनिषदों की समाधि है। योग की समाधि तो यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान के आगे की अवस्था समाधि है। गीता के पूर्व लोग योग समाधि को एकांत में बैठकर करते थे। पर श्रीकृष्ण ने गीता में जिस को समाधिस्थ पुरुष कहा है वह चलते-फिरते, उठते-बैठते, खाते-पीते, सोते-उठते, युद्ध और शान्ति, कोलाहल और शान्त स्थान में यानी सब

स्थानों में बुद्धि के सम होने के कारण समाधिस्थ माना जाता है। यदि जंगल में ब्रह्मज्ञान वरेण्य है तो युद्ध में भी लागू होना चाहिये। शान्ति में, क्रान्ति में यानी सब स्थितियों में। अतः गीता का आदर्श पुरुष संसार त्यागकर अरण्य की शरण नहीं लेता वह तो संसार में रहते हुए सभी स्थितियों में अपने मन की शान्ति बनाये रखते हुए स्वधर्माचरण करता है।

इन 18 श्लोकों में गीता का सार आ गया है। इसलिए गांधीजी ने इनको प्रार्थना का अंग बना लिया था।

गीता का कहना है कि संसार के विषय बड़े प्रबल हैं। इन विषयों को देखकर हमारी इन्द्रियां अपने को वश में नहीं रख सकती। मनुष्य कितना ही यत्न करे, इन्द्रियां उसे विषयों की तरफ खींच ही ले जाती है। जब मनुष्य इन्द्रियों के पीछे चलकर विषयों का भोग करने लगता है, तब राग-द्वेष उत्पन्न हो जाते हैं, भोग में बाधा पड़ने पर क्रोध, भोग की पूर्ति होने से लोभ, भोग में बाधक अपने से बली हो तो भय, भोग नष्ट न हो जाये, इसके लिए चिन्ता। इस प्रकार काम, क्रोध, लोभ, भय, चिन्ता, राग-द्वेष, मित्र-शत्रु की परम्परा चल पड़ती है। फलतः मन अशान्त हो जाता है, सुख से हाथ धो बैठता है। विषय भोग से मन को शान्ति तो मिलती है पर वह क्षणिक होती है, चिरस्थायी शान्ति नहीं होती। गीता का कहना है हमें क्षणिक शान्ति नहीं चाहिये, हमें तो शाश्वत शान्ति चाहिये, प्रसाद चाहिये। ऐसी शान्ति चाहिये जिसमें बुद्धि भटकती न रहे। स्थिर होकर अमृत का पान करती रहे। शाश्वत शान्ति बनी रहे। इसके लिए गीता एक ही मूल उपाय बताती है कि जब हम अपने वास्तविक आत्मस्वरूप को भूल जाते हैं, अर्थात् अपने आप्तकाम-पूर्णकाम स्वरूप को भूल जाते हैं, तब हम में अभाव बोध जागृत होता है और अनात्म वस्तुओं के प्रति मन आकृष्ट हो कर हमारे अन्दर कामनायें उठने लगती हैं और यहीं से अनर्थ की परम्परा चल पड़ती है। इसलिए गीता कहती है स्थितप्रज्ञ पुरुष अपने मन में उठने वाली सब कामनाओं का परित्याग कर देता है, विषयों में शान्ति ढूंढ़ने के स्थान पर अपनी आत्मा में स्थित हो जाता है। इसका परिणाम होता है, वह न सुखों की कामना करता है और न दुखों में निराश ही होता है। जब संसार के विषयों में से अपनी इन्द्रियों को इस प्रकार खींच लेता है जैसे—कछुआ संकट के समय में अपने अंगों को अपने खोल में खींच लेता है, तब उसे शान्ति प्राप्त होती है, प्रसाद प्राप्त होता है।

अब प्रश्न है क्या कामनाओं का परित्याग सम्भव है? गीता का कहना है कि इन्द्रियां विषयों की ओर दौड़ती हैं और जब तक इस प्रकार दौड़ती रहेंगी तब तक तो कामनाओं का परित्याग नहीं हो सकता और कामनायें उत्पन्न होती हैं अपने आत्मस्वरूप के विस्मरण से। अतः इन्द्रियों को विषय के पीछे दौड़ाने के स्थान पर

उसे अपने आत्मस्वरूप की ओर लगाया जाये, तब विषयों के कारण उठने वाले उद्वेग अवश्य शान्त होंगे।

परन्तु तब भी एक समस्या बनी ही रहेगी। वह समस्या है इन्द्रियों का विषयों का रस तो हर समय स्मरण रहता है। संसार के विषयों से पीठ फेर लेने पर भी इस रस की स्मृति मनुष्य को हर समय व्याकुल करती रहेगी। अगर विषयों को भोगने पर और विषयों को छोड़ने, दोनों अवस्थाओं में मनुष्य का मन व्याकुल रहता है, अशान्त रहता है। तब विषयों को छोड़ने से क्या लाभ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए गीता कहती है यह ठीक है कि संसार के विषयों से पीठ फेर लेने पर भी इन विषयों की स्मृति हमें व्याकुल, अशान्त करती रह सकती है परन्तु जब हम बहिर्मुखी से जैसे-जैसे अन्तर्मुखी होते जायेंगे तब हमें विषयों से मिलने वाले रस से भी बड़ा रस, परब्रह्म का रस, परब्रह्म की अनुभूति से मिलेगा। उस रस के सामने संसार के सब रस तुच्छ हो जायेंगे और तब हमारा चित्त शान्त हो जायेगा, प्रसाद से आप्लुत हो जायेगा, हमारा भटकना दूर हो जायेगा। तब हम समुद्र की तरह होंगे जिसमें संसार की नदियां उमड़-उमड़ कर आती है परन्तु वह अचल रहता है, हम भी कामनारहित होने के कारण संसार के विषयों की बाढ़ में चट्टान की तरह अचल टिके रहेंगे और ब्राह्मी स्थिति का लाभ करेंगे। स्थितप्रज्ञ का यही रूप है।

गीता का उपदेश है मन की अचल-स्थिर-सम अवस्था ही प्रसाद की अवस्था है, यही योग की अवस्था है, इसी को ब्राह्मी स्थिति कहते हैं, यही स्थितप्रज्ञता है। यही गीता के आदर्श पुरुष का लक्षण है।

द्वितीय अध्याय गीता भवन की नींव है। यह बीज अध्याय है। आगे जितने भी उपदेश आने वाले हैं उनका संकेत दे दिया गया है।

(1) जीवन का शास्त्र—इसमें जीवन का शास्त्र भी बताया गया। जैसे—आत्मा की अमरता।

(2) जीवन की कला—इसमें जीवन की कला भी बतायी गयी। जैसे—दुःख-सुख, लाभ-हानि में समभाव। इसी को समत्व योग भी कहते हैं।

(3) स्वधर्म की निष्काम साधना।

(4) जीवन के शास्त्र और कला का समन्वय अथवा सांख्ययोग (ज्ञान योग) और कर्मयोग का समन्वय भी बताया गया स्थितप्रज्ञ दर्शन।

(5) स्थितप्रज्ञ का अन्तिम परिणाम ब्राह्मी स्थिति या ब्रह्म निर्वाण या ब्रह्म प्राप्ति भी बता दिया गया है।

आगे के अध्यायों में इन्हीं सब बातों का विस्तार है।

तृतीय अध्याय : सार संक्षेप

अर्जुन इस विषम परिस्थिति में उसका कर्तव्य क्या है इस सन्दर्भ में एक निश्चित कल्याणकारी उपदेश भगवान् से चाहता है।

इस सन्दर्भ में भगवान् ने उसके तात्त्विक स्वरूप को बताते हुए कहा कि तत्त्व की दृष्टि से न कोई मरता है और न मारा जाता है। हम सभी अजर-अमर-अविनाशी आत्मा हैं। देश-काल के बंधन से मुक्त हैं। शरीर तो नित्य परिवर्तनशील, षड्विकारों से युक्त, कर्म चक्र एवं काल चक्र से बंधा हुआ है।

तत्त्व दृष्टि से कोई मरता नहीं है, न मारा जाता है। जो शरीर उसे स्वयं के कल्याण के लिए, जग के कल्याण के लिए मिला है उसका जब दुरुपयोग करता है तो उसमें सुधार के लिए एवं समाज की व्यवस्था बनाये रखने के लिए उसको दण्डित करना आवश्यक होता है। इसलिए अद्वैत की, आत्मा ब्रह्म ऐक्य की गांठ बांध कर सारे जगत् के व्यवहार करने के लिए स्वधर्म की महिमा बतायी। फिर स्वधर्म पालन की दो विधि बतायी—सकाम भाव से और निष्काम भाव से। सकाम भाव बंधन का कारण बनता है और निष्काम भाव मुक्ति का आधार बनता है।

निस्संदेह कर्म से ज्ञान श्रेष्ठ है, पर कर्म की सीढ़ी से ज्ञान मार्ग में आरूढ़ होते हैं, ज्ञान की पात्रता अर्जित करते हैं।

फिर द्वितीय अध्याय के अन्त में आदर्श पुरुष-स्थितप्रज्ञ का लक्षण बताते हुए ब्रह्मज्ञान एवं ब्राह्मी स्थिति को सर्वोच्च बताया। तो भगवान् ज्ञान को ही सर्वोच्च बताते हैं, पर अर्जुन को कर्म का अधिकारी जानकर कर्म का उपदेश देते हैं।

इससे अर्जुन के मन में संशय उपस्थित हो गया। अर्जुन के इस संशय के निवारणार्थ ही गीता आगे बढ़ती है अन्यथा दूसरे अध्याय में गीता समाप्त हो जाती। क्योंकि गीता में जो मुख्य-मुख्य विषय प्रतिपादित किये हैं वह उन्होंने दूसरे अध्याय में बता दिये हैं—(1) आत्मा की अमरता (2) स्वधर्म की महत्ता (3) निष्काम कर्म (4) स्थितप्रज्ञता और ब्रह्म निर्वाण रूपी सर्वोच्च लक्ष्य बता चुके हैं। अतः अर्जुन का फिर प्रश्न करना यह सिद्ध करता है वह अच्छा जिज्ञासु

है। सिद्धान्त तो जान गया है व्यवहार में क्या कठिनाई है इसके लिए भगवान् ने 16 अध्याय और बताये।

दूसरे अध्याय में ज्ञान की श्रेष्ठता बताकर भगवान् ने अर्जुन के मन की बात ही कही पर उसे तो कर्म का ही अधिकारी माना। और अर्जुन द्वारा द्वितीय अध्याय के श्रवण के बाद भी ज्ञान मार्ग के प्रति आग्रह बना हुआ है और ज्ञान मार्ग को ही भगवान् श्रेष्ठ भी बता रहे हैं। अतः अर्जुन के मन में संशय उपस्थित हो गया अगर ज्ञान मार्ग श्रेष्ठ है तो मुझे घोर क़र्म में क्यों लगा रहे हैं। यदि मैं कर्म करूंगा तो कर्म के चक्र में बंध जाऊंगा। कर्म करूंगा तो वस्तुओं का, विषयों का, तत्सम्बन्धी मनोभाव का, राग का, छल-कपट का, द्वेष का, वैर का, स्वार्थ का रंग मेरे चित्त पर चढ़ेगा।

यह हो सकता है कि ज्ञान मार्ग में एकाएक स्थित नहीं हुआ जा सकता है, उसमें लगते-लगते लगूंगा तो उसकी पूर्व तैयारी के लिए शान्त, सौम्य कर्म अभीष्ट हैं, न कि स्वजन संघार जैसा घोर कर्म अपेक्षित है।

इसलिए अर्जुन कहता है आपके मिले-जुले वचनों से मेरी बुद्धि भ्रमित हो रही है। आप मुझे एक निश्चित बात बताओ जिससे मैं कल्याण को प्राप्त हो सकूं।—1-2

तब भगवान् अर्जुन की बात को स्वीकारते हुए कहते हैं तुमने ठीक ही समझा है। मैंने ही सृष्टि के प्रारम्भ से ही दो रास्ते बनाये हैं।

महाभारत के शान्तिपर्व के 348वें अध्याय में यह कहा गया है कि सृष्टि के आरम्भ में भगवान् नारायण ने हिरण्यगर्भ यानी ब्रह्मा को (अकृतार्थ जीवों को कृतार्थ करने के लिए) सृष्टि रचने की आज्ञा दी। उनसे भृगु, मरीचि, अत्रि, पुलस्त्य, पुलः, कृतु और वशिष्ठ ये सात प्रमुख मानस पुत्र हुए। उन्होंने सृष्टि के सुचारु रूप से विस्तार के लिए वेदोक्त प्रवृत्ति रूप धर्म का अवलम्बन किया। फिर ब्रह्मा के सनत्, सनक, सनन्दन, सनातन, कपिल आदि सात पुत्रों ने उत्पन्न होते ही सांख्य यानी ज्ञान-वैराग्य लक्षण वाले निवृत्ति रूप धर्म को स्वीकार किया। इस प्रकार सनत, सनन्दन, सनत्कुमार आदि सांख्यमार्गी, निवृत्तिमार्गी, ज्ञानमार्गी थे। वे संसार में प्रविष्ट ही नहीं हुए। वामदेव, शुकदेव, शंकराचार्य, संत ज्ञानेश्वर आदि भी निवृत्तिमार्गी थे। अष्टावक्र जन्म से ही निवृत्तिमार्गी थे। वेदव्यास, याज्ञवल्क्य पहले प्रवृत्तिमार्गी थे बाद में निवृत्तिमार्गी बने। वशिष्ठ, विश्वामित्र प्रवृत्तिमार्गी थे। प्राचीन भारतीय ऋषि कुछ गृहस्थाश्रमी थे तथा कुछ विरक्त संन्यासी निवृत्तिमार्गी। ऋषियों का पितृ कुल उनकी संतानों से चलता था। किन्तु गुरुओं का गुरुकुल शिष्य परम्परा से चलता था। दर्शन में प्रवृत्ति मार्ग,

कर्मकाण्ड एवं यज्ञ विधान की चर्चा एवं दार्शनिक विवेचन पूर्व मीमांसा दर्शन में हुआ है। सांख्य योग के ज्ञान मार्ग की विवेचना उत्तर मीमांसा अर्थात् वेदान्त में की गयी है।

तो परमश्रेय के दो मार्ग प्रारम्भ से ही चले आ रहे हैं। परमश्रेय का एक ही मार्ग है भारतवर्ष में हम ऐसा नहीं मानते। हम यह मानते हैं लक्ष्य एक ही है, पर लक्ष्य की प्राप्ति के साधन अनेक हैं। साधन की अनेकता, मार्ग की बहुलता की स्वीकृति यह भारतीय संस्कृति का आधारभूत लक्षण है। हमारा सबका शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक विकास का स्तर एक-सा नहीं है। साधक विकास की जिस स्थिति में खड़ा है वहीं से तो यात्रा प्रारम्भ करेगा। अतः सबके लिए एक मार्ग यह भारतीय मेधा को स्वीकार्य नहीं है। हमारी संस्कृति से अन्य संस्कृतियों से यह भेदक लक्षण है। यहूदी संस्कृति, ईसाई संस्कृति, इसलामिक संस्कृति, कम्युनिस्ट संस्कृति वालों के पास एक ही रास्ता है। पर भारतीय संस्कृति लक्ष्य तो सबका एक मानती है पर उसको प्राप्त करने के मार्ग अनेक हैं।

शिष्य श्रेय तो चाहता है पर उसकी प्राप्ति के लिए अनुकूल मार्ग कौन-सा है वह यह नहीं जानता। क्योंकि वह सुनी-सुनाई बातों से प्रभावित हो जाता है, पर गुरु को शिष्य की स्थिति की पहचान होती है। गुरु का महत्त्व यही है कि वह शिष्य की पात्रता को पहचानकर उसके योग्य मार्ग बता देता है। और अर्जुन भी भगवान् श्रीकृष्ण से यही अपेक्षा कर रहा है। भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन की स्थिति को जानकर उसे कर्मयोग का अधिकारी मानते हैं।

आत्मा शुद्ध चेतन होने से उसमें कर्तृत्व नहीं है, और शरीर जड़ होने से निष्क्रिय है। क्रियाशून्य है। कर्म होता है चिद्-जड़ ग्रन्थि से। जब जड़-चेतन आपस में मिल जाते हैं और एक-दूसरे पर एक-दूसरे के धर्मों का आरोप कर लेते हैं तब कर्म की स्थिति बनती है। और यह कर्म की स्थिति तब तक बनी रहती है जब तक हम अपने वास्तविक आत्मस्वरूप को भुलाकर शरीर एवं संसार को ही सत्य समझते रहते हैं। जब तक हम अपने आत्मस्वरूप को, उसके आप्तकाम-पूर्णकाम स्वरूप को भूले रहते हैं तब अपने अन्दर कृत्रिम अभाव की उत्पत्ति होती है। तब कुछ पाने या कुछ छोड़ने या कुछ बदलने के लिए या किसी में कुछ संस्कार करने के लिए कर्म करते हैं। कर्म अज्ञानावस्था में ही सम्भव है। जब हम अपने आपको सीमित, सर्वात्मा से अपने आपको पृथक् समझ लेते हैं। ज्ञानावस्था में कर्म सम्भव नहीं क्योंकि हम एक अखण्ड, असीम हैं। न कुछ पाना है, न कुछ छोड़ना है। न कुछ बदलना है, न कुछ को संस्कारित करना है। हम जिस रूप में हैं उसी रूप में पूर्ण ब्रह्म हैं। ज्ञानावस्था में कर्म सम्भव नहीं है। उसके लिए न कोई कर्तव्य शेष है न कोई ज्ञातव्य शेष है।

अर्जुन अभी कर्म का अधिकारी है। जो कर्माधिकारी है, आरुरूक्षु है उसको उचित समय तक कर्म का निर्वाह आवश्यक है। केवल कर्म के अनारम्भ से नैष्कर्म्य की सिद्धि नहीं होती और न मध्य में कर्म को छोड़ देने से ही सिद्धि प्राप्त होती है। मुमुक्षु को स्वकर्म का आरम्भ और योगारूढ़ता की प्राप्ति पर्यन्त उसका निर्वाह आवश्यक है।—3-4

वस्तुस्थिति यह है अकृतार्थ व्यक्ति, अनात्मज्ञ व्यक्ति एक क्षण भी बिना कर्म किये हुए नहीं रह सकता। उदाहरण के लिए सुषुप्ति जो अकर्मभूमि है उसके साथ भी हम अहं जोड़कर अर्थात् 'मैं सोया' कहकर उसे कर्मभूमि बना लेते हैं। जाग्रतादि में कर्म से उपराम हुए व्यक्ति भी रजोगुण या तीनों गुणों के वशीभूत होकर कर्मों में प्रवृत्त होने के लिए बाध्य होते हैं।—5

ऐसी स्थिति में जो हठपूर्वक अपनी कर्मेन्द्रियों को तो रोक देता है तब मन में विषयों का चिन्तन चलने लगता है। विषयों का मानसिक रूप से भोग करने लगता है। इस प्रकार हम मिथ्याचारी बनते हैं। ऐसे मिथ्याचारी बनने की अपेक्षा तो ज्ञानेन्द्रियों को संयत कर, मन को विषयों से उपराम रखकर कर्मेन्द्रियों द्वारा अनासक्तभाव से अपने नियत कर्म (अपने वर्ण व आश्रमानुसार कर्म) करना चाहिये।—6

यह सच है कि बुद्धि या ज्ञान कर्म से श्रेष्ठ है किन्तु कर्म की साधना के बिना ज्ञान मिलता नहीं है।

आजीविका यानी शरीरयात्रा हेतु भी कर्म की आवश्यकता है अन्यथा शरीररूपी साधन नष्ट हो जाएगा, ज्ञानेन्द्रियां मुरझा जायेंगी, मन और बुद्धि भी क्षीण होकर बेकार हो जायेंगे और ज्ञान की प्राप्ति नहीं होगी। प्रथम में मनुष्य शरीर से लगा रहता है, फिर शरीर से ऊपर उठकर इन्द्रियों में, फिर इन्द्रियों से सूक्ष्म मन, फिर मन से सूक्ष्म बुद्धि और अन्त में आत्मज्ञान प्राप्त करता है। अगर कर्म नहीं करेंगे तो शरीर तो शिथिल हो जायेगा तब शरीर को भोजन भी नहीं मिलेगा। तब ज्ञान प्राप्त करना असम्भव।

समाजसेवा—यज्ञ कर्म के बिना नहीं हो सकता। चित्तशुद्धि भी निष्काम सेवा द्वारा ही सम्भव है।

इस प्रकार कर्म का त्याग सम्भव नहीं है। वस्तुतः स्वार्थ कर्म बांधता है, यज्ञार्थ कर्म मुक्त करता है। कर्म ही मन को मैला करता है और कर्म द्वारा ही चित्त की शुद्धि होती है। जैसे-साबुन से वस्त्र साफ किये जाते हैं पर साबुन का वस्त्र में लगे रहना भी वस्त्र में गंदगी बने रहना है अतः उसके झाग को भी साफ करना आवश्यक है। उसी प्रकार कर्म करके कर्म का संग, कर्तापन का अहंकार और फल की वासना को

धोकर निकाल देना चाहिये। क्योंकि कर्म नहीं बांधता उसके पीछे जो कामना है, वासना है वह बांधती है। कर्म के पीछे जो भावना है उसी के आधार पर बंधते या मुक्त होते हैं। कर्म के पीछे हमारी भावना यदि शुद्ध है तो वही कर्म हमारी चित्तशुद्धि का, समाजसेवा का, प्रभुसेवा का, राष्ट्रसेवा का, मानव या जीव मात्र की सेवा का आधार बन जाता है। कर्म के पीछे हमारी स्वयं की क्षुद्र अहं भावना है, स्वयं के कर्तापन का भाव है, भोक्तापन का भाव है तो वह कर्म हमें बांधता है। कर्म तीन प्रकार से बांधता है—कर्म कर्ता को रंग देता है, साधु कर्म उसे साधु बना देता है, चौर्य कर्म उसे चोर बना देता। कर्म का दूसरा फल है कर्मासक्ति। अपने ही किये कर्म पर आसक्त होकर कहता रहता है यह मैंने किया...। कर्म का तीसरा बंधन है फलासक्ति। जो कर्म मैंने किया है उसका फल मुझे ही मिले। उस पर मेरा ही अधिकार है। कर्मफल की वासना उसे जन्म-जन्मान्तर तक भटकाती है अत: कर्म से कर्मासक्ति, फलासक्ति एवं अहंकृति को धोकर निकाल देना चाहिये। इस प्रकार जब कर्मासक्ति, फलासक्ति अहंकृति को छोड़कर यज्ञार्थ कर्म करते हैं, प्रभु को समर्पित बुद्धि से कर्म करते हैं तो वह बंधन के हेतु न होकर मुक्ति के हेतु बनते हैं।—7-8

अब अपना योगक्षेम कैसे प्राप्त करना (कामनाओं की पूर्ति की विधि) उसकी प्रक्रिया क्या है? किस प्रकार सारी सृष्टि यज्ञतत्त्व पर आधारित है। कैसे सृष्टि में स्वाभाविक यज्ञ-चक्र चल रहा है और उस प्रक्रिया से हम कैसे अपना योगक्षेम प्राप्त कर सृष्टि के संतुलन को कायम रखते हैं—

भारतीय संस्कृति का एक पावनतम प्रतीक यज्ञतत्त्व है। इसकी महिमा और महत्ता से सारा भारतीय सांहित्य गूंज रहा है।

वेद ने यज्ञ की महिमा में कहा है 'यज्ञो ही विश्वस्य भुवनस्य नाभि'। अर्थात् यज्ञतत्त्व सारे विश्व भुवन की नाभि है। जनन का केन्द्र है। जीवनभर के प्राण धारण का मर्मस्थान है। उसी प्रकार सारे विश्व का जन्म स्थान, पोषण और मर्म स्थान यज्ञ ही है। यज्ञ के बिना न सृष्टि का जन्म सम्भव है, न पोषण, न जीवन धारण एवं न रक्षण ही।

वेद में कहा गया है कि परमेश्वर ने यज्ञभाव से अपने आपको समर्पित करके ही अपनी आहुति देकर सृष्टि रचना की। ब्रह्म ने यज्ञभाव से संकल्प किया। 'एकोऽहम् बहुस्याम' और यह ब्रह्म अनन्तान्त जीवों में अपनी ज्योति वितरित कर विश्वरूप हो गया। यज्ञ द्वारा विश्व की रचना की, इसलिए यज्ञ ही सृष्टि की योनि है। यही सृष्टि का नाभि है। इसी भाव को दर्शाते हुए भगवान् कहते हैं—

प्रारम्भ में यज्ञभाव के साथ सृष्टि रचते समय सृष्टिकर्ता ब्रह्माजी ने कहा, इस यज्ञतत्त्व से ही तुम फलो-फूलो, उन्नति करो। यह यज्ञ ही तुम्हारी सब कामनाओं

को पूरा करने वाला है। यदि यज्ञतत्त्व सृष्टि से निकाल दिया जाये तो सारी सृष्टि ध्वस्त हो जाये।

सारी सृष्टि में प्राकृतिक रूप से, स्वाभाविक रूप से यज्ञ चल रहा है। संसार के साढ़े छह अरब लोग, इससे सौ गुना अधिक पशु-पक्षी और हजारों गुणा अधिक अन्य जीव-जीवाणु, कीट-कीटाणु प्रतिदिन श्वसन क्रिया से विषैली गैस छोड़ते हैं। यदि ये विषैली गैस वायुमण्डल में ही रह जाये तो सारी मानव जाति एक दिन में ही मर जायेगी। (एक बंद कमरे के भीतर चार व्यक्तियों द्वारा छोड़ी हुई कार्बन डाइआक्साइड एवं नाइट्रोजन गैस से उन चारों की दम घुटकर मृत्यु हो जाती है।) शरीरों से निकलने वाली विषैली गैसों के अतिरिक्त करोड़ों चूल्हों की गैस, लाखों मिलों और फैक्टरियों की विषैली गैस, मोटर-ट्रकों की गैसों से जो वायुमण्डल दूषित होता है, उसमें एक दिन भी जीना दूभर हो जाये। किन्तु सृष्टि के यज्ञकर्ता यज्ञ भगवान् ने असंख्य-असंख्य जंगल के वृक्ष एवं पेड़-पौधे बनाये हैं जो इन विषैली गैसों को पी जाते हैं और वायुमण्डल को शुद्ध करके शुद्ध ऑक्सीजन मानव जाति को प्रतिदिन, प्रतिपल बिना मूल्य के दान करते हैं। हम क्षणभर के लिए भी कल्पना करें कि सृष्टि में इस विराट यज्ञ के बिना हमारा जीवन पलभर के लिए भी सम्भव नहीं होगा। इसी प्रकार मानव जीवन के लिए जल की व्यवस्था, खाने के लिए अन्न की व्यवस्था, ताप के लिए सूर्य की व्यवस्था, चलने-फिरने के लिए आकाश की व्यवस्था न हो तो जीवन असम्भव हो जाये।

सृष्टि में जितने जीव हैं वे सभी परस्पर एक-दूसरे के लिए उपयोगी हैं। कोई भी व्यर्थ या फालतू नहीं है। सभी सृष्टि के महायज्ञ में पूरक, सहायक एवं उपयोगी हैं। जैसे-सांप और बिच्छू जैसे विषैले जीव भी वायुमण्डल के विषों को पीकर प्राणवायु को शुद्ध करते हैं। सभी पशुओं का अपना-अपना महत्त्व है। पशुओं एवं छोटे जीवों में मानसिक विकास बहुत कम होता है इसलिए उनमें यज्ञ भावना प्राकृतिक प्रवृत्ति के रूप में होती है। पर मानव को अपने विवेक से यज्ञ भावना को चुनना पड़ता है। स्वार्थ और यज्ञार्थ में वह किसे चुने, इसके लिए वह स्वाधीन है। छोटे जीवों में यज्ञभाव स्वाभाविक एवं प्राकृतिक है किन्तु मानव का यज्ञभाव उसके स्वाधीन संकल्प से होने वाला कर्म है। इसलिए मानव का यज्ञकर्म पुण्य और स्वार्थकर्म पाप माना जाता है। पशु एवं अन्य छोटे जीव पाप-पुण्य से मुक्त हैं।

सारी सृष्टि में यज्ञतत्त्व काम कर रहा है। राष्ट्र जीवन, सामाजिक जीवन, परिवार जीवन, स्वयं का शरीर भी यज्ञतत्त्व पर टिका हुआ है, इसके अभाव में एक क्षण में नष्ट हो जाये।

यज्ञ शब्द का अर्थ—

यज्ञ 'यज्' धातु से बना है जिसका शाब्दिक अर्थ है पूजा, संहति और लोकोपकार (दान)। यज्ञ अपने से बड़ी इकाई के लिए लोकसंग्रह की भावना से आदर एवं कृतज्ञता के साथ किया गया समर्पण है। 'इदम् न मम्' यह मेरा नहीं, यह आपका है इसे आप स्वीकारें। वैदिक काल में यज्ञ एक अग्निकुण्ड में मंत्रोच्चारण के साथ देवों के निमित्त समिधायें एवं साकल्य समर्पित करने का एक पूजा अनुष्ठान था। इसे स्वीकार करते हुए भी गीता में भगवान् ने यज्ञ की विस्तृत व्याख्या करके इस प्राचीन शब्द को नयी गरिमा प्रदान की है। जहां वेद में यज्ञ का मुख्य अर्थ होम, हवन रूप-यज्ञ है वहां गीता में इसका अर्थ आत्म-समर्पण ही यज्ञ है। इदम् न मम का भाव है। अपने से बड़ी इकाई के लिए आत्म समर्पण ही यज्ञ का मूल भाव है। गीता में सम्पूर्ण जीवन को यज्ञमय बनाने का आदर्श रखा है। निष्काम भाव से, लोक संग्रहार्थ व प्रभु समर्पित बुद्धि से किया गया प्रत्येक कर्म ही यज्ञ है।

परब्रह्म परमेश्वर एक है किन्तु उसका सृष्टि में सृष्टि संचालक कार्य अनेक देवीय शक्तियों द्वारा संचालित होता है। जैसे—सूर्य-चन्द्र, इन्द्र, वरुण, अग्नि, वायु, विश्वेदेवा, अश्विनीकुमार आदि। ये सब देव सृष्टि के एक-एक विभाग के संचालक हैं और स्वयं ब्रह्म के अनुशासन में उसकी परमशक्ति द्वारा संचालित होते हैं। इसलिए ब्रह्म का जीवों को प्रत्यक्ष प्रथम परिचय देवशक्तियों द्वारा होता है। और जीव ब्रह्म को प्रत्यक्ष प्रथम पूजा इन देवशक्तियों के माध्यम से ही समर्पित कर सकता है। जिस प्रकार देश के भिन्न-भिन्न प्रदेशों के नगरों, ग्रामों व वनों तक में भारत सरकार का शासन चलता है किन्तु राष्ट्रपति या प्रधानमंत्री स्वयं आकर वहां शासन नहीं चलाते वरन् उसके प्रतिनिधि के रूप में राज्यपाल, मुख्यमंत्री, जिलाधीश, अनुमण्डलाधिकारी, ग्राम सरपंच आदि शासन चलाते हैं। पुलिस के सामान्य सिपाही के अनुशासन को मानना भारत सरकार का सत्कार और अनुशासन भंग करना भारत सरकार का तिरस्कार माना जाता है। इसी प्रकार देवशक्तियों की पूजा उनके प्रति श्रद्धा समर्पित करना, यजन करना, अन्ततोगत्वा ब्रह्म का ही पूजन माना जाता है। ये देव दिव्यता से प्रकाशमान हैं और सृष्टि के जीवों को अपने अमूल्य वरदान यज्ञभाव से देते हैं। यदि सूर्य का प्रकाश, वायु का प्राण, इन्द्र की वृष्टि आदि, जीवों के जीवन के लिए न मिले तो सब जीव सृष्टि का अन्त हो जाये अतः सब देवशक्तियों के प्रति श्रद्धापूर्वक अग्निहोत्र करने से मनुष्य उन देवशक्तियों के प्रति अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करता है। श्रद्धापूर्वक दिया हुआ पत्र, पुष्प, फल, जल अथवा मानसिक नमस्कार तक भी भगवान् स्वीकार करते हैं तब श्रद्धापूर्वक समर्पित हवि को भी देवशक्तियां अवश्य स्वीकार करती हैं। प्रश्न मानव मन की सच्ची भावना का है जो आज के युग में भी मनोवैज्ञानिक परीक्षणों से सिद्ध हो रहा है। हजारों मील दूर बैठे हुए व्यक्ति से हम मानसिक संचार

Mental wireless द्वारा वार्त्तालाप एवं विचारों का आदान-प्रदान कर सकते हैं। तब फिर देवशक्तियों को अग्निहोत्र द्वारा पवित्र मंत्रों द्वारा हम अपना श्रद्धाभाव सम्प्रेषण कैसे नहीं कर सकते। किसी अन्य विज्ञान से तुरन्त प्रमाणित हो या न हो किन्तु मनोविज्ञान से यह प्रत्यक्ष प्रमाणित है। यह मनोवैज्ञानिक सफलता भारत के योग दर्शन का ही एक अंग है। आजकल पश्चिम में इसे Para psychology या Meta psychology या Phychical research परामनोविज्ञान कहा जाता है।

गीता में भगवान् ने कहा है—

तुम लोग देवताओं की श्रद्धा भावना करो और देवता तुम्हारी कल्याण भावना करे। इससे परस्पर एक-दूसरे की भावना करते हुए तुम सब कल्याण को प्राप्त होओ।

यज्ञ से संतुष्ट देव तुम्हें इच्छित भोग देंगे और उन्हीं के दिये हुए भोगों में से जो व्यक्ति कुछ अंश उसी को समर्पित नहीं करता वह चोर है।

यज्ञ करके शेष बचे हुए भाग को खाने वाले सज्जन सब पाप से मुक्त हो जाते हैं। जो केवल अपने लिए पकाते हैं वे पाप ही खाते हैं।

अन्न से प्राणी उत्पन्न होते हैं। अन्न की उत्पत्ति वर्षा से होती है, वर्षा यज्ञ से होती है और यज्ञ कर्म से उत्पन्न होता है।

कर्मों को तू वेद से उत्पन्न किया हुआ जान। वेद ब्रह्म से उत्पन्न हैं। इसलिए सर्वव्यापी परब्रह्म सदा यज्ञ में प्रतिष्ठित है। इस प्रकार यज्ञ के द्वारा विश्वशक्तियों से जुड़ जाते हैं। यज्ञ के द्वारा मनुष्य की चेतना का विस्तार होता है। यज्ञ मनुष्य व दिव्यशक्तियों के मध्य परस्पर भावना करने का साधन है। यज्ञ जीवन के दोषों का निवारक है। यज्ञ से विश्व संतुलन समृद्ध होता है। यज्ञ भक्ति उत्पन्न करता है। यज्ञ ब्रह्म-प्रकटन का साधन है।

हे पार्थ! जो इस लोक में इस प्रकार प्रचलित सृष्टिचक्र का अनुवर्तन नहीं करता अर्थात् तदनुसार नहीं चलता वह इन्द्रिय-सुखों में रमण करने वाला पापायु व्यर्थ ही जीता है।

इस यज्ञ से सृष्टि चक्र संतुलित रहता है। प्रकृति से हम जो पोषण पाते हैं उससे उसकी जो क्षति होती है उसकी पूर्ति यज्ञ के द्वारा करते हैं जिससे सृष्टि का संतुलन बना रहता है। इसलिए हमारे यहां प्रत्येक गृहस्थ के लिए पंच महायज्ञ का विधान है।

ब्रह्मयज्ञ—इसे स्वाध्याय यज्ञ या ब्रह्म यज्ञ या ऋषि-तर्पण यज्ञ कहा जाता है। इसे ही गीता में ज्ञान यज्ञ कहा है।

फिर देव यज्ञ, पितृ यज्ञ, नृ यज्ञ, भूत यज्ञ।

इसे हमने प्रारम्भ से ही समझा। हमने सृष्टि को परब्रह्म का विराट रूप या सगुण-साकार रूप माना। यानी पिता माना और प्रकृति को मां। माता-पिता को हम भोग नहीं सकते। हम उनसे पालन मांगने के अधिकारी हैं अतः हमने प्रकृति का दोहन किया, शोषण कभी नहीं। और यह बात हमारे जनजीवन में घोर वन में रहने वाले वनवासी से लेकर ग्रामवासी, नगरवासी तक व्याप्त है। इसलिए हमारी नदियों के प्रति, पहाड़ों के प्रति, वृक्षों के प्रति यानी पूरे पर्यावरण के प्रति पूज्य बुद्धि है। नदी को माता माना, पहाड़ों को पूज्य माना अतः उन पर तीर्थ विकसित किये एवं मानव जीवन धारण के लिए प्रकृति की जो आवश्यक रूप से थोड़ी क्षति हो जाती है उस क्षतिपूर्ति के लिए हम पंच महायज्ञ की परम्परा द्वारा इसकी भरपाई करते आ रहे हैं। हमारे देश का विज्ञान अहिंसक रहा है। प्रकृति का विध्वंसक कभी नहीं बना वरन् पर्यावरण का पोषक एवं संरक्षक बना है। इस दृष्टि के कारण अरण्यों की, नदियों की, पहाड़ों की, मानवेतर प्राणियों की रक्षा होती आयी है।

पर सेमिटिक परम्परा में बाइबिल की मान्यता भिन्न है। वे सारी सृष्टि में द्वैत देखते हैं। सारी सृष्टि मनुष्य के उपभोग के लिए है। उनके लिए प्रकृति वरेण्य नहीं, माता नहीं वेश्या है, भोग्या है, दासी है। मानवेतर जीव सृष्टि से लेकर सारी सृष्टि भोग्या है, इनकी नैतिकता केवल मनुष्य तक, वह भी अपने सम्प्रदाय तक सीमित है। इस द्वैत दृष्टि ने पर्यावरण की बड़ी क्षति की है। इसका प्रभाव पश्चिम के दर्शन जगत् और विज्ञान जगत् पर भी पड़ा।

सत्रहवीं सदी तक पश्चिम में विज्ञान का विकास नहीं होने के कारण प्रकृति की विशेष क्षति नहीं हो सकी। पश्चिम की साधनहीनता व विज्ञानहीनता से प्रकृति की, पर्यावरण की रक्षा होती आयी। पर 17वीं शताब्दी में विज्ञान के विकास ने और बाइबिल की इस मान्यता से प्रकृति के शोषण की खुली छूट दी। अंधाधुंध प्रकृति का शोषण हुआ। फलतः उसके दुष्परिणाम सामने आये। बाद में विज्ञान के और विकास ने विशेषकर क्वांटम Theory, Relativity theory ने यह सिद्ध कर दिया कि हमारी सृष्टि एक नियमबद्ध जड़ यंत्र नहीं है। वरन् सारी सृष्टि में एक Cosmic mind है, एक गणितज्ञ है फलतः सारी सृष्टि में एक क्रम है, समन्वय है, संतुलन है, ताल है, लय है, इसको क्षति पहुंचाने से मानव अस्तित्व के लिए खतरा उत्पन्न हो गया है। अतः प्रकृति का अंधाधुंध शोषण तुरन्त बन्द होना चाहिए। प्रकृति को इतना पालतू पशु नहीं बनाया जा सकता जो हर समय हमारी आज्ञा में चले। अब वे मानने लगे हैं प्रकृति में जो संतुलन है उसको नहीं बिगाड़ते हुए, उसके ताल और लय को बिना भंग किये उसकी आज्ञा से ही, हम पोषण पाने के अधिकारी हैं। इस बात को विज्ञान और पश्चिम के सुलझे हुए मनीषी स्वीकारने लगे हैं।

पर पश्चिम के साथ कठिनाई यह है कि आज उनका सारा विकास, विज्ञान की उपलब्धियां, चमत्कार सब प्रकृति के शोषण पर खड़ा है। और वे अपने मनमाने सुख-भोग-विलास के इतने अभ्यस्त हो गये हैं उससे पीछे जाना उनको शक्य नहीं लगता है। इसलिए बार-बार की चेतावनियों के बाद भी वे अपनी इस भोगवादी जीवनशैली से उपरामता के लिए प्रस्तुत नहीं हैं। उनका विकास वैसा ही बना रहे इसके लिए उन्होंने अविकसित राष्ट्रों को अपनी आकांक्षा की पूर्ति के लिए शिकार बनाया है, पर यह स्थिति बहुत दिनों तक चल नहीं सकती। 9-16

अभ्युदय और निःश्रेयस, दोनों की प्राप्ति का साधन यज्ञ है। उस यज्ञ चक्र का निरन्तर प्रवर्तन होना चाहिये—यह भगवान् श्रीकृष्ण का अभिप्राय है।

तब प्रश्न उठेगा कि क्या हर मनुष्य को कर्म करना ही चाहिये? यज्ञ तो कर्माश्रित है। तो फिर प्रारम्भ में जो दो निष्ठा में एक निष्ठा कर्मत्याग की बात क्या गलत है? इसका उत्तर भगवान् दो श्लोकों में देते हैं—

जो मनुष्य केवल आत्मा में ही रमण करने वाला है, आत्मा में ही तृप्त तथा आत्मा में ही संतुष्ट हो उसके लिए इस संसार में न तो कर्म करने से कोई प्रयोजन होता है और न कर्म न करने से प्रयोजन होता है तथा इसका समस्त प्राणियों के साथ कोई स्वार्थ सम्बन्ध नहीं होता उसके लिए कर्तव्य रूप से कोई कर्म शेष नहीं रहता—श्लोक 17 व 18।

कर्म तो तभी होता है जब अपनी रति और प्रीति, सुख-सन्तुष्टि अपने से बाहर विषयों में, वस्तुओं में, व्यक्तियों में पाते हैं तो उनकी प्राप्ति के लिए कर्म करना पड़ता है। जब हम सुख पत्नी या पति में, बच्चों में, भाई-बहन, मित्रों में पाते हैं यानी सुख का केन्द्र अपना शरीर, बाहरी विषय व व्यक्ति हो तब हम कर्म करते हैं। लोकैषणा, पुत्रैषणा, वित्तैषणा के लिए कर्म करना पड़ता है, पर जिसकी रति भी स्वयं से हो, तृप्ति भी स्वयं से हो, तुष्टि भी स्वयं से हो यानी जो आत्म तृप्त, आत्म-सन्तुष्ट है, कृत-कृत्य है, प्राप्त-प्राप्तव्य है उनके लिए कर्म का विधान नहीं है। क्योंकि उसे आत्मा तो नित्य प्राप्त ही है। हां, जिनका सुख का केन्द्र बाहर के विषयवस्तु हैं उन्हीं के लिए कर्म का विधान है। जिन्हें बाह्य विषय सुखद, रमणीय प्रतीत होते हैं वे ही उन्हें प्राप्त करने के लिए कर्म में प्रवृत्त होते हैं। पर ज्ञानी के लिए शास्त्र न कर्म करने की आज्ञा देता है और न ही कर्म का निषेध है, उनके जीवन विचरण की न कोई विधि है, न कोई आज्ञा है, न ही निषेध। वे तो विधि निषेध के परे, उनके लिए कोई विधि-निषेध नहीं है। वे चाहें तो लोक मंगल के लिए कार्य करें अथवा न करें। यानी कर्तव्य रूप से उन्हें कर्म प्राप्त नहीं है।

ज्ञानी को कर्म के लिए छूट है किन्तु अर्जुन की यह स्थिति नहीं है, वह तो मुमुक्षु है, उसे अभी तत्त्व ज्ञान नहीं हुआ है इसलिए उसे कर्म करने की प्रेरणा देते हुए कहा—तू अनासक्त होकर कर्म कर। इससे चित्त शुद्ध होगा एवं इससे तू परमपद का अधिकारी बनेगा। राजा जनक कर्म के द्वारा ही परमसिद्धि को प्राप्त हुए।

फिर परमज्ञानियों के लिए भले ही कोई कर्तव्य शेष नहीं रहता हो, तो भी वे लोकसंग्रह की दृष्टि से कर्म करते हैं इसलिए भी तू कर्म कर।

लोग सर्वोच्च पद पर बैठे हुए लोगों को आदर्श मानकर अनुसरण करते हैं। यानी छोटे लोग बड़े को देखकर आचरण करते हैं। वे अन्तर्योग्यता को तो परख नहीं पाते वे तो बाह्य आचरण का अनुसरण करेंगे अतः श्रेष्ठ पुरुष ज्ञान प्राप्त होने के बाद यदि कर्म करना छोड़ दे तो साधारण लोग भी वैसे ही कर्म करना छोड़ देंगे और तमोगुणी हो जायेंगे। उनका विकास रुक जाएगा और पतन को प्राप्त होंगे। इसलिए श्रेष्ठ पुरुष लोगों के सामने उदाहरण बने। आदर्श प्रस्तुत करने के लिए कार्य करे।

हमारे वर्तमान समाज की स्थिति इसलिए बिगड़ रही है क्योंकि सर्वोच्च या बड़े पदों पर बैठे हुए लोग भ्रष्ट हैं, गलत काम कर रहे हैं उसके प्रभाव से सारा देश भ्रष्ट हो रहा है। सर्वोच्च सत्ता भ्रष्ट है तो सारा देश नष्ट है। भ्रष्टाचार धुएं की तरह नीचे से ऊपर नहीं जाता बल्कि झरने की तरह ऊपर से नीचे आता है। चपरासी और क्लर्क के कारण नहीं बल्कि बड़े अधिकारियों और नेताओं के कारण भ्रष्टाचार फैलता है। अगर प्रधानमंत्री, मुख्यमंत्री आदि बड़े लोग भ्रष्ट होंगे तो सारा समाज भ्रष्ट होगा। तब रिश्वत न लेने वाला बेवकूफ समझा जायेगा।

इसलिए गीता कहती है अच्छे लोगों को अच्छा उदाहरण देना चाहिये। अगर अच्छे लोग काम करना बंद कर देंगे तो चारों तरफ अव्यवस्था फैल जायेगी, समाज नष्ट हो जायेगा। इसलिए भगवान् स्वयं अपना उदाहरण दे रहे हैं। भगवान् को तो सब कुछ प्राप्त ही है फिर भी कर्म कर रहे हैं। यदि मैं कर्म करना छोड़ दूं तो मेरे देखा-देखी सब लोग निकम्मे हो जाएंगे और कर्तव्यों की गड़बड़ी से प्रजाओं का नाश हो जाए। इसलिए जो कर्तव्य कर्म को त्यागता है वह मानो सारी मानवता का हत्यारा बनता है।

जनक, अष्टावक्र, याज्ञवल्क्य, शुकदेव, श्रीराम, श्रीकृष्ण, शंकराचार्य, वर्तमान युग में रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ इन सबने लोकसंग्रह, लोक शिक्षण के लिए, समाज में मर्यादा स्थापना के लिए कर्म किया अतः ये सब कर्मयोगियों की भी परम्परा है और ज्ञानियों की भी परम्परा तो है ही।

अतः कर्म किसी भी स्थिति में न छोड़ें। अज्ञानी तो आसक्त होकर कर्म करते हैं ज्ञानियों को अनासक्त होकर कर्म करना चाहिये। अज्ञानियों में बुद्धिभेद नहीं करना चाहिये। जब तक ऊंची श्रद्धा को पकड़ने की पात्रता उसमें निर्माण न हो तब तक निचली श्रद्धा नहीं तोड़नी चाहिये। क्योंकि ऊंचे आदर्श को पकड़ नहीं पायेंगे, उसमें स्थिर हो नहीं पायेंगे और निचली श्रद्धा आपने तोड़ दी फलतः ऊतो भ्रष्ट तत भ्रष्ट वाली स्थिति हो जाएगी और पतन को प्राप्त होंगे। अतः मूर्तिपूजा, तीर्थयात्रा, गंगास्नान आदि आध्यात्मिक जीवन के प्राथमिक सोपान हैं उससे श्रद्धा नहीं तोड़नी चाहिये। जैसे—

पाथर पूजे हरि मिले तो मैं पूजूं पहाड़।
ताते तो चाकी भली पीस खाय संसार।।
या मन चंगा तो कठौती में गंगा।

हम पत्थर की पूजा नहीं करते। हम पत्थर में ठाकुर की पूजा करते हैं। मन को चंगा करने के लिए गंगास्नान, मूर्ति पूजा, जप, भजन आदि साधन हैं।—19-25

अतः अब तक जो लोग अनासक्त नहीं हुए हैं—किन्तु अपने साधन में लगे हुए हैं, उनके मन में बुद्धिभेद उत्पन्न नहीं करना चाहिये। स्वयं सटीक रहते हुए उनको अनुकूल कर्मों में प्रयुक्त रखें।—26

अब बताते हैं कर्म कैसे होते हैं। प्रकृति के तीन गुणों से ही शरीर और संसार बना है। और इन गुणों के द्वारा शरीर और संसार परिचालित होता है। तीन गुण हैं सत्त्व, रज और तम। इन गुणों से प्रेरित होकर ही हम कर्म करते हैं। वस्तुतः प्रकृति के तीन गुण ही कर्म करते हैं आत्मा तो उसका साक्षी, द्रष्टा मात्र है। अतः गुण-गुण में वर्त रहे हैं अतः ज्ञानी कर्मों का आरोप अपने ऊपर नहीं करता है। पर जो अज्ञानी है वह अपने को प्रकृति से पृथक् नहीं कर पाता है। यानी जो आत्मा-प्रकृति में, द्रष्टा और दृश्य में भेद नहीं कर पाता वह गुणों से मोहित होकर कर्मों में आसक्त होकर कर्म करता है अतः उनमें बुद्धिभेद पैदा नहीं करें। क्योंकि वे ज्ञान को पकड़ नहीं सकेंगे, कर्म को छोड़ बैठेंगे फलतः तमोगुण में जाकर पतन को प्राप्त होंगे।

तुलसी बाबा ने कहीं कहा है—

ब्रह्मज्ञान उपजो नहीं, कर्म दियो छिटकाय।
ऐसी आत्मा सहज नरक में जाय।।27-29

अब भगवान् अर्जुन को बता रहे हैं उसे कैसे कर्म करना चाहिये जो श्रेय पथ के पथिक हैं उसके कर्म करने की विधि क्या है? गीता का तीसवां श्लोक हमें काम करने की पद्धति सिखाता है।

कार्य तो प्रकृति के गुणों के द्वारा होते हैं, गुण-गुण में वर्त रहे हैं पर प्रकृति स्वतंत्र तत्त्व नहीं है वह तो परमेश्वर के अधीन है। इसलिए इस प्रकृति के स्वामी प्रभुजी है, जो सबके स्वामी हैं उनका होकर मैं कार्य करूं। मैं प्रभु का होकर कार्य करूं यही 'अध्यात्मचेतसा' है। स्वयं को प्रभु का मानकर काम करे। प्रभु के लिए कार्य करे। प्रभु ने अपना कार्य तुमको सौंपा है। तुम प्रभु का दिया हुआ कार्य प्रभु की प्रसन्नता के लिए कर रहे हो। अपने लिए नहीं कर रहे हो। इस प्रकार जो प्रभु के प्रति श्रद्धा रखते हुए, प्रभु समर्पित बुद्धि से कर्म करता है वह कर्मों के बंधन से मुक्त हो जाता है। और जो प्रभु के प्रति दोष दृष्टि रखते हैं, प्रभु समर्पित बुद्धि से कर्म नहीं करते वे मूढ़ नष्ट हो जाते हैं। (श्लोक 30-32)

फिर भगवान् कहते हैं ज्ञानिवृन्द भी अपनी प्रकृतिवश यानी पूर्व स्वभाववश, पूर्व संस्कारों के अनुसार, अपने शेष प्रारब्ध के अनुसार ही कार्य करते हैं। फिर तुम जैसे (अज्ञानी) के हठ का क्या वश चलेगा? यानी भगवान् कहते हैं तू अपनी प्रकृति के वशीभूत होकर युद्ध करने के लिए बाध्य होगा। तू तो गांडीव को धिक्कारने पर अपने भ्राता युधिष्ठिर को भी नहीं छोड़ पाएगा। ज्ञान के अनन्तर ज्ञानियों में जो भेद होता है कोई तो लोकसंग्रही कार्य करते रहते हैं और कोई कर्म त्याग कर निवृत्ति में चले जाते हैं, शरीर धारण करने तक की चेष्टा तक सीमित हो जाती है। इस भेद का कारण उनकी पूर्व प्रकृति, पूर्व का स्वभाव, पूर्व का अभ्यास, संस्कार और शेष प्रारब्ध के अनुसार होता है। जब ज्ञानियों की यह स्थिति है तब अर्जुन का युद्ध न करने का निश्चय कहां टिक पायेगा। (श्लोक 33-34)

इसलिए स्वधर्म का पालन ही श्रेयस्कर है। अपना स्वधर्म गुण रहित भी हो तो भी वह हमारे लिए कल्याणकारी है, दूसरों का स्वधर्म श्रेष्ठ भी दिखे, अधिक गुणवाला भी लगे तो भी वह हमारे लिए हितकारी नहीं हो सकता। वह हमारे स्वभाव के अनुकूल न होने से अन्ततोगत्वा भयावह ही सिद्ध होगा। इसलिए स्वधर्म पालन में मरना भी श्रेष्ठ, बजाय परधर्म को स्वीकारने के। स्वधर्म का अर्थ वर्ण एवं आश्रम द्वारा प्राप्त अपना सहज कर्तव्य। अर्जुन का कर्तव्य सत्य व न्याय की प्रतिष्ठा के लिए धर्म युद्ध करना है न कि अपने स्वधर्म को त्याग कर ब्राह्मण धर्म या संन्यास धर्म पालन करना है। (श्लोक 35)

अब अर्जुन का प्रश्न है स्वधर्म का इतना महत्त्व होने के बाद भी मनुष्य न चाहते हुए भी पाप कर्म में क्यों प्रवृत्त हो जाता है? हमारे मन में पाप की वृत्ति क्यों जागती है।

पाप कर्म की ओर प्रवृत्ति क्यों होती है? क्यों हम पाप कर्म करते हैं? इस सन्दर्भ में कुछ लोग पूर्व जन्म के प्रारब्ध को दोषी बताते हैं, तो कुछ लोग

परिस्थितियों को, कुछ लोग संग को, तो कुछ लोग काल की प्रबलता को, तो कुछ लोग ईश्वर को।

भगवान् पाप की प्रेरणा नहीं देते। वे तो मंगल की ही प्रेरणा देते हैं। इस सन्दर्भ में दुर्योधन का एक वचन है—मैं जानता हूं कि धर्म क्या है, लेकिन धर्म करने में मेरी प्रवृत्ति नहीं है। अधर्म भी मैं जानता हूं किन्तु अधर्म से निवृत्ति नहीं होती। हृदय में बैठे हुए देवता के द्वारा प्रेरित होकर जैसा वह कहता है, मैं वैसा ही करता हूं। दुर्योधन के मन का यह देवता प्रभु नहीं बल्कि काम है। ऊपर मैं जो पाप कर्म के अन्य कारण गिनाये हैं वे भी कारण हो सकते हैं, पर गौण कारण हैं, मूल कारण मनुष्य की जो कामना है (काम, स्वार्थ) वही मनुष्य को पाप कर्म में प्रेरित करती है। व्यक्तिगत लाभ-लोभ एवं स्वार्थ से प्रेरित होकर मनुष्य पाप कर्म में प्रवृत्त होता है। और यह रजोगुण से उत्पन्न होता है।

सबसे पहले पाप मन व बुद्धि में आता है, फिर वाणी में आता है, फिर इन्द्रियों के द्वारा कर्म के स्तर पर उतरता है। बुद्धि ठीक समझती है, मन चाहता है और इन्द्रियां करती है। (श्लोक 36-37)

अपना जो स्वार्थ है, या काम है, या व्यक्तिगत लाभ की जो भावना है वह ज्ञान को उसी प्रकार ढक देती है, जिस प्रकार धुएं से अग्नि ढकी रहती है, मैल से दर्पण तथा जिस प्रकार जेर से गर्भ ढका रहता है।

काम की तुलना लाख से की गई है जिसमें एक बार आग लगने पर पूरी तौर पर ही जलकर शांत होता है। काम को भोगने से काम की कभी तृप्ति नहीं होती वरन् वह और-और उद्दीप्त होता जाता है जैसे घी के संयोग से अग्नि बुझती नहीं वरन् और अधिक-अधिक प्रदीप्त हो जाती है।

काम की पूर्ति से राग, आसक्ति, लोभ बढ़ते हैं। कामना की पूर्ति में बाधा की आशंका से भय होता है। कामना की पूर्ति का सुख अपने से अधिक बलवान व्यक्ति या शक्ति छीने तो भय, कामना पूर्ति का सुख अपने से दुर्बल व्यक्ति या शक्ति छीने तो क्रोध। इन सब भावों के मूल में काम है।

वस्तुतः हमारे यहां वैध काम की निन्दा नहीं की गई है। काम हमारे यहां एक पुरुषार्थ है, यहां काम का तात्पर्य केवल यौन इच्छा से नहीं वरन् सभी प्रकार की कामनाओं से है।

कामनाओं की पूर्ति अविवेकपूर्वक, अशास्त्रीय रीति से करते हैं तो वह कभी तृप्त नहीं होती। भागवत में आया है एक पुरुष को त्रिभुवन की सारी सुन्दरियां, धन-वैभव मिल जाये तो भी उसकी तृप्ति नहीं होती। इतिहास एवं पुराण ऐसे उदाहरणों से भरे पड़े हैं। और अगर अविवेकपूर्वक, अशास्त्रीय ढंग से काम को,

कामनाओं को दबाएंगे तो वह भी वांछनीय नहीं है क्योंकि वे अनेक प्रकार की शारीरिक, मानसिक कुंठाओं और रोगों को जन्म देंगी।

कामनाओं से तृप्ति एवं उपरामता तभी सम्भव है जब उसको हम विवेक के, शास्त्र के सांचे-ढांचे में ढाल लेवें। तब कामनाओं से तृप्ति भी प्राप्त होगी और समय पर उसकी असारता जानकर उससे उपराम भी हो जाएंगे। इसलिए गृहस्थाश्रम की व्यवस्था जहां वैध रीति से, धर्म की मर्यादा में कामनाओं का उपभोग होता है। एवं प्रकृति माता में सबकी आवश्यकताओं की पूर्ति की क्षमता तो है पर एक की भी इच्छा पूर्ति की क्षमता प्रकृति में नहीं है क्योंकि आवश्यकता सीमित होती है पर इच्छायें अनन्त। समय रहते कामनाओं से उपरामता प्राप्त हो जाये इसके लिए ही गृहस्थ आश्रम व्यवस्था है। जब हम कामनाओं का विवेकपूर्वक भोग करते हैं तो एक समय पश्चात् इसकी असारता स्पष्ट होने लगती है और उससे उपरामता आ जाती है।

और जिनको प्रारम्भ से ही विवेक दृष्टि प्राप्त है, जिनकी पूर्व जन्म की साधना है, जो पूर्व जन्म में पूरी नहीं हो सकी, या जो जीवन में किसी बड़े महान् लक्ष्य को लेकर चल रहे हैं, जो मानसिक दृष्टि से उच्च धरातल पर स्थित हैं वे सीधे कामनाओं का शमन करने में समर्थ हैं।

जैसे—रामकृष्ण परमहंस, स्वामी रामतीर्थ, विवेकानन्द, शुकदेव, शंकराचार्य, बुद्ध, महावीर आदि। या देश की स्वाधीनता के लिए प्राण की आहुति देने वाले विप्लवी बन्धु—रामप्रसाद बिस्मिल, भगतसिंह, आजाद, उशा उल्ला खां आदि। वाचस्पति मिश्र-भामती साहित्य सेवा के लिए, वैज्ञानिक नये-नये आविष्कारों के लिए समर्पित हो जाते हैं।

काम की उत्पत्ति

अपने से भिन्न किसी वस्तु, व्यक्ति या स्थिति में रमणीयता का अनुभव ही काम है। अपने से भिन्न अवस्था या वस्तु में जब सत्यत्व का, रमणीयत्व का, सुख का बोध हो। उसमें सम्यकता की कल्पना होती है तब उसे प्राप्त करने की कामना मन में आती है।

तो जो विवेकी हैं, जिनकी पूर्व जन्म की साधना है, उनकी संसार व संसार की वस्तुओं में सत्यत्व या रमणीयत्व बुद्धि नहीं होती। और जो धर्म की मर्यादा में कामनाओं का उपभोग विवेक शक्ति को जागृत रखते हुए करते हैं तो धीरे-धीरे उन्हें अनुभव होने लगता है सुख बाहर नहीं उसका स्रोत स्वयं अपने अन्दर ही है। बाह्य विषय क्षणिक शांति दे सकते हैं शाश्वत शांति नहीं। अतः कामनाओं से स्वतः उपरामता आ जाती है।

तो काम के शमन की विधि क्या है?

साधारण तौर पर हम काम को अपना मित्र समझते हैं। क्योंकि हमको लगता है यह हमें सुख देगा, यश देगा। पर कामनायें शत्रु हैं—मगर मित्र के रूप में आती है और दु:ख की परम्परा को अपने पीछे छिपा कर लाती है। जो काम को शत्रु नहीं मानेंगे वे उससे बचेंगे कैसे? अत: काम ज्ञानियों का तो नित्य वैरी है। यह मित्र जैसा लगता है इसलिए और भी खतरनाक शत्रु है। यह अनेक रूपों में आता है—कभी वह सात्त्विक रूप धारण करके आता है। वह मित्र बन सकता है—शत्रु बन सकता है। उपकारी बनकर आता है, धोखा देकर जाता है। यह बहुत से रूप धारण कर सकता है। सावधान! इसे पहचानना भी कठिन है।

यह समझें कि अपने शत्रु को कैसे जीता जा सकता है। जब तक यह समझ में न आये कि शत्रु रहता कहां है तब तक उस पर आक्रमण नहीं किया जा सकता। तब तक उस पर विजय प्राप्त करना कठिन है। शत्रु के निवास स्थान का बोध होना आवश्यक है।

काम—इन्द्रियों में रहता है, मन में रहता है, बुद्धि द्वारा समर्थित होता है। पांचों ज्ञानेन्द्रियां, मन और बुद्धि काम के अधिष्ठान हैं।

शरीर से इन्द्रियां (ज्ञानेन्द्रियां-कर्मेन्द्रियां) श्रेष्ठ हैं। बली हैं, सूक्ष्म हैं। इन्द्रियों से मन, मन से बुद्धि और बुद्धि से आत्मा सूक्ष्म, श्रेष्ठ व बली है।

जब हम किसी भी पाप कर्म में प्रवृत्त होते हैं तो प्रारम्भ में बुद्धि उसका प्रतिवाद करती है, पर जब हम विवेक को दबा देते हैं तो वह प्रतिवाद करना बंद कर देती है। बाद में वह उसकी समर्थक बन जाती है। और बुद्धि के समर्थन बिना दीर्घकाल तक पाप कार्यों में प्रवृत्ति नहीं होती। बुद्धि के नाश से ही हमारा पतन होता है। दूसरे अध्याय में भी आया विषयों के प्रति ममत्व बुद्धि होने के कारण विषयों का ध्यान या चिन्तन, उससे कामना, कामना में बाधा से क्रोध, क्रोध से सम्मोह, सम्मोह से स्मृति विभ्रम, उससे बुद्धि नाश और बुद्धि नाश से पतन होता है।

हिन्दू धर्म अकेला ऐसा धर्म है जिसमें बुद्धि की इतनी महिमा है। किसी दूसरे धर्म में नहीं कहा गया कि बुद्धि के नाश से मनुष्य का पतन होता है। शुद्ध बुद्धि की प्रतिष्ठा से कल्याण होने की बात अन्य किसी भी धर्म ने नहीं कही। अपना धर्म बुद्धि और श्रद्धा, दोनों को समन्वित करता है। बुद्धि और श्रद्धा का समन्वय करके मनुष्य के उत्थान का मार्ग प्रशस्त करने वाला धर्म गीता धर्म है।

सबसे सूक्ष्म, बली एवं श्रेष्ठ आत्मा है। हमारा लक्ष्य आत्मप्राप्ति है तो बुद्धि आत्मोन्मुखी होवे एवं आत्मा द्वारा नियंत्रित बुद्धि, बुद्धि द्वारा नियंत्रित मन होना चाहिये। गलत संकल्प को बुद्धि का समर्थन प्राप्त नहीं होना चाहिये;

मन से नियंत्रित इन्द्रियां होवें तभी हम काम पर विजय प्राप्त कर आत्मलाभ कर सकेंगे।

जब शरीर इन्द्रियों द्वारा नियंत्रण में होवे, इन्द्रियां मन द्वारा नियंत्रण में होवे, मन—बुद्धि द्वारा नियंत्रित होवे, बुद्धि को आत्मोन्मुखी करके ही हम कामरूपी दुर्जय शत्रु को जीत सकते हैं। क्योंकि तब ही हम आत्मतत्त्व में पहुंचते हैं, चेतन तत्त्व में पहुंचते हैं। चेतना में पहुंचने के बाद, आत्मा में पहुंचने के बाद वहां कोई पराया रहता ही नहीं तो कामना कहां टिकेगी। कामना तो अपने से परे किसी दूसरे में होती है और जब दूसरा कोई बचा ही नहीं तब न काम है, न राग है, न लोभ है, न भय है और न क्रोध है, न द्वेष है।

इस प्रकार हम आत्मा के द्वारा अर्थात् शुद्ध बुद्धि द्वारा अपने मन को नियंत्रित कर कामरूपी शत्रु को परास्त करें। शुद्ध आत्मतत्त्व के साथ एक होकर, अभिन्न होकर हम कामरूपी शत्रु का वध करें। काम का वध करके ही हम पाप से बच सकते हैं। क्योंकि पाप का प्रेरक काम है। तो परमात्मा का सहारा लेकर काम का वध करें। (श्लोक 38-43)

भारत के उन्नयन में औपनिवेशिक मानसिकता ही सबसे बड़ी बाधा है। भारत की समस्याओं का समाधान इसलिए नहीं निकल पा रहा है, क्योंकि हम प्रत्येक समस्या को पश्चिम के दृष्टिकोण से देखने के आदी हो चुके हैं, जबकि आवश्यकता है कि हम अपनी समस्या को अपनी दृष्टि से देखें। औपनिवेशिकता हम पर इस कदर हावी है कि अपनी भाषा, अपना ज्ञान, अपनी संस्कृति, अपनी परम्पराएं हमें पश्चिम के मुकाबले निर्बल जान पड़ती हैं। यह भ्रम दूर करना आवश्यक है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने इस खतरे को भांपकर 1930 में ही इस ओर इशारा किया था। उन्होंने लिखा था कि ब्रिटिश आक्रमण के साथ आई औपनिवेशिक दासता सबसे बड़ी चुनौती है। इसे देश से भगाना अधिक कठिन होगा, क्योंकि जब भी हम इसके विरुद्ध खड़े होंगे, यह रूप बदल लेगी। वहीं, 1931 में कृष्णचंद्र भट्टाचार्य भी लिखते हैं—'राजनीतिक दासता दिखाई पड़ती है, लेकिन सांस्कृतिक दासता दिखाई नहीं पड़ती और इसे हम बिना किसी वाद-विवाद के स्वीकार कर लेते हैं।

लोकेन्द्र सिंह, वरिष्ठ पत्रकार

अहिंसा दर्शन और गीता

'मम देशो भुवनत्रय' वसुधैव कुटुम्बकम्। शान्ति हमारा राजनीतिक नारा नहीं, वरन् जीवन का आदर्श, जीवन की साधना रही है। सारे विश्व को अपनाने की भावना से 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्'। सब प्रेम से एक परिवार की तरह रहें, सबको अपनायें, कोई गैर नहीं यह वैदिक भावना है, भारतीय भावना है।

इसलिए हमने किसी देश पर कभी आक्रमण नहीं किया। न किसी देश की स्वाधीनता छीनी, न किसी देश के धर्म एवं संस्कृति पर डाका डाला, न किसी देश की मां-बहन की इज्जत पर हाथ डाला। हमने तो संस्कृति का, धर्म का, श्रेष्ठ संस्कारों का दान सहर्ष दिया।

पर हमारे ऋषि व्यवहार जीवी थे। वे जानते थे सृष्टि द्वन्द्वमयी है। अतः इसमें दैवी और आसुरी प्रकृति, दोनों प्रकार के लोग होते हैं। दैवी प्रकृति के लोगों के जीवन में ही प्रेम व विवेक चरितार्थ होते हैं। इनके जीवन में ही प्रेम, विवेक, दया, अहिंसा फलीभूत होते हैं। पर जो आसुरी प्रकृति के लोग हैं उनके जीवन में प्रेम, विवेक, अहिंसा चरितार्थ नहीं होते हैं। ये दुर्बलों को सताना उनका शोषण करना अपना जन्मसिद्ध अधिकार समझते हैं।

दो समान बलशाली आपस में नहीं टकराते हैं। वे परस्पर में गुर्राकर रह जाते हैं। पर किसी एक का दुर्बल पड़ना ही दूसरे को क्रोध का अवसर, आक्रमण का अवसर प्रदान करता है। यह अवसर न दिया जाए इसलिए भी बलोपासना की आवश्यकता है। क्योंकि आसुरी प्रवृत्ति बल के द्वारा ही शमित रहती है।

फिर चेतना के तीन पहलू हैं—ज्ञानात्मक, रागात्मक एवं संकल्पात्मक। इन तीनों के समुचित विकास से ही मानव का सर्वाङ्गीण विकास सम्भव है। इसलिए भारतीय वैदिक संस्कृति में ज्ञान, भक्ति और कर्म Head, heart and hand अर्थात् क्षात्रतेज और ब्रह्मतेज के समन्वित एवं समुचित विकास के द्वारा मानव अपना, समाज एवं राष्ट्र का विकास कर सकता है। क्षात्रतेज के बल पर, दण्ड शक्ति के बल पर आसुरी शक्ति दमित एवं शमित रहती हैं।

क्षात्रतेज के अभाव में आपका तत्त्वज्ञान कितना भी श्रेष्ठ क्यों न हो, आदर्श कितना भी महान् क्यों न हो, आप चाहे जितनी सचाई पर क्यों न हों जब तक उसके पीछे बल नहीं खड़ा होता है तब तक वह किसी को प्रभावित नहीं कर सकता, स्वीकार योग्य नहीं बनता।

तो जब तक हम क्षात्रतेज और ब्रह्मतेज से संयुक्त थे तब तक किसी ने हम पर आक्रमण करने का साहस नहीं किया। वरन् हमने वृहत्तर भारत एवं सारे विश्व में सांस्कृतिक साम्राज्य की स्थापना की।

वैदिक परम्परा अहिंसा को परम धर्म तो मानती है पर वह केवल संन्यासियों के लिए जो लोक संग्रह से भी सुदूर हैं वे ही अहिंसा को परम धर्म के रूप में स्वीकारते हैं। और जो संन्यासी हैं, पर लोक संग्रह-लोक संस्कार के लिए सचेष्ट हैं वे स्वयं तो दण्ड नीति या हिंसा का अवलम्बन नहीं लेते पर राज शक्ति के सहारे दुष्टों को दण्डित करवाते हैं। इस कार्य के लिए वे राज शक्ति को प्रेरित करते हैं जैसे—विश्वामित्र, अगस्त्य, वेद व्यासजी, मार्कण्डेय मुनि, लोमश महर्षि, नारद, चाणक्य, पतंजलि, महर्षि विद्यारण्यक, स्वामी समर्थ रामदास, प्राणनाथ स्वामी, तुलसीदास। 1857 की क्रान्ति में महर्षि दयानन्द स्वाधीनता आन्दोलन में स्वामी विवेकानन्द आदि ने प्रेरित किया। आपत काल में आपत धर्म के रूप में गुरु गोविन्दसिंह, बंदा वैरागी, आनन्दमठ के संन्यासियों ने शस्त्र उठाये। गृहस्थ एवं क्षत्रिय के लिए अहिंसा परम धर्म नहीं है। उन्हें तो क्षात्रतेज युक्त होना चाहिए।

वैदिक विचारधारा हिंसा व दण्ड नीति को समाज की व्यवस्था बनाये रखने के लिए आवश्यक समझती है। हिंसा को एक आवश्यक बुराई के रूप में स्वीकारती है। जहां प्रेम, विवेक के शस्त्र कारगर नहीं हैं वहां यही दण्ड नीति कारगर होती है।

धर्म एवं न्याय की कीमत पर वह अहिंसा को स्वीकार नहीं करती। यही भूल अर्जुन करने जा रहा था, उस दुर्बलता को अपने हृदय की उदारता समझकर। पर भगवान् ने उसे जोरदार धिक्कार के साथ कहा, यह तेरे हृदय की उदारता नहीं दुर्बलता है, यह तेरा ज्ञान नहीं अज्ञान है, यह तेरी वीरता नहीं कायरता है, नपुंसकता है।

पर जैन व बौद्ध दर्शन ने संन्यासियों के साथ-साथ जन सामान्य की अहिंसा पर भी अतिरेक बल दिया। जिसका परिणाम क्षत्रियों ने वैश्य धर्म को स्वीकार कर लिया और इस प्रकार क्षात्र धर्म की उपेक्षा हुई।

यद्यपि ईसा मसीह ने भी अहिंसा पर बल दिया पर व्यवहारतः ईसाइयत के प्रचार-प्रसार में सर्वाधिक हिंसा का प्रयोग हुआ और आज भी हो रहा है।

आधुनिक समय में गांधीजी ने अहिंसा पर अत्यधिक बल दिया और उसे साध्य के रूप में स्वीकारा। अहिंसा के समर्थन में उन्होंने गीता, रामायण, महाभारत की ऐतिहासिकता को अस्वीकार कर दिया।

पर ऐतिहासिकता को अस्वीकार कर देने से असुरों का स्वभाव नहीं बदल जाता। स्वयं परात्पर परब्रह्म के अवतार राम और श्रीकृष्ण असुरों के हृदय को

नहीं बदल सके। प्रेमावतार चैतन्य महाप्रभु को सुदर्शन चक्र का आह्वान करना पड़ा। गांधीजी के अहिंसा अतिरेक का परिणाम है देश विभाजन, हिन्दुओं का कत्ल। हिन्दू स्त्रियों को बलात्कार का शिकार होना पड़ा। बांग्लादेश, पाकिस्तान जैसे छोटे-छोटे देश जब-तब आंख दिखाते हैं। देश विभाजन के बाद भी रह गये मुसलमान सब प्रकार की राष्ट्र विरोधी गतिविधियां चला रहे हैं। पाकिस्तान और बांग्लादेश में रह गये हिन्दुओं को प्रायः समाप्त कर दिया गया है। ईसाई पादरी और ईसाई भी सब प्रकार का अलगाव एवं राष्ट्र विरोधी गतिविधियों में लिप्त हैं।

पृथ्वीराज चौहान ने जो भूल की उसी परम्परा को अभी तक हम निभाते आ रहे हैं। उसी का परिणाम देश को हजार वर्ष पराधीनता भोगनी पड़ी। और इसी कारण से आज राष्ट्र में अनेक समस्याएं निर्माण हुई है। हमारी सारी सीमायें असुरक्षित हो गयी हैं, देश अन्तर-बाह्य शत्रुओं से घिर गया है।

'अहिंसा परमो धर्मः' अधूरा है। अहिंसा परमो धर्मः धर्म हिंसा तदैव चः।। सही एवं पूरा श्लोक है। अहिंसा मनुष्य का परमधर्म है और धर्म की रक्षा के लिए हिंसा करना उससे भी श्रेष्ठ है।....क्या हमारे कोई भी भगवान् बिना शस्त्रों के हैं?

अतः गृहस्थों के लिए, क्षत्रिय के लिए अहिंसा परमधर्म नहीं है। कोई दुष्टता करता है तो उसका दमन करना। उसका पहले प्रतिकार करना, फिर प्रतिरोध करना, फिर आवश्यकता पड़े तो प्रतिशोध लेना शास्त्र सम्मत कर्तव्य है। दण्डशक्ति का समुचित प्रयोग करना आवश्यक है। इसके लिए राजनीति का हिन्दूकरण, हिन्दुओं का सैनिकीकरण यानी हर हिन्दू सैनिक बने और सेना का आधुनिकीकरण परमावश्यक है। तभी व्यक्ति रूप से, परिवार रूप से, समाज एवं राष्ट्र के रूप में अपने अस्तित्व और आदर्श की रक्षा कर अपना और देश का तथा विश्व का सर्वाङ्गीण विकास साधित कर सकते हैं।

प्राचीन साहित्य में मौजूद ज्ञान से हम आज की सभी समस्याओं का समाधान कर सकते हैं। जब पिटमैन ने ध्वनि को शब्दों में रूपांतरित कर शॉर्टहैंड का आविष्कार किया था तब उन्होंने माना था कि अपने कार्य के लिए उन्होंने संस्कृत की मदद ली थी।

× × ×

अमेरीका जैसे विकसित देशों के पास साधन तो है पर समाधान नहीं है। समाधान के लिए भारत की ओर देखा जा रहा है। भारत के पास जो ज्ञान है वह किसी के पास नहीं है।

अमेरीकन चिंतक डॉ. डेविड फ्राली

गीता-दर्शन

इस जगत् का रूप क्या है? स्वरूप क्या है? इसका मूल क्या है? इसका आदि और अन्त क्या है? यह किस सामग्री व किस उपकरण से बना है? किसने इसको बनाया? क्यों बनाया? यह कैसे बना? बनाने वाला कैसा है? यह नीला अम्बर कितना गहरा है? कितना फैला है? कितनी आकाश-गंगाएँ, इसके विस्तार में नृत्यनिरत हैं? इसके आंगन में कितने सूर्य जगमगा रहे हैं और कितने कृष्ण गर्त (ब्लेक होल) इसमें ध्यानस्थ-से हैं? अणु-परमाणु- इलेक्ट्रोन-प्रोटोन-न्यूट्रोन और इनसे भी सूक्ष्म सैकड़ों अतिसूक्ष्म कण अथवा तरंगें अथवा सुपर स्ट्रिंग्स—किस मूलभूत उपादान से यह निरन्तर स्पन्दित सृष्टि रची गई है? जड़ ने चैतन्य को प्रकट किया या चैतन्य ने जड़ को रचा है? विज्ञान खोज रहा है—मानव पूछ रहा है। युगों-युगों से मनुष्य अपने मूल और जगत् के मूल को लेकर जिज्ञासा करता आया है। उसे उत्तर दिया गया है—उसे उत्तर मिला है, पर प्रत्येक मनुष्य को स्वयं ही अपने अन्दर इस विविदिशा को—तीव्र जिज्ञासा को उत्पन्न करना होगा और इसके उत्तर का साक्षात्कार करना होगा।

इन सभी जिज्ञासाओं का समाधान श्रीमद्‌भगवद्गीता में है। गीता उपनिषदों का सार है। उपनिषद् वेद का सार हैं। वेद अनादि, अपौरुषेय व सनातन हैं। आज से लगभग 5200 वर्ष पूर्व परब्रह्म के अवतार भगवान श्रीकृष्ण ने कुरुक्षेत्र के रणांगण में शोक मोह-ग्रस्त अर्जुन को जो उपदेश दिया था, उसे ही महर्षि वेदव्यास ने 700 श्लोकों में निबद्ध कर 18 अध्यायों में विभक्त कर एक ग्रन्थ के रूप में प्रस्तुत कर दिया। गीता के अनुसार इस जीव-जगत् का आदि कारण एक अखण्ड सत् है, अद्वितीय चैतन्य है, अमित आनन्द है, अर्थात् वह सच्चिदानन्द-घन देश-काल-वस्तु-परिच्छेद से रहित, सजातीय-विजातीय-स्वगत भेद से रहित निर्गुण, निष्क्रिय, निराकार है।

वही परब्रह्म अपनी अनिर्वचनीय शक्ति द्वारा सगुण-निराकार सगुण-साकार हो जाता है और वही अवतार भी लेता है। वही जीव और जगत् के रूप में प्रतिभासित है।

महाप्रलय में सब-कुछ लीन अवस्था में रहता है। उस अवस्था में तीनों गुण साम्य अवस्था में रहते हैं। परमेश्वर के संकल्प से सृष्टि प्रारम्भ होने पर सर्वप्रथम विशुद्ध सत्त्वगुणवाली प्रकृति व उससे युक्त असंख्यों 'प्राज्ञ' नामक जीव प्रकट होते हैं। यह सृष्टि की बीजावस्था या कारण अवस्था है। इसके पश्चात् तमोगुण प्रधान प्रकृति से शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध—ये पांच तन्मात्राएँ प्रकट

होती हैं। इनसे 'प्राज्ञ' नामक जीवों के सूक्ष्म शरीर (अन्तःकरण, 5 ज्ञानेन्द्रियां, 5 कर्मेन्द्रियां, 5 प्राण) प्रकट होते हैं। इन सूक्ष्म शरीरों के अभिमानी चैतन्य को समष्टि स्तर पर हिरण्यगर्भ या ब्रह्मा तथा व्यष्टि स्तर पर 'तैजस' कहते हैं।

पंचतन्मात्राओं के पंचीकरण अर्थात् स्थूलीकरण से आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी—ये पांच महाभूत उत्पन्न होते हैं। इन पंचमहाभूतों से 14 भुवनवाला 'विराट्' नामक ब्रह्माण्ड और उन भुवनों में रहने वाले देव आदि से लेकर एक कोशिका तक के सभी जीवों के स्थूल शरीर उत्पन्न होते हैं।

ब्रह्माण्ड के प्रकटन व विलयन का क्रम अनादि काल से चला आ रहा है। ईश्वर कर्माध्यक्ष है, वही मनुष्य के पाप-पुण्य रूप कर्मों का फल प्रदान करता है। मनुष्य परमेश्वर की श्रेष्ठतम कृति है।

मनुष्य योनि में ही कर्म करने की स्वतन्त्रता प्रकट होती है। अनादि काल से चला आ रहा जीव असंख्य बार मनुष्य-योनि में गया है। जब-जब यह जीव मनुष्य-योनि में गया है, इसने कर्म किया है। मनुष्य-जन्मों के कृत कर्मों की अमाप राशि, जिन्हें संचित-कर्म कहते हैं, का एक अत्यल्प अंश जब फल देना प्रारम्भ करता है तो उसे प्रारब्ध-कर्म कहते हैं। यह प्रारब्ध-कर्म गर्भाधान से लेकर शरीरपात तक फलित होता रहता है। इस मनुष्य-जन्म में जो नूतन कर्म किये जाते हैं उन्हें क्रियमाण कर्म कहते हैं। मनुष्य ही अपने कर्मों के अनुसार देव से लेकर अमीबा तक की योनियों में संसरण करता है। ईश्वर कर्माध्यक्ष है, वही मनुष्य को पाप-पुण्य रूप कर्मों का फल प्रदान करता है। मनुष्य-योनि में ही 'मैं परब्रह्म हूं' ऐसी अनुभूति सम्भव है। आत्म-विस्मृति या अनादि अविद्या के कारण मनुष्य अपने को परिच्छिन्न समझता है। इसी के कारण उसमें कर्तृत्व और भोक्तृत्व है।

मनुष्य अपनी कामना (पुत्रैषणा, वित्तैषणा, लोकैषणा) पूर्ति, जिज्ञासा, सर्जनेच्छा, स्वातन्त्र्येच्छा—सुखेच्छा की पूर्ति के प्रयास में विश्व-विधान का, धर्म का उल्लंघन कर सकता है, वह अपने अहंकार से प्रेरित होकर यज्ञचक्र में बाधा डाल सकता है। मानव इस निषिद्ध कर्म से बच सके और अपनी इच्छापूर्ति भी कर सके, इसलिये वेद में परमेश्वर ने जीवन-विज्ञान व जीवन-कला को प्रकट कर दिया है—इसे ही मानव-धर्म कहते हैं।

मानव-जीवन के हर क्षेत्र में अपना सर्वांगीण विकास करता हुआ आत्म-ब्रह्म-ऐक्य का अनुभव कर सके, इसके लिये गीता में निम्नांकित साधना-क्रम का प्रतिपादन है—

(1) मानव असंयम, दुराचार, हिंसा, दम्भ आदि आसुरी सम्पत्ति का परित्याग करे।

(2) मानव अपने दृष्ट व अदृष्ट पर्यावरण का शोषण व प्रदूषण न करे अपितु पहले पोषण करे व फिर दोहन करे, अर्थात् विश्व-यज्ञ-चक्र का अनुवर्तन करते हुए ही अपनी कामनाओं की पूर्ति करे।

कामनापूर्ति के साथ-साथ मनुष्य का कर्तव्य है कि अपने पांच ऋणों (देव-ऋण, ऋषि-ऋण, पितृ-ऋण, मनुष्य-ऋण, भूत-ऋण) से उऋण होने के लिये प्रतिदिन आदर व कृतज्ञता सहित पांच महायज्ञों (देवयज्ञ, ऋषियज्ञ, पितृयज्ञ, मनुष्ययज्ञ, भूतयज्ञ) का अनुष्ठान करे। गीता में इनका यज्ञ, दान व तप की साधना के नाम से उल्लेख हुआ है।

कामनाओं के परिपक्व हो जाने पर काम्य कर्मों के करने की आवश्यकता नहीं रहती। तब साधक को चाहिये कि वह केवल नित्यकर्मों (पंचमहायज्ञों) को निष्काम भाव से सम्पन्न करे, अर्थात् इनके फल का लोकार्पण व शिवार्पण करे, फलासक्ति त्यागे, कर्मासक्ति त्यागे, मैं ईश्वर का सेवक हूं, उनके द्वारा नियुक्त हूं, चराचर जगत् के सहयोग को लेकर केवल उनकी प्रीति के लिये अपने नित्यकर्म सम्पन्न कर रहा हूं—ऐसा निश्चय व ऐसी भावना रखे।

निष्काम कर्मयोग की इस साधना द्वारा साधक के राग-द्वेष आदि मल हटेंगे, वह कर्तापन-भोक्तापन के बन्धन से मुक्त होगा, उसके चित्त में दैवी सम्पत्ति प्रकट होगी, अनन्य ईश्वरभक्ति से युक्त उस साधक को गुरु-कृपा, शास्त्र-कृपा व ईश्वर-कृपा से आत्म-ब्रह्म-ऐक्य का अनुभव होगा।

साभार : जीवन रहस्य से

गीता-सार

जीवन का सार-आधार वेद है। वेद अनादि, अपौरुषेय व सनातन है। अनन्त वेदों का सार उपनिषद् है। उपनिषदों का सार गीता है। गीता का सार सात्विक त्याग है। साधकों की साधना व जीवन आराधना में तीव्रता लाने तथा सात्विक त्याग का निरंतर विस्तार करते रहने की भावना से गीता का सार निम्नांकित बिंदुओं में बताया जा सकता है।

1. परब्रह्म परमेश्वर देश, काल , वस्तु, परिच्छेद से रहित, सजातीय-विजातीय, स्वगत भेद से रहित निर्गुण, निष्क्रिय, निराकार सत्-चित्-आनन्दघन अद्वैत-स्वरूप है।
2. वही निर्गुण-निराकार परब्रह्म अपनी अनिर्वचनीय मायाशक्ति द्वारा सगुण-निराकार व सगुण-साकार हो जाता है और वही अवतार भी लेता है। वही जीव और जगत् के रूप में प्रतिभासित है।

3. जगत् की सृष्टि, स्थिति, लय, निग्रह, अनुग्रह—इन पंचकृत्यों की लीला परब्रह्म अपनी त्रिगुणात्मिका (सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण वाली) अपरा प्रकृति व जीवभूता, क्षेत्रज्ञ-लक्षणा, ईश्वरात्मिका पराप्रकृति द्वारा सम्पन्न करता है। पराप्रकृति जगत् में अन्तःप्रविष्ट होकर रहती है।

4. महाप्रलय में सब-कुछ लीन अवस्था में रहता है। उस अवस्था में तीनों गुण साम्य स्थिति में रहते हैं। परमेश्वर के संकल्प से जीवों के विगत सृष्टि के शेष कर्मों के अनुसार सृष्टि प्रारम्भ होने पर विशुद्ध सत्त्वगुण वाली प्रकृतियुक्त ईश्वर-तत्त्व व मलिन सत्त्व-गुण वाली प्रकृति से युक्त असंख्य प्राज्ञ नामक जीव प्रकट होते हैं। यह सृष्टि की अव्यक्तावस्था या कारण अवस्था कहलाती है। तमोगुणप्रधान प्रकृति से शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—ये पांच तन्मात्राएँ प्रकट होती हैं। इनसे सूक्ष्म सृष्टि प्रकट होती है। इसके अभिमानी चैतन्य को समष्टि स्तर पर हिरण्यगर्भ या ब्रह्मा कहते हैं व व्यष्टि स्तर पर तैजस कहते हैं। पंचतन्मात्राओं के पंचीकरण द्वारा स्थूल पंचमहाभूत प्रकट होते हैं। इसके अभिमानी चैतन्य को समष्टि स्तर पर वैश्वानर या विराट् एवं व्यष्टि स्तर पर विश्व कहते हैं। पंचीकृत पंचमहाभूतों से ही 14 भुवन वाला ब्रह्माण्ड उत्पन्न होता है। ब्रह्माण्ड के प्रकटन व विलयन का क्रम अनादि काल से चला आ रहा है।

5. जिस ज्ञान को लेकर परब्रह्म पंचकृत्य करते हैं, उस ज्ञान को वेद कहते हैं। वेद अनन्त हैं, सनातन हैं व अपौरुषेय हैं।

6. अखिल ब्रह्माण्ड एक अमित आयाम वाले बृहद् यज्ञचक्र द्वारा धारित व संचालित है। इसके अन्तर्गत प्रकटित जड़-चेतन सभी इकाइयों का स्वयं का भी एक यज्ञचक्र है। ऐसे असंख्य यज्ञचक्र आपस में जुड़े हुए, परस्पर अवलम्बित व सम्बन्धित हैं।

7. जिस नियम-तन्त्र या विधान द्वारा ये असंख्य यज्ञचक्र स्पन्दित, संचालित व धारित हैं उसे धर्म या ऋत कहते हैं।

8. भूलोक (पृथ्वीलोक) में प्रकटित मनुष्य-योनि के अलावा देव, पितर, गन्धर्व से लेकर लघुतम कीट—अमीबा तक सभी भोग-योनियां हैं। मनुष्य ही अपने कर्मों के अनुसार इन सभी योनियों में जाता है। मनुष्य में कर्म करने की स्वतन्त्रता प्रकट होती है। ईश्वर कर्मफल प्रदाता है।

9. मनुष्य-योनि में ही मैं परब्रह्म हूं—इस अनुभूति के होने की क्षमता, सम्भावना प्रकट होती है। मनुष्य अपनी कामना (पुत्रैषणा, वित्तैषणा, लोकैषणा)-पूर्ति, जिज्ञासा, सर्जनेच्छा-स्वतन्त्र्येच्छा की पूर्ति की प्रक्रिया में विश्व-

विधान का उल्लंघन कर सकता है। अतः वेद में मानव की इच्छापूर्ति के विधान को और पूर्णताप्राप्ति के मार्ग को भी बताया है। इसे ही मानव-धर्म कहा गया है। गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने कहा है—ब्रह्मा ने देवों, प्रजाओं और मनुष्यों को उत्पन्न करके उन्हें यज्ञचक्र से जोड़ दिया। इस यज्ञचक्र को अपनाते हुए यदि मनुष्य अपनी कामनाओं की पूर्ति करे तो उसकी मोक्षप्राप्ति का मार्ग भी प्रशस्त होगा।

10. मनुष्य इसी जन्म में आत्मा और ब्रह्म के अभेद का अनुभव कर सके, इसके लिये उसे निम्नांकित साधना-क्रम को अपनाना होगा—

अ. असंयम, दुराचार आदि निषिद्ध कर्मों का त्याग करे।

ब. दृष्ट-अदृष्ट पर्यावरण का शोषण, प्रदूषण न करे, अपितु पोषण करे व फिर दोहन करे, अर्थात् यज्ञचक्र को अपनाते हुये अपनी सभी कामनाओं की पूर्ति करे। कामनापूर्ति के साथ-साथ अपने पंचऋणों (देवऋण, ऋषिऋण, पितृऋण, मनुष्यऋण व भूतऋण) से उऋण होने के लिये प्रतिदिन आदर व कृतज्ञतापूर्वक देवयज्ञ, ऋषियज्ञ, पितृयज्ञ, मनुष्ययज्ञ व भूतयज्ञ करे। गीता में इनका यज्ञ, दान व तप की साधना के रूप में उल्लेख है।

स. कामनाओं के परिपक्व हो जाने पर केवल नित्य कर्मों (पंचमहायज्ञ) को निष्काम भाव से करे, अर्थात् इनके फल का लोकार्पण व शिवार्पण करे, फलासक्ति त्यागे, कर्मासक्ति का त्याग करे, मैं ईश्वर का सेवक हूं, उनके द्वारा नियुक्त हूं, उनकी प्रीति के लिये चराचर जगत् के सहयोग को लेकर अपने नित्यकर्म सम्पन्न कर रहा हूं—ऐसा निश्चय व ऐसी भावना रखे।

द. कर्मयोग की साधना के परिपक्व होने पर सद्-गृहस्थ साधक राग-द्वेषादि मलों से व कर्तापन-भोक्तापन के बन्धन से मुक्त हो जाएगा, उसके शुद्ध चित्त में विवेक, वैराग्य,षट् सम्पत्ति—(i) शम, (ii) दम, (iii) उपरति, (iv) तितिक्षा, (v) श्रद्धा, (vi) समाधान षट्-सम्पत्ति, मुमुक्षा, अनन्य भक्ति प्रकट होगी तथा ईश्वर-कृपा, गुरु-कृपा व शास्त्र-कृपा व आत्म-कृपा से वह आत्म-ब्रह्म-ऐक्य का अनुभव कर लेगा।

य. सभी साधकवृन्द कर्मयोग की इस तेजस्वी साधना को अपना कर, चराचर जगत् को शुद्ध, स्वस्थ व सुखी बनाते हुए इसी जन्म में पूर्णानन्द को प्राप्त करें—यही शिवाशीर्वाद है।

साभार : जीवन रहस्य से

प्रभु से प्रार्थना

वसुदेव सुतं देवं कंसचाणूर मर्दनम्
देवकी परमानन्दं श्रीकृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्।।
शृण्वन्तु विश्वेऽमृतस्य पुत्राः ऋग्वेद 10.13.1
अये धामानि दिव्यानि तस्थुः
वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्य वर्णं तमसः परस्तात्।
यजुर्वेद 31/18

हे विश्व के अमृत पुत्रो! सुनो, मैंने उस महान् ज्योतिर्मय पुरुष का पता लगा लिया है जो अंधकार से, अज्ञान से नितान्त पर है उसी को—

यं शैवा समुंपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनो
बौद्धा बुद्ध इति प्रमाणपटवः कर्तेति नैय्ययिकाः
अर्हन् नित्यय जैनशासनरताः कर्मेति मीमांसकाः
सोऽयं नो विदधातु वांछित फलं त्रैलोक्यनाथो हरिः।।

जिसको शैव शिव, वेदान्ती ब्रह्म, बौद्ध बुद्ध, नैयायिक प्रमाण पटव, जैनी अर्हत्, मीमांसक कर्म कहते हैं वही त्रैलोक्य नाथ हरि सबको वांछित फल देते हैं। वेद में इसे ही—

'एकं सद्विप्राः बहुधा वदन्ति'

अर्थात् सत्य (परमेश्वर) तो एक ही है विद्वान लोग उसको अनेक नामों से पुकारते हैं, उसका अनेक प्रकार से वर्णन करते हैं।

लक्ष्य :—इह चेदवेदीत् अथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीत् महती विनष्टिः

वास्तविक तत्त्व को यदि इसी जन्म में (मृत्यु के अव्यवहित पूर्व क्षण तक) तुमने जान लिया तब ही परम लाभ है। पर इसी जन्म में उसे नहीं जाना तो बहुत बड़ी हानि है।

अतः— उत्तिष्ठ जागृत प्राप्य वरान्निबोधत।
हे मुमुक्षुओ! उठो जागो।

श्रेष्ठ पुरुषों के पास पहुंचकर आत्मज्ञान् प्राप्त करो।
इसलिए वेद कहता है—चरैवेति चरैवेति
(लक्ष्य न प्राप्त होने तक) चलते रहो। चलते रहो।
इसके लिए नित्य विचारें—
कस्त्वं कोऽहं कुत आयातः का मे जननी
को मे तातः।
इति परिभावय सर्वमसारं विश्व त्यक्त्वा
स्वप्नविचारम्
भज गोविन्दं भज गोविन्दं भज गोविन्दं मूढ़मते।
प्राप्ते सन्निहिते मरणे नहि नहि रक्षति डुकृञ् करणे।।

स्वप्नवत् मिथ्या संसार की आस्था छोड़कर तू कौन है, मैं कौन हूं, कहां से आया है, मेरी माता कौन है और पिता कौन है? इस प्रकार सबको असार समझ तथा हे मूढ़! निरन्तर गोविन्द को ही भज, क्योंकि मृत्यु के समीप आने पर डुकृञ् करणे रटना रक्षा न कर सकेगा।

उर्ध्व बाहुर्विरौम्येव न च कश्चिच्छ्रृणोतिमे।
धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थ न सेव्यते।।

न जातु कामान्न भयान्न लोभात्,
धर्म त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।
नित्यो धर्मः सुख दुःखे त्वनित्ये,
जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः।।

म.भा. स्वर्गारोहण पर्व, अध्याय 5/72-73

महर्षि व्यास का कथन है कि मैं दोनों हाथ ऊपर उठाकर पुकार-पुकार कर कह रहा हूं पर मेरी बात कोई नहीं सुनता। धर्म से ही अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि होती है, तो भी लोग उसका सेवन क्यों नहीं करते? कामना से, भय से अथवा प्राण बचाने के लिए भी धर्म का त्याग न करें। धर्म नित्य है और सुख-दुःख अनित्य हैं। इसी प्रकार जीवात्मा नित्य है और देहधारण के कारण अनित्य है। इसलिए सुख-दुःख और प्राण भय की चिन्ता न कर धर्माचरण करें।

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः
जो धर्म का नाश करते हैं, उनका धर्म नाश करता है,
जो धर्म की रक्षा करता है, धर्म उनकी रक्षा करता है।
धर्मो या बाधते धर्म इति सोऽधर्मः कुधर्मतः
अविरोधी तु यो धर्मः स धर्मो मुनिसत्तम।।

महाभारत में कहा गया है कि जो धर्म किसी अन्य धर्म के विरुद्ध पड़ता है, वह धर्म ही नहीं है। जो धर्म अविरोधी होता है, वस्तुतः, वही धर्म है।

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः
धी र्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मं लक्षणम्।।

धर्म के दस सार्वभौम लक्षण हैं—धृतिः, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय निग्रह, धी, विद्या, सत्य एवं अक्रोध।

श्रूयतां धर्मं सर्वस्वं श्रुत्वाचैवावधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।। (महाभारत)

वेदव्यासजी कहते हैं—मैं धर्म का सार सर्वस्व बतलाता हूं; इसे ध्यानपूर्वक सुनो और उसकी धारणा कर लो कि जो कर्म अपने आप को दुःखदायी हो, प्रतिकूल हो, उन्हें दूसरों के लिए कभी न करो यानी जो तुम अपने लिए नहीं चाहते कि दूसरे तुमसे करे, वह दूसरों से न करो।

अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिराम्।
अनुग्रहश्च दानं च सतां धर्मः सनातनः।। (महाभारत शान्ति पर्व 162-2)

यानी मन, वचन और कर्म से भी सभी प्राणियों के प्रति अद्रोह, कृपा और दान अर्थात् सर्वभूतों के हित में रत रहना, यही सद्व्यक्तियों का सनातन धर्म है।

यत्-करोषि यद-श्नासि, यज्-जुहोषि ददासि यत्।
यत्-तपस्यसि कौन्तेय, तत्-कुरुष्व मदर्पणम्।।9/27

हे कुन्ती पुत्र अर्जुन! तू जो कुछ करता है, खाता है, यज्ञ करता है, दान करता है, तप करता है, वह सब मुझे अर्पण कर दो।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्।

सबका मंगल हो, सभी निरोग हो, सभी भद्र देखें, दुखिया कोई न होवे।

असतो मा सत् गमय। तमसो मा ज्योतिर्गमय।
मृत्योर्माऽमृतं गमय।

हे प्रभु! तू मुझे असत्य से सत्य की ओर ले जा (अज्ञान रूपी) अंधेरे में से (ज्ञान रूपी) प्रकाश में ले जा और मृत्यु में से अमरत्व की ओर ले जा।

ॐ सहनाववतु। सह नौ भुनक्तु। सहवीर्यं करवावहै।
तेजस्विनावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै।
ॐ शान्तिः ॐ शान्तिः ॐ शान्तिः।।

वह परमात्मा हम (आचार्य और शिष्य एवं वक्ता और श्रोता) दोनों की साथ-साथ रक्षा करे। हम दोनों का साथ-साथ पालन करे। हम दोनों साथ-साथ विद्याजन्य सामर्थ्य का सम्पादन करें। हम दोनों का किया हुआ अध्ययन तेजस्वी और दैवी हो और हम दोनों परस्पर कभी भी विद्वेष न करें। त्रिविध ताप की शान्ति हो।

मानव जीवन को सार्थक करने के लिए नित्य मननीय—

आजीविका जीवन के लिए है और जीवन जीवनधन परमेश्वर के लिए है।

पशुत्व से मनुष्यत्व, मनुष्यत्व से देवत्व और देवत्व से ब्रह्मत्व लाभ करना।

प्राप्त विवेक का समादर करना। प्राप्त विवेक के प्रकाश में अपने दोषों को देखना।

की हुई भूल को पुनः न दोहराने का व्रत लेकर सरल विश्वासपूर्वक प्रार्थना करना।

अपने प्रति न्याय, विचार और कठोर आत्मदण्ड की दृष्टि। मित्र एवं अन्य के प्रति विश्वास, प्रेम, सहानुभूति एवं क्षमा की दृष्टि एवं अपने देश, धर्म, संस्कृति के शत्रुओं के प्रति सावधान एवं कठोर दण्ड की दृष्टि रहे।

दूसरे के कर्तव्य को अपना अधिकार दूसरों की उदारता को अपना गुण तथा दूसरों की निर्बलता को अपना बल न मानना।

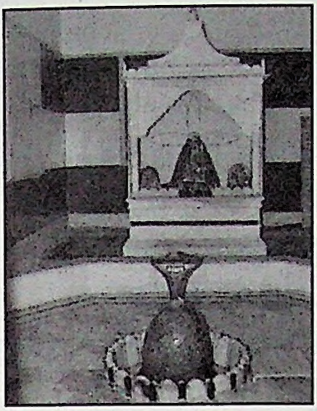
पारिवारिक तथा जातीय सम्बन्ध न होते हुए भी पारिवारिक भावना के अनुरूप ही पारिवारिक सम्बोधन तथा सद्भाव एवं कर्म की भिन्नता होने पर भी स्नेह की एकता।

निकटवर्ती जन-समाज की यथाशक्ति क्रियात्मक रूप से सेवा करना, शारीरिक हित की दृष्टि से आहार-विहार में संयम तथा दैनिक कार्यों में स्वावलम्बन।

शरीर श्रमी, वाणी सरल, मन संयमी, बुद्धि विवेकवती, हृदय अनुरागी, चित्त निर्मल तथा अहं को अभिमान शून्य करके अपने को सुन्दर बनाना।

भगवद् चिन्तन और सत्य की खोज द्वारा अपना निर्माण करना। सिक्के से वस्तु, वस्तु से व्यक्ति, व्यक्ति से विवेक तथा विवेक से सत्य को अधिक महत्त्व देना। व्यर्थ चिन्तन का त्याग तथा वर्तमान के सदुपयोग द्वारा भविष्य को उज्ज्वल बनाना।

सर्वशेष में नित्य प्रति सोने के पूर्व आत्मनिरीक्षण करना कि मैं अपने जीवन लक्ष्य के अनुरूप जीवन को वर्त तो रहा हूं, अन्यथा उसमें क्या बाधा है? और उसे कैसे दूर किया जाये।



भक्तानन्द शिव मन्दिर



स्वामी संवित् सुबोधगिरि

पन्द्रह अक्टूबर 1956 (विजयादशमी) को जन्मे स्वामी संवित् सुबोधगिरि ने दर्शन शास्त्र से एम.ए. (रांची विश्वविद्यालय 1980-81) कर अध्यात्म-साधना एवं भारतीय धर्म-दर्शन-संस्कृति-परम्परा एवं राष्ट्रीय इतिहास के अध्ययन में पूर्णकालिक प्रवृत्त।

एकेडमी ऑफ इंडियन कल्चर के संस्थापक डॉ. हरवंशलाल ओबराय के मार्गदर्शन में सांस्कृतिक इतिहास एवं भारतीय धर्म-दर्शन-संस्कृति पर व्यापक कार्य।

स्वामी देवानन्द ब्रह्मचारीजी (प्रेम मन्दिर आश्रम, रिषड़ा) से नैष्ठिक ब्रह्मचर्य की दीक्षा और उनके सान्निध्य में साधना एवं स्वाध्याय—6 दिसम्बर 1992 से 12 मार्च 1999 तक। उन्हीं के निर्देश पर अनन्तश्री विभूषित पूर्वाम्नाय जगद्गुरु शंकराचार्य गोवर्धन पीठाधीश्वर स्वामी निश्चलानन्द सरस्वतीजी महाराज के सान्निध्य में स्वाध्याय एवं साधना—प्रति चतुर्मास में 1993 से 2000 तक नियमित, फिर अनियमित।

सम्प्रति स्वामी संवित् सोमगिरिजी महाराज से संन्यास दीक्षा ग्रहण कर उनके सान्निध्य में स्वाध्याय, साधना एवं प्रकाशन का दायित्व निभाया—20 मार्च 1999 से 13 जून 2012 तक। डॉ. हरवंशलाल ओबराय समग्र (पांच खण्डों 2688 पृष्ठों में) संकलित, सम्पादित एवं प्रकाशित किया परमपूज्य महाराजश्री के आशीर्वाद से।

14 जून 2012 को भैरवगिरि मठ के महन्त परम श्रद्धेय स्वामी श्रद्धानन्दगिरिजी महाराज एवं श्री लालेश्वर महादेव मन्दिर शिवबाड़ी के महन्त परम पूज्य स्वामी संवित् सोमगिरिजी महाराज, दोनों ने संयुक्त रूप से नृसिंह भवन संन्यास आश्रम, भक्तानन्द शिव मन्दिर भीनासर (बीकानेर) के महन्त पद का दायित्व देकर उस पर अभिषिक्त किया।

प्रकाशन

डॉ. हरवंशलाल ओबराय समग्र को खण्डशः विषयानुसार 26 पुस्तकों में प्रकाशित किया जिसमें दो पुस्तकें सुबोधगिरि की हैं। समग्र में प्रकाशित चार पुस्तकों में डॉ. ओबराय के साथ सुबोधगिरि सहलेखक हैं। समग्र से अतिरिक्त स्वयं सुबोधगिरि की चार और पुस्तकें भी प्रकाशित—

(1) राष्ट्रीय समस्या और समाधान (प्रथम संस्करण, पृ. 88)
(2) राष्ट्रीय समस्या और समाधान (द्वितीय संस्करण, पृ. 312)
(3) गीता का पूर्व पक्ष और उत्तर पक्ष (गीता का पहला और दूसरा अध्याय)
(4) भक्तियोग (गीता का बारहवां अध्याय)
(5) भारतीय संस्कृति, पश्चिमी सभ्यता और विज्ञान
(6) भारतीय परम्परा में काम पुरुषार्थ
(7) योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण (संयुक्त)
(8) गीता की विश्वव्यापी प्रतिष्ठा (संयुक्त)
(9) भारतीय परम्परा में पुरुषार्थ चतुष्टय (संयुक्त)
(10) भारतीय परम्परा में नारी और मातृत्व के पंचविध रूप (संयुक्त)

पूरे मठ का जीर्णोद्धार सम्पन्न हुआ। जन सहयोग से मन्दिर के लिए नये भवन का निर्माण, नव-निर्माण व जीर्णोद्धार और अन्य नये आयाम भी जुड़ते जा रहे हैं। यू.आई.टी. अध्यक्ष श्रीमान् मकसूद अहमदजी के सहयोग से आश्रम के बाहर सीसी रोड का निर्माण हुआ। सन्त कुटीर का निर्माण श्री तरुण कुमार सोलंकी एवं श्रीमती सुशीला देवी के सहयोग से हुआ। विवेकानन्द वाचनालय का निर्माण (श्रीमान् गोपाल जोशी के) विधायक कोटे से हुआ। सांस्कृतिक भवन का निर्माण कार्य चल रहा है (श्रीमान् अर्जुनराम मेघवाल के) सांसद कोटे से। श्री मूलचन्द डागा के सहयोग से प्याऊ का निर्माण हुआ।

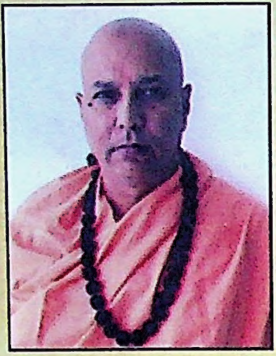
आगामी योजनाएं और कार्यक्रम

शौचालय, स्नानघर, रसोड़ा, भण्डार, मुमुक्षु आवास का निर्माण; सांस्कृतिक भवन का निर्माण कार्य पूर्ण होने के पश्चात् लॉन और बगीचा विकसित करना। सांस्कृतिक भवन में नियमित योग कक्षाओं का संचालन; साप्ताहिक बाल-संस्कार-केन्द्र संचालन; वर्ष में दो बार चिकित्सा शिविर का आयोजन। इसके अलावा भी छोटे-छोटे सेवा कार्य करना। भजन, सत्संग और देव-आराधन की व्यवस्था करना। इन सबके लिए जन सहयोग अपेक्षित है।

मो. 09413769139

अन्य प्रकाशित पुस्तकें

1	राष्ट्रीय समस्या और समाधान	₹ 250
2	भारतीय दर्शन परम्परा	₹ 100
3	रामायण का हार्द	₹ 100
4	योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण	₹ 80
5	गीता की विश्वव्यापी प्रतिष्ठा	₹ 80
6	गीता ज्ञान की कुंजी	₹ 120
7	गीता का पूर्व पक्ष और उत्तर पक्ष (गीता का प्रथम एवं द्वितीय अध्याय)	₹ 500
8	गीता का मनोविज्ञान	₹ 125
9	गीता में भक्ति योग	₹ 30
10	भक्तियोग (गीता का बारहवां अध्याय)	₹ 100
11	गीता में ज्ञान योग	₹ 40
12	आत्मतत्त्व भारत की अमरता एवं स्वस्थ जीवन का राज	₹ 80
13	जीवन रहस्य और मृत्यु रहस्य	₹ 25
14	सृष्टि रहस्य, कर्म का सिद्धान्त तथा यज्ञ तत्त्व	₹ 50
15	भारतीय दर्शन एवं विज्ञान का तुलनात्मक तत्त्वावलोचन	₹ 60
16	भारतीय संस्कृति, पश्चिमी सभ्यता और विज्ञान	₹ 80
17	मार्क्स के धर्मविषयक विचार की समीक्षा	₹ 20
18	भारतीय परम्परा में काम पुरुषार्थ	₹ 40
19	भारतीय परम्परा में पुरुषार्थ चतुष्ट्य	₹ 70
20	भारतीय परम्परा में नारी और मातृत्व के पंचविध रूप	₹ 85
21	भारतीय परम्परा में उत्सव	₹ 70
22	मकर संक्रान्ति, विक्रम संवत् और अग्रसेन जयन्ती	₹ 40
23	हमारे आध्यात्मिक महापुरुष	₹ 150
24	गोस्वामी तुलसीदास	₹ 50
25	हमारे साहित्यकार	₹ 75
26	हमारे स्वतंत्रता सेनानी	₹ 100
27	सिख परम्परा, उनकी समस्या और समाधान	₹ 50
28	विश्व भारत का चिर ऋणी है	₹ 300
29	हमारी राष्ट्रीय समस्याएं	₹ 130
	कुल	₹ 3000



स्वामी संवित् सुबोधगिरि

15 अक्टूबर, 1956 (विजयादशमी) को जन्मे स्वामी संवित् सुबोधगिरि ने दर्शन शास्त्र से एम.ए. कर अध्यात्म- साधना एवं भारतीय धर्म-दर्शन-संस्कृति-परम्परा एवं राष्ट्रीय इतिहास के अध्ययन में प्रवृत्त। एकेडमी ऑफ इंडियन कल्चर के संस्थापक डॉ. हरवंशलाल ओबराय के मार्गदर्शन में सांस्कृतिक इतिहास एवं भारतीय धर्म-दर्शन-संस्कृति पर व्यापक कार्य।

स्वामी देवानन्द ब्रह्मचारीजी (प्रेम मन्दिर आश्रम, रिषड़ा) से नैष्ठिक ब्रह्मचर्य की दीक्षा और उनके सान्निध्य में साधना एवं स्वाध्याय मार्च 1999 तक। अनन्तश्री विभूषित पूर्वाम्नाय जगद्गुरु शंकराचार्य गोवर्धन पीठाधीश्वर स्वामी निश्चलानन्द सरस्वतीजी महाराज के सान्निध्य में स्वाध्याय एवं साधना प्रति चतुर्मास में 1993 से 2000 तक। तदुपरांत स्वामी संवित् सोमगिरिजी महाराज से संन्यास दीक्षा ग्रहण कर उनके सान्निध्य में स्वाध्याय, साधना एवं प्रकाशन का दायित्व जून 2012 तक।

भैरवगिरि मठ के महन्त परम श्रद्धेय स्वामी श्रद्धानन्दगिरिजी महाराज एवं श्री लालेश्वर महादेव मन्दिर शिवबाड़ी के महन्त परम पूज्य स्वामी संवित् सोमगिरिजी महाराज ने संयुक्त रूप से 14 जून 2012 को नृसिंह भवन संन्यास आश्रम, भक्तानन्द शिव मन्दिर भीनासर (बीकानेर) के महन्त पद का दायित्व देकर अभिषिक्त किया।

डॉ. हरवंशलाल ओबराय समग्र का विषयानुसार 26 खण्डों में प्रकाशन, जिसमें दो पुस्तकें सुबोधगिरि की हैं। समग्र में प्रकाशित चार पुस्तकों का डॉ. ओबराय के साथ सहलेखन। समग्र से अतिरिक्त स्वयं की चार और पुस्तकें भी प्रकाशित।

स्वामी संवित् सुबोधगिरि
श्री नृसिंह भवन
संन्यास आश्रम, भक्तानन्द शिव मन्दिर
भीनासर 334403 बीकानेर (राजस्थान)
मोबाइल : 09413769139

9 789384 133191